प्रथम सस्करण
५००

वीर नि० स० २५०७

मूल्य :
स्वाध्याय
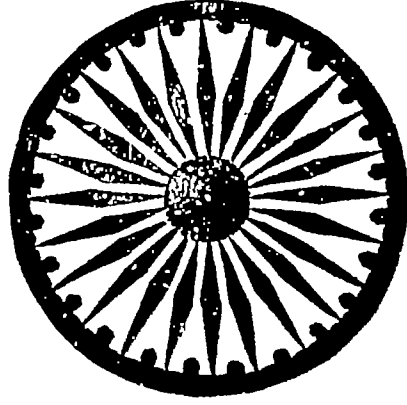
मुद्रक
पाँचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगज–किशनगढ (राज०)

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी

द्रव्य प्रदाता

७२५१) श्री सुकुमालचन्दजी जैन सर्राफ, सहारनपुर

१०००) श्री ब्र० विनोदकुमारजी जैन, सहारनपुर

१००१) श्री पारसमलजी गदिया, अजमेर

१०००) श्री सजनकुमारजी जैन, रानी वाला ब्यावर

१०००) श्री कुबेरचन्दजी फूलचन्दजी साखरबाडी

१०००) श्री भगवानलाल हसराजजी जैन ईन्टालीखेडा

१०००) श्री ………… . ………… ………उदयपुर

१०००) श्री नाथूलालजी महावीरप्रसादजी जैन लालास वालो के
(पू० माताजी की स्मृति मे)

५००) श्री सोनादेवी धर्मपत्नी श्री माणकचन्दजी (जयपुरिया) सीकर

५००) श्री पानादेवी धर्मपत्नी श्री पूरणमलजी (जयपुरिया) सीकर

५००) धर्मपत्नी श्री कुनणमलजी छाबडा मून्डवाडा

५००) श्री श्यामलालजी मूलचन्दजी सघई सीकर

५००) श्री शान्तिलालजी जैन, वागडिया जावद

३००) श्री मदनलालजी काशलीवाल, विजयनगर

२५१) सुश्री नीलम जैन, सहारनपुर

१७३०३) कुल योग

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज

चतुर्विधगणैः पूज्य, गभीर सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरु स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ॥

जन्म	क्षुल्लक दीक्षा	मुनि दीक्षा :	समाधि :
आषाढ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि० स० १९३२	वि० स० १९८०	वि० स० १९८१	वि० स० २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर

१०८ श्री शिवसागरजी महाराज
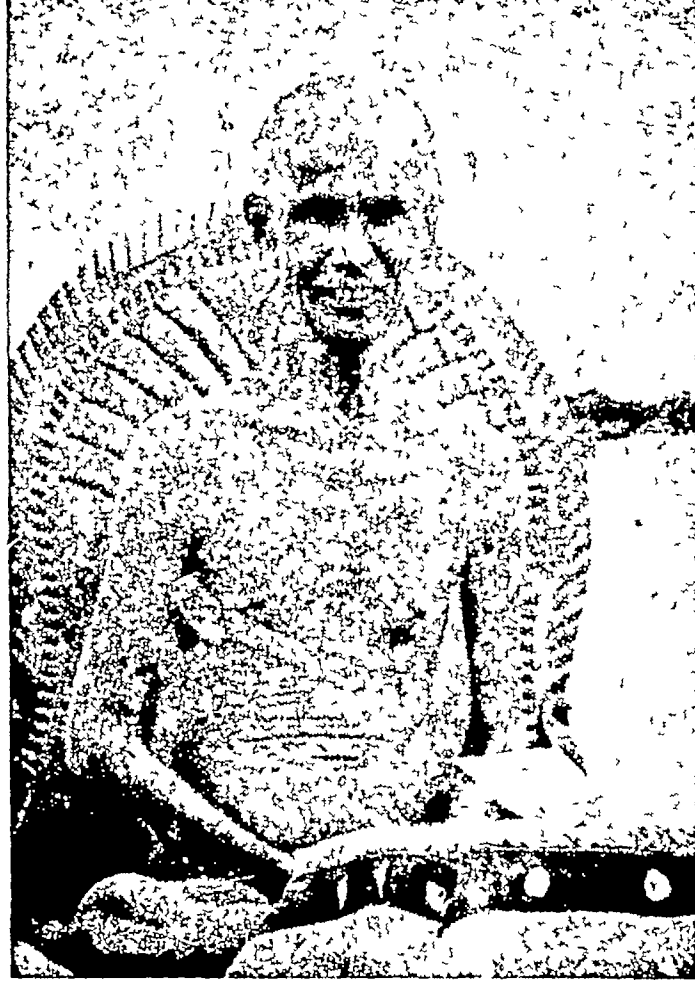
तपस्तपति यो नित्य, कृशागो गुणपीनक ।
शिवसिन्धुगुरु वदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि० स० १९५८	वि० स० २००१	वि० स० २००६	फाल्गुन अमावस्या
अडग्राम	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि० स० २०२५
(महाराष्ट्र)			श्री महावीरजी

परमपूज्य, प्रशांत मुद्राधारी आचार्यवर्य

१०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

धर्मसागर श्राचार्यो, धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ, नमस्यामि त्रिशुद्धत ॥

जन्म .	क्षुल्लक दीक्षा	मुनि दीक्षा :
पौष पूर्णिमा	वि० स० २०००	वि० म० २००७
वि० स० १९७०	वालूज ग्राम	फुलेरा (राज०)
गभीरा ग्राम (राज०)	(महाराष्ट्र)	

विषय परिचय

आचार्य श्री प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के राष्ट्रभाषानुवाद का यह द्वितीय भाग पाठको के हाथ मे है। मूल संस्कृत ग्रन्थ बारह हजार श्लोक प्रमाण सुविस्तृत है अतः इसको तीन भागों मे विभक्त किया, प्रथम भाग सन् १९७८ मे प्रकाशित हो चुका था, द्वितीय यह है और तृतीय भाग आगे प्रकाशित होगा, तीनों मे समान समान रूप से ही (चार चार हजार श्लोक प्रमाण) संस्कृत टीका समाविष्ट हुई है।

श्री माणिक्यनंदी आचार्य विरचित परीक्षामुख नामा सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप यह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड है, परीक्षामुख के कुल सूत्र २१२ है (प्रत्यभिज्ञान के उदाहरणो के एक सूत्र मे समाविष्ट करके एव तर्क के उदाहरण सूत्र को एकत्र करके २०८ सख्या गिनने की परिपाटी भी है) इनमे से प्रथम भाग मे १८ सूत्र समाविष्ट थे, इस द्वितीयभाग मे १०८ सूत्र है, शेष सूत्र तृतीय भाग मे रहेगे।

जीवादि पदार्थ या घट पट आदि यावन्मात्र विश्व के चेतन अचेतन पदार्थो को 'प्रमेय' कहते है उन प्रमेय रूपी कमलो के लिये मार्त्तण्ड अर्थात् सूर्य कौन हो सकता है तो वह प्रमाण ही हो सकता है, हमारे इस ग्रन्थ मे प्रमाण का ही मुख्यवृत्या प्रतिपादन है अतः इसका सार्थक नाम "प्रमेयकमलमार्त्तण्ड" है। प्रमेयो को जानने वाले प्रमाण के विषय मे दार्शनिक जगत् मे विवाद है, नैयायिक कारक साकल्य को (पदार्थ को जानने की बाह्य सामग्री को) और वैशेषिक इन्द्रिय और पदार्थ आदि के सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है, ऐसे ही बौद्ध आदि परवादियो के विविध आग्रह है, जैन ज्ञान को ही प्रमाण मानते है क्योकि पदार्थ को जानने के लिये अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान स्वरूप घटादि को अज्ञान रूप ही सामग्री किस प्रकार उपयुक्त हो सकती है ? क्या अप्रकाश स्वरूप वस्तु को अप्रकाश रूप पदार्थ प्रकाशित कर सकता है ? नही कर सकता, अर्थात् घट आदि अप्रकाश रूप पदार्थ को प्रकाशित करने के लिये प्रकाश स्वभाव वाले प्रदीप आदि ही समर्थ हो सकते हैं उसी तरह घटादि को जानने के लिये ज्ञान स्वभाववाला प्रमाण ही समर्थ हो सकता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम भाग में हो चुका है।

इस द्वितीय भाग मे बीस प्रकरण है आगे इनमे आगत विषयो का परिचय दिया जाता है—

अर्थ कारणवाद - बौद्ध एव नैयायिक ज्ञान को पदार्थ का कार्य मानते हैं इनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर ही उसको जानता है। यदि ऐसा नही माना जाय तो प्रतिकर्म व्यवस्था अर्थात् अमुकज्ञान अमुक पदार्थ को ही जानता है अन्य को नही ऐसी व्यवस्था नही हो सकती। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए जैनाचार्य ने कहा कि प्रतिकर्म व्यवस्था तो ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के अनुसार हुआ करती है अर्थात् जिस जिस वस्तु को जानने का आत्मा मे क्षयोपशम हुआ है उसी उसी को वह क्षायोपशमिक ज्ञान जान लेता है अन्य को नही। पदार्थ को जानने के लिये प्रकाश की नियम से आवश्यकता रहती है ऐसा नैयायिक का मतव्य है इसका निरसन तो सिंह, बिलाव, उल्लू आदि के प्रकाश के अभाव मे ज्ञान होते हुए देखकर ही हो जाता है।

आवरण सिद्धि—सवर निर्जरा सिद्धि—आत्मा के ज्ञानादि शक्ति को रोकने वाला कोई पदार्थ अवश्य है किन्तु वह अविद्या या शरीरादिक न होकर सूक्ष्म जड स्वरूप पुद्गल नामा तत्त्व ही है। अद्वैतवादी अविद्या को आवरण मानते है, नैयायिकादि तो अदृष्ट नाम के आत्मा के गुण को ही आवरण मानते हैं। इनका क्रमश निराकरण करते हुए कहा है कि अविद्या को अद्वैतवादी ने काल्पनिक स्वीकार किया है अत वह वास्तविक ज्ञान का आवरण नही कर सकती, तथा अदृष्ट गुण भी आवरण नही हो सकता, आत्मा का ही गुण और आत्मा को ही परतत्र करे, आवृत करे ऐसा असभव है। परवादी की यह आशका है कि अमूर्त्त ज्ञान गुण वाले आत्मा को मूर्त्त पुद्गल कर्म कैसे आवृत कर सकता है। इसका समाधान तो मदिरा के दृष्टात से हो जाता है, मदिरा मूर्त्तिक होकर भी आत्मा के ज्ञान को विस्मृत या मत्त करा देती है वैसा मूर्त्तिक कर्म ज्ञानादि को आवृत करता है। इस प्रकार आवरण की सिद्धि होने पर उस आवरण को किस प्रकार दूर किया जाय यह प्रश्न होता है, मीमासक पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ को नही मानते क्योकि ज्ञान का आवरण सर्वथा नष्ट होना अशक्य है ऐसा उनका कहना है, किन्तु जिस प्रकार अनादिकाल से चला आया जलादि का शीत-स्पर्श अग्नि सयोग होने पर नष्ट होता है अथवा अनादिकालीन बीज अकुर की परपरा

नष्ट होती है उसी प्रकार अनादि प्रवाह रूप से चले आये आवरण कर्म संवर एवं निर्जरा द्वारा नष्ट होते है ऐसा सिद्ध होता है।

सर्वज्ञत्ववाद—भारतीय दर्शनो मे मीमामक और चार्वाक ये दो दर्शन ऐसे है कि जो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नही करते। मीमासा श्लोकवार्त्तिक मे सर्वज्ञ के निषेध करने हेतु अनेक युक्तिया दी गयी है, उन सबको पूर्व पक्ष मे रख कर श्री प्रभाचद्राचार्य ने बहुत सुन्दर रीति से उन युक्तियो का निराकरण किया है। सर्वज्ञ का वर्त्तमान मे अभाव होने के कारण मीमासक ने उनके द्वारा अभीष्ट छहो प्रमाणो से सर्वज्ञ एव सर्वज्ञ के ज्ञान का अभाव करने का असफल प्रयत्न किया है, उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती, अनुमान प्रमाण भी साध्याविनाभावी हेतु के नही होने से सर्वज्ञ भगवान अथवा सकल विषयो के ग्राहक पूर्ण ज्ञान को सिद्ध नही कर सकता है। आगम प्रमाण यदि नित्य है तो उससे अनित्य रूप सर्वज्ञ की सिद्धि नही हो सकती न नित्य आगम रूप वेद में उसका उल्लेख है, और यदि अनित्य आगम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना चाहे तो वह इतना प्रमाणभूत नही है। अर्थापत्ति एव उपमा भी सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नही करती अत अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है। जैनाचार्य ने कहा कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती अपितु सुनिश्चित अनुमान प्रमाण से होती है—"सूक्ष्मातरितादि पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् अग्निवत्" इत्यादि निर्दोष अनुमान द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता भली-भाति सिद्ध होती है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नही होता अत. मीमासक का यह कहना कि "सर्वज्ञ यदि अशेष पदार्थो को जानता है तो मांस, मल आदि अशुचि पदार्थो का सेवक कहलायेगा, क्योकि उन पदार्थो को रसना आदि इन्द्रियों से जानता है" सर्वथा हास्यास्पद ठहरता है। मीमासक ने एक मार्मिक प्रश्न किया है कि सर्वज्ञ के पूर्ण ज्ञान प्रगट होते ही सकल पदार्थ साक्षात् हो जाते है अत आगे के समय मे या तो वह असर्वज्ञ हो जायेगा या उसका ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नही होने से अप्रामाणिक कहलायेगा? इस मार्मिक प्रश्न का उत्तर भी उतना ही मार्मिक दिया गया है कि—"पूर्व हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पस्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा, सापि उत्पन्नता तेषा भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया। उत्तरकालं तु तद् विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्ना यदा हि यद् धर्म विशिष्ट वस्तु तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते नान्यथा, विभ्रमप्रसगात्। इति कथ ग्रहीतग्राहित्वेनाप्यस्या प्रामाण्यम्?" अर्थात् पहले जो

पदार्थ भावी थे उन्हे भावी रूप से ज्ञात किया जाता है वर्त्तमान रूप से नही । उत्तर क ल मे इससे विपरीत रूप से अर्थात् वर्त्तमान रूप से ज्ञात किया जाता है, भावी रूप से नही । क्योकि जो वस्तु जिस समय जिस धर्म विशिष्ट होती है, उसे उस समय वैसा ही ज्ञात किया जाता है, अन्यथा रूप से नही इत्यादि ।

ईश्वरवाद—विश्व के सपूर्ण पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित है ऐसी नैयायिक वैशेषिक की मान्यता है, पृथ्वी, पर्वत, शरीरादि पदार्थ कार्यरूप हैं अत. इनका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, तथा ये पदार्थ अचेतन होने से स्वय कार्यशील नही हो सकते उनको तो कार्य रूप कराने व ला कोई चेतन रूप पदार्थ चाहिये, जैसे मिट्टी अचेतन होने से स्वय घट रूप नही होती किन्तु चेतन कु भकार द्वारा घट रूप होती है ऐसे ही पृथ्वी आदि कार्य किसी चेतन द्वारा निर्मित होने चाहिये । वह चेतन शक्ति, ज्ञान एव इच्छा व ला होना भी आवश्यक है अन्यथा वह कार्य नही कर सकेगा इस प्रकार सपूर्ण पदार्थो को निर्माण करने की शक्ति आदि मे सयुक्त जो कोई चेतन है वह ईश्वर है और वह अनादि निधन है । ईश्वर वादी के इस मतव्य का सयुक्तिक खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि विश्व का कोई एक सर्व शक्तिमान् कर्त्ता नही है किन्तु प्रत्येक पदार्थ अतरग वहिरग कारणो से स्वय कार्य रूप परिणमन करते है, यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि रची होती तो दीन दु खी अनाथ मनुष्य, क्रूर पशु, आदि की उत्पत्ति कथमपि नही हो सकती क्योकि परम दयालु ईश्वर द्वारा ऐसी रचना होना सर्वथा असभव है । तथा ईश्वर के शरीर ही नही है, केवल इच्छा या ज्ञान मात्र से विश्व का कार्य करना असभव है । अचेतन कार्यशील स्वय नही होते ऐसा कहना असत् है । मेघ इन्द्रधनुष आदि पदार्थ अचेतन होकर भी स्वय कार्यशील होते हुए देखे जाते हैं । पृथिवी आदि कार्यो का कर्त्ता कोई ना कोई होना चाहिए ऐसा जो कहना है सो इनका निर्माण स्वय के उपादानभूत परमाणुओ से एव बांध्य निमित्तभूत अनेक सामग्री से हो जाया करता है उनके लिये ईश्वर की आवश्यकता नही होती इत्यादि अनेक प्रकार से ईश्वरकर्तृत्व का निरास होता है ।

प्रकृतिकर्तृत्ववाद—साख्य प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं—प्रकृति से महान् (बुद्धि) महान से अहकार, उससे षोडशगण उससे पचभूत प्रादुर्भूत होते हैं । साख्य सत्कार्यवादी कहलाते हैं इनके यहा कारण मे कार्य मौजूद ही रहता है ऐसा माना है । आचार्य ने इस वाद का सयुक्तिक निरसन किया है, प्रकृति और पुरुष दोनो

ही सर्वथा नित्य स्वीकार करने से साख्य का प्रकृतिकर्तृत्व कथमपि सिद्ध नही हो सकता, क्योकि नित्य मे किसी प्रकार परिणमन नही हो सकने से किसी के प्रति कारण-पना होना अशक्य है। प्रकृति से बुद्धि का प्रादुर्भाव मानना तो हास्यास्पद ही है क्योकि अचेतन प्रकृति से चेतन के धर्म स्वरूप बुद्धि का निर्माण कैसे सभव है ? सत्कार्यवाद के सिद्धि के लिये दिये गये असत् अकरणात् इत्यादि पच हेतु विपक्षभूत असत् कार्यवाद को ही सिद्ध कर देते है। साख्यमत मे कोई तो केवल प्रकृति को ही सृष्टिकर्त्ता मानता है और कोई प्रकृति और ईश्वर को कर्त्ता मानते है किन्तु चाहे प्रकृति हो, चाहे प्रकृति और ईश्वर हो दोनो ही जब कूटस्थ नित्य है तब उनके द्वारा कार्य की सभावना नही की जा सकती अत मे यही निर्दोष रीत्या सिद्ध होता है कि विश्व के यावन्मात्र चेतन अचेतन पदार्थों का कोई एक सर्व शक्तिमान कर्त्ता नही है अपितु मनुष्यादि के शरीरादिका कर्त्ता तो कर्म एव द्रव्यादि सामग्री है एव अचेतन कार्यो मे से कोई कार्य तो स्वय अचेतन से ही अधिष्ठित है और कोई चेतन से अधिष्ठित है किन्तु वह चेतन भी ईश्वर न होकर सामान्यत कोई भी प्राणी विशेष है।

कवलाहारविचार—श्वेताम्बर जैन अरहन अवस्था मे भगवान के भोजन ग्रहण होना मानते है इनका यह आग्रह है कि बिना भोजन के कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट रूप से केवली का शरीर टिक नही सकता। किन्तु यह कथन सिद्ध नही होता है भगवान केवल ज्ञानी के परम औदारिक शरीर है हम जैसे का सामान्य औदारिक नही, दूसरी बात उक्त शरीर के लिये प्रतिक्षण दिव्य सूक्ष्म महानपुष्टिकारक ऐसे नोकर्माहार रूप परमाणु आया करते है इन्ही से उनका शरीर अवस्थित रहता है। केवली के राग द्वेष का सर्वथा अभाव होता है अत वह भोजन नही करते, भोजन तो इच्छा पूर्वक किया जाता है, तथा जब उनके अनतवीर्य का सद्भाव है तब भोजन से प्रयोजन भी क्या रहता है ? यदि जबरदस्ती माना जाय कि वे आहार करते है तो गृहस्थ के घर मे जाकर भोजन करते हैं या समवशरण में ? घर मे जाकर करते है तो जहां भोजन का लाभ होना है वही सीधे जायेगे तो गोचरीवृत्ति नही रही और वैसा नही जाते तो दीनता एवं अज्ञानता दिखाई देती है, समवशरण मे भोजन करते है तो महान आसादना हुई ? भोजन करके प्रतिक्रमण करना होगा अत इनके सदोषता सिद्ध होती है। अत मे झुझलाकर यदि यह कहे कि भगवान् आहार करते हुए दिखायी नही देते क्योकि उनका ऐसा ही अतिशय है तो फिर भोजन नही करना रूप भुक्ति

अभाव नामका अतिशय ही क्यो न माना जाय ? अतिशय ही मानना है तो यही अतिशय सगत है व्यर्थ के द्राविडी प्राणायाम से क्या प्रयोजन ?

मोक्षस्वरूप विचार—मोक्ष का क्या स्वरूप है इस विषय मे वैशेषिक आदि परवादियो मे विवाद है–वैशेषिक बुद्धि आदि आत्मीक विशेष गुणो के उच्छेद होने को मोक्ष कहते हैं। अद्वैत उपासक वेदाती नित्य आनद स्वरूप मोक्ष मानते है। विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध का मतव्य है। प्रकृति और पुरुष के भेद का दर्शन होने पर चैतन्य पुरुष का स्व-स्वरूप मे अवस्थान होना मोक्ष है जिसमे कि ज्ञानादि का भी अभाव है ऐसा साख्य का कहना है। किन्तु इन सबका प्रतिपादन सिद्ध नही होता। इस मोक्ष विचार प्रकरण मे प्रथम ही वैशेषिक नैयायिक ने अपने बुद्धि आदि गुणो का उच्छेद होना रूप मोक्ष का लक्षण करके अन्य वेदाती आदि के मोक्ष स्वरूप का निरसन किया है फिर जैन ने इन यौग के प्रति अपनी स्याद्वादमय सशक्त लेखनी द्वारा प्रतिपादन किया है कि बुद्धि आदि आत्मा के गुणो का उच्छेद होना असभव है, क्योकि गुणी आत्मा से बुद्धि आदि गुण अभिन्न है, यदि इन गुणो का उच्छेद होगा तो आत्मा का भी उच्छेद मानना होगा, आत्मा को बुद्धि आदि से पृथक् मानकर समवाय से उनको सयुक्त करने का मतव्य तो पहले से ही निराकृत हो चुका है। बौद्ध के विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति होने रूप मोक्ष का लक्षण कथचित् ठीक होते हुए भी सर्वथा क्षणिकवाद मे तत्त्वज्ञान का अभ्यास, अभ्यास से सरागज्ञान का नाश और उससे विराग ज्ञान उत्पन्न होना इत्यादि कार्य सिद्ध नही हो सकते है। वेदाती का आनन्द रूप मोक्ष भी इसलिये निराकृत होता है कि वे लोग इस आनन्द को नित्य मानते हैं जब वह नित्य है तब ससार अवस्था मे भी सभव है फिर मोक्ष और ससार मे भेद ही काहे का ? साख्याभिमत मोक्ष का लक्षण भी सदोष है, प्रथम तो यह दोष है कि सर्वथा नित्यवाद मे प्रकृति और पुरुष के ससर्ग का अभाव होना पुनश्च पुरुष का चैतन्य मात्र मे अवस्थान होना इत्यादि परिवर्त्तन होना सभव नही, दूसरा दोष यह है कि यौग के समान इन्होने भी मोक्ष मे ज्ञानादि का अभाव स्वीकार किया है अत ऐसा मोक्ष का लक्षण सिद्ध नही होता, न ऐसे मोक्ष के लिये कोई बुद्धिमान प्रयत्नशील ही हो सकता है। इस प्रकार विभिन्न मोक्ष लक्षणो के निराकृत हो जाने पर अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख एव अनत वीर्य इत्यादि आत्मीक गुणो का पूर्ण रूपेण विकसित होना मोक्ष है यही मोक्ष का लक्षण निराबाध एव निर्दोष सिद्ध होता है।

स्त्रीमुक्तिविचार—उपर्युक्त मोक्ष की प्राप्ति पुरुष को होती है वर्त्तमान में जो जीव स्त्री का शरीर धारण किये हुए है उसको मोक्ष नही हो सकता, क्योंकि सयम एव ध्यान को स्त्री उत्कृष्ट रूप से धारण नही कर सकती, वस्त्र त्याग करना असभव होने से तज्जन्य हिंसा भी अनिवार्य है। श्वेतांबर स्त्री को मुक्ति होना स्वीकार करते है और उसके लिये "पु वेद वेदता ..." इत्यादि आगमोक्त गाथा को प्रमाण रूप से उपस्थित करते है किन्तु वह असत् है, उक्त गाथा भाव वेद की अपेक्षा प्रतिपादन कर रही है न कि द्रव्यवेद की अपेक्षा। अत यह निश्चय करना चाहिये कि स्त्री को उसी भव से उसी स्त्री लिंग रूप द्रव्य आकारधारी शरीर से मोक्ष प्राप्ति होना अशक्य है, हा स्त्री पर्याय से अपने योग्य तपश्चरण करके आगामी भव मे पुरुष लिंग धारण कर पूर्ण संयमी दिगम्बर मुनि बनकर वह मोक्ष जा सकती है।

स्मृतिप्रामाण्यवाद—बौद्धादिवादी स्मृतिज्ञान को प्रामाणिक नही मानते किन्तु यह मान्यता असत् है, स्मृतिज्ञान को सत्य नही माना जाय तो जगत का लेन देन का कार्य समाप्त होगा, अभ्यास भावना विद्यार्थी का विद्याध्ययन आदि संपूर्ण कार्य सिद्ध नही हो सकेंगे, तथा किसी किसी विषय मे स्मरण ज्ञान व्यभिचरित होता है अर्थात् असत्य सिद्ध होता है इसलिये उस ज्ञान को सर्वथा अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्षादि ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा ? क्योंकि यह भी क्वचित कदाचित् व्यभिचरित होता है।

प्रत्यभिज्ञान—स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान को भी बौद्ध स्वीकार नहीं करते, मीमासकादि यद्यपि इसे स्वीकार करते है किन्तु उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते है। इन मतो का निराकरण करते हुए यह सिद्ध किया है कि अनुमान आदि अन्य प्रमाण के समान प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रतिभास वाला प्रमाण है जैसे अनुमान का प्रत्यक्ष मे अतर्भाव नही होता वैसे इसका भी नही हो सकता। तथा बौद्ध यदि इस ज्ञान को प्रमाणभूत नही मानेंगे तो उनका क्षणिकत्ववाद समाप्त होगा क्योंकि जो सत् होता है वह सर्व ही क्षणिक होता है ऐसा सकलात्मक ज्ञान हुए बिना साध्यसाधन रूप अनुमान का उदय ही नही हो सकता और अनुमान के बिना क्षणभगवाद भी सिद्ध नही हो सकता।

तर्क प्रमाण—चार्वाक को छोडकर अन्य सभी प्रवादी अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते है किन्तु साध्यसाधन के अविनाभाव को विषय करने वाले तर्क प्रमाण

के अभाव मे अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव असभव है, वात तो यह है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एव अनुमान इन प्रमाणो मे पूर्व पूर्व प्रमाणो की आवश्यकता रहती है अर्थात् प्रत्यक्ष से अनुभूत विषय मे ही स्मृति होती है, स्मृति और प्रत्यक्ष का सकलन स्वरूप प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा तर्क साध्य साधन के सम्वन्ध का स्मरण एव सकलन हुए बिना प्रवृत्त नही हो सकता। ऐसे ही अनुमान को पूर्व प्रमाणो की अपेक्षा हुआ करती है अत निश्चय होता है कि अनुमान के साध्य साधन रूप अवयवो के सम्वन्ध को ग्रहण करने वाला तर्क एक पृथक्भूत प्रमाण है।

अनुमान प्रमाण का लक्षण (साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम्) और हेतु का लक्षण (साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु) करते ही बौद्ध अपने हेतु का लक्षण उपस्थित करते है कि पक्षधर्म सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति इस तरह त्रैरूप्य (तीन रूप) ही हेतु का लक्षण होना चाहिये अन्यथा उक्त हेतु सदोष होता है। इस त्रैरूप्यवाद का निरसन तो कृतिकोदयादि पूर्वचर हेतु से ही हो जाता है, अर्थात् "उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकट कृतिकोदयात्" इत्यादि अनुमानगत हेतु मे पक्ष धर्मादि रूप नही होते हुए भी ये अपने साध्य के साधक होते हैं अत. हेतु का लक्षण त्रैरूप्य नही है।

पाचरूप्य खण्डन—नैयायिक हेतु का लक्षण पाच रूप करते हैं—पक्ष धर्म, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षत्व और अवाधित विषयत्व, यह मान्यता भी बौद्ध मान्यता के समान गलत है क्योकि इसमे भी वही दोप आते हैं, अर्थात् सभी हेतुओ मे पाचरूप्यता का होना जरूरी नही है। पाचरूपता के नही होते हुए भी कृतिकोदयादि हेतु स्वसाध्य के साधक देखे जाते है।

अनुमान त्रैविध्यनिरास—पूर्ववत्, शेपवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे अनुमान के तीन भेद नैयायिक के यहा माने जाते हैं, इनके केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी आदि विभाग किये है किन्तु यह सिद्ध नही होता, सभी अनुमानो मे अविनाभावी हेतु द्वारा स्वसाध्य को सिद्ध किया जाता है अत उनमे पूर्ववत् आदि का नाम भेद करना व्यर्थ है।

अविनाभावादिका लक्षण एव हेतुओ के सोदाहरण वावीस भेद—अविनाभाव का लक्षण, साध्य का स्वरूप, पक्ष का लक्षण, अनुमान के अग, उदाहरण, उपनय एव निगमनो का लक्षण, विधिसाधक एव प्रतिषेधक साधक हेतुओ के भेद, बौद्ध कारण

हेतु को नही मानता उसका निरसन, पूर्वचर आदि हेतु की सार्थकता एवं पृथक्त्व। अविरुद्ध उपलब्धि हेतु के विधिसाध्य की अपेक्षा छह भेद, विरुद्ध उपलब्धि हेतु के प्रतिषेध साध्य की अपेक्षा छह भेद, अविरुद्ध अनुपलब्धि हेतु के प्रतिषेध साध्य में सात भेद, विरुद्ध अनुपलब्धि हेतु के विधिसाध्य में तीन भेद, इस प्रकार इन सबका वर्णन इस प्रकरण मे है।

वेद अपौरुषेयवाद—मीमासक अपने वेद मामा ग्रन्थ को अपौरुषेय मानते है, इनका कहना है कि सभी पुरुष राग द्वेष युक्त ही होते हैं अतः सत्य अर्थ का प्रतिपादन नही कर सकते, तथा वेद कर्त्ता का स्मरण नही है इसलिये वेद पुरुष रचित न होकर अपौरुषेय ही है। किन्तु यह कथन असत् है कोई भी पद एव वाक्य अपने आप बिना पुरुष प्रयत्न के निर्मित होता हुआ देखा नही जाता जब वेद मे भारत रामायण आदि के समान वाक्य रचना पायी जाती है तब उसे अपौरुषेय किस प्रकार मान सकते है ? अर्थात् नही मान सकते। कर्त्ता का स्मरण नही होने से वेद को अपौरुषेय माना जाय तो बहुत से प्राचीन महल, कूप आदि के कर्त्ता का स्मरण नही होता अत उन्हे भी अपौरुषेय मानना चाहिये ? दूसरी बात कर्त्ता का अस्मरण कहा है ? कालासुर नामा-देव ने अपने वैर का बदला लेने के लिये हिंसापरक इस वेद को रचा था ऐसा हम जैन को भली भाति स्मरण है। तथा मीमासक वेद को अपौरुषेय इसलिये मानते हैं कि उससे वह ग्रन्थ प्रामाणिक सिद्ध हो किन्तु अपौरुषेय प्रामाण्य की कसौटी नही है, यदि ऐसा है तो चोरी आदि के उपदेश को भी प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह भी अपौरुषेय है। वेद को अपौरुषेय मानने पर भी उसके व्याख्यान एव अर्थ करने वाले तो पुरुष ही रहते है, यदि व्याख्याता पुरुष वेद के अर्थ का सही प्रतिपादन कर सकते है तो कोई पुरुष विशेष उसको रच भी सकता है। अंत मे यही सिद्ध होता है कि वेद पुरुष रचित ही है क्योकि उसके वाक्य पुरुष रचित जैसे ही है, पुरुष प्रयत्न बिना ग्रन्थ रचना सर्वथा असभव है।

शब्द नित्यत्ववाद—शब्द नित्य व्यापक एव आकाश के गुण स्वरूप हुआ करते है ऐसा मीमासक का अभिमत है, शब्द को नित्य माने बिना सकेत ग्रहण पूर्वक होने वाला अर्थ ज्ञान असभव है, अर्थात् यह घट है, घट शब्द द्वारा इस पदार्थ को कहा जाता हैं इत्यादि रूप से घट आदि शब्दो मे प्रथम सकेत होता है पुन किसी समय उन शब्दो को सुनकर अर्थ प्रतिभास होता है इस प्रकार सकेत काल से लेकर व्यवहार

काल तक यदि शब्द अवस्थित नही रहेगा तो शाब्दिक ज्ञान होना अशक्य है। शब्द की व्यापकता दो कारणो से स्वीकृत की जाती है, एक तो वह आकाश रूप व्यापक द्रव्य का गुण है दूसरे एक साथ नाना देशो मे सुनाई देता है। मीमासक के इस मतव्य का सुविस्तृत निरसन किया गया है, सकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक वही शब्द नही रहता अपितु तत् सदृश अन्य रहता है, सादृश्य शब्द द्वारा घटादि वाच्य का प्रतिभास होता है, अर्थात् जब कोई वृद्ध पुरुष बालक के प्रति घट वाच्य और घट वाचक शब्द मे सकेत करता है उस समय का शब्द नष्ट होता है अन्य समय मे जो घट शब्द को बालक सुनता है वह अन्य तत् सदृश शब्द है, इस सादृश्य शब्द से होने वाला ज्ञान असत्य है ऐसा भी नही कह सकते अन्यथा धूम हेतु से होने वाला अग्नि का अनुमान असत्य ठहरेगा, अर्थात् सकेत काल का शब्द व्यवहार काल मे नही होता अत तज्जन्य ज्ञान भ्रात है तो रसोई घर के धूम अग्नि मे साध्य साधन का सकेत ज्ञात कर पुन पर्वत पर तत्सदृश धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है उसको भी भ्रात मानना होगा ? क्योकि रसोई घर का धूम तो पर्वतपर है नही। तथा मीमासक ग, क, र आदि वर्णो को सर्वत्र एक व्यापक रूप से मानते है, किन्तु ऐसा प्रतीति मे नही आता, गकार आदि यावन्मात्र वर्ण पृथक् पृथक् अनेकों सख्याओ मे एक साथ उपलब्ध हो रहे है, विभिन्न देशो मे पूर्ण पूर्ण रूपसे अनेको वर्ण एक साथ उपलब्ध होते हैं, व्यापक पदार्थ इस तरह एक जगह पूर्ण रूपेण उपलब्ध हो ही नही सकता अन्यथा वह व्यापक ही काहे का ? व्यापक आकाश क्या एकत्र पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है ? शब्द को नित्य मानकर व्यजक ध्वनि द्वारा उसका सस्कार होने की मान्यता भी आश्चर्यकारी है। वक्ता के मुख से शब्द निकलकर श्रोता के कर्ण तक आता है तो वह मार्ग मे किसी पदार्थ से विच्छिन्न होगा इत्यादि जैन के प्रति दिये गये दूषण मीमासक के अभिव्यजक वायु मे भी लागू होते है। तथा यदि शब्द सर्वथा नित्य है तो उसका सस्कार होना या व्यक्त होना आदि नही बन सकता, क्योकि नित्य मे पूर्व की अव्यक्त दशा से उत्तर कालीन व्यक्त दशा मे आना रूप परिवर्त्तन सभव नही अन्यथा वह अनित्य ही ठहरता है। इत्यादि अनेक प्रकार से शब्द के नित्यत्व का खडन होता है।

शब्दसम्बन्ध विचार—शब्द और पदार्थ मे ऐसी ही सहज स्वाभाविक योग्यता है कि गो आदि शब्द तदर्थ वाच्यभूत सास्नामान पदार्थ को अवभासित कराते हैं, पुनश्च इनमे सकेत भी किया जाता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस

वाच्य वाचक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि "सहज योग्यता सकेत वशाद् हि शब्दादयः वस्तु प्रतिपत्ति हेतवः" बौद्ध शब्द और अर्थ में ऐसा वाच्य वाचक सम्बन्ध नही मानते, उनका कहना है कि ये दोनो भी क्षणिक हैं अतः शब्द द्वारा अर्थ-बोध नही होता इत्यादि। किन्तु यह कथन असत् है, प्रथम बात तो यह कि शब्द बिलकुल क्षणिक एक समय मात्र का नही है अपितु कुछ समय स्थायी है, और पदार्थ तो क्षणिक है नही वह चिरकाल स्थायी है, दूसरे शब्द के अनित्यत्व होने पर भी तज्जन्य ज्ञान द्वारा वाच्यार्थ बोध होता ही है। अत. सकेत और स्वाभाविक योग्यता के कारण शास्त्रीय या लौकिक शब्द (वचन) अर्थ के वाचक होते हैं इनमे वाच्य वाचक लक्षण सम्बन्ध है ऐसा मानना चाहिए।

अपोहवाद—बौद्ध का कहना है कि शब्द घटादि वाच्यार्थ को न कहकर अपोह को कहते हैं अर्थात् गो शब्द सास्नादिमान् पदार्थ को नही कहता किन्तु गो से अन्य जो अश्वादि है उनसे व्यावृत्ति कराता है इसे अगो व्यावृत्ति कहते हैं, ऐसे घट पट इत्यादि शब्दो द्वारा अन्य का अपोह अर्थात् अघट व्यावृत्ति अपट व्यावृत्ति मात्र की जाती है। शब्दो को अर्थों का वाचक इसलिये नही मानते कि अर्थ के अभाव मे भी शब्द की उपलब्धि पायी जाती है। बौद्ध का यह मतव्य सर्वथा असगत है क्योकि प्रतीति के विरुद्ध है, गो शब्द को सुनते ही हमे सीधे सास्नादिमान् पदार्थ की प्रतीति होती न कि अन्य की व्यावृत्ति की। कोई कोई शब्द अर्थ के अभाव मे उपलब्ध होते है अतः सभी शब्दो को अर्थाभिधायक नही मानना तो अनुचित ही है अन्यथा कोई कोई गोपाल घटिकादिका धूम अग्नि के अभाव में उपलब्ध होता है अत· उसे भी अग्नि का कार्य नही मानना चाहिये न अग्नि का अनुमापक ही। जब हमे गो शब्द सुनते ही तदर्थ वाच्य की प्रतीति होती है तब कैसे कह सकते कि शब्द अर्थ का वाचक न होकर केवल अन्य का व्यावर्त्तक ही है! यदि कहा जाय कि शब्द अन्य की व्यावृत्ति पूर्वक स्ववाच्य को कहता है तो यह मान्यता भी असंगत है क्योकि एक ही शब्द अगो का निषेध और गो की विधि इस प्रकार विरुद्ध दो अर्थों को कह नही सकता न ऐसी प्रतीति ही होती है। तथा यदि गो शब्द अन्य की व्यावृत्ति कराता है ऐसा माना जाय तो गो से अन्य पदार्थ तो असंख्य हैं उनको जाने बिना व्यावृत्ति कैसे हो सकती है? गवादि शब्द केवल अगो आदि का निषेध ही करते हैं तो "न गौ. अगौ·" इस प्रकार के नञ समास का अर्थ क्या प्रसज्य प्रतिषेध रूप है अथवा पर्युदास प्रतिषेध रूप

है ? प्रथम पक्ष तो अमान्य होने से स्वीकार नही कर सकते (क्योकि बौद्ध ने प्रसज्य प्रतिषेध रूप अभाव नही माना है) और द्वितीय पक्ष माने तो अगो का अर्थ गो ही होता है, यह तो द्राविडीप्राणायाम मात्र हुआ कि गो शब्द ने सीधे गो वाच्य को न कहकर यह अगो नही है ऐसा घुमाकर गो वाच्य को कहा। अत. प्रतीति का अपलाप नही करके ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि गो आदि शब्द तदर्थवाचक होते हैं।

स्फोटवाद—भर्तृहरि प्रभृति का कहना है कि शब्द पदार्थ का वाचक नही है किन्तु स्फोट पदार्थ का वाचक है, अर्थात् गकार आदि वर्णों द्वारा अभिव्यज्यमान नित्य व्यापक ऐसा कोई स्फोट नामा तत्त्व है वही अर्थ का वाचक होता है, गकार आदि वर्ण तो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकते है अत वे अर्थ के वाचक नही हो सकते, यदि गो आदि शब्द अर्थ के वाचक होते तो जिस पुरुष ने उस शब्द के सकेत को ग्रहण नही किया है उसे भी उस शब्द द्वारा गो अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए थी ? आचार्य ने समझाया है कि सहज योग्यता और सकेत होने से शब्द स्ववाच्य को अवश्य कहते हैं, गकार आदि वर्ण विनष्ट हो चुकने पर भी पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान सस्कार अवस्थित ही रहते है और वे अर्थ प्रतीति कराते है, गो आदि शब्द और सास्नादिमान पदार्थादि को छोडकर इनके मध्य ऐसा कोई तत्त्व प्रतीति नही होता कि जिसे स्फोट नाम दिया है, बात तो यह है कि 'हे देवदत्त ! गा अभ्याज" इत्यादि वाक्य या "घट." इत्यादि पदो के उच्चारण करते ही अर्थ प्रतीति होती है। इसमे क्रम यह है कि पूर्व पूर्व वर्णों के उच्चारण के साथ उन उन वर्णों के ज्ञान सस्कार प्रादुर्भूत होते जाते है और अतिम वर्ण को सहायता करके पूर्ण वाक्यार्थ या पद के अर्थ का अवभासन कराते हैं, पूर्व वर्ण का ज्ञान जिसमे सहायक है ऐसा अतिम वर्ण अर्थ को प्रस्फुटित कर देता है, शब्द नष्ट हो चुकने पर भी उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान या सस्कार बना ही रहता है अथवा ज्ञान सस्कार का आधारभूत आत्मा तो सदावस्थित ही है, उसी से अर्थ बोध होता रहता है, अत यदि वैयाकरणो को स्फोट सर्वथा इष्ट ही है तो उसी ज्ञान सस्कार युक्त आत्मा को स्फोट नाम देना चाहिए "स्फुटति–प्रकटी भवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोट चिदात्मा" ऐसा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी सिद्ध है। इस प्रकार स्फोटवाद का खडन होता है।

वाक्य लक्षण विचार—शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से वाचक वाच्य सबध सिद्ध होने पर प्रश्न होता है पद एव वाक्य का लक्षण क्या होना चाहिये ? इसके

उत्तर में निर्दोष पद और वाक्य का लक्षण आचार्य द्वारा प्रस्फुटित किया गया है कि "वर्णानां परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष: समुदाय: पदम्" । पदाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष: समुदाय: वाक्यम्" इति। अर्थात् परस्पर मे सापेक्ष किन्तु वर्णांतर निरपेक्ष ऐसा जो वर्ण समुदाय है अर्थात् देवदत्त:, घट:, जिनदत्तम्, दात्रेण इत्यादि में स्थित जो वर्ण समुदाय है उसे पद कहते है। परस्पर मे अपेक्षित किन्तु पदातर से निरपेक्ष ऐसा जो पद समुदाय है उसे वाक्य कहते है। वाक्य के लक्षण मे परवादियो के यहा पर विभिन्न मत हैं कोई गच्छति आदि क्रिया पद को वाक्य मानते है, कोई वर्ण समुदाय मात्र को वाक्य मानते है इत्यादि किन्तु ये लक्षण निर्दोष सिद्ध नही होते, क्योकि केवल क्रिया पद या वर्ण समुदाय मात्र पूर्ण वाक्यार्थ का बोध नही करा सकते है। वाक्य द्वारा जो अर्थ प्रतीति होती है उसमें भी विवाद है कि वाक्य मे स्थित जो अनेक पद है उनमे से किस पद द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है एक पद द्वारा या सपूर्ण पदो द्वारा ? आचार्य ने समझाया है कि पूर्व पूर्व पद के अर्थ ज्ञान के सस्कार अत्य पद के सहायक होते है और उससे वाक्यार्थ प्रतीत हो जाता है। मीमासक मत के अंतर्गत प्रभाकर का कहना है कि एक पद अन्य पदो के वाच्यार्थों से अन्वित ही रहता है अत. पद के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी हो जाती है किन्तु यह अन्वित अभिधानवाद युक्त नही है इस तरह तो प्रत्येक पद को वाक्यपना हो जाने का प्रसग आता है। इसी प्रकार भाट्ट (मीमांसक का एक मत) अभिहित अन्वयवाद मानते है अर्थात् पदो द्वारा कहे गये अर्थों का अन्वय ही वाक्यार्थ है ऐसा कहते है यह कथन भी पूर्वोक्त रीत्या असगत सिद्ध होता है।

इस प्रकार विविध प्रकरणो से युक्त यह द्वितीय भाग समाप्त होता है। इसमे आगत विषयो का यह सक्षिप्त परिचय है।

द्वितीय भाग में आगत परीक्षामुख के सूत्र

६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।

७ तदन्वय व्यतिरेकानु विधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञान वन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।

९ स्वावरण क्षयोपशमलक्षण योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचार ।

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमती - न्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध- सम्भवात् ।

द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः

अथ तृतीयः परिच्छेदः

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का- नुमानागमभेदम् ।

३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शन स्मरण कारणक सङ्कलन प्रत्यभि- ज्ञानम्, तदेवेद, तत्सदृश, तद्विलक्षण, तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवाय देवदत्त ।

७ गो सदृशो गवयः ।

८ गोविलक्षणो महिष ।

९ इदमस्माद् दूरम् ।

१० वृक्षोऽयमित्यादि ।

११ उपलम्भानुपलंभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह. ।

१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।

१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।

१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।

१६ सहक्रमभावनियमोऽविना भाव ।

१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव ।

१८ पूर्वोत्तरचारिणो. कार्यकारणयोश्च क्रम- भाव ।

१९ तर्कात्तन्निर्णय. ।

२० इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम् ।

२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।

२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधित वचनम् ।

२३ न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिन ।

२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।

२५ साध्य धर्म क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।

२६ पक्ष इति यावत् ।

२७ प्रसिद्धो धर्मी ।

२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।

२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।

३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्म विशिष्टता ।

३१ अग्निमानय देश परिणामी शब्द इति यथा ।

३२ व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।

३३ अन्यथा तदघटनात् ।

३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।

३७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।

३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ।

३९ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।

४० व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तरान्तरापेक्षणात् ।

४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।

४२ तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।

४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।

४४ न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्योर्वचनादेवासंशयात् ।

४५ समर्थनं वा, वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ।

४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।

४७ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेक भेदात् ।

४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।

४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।

५० हेतोरुपसंहार उपनयः ।

५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।

५२ तदनुमानं द्वेधा ।

५३ स्वार्थपरार्थ भेदात् ।

५४ स्वार्थमुक्त लक्षणम् ।

५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।

५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।

५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ।

५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।

५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात् ।

६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।

६१ न च पूर्वोत्तर चारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलब्धेः ।

६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।

६३ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।

६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।

६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।

६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ।

६८ उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयात् ।

६९ उदगाद्भरणि. प्राक्तत एव ।

७० अस्त्यत्र मातुलिंगे रूप रसात् ।

७१ विरुद्धतदुपलब्धि प्रतिषेधे तथा ।

७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।

७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।

७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदय शल्यात् ।

७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकट रेवत्युदयात् ।

७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।

७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग-दर्शनात् ।

७८ अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-व्यापक कार्यकारण पूर्वोत्तर सहचरानु-पलम्भभेदात् ।

७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।

८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे ।

८१ नास्त्यत्राप्रतिवद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुप-लब्धेः ।

८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने ।

८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकट कृत्तिकोदया-नुपलब्धे ।

८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।

८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानु-पलब्धे ।

८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्य कारणस्वभावानुपलब्धि भेदात् ।

८७ यथास्मिन् प्राणिनि व्याधि विशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।

८८ अस्त्यत्र देहिनि दु खमिष्टसयोगाभावात् ।

८९ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानु-पलब्धे ।

९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावि-नीयम् ।

९१ अभूदत्र चक्रे शिवक स्थासात् ।

९२ कार्यं कार्यमविरुद्ध कार्योपलब्धौ ।

९३ नास्त्यत्र गुहायाम् मृगक्रीडन मृगारिसं-शब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्यो-पलब्धौ यथा ।

९४ व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुप-पत्त्यैव वा ।

९५ अग्निमानय देशस्तथैव धूमवत्वोपपत्ते-र्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते र्वा ।

९६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहण विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।

९७ तावता च साध्यसिद्धि ।

९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्त ।

९९ आप्तवचनादिनिवन्धनमर्थज्ञानमागम. ।

१०० सहज योग्यता सकेत वशाद्धि शब्दादयो-वस्तुप्रतिपत्ति हेतव ।

१०१ यथा मेर्वादय सन्ति ।

इति तृतीय परिच्छेदः समाप्तः

विषयानुक्रमणिका

समर्पण

जिन्होने अज्ञान और मोहरूपी अधकार मे पडे हुए मुझको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्व स्वरूप प्रकाश पुज दिया एव चारित्र युक्त कराया, जो मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन जननी है, गुरु है, जो स्वय रत्नत्रय से अलकृत हैं और जिन्होने अनेकानेक बालक बालिकाओको कौमार व्रतसे तथा रत्नत्रयसे अलकृत किया है, जिनकी बुद्धि, विद्या, प्रतिभा और जिनशासन प्रभावक कार्योका माप दड लगाना अशक्य है उन आर्यिका रत्न, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर परम पूज्या १०५ ज्ञानमती माताजी के पुनीत कर कमलोमे अनन्य श्रद्धा, भक्ति और वदामिके साथ यह ग्रन्थ सादर समर्पित है ।

—आर्यिका जिनमती

परमपूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर, आर्यिका रत्न, १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

भव्य जीव हितकारी, विदुषी मातृवत्सलाम् । वन्दे ज्ञानमती मार्यां, प्रमुखा सुप्रभाविकाम् ।।

जन्म	क्षुल्लिका दीक्षा	आर्यिका दीक्षा
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	बैसाख कृष्णा २
वि० स० १९९१	वि० स० २००९	वि० स० २०१३
टिकैतनगर (उ०प्र०)	श्री महावीरजी	माधोराजपुरा (राज०)

✳ मंगलस्तवः ✳

वर्द्धमान जिनं नौमि घाति कर्मक्षयकरम् ।
वर्द्धमानं वर्त्तमाने तीर्थं यस्य सुखकरम् ॥१॥
श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्य जीव हित प्रदे ।
श्री शारदे ! नमस्तुभ्य माद्यत परिवर्जिते ॥२॥
मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैनशासन वर्द्धका ।
निर्ग्रन्था· पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु न समीहितम् ॥३॥
माणिक्यनन्दि नामान गुण माणिक्य मण्डितम् ।
वन्दे ग्रन्थ. कृतो येन परीक्षामुख सज्ञक ॥४॥
प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीकां चक्रे सुविस्तृताम् ।
मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्ननाशन हेतवे ॥५॥
पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्त पञ्चससार भीरुकम् ।
शान्तिसागर नामान सूरिं वन्देऽघनाशकम् ॥६॥
वीर सिन्धु गुरु स्तौमि सूरि गुण विभूपितम् ।
यस्य पादयोर्लब्ध मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ॥७॥
तपस्तपति यो नित्य कृशागो गुण पीनक ।
शिवसिन्धु गुरु वन्दे महाव्रतप्रदायिनम् ॥८॥
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धित. ॥९॥
नाम्नी ज्ञानमती मार्यां जगन्मान्या प्रभाविकाम् ।
भव्य जीव हितंकारी विदुषी मातृवत्सला ॥१०॥
अस्मिन्नपार ससारे मज्जन्ती मा सुनिर्भरम् ।
ययावलबन दत्त मातर ता नमाम्यहम् ॥११॥
पार्श्वे ज्ञानमती मातु पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
सप्राप्त यन्मया ज्ञान कोटि जन्म सुदुर्लभम् ॥१२॥
तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
नाम्नः प्रमेय कमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ॥१३॥

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड
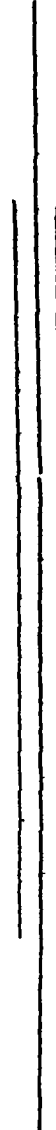
श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित–परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः

[द्वितीय भाग]

अर्थकारणतावादः

ननु चेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तदित्यसाम्प्रतम्, पारमार्थालोकादेरपि तत्कारणतयात्राभिधानार्हत्वात्, तन्न, आत्मनः समनन्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्ययान्तरेप्यविशेषात् अत्रानभिधानम् असा-

---

श्री माणिक्यनदी आचार्य ने न्यायका सूत्रबद्ध परीक्षामुख नामा ग्रंथ रचा इसमें सर्व प्रथम प्रमाणके लक्षणका प्रणयन किया है, पुनः इस लक्षणके विषयमें विशेष विवरण किया गया है। इसीप्रकार अन्य विषय जो प्रामाण्य आदिक है उनका कथन है। प्रथम परिच्छेदमें तेरह सूत्र है, इन सूत्रों पर प्रभाचन्द्राचार्यकी पांडित्यपूर्ण विशाल काय टीका है। दूसरे परिच्छेदमें प्रमाणके भेदोको बताते हुए पाँचवें सूत्रमें साव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाणका वर्णन किया है। यहांतकके मूल सूत्र तथा उनकी प्रमेय कमल मार्त्तण्ड नामा टीका इन सबका राष्ट्र भाषामय अनुवाद प्रथम भागमें आया है। अब इस दूसरे भागमें तृतीय परिच्छेद तकके प्रमेयोका विवेचन रहेगा। इनमें प्रथम ही साव्यवहारिक प्रत्यक्षके लक्षणमे परवादी शंका उपस्थित करते हैं—

धारणकारणस्यैव निरूपयितुमभिप्रेतत्वात् । सन्निकर्षस्य चाऽव्यापकत्वादसाधकतमत्वाच्चानभिधानम् । अर्थालोकयोस्तदसाधारणकारणत्वादत्राभिधानं तर्हि कर्त्तव्यम्, इत्यप्यसत्; तयोर्ज्ञानकारणत्वस्यैवासिद्धेः । तदाह—

नार्थाऽऽलोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

शंकाः—जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे होता है उसको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसा जैनाचार्यने प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण किया है किन्तु यह ठीक नही है, क्योकि इस प्रमाणमे आत्मा भी निमित्त होता है तथा पदार्थ एव प्रकाश भी निमित्त होते हैं, अतः इन सब कारणोका उल्लेख करना आवश्यक है ?

समाधान—यह शका ठीक नही है, साव्यवहारिक प्रत्यक्षके लक्षणमे जो असाधारण कारण है उसीको बतलाना इष्ट है, आत्मा या समनतर प्रत्यय रूप जो अन्य कारण है वह तो परोक्ष प्रमाणमे भी पाया जाता है, सन्निकर्ष इसलिये प्रमाणके लक्षणमे नही आता है कि वह अव्यापक है, अर्थात् चक्षु द्वारा सन्निकर्षज ज्ञान नही होता, तथा सन्निकर्ष साधकतम भी नही है अतः सन्निकर्ष प्रमाणका निमित्त नही हो सकता ।

भावार्थ—साव्यवहारिक प्रत्यक्षका साधकतम कारण इन्द्रिय और मन ही हो सकता है अन्य कोई साधकतम कारण नही हो सकते, क्योकि यदि आत्माको कारण मानते हैं तो वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोमे कारण है न कि अकेले प्रत्यक्षमे अत. असाधारण कारणमे (साधकतममे) वह नही आता, तथा सन्निकर्ण भी प्रमाणके प्रति साधकतम नही हो सकता, क्योकि सभी इन्द्रियज ज्ञान सन्निकर्ष से नही होते इस विषयको पहले कह आये हैं ।

अब यहा कोई कहे कि पदार्थ और प्रकाश मे तो प्रमाणके प्रति असाधारण कारणपना है ? उनका प्रत्यक्षके लक्षणमे कथन होना चाहिये ? सो यह कथन गलत है क्योकि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नही हो सकते, आगे इसी विषयका विवेचन करनेवाला सूत्र कहते हैं—

नार्थालोको कारण परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ॥६॥

प्रसिद्धं हि तमसो विज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनातत्कारणस्यापि परिच्छेद्यत्वम् । ननु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेणान्यस्य तमसोऽभावात्कस्य दृष्टान्ता ? इत्यप्यसङ्गतम्, तस्यार्थान्तरभूतस्यालोकस्येवात्रैवानन्तर समर्थयिष्यमाणत्वात् । ननु परिच्छेद्यत्वं च स्यात्तयोस्तत्कारणत्वं च अविरोधात्; इत्यप्यपेशलम्; तत्कारणत्वे तयोश्चक्षुरादिवत्परिच्छेद्यत्वविरोधात् ।

सूत्रार्थ—पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नही है क्योंकि वे परिच्छेद्य (जानने योग्य) है जैसे अधकार जानने योग्य पदार्थ है । देखा जाता है कि अधकार ज्ञानका प्रतिबधक होनेसे उसका कारण नही होते हुए भी उस ज्ञानका विषय अवश्य है इसीप्रकार पदार्थ और प्रकाश हैं, वे ज्ञानके कारण नही है, मात्र ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है ।

शंका—ज्ञानकी उत्पत्ति नही होना यही तो अंधकार है अन्य कोई वास्तविक पदार्थ नही है इसलिये अंधकारका दृष्टान्त देना गलत है ?

समाधान—ऐसी बात नही है, प्रकाशके समान अंधकार भी एक पृथक् वास्तविक पदार्थ है इस बातको हम आगे भलीप्रकार सिद्ध करेगे ।

शंका—पदार्थ और प्रकाश जानने योग्य भी हैं और ज्ञानके कारण भी है कोई विरोधकी बात नही है, अर्थात् आपने कहा कि पदार्थ तथा प्रकाश परिच्छेद्य होनेसे ज्ञानके कारण नही हो सकते, सो बात नही है ?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, पदार्थ और प्रकाशको ज्ञानका कारण मानने पर वे परिच्छेद्य नही रह सकेगे, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रियां ज्ञानका कारण है अतः परिच्छेद्य नही है ।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान पदार्थका कार्य है (पदार्थके निमित्तसे हुआ है) यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जाती है कि अन्य किसी प्रमाणसे इस बातका निर्णय करना होगा ? ज्ञान पदार्थका कार्य है इस बातको प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना जाता है ऐसा माने तो वह प्रत्यक्ष कौनसा होगा ? जो प्रत्यक्ष जिस घटादिको विषय कर रहा है वही स्वय जान लेता है कि क्या मैं इस घट से उत्पन्न हुआ हूं, अथवा अन्य कोई पट

किञ्च, अर्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्किं तत एव, प्रत्यक्षान्तराद्वा ? न तावत्तत एव, अनेनार्थमात्रस्यैवानुभवात् । तद्धेतुत्वविशिष्टार्थानुभवे वा विवादो न स्यान्नीलत्वादिवत् । न खलु प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपेऽसौ दृष्टो विरोधात् । न हि कुम्भकारादेर्घटादिहेतुत्वेनानुभवे सोऽस्ति । तन्न तदेवात्मनोऽर्थकार्यतां प्रतिपद्यते । नापि प्रत्यक्षान्तरम्, तेनाप्यर्थमात्रस्यैवानुभवात्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्ग, ज्ञानान्तरस्यानेनाग्रहणाच्च । एकार्थसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमित्यभ्युपगमेपि अनेनार्थाग्रहणम् । न चोभयविषयं ज्ञानमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः ।

आदि पदार्थका प्रत्यक्ष इस बातको कहता है ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, वह घट विषयक ज्ञान तो मात्र घटका अनुभवन करता है, किससे उत्पन्न हुआ हू इस बातका उसे अनुभव नही है । यदि उस ज्ञानद्वारा कारण सहित (अपने उत्पत्ति का जो कारण है उससे सहित) पदार्थका अनुभवन हो जाता तो उसमे विवाद ही काहेको होता ? जैसे कि नील आदि वस्तुका ज्ञानसे अनुभवन होता है तो उसमें विवाद नही रहता है । प्रमाणसे जिसका भली भाति निर्णय हो चुका है उस वस्तुमे विवाद होना शक्य नही है । जब कु भकार घटको बनाता है ऐसा हम लोग जानते हैं फिर उसमे विवाद नही करते कि यह घट किसने बनाया, कैसा है ? इत्यादि । इसप्रकार यह निश्चित होता है कि घटादि विषयक ज्ञान ही अपने कारण को जानता है ऐसा कहना असिद्ध है ।

दूसरा पक्ष—घट विषयक ज्ञान घटका कार्य है इसप्रकारकी जानकारी अन्य किसी प्रत्यक्षसे होती है ऐसा माने तो भी नही बनता, क्योकि वह अन्य प्रत्यक्ष भी मात्र अपने विषयको जानता है, यदि भिन्न विषयक प्रत्यक्ष उस विवक्षित प्रत्यक्ष ज्ञानके कारणको जानता है तो उसमे वही पहले कहे हुए दोष आयेंगे अर्थात् अन्य कोई प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्षके कारणका निर्णय देता होता तो विवाद ही क्यों होता कि इसका कारण पदार्थ है अथवा नही है इत्यादि । एक बात और भी समझनेकी है कि वह अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उस विवक्षित घट विषयक ज्ञानको जानता ही नही तो कैसे बतायेगा कि यह ज्ञान इस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है ? ज्ञान तो अन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण होता ही नहीं ।

यहा पर किसीका कहना हो कि भिन्न व्यक्तिके प्रत्यक्ष ज्ञानके कारणको भिन्न व्यक्तिका प्रत्यक्ष भले ही नही जाने किन्तु एक ही व्यक्तिका (किसी विवक्षित पुरुषका) एक प्रत्यक्ष ज्ञान है उसको उसी व्यक्तिमे समवेत जो अन्य अन्य ज्ञान है उसके द्वारा तो जान सकेंगे ही ? मतलब एक ही देवदत्तमे समवेत अनेक घटादि

अथ प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते; तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पद्वये तयोः कार्यकारणभावाप्रतीतिः एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वात्, कुम्भकारघटयोरन्यतरविषयज्ञानग्राह्यत्वे तद्भावाप्रतीतिवत्। नाप्युभयविषयज्ञानात्तत्प्रतीतिः; तद्विषयज्ञानस्यास्मादृशा भवताऽनभ्युपगमात्। न खलु 'ज्ञाने प्रवृत्तं ज्ञानमर्थेऽपि प्रवर्त्ततेऽर्थे वा प्रवृत्तं ज्ञाने' इत्यभ्युपगमो भवतः। अभ्युपगमे वा प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति व्याप्तिज्ञानविचारे विचारयिष्यते।

विषयक ज्ञान हैं वे तो एक दूसरेके ज्ञानके कारणको जानते ही होगे? सो यह कथन भी अयुक्त है, एक ही आत्मामें रहनेवाले वे ज्ञान उस विवक्षित दूसरे ज्ञानको भले ही जानें किन्तु उस पदार्थको नहीं जान सकेंगे जिसे कि वह विषय कर रहा है। उभय विषयक ज्ञान तो है नही जिससे उस ज्ञानका कारण जाना जाय? एक ज्ञान मात्र एक विषयको ही ग्रहण करता है।

अब शुरुमें जो दो पक्ष रखे थे कि ज्ञानके पदार्थकी कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण जानता है या अन्य प्रमाण जानता है इनमेंसे प्रत्यक्ष प्रमाण का पक्ष खंडित हुआ अतः दूसरा पक्ष विचारमें लाते है—ज्ञानकी अर्थ कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण न जानकर अन्य कोई प्रमाण जानता है, तो फिर पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य प्रमाण कौनसा है? ज्ञान है विषय जिसका ऐसा है अथवा अर्थ विषयवाला है याकि उभय विषयवाला है? आदिके दो विकल्प लेते हैं तो ज्ञानके कार्यकारण भावकी प्रतिपत्ति सिद्ध नहीं होती, अर्थात् विभिन्न प्रमाण सिर्फ ज्ञान विषयक है अथवा सिर्फ अर्थ विपयक ही है तो यह ज्ञानरूप कार्य इस घट रूप कारणसे जायमान है ऐसी कार्यकारण भावकी संगतिको बता नही सकेगा, क्योकि उसने दोनोंको ग्रहण ही नही किया है।

उपर्युक्त कथनमें कुंभकार और घटका उदाहरण है कि जिस पुरुषने एक घटको ही जाना है और एक ने कुंभकारको ही जाना है ऐसे एक एक विषयको जानने वाले वे व्यक्ति घट और कुभकार में होनेवाले कार्यकारण भावको बता नही सकते है, ठीक इसीप्रकार ज्ञान और उसका कारण जाने बिना कोई भी प्रमाण उसके कार्य कारण भावको बता नही सकता है। उभय विषयक ज्ञानद्वारा इस ज्ञानके कारणकी प्रतीति होती है ऐसा कहना भी शक्य नही है, क्योकि आप नैयायिकने अल्प ज्ञानियोके ज्ञानको उभय विषयक माना ही नही। ज्ञानको जाननेमें प्रवृत्त ज्ञान, पदार्थको भी जान लेता है अथवा पदार्थको जाननेमे प्रवृत्त ज्ञान, ज्ञानको भी जान लेता है ऐसा

अथानुमानात्तत्कार्यतावसाय, तथाहि-अर्थालोककार्यं विज्ञान तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम् यथाग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते चार्थालोकयोर्ज्ञानम् इति। न चात्रासिद्धो हेतुस्तत्सद्भावे सत्येवास्य भावादभावे चाभावात्। इत्याशङ्क्याह—

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ॥७॥

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च, न केवल परिच्छेद्यत्वात्तयोस्तदकारणताऽपि तु ज्ञानस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च। नियमेन हि यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम्

नैयायिक मान नही सकते, यदि इस तरह का उभय विषयको जाननेवाला ज्ञान स्वीकार करते हैं तो उसे एक पृथक जातिका प्रमाण मानना होगा? (क्योंकि नैयायिक द्वारा माने गये प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणोमेसे एक भी प्रमाण उभय विषय वाला नही है सभी एक विषयवाले हैं) इस विषयपर आगे व्याप्ति ज्ञानकी सिद्धि करते समय विचार करेगे।

शंका—पदार्थ ज्ञानके कारण है इस बातका निर्णय अनुमान प्रमाण द्वारा हो जाया करता है, वह अनुमान इसप्रकार है—ज्ञान पदार्थ एव प्रकाश का कार्य है, क्योकि इन दोनोके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है, जो जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है वह उसका कार्य कहलाता है, जैसे अग्निका कार्य धूम है अतः वह अग्निके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, ज्ञान पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता ही है अत वह उनका कार्य है। यह अन्वय व्यतिरेक विधानक हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि पदार्थ एव प्रकाशके होनेपर ही ज्ञान होता है और न होनेपर नही होता? इस प्रकार की शंका होनेपर उसका निरसन करते हुए श्री माणिक्यनदी आचार्य सूत्र का सृजन करते हैं—

तदन्वय व्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञानवन्नक्त चर ज्ञान वच्च ।७।

सूत्रार्थ—पदार्थ और प्रकाशके साथ ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता, जैसे मच्छर के ज्ञानका तथा बिलाव आदि रात्रिमे विचरण करनेवाले प्राणियोके ज्ञानका पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता।

पहले छठे सूत्रमे कहा था कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नही हैं, क्योकि वे ज्ञानद्वारा परिच्छेद्य है, अब इस सातवें सूत्रमे दूसरा और भी हेतु देते हैं कि ज्ञानके साथ पदार्थ और प्रकाशका अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता, इसलिये भी वे

यथोऽग्नेर्धूमः। न चानयोरन्वयव्यतिरेकौ ज्ञानेनानुक्रियेते।

अत्रोभयप्रसिद्धदृष्टान्तमाह–केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च। कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेर्थः कारणत्वेन व्याप्रियते। तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारः, नयनपक्ष्मादेर्वा, तत्केशानां वा, कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात्? न तावदाद्यविकल्पः; न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेर्थे सत्येव भवति भ्रमाभावप्रसङ्गात्। नयनपक्ष्मादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात्, गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात्। न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतुं शक्यम्। अथ

दोनों ज्ञानके कारण नही हैं। जो जिसका नियमसे अन्वय व्यतिरेकी होगा वह उसका कार्य कहलायेगा, जैसे अग्निके साथ धूमका अन्वय व्यतिरेक होनेसे धूम अग्निका कार्य माना जाता है, किन्तु ऐसा अन्वय व्यतिरेक पदार्थ और प्रकाश के साथ ज्ञानका नही पाया जाता है।

इस विषयमें वादी प्रतिवादी प्रसिद्ध दृष्टान्तको उपस्थित करते हैं—पीलिया, मोतिया आदि रोग से युक्त व्यक्तिके ज्ञानमे पदार्थ कारण नही दिखाई देता अर्थात् नेत्र रोगीको केश मच्छर आदि नही होते हुए भी दिखायी देने लग जाते हैं, वह मच्छरादिका ज्ञान पदार्थके अभावमें ही हो गया, वहा उस ज्ञानमें पदार्थ कहा कारण हुआ? तथा बिलाव आदि प्राणियोंको प्रकाशके अभावमें भी रात्रिमें ज्ञान होता है उस ज्ञान में प्रकाश कहाँ कारण हुआ? हम जैन नैयायिक आदि परवादीसे पूछते है कि नेत्र रोगी को केशोण्डुक (मच्छर) का ज्ञान हुआ उसमें कौनसा पदार्थ कारण पड़ता है, केशोण्डुक ही कारण है या नेत्रकी पलके, अथवा उसके केश, या कामला आदि नेत्र रोग? इन कारणो को छोड़कर अन्य कारण तो बन नही सकते प्रथम पक्ष की बात कहो तो बनता नही देखिये! यह ज्ञान केशोण्डुक के रहते हुए नही होता, यदि होता तो भ्रम क्यों होता कि यह प्रतिभास सत्य है या नही? दूसरा पक्ष–नेत्रकी पलके उस ज्ञानमे कारण है ऐसा माने तो उसीका प्रतिभास होना था? सामने आकाशमें निराधार केशोण्डुक की शकल जैसा प्रतिभास क्यो होता? (केशोण्डुक शब्दका अर्थ उडनेवाला कोई मच्छर विशेष है, मोतिया बिन्दु आदि नेत्रके रोगीको नेत्रके सामने कुछ मच्छर जैसा उड़ रहा है ऐसा बार बार भाव होता है, वह मच्छर भौरा जैसा, झिंगुर जैसा, जिस पर कुछ रोम खड़े हो जैसा दिखाई देने लगता है वास्तवमें वह दिखना निराधार बिना परार्थके ही होता है) अन्य किसी वस्तुकी अन्यरूपसे अन्य

नयनकेशा एव तत्र तथाऽसन्तोपि प्रतिभासन्ते, तर्हि तद्रहितस्य कामलिनोपि तत्प्रतिभासाभावः स्यात्।

किञ्च, असौ तद्देशे एव प्रतिभासो भवेन्न पुनर्देशान्तरे। न खलु स्थाणुनिबन्धना पुरुषभ्रान्तिस्तद्देशादन्यत्र दृष्टा। कथं च तद्देशता तदाकारता चाऽसती तज्ज्ञानं जनयेद्यतो ग्राह्या स्यात्। अथ भ्रान्तिवशात्तत्केशाएव तत्र तथा तज्ज्ञानं जनयन्ति, अस्माकमपि तर्हि 'चक्षुर्मनसी रूपज्ञानमुत्पादयेते' इति समानम्। यथैव ह्यन्यविषयजनितं ज्ञानमन्यविषयस्य ग्राहकं तथान्यकारणजनितमपि स्यात्।

अथ कामलादय एव तज्ज्ञानस्य हेतवः, तेभ्यश्चोत्पन्नं तदसदेव केशादिकं प्रतिपद्यते; तर्हि निर्मललोचनमनोमात्रकारणादुत्पद्यमानं ज्ञानं सदेव वस्तु विषयीकरोतीति किन्नेष्यते?

जगह प्रतीति आना शक्य नही है। नेत्र केश केशोण्डुकरूपसे उस ज्ञानमे झलकते हैं ऐसी तीसरी मान्यता कहो तो नेत्र केश रहित पीलियादि रोग वाले पुरुषको केशोण्डुक का प्रतिभास नही होना चाहिये, किन्तु उसको भी वैसा प्रतिभास होता है।

तथा नेत्रके केश यदि केशोण्डुकरूप प्रतीत होते हैं तो वे उस नेत्र स्थान पर ही प्रतीत होते हैं, अन्य स्थान पर (सामने आकाश मे) प्रतीत नही हो सकते थे। सूखे वृक्षरूप ठूंठ मे पुरुषपने की भ्रांति होती है वह उस स्थान पर ही तो होती है, अन्यत्र तो नही होती? यह जो नेत्र रोगीको केशोण्डुकका ज्ञान हो रहा है उसमें न तो तद्देशता है अर्थात् नेत्रकेश तो नेत्र स्थान पर है और प्रतीति होती है सामने आकाश मे, तथा उस ज्ञानमे तदाकारता भी नही अर्थात् नेत्र केश का आकार भी नही है, फिर किसप्रकार वह उस केशोण्डुक ज्ञानको पैदा करता है, जिससे वह ग्राह्य हो जाय? तुम कहो कि नेत्रके केश ही भ्रम वश आकाश मे केशोण्डुक रूपसे केशोण्डुकका ज्ञान पैदा करते हैं, तो हम जैन कहते हैं कि नेत्र तथा मन ही ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करता है? इस तरह समान ही बात हो जाती है? जिस प्रकार अन्य विषयसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य विषयका ग्राहक होता है ऐसा यहा मान रहे हो, उसीप्रकार अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्यको जानता है ऐसा भी मानना चाहिए।

अब चौथे पक्ष पर विचार करते हैं—नेत्र रोगीको केशोण्डुक का ज्ञान होना है उसमें कामला आदि रोग ही कारण है उन कामलादि से उत्पन्न हुआ वह असत् ऐसे केशादिको ग्रहण करता है, यदि इसतरह नैयायिक कहे तो हम जैन कहते हैं कि निर्मल नेत्र तथा मन रूप कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वास्तविक सत् पदार्थको ग्रहण करता है ऐसा क्यो न माना जाय? अवश्य ही मानना चाहिये।

तत्कथमर्थकार्यता ज्ञानस्य अनेन व्यभिचारात् संशयज्ञानेन च ?

न हि तदर्थे सत्येव भवति, अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्, तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षणार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावासम्भवाच्च। सद्भावे वारेका न स्यात्। अथोच्यते-"सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मृतेश्च सशयः" [वैशे॰ सू॰ २।२।१७] विपर्ययः पुनस्तद्विपरीतविशेषस्मृते· इत्यर्थादेवानयोर्भाव·; तदप्युक्तिमात्रम्, तयोः खलु सामान्य वा हेतुः स्यात्, विशेषो वा, द्वय वा ? न तावत्सामान्यम्; तत्र सशयाद्यभावात् 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इत्यभिधानात्, प्रत्यक्षे च संशयादिविरोधात्।

भावार्थः—नैयायिक आदि परवादी इन्द्रिय और मनके साथ साथ पदार्थ और प्रकाशको भी ज्ञानका कारण मानते है उनके लिये जैनाचार्य कह रहे हैं कि कामलादि नेत्रके रोगसे युक्त पुरुषको जो मच्छर आदिका प्रतिभास होता है वह बिना पदार्थके ही होता है उस ज्ञानमें पदार्थ कारण कहां हुआ ? यदि कहा जाय कि उस तरह का ज्ञान होनेमें सदोष नेत्र ही कारण है तब तो यह भलो प्रकार सिद्ध होता है कि निर्दोष नेत्र तथा मन स्वरूप कारणसे सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञानके लिये पदार्थरूप कारणकी कोई जरूरत नही रहती है।

इसप्रकार ज्ञान पदार्थका कार्य है इस कथनका केशोण्डुक ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है तथा सशय ज्ञानके साथ भी व्यभिचार आता है। संशय ज्ञान पदार्थके मौजूदगी मे तो होता नही, यदि पदार्थके सद्भाव में होता तो संशय होता ही नही। सशय ज्ञानका विषय स्थाणु तथा पुरुष है वे दोनों पदार्थ एकत्र पाये जाना तो असभव है। यदि दोनों एक स्थान पर होते तो संशय हो नही सकता था।

नैयायिकः— सामान्य के प्रत्यक्ष होनेसे तथा विशेष के प्रत्यक्ष न होनेसे उभय विषय संबंधी स्मरण रूप ज्ञान होता है उसे सशय कहते हैं, अर्थात् ठूंट एवं पुरुप दोनोमें रहनेवाला सामान्य धर्म जो ऊँचाई है उसका तो ग्रहण हुआ और स्थाणु तथा पुरुपका पृथक पृथक जो विशेष धर्म है उसका ग्रहण नही हुआ तब संशय ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये जिसमें विशेष है ऐसे सामान्यरूप पदार्थसे ही संशय होता है विना पदार्थके नही होता है, तथा विपर्यय ज्ञान विपरीत विशेपकी स्मृति होनेसे उत्पन्न होता है अतः वह भी पदार्थसे होता है, इसप्रकार दोनों ज्ञानोंमें अर्थकारणता मौजूद है ?

जैनः—यह कथन ठीक नही, आप यह बताइये कि सशय एवं विपर्ययज्ञानमें कौनसा पदार्थ कारण है, सामान्य है या विशेष अथवा दोनो ही ? सामान्यको कारण

विशेषविषय च सशयादिज्ञानम् । न चास्य सामान्य जनक युज्यते । न ह्यन्यविषय ज्ञानमन्येन जन्यते; रूपज्ञानस्य रसादुत्पत्तिप्रसङ्गात् । यथा च सामान्यादुपजायमान तदसतो विशेषस्य वेदक तथेन्द्रिय-मनोभ्या जायमानं सतः सामान्यादेरपीति व्यर्थार्थस्य तद्धेतुत्वकल्पना । सामान्यार्थजत्वे चास्य अर्थानर्थजत्वप्रतिज्ञाविरोधः, कामलिनश्च केशोण्डुकादिज्ञानानुत्पत्ति , न खलु तत्र केशोण्डुकादिसमान-धर्मा धर्मी विद्यते यद्दर्शनात्तत्स्यात् । तन्नास्य सामान्य हेतुः ।

नापि विशेषस्तत्र तदभावात् । न खलु पुरोदेशे स्थाणुपुरुषलक्षणो विशेषोस्ति तज्ज्ञानस्या-

---

बता नही सकते, क्योकि संशय ज्ञानका कारण है तो वह प्रत्यक्ष हो चुका है अब उसमे क्या सशय रहेगा ? जो विषय है उसके प्रत्यक्ष होनेपर सशय रहनेमे विरोध आता है। सशय आदि ज्ञान तो विशेषको विषय करनेवाले हुआ करते हैं अतः इन ज्ञानोका जनक सामान्य नही हो सकता, यदि अन्य विषय वाला ज्ञान अन्य कारणसे उत्पन्न होना मानेगे तो रूपके ज्ञानकी उत्पत्ति रससे होती है ऐसा भी मानना होगा । तथा आप जिस प्रकार इस ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुआ मानकर असत् रूप विशेषकी प्रतीति करनेवाला स्वीकार करते हैं उसीप्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति तो मन और इन्द्रियसे होती है किन्तु वह ज्ञान जानता है सामान्य आदि विषयोको, इस तरह स्वीकार करना होगा। इसप्रकार पदार्थको ज्ञानका कारण माननेको कल्पना व्यर्थ हो जाती है। तथा आप लोग यदि इस संशय ज्ञानको सामान्य अर्थसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो विरोध आता है, क्योकि आपका प्रतिज्ञावाक्य है कि स्थाणु और पुरुषके अशरूप अर्थोमें एक अश तो विद्यमान होनेसे अर्थरूप ही है और दूसरा विद्यमान नही होनेसे अनर्थरूप है उन दोनो-अर्थ तथा अनसे संशय ज्ञान पैदा होता है, इसप्रकारका प्रतिज्ञा वाक्य यहा सशय ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुआ माननेसे नष्ट होता है। तथा पीलियां रोगीको जो केशोण्डुकादिका ज्ञान होता है वह भी नही हो सकेगा ? क्योकि केशोण्डुक ज्ञान सामान्यसे उत्पन्न नही हुआ है। पीलिया रोगीको जो सामने आकाशमे केशोण्डुकका ज्ञान होता है सो वहां निराधार आकाशमे केशोण्डुक के समान आकृति वाला कोई पदार्थ तो है नही जिससे कि उसके देखनेसे केशोण्डुकका प्रतिभास होवे ? अत. निश्चित हुआ कि सशयादि ज्ञानमे सामान्य धर्म कारण नही है।

दूसरा विकल्प—सशय ज्ञानमे विशेष धर्म निमित्त होता है ऐसा कहना भी नही बनता, वहा तो विशेषका अभाव है, किसी व्यक्तिको सामने जो भ्रम हो रहा है

भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । स्थाणुरस्तीति चेत्; कथं ततः किं पुरुषः पुरुष एवेति पुरुषांशावसायः ? अन्यथान्यत्रापि ज्ञानेर्थस्य कारणत्वकल्पना व्यर्था । तन्न विशेषोपि तद्धेतुः । नाप्युभयम्; उभयपक्षोक्तदोषानुषङ्गात् । ततः संशयादिज्ञानस्यार्थाभावेप्युपलम्भात्कथं तदभावे ज्ञानाभावसिद्धिर्यतोर्थकार्यतास्य स्यात् ?

ननु भ्रान्त तत्तेनापलभ्यते, न चान्यस्य व्यभिचारेन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम्, तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञान स्वपरग्राहकं तथा

कि "यह पुरुष है या स्थाणु" उस व्यक्तिको अपने सामने पुरुष या स्थाणुका विशेष तो मालूम ही नही है, विशेष धर्म वहां है ही नही यदि होता तो वह ज्ञान अभ्रांत कहलाता । स्थाणुत्वरूप विशेष धर्म उस ज्ञानमे प्रतीत होता है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योंकि यदि विशेष धर्म झलकता तो यह पुरुष है क्या ? पुरुष ही होना चाहिए ! इस तरह पुरुष अंशको प्रतीति क्योंकर होती है ? यदि स्थाणुमे अविद्यमान ऐसे पुरुष अंशकी प्रतीति हो सकती है तो पदार्थको ज्ञानका हेतु मानना ही व्यर्थ है, अत. संशय ज्ञानका कारण विशेष धर्म होता है ऐसा कहना भी सिद्ध नही होता है । सामान्य और विशेष दोनो धर्म कारण होते हैं ऐसा मानते हैं तो भी गलत होता है, इस मान्यतामे तो दोनों पक्षके दोष आ जायेंगे । इसलिये संशयादिज्ञान पदार्थके अभावमें उपलब्ध होते हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

अत: पदार्थके अभावमें ज्ञान नही होता ऐसा कहना सिद्ध नही होता उसके असिद्ध होनेसे "ज्ञान पदार्थका कार्य है" इसतरह का कथन असिद्ध हो ही जाता है ।

शंकाः—ये संशयादि ज्ञान भ्रांत हैं अतः बिना पदार्थ के हो जाते हैं, भ्रात ज्ञानोमें पदार्थ के साथ रहना व्यभिचरित होनेसे अभ्रात ज्ञान भी पदार्थके व्यभिचरित होवे ऐसी बात तो है नही, यदि अन्यका व्यभिचार अन्यमे लगायेंगे तो अति प्रसंग होगा ? फिर तो गोपालघटिकाके धूमको अग्निके साथ व्यभिचरित होता हुआ देखकर पर्वतपर स्थित अग्निसे होनेवाले धूमको भी व्यभिचरित मानना होगा ?

समाधानः—यह शंका ठीक नही, ज्ञानका लक्षण तो स्वपरको जानना है अब इस लक्षणसे युक्त ज्ञानोमें से जो सत्यरूप स्वीकार किया है वह जिसप्रकार स्वपरका ग्राहक है उसप्रकार केशोण्डुकादिका ज्ञान (असत्य ज्ञान) भी स्वपरका ग्राहक है, हां इतनी विशेषता है कि कोई ज्ञान विद्यमान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है, क्योंकि उस

केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतर्वास्तु विशेषः–किञ्चित्सत्परं गृह्णाति संवादसद्भावात्किञ्चिदसद्विसंवादात्, न चैतावता जात्यन्तरत्वेनानयोरन्यत्वं ताभ्यां व्यभिचाराभावो वा । अन्यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्' इत्यादेरप्यप्रयत्नानन्तरीयकैर्विद्युद्वनकुसुमादिभिर्न व्यभिचारः, ताल्वादि-दण्डादिजनिताच्छब्दघटादेस्तद्विपरीतस्य विद्युदादेरन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्यापि व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे प्रकृतेपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

ज्ञानके विषयमे सवादका सद्भाव है, और कोई ज्ञान अविद्यमान अवास्तविक पदार्थ का ग्राहक है, क्योकि उसके विषयमे विसवाद देखा जाता है । किन्तु इतनेमात्रसे इन दोनोमे सर्वथा भेद नही मान सकते, अन्यथा शब्दको अनित्य माननेवाले जैनादिके द्वारा उपस्थित किये जाने वाले अनुमानमे परवादी व्यभिचार नही दे सकेंगे, अर्थात् शब्द प्रयत्नके अनतर उत्पन्न होता है (पक्ष) क्योकि वह किया हुआ है (हेतु) जैसे घटादि पदार्थ (दृष्टात) इस अनुमानमे परवादी दोष देते हैं कि वनके पुष्प, विद्युत आदि अनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते है अत: शब्दको भी बिना प्रत्यत्नके होना मानना चाहिये ? किन्तु परवादीका ऐसा अनुमानमे दोष देना असत् है, क्योकि तालु आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द एवं दण्ड आदिके द्वारा उत्पन्न हुए घट आदिक जो पदार्थ हैं उनसे विपरीत ही विद्युत एवं वनपुष्पादिक है, अर्थात् वन पुष्प आदिकी जाति भिन्न है और घटादिकी जाति भिन्न है । वनपुष्पादिमे बिना प्रयत्नके होनेका व्यभिचार देख घट आदि मे उसको लगाना तो अतिप्रसगका कारण होगा । यदि विद्युत आदि पदार्थ और घट आदि पदार्थ इनमे भिन्न भिन्न जातिपना होते हुए भी अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगा सकते हैं तो यहाँ प्रकरण प्राप्त ज्ञानके विषयमे भी उसको घटित कर सकते हैं । अर्थात् विपर्यय आदि ज्ञान बिना पदार्थके हैं वैसे सत्य ज्ञान भी बिना पदार्थके होते हैं भिन्न जातिपना उभयत्र समान है, कोई विशेषता नही है ।

विशेषार्थः—नैयायिक अभिमत अर्थकारणवादका प्रकरण चल रहा है, ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है ऐसा बौद्धका कहना है, एव ज्ञानके लिये पदार्थ भी निमित्त हुआ करते हैं ऐसा नैयायिक का कहना है, इस मान्यता का निरसन करते हुए आचार्यने कहा कि नेत्र रोगीको पदार्थके अभावमे भी ज्ञान होता है तथा संशयादि ज्ञान पुरुषत्व आदि विशेष धर्म के अभाव मे भी प्रादुर्भूत होते हुए देखे जाते हैं, अतः ज्ञानमे पदार्थ-रूप कारण मानना बाधित होता है । आचार्यके इस कथन पर परवादीने कहा कि

किञ्च, 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यभ्युपगमे योगिज्ञानात्प्राक्कालभाविन एवार्थस्यानेन परिच्छित्तिः स्यात् तस्यैव तत्कारणत्वात्; न पुनस्तत्कालभाविनोऽभाविनो वा, तस्यातत्कारणत्वात्। लब्धात्मलाभ हि किंचित्कस्यचित्कारण नान्यथातिप्रसङ्गात्। तथाप्यनेन तत्परिच्छेदेऽन्यज्ञानेनाप्यतत्कारणस्याप्यर्थस्य परिच्छेदः स्यात्। तथा चेदमयुक्तम्–"अर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति। तदपरिच्छेदे चास्यासर्वज्ञतानुषङ्गः। ज्ञानान्तरेण परिच्छेदे तस्यापि ज्ञानान्तरस्य समसमयभाविनोर्थस्यापरिच्छेदकत्वात्कथ सर्वज्ञतेति चिन्त्यम्।

सशयादि ज्ञान भ्रान्त–असत्य है अतः वह बिना पदार्थ के होता है किन्तु अभ्रान्त ज्ञान बिना पदार्थके नही होते है, सशयादिमें पदार्थके बिना होनेका व्यभिचार आता है तो उस व्यभिचार को सत्य ज्ञानमे नही लगाना चाहिये। तब आचार्य उत्तर देते हैं कि ठीक है, किन्तु आप स्वयं अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगाते हैं, शब्दको अनित्य मानने वाले किसी दार्शनिकने अनुमान उपस्थित किया कि शब्द प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है क्योकि कृतक है। इस अनुमानमें आप दूषण देते है कि विद्युत आदि अनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते हैं, सो शब्द आदिकी जाति और विद्युत आदिकी जाति भिन्न होते हुए भी आपने क्योकर अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगाया ? यदि यहा अन्यकी बात अन्य में घटित हो सकती है तो ज्ञानके विषयमे भी घटित हो सकती है दोनों जगह समान बात है।

दूसरी बात यह है कि जो ज्ञानका कारण होता है वही परिच्छेद्य (जानने योग्य) होता है ऐसा नियम बनायेगे तो योगियोके ज्ञान द्वारा वही पदार्थ जाने जा सकेगे कि जो उस ज्ञानके पूर्ववर्त्ती है, क्योंकि पूर्ववर्त्ती पदार्थ ही उस ज्ञानमे कारण बन सकते हैं, वर्तमानके पदार्थ एव भविष्यत् के पदार्थ योगीके ज्ञानद्वारा ग्रहण नही हो सकेगे ? क्योकि वे उसमे कारण नही हैं, पदार्थ स्वय स्वभावको प्राप्त करनेके अनतर ही अन्य के लिये कारण बन सकते हैं अन्यथा अतिप्रसग दोष आता है। यदि वर्त्तमान एव भविष्यत के पदार्थ योगी ज्ञानमे कारण नही है तो भी उस ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं ऐसा मानते है तो अन्य सामान्य व्यक्तिके ज्ञानद्वारा भी अकारणरूप पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा भी स्वीकार करना होगा ? इसप्रकार ज्ञानमे पदार्थ भी कारण हुआ करते है ऐसा कहना गलत ठहरता है, अतः "अर्थ सहकारितया अर्थवत् प्रमाणम्" पदार्थरूप सहकारी कारणसे ज्ञान उत्पन्न होनेकी वजहसे पदार्थका कार्य कहलाता है ऐसा कहना अलीक सिद्ध होता है। इस आपत्तिको दूर करने हेतु परवादी कहे कि

क्षणिकत्वे चार्थस्य ज्ञानकालेऽसत्त्वात्कथ तेन ग्रहणम् ? तदाकारता चास्य प्रावप्रत्युक्ता। सत्या वा तस्या एव ग्रहणात्परमार्थतोर्थस्याग्रहणात्तदेवाऽसर्वज्ञत्वम् । न खलु चैत्रसदृशे मैत्रे दृष्टे परमार्थतश्चैत्रो दृष्टो भवत्यन्यत्रोपचारात् । साध्वी चोपचारेण सर्वज्ञत्वकल्पना सुगतस्य सर्वस्य तथाप्राप्तेः, एकस्य कस्यचित्सतो वेदने तत्सदृशस्य सत्त्वेन सर्वस्य वेदनसम्भवात् । सत्त्वेन सर्वस्य

योगीका ज्ञान वर्त्तमान एव भविष्यतके पदार्थको जानता ही नही ! तब तो योगीजनके असर्वज्ञपना मानना पडेगा ! जो किसीको इष्ट नही है । इस दूषणको हटाने हेतु कोई प्रखर बुद्धिवाला समाधान करे कि योगोके अन्य ज्ञान भी होते हैं उनमेसे किसी ज्ञान द्वारा वर्त्तमान आदि पदार्थोंको जानना हो जायगा ? सो यह बात भी असत है, वर्त्तमान एवं भविष्यतके पदार्थको अन्य ज्ञान जान भी लेवे किन्तु उससे कोई मतलब नही निकलता क्योंकि इस अन्य ज्ञानके समान कालमें होने वाले जो पदार्थ हैं उनका जानना तो रह जाता है ! अत· सर्वज्ञपना किस प्रकार सिद्ध करना यह प्रश्न तो विचारणीय ही रहता है । बहुत से एकातवादी पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं सो वे क्षणिक पदार्थ ज्ञानके समयमें नष्ट हो जानेसे किसप्रकार ज्ञानद्वारा ग्रहण हो सकेंगे यह भी एक जटिल समस्या है । क्षणिकवादी बौद्ध पदार्थको ज्ञानका कारण मानते हैं उनको क्षणिक मानते हैं एव उन पदार्थोंका ज्ञानमे आकार आना भी स्वीकार करते हैं, किन्तु यह सारी मान्यता सिद्ध नही होती, ज्ञानके तदाकारताको तो प्रथम भागके साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरणमे खण्डन कर आये हैं । यदि बौद्धके कदाग्रहसे क्षणभर के लिये उसे मान भी लेवे तो पूर्वोक्त दोष आता है कि सर्वज्ञताके अभावका प्रसग आता है क्योकि ज्ञान पदार्थके आकार का होकर मात्र उस आकार को जानता है तो उसने परमार्थत पदार्थको जाना ही नही । चैत्र और मैत्र दो समान आकृति वाले पुरुष हो और उनमे मात्र एक चैत्रको देखा तो मैत्र को देखा ऐसा परमार्थसे तो मान नही सकते, उपचार मात्र से कह देना दूसरी बात है कि चैत्रके समान ही मैत्र है अतः मैत्रके देखनेसे चैत्रको देखा हुआ समझो । इसप्रकार उपचार मात्रसे सुगतमे सर्वज्ञकी कल्पना करना परवादी बौद्धको इष्ट है तब तो सभी प्राणी सर्वज्ञ बन बैठेंगे ? एक किसी सत्‌रूप पदार्थको जान लेने से ही अन्य सपूर्ण पदार्थोंका जानना हो जायगा, क्योकि सत्‌ सामान्यसे सपूर्ण पदार्थ सदृश हैं ?

सर्वेण वेदनमन्यैस्तु धर्मैरवेदनमिति चेत्; तर्हि ["ए] कस्यार्थस्वभावस्य" [प्रमाणवा० १।४४] इत्यादिग्रन्थविरोधः। सत्त्वेनापि तदग्रहणे न सादृश्यं ग्रहणकारणमिति कथं सुगतस्योपचारेणापि बहिः प्रमेयग्रहणम् ?

कथ चैववादिनो भावस्योत्पद्यमानता प्रतीयेत-सा ह्युत्पद्यमानार्थसमसमयभाविना ज्ञानेन प्रतीयते, पूर्वकालभाविना, उत्तरकालभाविना वा ? न तावत्समसमयभाविना; तस्याऽतत्कार्यत्वात्। नापि पूर्वकालभाविना; तत्काले तस्याः सत्त्वाभावात्। न चासती प्रत्येतुं शक्या; अकारणत्वात्।

बौद्धः—सभी के सर्वज्ञ बन जानेका प्रसंग प्राप्त नही होता है, क्योंकि सत्ता सामान्यरूप वस्तुओंके एक धर्मको लेने पर भी अन्य अन्य नीलत्व पीतत्व आदि धर्म तो जाने नही ?

जैनः—ऐसा कहेंगे तो आपकेप्रमाणवार्त्तिक नामा ग्रंथके वाक्यके साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमे लिखा है कि पदार्थके एक स्वभावको प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा लेने पर ऐसा कौनसा स्वभाव नही जाना जाता, अर्थात् जाना ही जाता है, इत्यादि। इस दोषको दूर करनेके लिये कहा जाय कि ज्ञान सत् सामान्यसे वस्तुओंको नही जानता, सो यह कथन और भी गलत होगा अर्थात् संपूर्ण वस्तुओको जाननेका कारण सादृश्य है सत् सामान्यसे एक वस्तुको जान लेने पर अशेष वस्तु ग्रहणमें आ जाती है ऐसा नही कह सकेंगे और ऐसी परिस्थिति मे सुगत के उपचार मात्रसे भी बाह्य पदार्थोंका जानना सिद्ध नही होता परमार्थकी बात तो दूर ही है।

पदार्थको ज्ञानका कारण मानने वाले वादीगण उस पदार्थकी उत्पद्यमानताको किसप्रकार जान सकेंगे यह भी समझमे नही आता, बताइये कि वस्तुका उत्पद्यमान धर्म उस वस्तुके समान कालमे होने वाले ज्ञान द्वारा जाना जाता है कि पूर्ववर्त्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है अथवा उत्तर कालवर्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है ? समान कालवर्त्ती ज्ञान द्वारा जाना जायगा ऐसा कहो तो ठीक नही, क्योकि ज्ञानके समान काल मे होनेवाला पदार्थ के उत्पद्यमान धर्मका कार्य ज्ञान नही है अर्थात् ज्ञान उससे उत्पन्न नही हुआ है। पूर्व कालवर्त्ती ज्ञान वस्तुकी उत्पद्यमानता को जानता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है, क्योकि उस ज्ञानके समयमें उत्पद्यमानता है नही; असत् उत्पद्यमानता को जानना इसलिये शक्य नही है कि वह उत्पद्यमानता ज्ञानके प्रति कारण नही है। पूर्वकालवर्त्ती ज्ञानके समय पदार्थका वह धर्म उत्पत्स्यमान कहलायेगा न कि उत्पद्यमान।

तदा खलूत्पत्स्यमानतार्थस्य न तूत्पद्यमानता। नाप्युत्तरकालभाविना; तदा विनष्टत्वात्तस्याः। न हि तदोत्पद्यमानतार्थस्य किं तूत्पन्नता।

नित्येश्वरज्ञानपक्षे सिद्धमकारणस्याप्यर्थस्यानेन परिच्छेद्यत्वम्। तद्वदन्येनापि स्यात्। अथार्थाकार्यत्वे तद्वन्नित्यत्वान्निखिलार्थग्राहित्वानुषङ्गः; न; चक्षुरादिकार्यत्वेनानित्यत्वात्। प्रतिनियतशक्तित्वाच्च प्रतिनियतार्थग्राहित्वम्। न खलु यैकस्य शक्तिः सान्यस्यापि, अन्यथा सर्वस्य सर्व-

---

उत्तरकालवर्त्ती ज्ञान द्वारा वह उत्पद्यमानता जानी जाती है ऐसा कहना भी ठीक नही उत्तरकालमे तो वह नष्ट हो चुकती है उस समय पदार्थ का वह धर्म उत्पद्यमान न होकर उत्पन्नरूप कहलायेगा।

इसप्रकार बौद्धके पक्षमें ज्ञान पदार्थका कार्य है, पदार्थ ज्ञानमे कारण पड़ता है, इसप्रकार के कथनमे जो दोष आते हैं बतलाइये।

अब नैयायिकको पुनः समझाते हैं कि आप पदार्थको ज्ञानका कारण मानते हैं सो इस मान्यतामे अव्याप्ति नामका दूषण आता है, आप ईश्वर तथा उसके ज्ञानको नित्य मानते हैं, जो नित्य होता है वह किसीसे उत्पन्न नही होता अतः ईश्वर का ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नही हो सकता, वह पदार्थसे उत्पन्न न होकर भी उसको जानता है, ऐसा आप मानते भी हैं फिर इसीप्रकार अन्य प्राणियोके ज्ञान भी पदार्थसे उत्पन्न न ही पदार्थको जानने वाले हो जावे क्या बाधा है ?

शंकाः—अन्य ज्ञानोको पदार्थका कार्य नही माने तो वे ज्ञान भी ईश्वरके ज्ञानके समान नित्य हो जानेसे सपूर्ण वस्तुओंको जानने वाले हो जायेंगे ?

समाधानः—ऐसा दोष जैनपर नही आ सकता, हम यद्यपि ज्ञानको पदार्थका कार्य नही मानते फिर भी उसमे अनित्यता सिद्ध होती है, क्योकि हम लोग ज्ञानमें इन्द्रियोंको कारण मानते हैं, चक्षु आदि इन्द्रियोका ज्ञान कार्य है। हम जैसे अल्पज्ञ जीवोका ज्ञान इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है, यह प्रतिनियत शक्तिवाला रहता है इसीकारणसे प्रतिनियत कतिपय पदार्थोंका ग्राहक होता है सब पदार्थोंका नही। ऐसा भी नही होता कि किसी एक वस्तुमे जो शक्ति है वह अन्य वस्तुमें भी होवे, यदि एककी शक्ति अन्यमे होना स्वीकार करेंगे तो बडी भारी आपत्ति आयेगी—फिर तो महेश्वर के समान सब प्राणी सबके कर्त्ता धर्त्ता बन बैठेंगे। जिस प्रकार ईश्वर कार्यसमूह द्वारा

कर्तृत्वानुषङ्गो महेश्वरवत्। यथैव हीश्वरः कार्यग्रामेणानुपक्रियमाणोप्यविशेषेण तं करोति तथा कुम्भकारादिरपि कुर्यात्। न हि सोपि तेनोपक्रियते येन 'उपकारकमेव कुर्यान्नान्यम्' इति नियमः स्यात्। शक्तिप्रतिनियमात्तदविशेषेपि कश्चित्कस्यचित्कर्त्तेत्यभ्युपगमो ग्राहकत्वपक्षेपि समानः।

ननु यद्यर्थाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिः कुतो न नीलाद्यर्थरहिते प्रदेशे तद्भवति? भवत्येव नयनमनसोः प्रणिधाने। कथं न नीलाद्यर्थग्रहणम्? तत्र तदभावात्। कथं 'तदुत्पन्नम्' इत्यवगमः? न हि

उपकृत न होकर भी अविशेष रूपसे उसको करता है। उसीप्रकार कुंभकार आदि सभी प्राणी भी अशेष कार्यको कर सकेंगे? (क्योकि एककी शक्ति अन्यमे हो सकती है ऐसा आपने मान लिया है) कुंभकार भी उस कार्य समूहद्वारा उपकृत तो होता ही नही, जिससे कि वह अपने उपकारकको ही करे, अन्यको न करे इसतरह का नियम बन सके। यदि कोई कहे कि कुंभकार आदि प्राणी अल्प-नियत शक्ति वाले होते है अत: ईश्वरके कार्य द्वारा उपकृत नहीं होते हुए भी किसी किसी कार्यको ही कर सकते हैं, सब कार्यों को नही? सो यही बात ज्ञानके ग्राहक पक्षमें घटित कर लेनी चाहिये, अर्थात ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नही होकर भी अपने शक्ति के अनुसार योग्य पदार्थका ग्राहक होता है।

शका:—यदि पदार्थके अभाव मे भी ज्ञान होता है तो नील आदि पदार्थ जहां-पर नही है ऐसे स्थान पर भी नील आदिकी प्रतीति होनी चाहिये?

समाधानः—होती है, नेत्र तथा मनसे जो ज्ञान होता है उस स्थानमें पदार्थ रहते ही नही, तुम कहो कि फिर वहा नीलादिका ग्रहण (प्राप्ति) भी होना चाहिये? सो ऐसी बात नही है, वहाँ पदार्थ नही होनेसे ग्रहण नहीं होता। फिर शका होती है कि पदार्थके नही होनेपर जो ज्ञान होता है तो "वह ज्ञान उत्पन्न हुआ" इसप्रकार कैसे जान सकेंगे? जो ज्ञान विषयको नही जानता उसको 'है' ऐसा कहना युक्त नही अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सभीको वह ज्ञान होवेगा? सो यह शका भी असार है, सामने उपस्थित नील आदि पदार्थको ज्ञान ही ग्रहण करते हुए देखा जाता है। फिर शंका करते है कि जब ज्ञान वस्तु को ग्रहण करता है उस वक्त दूसरा ही ज्ञान रहता है? सो यह शका ठीक नही, क्या आप इस समय प्रकाश स्वरूप ज्ञानमे भेद मानना चाहते है? यदि मानेंगे तो दीपक में घट पट आदिको प्रकाशित करनेकी अपेक्षा भेद मानना

विषयमपरिच्छिन्दत् ज्ञानम् 'अस्ति' इति युक्तम्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य तदनिवार्यं भवेदित्यप्यसारम्, तत्रोपनीतस्य नीलादेस्तेनैव ग्रहणोपलम्भात् । तदेव तदन्यज्ज्ञात (न) मिति चेत्किमिदानीं प्रतिविषयं प्रकाशकस्य भेदः ? तथाभ्युपगमे प्रदीपादेरपि प्रतिविषयमन्यत्वप्रसङ्गः । प्रत्यभिज्ञानमुभयत्र समानम् ।

नन्वर्थाभावेपि ज्ञानसद्भावेऽतीतानागते व्यवहिते च तत्स्यात्सन्निहितवत् । ननु (ननु) तत्र तत्स्यादिति कोर्थः ? किं तत्रोत्पद्येत, तद्ग्राहकं वा भवेदिति ? न तावत्तत्रोत्पद्येत; आत्मनि तदु-

---

पडेगा, अर्थात् घट को प्रकाशित करनेवाला दीपक पृथक है और पटको प्रकाशित करनेवाला दीपक पृथक है ऐसा मानना होगा । तुम कहो कि दीपक मे तो प्रत्यभिज्ञानके कारण जिस दीपक ने घटको प्रकाशित किया पटको वही प्रकाशित करता है । "इसप्रकार का एकत्व सिद्ध होता है, प्रत्येक विषयमे भेद की बात नही रहती ? सो ठीक है, यही प्रत्यभिज्ञानकी बात ज्ञानके सबधमे भी सुघटित होती है, उसमे भी "जो आत्मा नील ज्ञानसे परिणत था वही अन्य ज्ञानसे परिणत है" ऐसा एकत्व सिद्ध होता है ।

शका:—पदार्थके अभावमे भी ज्ञानका सद्भाव होवेगा तो अतीतके पदार्थमें अनागतके पदार्थमे और व्यवहित के पदार्थ मे भी ज्ञान होवेगा, जैसे कि निकटवर्ती वर्त्तमानके पदार्थमे होता है ?

समाधान—"अतीत आदिमें वह होवेगा" इस वाक्यका क्या अर्थ करना इसपर पहले सोचे ! अतीत आदिमे ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा उनको ग्रहण करता है ? यदि उत्पन्न होनेका अर्थ मानते हैं तो गलत है, ज्ञान अतीत आदिमे उत्पन्न होता ही नही वह तो आत्मामे होता है तथा अतीत आदिको ग्रहण करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो भी ठीक नही क्योकि ज्ञानके लिये वे अतीतादिक अयोग्य है—जानने योग्य नही है ।

यह भी बात है कि उत्पन्न हुआ ज्ञान सभी पदार्थोको जाने ही ऐसा नियम नही है, ज्ञान तो स्वयोग्य वस्तुका ग्राहक हुआ करता है । कारणके पक्षमें भी यही प्रश्न होता है जो ज्ञानके विषयमें किया है, कुंभकार आदि कर्त्ता घट आदि पदार्थके कारण है, वह कार्यद्वारा उपकृत हुए विना ही कार्यको करते हैं, सो इस विषयमे प्रश्न

त्यत्यभ्युपगमात् । नापि तद्ग्राहकं भवेत्; अयोग्यत्वात् । न खलु तदुत्पन्नमपि सर्वं वेत्ति; योग्यस्यैव वेदनात् । कारणेपि चैतच्चोद्यं समानम् । तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत्प्रतिनियत कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतेव शरणम् । ततो ज्ञानस्यार्थान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्कथं तत्कार्यता यतः "अर्थवत्प्रमाणम्" [न्यायभा० पृ०] १ इत्यत्र भाष्ये "प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याऽव्यभिचारिव्यवसायात्मके ज्ञाने कर्त्तव्येऽर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति व्याख्या शोभेत ? तन्नार्थकार्यता विज्ञानस्य ।

नाप्यालोककार्यता ; अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषा नक्तञ्चराणां चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्ति-

---

होता है कि कुंभकारादि प्रतिनियत घट आदिको ही क्यो करता है अन्य सभी कार्य को क्यों नही करता ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये परवादीको योग्यता की ही शरण लेनी होगी, अर्थात् कुंभकार आदि कारण मे इतनी ही योग्यता है कि वह घट आदि कार्यको ही कर सकता है । अन्यको नही । ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मासे उत्पन्न होकर अपने योग्य विषयको जानता है सभी को नही, ऐसा मानना होगा । इसलिये ज्ञानका पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वयव्यतिरेक नही होनेसे ज्ञान उनका कार्य नही कहला सकता । अतः निम्न लिखित कथन असत् ठहरता है कि "अर्थवत् प्रमाणम्" प्रमाण पदार्थ के सहकारितासे उत्पन्न होता है, इस न्याय सूत्र की व्याख्या है कि जो प्रमाता और प्रमेयसे पृथक् है । अव्यपदेश्य, निर्दोष, निश्चायक ज्ञान स्वरूप है एव पदार्थकी सहकारितासे उत्पन्न होता है वह प्रमाण कहलाता है ।

इसप्रकार पदार्थ ज्ञानका कारण है ऐसा कथन निराकृत होता है । अब यहां पर जो परवादी प्रकाश को ज्ञानका कारण मानते हैं उनका निरसन किया जाता है ज्ञान प्रकाशका भी कार्य नही है, क्योंकि जिनके नेत्र अंजन आदिसे सस्कारित है उन मनुष्योके तथा बिलाव, सिंह आदि पशुओ के ज्ञानकी उत्पत्ति विना प्रकाशके भी होती हुई देखी जाती है ।

शंका:—प्रकाशको ज्ञानका कारण नही मानते हैं तो हम लोगोको अंधकार में ही ज्ञान हो जाना चाहिये ? किन्तु होता तो नही, प्रकाश रहता है तब हमें दिखायी देता है और प्रकाश नही होता तो दिखायी नहीं देता अतः उसके होनेपर

प्रतीते.। अथालोकस्याकारणत्वेऽन्धकारावस्थायामस्मदादीना ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् न चैवम्, तत-स्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्तत्कार्यताऽस्य । अन्यथा धूमोप्यग्निजन्यो न स्यात्, तद्व्यतिरेकेणा-न्यस्य तद्व्यवस्थापकस्याभावादिति चेत्, किं पुनरन्धकारावस्थाया ज्ञान नास्ति ? तथा चेत् , कथ-मन्धकारप्रतीति ? तदन्तरेणापि प्रतीतावन्यत्रापि ज्ञानकल्पनानर्थक्यम् । 'प्रतीयते, ज्ञान नास्ति' इति च स्ववचनविरोध , प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात् ।

अथान्धकाराख्यो विषय एव नास्ति यो ज्ञानेन परिच्छिद्येत, अन्धकारव्यवहारस्तु लोके

होना और न होनेपर नही होना ऐसा निश्चय होनेसे ज्ञान प्रकाशका कार्य है । इस प्रकार ज्ञान और प्रकाशमे कार्य कारण भाव होते हुए भी नही मानेंगे तो धूम अग्निका कार्य है अग्निसे उत्पन्न हुआ है ऐसा नही कह सकेंगे ? क्योकि अन्वय व्यतिरेक को छोडकर अन्य कोई साधन कार्य कारण भावको सिद्ध करने वाला दिखायी नही देता ?

समाधान — ठीक है, किन्तु यह बताइये कि अधकार मे ज्ञान नही होता तो उसकी प्रतीति किस प्रकार होती ? यदि ज्ञान के विना ही अधकार जाना जाता है तो अन्य घट आदि पदार्थ भी ज्ञानके विना जाने जा सकेंगे, फिर तो ज्ञानकी कल्पना करना ही व्यर्थ है ? बडा आश्चर्य है कि इधर कहते हैं कि अधकार प्रतीत होता है और इधर कहते हैं कि ज्ञान नही होता सो यह स्ववचन बाधित कथन है, क्योकि प्रतीति ही ज्ञान कहलाती है ।

नैयायिक.— हम तो अधकार नामा पदार्थ ही नही मानते हैं, जिसमे कि वह ज्ञान द्वारा जाना जाय, लोकमे अधकारका व्यवहार तो मात्र ज्ञान की उत्पत्ति नही होने रूप है अन्य कुछ नही ।

जैन:—यदि ऐसी बात कहो तो प्रकाशका भी अभाव हो जायगा, हम कह सकते हैं कि निर्मल ज्ञानका होना ही प्रकाश है, अन्य कुछ नही, लोकमे प्रकाश-का जो व्यवहार होता है वह विशद ज्ञानकी उत्पत्ति होने रूप ही है ?

नैयायिक:—ज्ञानका वैशद्य [निर्मलता] प्रकाशके अभावमे कैसे हो सकता है ?

ज्ञानानुत्पत्तिमात्र इत्युच्यते, यद्येवमालोकस्याप्यभावः स्याद्विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्यास्याप्यप्रतीतेः। तद्व्यवहारस्तु लोके विशदज्ञानोत्पत्तिमात्र । ननु ज्ञानस्य वैशद्यमेव तदभावे कथम् ? इत्यप्यज्ञचोद्यम्; नक्तञ्चरादीना रूपेऽस्मदादीना रसादौ च तदभावेपि तस्य वैशद्योपलब्धे ।

आलोकविषयस्य च ज्ञानस्यात एवालोकाद्वैशद्यम्, तदन्तराद्वा, अन्यतो वा कुतश्चित् ? यद्यन्यत ; न तर्ह्यालोककृत वैशद्यम् । न हि यद्यदभावेपि भवति तत्तत्कृतमतिप्रसङ्गात् । अथालोकान्तरात्; तद्विषयस्यापि तस्यालोकान्तरात्तदित्यनवस्था । न चालोकान्तरमस्ति । अथास्मादेवा-

---

जैनः—यह प्रश्न अज्ञान पूर्वक किया है, बिलाव, सिंह, आदिको रूपका (वर्णका) ज्ञान होता है उस ज्ञानका वैशद्य प्रकाशके अभावमे भी अनुभवमे आ रहा है, तथा उसी अधकारमे हम जैसे मनुष्यको भी रस आदि विषयका स्पष्ट ज्ञान होता हुआ देखा जाता है ।

यहां पर यह भी एक प्रश्न होता है कि ज्ञानमे वैशद्य प्रकाशके कारण होता है, किन्तु जब ज्ञान प्रकाशको विषय करता है तब उस ज्ञानमें वैशद्य किस कारणसे आयेगा उसी प्रकाश से आता है अथवा दूसरे प्रकाशसे आता है, या अन्य किसी कारणसे आता है ? यदि अन्य किसी कारणसे आता है तो "ज्ञानमे निर्मलता प्रकाश द्वारा ही आती है" ऐसा कहना गलत ठहरता है । जिसके अभाव में भी जो होता है उसके द्वारा वह किया जाता है ऐसा कहना तो अशक्य है इसतरह से कहने मे तो अतिप्रसग होगा । यदि कहा जाय कि प्रकाशको विषय करनेवाले ज्ञानकी विशदता अन्य प्रकाश से आती है तब तो अन्य अन्य प्रकाश की आवश्यकता पडनेसे अनवस्था दोष आता है । प्रकाश को जाननेवाले ज्ञानका वैशद्य उसी प्रकाश से आया करता है ऐसा तीसरा विकल्प माने तो इसका अर्थ हुआ कि ज्ञानमे वैशद्य अपने आप आता है, फिर तो जैसे प्रकाश को विषय करने वाले ज्ञानमें वैशद्य प्रकाशसेही आया वैसे घट आदि पदार्थ रूपसे घट ज्ञानमे वैशद्य आता है ऐसा भी मानना होगा ।

शंका:—घटके रूपमें भासुरता नही है अतः उस ज्ञानमें स्वविषयसे वैशद्य नही आ पाता ?

समाधान:—यह कथन अयुक्त है, रात्रिमे बहल अधकार मे सिंह आदिको विशद ज्ञान होता है वह न हो सकेगा, क्योकि वहापर भासुरत्व नही है, अतः

लोकात्; स्वविषयादेव तर्हि वैशद्यम्, तथा घटादिरूपादप्यस्तु । तस्याभासुरत्वान्नातस्तत्; इत्यप्ययुक्तम्; बहलान्धकारनिशीथिन्यां नक्तञ्चरादीनां तत्र वैशद्याभावप्रसङ्गात् । 'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यत्र चोक्तं वैशद्यकारणम् । यद्येव प्रदीपाद्युपादानमनर्थकं तदन्तरेणापि ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्, नाऽनर्थकम्, आवरणापनयनद्वारेण विषये ग्राह्यतालक्षणस्य विशेषस्य इन्द्रियमनसोर्वा तज्ज्ञानजनकलक्षणस्यातोऽञ्जनादेरिवोत्पत्तेः । न चैतावता तस्य तत्कारणता; काण्डपटाद्यावरणापनेतुर्हस्तादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् । ततो यथा ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नान्यत्तमः तथा विशदज्ञानोत्पत्तिव्यतिरेकेणालोकोप्यन्यो न स्यात् ।

भासुरत्व विशद ज्ञानका हेतु नही है । विशद ज्ञानका कारण तो "विशद प्रत्यक्ष" इस सूत्र के व्याख्यानमे कह आये हैं (ज्ञानावरणके क्षय क्षयोपशमसे विशद ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा पहले प्रतिपादन कर आये हैं)

नैयायिकः—यदि ज्ञानमे प्रकाश कारण नही होता तो दीपक आदिके द्वारा रात्रिमे घट आदि को देखते हैं वह व्यर्थ होगा, फिर तो दीपक के बिना भी ज्ञानोत्पत्ति का प्रसग आयेगा ?

जैन·—दीपक व्यर्थ नही होता, वह तो आवरण स्वरूप जो अंधकार है उसको हटाकर घट पट आदि ज्ञानके विषयमे ग्राह्यता रूप विशेपता लाता है, अथवा इन्द्रिय और मनमे ज्ञानको उत्पन्न करानेकी योग्यता लाता है, जैसे कि नेत्र मे अंजन डालनेसे विशद ज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है । किन्तु इतने मात्र से उसको ज्ञानका कारण नही मान सकते, यदि इसतरहसे कारणोको सगृहीत करते जायेंगे तो हाथ आदिके द्वारा वस्त्र आदिका आवरण हटाकर घट आदिका विशदज्ञान प्रकट होता है अतः उनको भी ज्ञानका कारण मानना होगा ? फिर तो ऐसा कहना होगा कि ज्ञानकी अनुत्पत्ति ही अन्धकार है अन्य कोई वस्तु नही है ऐसा मानना आपको इष्ट है वैसे विशद ज्ञानकी उत्पत्ति ही प्रकाश है अन्य कोई वस्तु नहीं है ऐसा कथन भी मानना होगा ।

नैयायिकः—प्रकाशको इसलिये पृथक् पदार्थ मानते हैं कि लोक व्यवहार मे "यहांपर बहुत प्रकाश है, यहापर अल्प प्रकाश है" इसप्रकार कहा जाता है, अतः विशदज्ञानोत्पत्तिसे पृथक् रूप प्रकाशको सिद्ध करते हैं ।

ननु 'अत्र प्रदेशे बहल आलोकोऽत्र च मन्द.' इति लोकव्यवहारादन्यः सोस्तीति चेत्; तर्हि 'गुहागह्वरादौ बहलं तमोन्यत्र मन्दम्' इति लोकव्यवहार· किं काकैर्भक्षितः ? अत्रास्याऽप्रमाण्त्वेऽन्यत्र कः समाश्वासः ? ननु बहिर्देशादागत्य गृहान्तः प्रविष्टस्य सत्यप्यालोके तम. प्रतीतेर्न पारमार्थिक तत्, न चालोकतमसोर्विरुद्धयोरेकत्रावस्थानम्, ततो ज्ञानानुत्पत्तिमात्रमेव तदिति चेत्; तर्हि नक्तञ्चरादीनामेव (व) विवरादौ प्रदीपाद्यालोकाभावेपि तत्प्रतीते· सोपि पारमार्थिको न स्यात् । न चैकत्र तमोऽभावेपि तत्प्रतीते सर्वत्र तदभावो युक्त., अन्यथाऽर्थाभावेपि क्वचित्तत्प्रतीतेः सर्वत्र तदभावः स्यात् । तस्मादालोकवत्तमोपि प्रतीतिसिद्धम् । तत्र चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः ।.न च तत्प्रति तस्य कारणता । तन्नार्थालोकयोर्ज्ञान प्रति कारणत्वम् ।

जैनः—ठीक है, फिर तो आपको अन्धकार को भी पृथक पदार्थरूप मानना जरूरी होगा, यहा गुफामे, गिरि कन्दरा मे बहुत अन्धकार है, यहा पर तो अल्प अन्धकार है "इसप्रकारका लोक व्यवहार क्या काक भक्षित है ? यदि अन्धकार सबधी लोक व्यवहार को अप्रामाणिक मानते हैं तो प्रकाश सबंधी लोक व्यवहारको प्रामाणिक मानना कैसे सिद्ध होगा ?

नैयायिकः—बात यह है कि जब हम बाजार आदि बाह्य स्थानपर भ्रमण कर घरमे प्रवेश करते है तब प्रकाशके होते हुए भी अन्धकार दिखायी देता है अतः अन्धकारको काल्पनिक मानते है, प्रकाश और अन्धकार दोनो विरुद्ध स्वभाववाले होनेसे एकत्र अवस्थान होना शक्य नही है, इसीलिये ज्ञानकी अनुत्पत्ति को ही अन्धकार कहते हैं ?

जैनः—यही बात हम प्रकाशके विषयमे घटित कर सकते है नक्तंचर आदि प्राणियोको विवर आदि स्थान पर प्रदीप आदिका प्रकाश नही होते हुए भी उस प्रकाशकी प्रतीति होने लगती है अतः प्रकाश कोई वास्तविक चीज़ नही है, ऐसा सिद्ध हो जायगा ? किसी एक स्थान पर विना अन्धकारके अन्धकार प्रतीत होने से सर्वत्र उसका अभाव कर देना गलत है, यदि ऐसा करेंगे तो कही एक जगह पदार्थ के बिना उसकी प्रतीति होती है अत उसका सर्वत्र अभाव करना होगा ? इसलिये प्रकाशके समान अन्धकार भी एक वास्तविक पदार्थ सिद्ध होता है, उस अन्धकारमें भी ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु उसको ज्ञानोत्पत्तिका कारण नही माना जाता । इसप्रकार प्रकाश और पदार्थ दोनो भी ज्ञानके प्रति कारण नही हैं ऐसा सिद्ध हुआ ।

एवं तर्हि तत्तयोः प्रकाशकमपि न स्यादित्याह—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

ताभ्यामर्थालोकाभ्यामजन्यमपि तयोः प्रकाशकम् ।

अत्रैवार्थे प्रदीपवदित्युभयप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

न खलु प्रकाश्यो घटादिः स्वप्रकाशकं प्रदीपं जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्तेः । 'प्रकाश्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात्स तस्य जनक एव' इत्यभ्युपगमे प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् सोपि तस्य जनकोऽस्तु । तथा चेतरेतराश्रयः-प्रकाश्यानुत्पत्तौ

यहा कोई कहता है कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानमे कारण नही हैं तो उनको ज्ञान प्रकाशित भी नही करता होगा ? सो उस शकाका निवारण करने हेतु सूत्रावतार होता है—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थः—ज्ञान पदार्थ और प्रकाश से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित करता है । इस विषयमे वादी प्रतिवादीके यहां प्रसिद्ध ऐसा दृष्टात देते हैं—

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

अर्थः—जैसे दीपक घटादि पदार्थसे उत्पन्न न होकर भी घटादिको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थादिसे उत्पन्न न होकर भी उनको प्रतिभासित करता है प्रकाशित होनेयोग्य घटादि पदार्थ अपनेको प्रकाशित करनेवाले दीपकको उत्पन्न नही करते हैं, वह दीपक तो अपने कारण कलापसे (बत्ती, तेल आदिसे) उत्पन्न होता है । प्रकाशित करने योग्य वस्तुके अभावमे प्रकाशकका प्रकाशकपना ही नही रहता, अत प्रकाश्य जो घटादि वस्तु है वह उस प्रकाशकका जनक कहलाता है ? इसतरह कोई परवादी बखान करे तो इसके विपरीत "प्रकाशक के अभावमें प्रकाश्यका प्रकाश्यपना ही नही रहता, अतः प्रकाशक (दीप) प्रकाश्य (घटादि) का जनक है" ऐसा भी मानना पड़ेगा ? फिर तो इतरेतराश्रय दोष होगा, अर्थात् प्रकाश्यके उत्पन्न न होनेपर प्रकाशक उत्पन्न नही होगा और उसके उत्पन्न नही होनेसे प्रकाश्य भी उत्पन्न नही होगा ।

प्रकाशकानुत्पत्तेः तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तेरिति । स्वकारणकलापादुत्पन्नयोः प्रदीपघटयोरन्योन्यापेक्षया प्रकाश्यप्रकाशकत्वधर्मव्यवस्थाया एव प्रसिद्धेर्नेतरेतराश्रयावकाश इत्यभ्युपगमे ज्ञानार्थयोरपि स्वसामग्रीविशेषवशादुत्पन्नयोः परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकत्वधर्मव्यवस्थाऽऽस्थीयताम् । कृत प्रतीत्यपलापेन ।

ननु चाजनकस्याप्यर्थस्य ज्ञानेनावगतौ निखिलार्थावगतिप्रसङ्गात्प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात् । 'यद्धि यतो ज्ञानमुत्पद्यते तत्तस्यैव ग्राहक नान्यस्य' इत्यस्यार्थजन्यत्वे सत्येव सा स्यादिति वदन्त प्रत्याह—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ १० ॥

तथा हि—यदर्थप्रकाशक तत्स्वात्मन्यपेतप्रतिबन्धम् यथा प्रदीपादि, अर्थप्रकाशक च

नैयायिकः—प्रकाशक (दीप) और प्रकाश्य (घटादिवस्तु) ये दोनों भी अपने अपने कारण कलापसे उत्पन्न होते है और एक दूसरेकी अपेक्षासे प्रकाशक तथा प्रकाश्य कहलाते हैं, प्रकाशक और प्रकाश्य धर्मकी व्यवस्था तो इसप्रकार है अतः इतरेतराश्रय दोष नही आता ।

जैनः—बिलकुल ठीक है यही बात ज्ञान और पदार्थके विषयमें है, ज्ञान और पदार्थ भी अपनी अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होते है और एक दूसरेकी अपेक्षा लेकर ग्राह्य ग्राहक कहलाते हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? प्रतीतिके अपलाप करनेसे अब बस हो ।

शका:—ज्ञानका अजनक ऐसा जो पदार्थ है वह ज्ञानद्वारा जाना जाता है ऐसा मानेंगे तो एक ही ज्ञान संपूर्ण पदार्थ जानने वाला सिद्ध होगा फिर प्रतिनियत विषय व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योकि जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उसीको जानता है अन्यको नही ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था (यह इस ज्ञानका विषय है) तो ज्ञानको पदार्थसे जन्य मानने पर ही हो सकती है ?

अब इस शंकाका निवारण करते हुए श्री माणिक्यनंदी आचार्य कहते हैं—

स्वावरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता हि प्रतिनियतमर्थव्यवस्थापयति ॥१०॥

सूत्रार्थः—अपने आवरण के क्षयोपशम रूप योग्यताके निमित्तसे प्रतिनियत पदार्थ को जानने का नियम बनता है, जो जिस वस्तुका प्रकाशक होता है वह अपने आवरणके रुकावटसे रहित होता है, जैसे दीपक आवरण रहित होकर घट आदिका

ज्ञानमिति । प्रतिनियतस्वावरणक्षयोपशमश्च ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थोपलब्धेरेव प्रसिद्धः । न चान्योन्याश्रयः; अस्याः प्रतीतिसिद्धत्वात् । तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव । सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गं नार्थोत्पत्त्यादि, तस्य निषिद्धत्वादन्यत्रादर्शनाच्च । न खलु प्रदीप प्रकाश्यार्थैर्जन्यस्तेषां प्रकाशको दृष्टः ।

किञ्च, प्रदीपोपि प्रकाश्यार्थाऽजन्यो यावत्काण्डपटाद्यनावृतमेवार्थं प्रकाशयति तावत्तदावृत-

---

प्रकाशक होता है । ज्ञान भी स्वयोग्य आवरणसे रहित होकर पदार्थका प्रकाशक होता है । ज्ञानमे इन्ही प्रतिनियत वस्तुओको जाननेका क्षयोपशम हुआ है इस बातका निश्चय तो प्रतिनियत वस्तुको जाननेसे ही सिद्ध होता है, इसमे अन्योन्याश्रय दोष भी नही आता, क्योकि प्रतिनियत विषय तो प्रतीतिसे सिद्ध हो रहा है । प्रतिनियत वस्तुको जाननेकी जो योग्यता है उसीको शक्ति कहते हैं, यही शक्ति ज्ञानमे प्रतिनियत वस्तुको जाननेकी व्यवस्था करा देती है इस व्यवस्थाका कारण यह शक्ति ही है न कि तदुत्पत्ति आदिक, क्योकि तदुत्पत्ति तदाकारता आदि का पहले ही निषेध कर आये है तथा प्रदीप आदिमे ऐसा देखा भी नही जाता कि वह घट आदि से उत्पन्न होकर उसको जानता हो । दीपक प्रकाश्य भूत जो घट आदि पदार्थ हैं उनसे उत्पन्न होकर उनका प्रकाशक बनता है ऐसा कही पर देखा नही जाता है ।

यदि परवादी नैयायिकादि को कोई पूछे कि दीपक प्रकाशित करने योग्य पदार्थसे जन्य नही है किन्तु वह वस्त्र आदिसे नही ढके हुए पदार्थको ही प्रकाशित करता है, ढके हुए पदार्थ को क्यो नही प्रकाशित करता ? ऐसा पूछने पर आपको भी जैनके समान योग्यताकी ही शरण लेनी होगी ।

भावार्थः—बौद्ध ज्ञानको पदार्थ से उत्पन्न हुआ मानते हैं तथा नैयायिक ज्ञानको पदार्थ और प्रकाशसे उत्पन्न हुआ मानते हैं, इन परवादियोकी मान्यता का आचार्यने निरसन कर दिया है, पदार्थको यदि ज्ञानका कारण मानेंगे तो सर्वज्ञका अभाव होनेका प्रसग आता है । क्योकि जब एक साथ सब पदार्थ वर्त्तमान रहते नही हैं तब उन सब पदार्थोंको ज्ञान कैसे जानेगा ? सबको जाने बिना सर्वज्ञ बन नही सकता । दूसरी बात पदार्थके अभाव मे भी नेत्र रोगीको पदार्थ दिखाई देता है, विक्षिप्त मन वाले को विना पदार्थ के उसकी प्रतीति होने लग जाती है इत्यादि बातो को देखकर यह निश्चित होता है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता । प्रकाश भी

मपि किन्न प्रकाशयेदिति चोद्ये भवतोप्यतो योग्यतातो न किञ्चिदुत्तरम् ।

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥११॥

नहीन्द्रियमदृष्टादिकं वा विज्ञानकारणमप्यनेन परिच्छेद्यते । न ब्रूमः-कारणं परिच्छेद्यमेव किन्तु 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यवधारयाम ; तन्न योगिविज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानस्य चाशेषार्थग्राहिणोऽभावप्रसङ्गात् । न हि विनष्टानुत्पन्नाः समसमयभाविनो वार्थास्तस्य कारणमित्युक्तम् । केशोण्डुका-

---

ज्ञानका कारण नही है, रात्रिमें बिलाव आदि प्राणियोको बिना प्रकाशके भी ज्ञान होता रहता है तथा मनके द्वारा जानने के लिये भी प्रकाशकी जरूरत नही रहती । बौद्धका यह हटाग्रह है कि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नही होता तो प्रतिनियत विषय व्यवस्था कैसे बनती कि अमुक ज्ञान अमुक पदार्थको ही ग्रहण करता है ? सो उसका जवाब यह है कि जैसे दीपक घट आदि से उत्पन्न न होकर भी उन प्रतिनियत घट आदिको ही प्रकाशित करता है वैसे ज्ञान है वह भी पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी क्षयोपशम जन्य योग्यताके अनुसार प्रतिनियत विषयको जानता है । इस प्रकार अर्थकारणवाद और आलोककारणवादका निरसन किया गया है ।

अब अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

कारणस्य परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥११॥

सूत्रार्थः—जो ज्ञानका कारण है वही ज्ञानके द्वारा जाना जाता है ऐसा मानेंगे तो इन्द्रियोके साथ व्यभिचार आता है ।

चक्षु आदि इन्द्रिया एव अदृष्ट आदिक ज्ञानके कारण तो हैं किन्तु ज्ञानद्वारा परिच्छेद्य (जानने योग्य) नही है, अतः जो ज्ञानका कारण है वही जानने योग्य है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है ।

शका:—जो ज्ञानका कारण है वह अवश्य ही परिच्छेद्य हो ऐसा नियम नही है किन्तु जो भी जाना जाता है वह कारण होकर ही जाना जाता है ऐसा हम बौद्ध अवधारण करते है ?

समाधानः—इसतरह भी अवधारण नही कर सकते क्योंकि ऐसा अवधारण करने पर भी अशेषार्थ ग्राही योगीका ज्ञान एवं व्याप्ति ज्ञान इन ज्ञानोका अभाव होवेगा, इसीका खुलासा करते हैं—जो पदार्थ नष्ट हो चुके है जो अभी उत्पन्न नही हुए हैं, जो समकालीन है ये सब पदार्थ ज्ञानके कारण नही है (किन्तु) योगीका

विज्ञानस्य चाजनकार्थग्राहित्वाभावप्रसङ्ग. । कथ च कारणत्वाविशेषेपीन्द्रियादेरग्रहणम् ? अयोग्यत्वाच्चेत्; योग्यतैव तर्हि प्रतिकर्मव्यवस्थाकारिणी, अलमन्यकल्पनया। स्वाकारार्पकत्वाभावाच्चेन्न, ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वस्याप्यपास्तत्वात् । कथ च कारणत्वाविशेषेपि किञ्चित्स्वाकारार्पक किञ्चिन्नेति प्रतिनियमो योग्यता विना सिध्येत् ? कथ च सकल विज्ञान सकलार्थकार्यं न स्यात् ? 'प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्' इत्युत्तर ग्राह्यग्राहकभावेपि समानम् ।

ज्ञान इन सबको जानता अवश्य है अतः जो ज्ञानका कारण है वही उसके द्वारा जाना जाता है ऐसा कहना गलत होता है) केशोण्डुक ज्ञानमे भी पदार्थ कारण नही है वह तो पदार्थसे अजन्य है, उस ज्ञानमे जो अजनकार्थ ग्राहीपना देखा जाता है वह भी नही रहेगा । जो ज्ञानका कारण है उसको ज्ञान जानता है तो चक्षु आदि इन्द्रियोको ज्ञान क्यो नही जानता इस बात को परवादी को बताना चाहिये ? आप कहो कि इन्द्रियोमे ज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेकी योग्यता नही है तो उसी योग्यता को ही क्यो न माना जाय ? फिर तो योग्यता ही प्रतिकर्म व्यवस्था करती है ऐसा स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है, व्यर्थकी तदुत्पत्ति आदिकी कल्पना करना बेकार है ।

बौद्ध.—इन्द्रियोसे ज्ञान उत्पन्न तो अवश्य होता है किन्तु इन्द्रिया अपना आकार ज्ञानमे अर्पित नही करती अत ज्ञान उनको नही जानता ।

जैनः—यह कथन ठीक नहीं है, ज्ञानमे वस्तु का आकार आता है इस मतका पहले सयुक्तिक खण्डन कर चुके हैं । आप बौद्ध को कोई पूछे कि इन्द्रिय और पदार्थ समान रूपसे ज्ञानमे कारण होते हुए भी पदार्थ ही अपना आकार ज्ञानमे देता है इन्द्रियाँ नही देती ऐसा क्यो होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आप योग्यता कहकर ही देते हैं अर्थात् कारण समान रूपसे है किन्तु पदार्थ ही अपना आकार ज्ञानमें देते हैं इन्द्रियाँ नही देती क्योकि ऐसी ही उनमे योग्यता है, तथा सभी ज्ञान अविशेषपनेसे सभी पदार्थोंका कार्य क्यो नही होता इत्यादि प्रश्न होने पर आपको यही कहना होगा कि पदार्थोंमे प्रतिनियत शक्ति होती है तब सबके कारण या कार्य नही हो सकते, ठीक इसीतरह ज्ञान के विषयमे समझना चाहिये, ज्ञानमे जिस विषय को जाननेकी शक्ति अर्थात् ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है (साव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा यहा पर जगह जगह क्षयोपशम शब्दका प्रयोग हुआ है) उसी विषय को ज्ञान जानता है, उसी ग्राह्य वस्तुका ज्ञान ग्राहक बनता है ऐसा निर्दोष सिद्धात स्वीकार करना चाहिये ।

अर्थकारणवाद और आलोककारणवाद के खंडन का सारांश

बोद्ध नैयायिकादि प्रवादी पदार्थ को ज्ञानका कारण मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है, किन्तु यह मान्यता सिद्ध नही होती है। कामलादि रोग के कारण केशोण्डुक ज्ञान होता है ऐसा कहे तो जैसे सदोष नेत्र भ्रान्त ज्ञान के हेतु हैं वैसे निर्दोष नेत्र सत्य ज्ञान के हेतु हैं ऐसा मानना चाहिये। अर्थकारणवाद की तरह आलोककारणवाद भी असत् है क्योंकि प्रकाश के अभाव में ज्ञान होता है अंधकार में भी "यह अंधकार है" ऐसा ज्ञान होता है। तथा बिल्ली, उल्लू, सिंह, शेर आदि प्राणियो को बिना प्रकाश के ज्ञान होता है। इस तरह पदार्थ और प्रकाश दोनो भी ज्ञान के हेतु नही हैं ऐसा निश्चय होता है। अतः पदार्थ के अभाव में तथा प्रकाश के अभाव मे भी ज्ञान होता है ऐसा मानना चाहिये।

२

आवरणविचारः

अथेदानीं मुख्यप्रत्यक्षप्ररूपणस्यावसरप्राप्तत्वात् तदुत्पत्तिकारणस्वरूपप्ररूपणायाह—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमऽतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥१२॥

'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्त्तते। तत्राशेषतो विशदमतीन्द्रियं यद्विज्ञानं तन्मुख्यं प्रत्यक्षम्। किंविशिष्टं तत्? सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणम्। ज्ञानावरणादिप्रतिपक्षभूता हीह सम्यग्-

---

अब यहां पर मुख्य प्रत्यक्ष के उत्पत्ति का कारण तथा स्वरूप सूत्र द्वारा प्ररूपित किया जाता है:—

सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरण—
मतीन्द्रिय मशेषतो मुख्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थ.—द्रव्यादि सामग्री विशेष के द्वारा नष्ट हो गये हैं सपूर्ण आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय तथा पूर्णज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसा प्रकरण चल रहा है उसमे जो पूर्णरूप से विशद हो तथा अतीन्द्रिय हो वह ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वह कैसा है? सामग्री विशेष से नष्ट हो गये हैं सपूर्ण आवरण जिसके ऐसा है। यहा पर ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रतिपक्ष स्वरूप जो सम्यग्दर्शन आदिक है वह अंतरग सामग्री कहलाती है और अनुभव, योग्य देशका लाभ काल, द्रव्य आदि का होना बहिरग सामग्री है, यह अनेक प्रकार की है, इन दोनो सामग्री का होना सामग्री

दर्शनादिलक्षणान्तरङ्गा बहिरङ्गानुभवादिलक्षणा सामग्री गृह्यते, तस्या विशेषोऽविकलत्वम्, तेन विश्लेषितं क्षयोपशमक्षयरूपतया विघटितमखिलमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानसम्बन्ध्यावरणम् अखिल निश्शेष वाऽऽवरण यस्यावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयस्थ तत्तथोक्तम् ।

अत्र च प्रयोग.—यद्यत्र स्पष्टत्वे सत्यवितथ ज्ञान तत्तत्रापगताखिलावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरितवृक्षादौ तदपगमप्रभवं ज्ञानम्, स्पष्टत्वे सत्यवितथ च क्वचिदुक्तप्रकार ज्ञानमिति । तथाऽतीन्द्रिय तत् । मनोऽक्षानपेक्षत्वात् । तदनपेक्ष तत् सकलकलङ्कविकलत्वात् । तद्विकलत्व चास्यात्रैव प्रसाधयिष्यते । अत एव चाशेषतो विशद तत् । यत्तु नातीन्द्रियादिस्वभाव न तत्तादनपेक्षत्वादिविशेषणविशिष्टम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तद्विशेषणविशिष्टञ्चेदम्, तस्मात्तथेति । तथा मुख्य तत्प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियत्वात् स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वाद्वा, यत्तु नेत्थ तन्नैवम्, यथास्मदादिप्रत्यक्षम्,

---

विशेष है, इस सामग्री विशेष से नष्ट हो गये है आवरण जिसके ऐसा यह प्रत्यक्ष है अर्थात् अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशम रूप होना और केवलज्ञान की अपेक्षा क्षय होना ऐसे ज्ञानावरण जिसके हुए उसे मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं, अर्थात् अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान तथा मन पर्ययज्ञान होता है और केवलज्ञानावरण का नाश हो जाने से केवलज्ञान होता है ये ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

यहा अनुमान के द्वारा इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि करते हैं:—

जो ज्ञान जिस विषय में स्पष्ट होकर सत्यरूप से जानता है वह उस विषय में पूर्ण रूप से आवरण रहित होता है, जैसे धूली, कुहरा आदि से ढके हुए वृक्ष आदि पदार्थ हैं । उनका आवरण हटने से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट होकर सत्य कहलाता है, ऐसे ही अवधि ज्ञानादिक स्पष्ट और सत्य है । यह मुख्य प्रत्यक्ष इन्द्रिया और मन की अपेक्षा नही रखता है अतः अतीन्द्रिय है, अपने आवरण के हटने से इन ज्ञानो में इन्द्रियादिकी अपेक्षा नही रहती कर्म का आवरण नष्ट होता है इस बात को अभी इस अध्याय में सिद्ध करने वाले हैं । आवरण के हट जाने से ही वह ज्ञान पूर्णरूप से विशद हो गया है, जो ज्ञान अतीन्द्रिय आदि गुणविशिष्ट नही होता वह पूर्ण विशद या इन्द्रियादि से अनपेक्ष भी नही होता, जैसे कि हम जैसे का प्रत्यक्ष ज्ञान (साव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान) अवधिज्ञानादि तीनो ज्ञान अतीन्द्रिय आदि विशेषण युक्त होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते है । अनुमान सिद्ध बात है कि अतीन्द्रिय होने से

तथा चेदम्, तस्मान्मुख्यमिति ।

ननु चावरणप्रसिद्धौ तदपगमाज्ज्ञानस्योत्पत्तिर्युक्ता, न च तत्प्रसिद्धम् । तद्धि शरीरम्, रागादयः, देशकालादिकं वा भवेत् ? न तावच्छरीरं रागादयो वा; तद्भावेप्यर्थोपलम्भसम्भवात् । तदुपलम्भप्रतिबन्धकमेव हि काण्डपटादिक लोके प्रसिद्धमावरणम् । ननु मेर्वादिदूरदेशता रावणादेस्तत्कालता परमाण्वादेः सूक्ष्मस्वभावता मूलकीलोदकादेश्च भूम्यादिः आवरणं प्रसिद्धमेवेति चेत्तदसारम्; तद्भावस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । न खलु सातिशयर्द्धिमतापि योगिना देशाद्यभावो विधातु शक्यः । न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । ततः सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमित्ययुक्तम्,

---

अथवा अपने विषय मे पूर्ण रूप से विशद होने से ये ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष हैं जो अतीन्द्रियादि विशेषण विशिष्ट नही है वह मुख्य प्रत्यक्ष नही होता जैसे हम लोगो का प्रत्यक्ष है, यह ज्ञान वैसा विशिष्ट है अतः मुख्य प्रत्यक्ष है ।

परवादीः—आप जैन ने आवरण के विषय में बहुत कुछ कहा किन्तु यह सब कथन आवरण नामा कोई पदार्थ होवे तो बने ? तथा उस आवरण का नाश होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा कथन बने ? आवरण किसको कहना चाहिये ? शरीर को, या रागद्वेष आदि को, या देश कालादिको ? शरीर और रागादि को आवरण मानना शक्य नही, क्योकि शरीर आदि के रहते हुए भी पदार्थों का ज्ञान होता है । लोक मे तो ज्ञान को रोकने वाले वस्त्र, परदा, दीवाल आदि पदार्थ माने गये हैं ।

हमारे प्रति यहा कोई शका उपस्थित करे कि मेरु आदि का आवरण तो दूर देशता है अर्थात् दूर देश मे होने से मेरु का ज्ञान नही होता अतः वह उसका आवरण कहलायेगा ? ऐसे ही रावणादि का आवरण अतीत कालता, परमाणु आदि का सूक्ष्म स्वभावता, तथा वृक्ष की जड़, कील, जल आदि का आवरण पृथ्वी आदिक है ये सारे आवरण दुनिया मे प्रसिद्ध ही है, फिर उनको क्यो नही मानते ? सो यह प्रतिशका बेकार है, भला हम पृथ्वी आदि का क्या अभाव कर सकते हैं ? कोई अतिशय ऋद्धिधारी योगीजन भी देश, काल, स्वभावो का अभाव नही कर सकते पृथिवी आदि, या शरीरादि को छोडकर अन्य कोई ज्ञान का आवरण प्रतीति मे नही आता है, अतः सूत्रकार माणिक्यनदी आचार्य ने जो "सामग्री विशेष .... इत्यादि सूत्र लिखा है वह असत् है ?

अत्रोच्यते-न शरीराद्यावरणम् । किं तर्हि ? तद्व्यतिरिक्तं कर्म । तच्चानुमानत. प्रसिद्धम्; तथाहि-स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाऽभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारणपूर्विका तत्त्वात् कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्यास्तन्त्राद्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिवत् । तथा, भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयत्वात् मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत् ।

ननु चातः कर्ममात्रमेव प्रसिद्ध नावरणम्, ततस्तत्सिद्धावेव प्रमाणमुच्यता तत्रैव विवादा-

---

जैनः—अब यहा परवादी के अभिप्राय का निरसन किया जाता है, हम जैन शरीरादि को आवरण नही मानते हैं, किन्तु शरीर से व्यतिरिक्त कर्म नामक एक पुद्गल है उसे आवरण शब्द से कहा है, वह आवरण रूप कर्म अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, उसी अनुमान को प्रस्तुत करते है—स्व—परको जानने का जिसका स्वभाव है ऐसे इस आत्माके हीन स्थान स्वरूप गर्भ, शरीर, पचेन्द्रिय के विषयो में प्रीति होती है, यह प्रीति तो आत्मा से पृथक कोई अन्य कारण से होती है, क्योकि वह विशिष्ट अत्यासक्तिरूप है, जैसे कोई कुत्सित व्यसनी पर पुरुष है उस पर यदि कोई सुन्दर कुलांगना आसक्त होती है तो उसका कारण कोई विशिष्ट मत्र, या तंत्र वशीकरण, आदिक जरूर है, उसके बिना कुलवान स्त्री पर पुरुष पर आसक्त नही हो सकती है ।

जैसे —इस कुलवान स्त्री के परवश मत्रादि के कारण से अयोग्य चेष्टा हुई वैसे ही आत्मा की शरीरादि में आसक्ति कर्म के कारण से हुई है । इसी विषय में दूसरा अनुमान प्रयोग है कि ससारी जीवो के मोह का उदय होता है वह शरीरादि से भिन्न अन्य कोई निमित्त से होता है, क्योंकि उसमे मोहोदयपना है, जैसे मदिरा पीने से उन्मत्त हुए पुरुष के अपने गृह आदि मे मोहोदय रहता है ।

शका:—इन अनुमानो से कर्ममात्र की सिद्धि हुई न कि आवरण की, आवरण सिद्ध करने के लिये ही प्रमाण दीजिये, क्योकि आवरण के अस्तित्व मे ही विवाद है ?

समाधानः—अच्छा तो सुनिये ! संसारी जीवो का ज्ञान सपूर्ण स्वविषय में आवरण सहित दिखायी देता है, क्योंक यह ज्ञान अपने विषय मे प्रवृत्ति नही कर पाता है, जो ज्ञान स्वविषय मे अप्रवृत्तिरूप है वह सावरण होता है, जैसे पीलिया

दिति चेदुच्यते यज्ज्ञान स्वविषयेऽप्रवृत्तिमत् तत्सावरणम् यथा कामलिनो लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, स्वविषये अशेषार्थलक्षणेऽप्रवृत्तिमच्च ज्ञानमिति ।

ननु विज्ञानस्याशेषविषयत्व कुत सिद्धम् ? आवरणापाये तत्प्रकाशकत्वाच्चेदन्योन्याश्रय.-सिद्धे हि सकलविषयत्वे तस्य आवरणापाये तत्प्रकाशन सिद्ध्यति, अतश्च सकलविषयत्वमिति; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोनुमानमिच्छता भवताप्यवश्य सकलावरणवैकल्यात्प्रागेव सकलस्य प्राणिमात्रस्याशेषविषय व्याप्त्यादिज्ञानमभ्युपगतमेव । तथा, यत्स्वविषयेऽस्पष्ट ज्ञान तत्सावरणम्

रोगी का नेत्र से होने वाला ज्ञान अपने सपूर्ण विषयो मे प्रवृत्त नही हो पाता है इसीलिये सावरण है ।

शका —ज्ञान सपूर्ण विषयो को जानता है यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? यदि कहो कि आवरण के नष्ट होने पर उन सब पदार्थों का प्रकाशक हो जाता है अतः ज्ञान की अशेषज्ञता सिद्ध होती है, सो ऐसा तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, ज्ञान मे सपूर्ण विषयपना सिद्ध होने पर उसके आवरण के अपाय मे सफल विषयका ग्राहकत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर सपूर्ण विषयपना सिद्ध होगा ऐसे दोनो ही असिद्ध की कोटी मे रह जाते हैं ?

समाधान —यह बिना सोचे कहा गया है, आप अनुमान प्रमाण को मानने वाले हैं सपूर्ण आवरण का अभाव होने के पहले भी प्राणिमात्र को अशेष विषय वाले व्याप्ति ज्ञान आदिक हुआ करते हैं, किंतु वे सावरण अस्पष्ट हैं इस बात को अनुमान से सिद्ध कर सकते हैं जो ज्ञान अपने विषय मे अस्पष्ट होता है वह सावरण होता है, जैसे रज, हिम आदि से आच्छादित वृक्ष आदि पदार्थ होते हैं उनका हमे अस्पष्ट ही ज्ञान होता है, हम जैसे अल्पज्ञो का सभी श्रुतादिज्ञान अस्पष्ट है । इससे ज्ञान की सावरणता सिद्ध होती है । विपरीत बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टियो को जो ज्ञान होता है, वह सावरण होता है, उनका ज्ञान संपूर्ण वस्तुओ मे अनेकान्तपना होते हुए भी एकान्तपने का निश्चय कराता है, क्योकि मिथ्या स्वरूप है, इसीलिये वह ज्ञान सावरण सिद्ध होता है, जैसे धतूरा या अन्य मादक पदार्थ के पीने से पुरुष को मिट्टी के ढेले मे भी सुवर्ण की झलक होने लगती है । इन सब अनुमान प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का आच्छादक या आवरण करने वाला कोई पदार्थ है । वह आवरण तो पौद्गलिक कर्म है, अन्य कोई पदार्थ नही है ।

यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, अस्पष्ट च 'सर्वं सदनेकान्तात्मकम्' इत्यादि व्याप्ति-ज्ञानम् । मिथ्यादृशा सर्वत्रानेकान्तात्मके भावे विपरीतज्ञान सावरण मिथ्याज्ञानत्वात् धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति । अत. सिद्धमावरण पौद्गलिक कर्मेति ।

ननु चाविद्यैवावरणं न पौद्गलिक कर्म, मूर्त्तेनानेनामूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणायोगात्, अन्यथा शरीरादेरप्याव (वा) रकत्वानुषङ्गात्; इत्यप्यसमीचीनम्; मदिरादिना मूर्त्तेनाप्यमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । अमूर्त्तस्य चाव (वा) रकत्वे गगनादेर्ज्ञानान्तरस्य च तत्प्रसङ्ग । तदविरुद्धत्वात्तस्य तन्नेति चेत्; तर्हि शरीरादेरप्यत एव तन्मा भूत्तद्विरुद्धस्यैवावरकत्वप्रसिद्धे । प्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानादेरविद्योदये निरोधात्तस्यास्तद्विरोधगतौ मदिरादिवत्पौद्गलिक कर्मणोपि सास्तु

भावार्थ·—परवादी ने पहले ज्ञान के आवरण का अभाव सिद्ध करना चाहा, जब उसका अभाव नही हो सका तब वह आवरण नामा पदार्थ किस रूप है यह प्रश्न हुआ, जैनाचार्य ने समझाया कि वह आवरण तो कर्म है जो कि आत्म स्वभाव से भिन्न है, आत्मा से पृथक ऐसे हीन शरीरादि में मोह पैदा करता है इत्यादि ।

शका:—आवरण को अविद्या रूप मानना चाहिये, पुद्गल रूप नहीं, क्योकि पुद्गल मूर्तिक पदार्थ है उससे अमूर्तिक आत्माके ज्ञानादि गुणो का आवरण होना शक्य नही है यदि मूर्तिक पदार्थ अमूर्तिक ज्ञानादि पर आवरण कर सकता है तो शरीरादि भी आवरण करने वाले बन जायेगे ।

समाधानः—यह शका गलत है, मदिरा आदि मूर्तिक पदार्थ के द्वारा अमूर्तिक ज्ञान आदि का आवरण देखा जाता है, यदि आवरण को अमूर्तिक मानते हैं तो आकाश आदिक अमूर्तिक द्रव्य तथा अन्य ज्ञानादिक हैं उनसे भी ज्ञान पर आवरण आने लगेगा ? यदि कहा जाय कि आकाश या ज्ञानादिक ज्ञान के साथ अविरुद्धता रखने वाले पदार्थ है, अतः इनसे ज्ञान का आवरण नही हो सकता ? सो शरीरादिक भी अविरुद्ध स्वभाव वाले होने से ज्ञान के आवारक मत होवे ? जो ज्ञान के विरुद्ध है वही आवरण बन सकता है । यदि प्रवाह रूप से चले आये ज्ञान को अविद्या रोक देती है, अविद्या ज्ञान का विरोधक है, ऐसा मानते है तो मदिरा के समान इस पौदुगलिक कर्म को ही अविद्यापना होवे ? कोई विशेषता नही । कर्म भी आत्मा या ज्ञानादि का विरोधी ही है। पुनश्च अनुमान से आवरण को कर्म

विशेषाभावात् । तथाहि–आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात् उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्या ज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेनानेकान्तः; तस्यापरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् अपरापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

ननु चात्मगुणत्वात्कर्मणा कथ पौद्गलिकत्वमित्यन्ये; तेऽप्यपरीक्षकाः; तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविरोधात् **सर्वदात्मनो बन्धानुपपत्तेः** सदैव मुक्तिप्रसङ्गात् । न खलु यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तम् यथा पृथिव्यादे रूपादिः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसज्ञक कर्म परैरभ्युपगम्यते इति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्त स्यात् । न चैवम्, आत्मन परतन्त्रतया प्रमाणत

रूप सिद्ध करते हैं आत्मा मे जो मिथ्याज्ञानादि विकार है वह पुद्गल विशेष के सबध के कारण ही है, क्योकि ये मिथ्याज्ञानादिक आत्म स्वरूप से भिन्न स्वभाव वाले हैं, जैसे आत्मा से भिन्न उन्मत्तक पदार्थ से आत्मा मे उन्मत्तता आती है । इस "तत्स्वरूपअन्यथाभावस्वभावत्व" हेतु का मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुए दूसरे मिथ्याज्ञान के साथ अनेकात भी नही होता, अर्थात् अन्य मिथ्याज्ञान से यह हेतु व्यभिचरित नही होता, वह अपर मिथ्याज्ञान भी अपर अपर पौद्गलिक कर्म के उदय से होता है, जैसे उन्मत्त करने वाले अन्य अन्य मदिरा आदि रस के निमित्त से अन्य अन्य उन्माद की दशा होती है, उसकी परंपरा चलती रहती है ।

शका:—कर्म को आत्मा का गुण मानते हैं अतः उसको पौद्गलिक कैसे कह सकते है ?

समाधानः—यह कथन असत् है कर्म को आत्मा का गुण मानेंगे तो वह आत्मा के परतत्रता का कारण बन नही सकता और इस तरह आत्मा के कभी भी बधन नही होवेगा वह तो सदा मुक्त ही रहेगा । आप यौग जिस धर्म अधर्म सज्ञक अदृष्ट को कर्म कहते हैं वह परतत्रता का कारण नही हो सकता, क्योकि उसे आत्मा का गुण मान लिया है । जो जिसका गुण होता है वह उसी के परतत्रता का कारण नही हो सकता जैसे पृथ्वी आदि के रूपादि गुण उसी पृथ्वी के विरोधक नही होते । आप धर्म अधर्म सज्ञक अदृष्ट कर्म को आत्मा के गुण बता रहे अतः वह आत्मा के परतत्रता का निमित्त नही हो सकता । आत्मा परतत्र नही सो भी बात नही है

प्रतीतेः । तथाहि-परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्ट पुरुषवत् । हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत् । तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव । न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः । यत्परतन्त्रश्चासौ तत्कर्म इति सिद्धं तस्य पौद्गलिकत्वम् । तथा हि-पौद्गलिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगलादिवत् । न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः; तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्, क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

सत्यम्, नात्मगुणोऽदृष्टं प्रधानपरिणामत्वात्तस्य "प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यभिधानात्, इत्यपि मनोरथमात्रम्; प्रधानस्या-

---

उसकी परतन्त्रता तो प्रमाण से सिद्ध है यह संसारी आत्मा परतन्त्र है, क्योंकि इसने हीन-स्थान को ग्रहण किया है, जैसे कि मद्य के उद्रेक के आधीन हुआ पुरुष अशुचि स्थान को ग्रहण करता है, वही पडा रहता है । यहा हीन स्थान तो शरीर है, क्योकि यह आत्मा को दुःख देता है, जैसे कारागृह देता है । ससारी जीव उस शरीर रूपी परिग्रह को धार रहे, प्रसिद्ध ही है । देव के शरीर में दुःख हेतु का अभाव होने से हेतु अव्यापक हुआ ऐसा भी नही कह सकते, क्योकि देवो को भी मरण के समय शरीर दुःख का कारण हो जाता है, आत्मा के पारतन्त्र्य का जो हेतु है वह कर्म ही है, इस तरह कर्म का पौद्गलिकपना सिद्ध होता है । और भी अनुमान सुनिये ! कर्म पौद्गलिक है क्योकि वह आत्मा के परतंत्रता का निमित्त है, जैसे बेडी आदि परतन्त्रता के निमित्त होते है । यह परतंत्रता का निमित्त रूप हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचरित भी नही होता, क्योकि वे भी पारतन्त्र्य स्वभाव वाले है, क्रोधादिक परिणाम स्वयं पारतन्त्र्य स्वरूप है न कि पारतन्त्र्य का कारण है । इस प्रकार यहा तक नैयायिकादि ने कर्म को आत्मा का गुण मानकर शका की थी उसका खण्डन किया है ।

साख्यः—यह बात तो सत्य है कि अदृष्ट या कर्म आत्मा का गुण नहीं है, वह तो जड प्रधान का परिणमन है । प्रधान परिणाम के दो भेद हैं एक शुक्ल और एक कृष्ण ।

जैनः—यह कथन मन के मनोरथ रूप है, प्रधान ही नही तो उसका परिणाम क्या होगा ? कुछ भी नही । प्रधान का निरसन अभी इसी अध्याय में

सत्त्वेन तत्परिणामत्वस्य क्वचिदप्यसम्भवात् । तदसत्त्व चात्रैवानन्तर वक्ष्यामः । तत्परिणामत्वेपि वा तस्यात्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, अन्यथाति प्रसङ्गः । प्रधानपारतन्त्र्यनिमित्त त्वात्तस्य कर्मत्वमिति चेन्न, प्रधानस्य तेन बन्धोपगमे मोक्षोपगमे चात्मकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । बन्धमोक्षफलानुभवनस्यात्मनि प्रतिष्ठानान्न तत्कल्पनावैयर्थ्यमित्यसत्, प्रधानस्य तत्कर्तृत्ववत् तत्फलानुभोक्तृत्वस्यापि प्रमाणसामर्थ्यप्राप्तत्वात्, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्गः । अथात्मनश्चेतनत्वात्तत्फलानुभवन न तु प्रधानस्याऽचेतनत्वात् ; तदप्ययुक्तम् ; मुक्तात्मनोपि तत्फला-

---

करने वाले हैं साख्य अदृष्ट को प्रधान रूप मान भी लेवे किन्तु उससे आत्मा के परतन्त्रता होना नही मानते हैं तो उसमे कर्मत्व सिद्ध नही होगा । अन्यथा अति-प्रसग आता है ।

भावार्थः— साख्य आत्मा को सर्वथा अकर्ता निर्विकार मानते हैं, प्रधान के दो परिणामो का कृष्ण शुक्ल का ससर्ग सूक्ष्म प्रधान से होता है उसी का सारा विकार है, आत्मा सदा एकसा है ऐसा कहते हैं सो यहा आचार्य ने कहा कि प्रधान को कर्म मान भी लेवे किन्तु उससे आत्मा मे पारतन्त्र्य नही आता तो कर्मत्व ही काहे का ? जो आत्मा मे विकार नही लाता उसको भी कर्म मानेंगे तो घट आदि पदार्थ को भी कर्मत्व सज्ञा हो जायगी ।

साख्यः—कृष्ण शुक्ल रूप प्रधान तत्त्व का जो परिणमन है वह पारतन्त्र्य का कारण तो है किन्तु प्रधान के ही पारतन्त्र्य का कारण है, आत्मा के नही ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, प्रधान परिणाम से प्रधान ही बधता है और प्रधान ही छूटता है मतलब बध मोक्ष प्रधान के ही होते हैं, ऐसा मानेंगे तो आत्म तत्व का ही अभाव हो जायगा ।

सांख्यः—आत्मा का अभाव नही होगा, क्योकि आत्मा बध मोक्ष के फल का अनुभव करता है ?

जैन·—यह बात गलत है, प्रधान को ही उसका फल भोगना चाहिये, जैसे प्रधान बध मोक्ष को करता है, उसी प्रकार से उसके फल को भी भोग लेगा, यह तो तर्क सिद्ध बात है, जो करता है वही भोगता है, अन्यथा कृतनाश और अकृत अभ्यागम नाम का दोष आता है, जिसने किया उसको कुछ हुआ नही और दूसरे को उसका फल भोगना पडा सो यह बात बिल्कुल अयुक्त है ।

नुभवनानुषङ्गात् । तस्य प्रधानसंसर्गाभावान्न तत्फलानुभवनमिति चेत् ; तर्हि संसारिणः प्रधान-संसर्गाद्बन्धफलानुभवनम् । तथा चात्मन एव बन्धः सिद्धः, तत्संसर्गस्य बन्धफलानुभवननिमित्तस्य बन्धरूपत्वात्, बन्धस्यैव 'संसर्ग' इति पुद्गलस्य च 'प्रधानम्' इति नामान्तरकरणात् ।

ननु प्रसिद्धस्यापि यथोक्तप्रकारस्य कर्मणः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यानादित्वा-द्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य चाभावात्कथं तेन विश्लेषिताखिलावरणत्वं ज्ञानस्य, इत्यप्यपेशलम् ; सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्य तद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य सुप्रतीतत्वात् । सञ्चितं हि कर्म निर्जरात-श्चारित्रविशेषरूपाया प्रलीयते । सा च निर्जरा द्विविधा-उपक्रमेतरभेदात् । तत्रौपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या । अनुपक्रमा तु यथाकालं संसारिणः स्यात् ।

सांख्यः—आत्मा चेतन है अतः वह फलानुभव कर सकता है, प्रधान भोक्ता कैसे बने ? वह तो जड है ?

जैन—यह बात भी गलत है, इस तरह से तो मुक्तात्मा के भी भोक्तृत्व का प्रसंग आयेगा ?

सांख्य—मुक्तात्मा में प्रधान का संसर्ग नही रहता अतः फलानुभव नही करता ?

जैनः—ऐसी बात है तो संसारी जीवो के प्रधान का संसर्ग होता है और बंध के फल का अनुभव भी वे करते हैं यह निश्चय हुआ ? फिर आत्मा के बंधन सिद्ध होता है, प्रधान का संसर्ग बंध तथा फलानुभव का निमित्त होता है, ऐसा कहने से तो बंधन की सिद्धि होती है, आपने सिर्फ उस बंध का "संसर्ग" यह नाम धर दिया है और पुद्गल का प्रधान नाम धरा है, और कुछ भिन्नता की बात नही है ।

इति कर्मणां पौद्गलिकत्वं सिद्धम्

कर्म नामा पदार्थ पौद्गलिक है वह सिद्ध होने पर कोई शंका करता है कि—कर्म भले ही पौद्गलिक हो किन्तु वे कार्य कारण भाव से अनादि काल से ही प्रवाहित हो रहे हैं, उनका नाश होना असंभव है, अतः द्रव्यादि सामग्री विशेष से ज्ञान का कर्मरूप आवरण नष्ट होता है ऐसा कहना असिद्ध है ?

समाधानः—यह कथन असुन्दर है कर्मों के नष्ट करने का हेतु सम्यग्दर्शन,

कुत पुन साकल्येन पूर्वोपात्तकर्मणा निर्जरा निश्चीयते इति चेदनुमानात्, तथाहि–साकल्येन क्वचिदात्मनि कर्माणि निर्जीर्यन्ते विपाकान्तत्वात्, यानि तु न निर्जीर्यन्ते न तानि विपाकान्तानि यथा कालादीनि, विपाकान्तानि च कर्माणि, तस्मात्साकल्येन क्वचिन्निर्जीर्यन्ते । न चेदमसिद्धं साधनम् , तथाहि–विपाकान्तानि कर्माणि फलावसानत्वाद्व्रीह्यादिवत् । न चेदमप्यसिद्धम्; तेषा नित्यत्वानुषङ्गात् न च नित्यानि कर्माणि नित्य तत्फलानुभवनप्रसङ्गात् ।

भावि पुन कर्म सवरान्निरुध्येत–"अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोध' सवर" [तत्त्वार्थ सू० ९।१]

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप सुप्रसिद्ध ही है, यही कर्मों को नष्ट करने की सामग्री है । पुराना सचित कर्म चारित्र विशेष रूप निर्जरा से समाप्त होता है, वह निर्जरा दो प्रकार की हैं, उपक्रम निर्जरा और अनुपक्रम निर्जरा । उपक्रम या औपक्रमिक निर्जरा अनशन आदि बारह प्रकार की तपश्चर्या से होती है, तथा अनुपक्रम निर्जरा यथा समय कर्म का उदय आकर झडने रूप है वह सभी ससारी जीवो के होती है ।

शका —–पुराकृत कर्मों की पूर्ण रूपेण निर्जरा होती है यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा ?

समाधान —–अनुमान प्रमाण से सिद्ध होवेगा, यहा उसी पंचावयव रूप अनुमान को उपस्थित करते हैं किसी विशेष आत्मा मे सपूर्ण रूप से कर्मों का नाश होता है, क्योकि वे कर्म फलदान तक ही रहने वाले हैं, जो निर्जीव नही होते, वे फलदान तक ही नही रहते, जैसे काल आदि द्रव्य, कर्म अवश्य ही फलदान तक रहते हैं, अतः किसी आत्मा मे सपूर्ण नष्ट होते है । इस अनुमान का विपाकान्तत्व–फल देने तक रहना रूप हेतु असिद्ध नही है, इसी को कहते हैं–कर्म फलदान तक ही ठहरने वाले हैं क्योकि उसके बाद नष्ट होते हुये दिखाई देते है, जैसे चावल गेहूँ आदि अनाज हैं, इस अनुमान का फलावसानत्व हेतु भी असिद्ध नही । यदि इसको असिद्ध मानेगे तो कर्म को नित्य मानना पडेगा, किन्तु कर्म नित्य नही है, यदि होते तो हमेशा ही उनका फल भोगना पडता ।

आगे आने वाले कर्मों का अभाव तो सवर करता है, नये कर्मों को रोकना संवर कहलाता है, ऐसा तत्वार्थ सूत्र मे प्रतिपादन किया है । नया कर्म जिन कारणो से आता है उसको आस्रव कहते हैं उसके पाच भेद है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । इनके निमित्त से आत्मा मे नये कर्म आते रहते है । आस्रव को

इत्यभिधानात् । आस्रवो हि मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः, तस्मिन्सति कर्मणामास्रवणात् । स च संवरो गुप्ति समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्विधीयते इत्यागमे विस्तरतः प्ररूपित द्रष्टव्यम् । निर्जरामवरयोश्च सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात्तत्प्रकर्षे कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेपि प्रक्षयः प्रसिध्यत्येव । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षे निर्मूलतल प्रलयमुपव्रजन्नोपलब्धः, कार्यकारणरूपतया बीजाकुरसन्तानो वाऽनादि. प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति वक्तुं शक्यम् ।

रोकने वाला जो संवर है उसके गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, और चारित्र इस प्रकार भेद हैं तथा और भी प्रभेद आगम में विस्तार से कहे हैं, इन सबका स्वरूप वही देखना चाहिये ।

भावार्थः—भली प्रकार से मन, वचन, काय को वश करना गुप्ति है, उसके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति ऐसे तीन भेद हैं । गमन आदि क्रियाओं को जीवों की रक्षा करते हुए करना समिति है, इसके पांच भेद हैं, ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति । धर्म–जो जीवों को ससार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख मे पहुँचा देता है उसे धर्म कहते हैं, उसके दश भेद हैं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य । वैराग्य बढ़ाने के लिये जिनका बार बार चिंतवन किया जाता है वे अनुप्रेक्षा कहलाती हैं, उनके बारह भेद आगम मे कहे है, अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म । मोक्षमार्ग में अडिग रहने के लिये बिना व्याकुल हुए जो कष्ट सहते है उसे परीषहजय कहते हैं । उसके बावीस भेद हैं, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्न, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ और अदर्शन । जिन क्रियाओं से कर्म आता है ऐसी क्रियाओं से ज्ञानी विरक्त होते हैं उस ज्ञानी के आचरण को चारित्र कहते हैं, उसके पाच भेद हैं, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय और यथाख्यात चारित्र । इन सबका पृथक् पृथक् लक्षण भी सिद्धात ग्रन्थो में पाया जाता है, उनको वही से देखना चाहिये । ये गुप्ति आदिक तथा पूर्वकथित सम्यग्दर्शनादिक संवर निर्जरा के कारण है सम्यग्दर्शन के बिना गुप्ति आदिक वास्तविक नही कहलाते न उनसे संवरादि ही होते हैं ।

ननु तत्प्रकर्षमात्रात्कर्मप्रक्षयमात्रमेव सिध्येन्न पुनः साकल्येन तत्प्रक्षयः, सम्यग्दर्शनादे परमप्रकर्षसम्भवाभावात्, इत्यप्यसङ्गतम्, तत्प्रकर्षस्य क्वचिदात्मनि प्रसिद्धे । तथाहि—यस्य तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित्परमप्रकर्षः यथोष्णस्पर्शस्य, तारतम्यप्रकर्षश्चासयतसम्यग्दृष्टयादौ सम्यग्दर्शनादेरिति । न च दु खप्रकर्षेण व्यभिचार, सप्तमनरकभूमौ नारकाणा तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेः सर्वार्थसिद्धौ देवाना सासारिकसुखपरमप्रकर्षवत्, मिथ्यादृष्टिष्वनन्तानुबन्धिक्रोधादिपरमप्रकर्षवद्वा । नापि ज्ञानहा-

---

जब इन सम्यग्दर्शनादिक गुणो का आत्मा मे विकास होता है तब अनादि काल का प्रवाहरूप से चला आया कर्म सतान भी नष्ट होता है । जैसे जलादि का शीत स्पर्श अनादि सतान से चला आता है । किंतु उसके प्रतिपक्षी उष्ण स्पर्श के अत्यत प्रकर्ष होने पर वह समूल नष्ट होता है । दूसरा उदाहरण बीज और अकुर मे अनादि से कार्य कारण भाव चलता है, किन्तु वह भी प्रतिपक्षी अग्नि के द्वारा नष्ट होता है बीज या अकुर जल जाने पर निरवशेष खतम होता है, यह सब प्रतीति सिद्ध उदाहरण है, इनमे इन्कार नही कर सकते ।

शका.—ठीक है, किंतु इन अनुमानो से सम्यक्त्व आदि के प्रकर्ष से कर्म का सामान्यतः क्षय होना तो सिद्ध होवेगा, किंतु पूर्णरूप से क्षय होना सिद्ध नही होता । क्योकि सम्यक्त्व आदि का परम प्रकर्ष होना ही असभव है ?

समाधान —यह कथन असगत है, रत्नत्रय का परम प्रकर्ष किसी किसी आत्मा मे होता ही है, इसी बात को सिद्ध करते हैं—जिस वस्तु का तरतम रूप से प्रकर्ष होता है उसका किसी मे तो अवश्य ही परम प्रकर्ष होवेगा, जैसे उष्ण स्पर्श मे तरतमता और प्रकर्ष दिखाई देता है । असयतनामा चतुर्थ गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि जीव को आदि लेकर अग्रिम गुणस्थानो मे सम्यक्त्व आदि का प्रकर्ष बढता हुआ पाया जाता है । कोई शका करे कि इस कथनका दुःख के साथ व्यभिचार आता है ? तो इसको आचार्य समझाते है कि दुःख का परम प्रकर्ष सप्तम नरक मे नारकी जीवो के है, जैसे सासारिक सुखो का परम प्रकर्ष सर्वार्थसिद्धि वाले देवो के है अथवा अनंतानुबधी क्रोधादि का प्रकर्ष मिथ्यादृष्टि मे रहता है । इन सब हेतुओ का ज्ञान की हानिरूप प्रकर्ष के साथ व्यभिचार नही आता है, अर्थात् जो घटता बढता है वह पूर्ण नष्ट भी होता है ऐसा एकांत कहेगे तो ज्ञान हानि के साथ हेतु व्यभिचरित है, क्योकि ज्ञान की परम हानि तो होती ही नही ? ऐसा कोई अल्पज्ञ कहे तो ठीक नही, ज्ञान की बात

निप्रकर्षेणानेकान्त', तस्यापि क्षायोपशमिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमापकर्ष-प्रसिद्धेः । क्षायिकस्य तु हानेवासम्भवात्कुतस्तत्प्रकर्षो यतोऽनेकान्त ।

इत्थ वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोग' कर्तव्य'–'यस्यातिशये यद्धान्यतिशयस्तस्यात्यन्तातिशयेऽन्यस्यात्यन्तहानिः यथाग्नेरत्यन्तातिशये शीतस्य, अस्ति च सम्यग्दर्शनादेरत्यन्तातिशय. क्वचिदात्मनि' इति । यद्वा, आवरणहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षप्राप्ता प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत् । न चात्रासिद्ध साधनम्; तथाहि–प्रकृष्यमाणावरणहानि' आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरण-हानिवत् । तद्धानिपरमप्रकर्षे च ज्ञानस्य परम. प्रकर्ष सिद्ध । यद्धि प्रकाशात्मक तत्स्वावरणहानि-प्रकर्षे प्रकृष्यमाण दृष्टम् यथा नयनप्रदीपादि, प्रकाशात्मक च ज्ञानमिति । तदेवमावरणप्रसिद्धि-वत्तदभावोप्यनवयवेन प्रमाणत. प्रसिद्धः । तत्प्रभवमेव चाशेषार्थगोचर ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्,

---

ऐसी है कि वह यदि क्षयोपशम रूप है तब तो हानि का प्रकर्ष केवली के होता है, क्योकि केवली मे क्षयोपशम रूप ज्ञान नही है, क्षायिक ज्ञान मे हानि नही है तो परम प्रकर्ष कहाँ से होगा ? जिससे कि हेतु को अनेकान्तिक कह सकते है ? कर्म का सपूर्ण क्षय होता है, इसका समर्थक और भी अनुमान है–जिसके अतिशय में जिसका हानि का अतिशय होता है, उस अतिशय के अत्यत बढ जाने पर उस अन्य की अत्यत हानि होती है । जैसे 'अग्नि के अत्यंत अतिशय में शीत की अत्यंत हानि होती है । किसी आत्मा में सम्यक्त्व आदि का अत्यत अतिशय होता ही है । इस अनुमान से कर्म का पूर्ण क्षय होना सिद्ध होता है । तथा किसी पुरुष विशेष मे आवरण की हानि चरम सीमा को प्राप्त होती है, क्योकि वह प्रकृष्यमान है, जैसे परिमाण या माप प्रकृष्यमान होता है । यह प्रकृष्यमानत्वात् हेतु असिद्ध नही है, उसी को बताते है आवरण की हानि प्रकृष्यमान है क्योकि वह आवरण की हानि है आवरण के हानि का परम प्रकर्ष सिद्ध है अतः ज्ञान का परम प्रकर्ष भी सिद्ध होता है ।

जो प्रकाशक होता है वह उसके आवरण हानि के बढने पर बढता ही है, जैसे दीपक या नेत्र सबधी आवरण हानि है । ज्ञान भी दीपकादि की तरह प्रकाश शील है । इन उपर्युक्त अनुमान प्रमाणों से कर्म का आवरण और अत्यत अभाव भले प्रकार से सिद्ध होता है । इस आवरण के अत्यताभाव से संपूर्ण त्रिकाल, त्रिकाल गोचर अशेष पदार्थों का ज्ञान होता है, ऐसा सिद्ध हुआ । ज्ञान में थोडा भी आवरण रहेगा तो वह अखिल वस्तुओं को जान नही सकता, जिस विषय मे ही आवरण रहेगा उसी मे इस ज्ञान की रुकावट हो जावेगी ।

लेशतोप्यावरणसद्भावे तस्याशेषार्थगोचरत्वासम्भवात्, यत्रैवावरणसद्भावस्तत्रैवास्य प्रतिबन्धसम्भवात्।

आगमद्वारेणाशेषार्थगोचर ज्ञानम्; इत्यप्यसुन्दरम्, विशदज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात्। न चागमज्ञान विशदम्। न चागमोप्यशेषार्थगोचर, अर्थपर्यायेषु तस्याप्रवृत्तेः। ते चार्थस्य प्रतिक्षणम् 'अर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वाद्वा सन्ति' इत्यवसीयन्ते। अन्यथास्याऽवस्तुत्वप्रसङ्ग। करणजन्यत्वे चाशेषज्ञानस्यातोन्द्रियार्थेषु प्रतिबन्ध. प्रसिद्ध एव, इन्द्रियाणा रूपादिमत्यव्यवहितेऽनेकावयवप्रचयात्मकेऽथ प्रवृत्तिप्रतीतेः।

शकाः—आत्मा के आवरण के नाश से ही अखिल पदार्थों का ज्ञान होता है सो बात नही ? आगम से भी वैसा ज्ञान हो सकता है ?

समाधानः—यह कथन असत् है, यहा प्रकरण तो विशद ज्ञान का है, आगम ज्ञान विशद नही होता, न आगम के द्वारा सपूर्ण वस्तुओ का ज्ञान ही होता है, क्योकि आगम ज्ञान से अगुरुलघु की षट् हानि वृद्धि रूप अर्थपर्यायें नही जानी जाती हैं। अर्थ पर्याय पदार्थों मे होती हैं, इस बात का निर्णय निम्न कथित अनुमान से हो जाता है—पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन शील है। क्योकि उनमे अर्थक्रिया होती है। तथा वे पदार्थ सत्ता स्वरूप भी हैं। यदि वस्तु मे प्रतिक्षण अर्थक्रिया नही होवेगी तो वह वस्तु अवस्तु—अभाव रूप हो जावेगी। कोई मूर्खशिरोमणि यदि चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा सपूर्ण वस्तुओ का ज्ञान होना स्वीकार करे, तो वह भी असत्य है, क्योकि इन्द्रिय जनित ज्ञान अतीन्द्रिय विषयो का ग्राहक नही होता। इन्द्रिया तो रूप, रस आदि गुण वाले निकटवर्ती स्थूल पदार्थों को ही जानती है अन्य विषयो को नही।

शकाः—जब इन्द्रिया योगज धर्म से अनुग्रहीत होती हैं तब आकाश आदि संपूर्ण पदार्थो को जो कि अतीन्द्रिय है, उनको जानने मे समर्थ होती हैं, (सपूर्ण विषयो को साक्षात् करा देती है) अतः अखिल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से होने पर भी प्रतिबध कैसे हो सकता है ? अर्थात् योगज धर्मानुग्रहीत इन्द्रिया प्रतिबध रहित होती हैं ?

समाधान —यह कथन विना सोचे किया है, इद्रियो पर योगज धर्म का अनुग्रह होना और उससे सपूर्ण विषयों को जानने की सामर्थ्य आना इन दोनो का प्रथम अध्याय मे ही खण्डन कर आये हैं।

ननु योगजधर्मानुगृहीतानामिन्द्रियाणां गगनाद्यशेषातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारिज्ञानजनकत्वसम्भवात् कथं तत्राशेषज्ञानस्येन्द्रियजत्वेपि प्रतिबन्धसम्भवः; इत्यप्यसमोक्षिताभिधानम्; योगजधर्मानुग्रहस्येन्द्रियाणां प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात् ।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तजत्वाद्योगिविज्ञानस्य नोक्तदोषानुषङ्ग । भावना हि द्विविधा-श्रुतमयी, चिन्तामयी च । तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य परार्थानुमानवाक्येभ्य समुत्पद्यमानज्ञानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परमप्रकर्षं प्रनिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्ता चिन्तामयी भावनामारभते । सा च प्रकृष्यमाणा पर प्रकर्षपर्यन्त सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्ष जनयतीति तत्कथमस्यावरणापायप्रभवत्वम् ? इत्यप्यसारम्, क्षणिकनैरात्म्यादिभावनायाश्चिन्तामय्याः

भावार्थः—ध्यान, प्राणायाम आदि योग विशेष से इन्द्रियों मे अतिशय पैदा होता है और वह अतीन्द्रिय पदार्थों को भी जानने लग जाती है ऐसा मीमासकों का कहना है सो इस विषय पर पहले अध्याय में विचार कर आये है । इन्द्रियो मे योगज धर्म का कितना भी अनुग्रह हो जाय किंतु वे परमाणु आदि पदार्थों को ग्रहण नही कर सकती न अपने विषय को छोड़कर अन्य रूप आदि को ग्रहण कर सकती है, क्या योगज धर्मानुग्रहीत नेत्र रसास्वाद का कार्य करेंगे ? नही कर सकते हैं । अतः योगज धर्मानुग्रहीत इद्रियो द्वारा सपूर्ण पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ होना शक्य नही है ।

बौद्धः—योगज धर्मानुग्रहीत इन्द्रिय से भले ही अखिल वस्तु का ज्ञान नही हो किन्तु श्रुतमयी भावना आदि का जब परम प्रकर्ष होता है तब उससे होने वाला योगी का ज्ञान अशेष पदार्थो का ग्राहक बन जाता है, इसमें कोई आपके कहे हुए दोष नही आते ? भावना भी दो प्रकार की है—श्रुतमयी भावना और चिन्तामयी भावना । आचार्य आदि से सुनने में आये हुए जो परार्थानुमान रूप वाक्य है उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुत शब्द के द्वारा कहा जाता है, इन गुरु वाक्यो से उत्पन्न हुई तथा परम प्रकर्ष को प्राप्त हुई ऐसी जो श्रुतसम्बन्धी भावना है वह श्रुतमयी भावना कहलाती है, यही भावना स्वार्थानुमान लक्षण वाली चिन्ता से निर्मित चिन्तामयी भावना को उत्पन्न करती है । फिर चिन्तामयी भावना बढते बढते चरम सीमा को प्राप्त होती है तब योगी प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर देती है । इस प्रकार योगी प्रत्यक्ष ज्ञान या पूर्ण ज्ञान स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष तो इन भावनाओ से उत्पन्न होता है, फिर इसको आप जैन आवरण के नाश से होता है ऐसा क्यो मानते हैं ?

श्रुतमय्याश्च मिथ्यारूपत्वात् । न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्थविषययोगिज्ञानजनकत्वमतिप्रसङ्गात् । यथा च न क्षणिकत्वं नैरात्म्य शून्यत्व वा वस्तुनस्तथा वक्ष्यते ।

किञ्च, अखिलप्राणिना भावनावता तथाविधज्ञानोत्पत्तिः किन्न स्यात् सुगतवत् ? तेषा तथाभूतभावनाऽभावाच्चेत्, न, प्रतिपन्नतत्त्वाना भावनाप्रवृत्तमनसा सर्वेषा समाना भावनैव कुतो न स्यात् ? प्रतिबन्धककर्मसद्भावाच्चेत्, तर्हि भावनाप्रतिबन्धककर्मापाये भावनावत् योगिज्ञानप्रतिबन्धककर्मापाये तज्ज्ञानोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या । इति सिद्ध साकल्येनावरणापाये एवातीन्द्रियमशेषार्थविषय विशद प्रत्यक्षम् ।

जैनः—यह पक्ष भी बेकार है । आप बौद्ध के यहाँ क्षणिक नैरात्म्यवाद है, इस क्षणिकवाद मे श्रुतमयी आदि भावना भी मिथ्या एव क्षणिक ही रहेगी, अतः इस क्षणिक भावना मे कुछ प्रकर्ष होना आगे आगे बढना आदि हो नही सकता उसके अभाव मे वह भावना ही काहे की ? वह तो मिथ्या ही है, इस मिथ्या भावना से वास्तविक विषय वाला योगी ज्ञान उत्पन्न होना अशक्य है, यदि मानेगे तो अतिप्रसग होगा, फिर दो चन्द्र का ज्ञान भी योगी ज्ञान का जनक बन बैठेगा ! क्योकि मिथ्याज्ञान से भी योगी ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा आपने मान लिया ? तथा आप बौद्ध के सिद्धांत जो क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवादादि हैं, इनकी सिद्धि नही होती, ये सब असत्य सिद्धान्त हैं, ऐसा आगे भी कहेगे ।

हम जैन बौद्ध से पूछते है कि ससार के सभी प्राणियो को जो कि इन भावनाओ से सयुक्त हैं उनको, अशेष पदार्थों का ज्ञान क्यो नही होता ? जैसे सुगत को पूर्ण ज्ञान होता है ? तुम कहो कि उन जीवो के श्रुतमयी आदि भावना नही होती है अत पूर्ण ज्ञान का अभाव है ? सो भी ठीक नही, जिन्होंने तत्वो का अभ्यास किया है, भावना मे मनको लगाया है, उन जीवो के समान भावना क्यो नही होती ? क्या प्रतिबंधक कर्म का सद्भाव है इसलिये समानता नही होती ? यदि यही बात है तब तो भावना को रोकने वाले कर्म का अभाव होने पर जैसे भावना उत्पन्न होती है वैसे ही योगीज्ञान प्रगट होता है ऐसा निर्दोष वक्तव्य मानना चाहिये । इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि आवरण का पूर्ण नाश होने पर ही सपूर्ण विषयो का ग्राहक ऐसा विशद ज्ञान उत्पन्न होता है ।

अल विस्तरेण

आवरण सिद्धि, कर्म पौद्गलिकत्वसिद्धि तथा संवर निर्जरा सिद्धि का सारांश

ज्ञानावरण आदि कर्मो के पूर्णरूप से नाश होने पर या क्षयोपशम होने पर मुख्य प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, "किन्तु बौद्ध आवरण को नही मानते उनके यहा श्रुतमयी और चिंतामयी भावना से ज्ञान प्रगट होता है न कि आवरण के हटने से।" वे कहते हैं कि शरीर, राग आदि को आवरण माने तो उनके सद्भाव मे भी ज्ञान होता है, अन्य कोई आवरण दिखाई नही देता, आचार्य ने उनको समझाया है कि शरीर आदि आवरण नही है कर्म आवरण है उस कर्म की अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है आत्मा स्व और पर को जानना रूप स्वभाव वाला है ऐसे आत्मा की हीन शरीरादि पदार्थ में आसक्ति हो रही है वह आत्मा से भिन्न किसी अन्य कारण से हुई है क्योकि वह विशिष्ट आसक्ति है जैसे व्यसनी नीच पुरुष पर किसी कुलवती स्त्री को आसक्ति मत्र तंत्र आदि के हेतु से होती है, इस अनुमान से सामान्य कर्म सिद्ध हुआ, पुन: आवरण रूप विशिष्ट कर्म की सिद्धि के लिये दूसरा अनुमान प्रयुक्त होता है संसारी जीवो का ज्ञान सम्पूर्ण विषयों में आवरण युक्त है, क्योकि सब विषयो मे प्रवृत्त नही हो पाता, जो अपने विषय मे प्रवृत्त नही होता उसका कारण अवश्य होना चाहिए, जो कारण है वही आवरण है। ज्ञान का आवरण कर्म न होकर अविद्या है क्योकि मूर्तिक आवरण से अमूर्तिक ज्ञान पर आवरण नही आ सकता ऐसी शका भी मदिरा के दृष्टान्त से दूर हो जाती है, जैसे मदिरा आदि मादक पदार्थ मूर्तिक होकर भी अमूर्तिक आत्मादि को उन्मत्त करा देते है, वैसे कर्म है तथा यह कर्म अनादिकाल से प्रवाहरूप से चला आया है अत. उससे सम्बद्ध आत्मा सर्वथा अमूर्तिक नही है। इस तरह पुरुषाद्वैतवादी आदि के अविद्या रूप आवरण का निरसन किया है। साख्य प्रधान को ही आवरण मानते हैं और वह आवरण भी प्रधान पर आया हुआ मानते है, सो यह मान्यता अयुक्त है, प्रधान स्वरूप आवरण प्रधान पर आवरण डालता है तो प्रधान के ही बध और मोक्ष होना सिद्ध होगा, अतः आत्मा को मानना व्यर्थ होता है। बध तथा मोक्ष का फल आत्मा भोगता है अतः वह व्यर्थ नही होता ऐसा कहना भी तर्क सगत नही है। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है यह सिद्ध हो जाता है, उस कर्म का अभाव संवर और निर्जरा से होता है, कोई कोई कर्म रूप आवरण का पूर्णतया नाश होना नही मानते, उनको शीत स्पर्श का दृष्टात देकर

समझाया है कि जैसे अनादि कालीन शीत स्पर्श उसके प्रतिबंधक उष्ण स्पर्श के बढ जाने से नष्ट होता है, वैसे ही कर्म के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनादि कारणों के वृद्धिगत होने पर कर्म मूल से नष्ट हो जाते हैं बीज अकुर का दृष्टात भी बढिया है। कर्म का आगामी आना रुकना संवर है, और वह गुप्ति, समिति आदि के द्वारा होता है। पहले संचित हुए कर्म, तपश्चर्या आदि के द्वारा निर्जीर्ण होते हैं जैसे जैसे सम्यग्दर्शनादि प्रकृष्ट होते हैं वैसे वैसे कर्म आवरण की हानि होती है। इस प्रकार कर्मों का पूर्णतया संवर तथा निर्जरा होना सिद्ध होता है।

३

सर्वज्ञत्ववादः

ननु चाशेषार्थज्ञातुस्त(ज्ञानस्यत)ज्ज्ञानवत। कस्यचित्पुरुषविशेषस्यैवासम्भवात्कथ तज्ज्ञान-सम्भव· ? तथाहि–न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञोस्ति सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकागोचरत्वात्वा-द्वन्ध्यास्तनन्धयवत् । न चायमसिद्धो हेतु., तथाहि–सकलपदार्थवेदी पुरुषविशेषः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानादिप्रमाणेन वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण; प्रतिनियतासन्नरूपादिविषयत्वेन अन्यसन्तानस्थसवेदन-मात्रेप्यस्य सामर्थ्यं नास्ति, किमङ्ग पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थ-साक्षात्कारिसंवेदनविशेषे तदध्यासिते पुरुषविशेषे वा तत्स्यात् ? न चातीतादिस्वभावनिखिलपदार्थ-

---

मीमासकः—जैन ने आवरण कर्म के नाश से पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है ऐसा सिद्ध किया तथा आवरण की सिद्धि की किन्तु संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान और उस ज्ञान से सयुक्त कोई पुरुष विशेष ही संभव नही है, अतः ऐसे ज्ञान को सिद्ध करना कैसे शक्य है ? इसी को बताते हैं–कोई भी पुरुष विशेष सर्वज्ञ नही है, क्योंकि वह सत्ताग्राहक पाचो प्रमाणो के गोचर नहीं होता, जैसे वन्ध्यापुत्र नही होता । यह सत्ताग्राहक प्रमाणो के अगोचर होना रूप हेतु असिद्ध नही है । कैसे सो बताते हैं—सपूर्ण पदार्थों को जानने वाला जो पुरुष है वह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से वह पुरुष विशेष जाना जाता है ऐसा कहना तो शक्य नही, यह प्रत्यक्ष तो प्रतिनियत तथा निकटवर्ती रूप, रस आदि को जानता है, इस इंद्रिय प्रत्यक्ष में अन्य आत्मा में होने वाले ज्ञान को जानने की भी सामर्थ्य नही है तो फिर जो ज्ञान अतीत अनागत एवं वर्तमान कालीन सूक्ष्मादि स्वभावों से सयुक्त अनंतानत संपूर्ण पदार्थों को साक्षात्कार करने वाला है ऐसे विशिष्ट ज्ञान को एवं तद्विशिष्ट पुरुष विशेष को [सर्वज्ञ को] कैसे जान सकता है ? [अर्थात् नही जान

ग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तन्निष्ठग्राहकत्वस्याप्यग्रहणात् ।

नाप्यनुमानेनासौ प्रतीयते; तद्धि निश्चितस्वसाध्यप्रतिबन्धाद्धेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतां प्रतिपद्यते । प्रतिबन्धश्चाखिलपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतो किं प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण, अस्याऽत्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तत्प्रतिपत्तिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेप्यक्षमत्वात् । न ह्यप्रतिपन्नसम्बन्धिनस्तद्गतसम्बन्धावगमो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानेन, अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात् । न चात्र धर्मी प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नः, अनक्षज्ञानवत्यत्यक्षेऽध्यक्ष-

---

सकता है] तथा यह भी बात है कि उन सूक्ष्मादि स्वभाव वाले अनत अतीतादिकालीन निखिल पदार्थों को ग्रहण किये विना उन पदार्थों को साक्षात करने वाले ज्ञान को ग्रहण नही कर सकते क्योंकि ग्राह्य को ग्रहण किये विना ग्राहक का ग्रहण होना भी अशक्य है । इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती है ।

अनुमान प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञसिद्ध नही होता है अनुमान मे प्रमाणता का उदय तब होता है जब उसमे साध्य का अविनाभावो हेतु होता है, स्वसाध्य के अविनाभावी हेतु से ही अनुमान मे प्रामाण्य माना जाता है । यहा पर अशेषार्थ ग्राहक पुरुष विशेष को सिद्ध करना है अत वह साध्य है इस साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव किससे जाना जायगा ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो शक्य नही, क्योकि इस प्रत्यक्ष मे अतीन्द्रिय ज्ञानी के जानने की शक्ति नहीं है । अतीन्द्रिय ज्ञानी के सत्व विना उसके प्रतिपत्ति का निमित्तभूत हेतु का अविनाभाव जाना नही जायगा, संबधी को जाने विना उसमे होनें वाला सबंध कैसे जाना जाय ? यदि माने तो अतिप्रसग होगा, फिर तो परमाणु को जाने विना ही उसका घट के साथ होने वाला सबध भी जाना जा सकेगा । किंतु यह शक्य नही है । अशेषज्ञ को सिद्ध करने वाले हेतु का अविनाभाव अनुमान से सिद्ध करे तो भी शक्य नही है क्योकि अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष आयेंगे ? कैसे सो ही बताते हैं प्रथम अनुमान के हेतु का अविनाभाव निश्चित करनें के लिये दूसरा अनुमान चाहिए, पुनः उस दूसरे के लिए तीसरा चाहिये क्योकि उसका अविनाभाव भी जानना जरूरी है इस तरह अनवस्था आती है । इतरेतराश्रय दोष इस प्रकार होगा—प्रथम अनुमान जो कि सर्वज्ञ को सिद्ध करता है उसके हेतु के अविनाभाव को दूसरा अनुमान बतायेगा, और दूसरे

स्याप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वाध्यक्षेणैवास्य प्रतिपन्नत्वान्न किञ्चिदनुमानेन। नाप्यनुमानेन; हेतोः पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैवाप्रवृत्तेः। न चाप्रतिपन्ने धर्मिणि हेतोस्तत्सम्बन्धावगमः। नाप्यप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गम्।

किञ्च, सत्तासाधने सर्वो हेतुरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणां त्रयीं दोषजातिं नातिवर्त्तते। तथाहि-सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भावधर्मो हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उत उभयधर्मो वा? प्रथमपक्षेऽसिद्धः; भावेऽसिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धिविरोधात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः; भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावा-

---

अनुमान के हेतु का अविनाभाव प्रथम अनुमान से सिद्ध होगा। अशेषज्ञरूप धर्मी का प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नही क्योकि अतीन्द्रिय ज्ञान वाले अत्यंत परोक्ष ऐसे उस पुरुष विशेष में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नही होती, यदि प्रवृत्ति होती तो अनुमान की जरूरत ही नही रहती, प्रत्यक्ष से ही वह दिखायी देता। सकल पदार्थों का ज्ञायक ऐसा यह पक्ष में लिया हुआ धर्मी अनुमान से भी नही जाना जाता है क्योंकि जब तक हेतु का पक्ष धर्मत्व गुण ग्रहण नही होगा तब तक अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है, और पक्ष अर्थात् धर्मी असिद्ध है तो हेतु का पक्ष धर्मत्व क्या सिद्ध होगा? बिना धर्मी को जाने हेतु के अविनाभाव को जान नहीं सकते। इस तरह जिसका पक्ष धर्मत्व अज्ञात है वह हेतु अपनें नियत साध्य को सिद्ध करनें में निमित्त नही बन सकता। भावार्थ—अनुमान के दो अवयव होते हैं एक तो साध्य जहां रहता है वह स्थान जिसे धर्मी या पक्ष कहते हैं वह और दूसरा उसके साथ अविनाभाव संबध रखनें वाला हेतु। हेतु पक्ष में अवश्य रहता है ऐसा अविनाभाव तब निश्चित होता है कि जब पक्ष जाननें में आवे, किन्तु यहां सकलार्थ वेदी पुरुष पक्ष कोटी में है वह प्रत्यक्षगम्य नही होने से उसका अविनाभावी हेतु भी नही जाना जाता इस तरह सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमान में पक्ष और हेतु दोनों ही असिद्ध हो जाते है।

एक बात यह भी है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु दिया जाय उसमे असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक ये तीनों दोष आते हैं, कैसे सो बताते हैं सर्वज्ञ को सिद्ध करने में हेतु कौन सा देंगे भाव अर्थात् सद्भाव धर्मवाला या अभाव धर्मवाला? अथवा उभय धर्मवाला? प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योकि भाव ही असिद्ध है तो उसका धर्म क्या सिद्ध होगा? हो नही सकता। दूसरे पक्ष में तो हेतु विरुद्ध कहलायेगा, साध्य तो सद्भाव स्वरूप है और हेतु है अभाव धर्म वाला सो अभाव तो अभाव के साथ रहेगा अतः ऐसा हेतु विरुद्ध कहलायेगा। भाव अभाव दोनों धर्मवाला

व्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । उभयधर्मोऽप्यनैकान्तिकः सत्तासाधने; तदुभयव्यभिचारित्वात् ।

अपि चाविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते, विशेषेण वा ? तत्राद्यपक्षे विशेषतोऽर्हत्प्रणीतागमाश्रयणमनुपपन्नम् । द्वितीयपक्षे तु हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसम्भवादसाधारणानैकान्तिकत्वम् ।

किञ्च यतो हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञ साध्यते ततो बुद्धोपि साध्यता विशेषाभावात्, न

हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होगा, क्योंकि सर्वज्ञता रूप साध्य तो सत्ता स्वभाव वाला है और उसमे हेतु प्रयुक्त किया सत्ता असत्ता दोनो स्वभाव वाला ।

हम मीमासक आप जैन से प्रश्न करते हैं कि यह जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जा रहा है वह सामान्य से कोई एक पुरुषरूप सिद्ध करेंगे अथवा विशेष रूप से अर्हंत पुरुष विशेष सिद्ध करेंगे ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही, क्योंकि इसमे अर्हंत भगवान के द्वारा प्रणीत आगम ही सत्य है उसी का आश्रय लेते हैं इत्यादि आपकी मान्यता बनती नही है । मतलब जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध किया तो वह अर्हंत ही होवे सो बात नही, फिर उसी के आगम को मानने का पक्ष खंडित होता है । दूसरा पक्ष विशेष रूप से अर्हंत रूप सर्वज्ञ को सिद्ध करते हैं तो उसको सिद्ध करने वाले अनुमान मे दृष्टान्त नही रहता है क्योंकि अर्हंत को छोडकर अन्य सुगत आदि को सर्वज्ञ माना नही है फिर दृष्टान्त किसका देवे ? बिना दृष्टान्त के हेतु असाधारण अनेकान्तिक बन जायगा ।

भावार्थ.—हम मीमासक के यहा असाधारण अनैकान्तिक हेतु का यह लक्षण है कि जो विपक्ष और सपक्ष दोनो से व्यावृत्त हो, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि सुनायी देना रूप धर्म उसमे पाया जाता है । इस उदाहरण मे जो श्रावणत्व हेतु है वह अपना विपक्षी जो नित्य आत्मादि पदार्थ हैं उनसे व्यावृत्त होता है तथा सपक्षी जो घट आदि पदार्थ हैं उससे भी व्यावृत्त होता है, क्योंकि इनमे श्रावणत्व नही है, सो ऐसा हेतु असाधारण अनैकान्तिक कहलायेगा, सर्वज्ञ सिद्धि मे भावाभाव धर्म वाला हेतु इसी दोष से दूषित है ।

तथा यह भी बात है कि आप जैन जिस हेतु से प्रतिनियत अर्हंत को सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं उसी हेतु से बुद्ध भी सर्वज्ञ हो सकता है कोई विशेषता तो नही है । सर्वज्ञपने को सिद्ध करने के लिये जैन के पास कोई विशेष हेतु हो सो बात नही है ।

चात्र सर्वज्ञत्वसाधने हेतुरस्ति ।

यदप्युच्यते–सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा प्रमेयत्वात्पावकादिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽत्रैकज्ञानप्रत्यक्षत्व सूक्ष्माद्यर्थाना साध्यत्वेनाभिप्रेतम्, प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्व वा ? तत्राद्यकल्पनायां विरुद्धो हेतु, प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादि-दृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वस्योपलम्भात् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य । द्वितीयकल्पनाया सिद्धसाध्यता अनेकप्रत्यक्षैरनुमानादिभिश्च तत्परिज्ञानाभ्युपगमात् ।

सर्वज्ञ सिद्धि में जैन का प्रसिद्ध अनुमान है—सूक्ष्मातरित दूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, पावकादिवत् । सूक्ष्म–परमाणु आदि, अतरित–राम रावणादिक, दूरार्थ–सुमेरु पर्वत आदि पदार्थ ये सब किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं (जानने योग्य हैं) जैसे अग्नि आदि पदार्थ प्रमेय है । यह अनुमान ठीक नही बैठता, इसमे प्रश्न यह है कि सूक्ष्मादिक पदार्थों का प्रत्यक्ष होने रूप साध्य है सो क्या वे सभी पदार्थ एक ही ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं अथवा प्रतिनियत विषय वाले अनेक ज्ञानों द्वारा प्रत्यक्ष होते है । अर्थात् एक एक पृथक पृथक ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादिक वस्तु जानी जाती है ऐसा मत इष्ट है अथवा सूक्ष्मादि सभी का एक ही ज्ञान के द्वारा जानना इष्ट है ? प्रथम पक्ष की बात कहे तो हेतु विरुद्ध होगा क्योकि आपके अनुमान में हेतु प्रमेयत्व है वह प्रतिनियत रूपादि विषय वाले अनेक प्रत्यक्षों द्वारा ग्रहण में आता है, किन्तु साध्य तो एक ज्ञान से ग्रहण मे आने रूप है । तथा दृष्टान्त अग्निका है उसमें भी यह साध्य नही है अतः दृष्टान्त भी साध्यविकल कहलायेगा । दूसरा पक्ष सूक्ष्मादि पदार्थ अनेक ज्ञानों द्वारा किसी के प्रत्यक्ष होते हैं ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है, यह बात तो हम मीमासक भी मानते है, अनेक प्रत्यक्ष प्रमाणो द्वारा तथा अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा इन सूक्ष्मादि का ज्ञान किसी को हो सकता है ऐसा हमे इष्ट ही है । इसी को बताते है— प्रत्यक्ष आदि छहो प्रमाणो द्वारा सपूर्ण वस्तुओ को जानकर सर्वज्ञ बनता है अर्थात अशेष पदार्थों का ज्ञान अनेक प्रमाणो से होता है जिसको होता है वह सर्वज्ञ है ऐसा मानते है तब तो उसका हम खण्डन नही करते, किन्तु एक ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञता आती है, ऐसा मानेंगे तब तो बनता नहीं ।।१।। एक ही प्रमाण के द्वारा अशेष वस्तुओ को जानेगा तो क्या एक चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सभी रसादि विषयो का ग्राहक होवेगा ? अर्थात् एक ज्ञान से सर्वज्ञ सबको जानता है ऐसा मानने से एक ही इद्रिय द्वारा सब रसादि विषयो को जानने की विकट समस्या आती है ।

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।।
नून स चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्यते ।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११-१२]
इत्यभिधानात् ।

किञ्च, प्रमेयत्व किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूप वा स्यात्, उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभाव वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, विवादाध्यासितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्, अन्यथा साध्यस्यापि सिद्धे र्हेतूपादानमपार्थकम् । सन्दिग्धान्वयश्चाय हेतु स्यात्; तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽसिद्धो हेतुः, अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरार्थेष्वसम्भवात् । सम्भवे वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्व-

---

यह भी विचार करना है कि सर्वज्ञ सिद्धि में प्रस्तुत प्रमेयत्व हेतु है वह किस रूप है ? सपूर्ण ज्ञेयो में व्यापी अर्थात् सपूर्ण ज्ञेयो को जानने वाला जो प्रमाण है उसके द्वारा जाननें योग्य जो प्रमेय है वह प्रमेयत्व लेना अथवा हम जैसे व्यक्तियो के प्रमाण के द्वारा जानने योग्य प्रमेयत्व लेना, या उभय व्यक्तियो मे साधारण सामान्य स्वभावरूप प्रमेयत्व लेना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, विवाद मे आये हुए सूक्ष्मादि पदार्थों मे उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना असिद्ध है। यदि सिद्ध होता तो साध्य भी (सर्वज्ञता) सिद्ध रहता, फिर हेतु को देना ही बेकार है। अशेष ज्ञेय व्यापी प्रमाण प्रमेय व्यक्तिरूप यह हेतु सन्दिग्धान्वय वाला भी हो जाता है, क्योकि उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना दृष्टान्त मे—अग्नि में नही है। दूसरा पक्ष—हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का विषय रूप प्रमेयत्व ही सर्वज्ञ की प्रमेयत्व नामा हेतु सिद्धि करने वाले अनुमान मे दिया है ऐसा कहो तो वह हेतु असिद्ध दोष वाला होगा ? हमारे प्रमाण का प्रमेयत्व विवाद मे स्थित सूक्ष्मादि विषयो मे असभव है, यदि सभव होता तो हम जैसे के प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध ही होता, फिर विवाद होता ही नही। जिसमे विवाद नही है उस विषय मे हेतु का देना उपयोगी नही रहता। उभय व्यक्ति साधारण सामान्य प्रमेयत्व है अर्थात् सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनो के प्रमाणो का प्रमेयत्व है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नही, अत्यत विलक्षण स्वभावरूप अतीन्द्रिय विषय वाले प्रमाण का प्रमेयत्व और इन्द्रिय विषय वाले प्रमाणो का प्रमेयत्व इन दोनो मे साधारण सामान्यपन होना बिल्कुल असभव है, इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नही है।

सिद्धिरेव स्यात् । तत्र चाविवादान्न हेतूपन्यासः फलवान् । नाप्युभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्व-सामान्यं हेतु, अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणसामान्यस्यैवा-सम्भवात् । तन्नानुमानात्तत्सिद्धिः ।

नाप्यागमात्; सोपि हि नित्यः, अनित्यो वा तत्प्रतिपादकः स्यात् ? न तावन्नित्यः, तत्प्रतिपादकस्य तस्याभावात्, भावेपि प्रामाण्यासम्भवात् कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यप्रसिद्धेः । अनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः, पुरुषान्तरप्रणीतो वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—सर्वज्ञप्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततस्तत्प्रतिपादकत्वमिति । नापि पुरुषान्तरप्रणीत, तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रामाण्यात् । तन्नागमादप्यस्य सिद्धिः ।

नाप्युपमानात्; तत्खलूपमानोपमेययोरनवयवेनाध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदय-

---

आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ सिद्ध नही होता, इसीको बताते है, आगम प्रमाण दो प्रकार का है नित्य और अनित्य, इनमें से कौन सा आगम सर्वज्ञ का प्रतिपादन करता है, नित्य आगम सर्वज्ञ का प्रतिपादक है ऐसा कहना अशक्य है क्योकि ऐसा कोई नित्य आगम ही नहीं है कि जो उसका प्रतिपादक हो । यदि कोई है तो प्रामाणिक नही होगा, क्योंकि नित्य आगम (अपौरुषेय वेद) तो कार्य में प्रमाणभूत होता है । अनित्य आगम भी कौन सा है सर्वज्ञ प्रणीत है कि अन्यजन प्रणीत है ? सर्वज्ञ प्रणीत आगम सर्वज्ञ की सिद्धि करता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट दिखाई देता है—सर्वज्ञ प्रणीत आगम सिद्ध होने पर सर्वज्ञता सिद्ध होगी और उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ प्रणीत आगम सिद्ध होगा । अन्य किसी पुरुष के द्वारा प्रणीत आगम सर्वज्ञ को सिद्ध करता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, इस तरह के पुरुष के वाक्य प्रामाणिक नही होते, जैसे, उन्मत्त व्यक्ति के नही होते हैं । इस प्रकार आगम प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नही हुई । उपमा प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती, उपमा प्रमाण कब प्रवृत्त होता है सो बताते हैं—उपमा और उपमेय इनके पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष होने पर सादृश्य का अवलबन लेते हुए उपमा प्रमाण प्रवृत्त होता है अन्यथा नही होता अर्थात् उपमा और उपमेय मे से किसी का ग्रहण नही हुआ हो तो उपमा प्रमाण प्रवृत्त नही होता है, यदि मानें तो अतिप्रसग होगा, यहां उपमानभूत सर्वज्ञ है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध नही है, फिर उसके सदृश अन्य किसी में सर्वज्ञता उपमा प्रमाण से कैसे बताई जाय ? नही बता सकते ।

मासादयति; नान्यथातिप्रसङ्गात् । न चोपमानभूतः कश्चित्सर्वज्ञत्वेनाध्यक्षतः सिद्धो येन तत्सादृश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात्साध्येत ।

नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिः, सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातार्थस्य कस्यचिदभावात् । धर्माद्युपदेशस्य बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथापि भावात् । तथा चोक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।

[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११७]

दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ १ ॥ [ ]

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।

न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते ॥ २ ॥ [ ]

अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती । सर्वज्ञ के सद्भाव के विना जो अनुपपद्यमान हो ऐसा छह प्रमाणो से ज्ञात कोई पदार्थ ही नही है, अतः अर्थापत्ति से सर्वज्ञ सिद्ध नही होता है ।

भावार्थ—अर्थापत्ति प्रमाण के छह भेद हैं, प्रत्यक्ष पूर्विका अर्थापत्ति, १ अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति २ उपमा पूर्विका अर्थापत्ति ३ आगम पूर्विका अर्थापत्ति ४ अर्थापत्ति पूर्विका अर्थापत्ति ५ और अभाव पूर्विका अर्थापत्ति ६ इनमे नामो के अनुसार लक्षण पाये जाते हैं, इन सबका विशद वर्णन प्रथम भाग में हो चुका है । अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणो के द्वारा ज्ञात विषयो मे प्रवृत्त होती है, अतः यहा "प्रमाणषट्कविज्ञातार्थस्य" ऐसा पाठ है ।

सर्वज्ञ धर्मादि का उपदेश देता है अतः उसको मानते हैं ऐसा कहना भी बनता नही, धर्मोपदेश तो बहुत से व्यक्ति देते हैं । सर्वज्ञ के बिना भी वह हो सकता है, कोई कहे कि धर्म अधर्मरूप अदृष्ट का (पुण्य–पाप) उपदेश सर्वज्ञ देते हैं अतः उनको मानते हैं सो भी ठीक नही, इनका उपदेश अन्य भी देते हैं । सर्वज्ञाभाव को अन्यत्र भी कहा है—वर्तमान में हम लोगो को सर्वज्ञ दिखाई नही देता है, अनुमान से अतीतादिकाल मे सिद्ध करना चाहे तो उसका हेतु रूप एक देश दिखाई नही देता, जो उस सर्वज्ञ को सिद्ध कर देता ॥१॥ नित्य आगम सर्वज्ञ को सिद्ध नही करता, क्योकि यह आगम होम अनुष्ठान आदि को कहता है, मंत्रवाद आदि को कहता है, उससे सर्वज्ञ की सत्ता निश्चित नही हो सकती है ॥२॥ नित्य आगम वेद है उसमे

न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ।। ३ ।। [ ]
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ।। ४ ।। [ ]
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ? ।। ५ ।। [ ]
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्थिता ।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत सिद्धमूलान्तराहते ।। ६ ।। [ ]
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किन्न जानते ? ।। ७ ।।
सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ।। ८ ।। [ ]

अन्य अन्य अनुष्ठान आदि प्रधान अर्थ वाले वाक्य हैं, उन वाक्यों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता, जब तक अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व ज्ञात नही है तब तक उन वाक्यों का अनुवादन कर उससे सर्वज्ञ सिद्धि का अर्थ निकालना भी अशक्य है ।।३।। नित्य आगम तो अनादि है और सर्वज्ञ पुरुष आदिमान है, इसलिये भी उससे सर्वज्ञ सिद्ध होना संभव नही है । कृत्रिम–अनित्य आगम तो असत्य है, उससे सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? ।।४।।

सर्वज्ञ के वचन से अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम से हम जैसे को सर्वज्ञ प्रतीति मे आता है ऐसा कहना भी दोष भरा है ऐसे तो सर्वज्ञ और सर्वज्ञ प्रणीत आगम की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है ।।५।।

अन्योन्याश्रय दोष कैसे है सो बता रहे हैं कि सर्वज्ञ का कहा हुआ होने से उनके वचन प्रमाणभूत कहलायेगे और वचन प्रमाणिक होने से सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध होगा ? जब तक स्वयं सिद्ध नही है तब तक उससे अन्य की सिद्धि करना शक्य नही है ।।६।। मूल रहित अर्थात् प्रामाण्य रहित ऐसे असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि करेगे तो, अपने मन चले वाक्यों से भी सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? ।।७।। सर्वज्ञ के समान यदि कोई पुरुष वर्तमान में देखा जाता तो उपमा प्रमाण के द्वारा उस सर्वज्ञ की सिद्धि कर सकते थे ।।८।। धर्म अधर्मरूप अदृष्ट का प्रतिपादन सर्वज्ञ विना

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचरः ।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ यदि नाऽभवत् ।। ६ ।। [ ]
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषा वेदादसम्भवः ।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ।। १० ।। [ ]
ये तु मन्वादय सिद्धा प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ।। ११ ।।" [ ]

इति ।

न च प्रमाणान्तर सदुपलम्भक सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

मा भूदत्रत्येदानीन्तनास्मदादिजनाना (ना) सर्वज्ञस्य साधक प्रत्यक्षाद्यन्यतम देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिना केषाञ्चिद्भविष्यतीति चाऽयुक्तम्,

"यज्जातीयै प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्ट सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत् ।।"
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११३]

इत्यभिधानात् । तथा हि-विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणम् अत्रत्येदानीन्तन-प्रत्यक्षादिग्राह्यसजातोयार्थग्राहक तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहक वा न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

नही बन सकता, इस प्रकार की अर्थापत्ति से बुद्धादिक में सर्वज्ञता सिद्ध करना चाहे तो भी ठीक नही है ।।६।। बुद्ध आदिक पुरुष वेद को जानते नही अतः उनका उपदेश वेदकृत नही है वे तो सिर्फ व्यामोह या अज्ञानता से ही उपदेश देते हैं उस उपदेश से कुछ मतलब नही निकलता ।।१०।। त्रयीवेदी पुरुष मनु आदि के ग्रन्थो को मानते हैं, सो वे ग्रथ वेद से उत्पन्न हुए हैं अतः मान्य है ।।११।। इन प्रत्यक्षादि पाचो प्रमाणो को छोडकर अन्य कोई प्रमाण तो शेष नही रहा कि जो सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध कर सके । कोई जैन शका करे कि वर्तमान के हम जैसे जीवो के प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सर्वज्ञ की सिद्धि मत होवे किन्तु किसी देश वाले के किसी काल में होने वाले पुरुष विशेष के प्रमाण द्वारा तो सर्वज्ञ सिद्ध होवेगा ? सो यह अभिमत भी मान्य नही है, कहा है कि—वर्तमान मे जिस प्रकार की प्रमाण की जाति द्वारा जिन वस्तुओ का ग्रहण होता है वैसे ही तो अन्य देश तथा काल संबधी प्रमाण मे होता है, और क्या विशेषता होगी ? ।।१।। विवादास्पद किसी देश या काल मे होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण, यहा के वर्त्तमान-काल के प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जानने योग्य विषयों के ही सजातीय हैं उनसे अन्य विजातीय पदार्थ जो सर्वज्ञादिक है उनके ग्राहक नही है, क्योकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, जैसे वर्तमान काल के प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं ।

ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तथा साध्यते, अन्यथाभूत वा ? तथाभूत चेत्सिद्धसाधनम् । अन्यथाभूत चेदप्रयोजको हेतुः, जगतो बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्; तदसाम्प्रतम्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् । न च सिद्धसाधनमन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि—विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् । न गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः,

---

शंका—आपने इस अनुमान में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को पक्ष बनाया है सो जिस प्रकार का इन्द्रियादि से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षादिक है जो कि सर्वज्ञ आदि पदार्थों का असाधक देखा गया है ठीक वैसा ही विभिन्न देश और काल वाले प्रमाणो में सर्वज्ञ का असाधकपना सिद्ध करते है या कोई विभिन्न जाति का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में सर्वज्ञ का असाधकत्व सिद्ध करते हैं ? प्रथम विकल्प कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि वर्तमान का जैसा प्रत्यक्ष अतीतादि काल में होवे तो वह सर्वज्ञ को क्या सिद्ध करेंगे ? अन्य कोई जाति का प्रत्यक्ष है वह सर्वज्ञ का असाधक है ऐसा कहो तो हेतु अप्रयोजक होवेगा, जैसे कि जगत को बुद्धिमान सृष्टि कर्ता के द्वारा रचा हुआ सिद्ध करने में सन्निवेश विशिष्टत्व आदि हेतु देते हैं, वे अप्रयोजक होते हैं ? [जो हेतु सपक्ष में तो हो और पक्ष से हटा हो तथा "प्रतिनियत विषय का ग्राही होने पर" ऐसे विशेषण से उत्पन्न हुआ है निकट संबंध जिसमें वह हेतु अप्रयोजक कहलाता है]

समाधान—यह जैन की शका ठीक नही है, हम मीमासक सर्वज्ञ का असाधक प्रमाण मानते हैं वह प्रमाण वर्तमान जैसा है, ऐसा मानने में जो सिद्ध साधन दोष बताया वह ठीक नही है, इसी का खुलासा करते हैं—विवादाग्रस्त विभिन्न देश काल वर्ती प्रत्यक्षादि प्रमाण, इन्द्रियादि सामग्री की अपेक्षा से रहित नही हो सकते है, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, जैसे वर्तमान में यहां के जीवों को प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं, इस उपर्युक्त अनुमान में गृद्ध पक्षी के प्रत्यक्षज्ञान से अनैकान्तिकता भी नही आती अर्थात् गृद्धपक्षी, चीटी आदि जीवो का प्रत्यक्षज्ञान निकट देशादि में पदार्थों की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न होता है, तथा नक्तंचर—सिंह, बिलाव आदि जीवो को प्रकाश की अपेक्षा किये बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है अतः "प्रत्यक्षादि प्रमाण इंद्रिय सन्निहित पदार्थ तथा प्रकाशादि सामग्री की अपेक्षा लेकर ही

कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन, जैमिन्याद्यागमातिशयेन वा; तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधानसामग्री विशेषमन्तरेणासम्भवात्, अतीन्द्रियाननुमेयाद्यर्थाविषयत्वेन स्वार्थातिलङ्घनाभावात् । तथा चोक्तम्—

"यत्राप्यतिशयो दृष्ट स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तित (ता) ।। १ ।।

[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११४]

येपि सातिशया दृष्टा· प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ।। २ ।। [ ]

प्राज्ञोपि हि नर सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टु क्षमोपि सन् ।
सजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ।। ३ ।। [ ]

उत्पन्न होते हैं" ऐसा साध्ययुक्त पक्ष एव "प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व" हेतु बाधित होता है ? इस प्रकार की आशका करना ठीक नही है । तथा कात्यायनी आदि के मत का अतिशय युक्त आगम प्रमाण के साथ भी प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व नामा हेतु व्यभिचरित नही होता है, क्योकि ये सब प्रमाण इद्रियादि सामग्री से ही उत्पन्न होते हैं, इद्रियादि के बिना नही होते । वे प्रमाण भी इद्रिय से अतीत तथा अनुमान से अतीत ऐसे विषयो को ग्रहण नही कर सकते, क्योकि वे अपने विषयो का उल्लघन नही करते हैं । यही बात आगम मे लिखी है—

जिस किसी के इन्द्रियो में अतिशयपना दिखाई देता है वह अपने विषय का उल्लघन नही करते हुए ही दिखाई देता है, गृद्ध पक्षी के नेत्र दूर मे स्थित वस्तु को देखते हैं, तो केवल देखने का ही काम करते हैं ? कर्ण आदि अन्य अन्य इन्द्रियो के विषयो मे तो प्रवृत्त नही होते ? ।।१।। जिस किसी पुरुष विशेष मे प्रज्ञा, मेधा आदि का अतिशय देखा जाता है वह कुछ ही अतर को लिये हुए रहता है, अर्थात् किसी व्यक्ति मे अर्थ को समझने की शक्ति होती है उसे प्रज्ञाशाली कहते हैं, जिसमे शीघ्रता से पाठ याद करने की बुद्धि रहती है उसे मेधावी कहते हैं, किन्तु ये सब ज्ञान क्या इन्द्रियो के बिना हो सकते हैं ? अर्थात् नही हो सकते ।।२।। कोई बहुत ही बुद्धिमान पुरुष है जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ को समझता है, किन्तु इन्द्रिय ज्ञान के सजातीयता का उल्लंघन करके अन्य पुरुष से बढकर नही होता अर्थात् उसे भी इद्रिय जनित ज्ञान ही होता है ।।३।। किसी पुरुष मे एक व्याकरणादि विषयक शास्त्र का बहुत अधिक

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञान तन्मात्रेणैव लभ्यते ।। ४ ।। [ ]
ज्ञात्वा व्याकरण दूर बुद्धि: शब्दापशब्दयो: ।
प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।। ५ ।। [ ]
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्व ज्ञातुमर्हति ।। ६ ।। [ ]
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षम· ।। ७ ।। [ ]
दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तु शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।। ८ ।।" [ ]

इति ।

प्रसङ्गविपर्ययाभ्या चास्याशेषार्थविषयत्व बाध्यते, तथाहि—सर्वज्ञस्य ज्ञान प्रत्यक्ष यद्यभ्युप-

---

ज्ञान है, अभ्यास है, ठीक है, किन्तु वह अभ्यास का अतिशय उसी विषय में काम आयेगा, अन्य सिद्धातादि शास्त्रों का ज्ञान तो उससे हो नही सकता ।।४।। शब्द सबधी ज्ञान अर्थात् ये शब्द व्याकरण से सिद्ध है, सत्य हैं, और ये अशुद्ध है असत्य हैं इत्यादि व्याकरण संबधी ज्ञान को किसी ने प्राप्त किया है वह ज्ञान उस विषय के चरम सीमा तक भले ही पहुँचे किन्तु उस व्याकरण के ज्ञान से तिथि, नक्षत्र, ग्रहण आदि ज्योतिष सबधी शास्त्र का ज्ञान तो हो नहीं सकता ।।५।। तथा कोई बहुत बढिया ज्योतिषी है, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि का विशेष ज्ञान है, किन्तु वह ज्योतिषी "भवति" आदि पदो की सिद्धि करने मे तत्सबंधि विशेष बोध करने में समर्थ नही हो सकेगा ।।६।। इसी तरह जो भलो प्रकार से वेद, इतिहास, पुराणादि को अतिशयरूप से जानता है किंतु अदृष्ट स्वर्ग, देवता आदि को तो साक्षात् देख नही सकता ।।७।। जो व्यायाम प्रिय व्यक्ति आकाश मे दस हाथ उछलकर गमन कर सकता है, दस हाथ ऊचाई तक जिसकी छलाग जाती है, तो क्या वह सैकडो अभ्यास करने पर भी एक योजन की छलांग मार सकता है ! एक छलाग मे एक योजन जा सकता है ? अर्थात नही जा सकता ।।८।। सर्वज्ञ का ज्ञान सकल वस्तुओ को विषय करता है ऐसा जो जैन का हटाग्रह है वह प्रसग और विपर्यय से भी बाधित होता है । सर्वज्ञ के ज्ञानको प्रत्यक्ष रूप स्वीकार करते हैं तो वह धर्म अधर्म आदि को जान नही सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष

गम्यते तदा तद्धर्मादिग्राहक न स्याद्विद्यमानोपलम्भनत्वात् । विद्यमानोपलम्भन तत् सत्सम्प्रयोगजत्वात् । सत्सम्प्रयोगजं तत्, प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत् । तद्धर्मादिग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भन धर्मादेरविद्यमानत्वात् । तत्वे चासत्सम्प्रयोगजत्वे चाऽप्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम् ।

धर्मज्ञत्वनिषेधे चान्याशेषार्थप्रत्यक्षत्वेपि न प्रेरणाप्रामाण्यप्रतिबन्धो धर्मे तस्या एव प्रामाण्यात् । तदुक्तम्—

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यत्व लप्स्यते पुण्यपापयोः ।। १ ।।" [ ]

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुष केन वार्यते । २ ।।" [ ]

तो केवल विद्यमान की उपलब्धि कराता है, प्रत्यक्ष प्रमाण सप्रयोग से उत्पन्न होता है अत विद्यमान मात्र को ग्रहण करता है, इस ज्ञान को सप्रयोगज इसलिये मानते हैं कि वह प्रत्यक्ष नाम से कहा जाता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष शब्द से वाच्य होने से सप्रयोगज है । यदि सर्वज्ञ के ज्ञान को धर्म अधर्मादिका ग्राहक मानते हैं तो वह विद्यमान (वर्तमान) पदार्थ का ग्राहक नही बनेगा, क्योंकि धर्मादिक तो अविद्यमान है, इस तरह विद्यमान ग्राहक तथा संप्रयोजक न होवे तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह ही नही सकते, वह तो अप्रत्यक्ष या परोक्ष शब्द से कहा जायगा । कोई सर्वज्ञवादी इस प्रकार मानता हो कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्म अधर्म को (पुण्य पाप को) छोडकर अन्य अशेष पदार्थो को साक्षात् जानने वाला है ? सो इस तरह की मान्यता मे वेद की प्रमाणता मे कोई प्रतिबन्ध नही रहता है, धर्म आदि विषय मे तो वेद वाक्य ही प्रमाणता की कोटि मे आते हैं, इसी प्रकरण का निम्नलिखित श्लोकार्थ से खुलासा होता है । ससार भर मे जितने भी प्रमाता हैं उन प्रमाता सबधी प्रत्यक्षादिप्रमाण धर्म आदि विषय मे प्रवृत्त नही होते हैं अतः इन धर्म–अधर्म को जानने का अधिकार आगम प्रमाण को है आगम से ही पुण्य पाप का ज्ञान होता है अन्य प्रमाण से नही ।।१।। हम तो पुरुष मात्र मे पुण्य-पाप को जानने वाले का ही निषेध करते हैं, उनको छोडकर शेष सर्वको जानने वाला कोई पुरुष होवे तो हम मना नही करते । मतलब किसी भी जीवको धर्म अधर्म को छोड़कर अन्य शेष पदार्थों का ज्ञान होना शक्य है धर्म अधर्म को छोड अन्य सबको जानकर ही सर्वज्ञ बन जायगा ऐसा माने तो उसका निषेध नही है ।।२।।

किञ्च, अस्य ज्ञानं चक्षुरादिजनित धर्मादिग्राहकम्, अभ्यासजनितं वा स्यात्, शब्दप्रभवं वा, अनुमानाविर्भूतं वा ? प्रथमपक्षे धर्मादिग्राहकत्वायोगश्चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवज्ञानस्याप्यत्रैव प्रवृत्तेः। अथाभ्यासजनितम्, ज्ञानाभ्यासादिप्रकर्षतरतमादिक्रमेण तत्प्रकर्ष-सम्भवे सकलस्वभावातिशयपर्यन्त संवेदनमवाप्यते; इत्यपि मनोरथमात्रम्; अभ्यासो हि कस्य-चित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ तदुपदेशाद् ज्ञानाच्च दृष्टः। न चाशेषार्थोपदेशो ज्ञान वा सम्भवति। तत्सम्भवे किमभ्यासप्रयासेनाशेषार्थज्ञानस्य सिद्धत्वात्। अन्योन्याश्रयश्च–अभ्यासात्तज्ज्ञानम्, ततोऽभ्यास इति। शब्दप्रभवं तदित्यप्ययुक्तम्; परस्पराश्रयणानुषङ्गात्–सर्वज्ञप्रणीतत्वेन हि

भावार्थः—धर्मज्ञ और सर्वज्ञ के विषय में पर्याप्त चर्चा है, धर्मज्ञ शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो जो आत्मा के कल्याण का कारण है ऐसा क्रिया काण्ड रूप व्यवहार धर्म और दूसरा आत्मा के स्वभावरूप धर्म इस धर्म को जो जाने सो धर्मज्ञ इस अर्थ वाले धर्मज्ञ का यहा कथन नही है। दूसरा धर्मज्ञ शब्द का अर्थ–धर्म मायने पुण्य और उसी के उपलक्षण से उसका सहचरी अधर्म मायने पाप, इन पुण्य पाप को जो जानता है वह धर्मज्ञ है यही अर्थ यहा प्रकरण में इष्ट है, मीमासक का कहना है कि धर्मज्ञ तो कोई वन ही नही सकता, क्योकि धर्म अधर्म का ज्ञान मात्र वेद में है उस वेद को पढकर परोक्ष से भले ही शब्द मात्र में धर्म अधर्म को कोई जान लेवे, किन्तु इनका साक्षात ज्ञान तो किसी को भी नही होता, इन पुण्य पाप को छोड़कर अशेष पदार्थों को कोई जानने वाला होवे तो निषेध नही है उसको जैनादिक सर्वज्ञ नाम रख देते है तो ठीक है ऐसा सर्वज्ञ निषिध्य नही है, किन्तु "सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः" इस निरुक्ति के अनुसार सर्व में धर्म अधर्म पदार्थ भी आते है उनका किसी पुरुष के द्वारा जानना हो नहीं सकता अतः हम मीमासक सर्वज्ञ का निषेध करते है, जैन सर्वज्ञ को अतीन्द्रियदर्शी भी मानते हैं सो हमें इष्ट नहीं है क्योंकि विना इंद्रिय के ज्ञान नही हो सकता। अस्तु।

मीमांसक जैन से पूछते हैं कि सर्वज्ञ धर्म अधर्म को भी जानता है ऐसा आपका कहना है सो वह धर्मादि को जानने वाले सर्वज्ञ का ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों से उत्पन्न हुआ है, या अभ्यास से, कि शब्द प्रभव अर्थात् आगम से, अथवा अनुमान से उत्पन्न हुआ है ? चक्षु आदि इंद्रिय से सर्वज्ञ का ज्ञान उत्पन्न हुआ है और वह धर्मादि का ग्राहक है ऐसा कहना असंभव है, चक्षु आदि इन्द्रियां अपने प्रतिनियत रूप, रस आदि विषयो मे प्रवृत्त होती हैं धर्मादि विषयों में नही, अतः उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान

तत्प्रामाण्येऽशेषार्थविषयज्ञानसम्भवः, तत्सम्भवे चाशेषज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमिति। अभ्युपगम्यते च प्रेरणाप्रभवज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम्,

"चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमल नान्यत् किंचनेन्द्रियादिकम्" [शाबरभा० १।१।२] इत्यभिधानात्।

अनुमानाविर्भूतमित्यप्यसङ्गतम्, धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गस्य तेन सह सम्बन्धासिद्धेरसिद्धसम्बन्धस्य चाज्ञापकत्वात्।

किञ्च, अनुमानेनाशेषज्ञत्वेऽस्मदादीनामपि तत्प्रसङ्ग, 'भावाभावोभयरूप जगत्प्रमेयत्वात्'

भी उसी रूपादि का ग्राहक होगा। अभ्यास से कहना भी मनोरथ मात्र है। अभ्यास तो किसी व्यक्ति के प्रतिनियत शिल्पकला आदि मे उपदेश या ज्ञान से होता है, किंतु सपूर्ण विषयो का न तो कोई उपदेश ही दे सकता है और न किसी को उससे ज्ञान ही हो सकता है। यदि अशेषार्थ का उपदेश और ज्ञान होता तो अभ्यास का प्रयास ही व्यर्थ ठहरता क्योकि अशेषार्थ का ज्ञान तो हो चुका है ? तथा इसमे अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, अभ्यास से अशेषार्थ का ज्ञान होना और उस ज्ञान से अभ्यास होना इस प्रकार एक की भी सिद्धि नही होगी। आगम से धर्मादि को ग्रहण करने वाला ज्ञान होता है ऐसा कहना भी अन्योन्याश्रय दोष युक्त है सर्वज्ञ प्रणीत होने से आगम में प्रामाण्य आने पर तो अशेषार्थ का ज्ञान होना सभव होगा, और उसके संभव होने पर सर्वज्ञ के अशेषार्थ विषय का प्रणेतृत्व सिद्ध हो पायेगा। इस तरह दोनो ही असिद्ध रहेंगे। हम लोग वेद से जिनको ज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानी पुरुषो के धर्मज्ञपना तो स्वीकार करते ही हैं, अर्थात् यह बात पहले भी कही थी कि वेद से धर्म अधर्मादि का ज्ञान भले ही होवे किंतु साक्षात् ज्ञान नही हो सकता। वेद तो ऐसा पदार्थ है कि वह भूत, भविष्यत, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट इत्यादि जातीय पदार्थों को जानने मे बिलकुल पूर्ण समर्थ है, वेद को छोडकर अन्य इद्रियादि इस तरह के ज्ञान के कारण नही हो सकते, इस तरह शाबरभाष्य मे प्रतिपादन किया है। सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है ऐसा जैन कहते है उसमे हमने चार प्रश्न किये थे कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है सो वह इद्रिय जनित है, अभ्यास जनित है, आगम जनित है या अनुमान जनित है ? इनमे से पहले के तीनो विकल्प खण्डित हुए। अब चौथा विकल्प=अनुमान जनित ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है, सो यह कथन भी असत् है, धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनका ज्ञायक कोई हेतु हो नही सकता, क्योकि

इत्याद्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात् । अनुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वात्तज्जनितस्याप्यवैशद्य-सम्भवान्न तज्ज्ञानवान्सर्वज्ञो युक्तः ।

न च वक्तव्यम्–'पुन:पुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयत्तद्वैशद्यभाग् भविष्यति । दृश्यते चाभ्यासबलात्कामशोकाद्युपप्लुतज्ञानस्य वैशद्यम्' इति; तद्वदस्याप्युपप्लुतत्व-प्रसङ्गात् ।

किञ्च, अस्याखिलार्थग्रहणं सकलज्ञत्वम्, प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणं वा ? तत्राद्यपक्षे क्रमेण तद्ग्रहणम्, युगपद्वा ? न तावत्क्रमेण; अतीतानागतवर्त्तमानार्थानां परिसमाप्त्यभावात्तज्ज्ञानस्याप्य-परिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वायोगात् । नापि युगपत्; परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासा-

---

अतीन्द्रियार्थ के साथ हेतु का अविनाभाव सिद्ध होना अशक्य है, बिना अविनाभाव सबंध सिद्ध हुए हेतु साध्य का ज्ञायक (सिद्ध करने वाला) नही होता । दूसरी बात यह है कि अनुमान से अशेषार्थ का ज्ञान होना शक्य है तो हम जैसे व्यक्ति भी सर्वज्ञ बन सकते हैं, क्योकि हम लोग भी "यह जगत भाव, अभाव उभयरूप है, क्योकि वह प्रमेय है" इत्यादि अनुमान प्रमाण से सकलार्थ को जानते है यह भी बात है कि अनुमान ज्ञान तथा आगम ज्ञान ये तो अस्पष्ट होते हैं उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान विशद नही होता, अत: इस ज्ञान के धारक पुरुष सर्वज्ञ नही कहला सकते ।

कोई कहे कि आगम या अनुमान जनित ज्ञान की पुन: पुन: भावना करने से भावना की चरम सीमा होगी और उस भावना प्रकर्ष के होने पर योगी के ज्ञान पने को प्राप्त होता हुआ विशद् रूप से प्रगट होवेगा, देखा भी जाता है कि अभ्यास के बल से काम, शोक आदि से व्याप्त ज्ञान विशद् रूप से अनुभव मे आने लगता है ? सो यह कहना अयुक्त है, भावना ज्ञान के समान इस सर्वज्ञज्ञान में विशदता मानेंगे तो वह भावना के समान ही उपप्लत व्याहृत बन जायेगा ।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ की सर्वज्ञता संपूर्ण वस्तुओ को जानने वाली है या मुख्य मुख्य कुछ पदार्थों को जानने वाली है ? प्रथम पक्ष कहो तो वह सकलार्थ का ग्रहण क्रम से होता है या युगपत होता है ? क्रम से कहना नही, अतीत, अनागत, वर्तमान इन तीनो कालो मे होने वाले पदार्थो का क्रम से जानकर अत आ ही नही सकता, अत आये बिना पूरा सभी का ज्ञान नहीं होता और उसके बिना सर्वज्ञ बनता नही यह आपत्ति है । युगपत अशेष पदार्थों का ग्रहण होना भी शक्य नही है, परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले, शीत उष्ण आदि पदार्थों का एक ही ज्ञान मे एक साथ प्रतिभास

सम्भवात् । सम्भवे वा प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतीतिविरोध ।

किञ्च, एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद् द्वितीयक्षणेऽकिञ्चिज्ज्ञ' स्यात् । तथा परस्थरागादि-साक्षात्करणाद्रागादिमान्, अन्यथा सकलार्थसाक्षात्करणविरोधः ।

नापि प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणम्, इतरार्थव्यवच्छेदेन 'एतेषामेव प्रयोजननिष्पादक-त्वात्प्राधान्यम्' इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव घटते, नान्यथा । तच्च प्रागेव कृतोत्तरम् ।

कथ चातीतानागतग्रहण तत्स्वरूपासम्भवाद् ? असतो ग्रहणे तैमिरिकज्ञानवत्प्रामाण्याभावः । सत्त्वेन ग्रहणेऽतीतादेर्वर्त्त मानत्वम् । तथा चान्यकालस्यान्यकालतया वस्तुनो ग्रहणात्तज्ज्ञानस्याऽ-प्रामाण्यम् ।

होना असंभव है । यदि सभव माने तो उन पदार्थो के स्वभावो की विभिन्न प्रतीति नही आयेगी । जैनादिवादी का सर्वज्ञ एक ही क्षण मे सपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अत दूसरे आदि क्षणो मे वह असर्वज्ञ बन बैठेगा तथा अन्य रागी द्वेषी पुरुषो के विकारो को साक्षात करने से स्वय भी रागी द्वेषी हो जायगा । यदि सर्वज्ञ रागादि को जानते समय राग आदि रूप नही होता तो उसने सकलार्थ को साक्षात् ही क्या किया ? अर्थात् नही किया । मुख्य मुख्य कुछ पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ होता है ऐसा कहना भी युक्त नही है, जगत मे पदार्थ अनतानत हैं उनमे से अन्य का व्यवच्छेद करके अन्य ही किसी को जानना, इतने पदार्थ मुख्य हैं इन्ही से मोक्षादि प्रयोजन सिद्ध होते हैं, इत्यादि निश्चय तो सभी पदार्थों के जानने पर ही हो सकेगा ? अन्यथा नही, सभी पदार्थ का ज्ञान सभव नही है, इस विषय मे पहले ही जवाब दे चुके है ।

सर्वज्ञ अतीत अनागत पदार्थों को जानता है ऐसा कहते है किन्तु उन अतीतादि का ग्रहण कैसे होवे ? पदार्थ तो है नही, बिना होते असत् को ही ग्रहण करता है तब तो वह सर्वज्ञ का ज्ञान नेत्र रोगी के विपरीत ज्ञान के समान हुआ । उसमे प्रामाण्य सभव नही । यदि अतीत आदि को सत्ता रूप से ग्रहण करे तो अतीतादि वर्तमान रूप हो जायेंगे, इस प्रकार से अन्य काल के वस्तु को अन्य काल रूप मे ग्रहण करेगा तो वह ज्ञान अप्रमाण हो जायगा । तथा यह सर्वज्ञ सपूर्ण वस्तुओ को जानने वाला है ऐसा उसी के समय होने वाले अन्य असर्वज्ञ पुरुषो द्वारा किस प्रकार जाना जा सकेगा ? क्योकि असर्वज्ञ पुरुष सकलार्थ को जानते नही । कहा भी है—"यह सर्वज्ञ पुरुष है" ऐसा तत्कालीन पुरुष भी कैसे जान सकेंगे, क्योकि वे अन्य पुरुष सर्वज्ञ

कथं चासौ तद्ग्राह्याखिलार्थाज्ञाने तत्कालेप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते ? तदुक्तम्—

"सर्वज्ञोयमिति ह्येतत्तत्कालेपि बुभुत्सुभि. ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥ १ ॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्धयते ॥ २ ॥
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैव स्यान्न त प्रति ।
तद्वाक्याना प्रमाणत्व मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १३४-३६] इति ।

के ज्ञान को नही जानते हैं और न उसके ज्ञेयो को ही जानते हैं ॥१॥ सर्वज्ञ को तो सर्वज्ञ ही जान सकेगा ऐसा माने तो बहुत सारे सर्वज्ञ होवेंगे, क्योंकि असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञ को जान नही सकता ॥२॥ जिस किसी ने भी सर्वज्ञ को नही जाना हो वह उस सर्वज्ञ के वाक्य को प्रमाण नही मान सकता, क्योकि आगम का हेतु जो सर्वज्ञ है उसका ज्ञान नही हुआ है, जैसे रथ्या पुरुष के वाक्य को प्रमाण नही मानते हैं । इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती है उसके विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि भी नही होती, अतः हम मीमांसक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नही करते हैं ।

जैन—अब यहा मीमासकका सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने वाला मतव्य खण्डित किया जाता है—पूर्व पक्ष मे कहा कि सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों द्वारा सर्वज्ञ को नही जाना जाता है, सो यह बात असिद्ध है, सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमानादि प्रमाण मौजूद हैं । उसी अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—कोई आत्मा सकल पदार्थों को साक्षात जानने वाला है क्योकि उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर उसके प्रतिवधक कर्मों का अभाव हो चुका है, जो जिसके ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर प्रक्षीणावरण बन जाता है वह उसका साक्षात जानने वाला होता ही है, जैसे तिमिर आदि रोग का नाश होने पर नेत्र ज्ञान रूप को साक्षात जानता है, किसी आत्मा में सकल पदार्थों का ग्रहण करने का स्वभाव होकर साथ ही आवरण कर्म का नाश भी हो गया है । आत्मा मे सकल पदार्थो का साक्षात करने का स्वभाव असिद्ध भी नही है । चोदना अर्थात् वेद के बल से अखिल पदार्थों के ज्ञानोत्पत्ति की अन्यथानुपपत्ति से ही वह स्वभाव सिद्ध हो जाता है ।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्व साधनम्; तदसिद्धम्, तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादे सद्भावात्। तथाहि-कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय तत्तत्साक्षात्कारि यथापगततिमिरादिप्रतिबन्ध लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति। न तावत्सकलार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्; चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेस्तस्यतत्सिद्धेः, 'सकलमनेकान्तात्मक सत्त्वात्' इत्यादिव्याप्तिज्ञानोत्पत्तेर्वा। यद्धि यद्विषय तत्तद्ग्रहणस्वभावम् यथा रूपादिपरिहारेण रसविषयं रासनविज्ञान रसग्रहणस्वभावम्, सकलार्थविषयश्चात्मा व्याप्त्यागमज्ञानाभ्यामिति। सोय

"चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्त विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमल पुरुषात्" [शाबरभा० १।१।२] इति स्वय ब्रुवाणो विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धन साकल्येन व्याप्तिज्ञान च प्रतिपद्यमान सकलार्थग्रहणस्वभावतामात्मनो निराकरोतीति कथ स्वस्थ? प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्व च प्रागेव प्रसाधितत्वान्नासिद्धम्।

भावार्थ—मीमांसक वेद के द्वारा सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं अत आत्मा मे सकल पदार्थों को साक्षात करने का स्वभाव अपने आप सिद्ध हो जाता है, क्योकि आत्मा मे वैसा स्वभाव है तभी तो वेदाध्ययन से पूर्ण ज्ञान होता है, आत्मा मे यह गुण नही होता तो वेद से क्या ज्ञान हो सकता था ? नही हो सकता था। "ससार के सभी पदार्थ अनेकात स्वभाव वाले हैं, क्योकि वे सत्यरूप है" इत्यादि व्याप्ति ज्ञान से भी आत्मा के सकलार्थ ग्राहक स्वभाव की सिद्धि होती है। आत्मा सपूर्ण वस्तुओ को ग्रहण करने के स्वभाव से युक्त है, क्योकि सकलार्थ विषय वाला है, जो जिसका विषय होता है वह उसके ग्रहण करने के स्वभाव के कारण ही होता है, जैसे रस सबंधी ज्ञान रूपादि का परिहार करके मात्र रस को जानता है वह उसके जानने का स्वभाव होने के कारण ही है, अत व्याप्ति ज्ञान और आगम ज्ञान के द्वारा आत्मा सकलार्थ को जानने वाला है इतना तो मीमासक कहते ही हैं अर्थात् वेद भूत, भावी, वर्तमान, विप्रकृष्ट इत्यादि विषयो को जानने मे पुरुषो को समर्थ करता है, ऐसा स्वयं कह रहे हैं तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा विधि निषेध मुख से तत् तत् विषयक साध्य साधन का पूर्ण ज्ञान होना भी बता रहे हैं, और फिर भी आत्मा मे सकलार्थ ग्रहण स्वभाव का निराकरण करते हैं सो वे कैसे स्वस्थ कहलायेगे ? आत्मा के प्रतिबधक आवरण कर्म का क्षय होता है इस विषय को तो पहले ही सिद्ध कर चुके हैं,

साध्यसाधनयोश्च प्रतिबन्धो न प्रत्यक्षानुमानाभ्या प्रतिज्ञायते येनोक्तदोषानुषङ्ग. स्यात्, तर्काख्यप्रमाणान्तरात्तत्सिद्धेः।

यच्चाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुर्न प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम्; तदप्यपेशलम्, न हि सर्वज्ञोत्र धर्मित्वेनोपात्तो येनास्यासिद्धेरय दोष·। किं तर्हि? कश्चिदात्मा। तत्र चाविप्रतिपत्ते.। न चापक्षधर्मस्य हेतोरगमकत्वम्,

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते।।" [ ]

इति स्वयमभिधानात्।

यदप्युक्तम्–सत्तासाधने सर्वो हेतुस्त्रयी दोषजातिं नातिवर्त्तत इति; तत्सर्वानुमानोच्छेदकारित्वादयुक्तम्, शक्य हि वक्तु धूमत्वादिर्यद्यग्निमत्पर्वतधर्मस्तदाऽसिद्धः को हि नामाग्निमत्पर्वतधर्मं हेतुमिच्छन्नग्निमत्त्वमेव नेच्छेत्। तद्विपरीतधर्मश्चेद्विरुद्ध, साध्यविरुद्धसाधनात्। उभयधर्म-

---

अतः वह असिद्ध नही तथा सर्वज्ञ रूप साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है इस तरह हम स्वीकार नही करते है, हम तो तर्क नामा एक प्रथक प्रमाण मानते है उसी के द्वारा अविनाभाव सबध जाना जाता है अतः वे अनवस्थादि दिये हुए दोप लागू नही हो सकते।

जिस हेतु का पक्ष धर्मत्व नामा गुण नही जाना है वह प्रतिनियत साध्य की सिद्धि का कारण नही हो सकता है ऐसा कहा वह गलत है, हमने इस अनुमान में सर्वज्ञ को धर्मी नही बनाया है जिससे उसकी असिद्धि से यह दोष आवे। हम तो किसी एक आत्मा को पक्ष बना रहे हैं. उसमे किसी का विवाद नही है, तथा आप हेतु में पक्ष धर्मत्व नही होना दोप बता रहे हैं वह भी ठीक नही है, पक्ष धर्मत्व रहित हेतु भी अगमक नही होता, माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र की ब्राह्मणता का अनुमान हो जाता है यह सर्व लोक प्रसिद्ध बात है यहां पक्ष धर्मत्व की अपेक्षा नही है। ऐसा आप स्वय मानते है। और भी जो कहा है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु होगे वे सभी असिद्धादि तीन दोषों से रहित-नही होवेंगे? सो यह कथन सपूर्ण अनुमानो का विच्छेद करने वाला होने से अयुक्त है, कोई कह सकता है कि धूमत्व आदि हेतु यदि अग्निमान पर्वत का धर्म है तो वह असिद्ध दोष युक्त होगा? क्योकि ऐसा कौन

श्चेद्वयभिचारी सपक्षेतरयोर्वर्त्तनात् । विमत्यधिकरणभावापन्नधर्मिधर्मत्वे धूमवत्त्वादे सर्वं सुस्थम् । यथा चाचलस्याचलत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धाग्निमत्त्वादिसाध्यधर्मस्य धर्मो हेतुर्न विरुध्यते, तथा प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणो धर्म प्रकृतो हेतु कथं विरुध्येत ?

यदपि अविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते विशेषेण वेत्याद्यऽभिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; सामान्यतस्तत्साधानात्तत्रैव विवादात् । विशेषविप्रतिपत्तौ पुनर्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्त्वादर्हत एवाशेषार्थ-

---

बुद्धिमान है कि जो अग्निमान पर्वत का धर्म रूप हेतु को मानकर उसमे अग्निमानत्व नही होगा ? अर्थात् पर्वत अग्निवाला सिद्ध है तो उसका धर्म धूमत्व भी सिद्ध है, अतः उस पर हेतु से अग्नित्व सिद्ध करना बेकार है। तथा धूमत्व हेतु अग्निरहित पर्वत का धर्म है तो विरुद्ध होगा क्योकि साध्य को विरुद्ध सिद्ध करने वाला है ? अग्निमान और अनग्निमान दोनो प्रकार के पर्वतो का धर्मत्व रूप धूमत्व हेतु है तो व्यभिचारी बन बैठेगा ? क्योकि सपक्ष और विपक्ष दोनो मे रह गया। यदि किसी एक विवाद ग्रस्त धर्मी स्वरूप पर्वत का धर्म धूमत्व हेतु है ऐसा मानते हैं तब तो सब ठीक हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत स्थिरपना, स्थूलपना आदि रूप अपने स्वरूप से प्रसिद्ध है उसमे सन्दिग्ध अग्निमान है उसको पक्ष बनाते हैं तो पक्ष का धर्म रूप जो धूमत्व हेतु है वह विरुद्ध नही पडता है, क्योकि पर्वतरूप पक्ष अपने पर्वत पने से तो प्रसिद्ध सत्ता वाला ही है, बिल्कुल उसी प्रकार सर्वज्ञत्व की सिद्धि मे आत्मत्व, अमूर्तत्व आदि विशेषणो से प्रसिद्ध सत्ता वाला पुरुष विशेष है, उसमे केवल सर्वज्ञपना सदिग्ध है, उसको साध्य बनाकर "तद् ग्रहण स्वभावत्वे सति प्रक्षीण प्रतिबंध प्रत्ययत्वात्" हेतु को प्रयुक्त करते हैं तो यह हेतु किस प्रकार विरुद्ध पडेगा ? अर्थात् नही पड सकता है।

विशेषार्थः—सर्वज्ञ सिद्धि मे जो कोई हेतु देवे तो वह धर्मी असिद्ध होने से असिद्ध ही कहलायेगा ऐसा मीमासक ने कहा था सो उसको आचार्य ने समझाया कि ऐसा कहने से प्रसिद्ध प्रसिद्ध धूमत्वादि हेतु असिद्ध होवेगे फिर तो अनुमान नामक चीज ही खतम हो जायगी। "यहा पर्वत पर अग्नि है क्योकि धूम है" इस जगत प्रसिद्ध अनुमान मे पर्वत धर्मी है वह पर्वतपने से तो सिद्ध ही है और अग्निमानपने से असिद्ध है सो इतने मात्र से उसे कोई असिद्ध धर्मी नही मानते, उसी प्रकार कोई आत्मा सकल पदार्थों का साक्षात करने वाला है इत्यादि अनुमान मे पक्ष या धर्मी "कोई

ज्ञत्व सेत्स्यति । कथं वा तत्प्रतिषेध' अत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् ? अर्हतो हि तत्प्रतिषेधसाधनेऽप्रसिद्धविशेषण' पक्षो व्याप्तिश्च न सिध्येत्, दृष्टान्तस्य साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्, स एव दोषो बुद्धादेः परस्यासिद्धे:, अनिष्टानुषङ्गश्चार्हतस्तदप्रतिषेधात् । सामान्यतस्तत्प्रतिषेधे सर्वं सुस्थम् ।

यच्चोक्तम्—एकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतं प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थानां प्रत्यक्षत्वसाधनात् ।

आत्मा" यह है सो आत्मत्व आदि धर्म से पहले से ही प्रसिद्ध है, अब उसमें सर्वज्ञत्व सिद्ध करना है वह प्रक्षीणावरणत्व इत्यादि हेतु से सिद्ध करेंगे, सो इस हेतु को असिद्ध कहना बनता नहीं, यदि सर्वज्ञ को पक्ष बनाते तब तो वह असिद्ध है और उसके असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध धर्मवाला कहलाता, इस प्रकार प्रक्षीणावरणत्व आदि हेतु को धूमत्व हेतु के समान निर्दोष सिद्ध किया है । मीमासक ने पूछा था कि सामान्य से कोई एक सर्वज्ञ सिद्ध करना है कि विशेष से निश्चित किसी पुरुष विशेष को सर्वज्ञ सिद्ध करना है, सो यह प्रश्न भी ठीक नहीं, हम प्रथम तो सामान्य से ही सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि सर्वज्ञपने मे ही अभी विवाद है । जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब विशेष प्रतिपत्ति के लिये उसको सिद्ध करते है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के अविरोधी वचन बोलने वाले होने से अर्हंत देव ही सर्वज्ञ हैं, उसी मे सकलार्थ साक्षात्कारित्व हो सकता है । आप मीमासक सर्वज्ञ का प्रतिषेध करते है उसमे जो अनुमान उपस्थित करते है उसमें भी वही सर्वज्ञ सिद्धि वाले अनुमान के दोष आते हैं । इसी का खुलासा करते हैं—अर्हत को पक्ष बनाते हैं तो वह अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जायगा अर्थात् अर्हत सर्वज्ञ नही है क्योकि वह पुरुष है, जैसे रथ्यापुरुष है । अब आपके इस अनुमान प्रयोग मे पक्ष अर्हत को बनाया, हेतु पुरुषत्व, और साध्य सर्वज्ञ नही, तथा दृष्टान्त रथ्या पुरुष है, इसमें अर्हंत नामा जो पक्ष है वह प्रसिद्ध नही होने से अनुमान सदोष पक्ष वाला हुआ तथा इसमें व्याप्ति भी सिद्ध नही है कि जो जो पुरुष हो वह वह अर्हंत होकर सर्वज्ञ न हो इस तरह की व्याप्ति नही होने से दृष्टान्त साध्य से विकल ठहरता है । इसी तरह अनर्हन्त (बुद्धादि) को पक्ष बनाते है तो वही दोष आयेगा क्योंकि आपके यहा बुद्ध आदि को माना नही, तथा अनिष्ट बात भी सिद्ध होगी अर्थात् "अनर्हन्त सर्वज्ञ नही है" ऐसा कहने से अर्हन्त के सर्वज्ञत्व का निषेध नही रहेगा । क्योंकि आपने अनर्हन्त को पक्ष बनाकर उसमे

प्रसिद्धे च तेषां सामान्यत कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्यक्षस्यैकत्वमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वात्सिध्येत्, तदपेक्षस्यैवास्यानेकत्वप्रसिद्धेः। तदनपेक्षत्व च प्रमाणान्तरात्सिद्धयेत्, तथाहि-योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्. यत्पुनरिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तथा च योगिनः प्रत्यक्षम्, तस्मात्तथेति।

किञ्च, एव साध्यविकल्पनेनानुमानोच्छेदः। शक्यते हि वक्तुम्-साध्यधर्मिधर्मोऽग्नि. साध्य-

---

सर्वज्ञता का निषेध किया है। यदि सामान्य से कोई भी आत्मा सर्वज्ञ नही है ऐसा पक्ष बनाते है तो बात बनती है, सो तुम्हारे सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि करने मे अनुमान प्रयोग की जैसी बात है वैसी हमारे सर्वज्ञ की सिद्धि करने मे अनुमान की बात है, सर्वज्ञ सिद्धि वाले अनुमान मे जो दोष देंगे तो वही दोष आपके सर्वज्ञ के अभाव सिद्धि वाले अनुमान मे आयेंगे।

एक ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना इष्ट है अथवा नियत विषय वाले अनेक ज्ञानो से सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना इष्ट है ? इत्यादि सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय मे कहना था वह अयुक्त है, किसी एक प्रत्यक्ष को सामान्य से सूक्ष्मादि अर्थों का प्रकाशक साधा है, प्रत्यक्ष सामान्य से उन सूक्ष्मादि पदार्थों का ग्रहण होना सिद्ध करके फिर उसमे एकत्व सिद्ध करेंगे कि यह ज्ञान इन्द्रिय मन आदि की अपेक्षा नही रखता अतः सूक्ष्मादि पदार्थो का प्रकाशक एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा रखता है वही अनेक प्रकार का होता है यह बात प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियादि की अपेक्षा नही है इस बात का निर्णय तो दूसरे प्रमाण से सिद्ध करके बता सकते हैं, योगी (सर्वज्ञ या दिव्यज्ञानी) का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिया और मन की अपेक्षा से रहित है, (पक्ष) क्योकि वह सूक्ष्मादि विषयो को जानता है (हेतु) जो इद्रिय तथा मन की अपेक्षा से युक्त है वह सूक्ष्मादि को नही जानता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है, योगी प्रत्यक्ष सूक्ष्मादि का ग्राहक है अतः इन्द्रियादि की अपेक्षा से रहित है। दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है या अनेक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न किये हैं उससे तो अनुमान का ही उच्छेद होता है। अन्य अग्नि आदि साध्य मे तुम्हारे जैसे प्रश्न कर सकते हैं कि साध्य धर्मी के अर्थात् पक्ष के धर्म रूप अग्नि को साध्य बनाया है अथवा दृष्टान्त धर्मी के धर्म को ? या उभय=दृष्टात और पक्ष दोनो के धर्म को ? प्रथम पक्ष

त्वेनाभिप्रेत', दृष्टान्तधर्मिधर्मः, उभयधर्मो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतु, तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मेणाग्निना धूमस्य व्याप्तिप्रतीते । साध्यविकलश्च दृष्टान्त स्यात् । द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षादि-विरोधः । अथोभयगताग्निसामान्य साध्यते तर्हि सिद्धसाध्यता ।

यच्चान्यदुक्तम्–प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्व-व्यक्तिस्वरूपं वेत्यादि, तद्धूमादिसकलसाधनोन्मूलनहेतुत्वान्न वक्तव्यम् । तथाहि–साध्यधर्मिधर्मो धूमो हेतुत्वेनोपात्त , दृष्टान्तधर्मिधर्मो वा स्यात्, उभयगतसामान्यरूपो वा ? साध्यधर्मिधर्मत्वे दृष्टान्ते तस्याभावादनन्वयो हेतुदोषः । दृष्टान्तधर्मिधर्मत्वे साध्यधर्मिण्यभावादसिद्धता । उभयगतसामान्यरूप-

---

मे धूम हेतु विरुद्ध होगा, क्योकि साध्य धर्मी के विरुद्ध दृष्टान्त धर्मी में उसका धर्म जो अग्नि है उसके साथ धूम हेतु की व्याप्ति देखी जाती है महानस का दृष्टान्त भी साध्य विकल होवेगा । द्वितीय पक्ष मे तो प्रत्यक्षादि से ही विरोध आयेगा तथा तीसरा पक्ष वचा लेते है अर्थात् पर्वत और रसोई घर दोनो मे स्थित अग्नि सामान्य को साध्य बनाते है, तो सिद्ध साध्यता है ।

विशेषार्थ —इस पर्वत पर अग्नि है, क्योकि धूम निकल रहा है जैसे रसोई घर । यह अनुमान है इसमे साध्य अग्नि है उसके विषय मे कोई वेकार के प्रश्न करे कि अग्नि को जो साध्य बनाया है वह कौनसी अग्नि है ? पर्वत पर होने वाली या रसोई घर मे होने वाली ? पर्वत पर की अग्नि को साध्य बनाते है तो धूमत्व हेतु विरुद्ध पडता है क्योकि वह दृष्टान्त मे स्थित अग्नि के साथ व्याप्ति नही रखता है । यदि दृष्टान्त की अग्नि को साध्य बनाते है तो प्रत्यक्ष से विरोध होगा क्योकि पर्वत पर अग्नि है ऐसा कहते जा रहे है और अग्नि तो रसोई घर की इष्ट है इत्यादि । पर्वत और महानस दोनो मे स्थित मात्र अग्नि सामान्य को साध्य वनाना तो वेकार है ? अग्नि सामान्य तो सिद्ध ही है सो ये सब बेकार के प्रश्न अनुमान का नाश कर देते है, ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सिद्धि के अनुमान मे किसको साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न अनुमानोच्छेदक है । मीमासक ने पूछा था कि अशेष ज्ञेय व्यापि प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको हेतु बनाया है अथवा हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको वनाया है ? सो इस पर हम जैन का कहना है कि ये प्रश्न भी सपूर्ण जगत प्रसिद्ध धूमत्व आदि हेतुओ का नाश करने वाले हैं, इसी का खुलासा करते है—पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने में धूम हेतु देते है वह धूम कौन सा है साध्य धर्मी का धर्म है या दृष्टान्त धर्मी का धर्म है, अथवा उभयगत धर्म है ? साध्य धर्मी के धर्म को हेतु

त्वेप्यसिद्धतैव, प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वेनात्यन्तविलक्षणमहानसाचलप्रदेशव्यक्तिद्वयाश्रितसामान्यस्यैवासम्भवात्। अथ कण्ठाक्षिविक्षेपादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यान्न महानसाचलप्रदेशाश्रितधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यं येनोभयगतसामान्यासिद्धेरसिद्धता स्यात्, तर्हि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वादिधर्मकलापसाधर्म्यस्यातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणव्यक्तिद्वयेऽत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य सम्भवादुभयसाधारणसामान्यसिद्धेः कथं प्रमेयत्वसामान्यस्यासिद्धिः ?

यच्चेदमुक्तम्–प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां चास्याशेषार्थविषयत्वं बाध्यते इत्यादि, तन्मनोरथमात्रम्, साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते

बनावे तो दृष्टान्त मे उसका अभाव होने से अनन्वयी नामा सदोष हेतु कहलायेगा। दृष्टान्त धर्मी के धर्म को हेतु बनावे तो साध्य धर्मी मे उसका अभाव होने से वह असिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। उभयगत सामान्य धर्म को हेतु बनावे तो भी असिद्ध नामा हेत्वाभास दोष आता है, कैसे सो बताते है— महानस और पर्वत के प्रदेश प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो तरह के है अर्थात् महानस प्रत्यक्ष है और पर्वतगत अग्निप्रदेश अप्रत्यक्ष है अत पृथक है, इन दोनो मे रहने वाला सामान्य सम्भव नही है।

शका—मानस का धूम हो चाहे पर्वत का दोनो कठ तथा नेत्र मे विक्षेप करना आदि धर्म समूह से युक्त होते है अत इनमे अत्यन्त वैलक्षण्य नही है इसलिये धूम हेतु उभयगत सामान्य से रहित होने से असिद्ध हेत्वाभास है ऐसा कहना ठीक नही ?

समाधान—तो फिर अतीन्द्रियविपयक प्रमाण हो चाहे इन्द्रियविषयक प्रमाण हो दोनो मे स्व और अपूर्वार्थ का निश्चय करना आदिरूप समान धर्मसमूह है, अत अत्यन्त वैलक्षण्य तो इनमे भी नहीं है, उभयगत सामान्य की दोनो ज्ञानोमे सिद्धि है, इसलिये उनमे प्रमेयत्व सामान्य की किसप्रकार असिद्धि हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती।

सर्वज्ञ के ज्ञानको अशेषपदार्थ को विषय करने वाला मानना प्रसग और विपर्यय से बाधित होता है इत्यादि मीमासक का कथन मनोरथ मात्र है पहले प्रसग साधन और विपर्यय किसे कहते हैं इस बात को देखे, साध्य और साधन मे व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होने पर जहा व्याप्य स्वीकार किया वहा व्यापक अवश्य स्वीकार करना होगा ऐसा दिखाना "प्रसग साधन" अनुमान कहलाता है। तथा व्यापक के निवृत्त होने पर [हट जाने पर] व्याप्य भी निवृत्त होता है ऐसा दिखाना "विपर्यय"

तत्प्रसङ्गसाधनम् । व्यापकनिवृत्तौ चावश्य भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्यय । न च प्रत्यक्षत्व-सत्सम्प्रयोगजत्वविद्यमानोपलम्भनत्वधर्माद्यनिमित्तत्वाना व्याप्यव्यापकभाव· क्वचित् प्रतिपन्न । स्वात्मन्येवासौ प्रतिपन्न इत्यप्यसङ्गतम्, चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवप्रत्यक्षस्याव्यवहितदेशकालस्वभावा-विप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिविषयत्वाभ्युपगमात्, नियमस्य चाभावाद्विप्रकृष्टार्थग्राहकेपि प्रत्यक्षशब्दवाच्य-त्वदर्शनात् । तथाहि—अनेकयोजनशतव्यवहितार्थग्राहि वैनतेयप्रत्यक्ष रामायणादौ प्रसिद्धम्, लोके चातिदूरार्थग्राहि गृध्रवराहादिप्रत्यक्षम्, स्मरणसव्यपेक्षेन्द्रियादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष च कालविप्रकृष्ट-स्यातीतकालसम्बन्धित्वस्यातीतदर्शनसम्बन्धित्वस्य च ग्राहि पुरोवस्थितार्थे भवतैवाभ्युपगम्यते ।

कहलाता है । इस प्रकार के प्रसग और विपर्यय की यहा अशेषार्थ—विषयत्व आदि मे उपस्थिति नही है क्योकि यहा प्रत्यक्षत्व और सत्सप्रयोगजत्व इन दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव है ऐसा कही जाना नही गया है, ऐसे ही विद्यमानोपलभतत्व और धर्मादि अनिमित्तत्व इन दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव भी निश्चित नही है, जिससे कि एक के होने पर दूसरा होना भी जरूरी है और एक के नही होने पर दूसरा भी नही होना जरूरी है ।

शका — प्रत्यक्षत्व और सप्रयोगजत्व का व्याप्य-व्यापक भाव अपने मे ही जाना हुआ है ?

समाधान —यह कथन असगत है, चक्षु आदि इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यहित देश, काल, स्वभाव और अविप्रकृष्ट नियत रूपादि विषय को जानता है, किंतु सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष तो ऐसा नही है । यह भी नियम नही है कि जो निकटवर्ती देश काल आदि को जाने वही प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा वाच्य हो, दूरवर्ती देशादि विषयो को जो जाने उसे भी प्रत्यक्ष कहते है कैसे सो बताते है - आपके यहा ही रामायणादि मे कथन पाया जाता है कि अनेक योजनो दूर देश मे स्थित पदार्थ को वैनतेय (गरुड) देख लेता था । लोक मे भी देखा जाता है कि गृध्र वराह आदि जीव दूर दूर के वस्तु का ज्ञान कर लेते है । स्मरण की जिसमे अपेक्षा है तथा जो इन्द्रियादि से उत्पन्न हुआ है ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामा प्रत्यक्ष भी आपने माना है वह प्रत्यभिज्ञान काल से दूर अतीत काल सबधी वस्तु का या अतीत दर्शन सबधी का ग्राहक ज्ञान पुरोवर्ती पदार्थ मे प्रवृत्त होता है ऐसी आपकी मान्यता है । अत निकट देशादि को जानने वाला इन्द्रिय ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य है ऐसा कहना असत्य है । प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नही करेगे तो आपका निम्नलिखित ग्र थ का कथन विरुद्ध होगा कि—प्रत्यभिज्ञान का

अन्यथा—

"देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मिते ।
इदानीन्तनमस्तित्व न हि पूर्वधिया गतम् ॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० २३३-३४]

इत्यादिना तस्यागृहीतार्थाधिगन्तृत्व पूर्वापरकालसम्बन्धित्वलक्षणनित्यत्वग्राहकत्व च प्रतिपाद्यमान विरुध्येत । प्रातिभ च ज्ञान शब्दलिङ्गाक्षव्यापारानपेक्ष 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्याद्याकारमनागतातीन्द्रियकालविशेषणार्थप्रतिभास जाग्रद्दशाया स्फुटतरमनुभूयते ।

किञ्च, धर्मादेरतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनानुपलम्भ , अविद्यमानत्वाद्वा स्यात्, अविशेषणत्वाद्वा ?

विषय यद्यपि पूर्व प्रमाण से गृहीत है किन्तु उसमे देश, कालादि के निमित्त से अपूर्वार्थ विषय रहता है, क्योकि पूर्व प्रमाण से वर्तमान मे इस समय का अस्तित्व ग्रहण नही होता ॥१॥ इस प्रकार से उस प्रत्यभिज्ञान मे अनधिगतार्थगन्तृत्व सिद्ध होता है, तथा यह ज्ञान पूर्वकाल और उत्तरकाल मे अवस्थित नित्य वस्तु का ग्राहक है, इत्यादि कथन अन्यथा विरुद्ध होगा । एक प्रतिभा ज्ञान होता है जिसमे हेतु, आगम, इन्द्रियादि की अपेक्षा नही रहती । जैसे "कल मेरा भाई आयगा" इत्यादि रूप प्रतिभाज्ञान होता है यह ज्ञान अनागत को विषय कर रहा है, तथा अतीन्द्रिय काल विशेषणार्थ का प्रतिभास कराता हुआ जाग्रत दशा मे ही स्पष्ट रूप से अनुभव मे आता है, सो ये सब प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, प्रतिभाज्ञान इन्द्रियो से रहित अनागतादि के ग्राहक माने हैं कि नही ? ऐसा ही सकलार्थग्राही अतीन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान भी मानना होगा । मीमासक का खास करके धर्म–अधर्म की उपलब्धि मे विवाद है कि वे दोनो प्रत्यक्ष आदि से गम्य नही हैं, सो इस पर जैन पूछते है कि धर्म–अधर्म नामा पदार्थ अतीन्द्रिय होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियो से उपलब्ध नही होते कि अविद्यमान होने से, अथवा विशेषण रहित होने से ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, क्योकि आपने अभी स्वीकार किया है कि प्रत्यभिज्ञानादिक अतीन्द्रिय ऐसे अतीत कालादि को ग्रहण करते है । अविद्यमान होने से धर्म–अधर्म उपलब्ध नही होते ऐसा दूसरा विकल्प कहना भी गलत है, जिस तरह अतीत कालादिक अविद्यमान होकर भी ज्ञान से उपलब्ध होते है वैसे भावी कालीन धर्म–अधर्म भी उपलब्ध हो सकते है । विशेषण रहित होने से धर्म–अधर्म का अनुपलभ है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नही, सकल प्राणियो के उपभोग्य वस्तुओ का जनक तथा द्रव्य, गुण, कर्म से जन्य होने से धर्म–अधर्म मे तो सकलार्थ के विशेषण

न तावदाद्य· पक्ष·; अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेरुपलम्भाभ्युपगमात् । नाप्यविद्यमानत्वात्, भाविधर्मादेरतीतकालादेरिवाविद्यमानत्वेप्युपलम्भसम्भवात् । अविशेषणत्व तु तस्यासिद्ध सकललोकोपभोग्यार्थजनकत्वेन द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन चास्याखिलार्थविशेषणत्वसम्भवात् । अतीताद्यतीन्द्रियकालादेरिवास्यापि विशेषणग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणोपपत्ते·. कथ धर्म प्रत्यस्यानिमित्तत्वसाधने प्रसङ्ग विपर्यग्रसम्भव ? प्रश्नादिमन्त्रादिना च सस्कृत चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टार्थस्य द्रव्यविशेषसस्कृतं च निर्जीवकादिचक्षुर्जलाद्यन्तरितार्थस्य ग्राहक दृष्टम्, तथा पुण्यविशेषसस्कृत सूक्ष्माद्यशेपार्थग्राहि भविष्यतीति न कश्चिद्दृष्टस्वभावातिक्रम. । 'स्वात्मनि च यावद्भिः कारणैर्जनित यथाभूतार्थग्राहि प्रत्यक्ष प्रतिपन्न तथा सर्वत्र सर्वदा प्राण्यन्तरेपि' इति नियमे नक्तञ्चराणामनालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युपलम्भो न

मौजूद है, अर्थात् यह अदृष्ट इस प्राणी का है क्योकि इसको यह उपभोग्य वस्तु प्राप्त है इत्यादि रूप से अनेको विशेषण धर्मादि मे हो सकते है। जैसे अतीत आदि अतीन्द्रिय काल आदि का ग्रहण होता है (प्रत्यभिज्ञान के द्वारा) वैसे ही विशेपण ग्रहण करने मे प्रवृत्त चक्षु आदि इद्रियो से धर्म–अधर्म का ग्रहण होना सभव है, अत आपने सर्वज्ञज्ञान के प्रति धर्मादिक निमित्त नही हैं, धर्मादि को सर्वज्ञ ज्ञान नही जानता, इत्यादि कहा था तथा प्रसग विपर्यय दोष उपस्थित किया था वह कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। विप्रकृष्ट, सूक्ष्म आदि पदार्थ का सर्वज्ञ साक्षात्कार कर लेते है इस विषय मे समझाने के लिये आपके प्रति और भी दृष्टात उपस्थित करते है। प्रश्न, यत्र आदि से जब कोई व्यक्ति सस्कारित होते है अर्थात् किसी ज्योतिषी से किसी ने अतीतादि विषय मे प्रश्न करने पर या किसी मत्र वादी के द्वारा मत्र करने पर उस ज्योतिषी या मत्रवादी के नेत्र अतीत आदि काल विप्रकृष्ट वस्तु को देखने मे समर्थ होते है, अजन आदि द्रव्य विशेष से सस्कारित नेत्र वाले मल्लाह जल से अंतरित पदार्थ को देख लेते है, यह सब सभव है तो वैसे ही पुण्य विशेष से सस्कारित योगीजन की दिव्य चक्षु सूक्ष्मादि अशेप पदार्थों की ग्राहक होती है। इसमे कोई स्वभाव अतिक्रम नही होता। इतने उदाहरण दिखाने पर भी सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार नही करे मात्र वर्तमान मे हम जैसे को अपने स्वय मे जितने कारणो से जनित जैसा यथार्थ वस्तु का ग्राहक जितना प्रत्यक्ष होता है वैसा ही हमेशा सभी जगह अन्य प्राणी मे भी प्रत्यक्ष होता है, इस तरह का नियम वनायेगे तो नक्त चर–सिह आदि प्राणियो को विना प्रकाश के अधकार आदि से व्यवहित रूप आदि का ज्ञान होना सभव नही रहेगा क्योकि हमारे मे वैसा

स्यात्स्वात्मनि तथाऽनुपलम्भात् । प्राण्यन्तरे स्वात्मन्यनुपलब्धस्यानालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युपलम्भलक्षणातिशयस्य सम्भवे सूक्ष्माद्युपलम्भलक्षणातिशयोपि स्यात् । जात्यन्तरत्व चोभयत्र समानम् । अभ्युपगम्य चाक्षजत्व सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारित्व समर्थित नार्थत, तज्ज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूतत्वात् ।

यच्चास्य ज्ञान चक्षुरादिजनित वेत्याद्यभिहितम्, तदप्यचारु, चक्षुरादिजन्यत्वेऽप्यनन्तर धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्योक्तत्वात् ।

यच्चाभ्यासजनितत्वेऽभ्यासो हीत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"

उपलब्ध नही है ? यदि अन्य प्राणियो मे हमारे मे नही होने वाला ऐसा अधकार आदि से व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि रूप अतिशय मानते है, तो फिर सर्वज्ञ मे सूक्ष्मादि का जानने रूप अतिशय क्यो न माना जाय ? मानना ही होगा । यदि कहा जाय कि नक्त चर आदि का ज्ञान भिन्न जातीय है ? सो वैसे सर्वज्ञ मे भी माने तथा सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात्कारी अवश्य है किन्तु वह परमार्थत इन्द्रिय जनित नही है, वह ज्ञान तो चार घातिया कर्म–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय इनके नाश से उत्पन्न होता है ।

सर्वज्ञ का ज्ञान चक्षु आदि इद्रियो से उत्पन्न हुआ है अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न हुआ है इत्यादि, कथन अयुक्त है आपका लक्ष सर्वज्ञ ज्ञान का अभाव करने मे है किन्तु चक्षु आदि इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी धर्मादि अदृष्ट का ग्राहक है, कोई विरोध की बात नही ऐसा अभी बता चुके है ।

भावार्थ —यहा धर्म अधर्म–अर्थात् पुण्य पाप को इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी जानता है ऐसा कहा है सो पहले इस प्रकार बतलाया है कि सकल प्राणियो के लिये जो उपभोग्य वस्तुओ की उपलब्धि साक्षात् दिखाई दे रही है वह स्वय ही धर्मादि को सिद्ध कर रही है मतलब इस देवदत्त का अदृष्ट सुष्ठु है क्योकि इसे चदन, वनिता आदि इष्ट सामग्री उपलब्ध है, तथा इस यज्ञदत्त का अदृष्ट दुष्टु है क्योकि साक्षात ही दिखायी देता है कि रोगादि ने इसको पीडित कर रखा है तथा धनहीन है इत्यादि हेतु के उपलब्ध होने से धर्मादि को इन्द्रियगम्य बतलाया है । सर्वज्ञ के ज्ञानको अभ्यास जनित मानते है तो⋯ ⋯⋯इत्यादि दोष दिये थे वे अयुक्त है, सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य से सयुक्त है, इस प्रकार अखिल पदार्थों के विषय मे श्रीगुरु का उपदेश है अत सपूर्ण पदार्थो का उपदेश सभव नही है, ऐसा कहना गलत ठहरता है

[तत्त्वार्थसू० ५।३०] इत्यखिलार्थविषयोपदेशस्याविसवादिनो ज्ञानस्य च सामान्यत सम्भवात्। न च तज्ज्ञानवत एवाशेषज्ञत्वाद्व्यर्थोभ्यास:, तस्य सामान्यतोऽस्पष्टरूपस्यैवाविर्भावात्, अभ्यासस्य तत्प्रतिबन्धकापायसहायस्याशेषविशेषविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तौ व्यापारात्। नाप्यन्योन्याश्रय., अभ्यासादेवाखिलार्थविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तेरनभ्युपगमात्।

शब्दप्रभवपक्षेप्यन्योन्याश्रयानुषङ्गोऽसङ्गत , कारकपक्षे तदसम्भवात्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभव ह्येतस्याशेषार्थज्ञानम्, तस्याप्यन्यसर्वज्ञागमप्रभवम् । न चैवमनवस्थादोषानुङ्ग , बीजाकुरवदनादित्वेनाभ्युपगमादागमसर्वज्ञपरम्पराया ।

तथा उस उपदेश से सामान्य रूप से अविसवादी ज्ञान होता हुआ भी देखा जाता है, अभिप्राय यह है कि गुरुपदेश से अखिलार्थ का सत्य ज्ञान होना सभव ही है। जिसको उपदेश से ज्ञान हुआ है वह उस ज्ञान से ही अशेषज्ञ बन जायगा, उसे अभ्यास की क्या आवश्यकता है ? ऐसा भी नही कहना, उपदेश से सामान्यरूप ज्ञान हुआ है वह अस्पष्ट है, पुन अभ्यास विशेष के कारण सपूर्ण विषयो के स्पष्ट ज्ञान को रोकने वाले कर्म का नाश होता है और इस तरह अशेष पदार्थो मे बिल्कुल स्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसका भावार्थ यह हुआ कि प्रथम तो कोई मुमुक्षु श्रीगुरु के उपदेश से सपूर्ण तत्त्व सबधी ज्ञान प्राप्त करता है जिसे श्रुतज्ञान या आगमज्ञान कहते हैं, फिर उसमे मनन, चिन्तन आदि रूप अभ्यास करते रहने से उस ज्ञान तथा वैराग्य सपन्न अर्थात् रत्नत्रय से युक्त पुरुष के सकल पदार्थ का ग्राहक ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान है उसको रोकने वाले कर्मो का नाश होता है और वह पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है, इस प्रकार सपूर्ण पदार्थ का उपदेश, अभ्यास और स्पष्ट ज्ञान तीनो ही सिद्ध होते है।

अभ्यास से अशेषार्थ का ज्ञान होना मानेगे तो अन्योन्याश्रय होगा सो भी बात नही है, हम जैन मात्र अभ्यास से ही अशेषार्थ ग्राही ज्ञान होता है ऐसा नही मानते है। भाव यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप आदि भी सकलार्थ ग्राही ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण है अकेला अभ्यास ही नही, अत अन्योन्याश्रय दोष नही आता है कि अभ्यास होवे तब अशेषार्थ ग्राही ज्ञान होवे और अशेषार्थ ग्राही ज्ञानी का उपदेश होवे तो अभ्यास होवे।

आगम से अशेषार्थ ग्राही ज्ञान हुआ है ऐसा मानने मे अन्योन्याश्रय दोष देना भी अयुक्त है, कारक पक्ष अर्थात् सर्वज्ञ आगम का कर्त्ता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय

यच्चानुमानाविर्भावितत्वपक्षे सम्बन्धासिद्धेरित्युक्तम्, तदसमीचनम्, प्रमाणान्तरात्सम्बन्धसिद्धेरभ्युपगमात्। न खलु कश्चित्तस्यागोचरोस्ति सर्वत्रेन्द्रियातीन्द्रियविषये प्रवृत्तेरन्यथा तत्रानुमानाप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्य तन्निबन्धनत्वात्।

यच्चानुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वादित्यभिहितम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, न हि सर्वथा कारणसदृशमेव कार्यं विलक्षणस्याप्यकुरादेर्बीजादेरुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वत्र हि सामग्रीभेदात्कार्यभेदः। अत्राप्यागमादिज्ञानेनाभ्यासप्रतिबन्धकापायादिसामग्रीसहायेनासादिताशेषविशेषवैशद्य विज्ञानमाविर्भाव्यते।

भावनाबलाद्वैशद्ये कामाद्युपप्लुतज्ञानवत्तस्याप्युपप्लुतत्वप्रसङ्ग., इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतो

नही होता, हमने तो ऐसा माना है कि पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम है उसके अभ्यासादि से जो पुरुष तपश्चर्या आदि के द्वारा कर्मो का नाश करता है उसके सकलार्थग्राही ज्ञान होता है, पूर्ववर्ती सर्वज्ञ के भी अन्य पूर्ववर्ती सर्वज्ञागम से पूर्ण ज्ञान उत्पन्न हुआ है, इस तरह मानने मे अनवस्था दोष की आशका भी नही करना क्योकि आगम और सर्वज्ञ की परपरा बीज और अकुर के समान अनादि कालीन है, अनादि व्यवस्था मे अनवस्था का कोई स्थान नही है।

सर्वज्ञ के ज्ञान को अनुमान जनित माने तो सबध की असिद्धि है ··इत्यादि दोष बताये वे भी असत है, हम जैन अविनाभाव सबध की सिद्धि तर्क प्रमाण से होना स्वीकार करते है, तर्क प्रमाण के कोई अगोचर नही है, उसकी तो सर्वत्र अतीन्द्रिय विषयो मे भी प्रवृत्ति होती है, यदि नही माने तो अनुमान की भी उनमे प्रवृत्ति नही हो सकेगी। क्योकि अनुमान की प्रतिष्ठा तो तर्क प्रमाण मे निष्ठ है। आगम तथा अनुमान अस्पष्ट ज्ञान है इत्यादि कथन किया है वह बिना विचारे ही किया है अर्थात् आगमादि अस्पष्ट ज्ञान से सर्वज्ञ का स्पष्ट ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा ? ऐसा जो कथन है वह ठीक नही, क्योकि कारण के समान ही कार्य होता हो सो बात नही है, कारण से विलक्षण भी कार्य उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, बीज से विलक्षण ही अकुर उत्पन्न होता है बात यह है कि सर्वत्र सामग्री के भिन्न होने से कार्य मे भिन्नता दिखाई देती है। यहा सर्वज्ञ ज्ञान के विषय मे आगमादि का ज्ञान, अभ्यास, प्रतिबधक कर्मो का अपाय इत्यादि सामग्री है, इनकी सहायता से सकलार्थ विषयो का विशद ज्ञान प्रगट होता है। भावना के बल से सर्वज्ञ के ज्ञान मे विशदता माने तो कामी जन के समान यह ज्ञान उपयुक्त काल्पनिक बन बैठेगा। इत्यादि कथन भी असत है, भावना ज्ञान

'भावनाबलाद् ज्ञान वैशद्यमनुभवति' इत्येतावन्मात्रेण तज्ज्ञानस्य दृष्टान्तोपपत्ते: । न चाशेषदृष्टान्त-धर्माणा साध्यधर्मिण्यापादन युक्त सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । न चाशेषज्ञज्ञान क्रमेणाशेषार्थग्राहीष्यते येन तत्पक्षनिक्षिप्तदोषोपनिपात:, सकलावरणपरिक्षये सहस्रकिरणवद्युगपन्निखिलार्थोद्द्योतनस्वभाव-त्वात्तस्य कारणक्रमव्यवधानातिवर्त्तित्वाच्च ।

यच्चोक्तम्—युगपत्परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासासम्भव ; तदप्यसारम्, तत्र हि तेषामभावादप्रतिभास:, ज्ञानस्यासामर्थ्याद्वा ? न तावदभावात्; शीतोष्णाद्यर्थाना सकृत्सम्भ-वात् । ज्ञानस्यासामर्थ्यादित्यसत्, परस्परविरुद्धानामन्धकारोद्द्योतादीनामेकत्र ज्ञाने युगपत्प्रतिभास-

---

पदार्थ के निकटवर्ती नही होने पर भी उसको स्पष्ट प्रतिभासित करता है । उस ज्ञान का दृष्टात सर्वज्ञ ज्ञानकी स्पष्टता समझ मे आने के लिये देते हैं किन्तु इतने मात्र से सर्वज्ञ ज्ञान भी भावना ज्ञान के समान काल्पनिक होवे सो बात नही है "न हि दृष्टान्तस्य सर्वे धर्मा दार्ष्टान्ते भवितु मर्हति" दृष्टात के सभी गुण धर्म दार्ष्टान्ति मे नही होते, यदि मानेगे तो सकल अनुमानो का उच्छेद ही हो जायगा । तथा सर्वज्ञ का ज्ञान क्रम से अशेषार्थ का ग्राहक नही माना है जिससे उस पक्ष के दिये हुए दोष लागू होवे अर्थात् सर्वज्ञ यदि क्रम क्रम से जानते है तो पदार्थ अनत होने से कभी सपूर्ण पदार्थो का ज्ञान नही होगा । ऐसा कहा था वह बेकार है हम तो सर्वज्ञ ज्ञान को सकल आवरण का क्षय होने से सूर्य के समान एक साथ सपूर्ण पदार्थो का प्रकाशन करने वाला मानते है, इस ज्ञान मे न तो इन्द्रियो का क्रम है न बीच बीच मे रुकावट है, यह तो अप्रतिहत स्वाभाविक ज्ञान है ।

सर्वज्ञ को दोपयुक्त ठहराने के लिये मीमासक ने कहा था कि एक साथ परस्पर विरोधी शीत उष्ण आदि पदार्थो का एक ज्ञान मे प्रतिभास होना अशक्य है, सो यह कथन असार है, विरोधी पदार्थो का अभाव होने से एक ज्ञान मे प्रतिभास नही होता, अथवा एक ज्ञान की सामर्थ्य नही होने से परस्पर विरुद्ध पदार्थों का प्रतिभास नही होता ? "अभाव होने से प्रतिभास नही है" ऐसा कहना तो गलत है, शीत उष्ण आदि पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते ही है अभाव कहा है ? ज्ञान की सामर्थ्य नही है इसलिये एक साथ सब पदार्थो का ज्ञान नही होता है । ऐसा कहना भी ठीक नही है परस्पर विरोधी अधकार और प्रकाश आदि पदार्थ एक साथ एक ही ज्ञान मे प्रतीत होते हुए देखे जाते है । यदि परस्पर विरोधी पदार्थो का एक साथ एक ज्ञान मे प्रति-

सवेदनात्। सकृदेकत्र विरुद्धार्थाना प्रतिभासासम्भवे 'यत्कृतक तदनित्यम्' इत्यादिव्याप्तिश्च न स्यात्, साध्यसाधनरूपतया तयोर्विरुद्धत्वसम्भवात्। नाप्येकत्र तेषा प्रतिभासे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थ-ग्राहकत्वविरोध, अन्धकारोद्द्योतादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि प्रतिनियतार्थग्राहकत्वप्रतीते।

यच्चान्यदुक्तम्–एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद्द्वितीयक्षणेऽज्ञ स्यात्, तदप्यसम्बद्धम्, यदि हि द्वितीयक्षणेऽर्थाना तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदाऽय दोषः। न चैवम्, अनन्तत्वात्तद्द्वयस्य। पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा। साप्युत्पन्नता तेषा भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया। उत्तरकाल तु तद्विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्ना। यदा हि यद्धर्म-

---

भास नही होगा तो जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, इत्यादि व्याप्ति कैसे बनेगी ? क्योकि इनमे एक जो कृत्कत्व है वह तो साधन है और अनित्य है वह साध्य है इस तरह दोनो मे विरुद्धत्व है। एक ज्ञान मे अनेक विरोधी वस्तुओ का प्रतिभास होना माने तो वह ज्ञान प्रतिनियत अर्थो का ग्राहक नही हो सकता ऐसा कहना भी नही बनता, अधकार और प्रकाश आदि विरोधी वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान भी प्रतिनियत वस्तु का ग्राहक होता हुआ देखा जाता है। और भी जो कहा था कि एक क्षण मे ही सपूर्ण पदार्थों का ग्रहण हो जाने से दूसरे क्षण मे वह सर्वज्ञ अज्ञ ही बन जायगा। इत्यादि सो यह कथन असबद्ध है, यदि दूसरे क्षण मे पदार्थो का अभाव हो जाता या उसको जानने वाले ज्ञान का अभाव होता तब तो यह दोष होता, किंतु ऐसा है नही, दोनो ही पदार्थ और ज्ञान अनत है। इसी विषय का खुलासा करते हैं— सर्वज्ञ के ज्ञान ने पूर्व क्षण मे भावी वस्तुओ की उत्पन्नता है वह भवितव्यता रूप से "होवेगे" इस रूप से जानी थी, भूतरूप से नही। अब वह क्षण बदला, उत्तर काल मे, इससे विपरीत रूप से वे पदार्थ ग्रहण मे आयेगे, क्योकि जब जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु होती है तब सर्वज्ञ के ज्ञान मे उसी रूप से प्रतीति मे आती है, अन्यथा रूप से प्रतीत होगी तो भ्रम सा हो जायगा, इस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कोई कहे तो उसका निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है।

भावार्थ —मीमासक ने प्रश्न किया था कि सर्वज्ञ एक क्षण मे ही अशेष पदार्थ को ग्रहण करता है तो दूसरे क्षण मे जानने के लिये कोई पदार्थ नही रहता है अत वह अज्ञ बन जायगा ? इसपर प्रभाचन्द्राचार्य कहते है कि द्वितीयादि क्षण मे ज्ञान का नाश होता है, कि पदार्थों का नाश होता है ? दोनो का नाश नही होता है, पदार्थ

विशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते नान्यथा विभ्रमप्रसङ्गात् इति कथ गृहीतग्राहित्वेनाप्यस्याप्रामाण्यम् ?

यच्चेद परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमानित्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, तथापरिणामो हि तत्त्वकारण न सवेदनमात्रम्, अन्यथा 'मद्यादिकमेवविधरसम्' इत्यादिवाक्यात्तच्छ्रोत्रियो यदा प्रतिपद्यते तदाऽस्यापि तद्रसास्वादनदोष. स्यात् । अरसनेन्द्रियजत्वात्तस्यादोषोयम्, इत्यन्यत्रापि समानम्। न हि सर्वज्ञज्ञानमिन्द्रियप्रभव प्रतिज्ञायते । किञ्चाङ्गनालिङ्गनसेवनाद्यभिलाषस्येन्द्रियोद्रेकहेतोराविर्भावाद्रागादिमत्त्वं प्रसिद्धम् । न चासौ प्रक्षीणमोहे भगवत्यस्तीति कथ रागादिमत्त्वस्याशङ्कापि ।

और ज्ञान तो अनंत है अत रहित हैं । जो पदार्थ प्रथम क्षण मे भावी रूप था वह द्वितीय क्षण मे वर्तमानरूप हो जाता है तथा जो वस्तु वर्तमान रूप थी वह अतीत हो चुकी वस्तु जिस समय जिस धर्म से विशिष्ट होती है वह उसी रूप से ही तो ज्ञान मे झलकेगी ? अन्यथा रूप नही तथा प्रतिक्षण वस्तु मे अपूर्वता आती है इसलिये सर्वज्ञ का ज्ञान ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कहना भी शक्य नही है । सर्वज्ञ पर के रागादि को जानेगा तो स्वय भी रागीद्वेषी बन जायगा ऐसा कहा था वह भी अयुक्त है । उसी प्रकार परिणमन कर जाने से रागी होता है जानने मात्र से नही । यदि जानने मात्र से उसी रूप होना जरूरी है तब तो "मदिरा आदि मे इस तरह का रस होता है" इत्यादि वाक्य कहने या सुनने या जानने मात्र से श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि को उस मदिरा रस का स्वाद लेने का दोष आवेगा ।

शका—मदिरा के रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से नही हुआ है अत रसास्वाद लेने का दोष नही आता है ?

समाधान—यही बात सर्वज्ञ मे है, सर्वज्ञ भी, यह रागी है, यह द्वेषी है इत्यादि रूप से मात्र जानता है, उस रूप से परिणमन नही करता । सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियो से उत्पन्न होता है ऐसा हम नही कहते है । आप सर्वज्ञ को रागी सिद्ध करना चाहते हैं किंतु स्त्री के आलिगन सेवन आदि की जिसके इच्छा है ऐसे कामी पुरुष के इन्द्रियो के उद्रेक के कारण उपस्थित होने पर रागीपना होता है, ऐसा रागोद्रेक, मोह का नाश जिसके हुआ है ऐसे सर्वज्ञ के कैसे सभव है ? अर्थात् नही है ।

यदप्यभिहितम्–कथ चातीतादेर्ग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवादित्यादि, तदप्यसारम्, यतोऽतीतादेरतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वम्, तज्ज्ञानकालसम्बन्धित्वेन वा ? नाद्य पक्षो युक्त , वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव स्वकालसबन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसम्भवात्। वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वमभिमतमेव, तत्कालसम्बन्धित्वतत्सत्त्वयो परस्पर भेदात्। न चैतत्कालसम्बन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वम् वर्त्तमानकालसम्बन्धिनोप्यतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वात् तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्ग । न चातीतादे सत्त्वेन ग्रहणे वर्त्तमानत्वानुषङ्ग , स्वकालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात्। ननु चातीतादेस्तज्ज्ञानकाले असन्निधानात्कथ प्रतिभास , सन्निधाने वा वर्त्तमानत्वप्रसङ्ग प्रसिद्धवर्त्तमानवत् , इत्यपि मन्त्रादिसस्कृतलोचनादिज्ञानेन व्याप्तिज्ञानेन च प्रागेव कृतोत्तरम्।

मीमासक ने कहा था कि अतीतादि विषयो का ग्रहण कैसा होगा ? क्योकि उन विषयो का स्वरूप तो अभी मौजूद नही है इत्यादि सो वह वक्तव्य असार है, अतीत पदार्थ का अतीत काल के सबधी रूप अभाव है अथवा सर्वज्ञ ज्ञान के काल सबधी रूप से अभाव है ? प्रथम पक्ष ठीक नही, अतीत का अतीत काल सबधी सत्व था ही। जैसे वर्तमान काल सबधी रूप से वर्तमान का सत्व होता है यह बात जरूर है कि वर्तमान काल सबधी पने से अतीतार्थ का असत्व–अभाव होता है। तत्काल सबधीपना और तत्सत्वपना इनमे परस्पर भेद है, इस काल सबधी रूप से वस्तु का असत्व है अत स्वकाल सबधी रूप से भी अतीत वस्तु का असत्व है ऐसा तो कह नही सकते। जो वर्तमान सबधी वस्तु है उसका भी अतीत काल सबधीपने से असत्व था ? मतलब वर्तमान कालीन वस्तु का अतीत मे असत्व था और अतीत कालीन वस्तु का वर्तमान मे असत्व है यदि एक काल मे वस्तु का अभाव होने से अन्य समय मे भी उसका अभाव मानेंगे तो सकल शून्यता का प्रसग होगा। कोई शका करे कि अतीत का सत्व रूप से ग्रहण करेंगे तो वह वस्तु वर्तमान रूप हो जायगी ? सो भी बात नही है। अतीत वस्तु का अतीत स्वकाल मे नियत सत्व रूप से ही जानना होता है।

शका —अतीतादि पदार्थों का उनके ज्ञान के काल मे तो सन्निधान होता नही, फिर उनका प्रतिभास कैसे होवे ? यदि उन पदार्थों का ज्ञान काल मे सन्निधान है तब तो उन्हे वर्तमानपना आ ही जायगा ? जैसे कि प्रसिद्ध वर्तमान का सन्निधान होता है ?

अथोच्यते—'पूर्वं पश्चाद्वा यदि क्वचित्कदाचिन्निखिलदर्शिनो विज्ञान विश्रान्त तर्हि तावन्मात्रत्वात्ससारस्य कुतोऽनाद्यनन्तता ? अथ न विश्रान्त तर्हि नानेकयुगसहस्रेणापि सकलससारसाक्षात्करणम्' इति, तदप्युक्तिमात्रम्, यत किमिद विश्रान्तत्व नाम ? कि किञ्चित्परिच्छेद्याऽपरस्यापरिच्छेद , सकलविषयदेशकालगमनासामर्थ्यादिवान्तरेऽवस्थानं वा क्वचिद्विषये उत्पद्य विनाशो वा ? न तावदाद्यविकल्पो युक्त , अनभ्युपगमात्। न खलु सर्वज्ञज्ञान क्रमेणार्थपरिच्छेदकम् युगपदशेषार्थोद्द्योतकत्वात्तस्येत्युक्तम्। द्वितीयविकल्पोप्यनभ्युपगमादेवायुक्तः। न हि विषयस्य देश काल वा गत्वा ज्ञान तत्परिच्छेदकमिति केनाप्यभ्युपगतम्, अप्राप्यकारिणस्तस्य क्वचिद्गमनाभावात्। केवल यथाऽनाद्यनन्तरूपतया

समाधान.—इस शंका का परिहार पहले हो चुका है, मत्रादि से सस्कारित चक्षु आदि के द्वारा आतीतादि का ग्रहण होता है, तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा भी वर्तमान मे वस्तु का सन्निधान नही होते हुए भी काल विप्रकृष्ट वस्तु का ग्रहण होता है। व्याप्ति ज्ञान के दृष्टात से यह स्पष्ट हो जाता है कि जानते समय उस वस्तु का निकट होना जरूरी नही है।

शका —पहले या पीछे यदि कदाचित् उस सर्वज्ञ का ज्ञान किसी विषय मे विश्रात हो जायगा तो ससार भी उतना रह जायगा उसमे अनादि अनतता सिद्ध नही होगी ? तथा यदि सर्वज्ञ का ज्ञान विश्रात नही होता है तब तो अनेक सहस्रकाल व्यतीत होने पर भी सारे ससार का जानना नही होगा, ससार तो अनत है ?

समाधान – यह कथन अयुक्त है– विश्रात होना किसे कहते है ? कुछ को जानकर शेष को नही जानना, सपूर्ण देश सपूर्ण काल सबधी विषयो के निकट गमन की शक्ति नही होने से बीच मे रुक जाना, अथवा किसी विषय मे उत्पन्न होकर नष्ट होना ? प्रथम विकल्प का विश्रात ठीक नही, हमने ऐसा माना ही नही कि कुछ को जानकर अन्य को नही जानता। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान क्रम से वस्तु को नही जानता है जिससे कि कुछ को जानकर अन्य को नही जान सकेगा, वह ज्ञान तो एक साथ अशेष पदार्थो को प्रकाशित करने वाला है। दूसरा विकल्प भी स्वीकार नही करने से अयुक्त है, वस्तु के पास ज्ञान जाता है या काल के पास जाता है फिर उसको जानता है ऐसा किसी भी वादी प्रतिवादी ने नही माना है, ज्ञान तो अप्राप्यकारी है वह कही पर नही जाता है। ज्ञान का काम तो इतना है कि पदार्थ जैसे अनादि अनतरूप अवस्थित है उसी रूप से उनको जानना। तीसरा विकल्प भी अयुक्त है, किसी विषय मे उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट नही होता है क्योकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है (वस्तु का स्वभाव नही है)

स्थितोर्थस्तथैव तत्प्रतिपद्यते । तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः, क्वचिद्विषये तस्योत्पन्नस्यात्मस्वभावतया विनाशासम्भवात् । न हि स्वभावो भावस्य विनश्यति स्फटिकस्य स्वच्छतादिवत्, अन्यथा तस्याप्यभाव स्यात् । औपाधिकमेव हि रूप नश्यति यथा तस्यैव रक्तिमादि । कथ चैववादिनो वेदस्यानाद्यनन्तताप्रतिपत्तिस्तत्राप्युक्तविकल्पानामवतारात् ? कथ वा साध्यसाधनयो' साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्ति , सामान्येन व्याप्तिप्रतिपत्तावप्यनाद्यनन्तसामान्यप्रतिपत्तावुक्तदोषानुषङ्ग एव ।

यच्चोक्तम्–'कथ चासौ तत्कालेप्यऽसर्वज्ञैर्ज्ञातु शक्यते ? तदपि फल्गुप्रायम्, विषयापरिज्ञाने वि-

---

पदार्थ का जो स्वभाव होता है वह नष्ट नही होता जैसे स्फटिक का स्वभाव स्वच्छता है यह नष्ट नही होता है । यदि स्वभाव का नाश होगा तो पदार्थ का नाश हो जायगा । हा जो उपाधि से आया हुआ स्वरूप है वह नष्ट होता है, जैसे उसी स्फटिक मे जपा कुसुम रूप उपाधि से आयी हुई लालिमा नष्ट होती है । सर्वज्ञ के ज्ञान मे इस प्रकार के प्रश्न करने वाले आप मीमासक के वेद मे अनादि अनतता की प्रतिपत्ति की सिद्धि किस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योकि वहा पर भी यही प्रश्न होगे ?

भावार्थ —सर्वज्ञ का ज्ञान पहले या पीछे कदाचित् विश्रात हो जायगा तो ससार की अनादि अनतता कैसे सिद्ध होगी ? इत्यादि प्रश्न सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय मे किये थे, ठीक यही प्रश्न वेद के विषय मे हो सकते है वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि पहले या पीछे कदाचित् विश्रात हुआ तो ससार की अनादि अनतता कैसे सिद्ध होगी ? वेद ज्ञान विश्रात नही होता ऐसा माने तो भी अनेक युग सहस्र काल मे भी सकल ससार का जानना नही होगा, क्योकि वेद ज्ञान क्रमिक है ? इस प्रकार इन प्रश्नावलिसे मीमासक का छुटकारा नही हो सकता ।

सर्वज्ञ ज्ञान के विषय मे विश्रातत्व का विचार करते हैं सो व्याप्ति ज्ञान मे भी वही विचार आयेगा, उसमे भी साध्य साधन की पूर्ण रूप से प्रतीति होती है, सामान्य से व्याप्ति को जानने पर भी अनादि अनत के सामान्य का ज्ञान होने मे वही विश्राति का प्रश्न आता है, क्योकि सर्वदेश और सर्वकाल सबधी साध्यसाधन के अविनाभाव का ज्ञान कराना व्याप्ति ज्ञान का कार्य है सो यदि वह पहले या पीछे कदाचित् विश्रात हो जाय तो कैसे होगा ? इत्यादि प्रश्नो का जवाब कैसे देगे ?

सर्वज्ञ कालीन असर्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञ को कैसे जान सकेगे ऐसा मीमासक ने पूछा था, वह ठीक नही है, जिसको किसी विषय का ज्ञान नही है तो क्या उस विषय को

षयिणोप्यपरिज्ञानाभ्युपगमे कथ जैमिन्यादे सकलवेदार्थपरिज्ञाननिश्चयोऽसकलवेदार्थविदाम् ? तदनिश्चये च कथ तद्वचाख्यातार्थश्रयणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्ति ? कथ वा व्याकरणादिसकलशास्त्रार्थापरिज्ञाने तदर्थज्ञतानिश्चयो व्यवहारिणाम् ? यतो व्यवहारप्रवृत्ति स्यात् ।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वाच्चशेषार्थवेदिनो भगवत सत्त्वसिद्धि । न चेदमसिद्धम्, तथाहि—सर्वविदोऽभाव. प्रत्यक्षेणाधिगम्य , प्रमाणान्तरेण वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण, तद्धि सर्वत्र सर्वदा सर्व. सर्वज्ञो न भवतीत्येव प्रवर्त्तते, क्वचित्कदाचित्कश्चिद्वा ? प्रथमपक्षे न सर्वज्ञाभावस्तज्ज्ञानवत

जानने वाले व्यक्ति का भी ज्ञान नही हो सकता है ? यदि नही तो आपके "जैमिनी महर्षि आदि को सपूर्ण वेदार्थ का ज्ञान था" ऐसा निश्चय वेद ज्ञान से रहित पुरुषो को कैसे हो सकेगा ? तथा यदि जैमिनी आदि के ज्ञान का निश्चय नही है तो उनसे व्याख्यान सुनना, वेद कथित अनुष्ठान अग्निहोत्र आदि का करना इत्यादि कार्यो मे कैसे प्रवृत्त हो सकेगे ? लोक मे व्याकरण आदि सकल शास्त्रो का परिज्ञान किसी को नही होता तो भी वह व्यक्ति उन व्याकरण आदि शास्त्रो को जानने वाले विद्वान का निश्चय कैसे करता है ? उनके पास पढना आदि व्यवहार किस प्रकार होता ? यह सब होता है, इसी से मालूम होता है कि सपूर्ण पदार्थो को नही जानने पर भी उन पदार्थों को जो जानता है उस पुरुष को हम जान सकते है ।

भावार्थ —यहा विशेषरूप से यह समझाया है कि किसी व्यक्ति के ज्ञान के विषय मे जानना हो तो उस ज्ञान के विषयो को भी जानना जरूरी हो सो बात नही है, देखा जाता है कि किसी को ज्योतिषी शास्त्र पढना है तो वह व्यक्ति ज्योतिषी के पास चला जाता है, किंतु उसको उस ज्योतिषी सबधी विषयो का—नक्षत्र ग्रहण, तारा आदि का ज्ञान तो है नही, यदि होता तो पढने को जाता ही नही, ऐसे ही सर्वज्ञ को जानने के लिये सर्वज्ञ के ज्ञान के सारे विषयो को जानना जरूरी नही है यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

अब सर्वज्ञ की सिद्धि निर्दोष अनुमान प्रमाण से करते है— सकल पदार्थो को जानने वाले भगवान सर्वज्ञ है (साध्य) क्योकि सुनिश्चितरूप से उसमे कोई बाधा देने वाला प्रमाण नही है। यह अनुमान असिद्ध नही है, इसी बात को कहते है—मीमासक सर्वज्ञ का अभाव करते है वह अभाव क्या प्रत्यक्ष से जाना जाता है, या अन्य प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से जाना जाता है ऐसा तो कह नही सकते, प्रत्यक्ष के विषय मे प्रश्न है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करता है सो "सब जगह हमेशा सभी पुरुष सर्वज्ञ

एवाशेषज्ञत्वात् । न हि सकलदेशकालाश्रितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण प्रत्यक्षतस्तदाधारमसर्वज्ञत्व प्रत्येतु शक्यम्। द्वितीयपक्षे तु न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धि ।

अथ न प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभावसाधक किन्तु निवर्तमानम् । ननु कारणस्य व्यापकस्य वा निवृत्तौ कार्यस्य व्याप्यस्य वा निवृत्तिः प्रसिद्धा नान्यनिवृत्तावन्यनिवृत्तिरतिप्रसङ्गात् । न चाशेषस्य प्रत्यक्ष कारण व्यापक वा येन तन्निवृत्तौ सर्वज्ञस्यापि निवृत्ति । न चैव घटाद्यभावासिद्धि एकज्ञानस-

---

नही होते हैं, इस तरह सर्वज्ञ का अभाव करता है, अथवा किसी जगह 'कदाचित्' कोई सर्वज्ञ नही होता" इस तरह का अभाव सिद्ध करता है ? प्रथम पक्ष कहो तो सर्वज्ञ का अभाव हो नहीं सकता, क्योकि जिसने "सब जगह सब काल मे सभी सर्वज्ञ नही होते" इतनी बात जान ली वही सर्वज्ञ हुआ । तथा सपूर्ण देश काल मे होने वाले सभी पुरुषो को जाने बिना प्रत्यक्ष रूप से उन पुरुषो मे होने वाली असर्वज्ञता जानना शक्य नही है । दूसरा पक्ष कहो तो सर्वथा एकात से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही हुआ किन्तु क्वचित् कदाचित् ही हुआ ।

मीमासक —सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला जो प्रत्यक्ष है वह प्रवर्त्तमान नही निवर्त्तमान है ?

जैन —निवर्त्तमान प्रत्यक्ष किसके निवर्त्तमान होने पर निवृत्त होता है यह बताना होगा । कारण (अग्नि आदि) के निवृत्त होने पर या व्यापक (वृक्षत्वादि) के निवृत्त होने पर कार्य या व्याप्य (धूम या शिंशपा) निवृत्त होता है, यह तो प्रसिद्ध बात है, कोई अन्य के निवृत्त होने से अन्य निवृत्त नही होता, यदि मानेंगे तो अति प्रसग होगा, चाहे जिसके निवृत्त होने पर चाहे जो निवृत्त हो जायगा । अत निवर्त्तमान की बात तो अग्नि-धूम वृक्षत्व-शिंशपात्व के समान, व्याप्य व्यापक, कार्यकारण सबध होने पर ही सभव है, किन्तु सर्वज्ञ का निवर्त्तमान प्रत्यक्ष कोई कारण या व्यापक तो है नही जिससे कि प्रत्यक्ष के निवृर्त्तमान होते ही सर्वज्ञ की भी निवृत्ति हो ? कोई कहे कि इस तरह सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि नही मानेंगे तो घट आदि के अभाव की सिद्धि भी नही हो सकती, क्योकि उसमे भी प्रश्न उपस्थित होगे कि घट के अभाव का साधक प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष है कि निवर्त्तमान प्रत्यक्ष ? इत्यादि, सो बात नही, घट का अभाव तो सिद्ध हो जायगा, क्योकि एक ज्ञान ससर्गि अर्थात् एक ही व्यक्ति के ज्ञान से जाने हुए अन्य पदार्थ की यहा उपलब्धि होती है, मतलब घट और उसका आश्रय भूतल दोनो को एक ज्ञानसे

सर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् क्वचित्तत्सिद्धे. । न चात्राप्ययं न्याय· समानस्तत्ससर्गिण एव कस्यचिदभावात्, अन्यथा सर्वत्र तदभावविरोधो घटादिवत् । तन्न प्रत्यक्षेणाधिगम्यस्तदभावः ।

नाप्यनुमानेन, 'विवादाध्यासित: पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रथ्यापुरुषवदित्यनुमाने हि प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्व हेतुः, तद्विपरीतस्य वा स्यात्, वक्तृत्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतु·; प्रमाणान्तरसवादिसूक्ष्माद्यर्थवक्तृत्वस्याशेषज्ञे एव भावात् । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्, तथाभूत-

---

जाना था पुन. घट रहित अकेला भूतल दिखाई दिया अत· वहा घटका अभाव सिद्ध होता है, ऐसी बात सर्वज्ञ के विषय मे नही है, वहा एक पुरुषका ससर्गि ज्ञान नही है, जो प्रत्यक्ष के निवर्त्तमान होने से सर्वज्ञ का अभाव कर देवे यदि एक ससर्गिज्ञान होना स्वीकार करेंगे तो सर्वत्र सर्वज्ञ का अभाव होगा ही नही, जैसे घट आदिका नही होता । इस प्रकार सर्वज्ञ का अभाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है ऐसा कहना सिद्ध नही हुआ ।

अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नही, अब इसी विषय में चर्चा करते है—विवादाध्यासित पुरुष सर्वज्ञ नही है, क्योकि वह बोलता है, जैसे रथ्या-पुरुष, यह अनुमान सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है ऐसा अनुमान मीमासक उपस्थित करे तो इस अनुमान का हेतु वक्तृत्व अर्थात् बोलना है, सो वक्तृत्व किस प्रकार का है ? प्रमाणातरसे संवादक ऐसा सत्यार्थ विषयक वक्तृत्व है, या इससे विपरीत वक्तृत्व है, अथवा वक्तृत्व मात्र है ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु विरुद्ध होगा, क्योकि जिसमे प्रमाणातर से सवादकता है ऐसे सूक्ष्मादि पदार्थो के विषय मे वक्तृत्व तो सर्वज्ञ मे ही होगा, मतलब सत्यार्थ वचन बोलता है अतः सर्वज्ञ नही ऐसा कह ही नही सकते, सत्यार्थ वचन वाले में तो सर्वज्ञपने की सिद्धि ही होती है, सो वक्तृत्व हेतु दिया था सर्वज्ञाभाव के लिए और उल्टे उसने सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध किया अत यह वक्तृत्व हेतु विरुद्ध हुआ ।

द्वितीय पक्ष— विपरीत वचन बोलता है अत· यह पुरुष सर्वज्ञ नही है ऐसा कहे तो सिद्धसाधन है, क्योकि हमने भी इस तरह का विपरीत वचन बोलने वाले पुरुष को असर्वज्ञ ही माना है । वक्तृत्व सामान्य को हेतु बनाया है ऐसा माने तो साध्य से विपरीत सर्वज्ञ के साथ भी इसकी अनुपलब्धि सिद्ध नहीं हो सकेगी अर्थात् सर्वज्ञ में वक्तृत्व सामान्य का विरोध है ऐसा सिद्ध नही होता, क्योकि सर्वज्ञ और वक्तृत्व

स्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरभ्युपगमात्। वक्तृत्वमात्रस्य तु हेतो. साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सह सहानवस्थानपरस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधासिद्धेस्ततो व्यावृत्त्यभावान्न स्वसाध्यनियतत्व यतो गमकत्व स्यात्। सर्वज्ञे वक्तृत्वस्यानुपलब्धेस्ततो व्यावृत्तिरित्यप्यसम्यक्, सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धे, तेनैव सर्वज्ञान्तरेण वा तत्र तस्योपलम्भसम्भवात्। सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात्सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सिद्धिरित्यसङ्गतम्, प्रमाणान्तरात्तत्सिद्धावस्य वैयर्थ्यात्। अत सिद्धौ चक्रकानुषङ्गः।

सामान्य इनमे सहानवस्था विरोध, या परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध नही है, इसलिये यह वक्तृत्व सामान्य हेतु सर्वज्ञ सद्भाव से व्यावृत्त नही होने से अपने साध्य का अविनाभावी होकर गमक नही होता, अर्थात् साध्य (सर्वज्ञाभाव) को सिद्ध नही करता है।

शका—सर्वज्ञ मे वक्तृत्व का अनुपलभ सिद्ध करके फिर उससे व्यावृत्ति सिद्ध करेंगे ?

समाधान— यह कथन ठीक नही, सभी पुरुष सर्वज्ञमे वक्तृत्वका अभाव स्वीकार करते है इस प्रकार सिद्ध होना असभव है कोई सर्वज्ञ ही नही है अत सर्व सबधि अनुपलभ की सिद्धि होगी ऐसा कहना भी ठीक नही यदि अन्य प्रमाण से (अनुपलभ हेतु से) उसकी सिद्धि मानेंगे तो यह वक्तृत्व हेतु वाला अनुमान बेकार ठहरेगा। कहो कि इससे उसकी सिद्धि हो जायगी, तब तो चक्रक दोष आवेगा, यह इस प्रकार होगा प्रथम तो वक्तृत्व हेतुवाले अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होगा, उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ से हेतु की व्यावृत्ति की सिद्धि होगी, फिर उससे अनुमान सिद्ध हो जायगा इस तरह तीनो को घुमाते जाना किसी की भी सिद्धि सभव नही है। स्वसबधी अनुपलभ मात्र से वक्तृत्व के व्यतिरेक का निश्चय नही हो सकता, क्योकि स्वसबधि अनुपलभ–अर्थात् अपने को अनुपलभ होना यह तो अनैकान्तिक हुआ करता है, अपने को उपलब्धि नही है तो भी वह चीज उपलब्ध हो सकती है, परके मन की प्रवृत्ति हमे उपलब्ध नही होती, किन्तु वह है तो सही ? अत अपने को अनुपलभ होने मात्र से किसी के व्यतिरेक का निश्चय होना शक्य नही है। वक्तृत्व हेतु को इस प्रकारसे सदोष सिद्ध करने से सारे अनुमानो के हेतुओ मे यही दोष हो सकने से अनुमान नाम ही खतम होगा। ऐसा भी नही कहना, अन्य धूम आदि हेतु मे अनुपलभ के विना विपक्ष व्यावृत्ति

नापि स्वसम्बधिनोऽनुपलम्भात्तद्व्यतिरेकनिश्चय , अस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् ।

न चाखिलसाधनेषु दोषस्यास्य समानत्वान्निखिलानुमानोच्छेद , तत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य भावात् । न चात्र कार्यकारणभाव: प्रसिद्ध , असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानाभावाद्वचनस्य । यद्धि यत्कार्यं तत्तद्धर्मानुविधायि प्रसिद्ध वन्ह्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिधूमवत् । तथाहि असर्वज्ञत्व सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमभिधीयते । न च तत्तरतमभावाद्वचनस्य तथाभावो दृश्यते तद्विप्रकृष्टमत्यल्पज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तत्र वचनप्रवृत्ते प्रकर्षो दृश्यते । अथ प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्व तत्कार्यं वचनम्, तर्हि ज्ञानरहिते मृतशरीरादौ तस्योप-

---

का निमित्त प्रमाणातर मौजूद है । यहा असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व मे कार्यकारण भाव तो दिखाई नही देता, वक्तृत्व असर्वज्ञके साथ अन्वय नही रखता । जो जिसका कार्य होता है वह उसके धर्म का अनुविधान करता है, जैसे अग्नि आदि सामग्रीमे होने वाला सुगधित गध आदि धर्मका अनुविधान धूम भी कर लेता है, अर्थात् अग्नि मे यदि चदन की लकडी है तो उस अग्निरूप कारण का कार्य जो धूम है वह भी सुगधित होवेगा । ऐसा अनुविधान वक्तृत्व हेतु मे नही है, इसी को बताते है–जो सर्वज्ञत्व से अन्य हो उसे असर्वज्ञत्व कहते है, "न सर्वज्ञत्व असर्वज्ञत्व" इस प्रकार पर्युदासवृत्ति से असर्वज्ञत्व पद का अर्थ अल्पज्ञत्व होता है । इस अल्पज्ञत्व की तरतमता से वचन की तरतमता होती है ऐसा नियम नही है, क्योकि अति अल्पज्ञान वाले कृमि आदि जीवोमे अल्पज्ञपना अधिक है किन्तु वचन का अधिकपना नही है । "न सर्वज्ञत्व असर्वज्ञत्व" इस समास में नकार का अर्थ सर्वथा अभाव रूप प्रसज्य-प्रतिषेध करते है अर्थात् सर्वज्ञत्व के अभाव को असर्वज्ञत्व मानते है और उसका कार्य वचन है ऐसा कहते है तो ज्ञानरहित मृतक शरीर आदि मे उसकी उपलब्धि होने का प्रसग आयेगा, और जो अतिशय ज्ञानवान हैं, अखिल शास्त्रो के व्याख्याता है उनमे वचनातिशय उपलब्ध न हो सकेगा । किन्तु ऐसा नही होता अत वचन मे ज्ञान के प्रकर्ष की तरतमता का अनुविधान दिखाई देने से वह ज्ञानातिशय का कार्य है, जिस प्रकार बुद्धिमान बढई आदि रूप कारण धर्म का अनुविधान उनके महल आदि कार्य मे दिखाई देता है, अर्थात् बढई आदि शिल्पी तथा अन्य साधन जितने उत्तम होगे उतना ही प्रासाद सुन्दर बनेगा, उसी प्रकार जितना ज्ञानातिशय होगा उतना वक्तृत्व मे सातिशयपना होगा अत वक्तृत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही होता है । आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नही कर सकते । वह आगम सर्वज्ञ प्रणीत है, या अन्य अल्पज्ञ प्रणीत है, अथवा अपौरुषेय है ?

लम्भप्रसङ्गो ज्ञानातिशयवत्सु चाखिलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनातिशयोपलम्भो न स्यात्। न चैवम्, ततो ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात्तस्य तत्कार्यता सातिशयतक्षादिकारणधर्मानुविधायिप्रासादादिकार्यविशेषवत्। तन्नानुमानात्तदभावसिद्धि।

नाप्यागमात्, स हि तत्प्रणीत, अन्यप्रणीत, अपौरुषेयो वा तदभावसाधक स्यात्? तत्र यद्यागमप्रणेता सकल सकलज्ञविकल साक्षात्प्रतिपद्यते युक्तोसौ तत्र प्रमाणम्, किन्तु विद्यमानोपि न प्रकृतार्थोपयोगी, तथा प्रतिपद्यमानस्य तस्यैवाशेषज्ञत्वात्। न प्रतिपद्यते चेत्, तर्हि रथ्यापुरुषप्रणीतागमवन्नासौ तत्र प्रमाणम्। न ह्यविदितार्थस्वरूपस्य प्रणेतु प्रमाणभूतागमप्रणयन नामातिप्रसङ्गात्। द्वितीयविकल्पेप्येतदेव वक्तव्यम्।

अपौरुषेयोप्यागमो जैमिन्यादिभ्यो यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव प्रतिपादयेत्तर्हि सर्वस्मै प्रतिपादयेत् केनचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविरहात्। तथा च—

उनमे यदि आगम का प्रणयन करने वाला सपूर्ण जगत को सर्वज्ञ से रहित साक्षात् ज्ञान से जानता होता तो उसका कथन प्रमाणभूत होता किन्तु ऐसा कोई होवे तो भी प्रकृत मे सर्वज्ञाभाव करने मे उपयोगी नही होगा क्योकि जो ऐसा सर्व जगतको जानता है वही सर्वज्ञ बन जाता है। यदि कहो कि "सकल जगत सर्वज्ञता से रहित है" ऐसा वह आगम प्रणेता नही जानता है तो उसका आगम रथ्यापुरुष प्रणीत आगम के समान होने से सर्वज्ञाभाव सिद्धि मे प्रामाणिक नही माना जायगा। जिसने तत्व स्वरूप को भली प्रकार नही जाना है वह प्रणेता प्रामाणिक आगम की रचना नही कर सकता, यदि कर सकता है तो रथ्यापुरुष भी कर सकेगा। अन्य सामान्य पुरुष द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञाभाव करते हैं तो उस पक्ष मे भी यही उपर्युक्त दोष आते हैं। अपौरुषेय आगम से सर्वज्ञाभाव होना माने तो वह आगम जैमिनि आदि को सर्वज्ञाभाव बताता है तो सभी व्यक्ति के लिए सब जगह हमेशा सर्वज्ञाभाव को बतलायेगा, किसी के साथ उस अपौरुषेय आगम की निकटता और दूरता तो है नही इसलिये सबको ही सर्वज्ञाभाव की सिद्धि होनी थी? किन्तु निम्नलिखित आगम वाक्यो से सर्वज्ञ सिद्ध होता है —

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वत पात्॥
सबाहुभ्या धमति सपतत्रै., द्यावा भूमि जनयन् देव एक ॥१॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति विश्व न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्च पुरुष महान्तम्॥२॥

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वत पात् ।" [श्वेताश्वत० ३/३]

स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्च पुरुषं महान्तम् ।" [श्वेताश्वत० ३/१६] "हिरण्यगर्भं" [ऋग्वेद अष्ट० ८ म० १० सू० १२१] प्रकृत्य "सर्वज्ञः" इत्यादौ न न कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः स्यात्-'किमनेन सर्वज्ञः प्रतिपाद्यते कर्मविशेषो वा स्तूयते' इति । न खलु प्रदीपप्रकाशिते घटादौ कस्यचिद्विप्रतिपत्ति.—'किमय घट पटो वा' इति । न च स्वरूपेऽस्याप्रामाण्यम् । अविसवादो हि प्रमाणलक्षण कार्ये स्वरूपे वार्थे, नान्यत् । यत्र सोस्ति तत्प्रमाणम् । न चाशेषज्ञाभावावेदक किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, तत्सद्भावावेदकस्यैव श्रुते । तन्नागमादप्यस्याभावसिद्धि ।

नाप्युपमानात्, तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति नान्यथा ।

जिसके सब ओर चक्षु है तथा सब ओर मुख सब ओर हाथ सब ओर पाद भी हैं, पुण्य तथा पाप के द्वारा जगत की रचना करता है तथा परमाणुओ के द्वारा भी पृथ्वी और स्वर्ग को वही एक ईश्वर उत्पन्न करता है ।।१।। हस्त पाद रहित होकर भी शीघ्रगामी है, ग्रहीता है, चक्षुरहित होकर देखता है, कर्ण रहित होकर सुनता है ऐसा ईश्वर है, वह सबको जानता है किन्तु उसको कोई नही जानता ऐसे अनादि प्रधान महान पुरुप को ईश्वर कहते है ।।२।।

ऋग्वेद मे उस सर्वज्ञ को हिरण्यगर्भ नाम से पुकारा है। सर्वज्ञ इस पद मे किसी को विवाद नही है, इस प्रकार वेद, पुराण आदि मे कहा जाता है । इन आगम वाक्यो से क्या सर्वज्ञ का प्रतिपादन किया जा रहा है अथवा कर्म विशेष का प्रतिपादन है ? यदि सर्वज्ञ का प्रतिपादन है तो विवाद ही नही रहा । दीपक के द्वारा घटादि के प्रकाशित होने पर किसी को विवाद नही होता है कि "यह क्या घट है, अथवा पट है" इत्यादि । आप वस्तु के स्वरूप के विषय मे वेद वाक्य को प्रमाण मानते है, श्रुतिवाक्य को नही मानते, सो यह मान्यता ठीक नही है, प्रमाण का लक्षण तो अविसवादी होना है ।

दोनो मे यही प्रमाण का लक्षण है अन्य अन्य लक्षण नही है जिसमे वह अविसवादीपना है वह प्रमाण है, फिर चाहे वेद वाक्य हो चाहे श्रुतिवाक्य हो । यह भी एक बात है कि सर्वज्ञका अभाव बतलाने वाला वेद वाक्य नही है । श्रुति मे तो सर्वज्ञ का सद्भाव ही सद्भाव बताया है । इसलिये आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना शक्य नही है । उपमा प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नही है । उपमा

न चात्रत्येदानीन्तनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम् उपमेयभूताशेषान्यदेशकालपुरुषप्रत्यक्षत्व चाभ्युपगम्यते, सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गात्, निखिलार्थप्रत्यक्षत्वमन्तरेणाशेषपुरुषपरिषत्साक्षात्कारित्वासम्भवात्।

नाप्यर्थापत्तेस्तदभावावगम , सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपजायमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्यासम्भवात्। वेदप्रामाण्यस्य गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वे सत्येव भावात्। अपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरतो निषेधात्। न चार्थापत्तिरनुमानात्प्रमाणान्तरमित्यग्रे वक्ष्यते। तद्वदत्रापि व्याप्त्यादिचिन्ताया दोषान्तर चापादनीयम्।

नाप्यभावप्रमाणात्तदभावसिद्धि , तस्यासिद्धे , तदसिद्धिश्चाभावप्रमाणलक्षणस्य

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञान वान्यवस्तुनि॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० ११]

प्रमाण तो उपमा और उपमेय के प्रत्यक्ष होने पर सादृश्य का अवलबन लेकर प्रगट होता है, अन्यथा नही। किन्तु ऐसा उपमा उपमेय का यहा सर्वज्ञ के विषय मे प्रत्यक्ष होना शक्य नही है यहा के वर्तमान समय के अशेष पुरुषोका प्रत्यक्ष ज्ञान, तथा उपमेयभूत अशेष अन्य देशकाल मे होनेवाले पुरुषो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा स्वीकार नही कर सकते, यदि करेगे तो सर्वज्ञ की सिद्धि होवेगी किन्तु सकल पदार्थोका प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बिना सकल पुरुष समूह का साक्षात्कार भी सभव नही है। अत उपमा प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नही कर सकता। अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव करना शक्य नही, सर्वज्ञाभाव के बिना नही होने वाले, प्रमाण षटक से विज्ञात ऐसा कोई पदार्थ नही है। मतलब ऐसा कोई पदार्थ नही है जो कि सर्वज्ञ का अभाव होने पर ही हो सकता हो, अत अन्यथानुपपद्यमानत्वरूप अर्थापत्ति सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नही कर पाती। वेद मे प्रमाणता तो तब मानेगे जब उसको गुणवान पुरुषकृत स्वीकार किया जाय ? आपके अपौरुषेय वेद या आगम का आगे विस्तार से खण्डन करने वाले हैं। तथा यह भी बात है कि अर्थापत्ति अनुमान से कोई पृथक् प्रमाण नही है। जैसे अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्धि करनेमे व्याप्ति का अभाव, सपक्ष का अन्वय नही होना इत्यादि दोष आते है ऐसे ही दोष अर्थापत्ति मे भी आवेगे। अभाव प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नही होता, क्योकि स्वय अभाव प्रमाण ही सिद्ध नही है, अभाव प्रमाणका लक्षण गलत होने से उसकी सिद्धि नही होती प्रत्यक्षादि प्रमाणो का अभाव होना प्रमाणाभाव

इत्यादे प्रागेव विस्तरतो निराकरणात्सिद्धा। इत्यलमतिप्रसंगेन। न चानुमाने तत्सद्भावावेदके सत्ये-तत्प्रवर्त्तते—

"प्रमाणपञ्चक यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० १]

इत्यभिधानात् किञ्च, अभावप्रमाण

"गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० २७]

इति सामग्रीत प्रादुर्भवति। न चाशेषज्ञनास्तिताधिकरणाखिलदेशकालप्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसङ्गात्। नाप्यशेषज्ञ क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रतिपन्नो येनासौ स्मृत्वा निषेध्येत, सर्वत्र

कहलाता है, तथा आत्मामे अपरिणमन होना अभाव प्रमाण है, और अन्यवस्तु मे विज्ञान होना अभाव प्रमाण है, ये अभाव प्रमाण के भेद है इनके भेद तथा लक्षणो का प्रथम परिच्छेद में "अभावस्य प्रत्यक्षादावर्तभाव." इस प्रकरण मे विस्तार से निराकरण कर चुके है। अत इस विषय मे अधिक नही कहते।

अनुमान प्रमाण अभाव प्रमाण का सद्भाव बतलाता है ऐसा कहना भी शक्य नही है, क्योकि प्रमाण पचक-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति ये जिस वस्तु मे प्रवृत्त नही होते वहा वस्तु सत्ता का अवबोध (अभाव) कराने के लिए अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है॥१॥ ऐसा कहा है अर्थात् प्रत्यक्ष या अनुमान आदि कोई भी प्रमाण जिसमे प्रवृत्त न हो उस विषयमे अभाव प्रमाण है इस तरह मानने से अनुमान अभाव प्रमाण को कैसे सिद्ध करेगा? नही कर सकता। अभाव प्रमाण का लक्षण वस्तु के सद्भाव को जानकर तथा प्रतियोगी का स्मरण कर, इद्रिय अपेक्षा से रहित मन से "नही है" इस प्रकार का नास्ति का ज्ञान होना अभाव प्रमाण है। इस तरह की सामग्री से वह उत्पन्न होता है ऐसा माना है सो यहा सर्वज्ञाभाव बतलाने के लिए सर्वज्ञ के नास्तिता का अधिकरण रूप सपूर्ण देश तथा काल का प्रत्यक्ष होना तो अशक्य है, यदि शक्य है तो वही अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञानी बन जायगा। सर्वज्ञ को भी किसी ने कभी कही पर प्रत्यक्ष नही देखा, जिससे कि स्मरण कर उसका निषेध कर सके। सर्वत्र सर्वदा उसका निषेध करना भी अशक्य है जब तक निषेध्य और निषेध का आधार दोनो

सर्वदा तन्निषेधविरोधात्। न च निषेध्यनिषेध्याधारयोरप्रतिपत्तौ निषेधो नामातिप्रसङ्गात्। न ह्यप्रतिपन्ने भूतले घटे च घटनिषेधो घटते। यथा चाभावप्रमाणस्योत्पत्तिः स्वरूप विषयो वा न सम्भवति तथा प्राक्प्रपञ्चेनोक्तमिति कृतमतिप्रसगेन।

तन्नाभावप्रमाणादप्यशेषज्ञाभावसिद्धि। तदेवं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमप्यशेषज्ञस्य प्रसाधकम् इत्यलमतिप्रसगेन।

नही जाने हैं तब तक उनका निषेध करना असभव है अन्यथा अतिप्रसग होगा, घट और भूतल जाना नही तो घट का निषेध घटित नही होता, अभाव प्रमाण की उत्पत्ति, उसका स्वरूप तथा उसका विषय ये सब सभव नही है इसका पहले ही विस्तृत विवेचन कर दिया है, अब इस विषय पर अधिक नही कहते। इस तरह अभाव प्रमाण से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नही होती। इस प्रकार कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सका। उसके सद्भाव को सिद्ध करनेवाला सुनिश्चित असभवत बाधक प्रमाण रूप हेतुवाला अनुमान प्रमाण है, वह सर्वज्ञ को भले प्रकार से सिद्ध कर देता है। अब इस सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण को समाप्त करते हैं।

।। सर्वज्ञत्ववाद समाप्त ।।

सर्वज्ञवाद का सारांश

पूर्व पक्ष—मीमासक सर्वज्ञ को नही मानते है उनका अनुमान वाक्य है कि सर्वज्ञ नही है क्योकि वह सत्ता ग्राहक पाचो प्रमाणो का विषय नही है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति ये पाच प्रमाण वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने वाले है इनमे से प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ को सिद्ध करना शक्य नही, क्योकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती रूपादि विषय को ग्रहण करता है, अतीन्द्रिय सर्वज्ञ को नही। अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध तब हो जब सर्वज्ञ का अविनाभावी कोई हेतु उपस्थित हो सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये जैन का दिया गया अनुमान ठीक नही है अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है क्योकि वे प्रमेय है इत्यादि अनुमान का हेतु असिद्धादि दोष युक्त है। आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नही होती क्योकि उसमें अन्योन्याश्रयादि दोष आते है। उपमा उपमेय की सदृशता न होने से उपमा प्रमाण भी सर्वज्ञ को सिद्ध नही कर सकता। अर्थापत्ति भी अन्यथानुपपद्यमानत्व शक्ति के बिना प्रवृत्त नही होता। आप जैन का कहना है कि अभ्यास करते करते सकल पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। सो अभ्यास अन्य विषयक अतिशय को पैदा कर सकता है ? नही कर सकता, अर्थात् जिस विषय का अभ्यास करेंगे उसी का विशेष या पूर्ण ज्ञान होगा अन्य का नही। अनत विषयो का न अभ्यास ही सभव है और न उसमे निपुणता रूप अतिशय भी आ सकता है। सर्वज्ञ यदि सभी को जानता है तो दूसरे के रागादि को जानते समय खुद भी रागी द्वेषी बनेगा। सर्वज्ञ अतीत कालवर्ती वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु उस समय वस्तु नही होने से असत् के ग्रहण करने का प्रसग भी होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नही होती है।

उत्तर पक्ष—जैन इस असर्वज्ञवादी मीमासक का खडन करते है प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ का ग्रहण नही होता है। क्योकि वह इस समय इस क्षेत्र मे (भरत क्षेत्र मे पचम काल में) नही है। अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्धि होती है–कोई आत्मा समस्त पदार्थो को साक्षात् जानने वाला है क्योकि उसका सम्पूर्ण पदार्थो को जानने का स्वभाव है, नष्ट हो गये है प्रतिबध कारण जिससे ऐसा है, जो जिसके ग्रहण रूप स्वभाव वाला होने पर प्रक्षीण प्रतिबध कारण होता है वह उसको जानता ही है, जैसे रोग रहित नेत्र

पीत आदि वर्ण को साक्षात् करता है। इस अनुमान मे सर्वज्ञ को धर्मी न बनाकर कोई आत्मा को बनाया है। आपने अभ्यास के पूर्ण ज्ञान होने का खडन किया किन्तु वह अयुक्त है, आगम का अभ्यास और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री को प्राप्त करके यह भव्यात्मा सम्पूर्ण आवरण कर्म का क्षय करने मे समर्थ होता है। अस्पष्ट आगम ज्ञान से स्पष्ट प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है ऐसी शका भी उचित नही, क्योकि यह सर्वथा नियम नही है कि कारण सदृश ही कार्य हो, बीज कारण से अन्य अकुर रूप कार्य होता हुआ देखा गया है, आपका यह जबरदस्त हटाग्रह है कि सम्पूर्ण-वस्तु का ज्ञान किसी को नही हो सकता किंतु यह कथन आप खुद के भी विरुद्ध होगा, क्योकि आप मीमासक भी वेद के द्वारा सकल पदार्थ का बोध होना मानते हैं तथा व्याप्ति के द्वारा भी सामान्यत सम्पूर्ण साध्य साधन का ज्ञान होना हम जैसे निकृष्ट व्यक्ति को भी सभव है तो योगी जन को स्पष्ट रूप से सकलार्थ का बोध होवे इसमे क्या सदेह है ? सर्वज्ञ देव क्रम से वस्तु को न जानकर सूर्य के समान सपूर्ण पदार्थो को प्रकाशित करते है। सर्वज्ञ का ज्ञान प्रथम समय मे सब वस्तुओ को ग्रहण करेगा तो द्वितीयादि समय मे जानने योग्य वस्तु के अभाव मे असर्वज्ञ बन जायगा ऐसी शका भी व्यर्थ है, पदार्थ प्रतिक्षण अपने अर्थ पर्याय को परिवर्तित करके रहते हैं, जो पदार्थ अभी भविष्यत् रूप जाना था वही द्वितीयादि क्षणो मे वर्तमान रूप हो जायगा तथा जो वर्तमान रूप जाना था वह अतीतरूप धारण करेगा, अत पदार्थ मे प्रतिसमय नवीनता रहती है। रागादि को जानने से सर्वज्ञ को भी रागादि मान हो जाने का दोप अनुचित है यदि दूसरे के रागादि को जानने से रागी द्वेषी होगे तो ब्राह्मणादि कुलीन पुरुष को मदिरा आदि पदार्थ का वर्णन करने या सुनने मात्र से मदिरापेयी होने का प्रसग प्राप्त होगा। वक्तृत्व हेतु के द्वारा सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करना तो विल्कुल गलत है, क्योकि यदि सर्वज्ञ सत्य परस्पर अविरुद्ध वाक्य वोलता है तो क्या वाधा है, सर्वज्ञ का और वक्तृत्व का परस्पर मे विरोध होता हो सो भी बात नही है। आपके आगम प्रमाण, अथवा अर्थापत्ति आदि प्रमाण सर्वज्ञ के बाधक नही हैं, क्योकि उनका वह विपय नही है। इस प्रकार आप सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही कर पाते हैं, और हम जैन निर्दोप अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध कर देते हैं अत आपको सर्वज्ञ भगवान अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

॥ सर्वज्ञवाद का सारांश समाप्त ॥

४

ईश्वरवादः

ननु चावरणविश्लेपादशेषवेदिनो विज्ञान प्रभवतीत्यसाम्प्रतम्, तस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्, तदयुक्तम्, अनादिमुक्तत्वस्यासिद्धे । तथाहि–नेश्वरोऽनादिमुक्तो मुक्तत्वात्तदन्यमुक्तवत् । वन्धापेक्षया च मुक्तव्यपदेश , तद्रहिते चास्याप्यभाव स्यादाकाशवत् ।

ननु चानादिमुक्तत्व तस्यानादे क्षित्यादिकार्यपरम्पराया कर्तृत्वात्सिद्धम् । न चास्य तत्कर्तृत्वमसिद्धम्, तथाहि– क्षित्यादिक बुद्धिमद्धेतुक कार्यत्वात्, यत्कार्य तद्बुद्धिमद्धेतुक दृष्टम् यथा

यौग–नैयायिक वैशेषिक अनादि एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते है, अब यही प्रकरण शुरू होता है ।

यौग–जैन ने सर्वज्ञ को सिद्ध किया है । उसमे हमारा यह कहना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान आवरण के नाश से उत्पन्न नही होता सर्वज्ञ तो अनादि से मुक्त ही है अनादि सिद्ध के आवरण सभव नही है ।

जैन–यह कथन अयुक्त है, अनादि मुक्त की सिद्धि नही हो पाती अनुमान से सिद्ध होता है कि ईश्वर अनादि मुक्त नही है, क्योकि वह मुक्त हुआ है जैसे अन्य मुक्तात्मा अनादि से मुक्त नही है । बध की अपेक्षा से ही मुक्त नाम पाता है यदि बध रहित है तो उसे मुक्त नही कह सकते जैसे आकाश को मुक्त शब्द से नही कहते है क्योकि वह बँधा नही था ।

यौग–ईश्वर मे अनादि मुक्तपना अनादि कालीन पृथ्वी आदि कार्य परम्परा के कर्तृत्व से सिद्ध होता है ईश्वर का यह कर्तापन असिद्ध भी नही है । पृथ्वी, पर्वत वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान से निर्मित हैं, क्योकि ये कार्य हैं, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान के द्वारा निर्मित होता है जैसे घट, पृथ्वी आदिक भी कार्य हैं, अत: बुद्धिमान निमित्तक है । इस अनुमान का कार्यत्व हेतु असिद्ध नही है । अब कार्यत्व हेतु

घटादि, कार्यं चेद क्षित्यादिकम्, तस्माद्बुद्धिमद्धेतुकम्। न चात्र कार्यत्वमसिद्धम्, तथाहि—कार्यं क्षित्यादिक सावयवत्वात्। यत्सावयव तत्कार्यं प्रतिपन्नम् यथा प्रासादादि, सावयव चेदम्, तस्मात्कार्यम्।

ननु क्षित्यादिगतात्कार्यत्वात्सावयवत्वाच्चान्यदेव प्रासादादौ कार्यत्व सावयवत्व च यदक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकम्, ततो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽव्युत्पन्नान्प्रतिपत्तृनधिकृत्यैवमुच्यते, व्युत्पन्नान्वा ? प्रथमपक्षे धूमादावप्यसिद्धत्वप्रसङ्गात्सकला-

---

की सिद्धि करते है—पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य रूप है, क्योकि वे अवयव सहित है, जो अवयव युक्त होता है वह कार्य होता है जैसे प्रासादादि, पृथ्वी आदि भी सावयव है अत कार्य है।

शका—पृथ्वी आदि मे होने वाला कार्यपना और सावयवपना पृथक् है और प्रासाद आदि का कार्यपना पृथक् है। प्रासादादि की रचना करना रूप क्रिया नही देखी है तो उसमे भी किये हुए की बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिये प्रासाद रूप दृष्टान्त मे देखा हुआ हेतु पक्ष मे नही रहने से असिद्ध है ?

समाधान—यह शका ठीक नही है, यह कथन अव्युत्पन्न व्यक्तियो के लिये किया जा रहा है या व्युत्पन्न व्यक्तियो के लिये किया जा रहा है ? प्रथम पक्ष कहो तो अव्युत्पन्न व्यक्ति के प्रति धूम आदि हेतु भी असिद्ध होने से सारे ही अनुमानो का व्युच्छेद हो जायगा। दूसरे पक्ष की बात कहो तब तो कार्यत्व हेतु मे असिद्धपना नही रहता है, क्योकि व्युत्पन्न व्यक्ति ने कार्यत्व का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव है ऐसा जाना है, वह प्रासादादिवत् पृथ्वी आदि मे भी कार्यत्व का निश्चय कर लेता है, जैसे पर्वत आदि मे धूम का निश्चय कर लेते हैं। यदि कहा जाय कि दृष्टान्त मे देखे गये कार्यत्वादि धर्म पृथ्वी आदि के कार्यत्व से भिन्न है तो पर्वत आदि का धूम और महानस का धूम इनमे भी भेद मानना होगा।

शका—कार्यत्व हेतु का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव नही है, अर्थात् जो कार्य हो वह बुद्धिमान कृत ही होवे सो बात नही है क्योकि बिना बोये वृक्ष आदि कार्यत्व का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव नही देखा जाता है ?

समाधान—ऐसा नही है, जो हेतु साध्य के बिना भी होवे उसे व्यभिचारी कहते है, बिना बोये उत्पन्न हुए वृक्षादिक मे कर्ताका अभाव निश्चित नही है, किंतु

नुमानोच्छेदः। द्वितीयपक्षे तु नासिद्धत्वम्, कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः पर्वतादौ धूमादिवत्। दृष्टान्तोपलब्धकार्यत्वादेस्ततो भेदे पर्वतादिधूमान्महानसधूमस्यापि भेदः स्यात्।

ननु कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेनाविनाभावोऽसिद्ध,, अकृष्टप्रभवैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारात्, तन्न, साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते, न च तत्र कर्त्रभावो निश्चित किन्त्वग्रहणम्। उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे हि तत कर्त्तु रभावनिश्चय, न च तत्तस्येष्यते।

अथ क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात्तेषा नातिरिक्तस्य कारणत्वकल्पना अतिप्रसङ्गात्; तर्हि धर्माधर्मयोरपि तत्र कारणता न भवेत्। न च तयोरकारणतैव, तरुतृणादीना सुखदुःखसाधनत्वाभावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मनिरपेक्षोत्पत्तीना तदसाधनत्वात्। न चैवम्, न हि किञ्चिज्जगत्यस्ति वस्तु यत्साक्षात्परम्परया वा कस्यचित्सुखदुःखसाधन न स्यात्।

उसका ग्रहण नही होता है जिसकी उपलब्धि संभव है ऐसे कर्ता का अभाव निश्चित कर सकते है, यहा ईश्वररूप कर्ता को उपलब्धि सभव नही है।

शका–पृथ्वी आदि के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान उपलब्ध होने से उनसे अतिरिक्त अन्य कारण की कल्पना नही करनी चाहिये अन्यथा अति प्रसग होगा ?

समाधान–ऐसा माना जायगा तो उन पृथ्वी आदि मे धर्म अधर्म रूप कारण भी सिद्ध नही हो सकेगे किंतु वे कारण न हो ऐसी बात नही है, अन्यथा वृक्ष तृण आदि मे सुख दुःख के कारणपने का अभाव होता है क्योकि धर्म अधर्म की अपेक्षा के बिना जिनकी उत्पत्ति होती है वे सुख दुःख के साधन नही होते है, किंतु ऐसा देखा नही जाता है, जगत मे कोई भी ऐसी वस्तु नही है कि जो साक्षात या परम्परा से किसी के सुख दुःख का कारण नही होती हो।

शका–पृथ्वी आदि सामग्री से उत्पन्न होने वाले स्थावर आदि मे जो बुद्धिमान कर्ता की उपलब्धि नही हो रही है वह अभाव के कारण नही हो रही है या सद्भाव होते हुए भी अनुपलब्धि लक्षण वाला होने से नही हो रही है इस प्रकार सदेह होने से कार्यत्व हेतु सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला है ?

समाधान–यह कथन असत् है, इस तरह तो सभी अनुमान समाप्त हो जायेगे, जहा पर अग्नि के अदर्शन मे धूम दिखता है, वहा शका होगी कि यहां अभाव होने से अग्नि नही दिखायी देती है अथवा अनुपलब्धि लक्षण वाली होने से नही दिखती है।

ननु क्षित्यादिसामग्रीप्रभवेषु स्थावरादिषु 'बुद्धिमतोऽभावादग्रहण भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः कार्यत्वस्य, इत्यप्यपेशलम्, सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। यत्र हि वह्नेरदर्शने धूमो दृश्यते तत्र–'किं वह्नेरदर्शनमभावादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इत्यस्यापि सन्दिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकत्वम्। यया सामग्र्या धूमो जन्यमानो दृष्टस्ता नातिवर्त्तते इत्यन्यत्रापि समानम्–कार्यं कर्तृकरणादिपूर्वकं कथ तदतिक्रम्य वर्त्तेतातिप्रसङ्गात्?

अनुपलम्भस्तु शरीराद्यभावान्न त्वसत्त्वात्, यत्र हि सशरीरस्य कुलालादे. कर्तृता तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भो युक्तोऽत्र तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानान्न प्रत्यक्षप्रवृत्तिः। न च शरीराद्यभावे कर्तृत्वाभावस्तस्य शरीरेणाविनाभावाभावात्। शरीरान्तररहितोपि हि सर्वश्चेतनः स्वशरीरप्रवृत्तिनिवृत्ती करोतीति, प्रयत्नेच्छावशात्तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणकार्याविरोधे प्रकृतेपि सोस्तु। ज्ञानचिकीर्षा-

---

इस तरह धूम हेतु भी सदिग्ध व्यतिरेकी होने से साध्य का गमक नही हो सकेगा। कोई कहे कि जिस सामग्री से धूम उत्पन्न होता हुआ रसोई मे देखा था वह अपनी सामग्री का उल्लघन नही कर सकता है ऐसा समझकर जहां पर्वत पर अग्नि नही दिखती है वहा भी उसका निश्चय हो जाता है? सो यही बात कार्यत्व हेतु मे घटित कर लेनी चाहिये जो कार्य होता है वह कर्ता करण आदि पूर्वक होता है, अत: पृथ्वी आदिक कार्यपना कर्ता का उल्लघन कैसे कर सकता है? अन्यथा अतिप्रसग होगा। ईश्वर का जो अनुपलभ है वह शरीरादिक नही रहने के कारण है न कि अभाव के कारण है। शरीरधारी कुभकार आदि का कर्तापन प्रत्यक्ष से उपलब्धि होना युक्त है, किंतु यहा स्थावर पृथ्वी आदि मे चैतन्य मात्र से प्रेरित होकर कार्य होता है अत प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नही है। शरीर का अभाव होने से ईश्वर मे कर्तापन नही बन सकता है, ऐसा कहना भी गलत है क्योकि कार्य का शरीर के साथ अविनाभाव सबध नही है, देखा जाता है कि शरीरातर से रहित होकर भी सभी चैतन्य अपने शरीर मे प्रवृत्ति या निवृत्ति करते हैं। प्रयत्न और इच्छा से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कार्य होता है ऐसा माने तो पृथ्वी आदि मे भी प्रयत्न और इच्छा से कार्य का कर्तापना मानना चाहिये। ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्नधारता यह कर्तृत्व का लक्षण है, शरीर सहित या शरीर रहित होना कर्तृत्व नही है। इसी को सिद्ध करते है—कोई व्यक्ति सशरीरी होकर भी घट कार्य करना नही जानता है तो उसमे कर्तृत्व नही दिखाई देता है और कोई पुरुष कार्य करना जान रहा है किंतु इच्छा नही है, तो भी कार्य नही करता है तथा इच्छा है किंतु प्रयत्न का अभाव है तो भी कार्य नही होता है इस

प्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम् न सशरीरेतरता, घटादिकार्य कर्तु मजानतः सशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वा-दर्शनात्, जानतोपीच्छापाये तदनुपलम्भात्, इच्छतोपि प्रयत्नाभावे तदसम्भवात्, तत्त्रयमेव कारक-प्रयुक्ति प्रत्यङ्ग न शरीरेतरता।

न च दृष्टान्तेऽनीश्वरासर्वज्ञकृत्रिमज्ञानवता कार्यत्व व्याप्त प्रतिपन्नमित्यत्रापि तथाविधमेवा-धिष्ठातार साधयतीति विशेषविरुद्धता हेतो इत्यभिधातव्यम्, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वात्। धूमाद्यनुमानेपि चैतत्समानम्–धूमो हि महानसादिदेशसम्बन्धितार्णपार्णादिविशेषा-धारेणाग्निना व्याप्त पर्वतेपि तथाविधमेवाग्नि साधयेदिति विशेषविरुद्ध। देशादिविशेषत्यागेना-ग्निमात्रेणास्य व्याप्तेर्न दोष इत्यन्यत्रापि समानम्।

सर्वज्ञता चास्याशेषकार्यकरणात्सिद्धा। यो हि यत्करोति स तस्योपादानादिकारणकलाप प्रयोजन चावश्य जानाति, अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्कुम्भकारादिवत्। तथा "विश्वतश्चक्षुः" [श्वेता-श्वतरोप० ३।३] इत्यागमादप्यसौ सिद्ध

प्रकार ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा ये तीन कर्ता के अग है, अर्थात् कार्य कर्ता मे ये तीन हो तो कार्य कर सकेगा अन्यथा नही। अत शरीरी होना या अशरीरी होना कर्ता के अग नही है।

शका–पृथ्वी आदि ईश्वरकृत है ऐसा सिद्ध करने मे "घटादिवत्" यह दृष्टात दिया है। घट का कार्यत्व अधीश्वर, असर्वज्ञ, अनित्य ज्ञानी के साथ व्याप्त है अतः कार्यत्व हेतु पृथ्वी आदि मे वैसे ही अनीश्वर असर्वज्ञ आदि विशेषण वाले कर्ता को सिद्ध करता है इसलिये यह हेतु विशेष विरुद्ध दोष वाला है।

समाधान–ऐसा नही कहना, हम यौग ने यहा पर सामान्यत बुद्धिमत् कारण पूर्वकत्व को साध्य बनाया है शकाकार ने हमारे कार्यत्व हेतु के विषय मे जो कहा उसको धूमत्व आदि हेतु के विषय मे भी कह सकते हैं—धूम हेतु महानस आदि स्थानो पर तृण की अग्नि, पत्तो की अग्नि आदि विशेष आधार से व्याप्त था अत पर्वत पर उसी प्रकार की अग्नि को सिद्ध करेगा अत धूमत्व हेतु भी विशेष विरुद्ध होता है। यदि कहा जाय कि देश आदि विशेष से रहित मात्र सामान्य अग्नि के साथ धूम हेतु की व्याप्ति रहती है अत. कोई दोष नही है, तो यही बात कार्यत्व हेतु मे है दोनो मे समान ही दोष और परिहार है ईश्वर मे सर्वज्ञता इसलिये सिद्ध होती है कि वह सपूर्ण कार्यो को करता है, जो जिसको करता है वह उस कार्य के उपादान आदि कारण कलाप को तथा प्रयोजन को अवश्य ही जानता है, अन्यथा कार्य को कर नही

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वर. ॥ २ ॥"

[भगवद्गी० १५।१६-१७]

इति व्यासवचनसद्भावाच्च ।

न च स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम्, प्रमाजनकत्वस्य सद्भावात् । प्रमाजनकत्वेन हि प्रमाणस्य प्रामाण्य न प्रवृत्तिजनकत्वेन, तच्चेहास्त्येव । प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदु खसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद्भवत । विधेरङ्गत्वादमीषा प्रामाण्य न स्वरूपार्थत्वात्, इत्यसत्, स्वार्थ-

---

सकता है, जैसे कु भकार घट के कारण कलाप को जानकर घट को बनाता है । तथा विश्वतश्चक्षु इत्यादि आगम वाक्य से भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है । ससार मे दो पुरुष है एक (क्षर) अनित्य है एक अक्षर (नित्य) है, क्षर तो सभी समारी जीव है और अक्षर मात्र एक (ईश्वर है) ॥१॥ जो अक्षर है वह उत्तम पुरुष है, उसी को परमात्मा कहते है, ईश्वर तथा अव्यय भी कहते हैं, जो कि तीनो लोको मे प्रवेश कर उनको धारण करता है ॥ २ ॥ इस प्रकार के ईश्वर के विषय मे व्यास ऋषि के वचन है ।

स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वेद वाक्य भी इस विषय मे अप्रमाण नही है, क्योकि वे वाक्यप्रमा को (यथार्थ अनुभव को) उत्पन्न करते हैं । जो प्रमा को उत्पन्न करता है वह प्रमाण है, उसी के निमित्त से प्रामाण्य आता है न कि प्रवृत्ति को उत्पन्न करने से । ऐसी प्रमाणता तो वेद वाक्य मे मौजूद ही है, प्रवृत्ति और निवृत्ति तो सुख दु ख के साधनो का निश्चय होने के बाद तदर्थ इच्छुक समर्थ पुरुष की होती है ।

शका—वेद वाक्यो मे विधि का अग होने से प्रमाणता है न कि स्वरूप प्रतिपादक होने से ?

समाधान—ऐसा नही है, स्वार्थ प्रतिपादक होने से वेद वाक्य विधि का अग बने है इसी को बताते है—स्तुति के वाक्य स्वार्थ प्रतिपादक होने से प्रवर्तक हैं और निंदा के वाक्य निवर्त्तक हैं, अन्यथा उन वाक्यो के अर्थ के परिज्ञान के अभाव मे उपादेय और निषिद्ध कार्यो मे समान रूप से ही प्रवृत्ति या निवृत्ति हो जायगी । दूसरी

प्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात् । तथाहि—स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तकत्वं निन्दायास्तु निवर्तकत्वम्, अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषेधेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात् । तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्व दृष्टमेवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात्, वाक्यरूपताया अविशेषाद्विशेषहेतोश्चाभावात् । तथा स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "मेध्या आपो दर्भः पवित्रममेध्यमशुचि" इत्येवस्वरूपापरिज्ञाने विध्यङ्गतायामविशेषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः । न चैतदस्ति, मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तते इत्युपलम्भात् ।

एव प्रमाणप्रसिद्धो भगवान् कारुण्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिना प्रवर्त्तते । न चैव सुखसाधन एव प्राणिसर्गोऽनुषज्यते, अदृष्टसहकारिण कर्तृत्वात् । यस्य यथाविधोऽदृष्ट पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफलोपभोगाय तत्सापेक्षस्तथाविधशरीरादीन्सृजतीति । अदृष्टप्रक्षयो हि फलोपभोग विना न शक्यो विधातुम् ।

बात यह है कि जो लोग वेद वाक्य का अर्थ विधि रूप करते है उनके यहा भी स्वार्थ प्रतिपादन द्वारा ही पुरुष के प्रेरकपना देखा जाता है अत. स्वरूप प्रतिपादक वाक्यो मे भी इसी प्रकार घटित होता है । विधि परक वाक्य और स्वरूप प्रतिपादक वाक्य इनमे वाक्यपना तो समान ही है, भेद कारक विशेष हेतु भी नही है । तथा यदि स्वरूपार्थ प्रतिपादक वेद वाक्यो मे अप्रामाण्य माना जायगा तो "जल पवित्र है," "दर्भ पवित्र है" "अशुचि पदार्थ अपवित्र है" इत्यादि वस्तु स्वरूप का ज्ञान नही होने से दोनो मे विधि रूपता की समानता होने से प्रवृत्ति निवृत्ति समान हो जायगी, किंतु ऐसा नही होता है पवित्र पदार्थो में ही प्रवृत्ति होती है और अपवित्र मे ही निवृत्ति होती है ।

इस प्रकार प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध ऐसे भगवान करुणा भाव से प्राणियो के शरीरादि की रचना में प्रवृत्ति करते है । करुणा से प्रवृत्ति करता है तो सुख साधन रूप ही प्राणियों को पैदा करना चाहिये ऐसा भी नही कह सकते है क्योकि प्राणियो के शरीर आदि के कर्तृत्व मे ईश्वर को अदृष्ट की सहायता रहती है, जिस प्राणी का जिस प्रकार का अदृष्ट पुण्य रूप या पाप रूप होता है उसको वैसे फल भोगने के लिये ईश्वर उसी प्रकार के अदृष्ट की अपेक्षा से वैसे ही शरीरादि की रचना करता है । अदृष्ट का नाश फल भोगे बिना नही हो सकता है । ऐसा भी नही कहना कि—अदृष्ट से ही सकल कार्य की उत्पत्ति होती है अत॰ अन्य कर्ता की कल्पना क्यों करना ? अदृष्ट

न चादृष्टादेवाखिलोत्पत्तिरस्तु किं कर्तृकल्पनयेति वाच्यम्, तस्याप्यचेतनतयाधिष्ठात्रपेक्षोपपत्ते । तथाहि-अदृष्टं चेतनाधिष्ठितं कार्ये प्रवर्त्ततेऽचेतनत्वात्तन्त्वादिवत् । न चास्मदाद्यात्मैवाधिष्ठायकः, तस्यादृष्टपरमाण्वादिविषयविज्ञानाभावात् । न च (चा) चेतनस्याकस्मात्प्रवृत्तिरुपलब्धा, प्रवृत्तौ वा निष्पन्नेपि कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकशून्यत्वात् ।

तथा वार्त्तिककारेणापि प्रमाणद्वयं तत्सिद्धयेऽभ्यधायि—"महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत् । तथा पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्त्तन्तेऽनित्यत्वाद्वास्यादिवत् ।" [न्यायवा० पृ० ४६७]

तथाऽविद्धकर्णेन च—"तनुकरणभुवनोपादानानि चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादिवत् ।" तथा "द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं विमतिभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं स्वारम्भका-

---

अचेतन होने से अधिष्ठायक चेतन की अपेक्षा रखता है इसी का खुलासा करते हैं—अदृष्ट चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य मे प्रवृत्त होता है क्योकि वह अचेतन है, जैसे ततु आदि पदार्थ अचेतन है । इस पर जैनादि परवादी शका करते हैं कि हम जैसे प्राणियो का आत्मा ही अदृष्ट का अधिष्ठायक होता है, तो यह शका गलत है, हमारे आत्मा को अदृष्ट परमाणु आदि विषयो का ज्ञान नही होता है, तथा अचेतन के विना कारण के प्रवृत्ति भी नही हो सकती, यदि होगी तो निष्पन्न कार्य मे भी होती रहेगी क्योकि अचेतन विवेक शून्य होता है । वार्तिककार ने भी ईश्वर सिद्धि के लिये २ प्रमाण उपस्थित किये है, प्रथम प्रमाण—महाभूत आदि कार्य चेतन से अधिष्ठित होकर प्राणियो के सुख दुःख का निमित्त वनता है क्योकि वह रूपादिमान है जैसे वाद्य चेतनाधिष्ठित होकर ही वजने का कार्य करता है । दूसरा प्रमाण—पृथ्वी आदि महाभूत वुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर अपने धारण आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त होते हैं, क्योकि वे अनित्य हैं, जैसे वसूला आदि अपने काटने रूप क्रिया मे देवदत्त से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है जो वुद्धिमान कारण है वही ईश्वर हे । इन दो अनुमान प्रमाणो से ईश्वर की सिद्धि होती है ।

अविद्धकर्ण नामा गुरु ने भी कहा है कि शरीर, जगत, इन्द्रिया आदि उपादान रूप कारण चेतन से अधिष्ठित होकर स्वकार्य का आरभ करते है, क्योकि वे रूपादिमान है, जैसे तन्तु, तन्तुवाय से अधिष्ठित होकर वस्त्ररूप कार्य करते हैं, दूसरा अनुमान द्वीन्द्रिय ग्राह्य (स्पर्शन और चक्षु से ग्राह्य) पदार्थ और इनसे अग्राह्य पदार्थ

वयवसन्निवेशविशिष्टत्वाद् घटादिवत् । वैधर्म्येण परमाणवो यथा" [ ] द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्य पृथिव्यप्तेजोलक्षण त्रिविध द्रव्यमग्राह्य वाय्वादिकम् । वायौ हि रूपसंस्काराभावादनुपलब्धिः रूपसंस्कारो रूपसमवायः । द्व्यणुकादीना त्वऽमहत्वात् । उक्तं च–"महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धि" [वैशे० सू० ४।१।६]

प्रशस्तमतिना च; "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वकः" [ ] इति ।

जो कि विवादग्रस्त है वे बुद्धिमान कारण पूर्वक होते है, क्योकि अपने आरम्भक परमाणु रूप अवयवो की रचना स्वरूप है, जैसे घटादि पदार्थ परमाणुओ की रचना विशेष होने से चेतन अधिष्ठित है । व्यतिरेक दृष्टात में परमाणु को ले लीजिये, अर्थात् जो रचना विशेष रूप नही है वह चेतनाधिष्ठित भी नही है जैसे परमाणु रचना विशेष रूप नही है अत चेतनाधिष्ठित नही है । दर्शन तथा स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ पृथ्वी जल और अग्नि ये तीन द्रव्य है । वायु आदिक अग्राह्य द्रव्य है । रूप सस्कार का अभाव होने से वायु की उपलब्धि नही होती है, रूप का समवाय होने को रूप सस्कार कहते है । द्वि अणुक आदि पदार्थ अमहत्व रूप होने से अग्राह्य होते है । कहा भी है महान मे अनेक द्रव्यपना होने से तथा रूप विशेष होने से रूप की उपलब्धि होती है । प्रशस्तमति ने भी कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे पुरुषोका व्यवहार अन्य उपदेश पूर्वक होता है क्योकि उत्तरकाल मे प्रबुद्ध पुरुषो का अर्थ के प्रति नियमितपना देखा जाता है जैसे जिनको वचन बोलना नही आता है ऐसे कुमारो का गो आदि अर्थ में नियतरूप वचन व्यवहार होता है वह माता पिता के उपदेश पूर्वक होता है ।

भावार्थ–बालक को शुरुआत मे माता पिता वचन बोलना एव वस्तु का नाम निर्देश आदि सिखाते है कि यह गाय है इसे गाय कहना यह पुस्तक है इत्यादि उस शिक्षा से ही बालको का प्रत्येक पदार्थ मे निश्चित वचन व्यवहार होने लगता है, उसी प्रकार सृष्टि के शुरुआत मे पुरुषो का कार्यो मे प्रवृत्ति होना आदि व्यवहार होता है वह अन्य पुरुष के उपदेश से ही होता है इस तरह अनादि एक ईश्वर सिद्ध होता है उद्योतकर नामा टीकाकार ने भी कहा है कि जगत के कारणभूत प्रधान परमाणु तथा अदृष्ट ये सब स्वकार्य की उत्पत्ति मे अतिशय बुद्धिमान अधिष्ठाता की अपेक्षा रखते

उद्द्योतकरेण च, "भुवनहेतवः प्रधानपरमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठितारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवत्। तथा, बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादि व्यक्तं सुखदुःखनिमित्तं भवत्यचेतनत्वात्कार्यत्वाद्विनाशित्वाद्रूपादिमत्वाद्वा वास्यादिवत्।" [न्यायवा० पृ० ४५७] इत्यनवद्यं भगवतः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानाद्यतिशयस्य साधनम्।

अत्र प्रतिविधीयते-सावयवत्वात्कार्यत्वं क्षित्यादेः प्रसाध्यते। तत्र किमिदं सावयवत्वं नाम? सहावयवैर्वर्त्तमानत्वम्, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा? प्रथमपक्षे सामान्यादिनानेकान्तः; गोत्वादि सामान्यं हि सहावयवैर्वर्त्तते, न च कार्यम्। द्वितीयपक्षेप्यसिद्धो हेतुः; परमाण्वाद्य-

---

है क्योकि ये स्थित होकर कार्य मे प्रवृत्ति करते हैं, जैसे तन्तु (धागे) वाद्य आदिक पदार्थ स्थित होकर कार्य करते है अत बुद्धिमान अधिष्ठाता जुलाहा आदि की अपेक्षा रखते है। दूसरा अनुमान महाभूत पृथ्वी आदि बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर सुख दु ख का निमित्त हुआ करते हैं, क्योंकि वे सब अचेतन हैं, कार्यरूप हैं, नाशशील हैं, तथा रूपादिमान हैं, जैसे वसूला आदि शस्त्र चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। इस प्रकार यहा तक अनादि ईश्वर को सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण वताये गये है उनसे भगवान ईश्वर की निर्दोष रूप से सिद्धि होती है तथा उनमें प्रलय काल मे भी ज्ञान का अतिशय सर्वज्ञपना वना रहता है, ऐसा सिद्ध होता है।

जैन—ईश्वरवादी यौग का यह कथन असत्य है, पृथ्वी आदि मे अवयवपना होने से कार्यत्व को सिद्ध करते है, सो प्रश्न होता है कि सावयवपना किसे कहते हैं? अवयवो के साथ रहना, अवयवो से उत्पन्न होना "यह सावयव है" ऐसा बुद्धि का विषय होना? प्रथम पक्ष मे सामान्य आदि के साथ अनेकात दोष आता है क्योकि गोत्व आदि सामान्य अवयवो के साथ तो रहता है किन्तु कार्य नही है। दूसरे पक्ष मे कार्यत्व हेतु असिद्ध दोष सयुक्त होता है क्योकि परमाणु आदि अवयव प्रत्यक्ष से असिद्ध हैं अत उनसे पृथ्वी आदि का उत्पन्न होना भी असिद्ध रहेगा किसी भी पदार्थ का कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष और अनुपलभ प्रमाण द्वारा जाना जाता है अन्यथा नही।

शका—द्व्यणुक आदि पदार्थ अपने से अल्प परिमाण वाले परमाणुरूप कारण से किये हुए है, क्योकि वे कार्य है, जैसे पटादिक कार्य है इस अनुमान से परमाणु आदि की सिद्धि हो जाती है?

समाधान—इस तरह मानने से चक्रक दोष आता है परमाणु के प्रसिद्ध होने पर उनसे पृथ्वी आदि का उत्पन्न होना रूप सावयवत्व सिद्ध होगा और उनके सिद्ध

वयवाना प्रत्यक्षतोऽसिद्धौ क्षित्यादेस्तज्जन्यमानत्वस्याप्यसिद्धेः। प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनश्च कार्यकारणभावः। द्व्यणुकादिकं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्धं कार्यत्वात्पटादिवदित्यनुमानात्तेषा प्रसिद्धिः; इत्यप्यसमीचीनम्, चक्रकप्रसङ्गात्—परमाणुप्रसिद्धौ हि क्षित्यादेस्तैर्जन्यमानत्वलक्षणसावयवत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यत्वसिद्धि, ततश्च परमाणुप्रसिद्धिरिति। महापरिमाणोपेतप्रशिथिलावयवकर्पासपिण्डोपादानेन अतिनिबिडावयवाल्पपरिमाणोपेतकर्पासपिण्डेन अनेकान्तश्च। बलवत्पुरुषप्रयत्नप्रेरितहस्ताद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयवविभागात् संयोगविनाशात् महाकर्पासपिण्डविनाशः, अल्पकर्पासपिण्डोत्पादस्तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषवशादेव भवति, इत्यपि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषणमात्रम्, प्रमाणतोऽप्रतीतेः। कर्पासद्रव्य हि महापरिमाणपिण्डाकारपरित्यागे-

---

होने पर कार्यत्व हेतु सिद्ध होगा फिर परमाणु की प्रसिद्धि होगी। आपने कहा कि जो कार्य होता है वह अपने से अल्प परिमाण वाले कारण से होता है, सो यह कथन महान परिणामरूप शिथिल अवयव वाले कार्पास पिण्डसे अति निबिड (घनिष्ट) सम्बन्ध रूप अवयवो का अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड बनता हुआ दिखाई देने से अनैकान्तिक होता है, क्योकि यहां महान परिणाम रूप कार्पास से अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड उत्पन्न हुआ है।

यौग—बलवान पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित हाथ आदि के आघात से अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है, उससे अवयवो का विभाग होता है उस विभाग से सयोग का नाश होता है और उससे महाकार्पास पिण्ड नष्ट होता है, अल्प कार्पास पिण्ड का उत्पाद तो भिन्न कारण से ही होता है, उसमें पहले तो उस पिण्ड के आरम्भक जो अवयव हैं उनमे क्रिया होती है, उस क्रिया से सयोग विशेष होता है और उससे अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड तैयार हो जाता है ?

जैन—यह विनाश और उत्पाद की प्रक्रिया का वर्णन असत् है, क्योंकि प्रमाण से ऐसी प्रतीति नही होती है प्रमाण से तो एक ही कार्पास द्रव्य महापरिमाण पिण्डाकार को छोड़कर अल्प परिमाण पिण्डाकार रूप से उत्पन्न होता हुआ प्रतीति में आता है। अतिशीघ्र पूर्व सयोग का नाश होकर नवीन पिण्ड तैयार होता है अत भेद मालूम नही देता है ऐसा समाधान देना भी असंगत है इस तरह तो सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध हो जावेगे क्षणिकवादी कह सकते है कि सभी पदार्थ क्षणिक है उनमे अभेद का अध्यवसाय सदृश अपर अपर पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है, इस प्रकार

नाल्पपरिमाणपिण्डाकाकारतयोत्पद्यमान प्रमाणत प्रतीयते। आशूत्पत्तेर्भेदानवधारणात्तथा प्रतीतिरित्यप्यसङ्गतम्, सकलभावाना क्षणिकत्वानुषङ्गात्। अभेदाध्यवसायस्तु सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यनिष्टसिद्धिप्रसगात्। नाप्यागमात्परमाण्वादिप्रसिद्धिस्तत्प्रामाण्याप्रसिद्धे:।

सावयवमिति बुद्धिविषयत्वमपि, आत्मादिनानैकान्तिक तस्याकार्यत्वेपि तत्प्रसिद्धे। सावयवार्थसयोगान्निरवयवत्वेप्यस्य तद्बुद्धिविषयत्वमित्यौपचारिकम्, तदप्यसगतम्; तस्य निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत्। तदपि ह्यौपचारिकमेव स्यात्। तदेव सावयवत्वासिद्धे: कथं तत क्षित्यादे कार्यत्वसिद्धि?

अनिष्ट तत्व की सिद्धि होने का प्रसग आता है। आगम से भी परमाणु आदि की सिद्धि नही होती है क्योकि उसमे प्रामाण्य की असिद्धि है। सावयत्व का तीसरा अर्थ किया था "सावयव है ऐसा बुद्धि का विषय होना" यह पक्ष भी आत्मादि द्रव्यो से अनेकातिक होता है, आत्मादिक पदार्थ कार्य नही होते हुए भी सावयव हैं ऐसी बुद्धि के विषय है।

यौग—सावयवी पदार्थो के सयोग होने से निरवयवी आत्मादि मे सावयव की बुद्धि का विषयपना आ जाता है अत यहा का सावयवत्व मात्र औपचारिक है।

जैन—यह बात असगत है, आत्मा को निरवयवी मानेगे तो परमाणु के समान उसके व्यापकत्व मे विरोध आयेगा, अथवा आत्मा मे सावयवत्व के समान व्यापकत्व भी औपचारिक सिद्ध होगा। इस प्रकार सावयव शब्द का अर्थ सिद्ध नही होता है अत उससे पृथ्वी आदि का कार्यपना कैसे सिद्ध हो सकता है?

यौग—जो पहले असत् रूप है उसके स्वकारण का समवाय होने से अथवा सत्ता का समवाय होने से पृथ्वी आदि का कार्यपना सिद्ध होता है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो किससे पहले असत् थे? कारण समवाय से पहले कहो तो कारण समवाय के समय मे पहले के समान स्वरूप सत्व का अभाव था कि नही? यदि अभाव था तो प्राग् इस प्रकार का विशेषण व्यर्थ होता है, क्योकि प्रथम तो यह बात होती है कि समवाय के समय मे कार्य का स्वरूप से सत्त्व होना सभव है तो कारण के समान कार्य का सत्त्व भी पहले था अत कार्य मे कार्यपना सिद्ध नही होता, जिससे कि प्राग् विशेषण अर्थवान होता, तथा दूसरी बात यह होती है कि पहले के समान कारण समवाय के समय मे भी इस (कार्य) के स्वरूप सत्व का

प्रागसतः स्वकारणसमवायात्, सत्तासमवायाद्वा तत्सिद्धिश्चेत्; कुत. प्राक्? कारण-समवायाच्चेत्; तत्समवायसमये प्रागिवास्य स्वरूपसत्त्वस्याभाव., न वा? अभावे 'प्राक्' इति विशेषणमनर्थकम्। कार्यस्य हि कारणसमवायसमये स्वरूपेण सत्त्वसम्भवे तद्वत्प्रागपि सत्त्वे कार्यता न स्यात्। ततः प्रागित्यर्थवत्स्यात्। प्रागिव तत्समवायसमयेप्यस्य स्वरूप-सत्त्वाभावे तु 'असत.' इत्येवाभिधातव्यम्। न चासत कारणसमवायः; खरविषाणादेरपि तत्प्रसंगात्। न चास्य कारणाभावान्न तत्प्रसगः, इत्यभिधातव्यम्, क्षित्यादेरपि तदभावप्रसगादसत्त्वाविशेषात्। क्षित्यादे. कारणोपलम्भान्न दोष.; इत्यप्यसारम्, कार्यकारणयोरुपलम्भे हीदमस्य कारणं कार्यं चेदमिति प्रति (वि)भाग स्यात्। न च प्रत्यक्षतः क्षित्यादेरुपलम्भोऽसतस्तस्य तज्जनकत्वविरोधात् खरविषाणवत्। न चाजनकं विषयः, उपलम्भकारणमुपलम्भविषय इत्यभ्युपगमात्।

अभाव है तो उसको असत् इस प्रकार कहना होगा। असत् मे कारण का समवाय होना निषिद्ध है, यदि माने तो गधे के सीग आदि मे भी मानना होगा। गधे के सीगादि के कारण का अभाव होने से समवाय नही होता है, ऐसा भी नहीं कहना, इस तरह तो असत्व की अविशेषता होने से पृथ्वी आदि मे भी कारण समवाय का अभाव मानने का प्रसग आता है। पृथ्वी आदि का कारण उपलब्ध होता है अत कोई दोष नही है ऐसा कहना भी सार रहित है, जब कारण और कार्य उपलब्ध होवे तब यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है ऐसा विभाग कर सकते है, किंतु पृथ्वी आदि के कारणो की उपलब्धि प्रत्यक्ष से नही होती है, असद्भूत पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक नही होते हैं, जैसे खरविषाण नही होते। जो अजनक है वह विषय भी नही हो सकता, क्योकि जो प्रत्यक्ष का कारण है वह प्रत्यक्ष का विषय होता है ऐसा आपने स्वीकार किया है।

प्राग् असत् के सत्ता समवाय होने से पृथ्वी आदि के कार्यत्व की सिद्धि होती है ऐसा पक्ष कहना भी पहले के समान दोष युक्त है।

यौग— इस पक्ष मे पहले के समान बात नही है, पृथ्वी आदि के कार्य और खरविषाण इनमे विशेषता है, खरविषाण तो अत्यन्त असत है किन्तु पृथ्वी आदिक न सत् है न असत् है, वह तो सत्ता सम्बन्ध से सत् है।

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है सत् और असत् का एक साथ एक मे ही प्रतिषेध नही हो सकता है। सत नहीं है, ऐसा कहने से सत्ता सम्बन्ध के पहले उसका प्रागभाव था ऐसा सिद्ध होता है क्योंकि न सत् का अर्थ सत् का प्रतिषेध है। असत्

प्रागसत सत्तासम्बन्धेप्येतत्सर्वं समानम् । न समानम्, खरशृंगादे क्षित्यादिकार्यस्य, विशेषसम्भवात् । तद्धत्यन्ताऽसत् क्षित्यादिक न सन्नाऽप्यसत्सत्तासम्बन्धात्तु सत्, इत्यपि मनोरथमात्रम्, सत्त्वासत्त्वयोरेकत्रैकदा प्रतिषेधविरोधात् । 'न सत्' इत्यभिधानात्तस्य सत्तासम्बन्धात्प्रागभावः स्यात्सत्प्रतिषेधलक्षणत्वादस्य, 'नाप्यसत्' इत्यभिधानात्तु भाव', असत्त्वप्रतिपेधरूपत्वात्तस्य रूपान्तराभावात् । ततोऽसदेव तदभ्युपगन्तव्यम् । तन्नास्य खरशृ गादेर्विशेषः ।

किञ्च, सत्ता सती, असती वा ? यद्यऽसती, कथं तया वन्ध्यासुतयेव सम्बन्धादन्येषां सत्त्वम् ? सती चेत्स्वतः, अन्यसत्तातो वा ? यद्यन्यसत्तातोऽनवस्था । स्वतश्चेत् पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम् ।

एतेन द्वितीयविकल्पोप्यपास्त । कार्यस्य हि स्वत सत्त्वोपगमे किं तत्कल्पनया साध्यम् ? अनवस्थाप्रसगात् । तदेव कार्यत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुः ।

नही हैं ऐसा कहेगे तो सद्भाव रूप वस्तु का ग्रहण होता है क्योकि सद्भाव असत्व का प्रतिषेध रूप है । असत्व और सत्व को छोडकर तीसरा रूप नही हैं । अत. सत्ता सम्बन्ध के पहले पृथ्वी आदि असत् थे ऐसा आपको मानना पड़ेगा । इस तरह पृथ्वी आदि की खरविषाण से कोई विशेषता सिद्ध नही होती ।

आप यौग की सत्ता भी किस जाति की है ? असत् है कि सत् है ? यदि असत् है तो बन्ध्या पुत्र के समान उसके सम्बन्ध से अन्य मे सत्व कैसे आयेगा ? अर्थात् नही आ सकता हैं । यदि सत् है तो स्वत सत् हैं या अन्य से सत् है ? "अन्य से सत् है" तो अनवस्था आती है और स्वत. ही सत् है तो पृथ्वी आदि पदार्थों मे भी स्वत सत्व होना चाहिये इस तरह सत्ता समवाय की कल्पना करना व्यर्थ हो जाता है ।

शुरू मे प्रश्न हुआ था कि पृथ्वी आदि मे कारण समवाय के समय स्वरूप सत्व का अभाव है कि नही सो इसमे अभाव का पक्ष समाप्त हुआ, अब "अभाव नही है" ऐसे दूसरे विकल्प मे विचार करे तो प्रथम पक्ष के समान इसमे भी दोष हैं क्योकि पृथ्वी आदि मे कारण समवाय के समय स्वरूप का सत्व है तो स्वत सत्व रूप उन पदार्थों मे कारण समवाय अथवा सत्ता समवाय की कल्पना करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? उल्टा अनवस्था दोष का प्रसग प्राप्त होता है, इस प्रकार पृथ्वी आदि मे कार्यत्व सिद्ध नही होने से कार्यत्व हेतु मे असिद्ध दोष सिद्ध होता है । किञ्च, पृथ्वी आदि को कथंचित् कार्यत्व रूप मानते है या सर्वथा ? सर्वथा कहो तो वही

किञ्च, कथञ्चित्कार्यत्वं क्षित्यादे, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्पुनरप्यसिद्धत्व द्रव्यतोऽशेषार्थानामकार्यत्वात्। कथञ्चित् चेद्विरुद्धत्वम्, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथञ्चिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्।

अनैकान्तिक च आत्मादिभिः, तेषां बुद्धिमन्निमित्तत्वाभावेपि तत्सम्भवात्। कथञ्चिदप्यकार्यत्वे चैतेषा कार्यकारित्वस्याभावस्तस्याऽकर्तृरूपत्यागेन कर्तृरूपोपादानाविनाभावित्वात्। तत्त्यागोपादानयोश्चैकरूपे वस्तुन्यसम्भवात्सिद्ध कथञ्चित् कार्यत्व तेषाम्। कर्तृत्वाकर्तृत्वरूपयोरात्मादिभ्योऽर्थान्तरत्वान्न तद्विनाशोत्पादाभ्या तेषामपि तथाभावो यतः कार्यत्व स्यात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तयोस्ततोऽर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिप्रसङ्गात्। समवायादेश्च कृतोत्तरत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन।

हेत्वाभास का प्रसग होगा क्योकि द्रव्य रूप से सभी पदार्थो को अकार्य रूप (कथचित् कार्यरूप) माना है ऐसा कहो तो विरुद्ध हेत्वाभास होगा, क्योकि पृथ्वी आदि सर्वथा बुद्धिमान निमित्तक है ऐसा आपका साध्य था किंतु हेतु उससे विपरीत कथचित् बुद्धिमान निमित्तक को सिद्ध कर रहा है। यह कार्यत्व हेतु अनैकातिक दोष युक्त भी है, आत्मा आदि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक नही होकर भी कार्य है। यदि आत्मादि को कथचित् रूप से भी कार्य स्वरूप नही मानेगे तो वे कार्यकारी नही रहेगे। कार्यकारी पदार्थ तो वे ही होते है जो अपने अकर्तृत्व का परित्याग कर कर्तृत्व को धारण करते है सर्वथा एक रूप वस्तु मे अकर्तृत्व त्याग और कर्तृत्व ग्रहण रूप परिणमन असभव होने से आत्मा आदि पदार्थों मे कथचित् कार्यत्व है ऐसा सिद्ध होता है।

शंका–आत्मा आदि पदार्थो मे जो कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप होता है वह उनसे पृथक् है अत उनके उत्पाद और नाश से आत्मादि का भी उत्पाद आदि होने का प्रसग नही आता, इसलिये आत्मादि मे कार्यत्व सिद्ध नही होता है।

जैन–यह कथन श्रद्धामात्र है, कर्तृत्व आदि से आत्मादि को पृथक् मानेगे तो उनका सम्बन्ध नही हो सकेगा समवाय सम्बन्ध आदि के विषय मे पहले कह चुके हैं, अब अतिप्रसग से बस हो।

दूसरी बात यह है कि "बुद्धिमान कारण है" इस शब्द मे मतुप् प्रत्यय अर्थ वाला साध्य का विशेषण अनुपपन्न है। क्योकि बुद्धिमान से बुद्धि भिन्न है कि अभिन्न है ? दोनो पक्ष में से पहली बात माने कि बुद्धि बुद्धिमान से सर्वथा भिन्न है तो "बुद्धिमान की बुद्धि है" ऐसा सबध सिद्ध नही होता है। तथा बुद्धि बुद्धिमान का गुण

बुद्धिमत्कारणमित्यत्र च मत्वर्थस्य साध्यविशेषणस्यानुपपत्तिः। बुद्धिमतो हि बुद्धिर्व्यतिरिक्ता वा, अव्यतिरिक्ता वा ? तत्र तस्यास्ततो व्यतिरेकैकान्ते तस्येति सम्बन्धस्याभाव। सा हि तस्य तद्गुणत्वात्, तत्समवायाद्वा, तत्कार्यत्वाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तद्गुणत्वात्सा तस्येत्यभिधातव्यम्, ततो व्यतिरेकैकान्ते सा तस्यैव गुणो नाकाशादेरिति व्यवस्थापयितुमशक्तेः। नापि तत्समवायात्, तस्यैवासम्भवात्। सम्भवे वा तस्य ताभ्या भेदैकान्ते व्यवस्थापकत्वायोगात्सर्वत्राविशेषाच्च। तत्कार्यत्वात्सा तस्येति चेत्, कुतस्तत्कार्यत्वम् ? तस्मिन्सति भावात्, आकाशादौ प्रसङ्ग। तदभावेऽभावाच्चेन्न, नित्यव्यापित्वाभ्या तस्य तदयोगात्। तदाधेयत्वात्सा तस्येति चेत्, किमिद तदाधेयत्व नाम ? समवायेन तत्र वर्त्तन चेत्तत्कृतोत्तरम्। तादात्म्येन वर्त्तन चेन्न, अनभ्युपगमात्। सम्बन्धमात्रेण वर्त्तन चेत्, तर्हि घटादेर्भूतलादिगुणत्वप्रसङ्ग, सम्बन्धमात्रेण वर्त्तमानस्य तस्य तदाधेयत्वसम्भवात्।

होने से उसको कहलाती है या उसमे समवाय होने से, उसका कार्य होने से, अथवा उसका आधेय होने से उसकी कहलाती है ? बुद्धि बुद्धिमान का गुण होने से उसकी कहलाती है ऐसा प्रथम विकल्प नही मान सकते क्योकि बुद्धिमान से सर्वथा भिन्न उस बुद्धि को बुद्धिमान का ही गुण है आकाशादि का नही है इस प्रकार व्यवस्था करना अशक्य है। उसमे समवाय होने से बुद्धिमान की बुद्धि कहलाती है, ऐसा द्वितीय विकल्प भी समवाय का असभव होने से ठीक नही है। सभावना हो भी जाय तो उसका बुद्धि और बुद्धिमान से सर्वथा भेद होने के एव सर्वत्र अविशेष रूप से व्यापक होने के कारण यह इस बुद्धिमान की बुद्धि है ऐसा व्यवस्थित नही होता है। बुद्धि बुद्धिमान कार्य होने से उसकी कहलाती है ऐसा तीसरा पक्ष कहे तो बुद्धिमान का कार्य बुद्धि है यह किस हेतु से सिद्ध होगा ? उसके होने पर होना रूप हेतु से कहो तो आकाशादि हेतु चला जाता है। उसके न होने पर नही होना रूप हेतु द्वारा बुद्धि बुद्धिमान का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है इस तरह कहना भी गलत है, क्योकि नित्य और व्यापक होने से इसके न होने पर नही होता ऐसा बुद्धिमान मे घटित नही हो सकता है। उसका आधेय होने से बुद्धि बुद्धिमान की कहलाती है ऐसा कहो तो बताइये कि उसका आधेयपना क्या है ? समवाय से बुद्धिमान मे रहना तदाधेयत्व है ऐसा कहना शक्य नही क्योकि इस विषय मे उत्तर दे चुके है। तादात्म्य रूप से रहना तदाधेयत्व है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योकि यौग के यहा तादात्म्य को नही माना है। सम्बन्ध मात्र से रहना तदाधेयत्व है, ऐसा कहो तो घट आदि पदार्थ भूमि आदि

किञ्च, व्याप्त्या तेनास्यास्तत्र वर्त्तनम्, अव्याप्त्या वा ? न तावद्व्याप्त्या, आत्मविशेषगुण-त्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवत् । परममहापरिमाणेन व्यभिचार , इत्ययुक्तम्, तत्र विशेषगुणत्वाभावात् । नन्वेवमस्मदादिबुद्ध्यादौ सकलार्थग्राहित्वाभावो दृष्टः सोपि तत्र स्यादिति चेत्, अस्तु नाम, दृष्टान्ते व्याप्तिदर्शनमात्रात्सर्वत्र साध्यसिद्धेर्भवताभ्युपगमात् । कथमन्यथा प्रकृतसिद्धिः ? यथा चास्मदादिबुद्धि वैलक्षण्यं तद्बुद्धेरदृष्ट परिकल्प्यते तथा घटादौ कर्मकर्त्तृकरणनिर्वर्त्यकार्यत्व दृष्टं वने वनस्पत्यादिषु चेतनकर्त्तृरहितमपि स्यादित्येतैर्व्यभिचारो हेतोः । अथाऽव्याप्त्या, तर्हि देशान्तरोत्पत्तिमत्कार्येषु कथं तस्या व्यापारः असन्निधानात् ? तथापि व्यापारेऽदृष्टस्याप्यग्न्यादिदेशेऽसन्निहितस्योर्ध्वज्वलनादिहेतुता

के गुण कहलाने लगेगे क्योकि सम्बन्ध मात्र से रहना रूप तदाधेयत्व घटादि में भी पाया जाता है ।

किच, बुद्धिमान मे बुद्धि रहती है वह समस्त रूप से व्यापक होकर रहती है अथवा असमस्त रूप से ? समस्त रूप से रहना शक्य नही, क्योकि वह आत्मा का विशेष गुण है, जैसे–हमारे बुद्धि आदि गुण होते है । जो विशेष गुण होता है वह अव्यापक होता है ऐसा माने तो परम महापरिणाम के साथ व्यभिचार आता है ऐसो आशका करना भी अयुक्त है, क्योकि परम महापरिणाम मे विशेष गुणत्व का अभाव है ।

यौग–हमारी बुद्धि में समस्त रूप से रहना रूप विशेषता नही है अत अन्य के (ईश्वर की) बुद्धि मे भी वह विशेपता नही है, इस तरह घटित करेंगे तो हमारी बुद्धि मे सकलार्थ ग्राहित्व नही है अत ईश्वर मे भी नही है ऐसा विपरीत अर्थ सिद्ध होवेगा ?

जैन–यह आपत्ति आपको है क्योकि आपने दृष्टात मे व्याप्ति को देखने मात्र से सर्वत्र साध्य की सिद्धि हो जाया करती है ऐसा माना है अन्यथा प्रकृत बुद्धिमत्कार-णत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? यदि आप हमारे जैसे सामान्य पुरुषो की बुद्धि से ईश्वर की बुद्धि मे विलक्षणता है ऐसा विना देखे स्वीकार करते हैं तो घट आदि मे कर्ता, कर्म, करण द्वारा कार्यत्व देखा जाता है किन्तु वन मे वनस्पति आदि में चेतन कर्ता से रहित कार्यत्व होता है ऐसा स्वीकार करना होगा । इस प्रकार कार्यत्व हेतु इनके द्वारा व्यभिचरित होता है । बुद्धिमान मे बुद्धि असमस्तपने से रहती है, ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो देशदेशातरो मे उत्पन्न शील कार्यो में उस अव्यापक बुद्धि

स्यादिति-"अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्" [प्रश० व्यो० पृ० ४११] इत्याद्यात्मसर्वगतत्वसाधनमयुक्तम्। अव्यतिरेकैकान्ते चात्ममात्रं बुद्धिमात्रं वा स्यात्, तत्कथं मत्वर्थः ? न हि तदेव तेनैव तद्वद्भवति।

किञ्च, असौ तद्बुद्धिः क्षणिका, अक्षणिका वा ? यदि क्षणिका, तदा तस्याः कथं द्वितीयक्षणे प्रादुर्भावः कारणत्रयाधीनत्वात्तस्य ? न चेश्वरेऽसमवायिकारणमात्ममनःसयोगस्तच्छरीरादिकं च निमित्तं कारणमस्ति। कारणत्रयाभावेप्यस्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यात्तस्याः प्रादुर्भावे क्षित्यादिकार्यस्य घटादिकार्यवैलक्षण्याद्बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्युत्पत्तिः किन्न स्यात् ? महेश्वरबुद्धिवच्च मुक्तात्मनामप्यानन्दादिकं शरीरादिनिमित्तकारणमन्तरेणाप्युत्पत्स्यत इति कथं बुद्ध्यादिविकलं जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात् ?

का असन्निधान होने से किस प्रकार व्यापार होगा ? असन्निधान होते हुए भी व्यापार कर सकती है तो अग्नि आदि के देश मे असनिहित रहकर अदृष्ट भी ऊर्ध्वज्वलनादि का हेतु हो सकता है। इस तरह असनिहित पदार्थ मे कार्यत्व मानने पर आत्मा को सर्वगत सिद्ध करने के लिये दिये गये हेतु अयुक्त ठहरते हैं। बुद्धिमान से बुद्धि सर्वथा अपृथक् है ऐसा एकात कहेगे तो केवल आत्म तत्व का अस्तित्त्व, या केवल बुद्धि तत्त्व का अस्तित्त्व रह जाने से बुद्धिमान इस प्रकार का मतुप् प्रत्यय का अर्थ किस प्रकार सिद्ध होगा ? वही पदार्थ उसीसे तद्वान नही कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान ईश्वर की बुद्धि क्षणिक है या अक्षणिक ? क्षणिक माने तो द्वितीय क्षण मे कैसे उत्पन्न हो सकेगी क्योकि उत्पत्ति तीन कारणो के (समवायी कारण, असमवायी कारण, और निमित्त कारण) अधीन है ईश्वर मे इन कारणो मे से आत्मा और मन का सयोगरूप असमवायी कारण तथा शरीरादि रूप निमित्त कारण नही होता है। ईश्वर की बुद्धि अस्मदादि की बुद्धि से विलक्षण होने के कारण तीन कारणो के अभाव मे भी उत्पन्न होती हैं ऐसा कहे तो घटादि कार्य से विलक्षण ही पृथ्वी आदि कार्य है अत वे बिना बुद्धिमान निमित्त के उत्पन्न हो जाते है, ऐसा भी क्यो न माना जाय ? तथा जैसे महेश्वर मे कारण के बिना क्षण-क्षण मे बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे अन्य मुक्तात्माओ के आनदादिक गुण शरीरादि निमित्त कारण के बिना ही उत्पन्न हो सकेगे। ईश्वर की बुद्धि को अक्षणिक मानने के पक्ष मे भी दोष है, शब्द क्षणिक है क्योकि वह हम जैसे के प्रत्यक्ष होने पर "विभु द्रव्य का विशेष गुण है" जैसे सुख आदिक। इस अनुमान मे इसी बुद्धि द्वारा हेतु की अनैका-

अथाऽक्षणिका तद्बुद्धि· । नन्वत्रापि 'क्षणिकश्शब्दोस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्' इत्यत्रानुमानेऽनयैव हेतोरनेकान्तोऽस्या इव विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽन्यस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्वेपि नित्यत्वसम्भवात् । तथा 'क्षणिका महेश्वरबुद्धिर्बुद्धित्वादस्मदादिबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च । अथ बुद्धित्वाविशेषेपि ईशास्मदादिबुद्ध्योरक्षणिकत्वेतरलक्षणो विशेष परिकल्प्यते तथा घटादिक्षित्यादिकार्ययोरप्यकर्तृकर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेष किन्नेष्यते ? तथा च कार्यत्वादिहेतोरनेकान्त· । तदेव बुद्धिमत्त्वासिद्धे· कथ तत्कारणत्वेन कार्यत्व व्याप्येत ?

अस्तु वाऽविचारितरमणीय बुद्धिमत्कारणत्वव्याप्त कार्यत्वम्, तथाप्यत्र यादृग्भूतं बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्त कार्यत्व प्रमाणत प्रसिद्ध यदक्रियादर्शिनोपि जीर्णकूपप्रा-

---

न्तिकता होती है, क्योकि बुद्धि के विभु द्रव्य गुणत्व और अस्मदादि प्रत्यक्षत्व होने पर भी नित्यपना सभव है । बुद्धि को अक्षणिक मानने मे दूसरे अनुमान से भी विरोध आता है—महेश्वर की बुद्धि क्षणिक है, क्योकि वह बुद्धिरूप है, जैसे हम लोगो की बुद्धि है ।

यौग—ईश्वर और हमारी बुद्धि मे बुद्धिपना समान हो किन्तु ईश्वर की बुद्धि नित्य और हमारी बुद्धि अनित्य है ऐसा विशेष माना गया है ?

जैन—ऐसा ही घटादि मे और पृथ्वी आदि मे कार्यत्व तो समान है किन्तु एक कर्ता सहित है और एक कर्ता रहित है ऐसा विशेष भी क्यो नही माना जाय ? इस तरह कार्यत्व हेतु अनैकातिक सिद्ध होता है । इस तरह बुद्धिमानपना ही असिद्ध है तो उसके निमित्त से होने वाला कार्य भी असिद्ध है, अत· बद्धिमान कारण रूप साध्य के साथ पृथ्वी आदि कार्य रूप हेतु की व्याप्ति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

आप के आग्रह से अविचारितरमणीय ऐसा कार्यत्व हेतु बुद्धिमान कारणत्व के साथ व्याप्त है ऐसा मान भी लेवे तथापि जिस प्रकार का कार्यपना नये कूप प्रासाद आदि मे बुद्धिमान कारणत्व के साथ व्याप्त होता हुआ प्रमाण से सिद्ध है जो कि जीर्ण कूप प्रासादादि मे अक्रियादर्शी होने पर भी लौकिक एव परीक्षक पुरुषो को कृतकपने की बुद्धि उत्पन्न कराता है, उस प्रकार की व्याप्ति पृथ्वी आदि मे दिखायी नही देने से हेतु असिद्ध ही रहता है । इस कार्यत्व हेतु को सिद्ध माने तो भी जैसे जीर्णकूप महल आदि मे रचना को नही देखने पर भी किये हुए है ऐसी बुद्धि होती है वैसे पृथ्वी, वृक्ष आदि मे कृतकपने की बुद्धि होनी चाहिये ? जो धर्म स्वभाव से

सादादौ लौकिकेतरयो. कृतबुद्धिजनक तादृग्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धेरसिद्धो हेतु । सिद्धौ वा जीर्ण-कूपप्रासादादावविचाऽक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्धिप्रसङ्ग. । न च प्रकृत्याऽत्यन्तभिन्नोपि धर्म शब्दमात्रेणा-भेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये समर्थो भवत्यन्यत्राप्यस्याविरोधेनाशङ्काऽनिवृत्ते । यथा वल्मीके धर्मिणि कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारत्वमात्र हेतुत्वेनोपादीयमानम् ।

नन्वेतत्कार्यसम नाम जात्युत्तरम् । तदुक्तम्–"कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शन तत्कार्यसमम्" [ ] इति । अस्य चासदुत्तरत्वान्नातः प्रकृतसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धोऽन्यथा सकलानुमानोच्छेद. । शब्दानित्यत्वे हि साध्ये कि घटादिगत कृतकत्व हेतुत्वेनोपादीयते, किं वा शब्दगतम्, उभयगत वा ? प्रथमपक्षे हेतोरसिद्धिः, न ह्यन्यगतो धर्मोऽन्यत्र वर्त्तते । द्वितीये तु

अत्यन्त भिन्न है शब्द मात्र से अभेद रूप है उसको हेतु रूप से ग्रहण किया जाने पर अभिमत साध्य की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि इसका अन्यत्र (विपक्ष मे) रहने मे विरोध नही होने के कारण शका की निवृत्ति नही हो पाती । जिस प्रकार वल्मीक को पक्ष बनाकर उसमे कु भकार कृतकत्व साध्य को सिद्ध करने के लिये मृद् विकारत्व को हेतु रूप से ग्रहण करने पर अभिमत सिद्धि नही होती है ।

भावार्थ–सर्प की वामी, कुम्भकार ने की है, क्योकि मिट्टी का विकार स्वरूप है, इस अनुमान मे मृद्विकारत्व को [मिट्टी का विकारपना] हेतु बनाया है किन्तु इसमे शका रहती है कि यह घट के समान कुम्भकार कृत है अथवा अन्य प्राणी कृत है, वैसे ही कार्यत्व हेतु मे शका रहती है ।

यौग–इस तरह कार्यत्व हेतु को सदोष ठहराना गलत है, यह तो कार्य सम नामा जात्युत्तर है, इसका लक्षण बताया है कि कार्यत्व का थोडा सा अन्यपना दिखा-कर साध्य की असिद्धि दिखाना कार्य समनामा जाति है "असदुत्तर जाति" असत् उत्तर को जाति दोष कहते है, अत इसके द्वारा प्रकृत साध्य की सिद्धि मे प्रतिबध नही हो सकता, अन्यथा सपूर्ण अनुमानो का उच्छेद होवेगा । इसी को बतलाते हैं–शब्द अनित्य है, क्योकि वह कृतक है, इस अनित्यत्व साध्य मे कृतकत्व को हेतु रूप से ग्रहण किया गया है वह कृतकत्व घटगत धर्म है या शब्दगत धर्म है अथवा उभयगत धर्म है ? प्रथम पक्ष कहे तो हेतु असिद्ध होता है, क्योकि अन्यगत धर्म अन्य मे नही रहता है ।

साधनविकलो दृष्टान्त'। तृतीयेप्युभयदोषानुषङ्ग ; इत्यप्यसारम्, कारणमात्रजन्यतालक्षणस्य कृतकत्वस्य विपक्षे बाधकप्रमाणबलादनित्यत्वमात्रव्याप्तत्वेनाऽवधारितस्य शब्देप्युपलम्भात् तत्रोक्तदूषणस्यासदुत्तरत्वाज्जात्युत्तरत्वम्। न चैवं कार्यसामान्य बुद्धिमत्कारणत्वमात्रव्याप्त क्षित्यादावुपलभ्यते, विपक्षे बाधकप्रमाणाभावेन सन्दिग्धानैकान्तिकत्वात्तस्य, अन्यथाऽक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्धिप्रसङ्ग। यदि च घटादिलक्षणं विशिष्टकार्यं तन्मात्रव्याप्त प्रतिपद्याऽविशिष्टकार्यस्यापि क्षित्यादेस्तत्पूर्वकत्व साध्यते, तर्हि पृथ्वीलक्षणभूतस्य रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वं प्रतिपद्य भूतत्वादेव वायोरपि तत्साध्यताम्। अथाऽत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणबाध', सोन्यत्रापि समान।

दूसरा पक्ष कहे तो दृष्टात साधन विकल बनता है, अर्थात् घट दृष्टात मे शब्दगत कृतकत्व धर्म नही पाया जाता उभयगत कृतकत्व धर्म को हेतु माने तो उभय पक्ष के दोष आवेगे।

जैन–यह कथन असार है कारण मात्र से उत्पन्न होना है लक्षण जिसका ऐसा कृतकपना विपक्ष मे बाधक प्रमाण होने के कारण अनित्यत्व के साथ ही व्याप्त हैं। इस प्रकार अनित्य के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो चुकी है उस कृतकत्व की शब्दो मे भी उपलब्धि पायी जाती है, उसमे पूर्वोक्त दूषण देना असत् है। अत इसमे असत् उत्तर होने से जात्युत्तर दोष युक्त है, किन्तु ऐसा कार्यत्व हेतु मे नही है, कार्य सामान्य बुद्धिमान कारण मात्र के साथ व्याप्त होता हुआ पृथ्वी आदि मे उपलब्ध नही होता है क्योकि विपक्ष मे बाधक प्रमाण का अभाव होने से कार्यत्व हेतु सन्दिग्ध अनैकान्तिक होता है, अन्यथा पृथ्वी आदि पदार्थो मे भी अक्रियादर्शी होने पर कृत बुद्धि उत्पन्न होने का प्रसग आता है। यदि घटादि लक्षणभूत विशिष्ट कार्य की अक्रियादर्शी पुरुष के कृत बुद्धि उत्पादक के साथ व्याप्ति होती हुई देखकर अविशिष्ट कार्यभूत पृथ्वी आदि मे भी उस व्याप्ति को सिद्ध किया जाय तो पृथ्वी रूप भूत मे रूप, रस, गध और स्पर्शवानपने की व्याप्ति देखकर उसी भूतत्व हेतु द्वारा वायुरूप भूत मे स्पर्शादि चारो की व्याप्ति सिद्ध करनी चाहिये। यदि कहा जाय कि वायु मे रूपादि को मानने मे प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधा आती है तो पृथ्वी आदि मे भी बुद्धिमान पूर्वकत्व की व्याप्ति करने मे प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधा आती है।

पहले कहा था कि व्युत्पन्न बुद्धि वालो को कार्यत्व हेतु असिद्ध नही होता है सो वह अयुक्त है, व्युत्पन्न पुरुषो की व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध को जानन रूप होती है, अथवा इससे अतिरिक्त कोई होती है? प्रथम पक्ष कहो तो प्रकृत साध्य

यदप्युक्तम्–व्युत्पन्नप्रतिपत्तॄणां नासिद्धत्वं कार्यत्वादे, तदप्ययुक्तम्, यत. प्रतिबन्धप्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषाम्, तद्व्यतिरिक्ता वा स्यात्? प्रथमपक्षे क्षित्यादिगतकार्यत्वादौ प्रकृतसाध्यसाधनाभिप्रेते व्युत्पत्त्यसम्भव, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य तत्र तस्याभावात्। भावे वा सशरीरस्यास्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मकलापोपेतस्य घटादौ तद्व्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्यात्र तत सिद्धि'। न खलु हेतुर्व्यापक विहायाव्यापकस्यात्यन्तविलक्षणसाध्यधर्मस्य धर्मिणि प्रतिपत्तौ हेतो. सामर्थ्यम्। कारणमात्रप्रतिपत्तौ तु सिद्धसाध्यता।

ननु बुद्धिमत्कारणमात्र ततस्तत्र सिध्यत्पक्षधर्मताबलाद्विशिष्टविशेषाधारमेव सेत्स्यति, निर्विशेषस्य सामान्यस्यासम्भवात्, घटादौ प्रतिपन्नस्य चास्मदादेस्तन्निर्माणासामर्थ्यात्। नन्वेव क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वासिद्धिरेव स्यादस्मदादेस्तन्निर्माणासामर्थ्यादन्यस्य च हेतुव्यापकत्वेन कदाचनाप्यप्रतिपत्ते खरविषाणवत्, निराधारस्य च सामान्यस्यासम्भवात्। न हि गोत्वाधारस्य खण्डादिव्यक्तिविशेषस्यासम्भवे तद्विलक्षणमहिष्याद्याश्रित गोत्व कुतश्चित्प्रसिद्ध्यति।

साधन भूत पृथ्वी आदि मे पाये जाने वाले कार्यत्वादि मे व्युत्पन्न बुद्धि होना असभव है, यदि सभावना मानेंगे तो सशरीरी अस्मदादि इन्द्रिय ग्राह्य, अनित्य बुद्धि वाला इत्यादि, धर्म समूह से युक्त ऐसे कार्यत्व का घटादि मे व्यापकपना जानकर उसकी इस पृथ्वी आदि मे सिद्धि होगी, अर्थात् घटादि के समान पृथ्वी आदि का कर्ता भी सशरीरी आदि धर्म युक्त सिद्ध होगा। क्योकि हेतु मे ऐसी सामर्थ्य नही है कि वह व्यापक को छोडकर अत्यन्त विलक्षण ऐसे अव्यापक धर्मभूत साध्य की धर्मी मे प्रतिपत्ति करा देवे। यदि कहा जाय कि कार्यत्व हेतु कारण मात्र की प्रतिपत्ति कराता है तो सिद्ध साध्यता है।

यौग–कार्यत्व हेतु द्वारा प्रथम तो बुद्धिमान कारण मात्र की सिद्धि होती है फिर उसके पक्ष धर्मता के बल से विशिष्ट विशेषाधार (ईश्वर रूप बुद्धिमान कारणत्व) सिद्ध होगा, क्योकि विशेष रहित सामान्य का होना असभव है। घटादि मे पाया जाने वाला कार्यत्व तो अस्मदादि का है, अस्मदादि से उस पृथ्वी आदि का निर्माण कार्य नही हो सकता?

जैन–ऐसा मानेंगे तो पृथ्वी आदि मे बुद्धिमान कारणत्व का अभाव हो ही जायगा क्योकि अस्मदादि मे तो उन पृथ्वी आदि के निर्माण करने की शक्ति नही है और अन्य जो अशरीरी ईश्वर है उसकी हेतु के व्यापकपने से कभी भी प्रतीति नही

अस्माद्दृशान्याद्दृशविशेषपरित्यागेन कर्तृत्वमात्रानुमाने च चेतनेतरविशेषत्यागेन कारणमात्रानुमान किन्नानुमन्यते ? धूममात्रात्पावकमात्रानुमानवत् । यादृशमेव हि पावकमात्र पैङ्गल्यादिधर्मोपेतं कण्ठाक्षविक्षेपकादित्वापाण्डुरत्वादिधर्मोपेतधूममात्रस्य प्रत्यक्षानुपलम्भप्रमाणजनितोहाख्यप्रमाणात्सर्वोपसहारेण व्यापकत्वेन महानसादौ प्रतिपन्नं तादृशस्यैवान्यत्राप्यतोनुमान नात्यन्तविलक्षणस्य, व्यक्तिसम्बन्धित्वमात्रस्यैव भेदात् । न च व्यक्तीनामप्यात्यन्तिको भेदो महानसादिवदन्यासामपि दृश्यतयोपगमात् । न च कार्यविशेषस्य कर्तृविशेषमन्तरेणानुपलम्भात् तन्मात्रमपि कर्तृविशेषानुमापकं युक्तम्, तस्य कारणत्वमात्रेणैवाविनाभावनिश्चयात्, धूममात्रस्याग्निमात्रेणाविनाभावनिश्चयवत् । घटादिलक्षणकार्यविशेषस्य तु कारणविशेषेणाविनाभावावगम चान्दनादिधूमविशेपस्याग्निविशेषेणाविनाभावावगमवत् । तथापि कार्यमात्रस्य कारणविशेषानुमापकत्वे धूमादिकार्यविशेषस्य महानसादौ

होती जैसे कि खरविषाण की नही होती । तथा निराधार सामान्य का होना भी असभव है, क्योंकि गोत्व सामान्य के आधार भूत खंडादि व्यक्ति विशेष का असभव होने पर उससे विलक्षण महिष आदि मे गोत्व सामान्य आश्रित रहता हुआ किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता है । यदि पृथ्वी आदि का कर्ता हम जैसा है कि अन्य प्रकार का है इत्यादि विशेषका विचार न करके सामान्य से कोई एक कर्ता है ऐसा अनुमान से सिद्ध करना चाहते है तो चेतन और अचेतन ऐसे विशेष कारणो को छोडकर सामान्य से पृथ्वी आदि का कोई कारण मात्र है (परमाणु आदिक) ऐसा क्यो न माना जाय ? जैसे सामान्य धूम को देखकर सामान्य ही अग्नि का अनुमान होना मानते है । पीत आदि धर्म से सयुक्त जिस प्रकार की अग्नि को कण्ठ और नेत्र मे पीडा पहुचाने वाले तथा सफेद आदि धर्म युक्त धूम सामान्य के साथ महानसादि स्थान पर प्रमाण द्वारा सर्वोपसहार रूप व्यापकपने से ज्ञात किया था उसी प्रकार की अग्नि को अन्य स्थान पर भी ज्ञात करते है, अत. सामान्य हेतु से अत्यन्त विलक्षण का अनुमान नही होता, क्योकि इसमे केवल व्यक्ति के सम्बन्धीपने का भेद रहता हैं । तथा यह व्यक्तियो का भेद भी आत्यन्तिक भेद नहीं हुआ करता, क्योकि महानसादि के समान पर्वतादि व्यक्तियो मे भी दृश्यता स्वीकार की गयी है । विशेष कर्ता के बिना विशेप कार्य उपलब्ध नही हो सकता, अत. सामान्य कार्य को विशेष कर्ता का अनुमापक मानना अयुक्त है । सामान्य कार्य तो सामान्य कारण के साथ ही अविनाभावी हुआ करता है, जैसे सामान्य धूम सामान्य अग्नि का अविनाभावी होता हैं । जो घटादि विशेष कार्य होता है उसका विशेष कारण के साथ अविनाभाव निश्चित होता है, जैसे चदन सबधी

तत्कालवन्ह्यविनाभावोपलम्भाद् धूमघटिकादौ तन्मात्र तत्कालवन्ह्यनुमापक स्यात्। अथ तत्र तत्कालवन्ह्यनुमाने प्रत्यक्षविरोध, सोऽकृष्टजाते भूरुहादौ कर्त्रनुमानेपि समान। तत्कर्त्तु रतीन्द्रियत्वात्तद्विरोधे धूमघटिकादौ वह्नेरप्यतीन्द्रियत्वात्सोस्तु। भास्वररूपसम्बन्ध्यवयविद्रव्यत्वान्नातीन्द्रियत्व तस्येति चेत्, एतदेव कुतोऽवसितम्? महानसादौ तथाभूतस्यास्योपलम्भाच्चेत्; तर्हि क्षित्यादिकर्तु शरीरसम्बन्धिनोऽतीन्द्रियत्व मा भूत्कुम्भकारादौ तस्यानुपलम्भात्।

ननु वृक्षशाखाभङ्गादौ पिशाचादि, स्वशरीरावयवप्रेरणे चात्माऽशरीरोऽपि कर्त्तोपलब्ध, इत्यप्यसुन्दरम्, पिशाचादे शरीरसम्बन्धरहितस्य कार्यकारित्वानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्। तत्सम्बन्धेनैव हि

विशेष धूम का विशेष अग्नि के साथ अविनाभाव निश्चित होता है। इस प्रकार सामान्य कार्य सामान्य कारण का और विशेष कार्य विशेष कारण का अनुमापक होता है ऐसा सिद्धात निश्चित होता है, फिर भी सामान्य कार्य को विशेष कारण का अनुमापक माना जायगा तो महानसादि मे विशेष धूम तत्काल मे अग्नि का अविनाभावी होता हुआ देखकर गोपाल घटिकादि मे सामान्य धूम तत्काल मे अग्नि का अनुमापक होने लगेगा।

यौग—गोपाल घटिका मे तत्काल अग्नि का अनुमान होने मे प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

जैन—स्वय उगने वाले वृक्षादि मे कर्ता का अनुमान लगाने मे भी प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

यौग—वृक्ष आदि का कर्ता अतीन्द्रिय है अत. कर्ता को सिद्ध करने वाले अनुमान मे प्रत्यक्ष विरोध नही आता है।

जैन—तो गोपाल घटिकादि मे होने वाली अग्नि भी अतीन्द्रिय है अत उसको सिद्ध करने वाले अनुमान मे प्रत्यक्ष विरोध नही आता है, ऐसा मानना चाहिये।

यौग—अग्नि भासुर रूप वाला अवयवी द्रव्य है अत अतीन्द्रिय नही है।

जैन—यह कैसे जाना? महानस आदि मे उसी प्रकार की अग्नि देखी है, ऐसा कहो तो पृथ्वी आदि का कर्ता भी शरीर का सम्बन्ध करने वाला होने से अतीन्द्रिय नही होना चाहिये? क्योकि कुभकार आदि कर्ता मे अतीन्द्रियत्व की अनुपलब्धि है।

कुम्भकारादौ कार्यकारित्वं दृष्टं नान्यथा। तत्सम्बन्धोपगमे चास्य दृश्यत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत्। तच्छरीरस्य दृश्यत्वाद्दृश्योसौ न पिशाचादिर्विपर्ययादिति चेत्, ननु शरीरत्वाविशेषेपि यथास्मदादिशरीरविलक्षणं तच्छरीरमभ्युपगम्यते तथा घटादिकार्यविलक्षणं भूरुहादिकार्यं कार्यत्वाविशेषेप्यभ्युपगम्यताम्। तथा चानेन प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी। तथास्मदादे शरीरसम्बन्धमात्रेणैव तदवयवाना प्रेरकत्वोपपत्तेर्नापरशरीरसम्बन्धस्तत्रोपयोगी 'तत्सम्बन्धमन्तरेण हि चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यकारित्व नास्त्यनुपलम्भात्' इत्येतावन्मात्रमेव नियम्यत इति महेश्वरस्यापि शरीरसम्बन्धेनैव कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

तच्छरीरं च तत्कृत यद्यभ्युपगम्यते; तर्हि शरीरान्तर तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्थात.

यौग–वृक्ष की शाखा भग होना आदि मे पिशाचादि कर्ता तथा अपने शरीर के अवयवो की प्रेरणा मे आत्मा कर्ता शरीर रहित होकर भी उपलब्ध होता है।

जैन–यह कथन ठीक नही है, पिशाचादि के शरीर का सम्बन्ध नही रहेगा तो वे कार्य को नही कर सकते, जैसे मुक्तात्मा शरीर रहित होने से कोई कार्य नही करते है। कुम्भकारादि मे शरीर सम्बन्ध से कार्यकारित्व देखा जाता है अन्यथा नही। यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध मानते है तो वह दृश्य बन जायगा जैसे कुम्हार आदि कर्ता दृश्य है।

यौग–कुम्हारादि का शरीर दृश्य है अत. वे दृश्यमान है, किंतु पिशाचादि इससे विपरीत है अर्थात् उनके शरीर दृश्य नही है।

जैन–तो शरीरपना उभयत्र समान होते हुए भी जैसे हमारे शरीर से विलक्षण ईश्वर का शरीर मान लिया जाता है वैसे कार्यपना समान होते हुए भी वृक्षादि कार्य घटादि कार्य से विलक्षण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? इस प्रकार सिद्ध होने पर इसी वृक्षादि कार्यत्व द्वारा प्रकृत कार्यत्व हेतु व्यभिचारी होता है। तथा आत्मा मे शरीर के सम्बन्ध बिना स्वशरीर के अवयवो मे अथवा अन्यत्र कार्यकारीपना नही हो सकता, क्योकि ऐसा उपलब्ध नही होता है इतना सिद्धात निश्चित किया जाता है इसलिये महेश्वर के भी शरीर का सम्बन्ध होकर ही कार्यकारीपना होता है ऐसा मानना चाहिये।

अब यदि उस ईश्वर के शरीर को ईश्वरकृत मानते है तो उसके लिये अन्य शरीर स्वीकार करना होगा, इस तरह अनवस्था होने से प्रकृत कार्य मे (पृथ्वी आदि

प्रकृतकार्ये तस्याऽव्यापारोऽपरापरशरीरनिर्वर्त्तने एवोपक्षीणशक्तिकत्वात् । तदनिष्पाद्य चेत्, तत्किं कार्यम् नित्य वा ? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारस्तस्य कार्यत्वेप्यबुद्धिमत्पूर्वकत्वात् । बुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वे चानवस्था, तच्छरीरस्याप्यपरबुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वात् । नित्य चेत्, तर्हि तच्छरीरस्य शरीरत्वाविशेषेपि नित्यत्वलक्षणः स्वभावातिक्रमो यथाभ्युपगम्यते, तथा भूरुहादे कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृपूर्वकत्वलक्षणोप्यभ्युपगम्यताम् इति स एव तैर्व्यभिचार. कार्यत्वादे । तन्न प्रतिवन्धप्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषाम् ।

अथ तद्व्यतिरिक्ता व्युत्पत्ति, सा स्वदुरागमाहितवासनावता भवतु, न पुनस्तावन्मात्रेण कार्यत्वादे साध्य प्रति गमकत्वम् । अन्यथा वेदे मीमासकस्य वेदाध्ययनवाच्यत्वादेरपौरुषेयत्व प्रति गमकत्व स्यात् ।

के निर्माण मे) उसकी प्रवृत्ति नही हो सकेगी क्योकि अन्य अन्य शरीर के निर्माण में ही उसकी शक्ति समाप्त हो जायगी । यदि कहा जाय कि वह शरीर अनिष्टपाद्य होता है तो वह कार्यरूप है अथवा नित्य है ? प्रथम पक्ष माने तो उसीसे कार्यत्व हेतु व्यभिचारी होगा क्योकि कार्य रूप होते हुए भी उसको अबुद्धिमान पूर्वक स्वीकार कर लिया । यदि उस शरीर को बुद्धिमान कारण पूर्वक माने तो अनवस्था आती है क्योकि वह शरीर भी अन्य बुद्धिमान हेतु पूर्वक होगा यदि उस शरीर को नित्य मानते हैं तो जैसे ईश्वर के शरीर मे शरीरपना समान रूप से होते हुए भी नित्य रूप स्वभाव का अतिक्रम स्वीकार करते हैं वैसे वृक्ष आदि मे कार्यपना समान रूप से होते हुए भी अकर्तृत्व रूप स्वभाव का अतिक्रम स्वीकार करना चाहिये, इस प्रकार कार्यत्वादि हेतु मे वही पूर्वोक्त व्यभिचार दोष आता है । इसलिये व्युत्पन्न पुरुषो की व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध को जानने रूप होती है ऐसा पक्ष सिद्ध नही हो पाता है । वह व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्धी प्रतिपत्ति से अतिरिक्त स्वभाव वाली है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो इस तरह की व्युत्पत्ति अपने कुशास्त्र की वासना से ससक्त हुए यौग के ही रह आवे, इस व्युत्पत्ति द्वारा कार्यत्व आदि हेतु का साध्य के प्रति गमकपना कथमपि सिद्ध नही हो सकता है अन्यथा वेद में मीमासक द्वारा प्रयुक्त हुआ वेदाध्ययन वाच्यत्वादि हेतु भी अपौरुषेयत्व साध्य के प्रति गमक होगे ।

भावार्थ—अपने आगमादि को जानने मात्र से व्युत्पन्न मति होते हैं उसी से अनुमान हेतु आदि को सिद्ध कर सकते हैं ऐसा माने तो बहुत गडबडी मचेगी, सभी वादी प्रतिवादी अपने अपने आगमादि से अपना मत स्थापित कर सकेंगे, मीमासक वेद

यच्चोक्तम्–'साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते। न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम्' इति, तदुक्तिमात्रम्, प्रमाणाविषयत्वेपि स्थावरादौ कर्त्रऽभावानिश्चये गगनादौ रूपाद्यभावानिश्चय. स्यात्। तत्र रूपादीनां बाधकप्रमाणसद्भावेनाभावनिश्चये अत्रापि तथा कर्त्रभावनिश्चयोस्तु। न चास्यानुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वादभावानिश्चय; शरीरसम्बन्धेन हि कर्तृत्व नान्यथा मुक्तात्मवत्, तत्सम्बन्धे चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वप्रसङ्ग. कुम्भकारादिवत्। तस्य हि शरीरसम्बन्ध एव दृश्यत्वं नान्यत्, स्वरूपेणात्मनोऽदृश्यत्वात् पिशाचादिशरीरवत्। तच्छरीरस्यादृश्यत्वोपगमे च किञ्चित्कार्यमप्यबुद्धिपूर्वक स्यादित्युक्तम्।

यत्तूक्तम्–क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तेषामेव कारणत्वे धर्माधर्मयोरपि तन्न स्यात्, तन्न

को अपौरुषेय सिद्ध करता है उसमे वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु देता हैं किन्तु वह हेतु अपने अपौरुषेयत्व रूप साध्य को सिद्ध नही कर पाता है, ऐसा स्वयं यौग कहते है। कहने का अभिप्राय यही है कि स्व आगम के ज्ञान मात्र से व्युत्पन्न मति नही होता, अनुमान के विषय मे तो बिल्कुल नही होता वहाँ तो अनुमान सम्बन्धी साध्य, पक्ष, हेतु अविनाभाव सम्बन्ध आदि विषयों मे ज्ञान प्राप्त करना होगा। हेत्वाभास आदि दोषो की जानकारी भी प्राप्त करनी होगी तभी वह अनुमान मे व्युत्पन्न मतिवाला कहलायेगा। जो हेतु साध्य के अभाव मे भी रहता है उसे व्यभिचारी कहते है, वहा पृथ्वी आदि के विषय मे कर्ता का अभाव नही है किंतु वह ग्रहण मे नही आता है इत्यादि पूर्वोक्त कथन बकवास मात्र है, वृक्ष आदि स्थावरो का कर्ता प्रमाण का अविषय होते हुए भी उसके अभाव का अनिश्चय मानेगे तो आकाश आदि मे रूपादि के अभाव का अनिश्चय है ऐसा मानना होगा।

यौग–आकाश मे रूपादि के अभाव का निश्चय तो बाधक प्रमाण के सद्भाव से हो जाता है।

जैन–इसी तरह पृथ्वी आदि मे कर्ता के अभाव का निश्चय होवे।

यौग–पृथ्वी आदि मे कर्ता के अभाव का अनिश्चय इसलिये रहता है कि वह कर्ता अनुपलब्धि लक्षण वाला है।

जैन–यह बात बिल्कुल असत्य है, शरीर के सम्बन्ध से ही कर्तापन हो सकता है अन्यथा नही जैसे मुक्तात्मा के नही है। अत यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध है तो कुंभकारादि के समान वह उपलब्धि लक्षण वाला ही सिद्ध होता है। उसके दृश्यत्व

सूक्तम्, जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या तयोस्तत्कारणत्वप्रसिद्धेः। भूम्यादेः खलु सकलकार्यं प्रति साधारणत्वात् अदृष्टाख्यविचित्रकारणमन्तरेण तद्वैचित्र्यानुपपत्तिः सिद्धा।

यदप्युक्तम्–तत्र बुद्धिमतोऽभावादग्रहणं भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वेति सन्दिग्धव्यतिरेकित्वे सकलानुमानोच्छेदः। यया सामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टस्तां नातिवर्त्तत इत्यन्यत्रापि समानम्, तदप्ययुक्तम्, यादृग्भूतं हि घटादिकार्यं यादृग्भूतसामग्रीप्रभवं दृष्टं तादृग्भूतस्यैव तदतिक्रमाभावो नान्यादृग्विधस्य धूमादिवदेवेत्युक्तं प्राक्।

का अर्थ शरीर का सम्बन्ध होना ही है अन्य नही। क्योकि आत्मा तो स्वरूप से ही अदृश्य है। यदि ईश्वर के शरीर को अदृश्य मानते है तो कोई कोई कार्य बुद्धिमान कर्ता के बिना भी होता है ऐसा भी मानना चाहिये। पूर्व मे कहा गया था कि यदि पृथ्वी आदि का अन्वय व्यतिरेक पृथ्वी आदि के साथ ही है अत वे ही कारण हैं ऐसा मानने पर तो धर्म अधर्म भी पृथ्वी आदि के कारण सिद्ध नही हो सकेंगे इत्यादि, सो वह कथन अयुक्त है, धर्म अधर्म के कारणपने की सिद्धि तो जगत विचित्रता के अन्यथानुपपत्ति से हो जाती है। पृथ्वी कारण तो सकल कार्य के प्रति सर्व साधारण है, अदृष्ट नामक विचित्र कारण के बिना जगत वैचित्र्य की सिद्धि नही हो सकती, अर्थात् सपूर्ण कार्य के प्रति पृथ्वी आदि पदार्थ सामान्य कारण हैं और धर्म अधर्म विशेष कारण है। कार्यों की विभिन्नता देखकर ही धर्म अधर्म की सिद्धि होती है। यौग ने पहले कहा था कि बुद्धिमान कर्ता का अभाव है अथवा सद्भाव होने पर भी अनुपलब्धि लक्षण वाला है अत अग्रहण होता है। इस प्रकार कहकर कार्यत्व हेतु को सदिग्ध व्यतिरेकी माना जाय तो सकल अनुमानो का उच्छेद हो जायगा। जिस सामग्री से धूमादि हेतु उत्पन्न हुआ देखा जाता है वह उसका उल्लघन नही करता ऐसा कहे तो कार्यत्वादि हेतु मे भी यही बात है इत्यादि सो यह यौग का कथन अयुक्त है जिस तरह का घटादि कार्य जिस तरह की सामग्री से जायमान है वह उसी प्रकार की सामग्री का ही अतिक्रमण नही करता है, उसमे अन्य प्रकार की सामग्री का तो अतिक्रमण होता ही है, जैसे धूमादि कार्य हेतु होता है, इस विषय मे पहले कह चुके हैं।

और जो कहा था कि "ज्ञान, चिकीर्षा और प्रत्यन आधारता, ये तीन प्रकार की कर्तृता है, इस कर्तृत्व के लिये शरीर होना या नही होना जरूरी नही है सो यह अयुक्त है, शरीर के अभाव मे कर्तृत्व का आधार होना असभव है, जैसे मुक्तात्मा मे

यच्चेदमुक्तम्-ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृता न सशरीरेतरता; इत्यप्यसङ्गतम्, शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसम्भवान्मुक्तात्मवत्। तेषा खलूत्पत्तौ आत्मा समवायिकारणम् आत्ममन.संयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादिकं निमित्तकारणम्। न च कारणत्रयाभावे कार्योत्पत्तिरनभ्युपगमात्। अन्यथा मुक्तात्मनोपि ज्ञानादिगुणोत्पत्तिप्रसङ्गात् "नवाना गुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्ति." [ ] इत्यस्य व्याघात। निमित्तकारणमन्तरेणाप्येषामुत्पत्तौ च बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्यंकुरादेः किं नोत्पत्ति स्यात्? नित्यत्वाभ्युपगमात्तेषामदोषोयमित्ययुक्तम्, प्रमाणविरोधात्। तथाहि-नेश्वरज्ञानादयो नित्यास्तत्त्वादस्मदादिज्ञानादिवत्। तज्ज्ञानादीना दृष्टस्वभावातिक्रमे भूरुहादीनामपि स स्यात्।

शरीर नही होने से कर्तृत्वाधार नही है। कार्यों की उत्पत्ति में आत्मा समवायी कारण है, आत्मा और मन का सयोग होना असमवायी कारण है और शरीरादिक निमित्त कारण हैं, इन तीन कारणो के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नही होती ऐसा आपने स्वयं स्वीकार किया है। यदि कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति मानेगे तो मुक्तात्मा के ज्ञानादि गुण उत्पन्न होने का प्रसंग आता है फिर ज्ञानादि नव गुणो का अत्यन्त विच्छेद होना मुक्ति है ऐसा आपका आगम वाक्य खण्डित हो जाता है। यदि निमित्त कारण के विना कार्यो की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं तो बुद्धिमान कारण के विना अकुर आदि पदार्थों की उत्पत्ति होना क्यों स्वीकार नही करते।

यौग-ईश्वर के ज्ञान चिकीर्षा आदि को नित्य माना है अत. कोई दोष नही आता?

जैन-यह वात प्रमाण से विरुद्ध है, ईश्वर के ज्ञानादिक नित्य नही है, क्योंकि वे ज्ञानादि रूप है, जैसे हमारे ज्ञानादिक नित्य नही है। तुम कहो कि "ईश्वर के ज्ञानादि मे दृष्ट स्वभाव का अतिक्रम है अर्थात् उनमे अतिशय है या हमारे ज्ञानादि से पृथक् स्वभाव रूप है" तो वृक्ष आदि में भी दृष्ट स्वभावातिक्रम मानो, अर्थात् घटादि मे वुद्धिमान कर्तृत्व और वृक्षादि में अवुद्धिमान कर्तृत्व है ऐसा मानना पड़ेगा।

यौग-अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित हुए विना कार्य में प्रवृत्ति नही कर सकते, जैसे वसूला आदि अचेतन पदार्थ नही करते, अचेतन पदार्थ यदि कार्य करेंगे तो ज्ञान शून्य होने के कारण निश्चित स्थान, समय आदि मे कार्य नही कर सकेंगे किन्तु ऐसा नहीं है, अचेतन पदार्थो का कार्य भी समय पर सम्पन्न होता हुआ देखा जाता है

न चाऽचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य वास्यादिवत्प्रवृत्त्यसम्भवात्, सम्भवे वा निरभिप्रायाणा देशादिनियमाभावप्रसङ्गात् तदधिष्ठातेश्वर· सकलजगदुपादानादिज्ञाताभ्युपगन्तव्य· इत्यभिधातव्यम्; तज्ज्ञत्वेनास्याद्याप्यसिद्धे । न चास्य तत्कर्त्तृत्वादेव तज्ज्ञत्वम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-सिद्धे हि सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे तत्कर्त्तृत्वसिद्धि, तत्सिद्धौ च तदभिज्ञत्वसिद्धि । अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितस्य विष्टिकर्मकरादिवत् प्रवृत्त्युपलम्भात्, महेश्वरेप्यधिष्ठातृ चेतनान्तर परिकल्पनीयम् । स्वामिनोऽनधिष्ठितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भोऽकृष्टोत्पन्नाकुराद्युपादाने समानः । घटाद्युपादानस्यानधिष्ठितस्याप्रवृत्त्युपलम्भात् तथाकुराद्युपादानस्यापि कल्पने विष्टिकर्मकरादे स्वाम्यनधिष्ठितस्याप्रवृत्तेर्महेश्वरेपि तथा स्यात्, तथा चानवस्था । चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे च

अत इन पृथ्वी आदि का अधिष्ठाता ईश्वर माना है जिसको जगत के उपादान आदि कारणो का भले प्रकार से ज्ञान है ।

जैन--ऐसा कथन ठीक नही है, सकल जगत का ज्ञान ईश्वर को है यह अभी तक सिद्ध नही हो पाया है । जगत का कर्ता होने से ही ईश्वर के सकल ज्ञातृत्व सिद्ध होता है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष आता है--ईश्वर के सकल जगत के उपादान आदि कारणो का ज्ञान है ऐसा सिद्ध होने पर उस जगत का कर्तापन सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर सकल जगत ज्ञातृत्व सिद्ध होगा । आप अचेतन को चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करना मानते हो सो वैसे चेतन को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करना मानना चाहिये ? देखा भी जाता है कि पालकी चलाने वालो को स्वामी की प्रेरणा रहती है अत महेश्वर मे भी अन्य प्रेरक की कल्पना करनी होगी । यदि कहा जाय कि स्वामी की प्रेरणा के बिना भी कार्य होता है ? सो यही बात बिना बोये धान्याकुर आदि की उत्पत्ति मे माननी होगी, यदि घट आदि उपादान की चेतन अधिष्ठान के बिना प्रवृत्ति नही होती है अत अकुरादि मे भी चेतन अधिष्ठान की कल्पना करते हैं, तो कर्मचारी आदि की स्वामी के बिना प्रवृत्ति नही होती अत महेश्वर मे भी अन्य चेतन अधिष्ठायक की कल्पना करनी होगी, इस तरह अनवस्था आती है । तथा चेतन की प्रवृत्ति भी अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर होती है तो आपके अनुमान प्रयोग मे जो पक्ष है कि "अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित होते हैं" इसमे धर्मी का अचेतन विशेषण और हेतु का अचेतनत्वात् विशेषण व्यर्थ होगा, क्योकि व्यवच्छेद्य का अभाव है अर्थात् मात्र अचेतन को ही चेतनाधिष्ठान की जरूरत

'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इत्यत्र प्रयोगेऽचेतनमिति धर्मिविशेषणस्याचेतनत्वादिति हेतोश्चापार्थकत्वम्, व्यवच्छेद्याभावात्। स्वहेतुप्रतिनियमाच्च अचेतनस्यापि देशादिनियमो ज्यायान्, तस्य भवताप्यवश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वकार्याणामुत्पत्ति. स्यात्, चेतनस्याधिष्ठातुर्नित्यव्यापित्वाभ्या सर्वत्र सर्वदा सन्निधानात्।

न च कारकशक्तिपरिज्ञानाविनाभावि तत्प्रयोक्तृत्वम्, तस्यानेकधोपलम्भात्। किञ्चित्खलूपादानाद्यपरिज्ञानेपि प्रयोक्तृत्व दृष्टम्, यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थाया शरीरावयवानाम्। किञ्चित्पुन. कतिपयकारकपरिज्ञाने, यथा कुम्भकारादे करादिव्यापारेण दण्डादिप्रयोक्तृत्वम्। न खलु तस्याखिलकारकोपलम्भोस्ति, धर्माधर्मयोस्तद्धेतुभूतयोरनुपलम्भात्। उपलम्भे वा तयोर्देशादिनियतेषु कार्ये-

---

होती तो कह सकते थे कि अचेतन चेतनाधिष्ठान के बिना कार्य नही करते, किंतु यहा चेतन को भी अन्य चेतनाधिष्ठान की जरूरत पडती हैं तो दोनो मे क्या विशेषता हुई? कुछ भी नही। फिर तो अचेतन पदार्थ भी अपने कार्य के उपादान कारणादि के नियमित होने से प्रतिनियत देश काल आदि मे कार्यो को करते है उन्हे कोई चेतन कर्ता की जरूरत नही है ऐसा आपको अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा सर्वत्र हमेशा सभी कार्यो की उत्पत्ति होने लगेगी। क्योकि आपका चेतनाधिष्ठाता ईश्वर नित्य तथा व्यापक है सर्वत्र हमेशा मौजूद है।

यह भी बात नही है कि कारक शक्ति का ज्ञान होने पर ही उनको प्रयुक्त किया जाता है कार्य के प्रयोक्ता अनेक प्रकार के होते हैं, कोई प्रयोक्ता तो उपादान आदि कारणो का ज्ञान नही होते हुए भी प्रेरक होता है, जैसे निद्रा, मद, मूर्च्छा आदि अवस्था मे शरीर के अवयवो का हिलना, करवट लेना आदि होता है। कोई प्रयोक्ता ऐसे होते है कि उनको कतिपय कारको का परिज्ञान रहता है, जैसे कुंभकार आदि प्रयोक्ता के हाथ की क्रिया से दण्डे को चलाना, चाक पर मिट्टी का पिण्ड रखना इत्यादि कार्य कतिपय कारणो के परिज्ञान से होता है। उस कुंभकार को अखिल कारको का ज्ञान नही होता है क्योकि उसको घट के धर्म अधर्म रूप कारणो का ज्ञान नही है, यदि होता तो प्रतिनियत देश, काल आदि मे होने वाले कार्यो मे इच्छा का व्याघात नही होता, अर्थात् इस व्यक्ति के अदृष्ट से यह कार्य निष्पन्न अवश्य होगा, इसका नही होगा क्योकि इसका भाग्य नही हैं इत्यादि ज्ञान कुंभकार को नही होता। तथा यदि कार्य प्रयोक्ता कुंभकार आदि को कारको का पूरा पूरा ज्ञान है, ऐसा माने तो ससार के सभी जीव अतीन्द्रिय ज्ञानी हो जायेगे। ऐसा कोई बुद्धिमान नही है जो

च्चित्रच्छाव्याघातो न स्यात्, सर्वश्चाऽतीन्द्रियार्थदर्शी स्यात्। न हि कश्चित्तादृशो बुद्धिमानस्ति यो न किञ्चित्करोति कार्यं वा तादृश विद्यते यत्राऽदृष्ट नोपयुज्यते। कारणशक्तेश्चातीन्द्रियत्वात्तदपरिज्ञानं सर्वप्राणिना सुप्रसिद्धम्। यथास्थान चास्या सद्भावो निवेदित। अन्यत्तु शरीराऽनायासतो वाग्व्यापारमात्रेण, यथा स्वामिन कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वम्। अस्तु वा कारकप्रयोक्तृत्वस्य परिज्ञानेनाविनाभाव, तथाप्यशरीरेश्वरे तस्यासम्भव, सर्वत्र शरीरसम्बन्धे सत्येवास्योपलम्भात्।

यदप्यभ्यधायि-बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वान्न विशेषविरुद्धता कार्यत्वस्य, अन्यथा धूमाद्यनुमानोच्छेद, तदप्यभिधानमात्रम्, कार्यमात्राद्धि कारणमात्रानुमाने विशेषविरुद्धताऽसम्भवस्तस्य तेन व्याप्तिप्रसिद्धे, न पुनर्बुद्धिमत्कारणानुमाने तस्य तेनाव्याप्तेः प्रतिपादितत्वात्। व्याप्तौ वा

कुछ नही करता हो, तथा वैसा कोई कार्य भी नही है जहां अदृष्ट नही होता हो। इससे सिद्ध होता है कि कारको का ज्ञान नही होते हुए भी कर्ता कार्य को करता है। कारको की शक्ति अतीन्द्रिय होती है इसलिये उनका ज्ञान सर्व प्राणियो को नही हो सकता यह बात भी प्रसिद्ध ही है।

भावार्थ–कार्य कर्ता किसी कार्य को करते हैं किंतु वह कह देते हैं कि भाई! प्रयत्न तो कर रहे किन्तु सफलता होना भाग्याधीन है, विद्यार्थी विद्यालय मे पढते हैं सफलता होना जरूरी नही हैं, दुकानदार दुकान खोलता है किन्तु लाभ होना निश्चित नही है, अनेको उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि प्रयोक्ता को कारको का पूरा ज्ञान नही होता है।

पदार्थो मे अतीन्द्रिय शक्ति होती है इस बात का निश्चय इस ग्रंथ के प्रथम भाग मे "शक्ति स्वरूप विचार" नामा प्रकरण मे भली प्रकार हो चुका है। कोई प्रयोक्ता ऐसे भी होते है जो शरीर के प्रयास के बिना वचन मात्र से ही कार्य करते हैं, जैसे स्वामी अपने सेवक को वचन से कार्य मे लगाते है। दुर्जन सतोष न्याय से मान लेवे कि कारक प्रयोक्तृ का ज्ञान के साथ अविनाभाव है तो भी अशरीरी ईश्वर मे उसका होना सभव है क्योकि सर्वत्र शरीर सम्बन्ध होने पर ही कारक प्रयोक्तृत्व होता है। आपने कहा था कि हमने बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व सामान्य को ही साध्य बनाया है अत. कार्यत्व हेतु विशेष विरुद्ध नामा दोष सयुक्त नही होता अन्यथा धूमादि हेतु वाले अनुमानो का उच्छेद होवेगा। किन्तु यह कथन अयुक्त हैं, कार्यमात्र से कारण मात्र का अनुमान होना मानते तब तो विशेष विरुद्ध नही होता, कारण मात्र की

अनीश्वरासर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेत एव कर्त्तात्र सिद्ध्येत्, तथाभूतेनैव घटादौ व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनरीश्वरत्वादिविरुद्धधर्मोपेतः, तस्य तद्व्यापकत्वेन स्वप्नेप्यप्रतिपत्तेः। तथाप्यस्य त प्रति गमकत्वे महानसप्रदेशे वन्हिव्याप्तो धूम' प्रतिपन्नो गिरिशिखरादौ प्रतीयमानो वन्हिविरुद्धधर्मोपेतोदक प्रति गमकः स्यात्। धूमाद्यनुमानोच्छेदासम्भवश्च प्राक्प्रबन्धेन प्रतिपादितः।

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वज्ञता चाशेषकार्यकारणात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्, कार्यकारित्वस्य कारणपरिज्ञानाविनाभावासम्भवस्योक्तत्वात्। एकस्याशेषकार्यकारिणो व्यवस्थापकप्रमाणाभावात्, कार्यत्वादेश्च कृतोत्तरत्वात्कथमतः सर्वज्ञतासिद्धिः?

यच्चोक्तम्–'तथा विश्वतश्चक्षु' इत्यागमादप्यसौ सिद्धः, तदप्युक्तिमात्रम्, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–प्रसिद्धप्रामाण्यो ह्यागमस्तत्प्रसाधको नान्यथातिप्रसङ्गात् ततस्तत्प्रामाण्यप्रसिद्धौ महेश्वर-

---

कार्यमात्र के साथ व्याप्ति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु आपके अनुमान मे ऐसी बात नही है वहां तो बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व साध्य है इस साध्य की कार्यत्व हेतु के साथ व्याप्ति सिद्ध नही होती है इस विषय का भी पहले प्रतिपादन कर दिया है। यदि बुद्धिमान कारण के साथ कार्यत्व की व्याप्ति माने तो वह बुद्धिमान कारण, अनीश्वर, असर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला ही सिद्ध होगा, क्योकि घट आदि मे वैसा ही दिखायी देता है उसी के साथ कार्यत्व की व्याप्ति है, ईश्वर आदि विरुद्ध स्वभाव वाले के साथ नही है। कर्तृत्व की ईश्वर आदि के साथ व्याप्ति होते हुए स्वप्न मे भी प्रतीत नही होता, व्याप्ति नही होते हुए भी इस कार्यत्व हेतु को साध्य का गमक मानो तो, महानस मे अग्नि के साथ व्याप्त धूम को देखा था, फिर पर्वत शिखर पर प्रतीति मे आया सो अब अग्नि से विरुद्ध धर्मवाला जो जल है उसका गमक बन जाय ? किन्तु बनता तो नही। परवादी ने कहा था कि "यदि हमारे कार्यत्व हेतु को गलत सिद्ध करेगे तो सारे ही धूमादि हेतु वाले अनुमानो का उच्छेद हो जावेगा सो इस विषय मे विस्तार से कह दिया है। पहले कहा था कि "ईश्वर मे सर्वज्ञता सपूर्ण कार्यो को करने से आती है, यह बात अयुक्त है, हमने सिद्ध कर दिया है कि कार्यकर्ता को कारणो का परिज्ञान होना जरूरी नही है, तथा एक ही कर्ता अशेष कार्यो को करता है यह बात भी प्रमाण सिद्ध नही है। कार्यत्वादि हेतु सदोष है इसके लिये बहुत कुछ कह दिया है इसलिये उससे सर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकती है। ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिये आगम प्रमाण "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादि उपस्थित किये थे, किन्तु

सिद्धि, तत्सिद्धौ च तत्प्रणीतत्वेनागमप्रामाण्यप्रसिद्धि । अन्येश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ तस्याप्यन्येश्वरप्रणीतागमात्सिद्धावीश्वरागमानवस्था । पूर्वेश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रय. । स्वप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ चान्योन्यसश्रय । नित्यस्य त्वागमस्य परै प्रामाण्य नेष्यते महेश्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ चेश्वरसद्भावस्याकिञ्चित्करत्वात् ।

यदप्युक्तम्–कारुण्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिना प्रवर्त्तते, तदप्ययुक्तम्, सुखोत्पादकस्यैव शरीरादिसर्गस्योत्पादकस्य प्रसङ्गात् । न हि करुणावता यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिना दु.खोत्पादकत्व युक्तम् । धर्माधर्मसहकारिण कर्त्तृत्वात्सुखवद्दु खस्याप्युत्पादकोऽसौ, फलोपभोगेन हि तयो प्रक्षयादपवर्ग प्राणिना स्यात् इति करुणयापि तद्विधाने प्रवृत्यविरोध , इत्यप्यसङ्गतम्, तयोरीश्वरा-

---

वे ठीक नही है, इससे तो अन्योन्याश्रय दोप आता है क्योकि प्रमाण प्रसिद्ध आगम ही ईश्वर का प्रसाधक हो सकता है, अन्यथा अति प्रसग होगा । ईश्वर द्वारा रचित होने के कारण आगम मे प्रामाण्य है ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय होगा–आगम प्रामाण्य की सिद्धि होने पर महेश्वर की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उसके द्वारा प्रणीत होने के कारण आगम प्रामाण्य की सिद्धि होगी । इस दोष से बचने के लिये अन्य ईश्वर द्वारा प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि करते है तब तो अनवस्था खडी होगी । पूर्व ईश्वर प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि होना भी अन्योन्याश्रय दोष के कारण असभव है । तथा खुद के रचे आगम से ही ईश्वर मे सर्वज्ञता सिद्ध होना कहे तो वही अन्योन्याश्रय दोष होता है । आप यौग मीमासक के समान नित्य आगम को प्रामाणिक नही मानते हैं, अन्यथा महेश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योकि नित्य आगम के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति होने मे ईश्वर के सद्भाव की आवश्यकता नही रहती है ।

आपने कहा था कि "ईश्वर करुणा बुद्धि से प्राणियो के शरीरादि की रचना करता है" किन्तु यह असत् है, यदि करुणा से करता तो सुखदायक शरीरादि को ही रचता ? क्योकि करुणाशाली पुरुष प्राणियो को यातना पहुचाने वाले शरीरादि को निर्माण कर दु ख को उत्पन्न नही कराते हैं ।

यौग–ईश्वर धर्म तथा अधर्म दोनो की सहकारिता से कार्य करता है अत. सुख और दु ख दोनो का उत्पादक है, जब इन धर्म अधर्म का फल भोग करके नाश होता है तब प्राणियो को मोक्ष होता है, अत ईश्वर करुणा से भी सुख दु ख को करा सकता है ?

नायत्तत्वे कार्यत्वे च आभ्यामेव कार्यत्वादेरनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्, तदुत्पत्तौ तस्याव्यापारे च विनाशेप्यव्यापारोस्तु, कारणान्तरोत्पन्नसुखदु खलक्षणफलोपभोगेनानयो प्रक्षयसम्भवात् । न हीश्वरस्यापि तत्फलोत्पादनादन्यत्तयोः क्षयकर्तृत्वम् ।

किञ्च, धर्माधर्मौ निष्पाद्य पुनस्तयो. क्षयकरणे किमुत्पत्तिकरणप्रयासेन ? न हि प्रेक्षाकारी खात्वा पुन समीकरणन्यायेनात्मानमायासयति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम्" [ ] इति प्रसिद्धेश्च । अन्यथा प्रक्षालिताशुचिमोदकपरित्यागन्यायानुसरणप्रसङ्ग. ।

अपवर्गविधानार्थं चास्य प्रवृत्तौ कथमपूर्वकर्मसञ्चयकर्तृत्वम् ? तत्सहकारिणश्चास्य सुखदुःखोत्पादकशरीरोत्पादकत्वे वर तत्फलोपभोक्तृप्राणिगणस्यैव तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमस्तु किम-

---

जैन—यह कथन अयुक्त है, यदि वे धर्म, अधर्म ईश्वराधीन न होकर के भी कार्य है तो उन्ही के साथ कार्यत्व हेतु अनैकातिक हो जायगा । तथा धर्म अधर्म की उत्पत्ति मे ईश्वर कारण नही है तो उनके नाश मे भी ईश्वर को कारण नही मानना चाहिये, क्योकि विभिन्न कारणो से उत्पन्न हुए सुख दु ख रूप फलो का उपभोग करके उन धर्माधर्म का नाश होना सभव है । यह विषय विचारणीय है कि पहले धर्म अधर्म को उत्पन्न कराना फिर उनका नाश करना यह प्रयास किसलिये किया जाता है ? प्रेक्षावान पुरुष "खात्वा पुन समीकरण न्याय" जमीन मे गड्ढा खोदकर पुन उसको भर देने के समान व्यर्थ के कार्य मे प्रवृत्ति नही करते है लोकोक्ति भी है कि "प्रक्षालनात् हि पकस्य दूरादस्पर्शन वरम्" अन्यथा प्रक्षालिता शुचि मोदक परित्याग न्यायानुसरण प्रसग । अर्थात् कीचड मे पैर देकर धोने की अपेक्षा पहले पैर नही देना ही श्रेष्ठ है वरना वह व्यक्ति हसी का पात्र होगा जैसे कोई व्यक्ति हाथ मे लड्डू ले जा रहा था वह नाली मे गिर गया लोभ के कारण उसको निकालकर धोया फिर ग्लानि आने से या लोगो के हसने से उसको फेक दिया वैसे धर्म अधर्म को पहले वताना फिर उनको नष्ट करना व्यर्थ का कार्य है ।

यदि कहा जाय कि अपवर्ग के विधान के लिये ईश्वर की प्रवृत्ति हुआ करती है तो वह अपूर्व कर्मो के संचय का कारण किस प्रकार हो सकता है ? तथा यदि सुख दु ख के उत्पादन मे और शरीर के उत्पादन मे ईश्वर को सहकारी माना तो उससे अच्छा यह होता कि उन धर्मादि के फलो को भोगने वाले प्राणी गण स्वय ही उनकी अपेक्षा लेकर सुखादि के उत्पादक होते है, व्यर्थ के अप्रसिद्ध ईश्वर की परिकल्पना मे

दृष्टेश्वरपरिकल्पनया ? सर्वत्र कार्येऽदृष्टस्य व्यापारात्। तथाहि–यद्यदुपभोग्य तत्तददृष्टपूर्वकम् यथा सुखादि, उपभोग्य च प्राणिना निखिल कार्यमिति।

ननु यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधात्फलप्रदो नाप्रभुस्तथेश्वरोपि कर्मापेक्ष. फलप्रदो नान्य, इत्यपि मनोरथमात्रम्, राज्ञो हि सेवायत्तफलप्रदस्य यथा रागादियोगो नैर्घृण्य सेवायत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत्सर्वं स्यात्, अन्यथाभूतस्य अन्यपरिहारेण क्वचिदेव सेवके सुखादिप्रदत्वानुपपत्तेः।

अथ यथा स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारनियमिताना महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्ति, तथात्राप्येकेश्वरनियमिताना सुखाद्यनेककार्यकरणे प्राणिना प्रवृत्तिः, इत्यप्यसाम्प्रतम्, नियमाभावात्। न ह्यय नियम–निखिल कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्, नाप्येकनियतैर्बहुभिरिति, अनेकधा कार्यकर्त्तृत्वो-

---

क्या प्रयोजन है ? क्योकि सब कार्य मे धर्मादि का ही व्यापार होता हुआ देखा जाता है। जगत का कार्य प्राणियो के अदृष्ट से होता है, क्योकि वह उन्ही के द्वारा उपभोग्य है, जो जिसके द्वारा उपभोग्य होता है वह उसी के अदृष्ट से निर्मित है, जैसे सुखादिक प्राणियो का अखिल कार्य उपभोग्य है, अत अदृष्ट निर्मित है।

शका–जिस प्रकार स्वामी नौकर को सेवा विशेष के अनुसार फल देता है, उस सेवा फल को अस्वामो नही दे सकता है, उसी प्रकार ईश्वर कर्म के अनुसार फल देता है, अन्य नही दे सकता है ?

समाधान–यह कथन मनोरथ मात्र है राजा सेवानुसार फल देता है किन्तु उसमे रागद्वेष है, कृपणता है वह सेवा के अधीन भी हो जाता है, ऐसे रागद्वेष आदि अवगुण ईश्वर मे भी मानने होगे। रागद्वेषादि नही होते तो अन्य का परिहार करके किसी सेवक विशेष को ही सुखादि को देने की बात नही बनती है।

यौग–जैसे स्थपति आदि शिल्पिकार एक सूत्रधार के नियम मे बद्ध होकर महाप्रासाद आदि कार्य को करते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर के नियम मे बद्ध होकर सुख दुख आदि अनेक कार्य करने मे प्राणीगण प्रवृत्त होते है ?

जैन–यह कथन असत् है, ऐसा नियम नही है कि अशेष कार्य एक ही व्यक्ति करे, तथा ऐसा भी नियम नही है कि अनेक व्यक्ति एक से अनुबद्ध होकर ही कार्यों को करे, किन्तु कार्यों का कर्तापना अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है, इसी को बताते हैं कही पर एक कार्य को एक ही व्यक्ति करता है, जैसे जुलाहा वस्त्र रूप कार्य को करता है। कही पर एक कर्ता अनेक कार्यों को करता है, जैसे एक ही कुभकार घट, सुरई,

पलम्भात्। तथाहि–क्वचिदेक एवैककार्यस्य कर्त्तोपलभ्यते यथा कुविन्द पटस्य। क्वचिदेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटघटीशरावोदश्चनादीना कुलाल। क्वचिदनेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटपटमकुट-शकटादीना कुलालादि। क्वचिदनेकोप्येककार्यस्य यथा शिविकोद्वहनादिकार्यस्यानेकपुरुषसघात.। न चानेकस्थपत्यादिनिष्पाद्ये प्रासादादिकार्येऽवश्यतयैकसूत्रधारनियमिताना तेषा तत्र व्यापार', प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमिताना तत्करणाविरोधात्।

किञ्च, अदृष्टापेक्षस्यास्य कार्यकर्तृत्वे तत्कृतोपकारोऽवश्यभावी अनुपकारकस्यापेक्षायोगात्। तस्य चातो भेदे सम्बन्धासम्भव'। सम्ब्रन्धकल्पनाया चानवस्था। अभेदे तत्करणे महेश्वर एव कृत इत्यदृष्टकार्यतास्य। नाऽस्यादृष्टेन किञ्चित्क्रियते सम्भूय कार्यमेव विधीयते सहकारित्वस्यैककार्यकारि-

---

सकोरा, झारी आदि अनेक कार्यो को करता है, तथा कही पर अनेको कर्ता अनेको कार्यो को करते है, जैसे घट, पट, मुकुट, शकट आदि को क्रमश. कुम्हार, जुलाहा, सुनार और बढई करते है। कहीं पर अनेक पुरुष मिलकर एक ही कार्य करने मे सलग्न हो जाते है, जैसे शिविका ढोना आदि एक कार्य मे अनेक पुरुष लग जाते है। अनेक बढई आदि के द्वारा जिसका निर्माण होना है ऐसे प्रासाद आदि कार्य एक सूत्रधार से नियमित होकर ही होवे सो भी बात नही है अपने अपने कार्य मे नियमित अभिप्राय वाले बढई आदि पुरुष एक सूत्रधार के नियम मे बधे बिना भी अपना अपना कार्य सम्पन्न कर सकते है, कोई विरोध की बात नही है।

जैन का यौग के प्रति प्रश्न है कि ईश्वर अदृष्ट की अपेक्षा लेकर कार्यो को करता है उसमे अदृष्टकृत उपकार जरूर रहता होगा, क्योकि अनुपकारक की अपेक्षा नही हुआ करती है, अब यदि उस उपकार को ईश्वर से भिन्न मानते है तो दोनो का सम्बन्ध नही बनता है और सम्बन्ध की कल्पना करे तो अनवस्था आती है तथा उस उपकार को ईश्वर से अभिन्न मानते है तो उसके करने मे ईश्वर को किया ऐसा अर्थ होता है और इस तरह ईश्वर अदृष्ट का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है।

यौग–अदृष्ट द्वारा ईश्वर का कुछ नही किया जाता सिर्फ ये दोनो मिलकर कार्य को करते है सहकारी कारण उसीको कहते हैं जो मिलकर एक ही कार्य को करे?

जैन–यह कथन असत् है, सहकारी की अपेक्षा लेकर कार्यो को उत्पन्न करना यह ईश्वर का स्वभाव है, अब यदि वह स्वभाव अदृष्ट आदि सहकारी के मिलने के

त्वलक्षणत्वात्, इत्यप्यसाम्प्रतम्, सहकारिसव्यपेक्षो हि कार्यजननस्वभाव तस्यादृष्टादिसहकारिसन्निधानाद्यदि प्रागप्यस्ति तदोत्तरकालभाविसकलकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात् । तथाहि-यद्यदा यज्जननसमर्थं तत्तदा तज्जनयत्यव यथान्त्यावस्थाप्राप्त बीजमकुरम्, प्रागप्युत्तरकालभाविसकलकार्यजननसमर्थश्चैकस्वभावतयाभ्युपगतो महेश्वर इति । तदा तदजनने वा तज्जननसामर्थ्याभाव., यद्धि यदा यन्न जनयति न तत्तदा तज्जननसमर्थस्वभावम् यथा कुसूलस्थ बीजमंकुरमजनयन्न तज्जननसमर्थस्वभावम्, न जनयति चोत्तरकालभावि सकल कार्यं पूर्वकार्योत्पत्तिसमये महेश्वर इति ।

तज्जननसमर्थस्वभावोप्यसौ सहकार्यऽभावात्तथा तन्न जनयति, इत्यपि वार्त्तम्, समर्थस्वभावस्यापरापेक्षाऽयोगात् । 'समर्थस्वभावश्चापरापेक्षश्च' इति विरुद्धमेतत्, अनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात्तस्य ।

पहले भी है, तो आगामी काल मे होने वाले जितने कार्य हैं वे सारे उसी समय हो जायेंगे इसका खुलासा—जो जिस समय जिसको उत्पन्न करने मे समर्थ होता है वह उस समय उस कार्य को अवश्य करता है, जैसे—अतदशा को प्राप्त हुआ बीज अकुर को उत्पन्न करा देता है, ईश्वर मे पहले से ही उत्तरकालीन सकल कार्यो को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है, क्योंकि वह सदा एक सा स्वभाव वाला है, यदि उस समय सकल कार्यो को उत्पन्न नही करता है तो ईश्वर मे कार्योत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव हो जायगा । क्योकि जो जिस समय जिसको उत्पन्न नही करता है उस समय उसके वह सामर्थ्य नही रहती है, जैसे कुशूल मे रखा हुआ बीज अकुर को उत्पन्न नही करता है तो उसके सामर्थ्य का अभाव ही है, ईश्वर भी पूर्व कार्योत्पत्ति के समय उत्तरकालीन सकल कार्यो को नही करता है अत उसमे उन कार्यों को उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नही है ।

यौग—ईश्वर मे सकल कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रहती है किन्तु सहकारी का अभाव होने से उत्पन्न नही करता है ।

जैन—यह बात असगत है, जो स्वय समर्थ स्वभाव वाला है वह पर की अपेक्षा नही रखता है, समर्थ स्वभावी हो और पर की अपेक्षा भी रखने वाला हो यह विरुद्ध बात है । ईश्वर तो अनाधेय और अप्रहेय अतिशयवान है । [अर्थात् आरोपित करने मे नही आना अनाधेयता है और भेद नही कर सकना अप्रहेय है, यौग मत मे ईश्वर को ऐसे अतिशय से युक्त माना जाता है] तथा ये अदृष्टादिक सहकारी ईश्वर के अधीन होकर उत्पन्न होते है या बिना अधीन हुए उत्पन्न होते हैं ? प्रथम पक्ष कहो तो

किञ्च, एते सहकारिणः किं तदायत्तोत्पत्तयः, अतदायत्तोत्पत्तयो वा ? प्रथमपक्षे किं नैकदैवोत्पद्यन्ते ? तदुत्पादकान्यसहकारिवैकल्याच्चे दनवस्था । तथा चास्यापरापरसहकारिजनने एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न प्रकृतकार्ये व्यापार. । वीजाकुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य नानवस्था दोषायेत्यभ्युपगमे महेश्वरकल्पनावैयर्थ्यम्, स्वसामग्रचधीनोत्पत्तितया पूर्वपूर्वसामग्रीविशेषवशादपरापराखिलकार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः । अथातदायत्तोत्पत्तय , तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतवोऽनैकान्तिका. इति ।

एतेन 'महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिना सुखदु खनिमित्त रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत्' इत्यादीनि वार्त्तिककारादिभिरुपन्यस्तप्रमाणानि निरस्तानि, यादृश हि रूपादिमत्त्वमनित्यत्व च चेतनाधिष्ठितं वास्यादौ प्रसिद्ध तादृगस्य क्षित्यादावसिद्धेः । रूपादिमत्त्वमात्रस्य च चेतनाधिष्ठितत्वेन

एक काल में ही सबकी उत्पत्ति क्यो नही होती है ? उनके उत्पादक अन्य सहकारी कारण नही रहने से एक काल मे सबकी उत्पत्ति नही होती ऐसा कहे तो अनवस्था आती है, तथा इस प्रकार ईश्वर अन्य अन्य सहकारी को उत्पन्न करने में ही क्षीण शक्ति वाला होने से प्रकृत कार्य मे व्यापार नही कर सकता है ।

यौग–बीज और अकुर के समान अनादि प्रवाह रूप सहकारी कारणों का मिलने की और कार्य होने की परपरा चलती है अत. कोई दोष नही है ?

जैन–फिर महेश्वर को मानना ही व्यर्थ है, सभी कार्यों की उत्पत्ति अपनी सामग्री के अधीन है, पूर्व पूर्व सामग्री विशेष से उत्तर उत्तर अखिल कार्य होते रहते है ऐसा सिद्ध होता है, यदि दूसरे पक्ष की बात करें कि वे सहकारी कारण ईश्वर के अधीन न होकर कार्योत्पत्ति करते हैं, तब तो उन्ही सहकारी कारणो के साथ कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचरित होते है । [अर्थात् सब कार्य ईश्वर ही करता है ऐसा यौग का कहना था किन्तु यहा सहकारी की उत्पत्ति होना रूप कार्य विना ईश्वर के होना स्वीकार किया अत. पूर्वोक्त कथन अनैकातिक होता है]

इस प्रकार ईश्वर को जगतकर्ता सिद्ध करने में दिये गये कार्यत्वादि हेतु का निरसन हुआ इसी प्रकार महाभूतादि व्यक्त प्रधान चेतन से अधिष्ठित होकर प्राणियो के सुख दुःखादि का निमित्त होता है, क्योकि वह रूपादि मान है, जैसे वादित्र आदिक, इत्यादि वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त हुए अनुमान भी निराकृत हुए समझना चाहिये, क्योकि वादित्र, वसूला आदि में जिस प्रकार का रूपादिमत्व एव अनित्यत्व चैतन्य से अधिष्ठित है उस प्रकार का पृथ्वी आदि मे नही है तथा रुपादिमत्व हेतु का चेतना-

प्रतिवन्धासिद्धे आशङ्कितविपक्षवृत्तितयाऽनैकान्तिकत्वम्। प्रतिवन्धाभ्युपगमे चेष्टविपरीतसाधनाद्विरुद्धमित्यादि पूर्वोक्त सर्वमत्रापि योजनीयम्।

किञ्च, ईश्वरबुद्धेरनित्यत्वप्रसाधनात्तदभिन्नस्येश्वरस्यानित्यत्वप्रसिद्धेस्तस्याप्यपरबुद्धिमदधिष्ठितत्वप्रसङ्ग स्यादित्यनवस्था। तदनधिष्ठितत्वे वा तेनैवानेकान्तो हेतो।

यच्चोक्तम्-'सर्गादौ पुरुषाणा व्यवहार' इत्यादि, तत्रोत्तरकाल प्रबुद्धानामित्येतद्विशेषणमसिद्धम्। न खलु प्रलयकाले प्रलुप्तज्ञानस्मृतयो वितनुकरणा पुरुषाः सन्ति, तस्यैव सर्वथाऽप्रसिद्धे। सिद्धौ वा स्वकृतकर्मवशाद्विशिष्टज्ञानान्तरेषू (न्तरो)त्पत्तेस्तेषा कथ वितनुकरणत्व प्रलुप्तज्ञानस्मृतित्व वा ? सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकश्च हेतु.।

धिष्ठित के साथ अविनाभाव सिद्ध नही है अत इसमे शकित विपक्ष वृत्ति होने से अनैकातिक हेत्वाभासपना भी है। यदि चेतन के साथ रूपादिमत्व हेतु का अविनाभाव मानेगे तो इष्ट साध्य से विपरीत साध्य सिद्ध होने के प्रसग प्राप्त होना इत्यादि पूर्वोक्त दोष इस अनुमान मे भी आते है।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर की बुद्धि को अनित्य सिद्ध करेगे तो उस बुद्धि से अभिन्न रहने वाला ईश्वर भी अनित्य सिद्ध होता है फिर अनित्य ईश्वर का अन्य कोई बुद्धिमान अधिष्ठायक मानना होगा क्योकि जो अनित्य होता है वह बुद्धिमान द्वारा ही निर्मित होता है ऐसा यौग के यहा नियम हैं अत' अनवस्था आती है। अनित्य ईश्वर रूप कार्य को अन्य बुद्धिमान से अधिष्ठित (निर्मित) नही मानते हैं तव तो पूर्वोक्त कार्यत्वादि हेतु स्पष्ट रूप से अनैकातिक सिद्ध होते है।

पहले जो कहा था कि सर्ग के आदि मे पुरुषो का व्यवहार अन्योपदेश पूर्वक होता है इत्यादि इस कथन मे "उत्तर काल प्रबुद्धाना" ऐसा जो विशेषण है वह असिद्ध है, क्योकि प्रलयकाल मे ज्ञान, स्मृति, शरीर और इन्द्रिया जिनकी लुप्त हुई हैं ऐसे पुरुप नही हैं, क्योकि प्रलय की सर्वथा असिद्धि है यदि सिद्ध भी हो तो प्रलयकाल के अनतर तत्काल ही पुरुषो के अपने कर्मानुसार ज्ञानातर की उत्पत्ति हो जाती है, अत. उनके शरीर रहितपना, विलुप्तज्ञान, स्मृतिपना मानना कैसे सिद्ध होवेगा ? नही हो सकता है, तथा हेतु सदिग्घ विपक्ष व्यावृत्त वाला होने से अनेकातिक भी है [अर्थात् सर्ग के आदि मे अन्य उपदेश पूर्वक ही कार्य मे प्रवृत्ति होती है क्योकि वह कार्य है, इस अनुमान का कार्यत्व हेतु साध्य से विरुद्ध पडता है, क्योकि ससारी कार्य अन्य

किञ्च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता, अनादेर्व्यवहारस्याशेषपुरुषाणामन्योपदेशपूर्वकत्वेनेष्टत्वात् । ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वे तु साध्येऽनैकान्तिकता, अन्यथापि तत्सम्भवात् । साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य । न चास्योपदेष्टृत्वसम्भवो विमुखत्वान्मुक्तात्मवत् । तच्च वितनुकरणतयोपगमात्प्रसिद्धम् ।

'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति चेश्वरेणैवानैकान्तिकम्, स हि क्रमवत्कार्येषु स्थित्वा प्रवर्त्तते न च चेतनान्तराधिष्ठितोऽनवस्थाप्रसङ्गात् इति ।

अनयैव दिशा 'सप्तभुवनान्येकबुद्धिमन्निर्मितानि एकवस्त्वन्तर्गतत्वादेकावसथान्तर्गतापवरकवत्' इत्यादिपरकीयप्रयोगोऽभ्यूह्य । न ह्येकावसथान्तर्गतानामपवरकादीनामेकसूत्रधारनिर्मितत्वनियम येनेश्वर सकलभुवनैकसूत्रधार सिद्धयेत्, अनेकसूत्रधारनिर्मितत्वस्याप्युपलम्भात् ।

उपदेश पूर्वक ही होवे सो बात नही है चोरी आदि असत् कार्यों मे बिना परोपदेश के भी प्रवृत्ति होती है] तथा यौग को इतना ही इष्ट हो कि कार्य मे पुरुष की प्रवृत्ति अन्य उपदेश पूर्वक ही होती हैं, तो यह सिद्ध साध्यता है । क्योकि व्यवहार अनादि कालीन है, सभी पुरुषो की कार्य मे प्रवृत्ति सामान्यत अन्य किसी के उपदेश पूर्वक होती है यह बात तो इष्ट है, किन्तु आप अन्योपदेश का अर्थ ईश्वर पूर्वक ही करे और उसी को, साध्य बनावे तब तो साध्य मे अनैकान्तिकता होगी, क्योकि अन्य प्रकार से भी उपदेश सभव है, दृष्टात भी साध्य विकल है । ईश्वर का उपदेश देना भी शक्य नही है, क्योकि वह विमुख है जैसे मुक्तात्मा विमुख होने से उपदेशक नही है, उसका विमुखपना शरीर एव इन्द्रिय रहित स्वीकार करने से प्रसिद्ध ही है । जगत के कार्य चेतानान्तर से अधिष्ठित होकर ही प्रवर्तते है ऐसा सिद्ध करते समय 'उद्योत करने' "स्थित्वा प्रवृत्ते " यह हेतु दिया है किन्तु वह ईश्वर से ही व्यभिचरित है, ईश्वर क्रमिक कार्यो मे ठहरकर प्रवृत्ति करता है, किन्तु अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर नही करता अन्यथा अनवस्था का प्रसग आयेगा । यहा तक अन्य अन्य ग्र थकारो द्वारा रचित ईश्वर सिद्धि सम्बन्धी आगम वाक्यो का खडन हुआ, इसी तरह "सातो भुवन एक बुद्धिमान के द्वारा निर्मित हैं" क्योकि वे एक वस्तु के अन्तर्गत है, जैसे महल के अन्तर्गत कमरे होते है, इत्यादि अनुमान वाक्य भी निराकृत समझना । एक महल के अन्तर्गत जो अनेक कमरे है उनको एक सूत्रधार ने ही बनाया हो सो बात नही है अत उसके समान ईश्वर भी सकल भुवन का एक सूत्रधार है ऐसा कहना सिद्ध नही होता, महल के कमरे अनेक सूत्रधार निर्मित भी हो सकते है ।

एकाधिष्ठाना ब्रह्मादयः पिशाचान्ता परस्परातिशयवृत्तित्वात्, इह येषा परस्परातिशयवृत्तित्व तेषामेकायत्तता दृष्टा यथेह लोके गृहग्रामनगरदेशाधिपतीनामेकस्मिन्सार्वभौमनरपतौ, तथा भुजगरक्षोयक्षप्रभृतीना परस्परातिशयवृत्तित्व च, तेन मन्यामहे तेषामेकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्, इत्यसम्यक्, अत्र हि 'ईश्वराख्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठाना' इति साध्येऽनैकान्तिकता हेतोर्विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् प्रतिबन्धासिद्धे.। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। 'अधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठानाः' इति साध्ये सिद्धसाध्यता स्वर्निकायस्वामिन शक्रादेर्भवान्तरोपात्ताऽदृष्टस्य चाधिष्ठायकतयाभ्युपगमात्।

यौग–ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक जितनी देवयोनि है वे सब एकाधिष्ठान स्वरूप ईश्वराधिष्ठित है, क्योकि परस्पर मे अतिशय वृत्ति वाले है इह लोक मे जिनका परस्पर मे अतिशयितपना होता है वे एक प्रमुखाधीन देखे जाते है, जैसे गृहपति, ग्रामपति, नगरपति आदि एक सार्वभौम (चक्रवर्ती के) अधीन है, ऐसे ही नागेन्द्र, राक्षस, यक्ष आदि मे परस्पर मे अतिशयपना है, इसलिये एक ईश्वर मे अधिष्ठित है ऐसा हम मानते है ?

जैन–यह कथन अयुक्त है इस अनुमान मे एक ईश्वर नाम के अधिष्ठाता से अधिष्ठित ब्रह्मादिक होते है ऐसा जो साध्य है, उसमे हेतु की अनैकातिकता है, क्योकि इस हेतु के साथ अविनाभाव नही होने से विपक्ष मे जाना सम्भावित है, कोई बाधक प्रमाण नही है। तथा ब्रह्मादिक अधिष्ठान मात्र से अधिष्ठित है ऐसा साध्य बनाते हैं तो सिद्ध साध्यता है क्योकि हम लोग स्वर्ग के देवो का स्वामी इन्द्र को पूर्वभव के पुण्यरूप अधिष्ठायक से अधिष्ठित मानते ही है इस प्रकार ईश्वर ही अकेला सकल जगत का कर्ता है ऐसा कथन किसी भी निर्दोष प्रमाण से सिद्ध नही होता है अत ईश्वर के अनादि मुक्तपना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है जिससे कि उसको सर्वज्ञ माना जाय।

अब यहा जगत कर्तृत्व का निरसन करने वाला अनुमान उपस्थित करते है– पृथ्वी, पर्वत आदिक पदार्थ एक एक स्वभाव पूर्वक नही होते हैं, क्योकि विभिन्न देश, विभिन्न काल एव विभिन्न आकार वाले है जो इस प्रकार है वे ऐसे ही होते हैं, जैसे– घट, पट, मुकुट, शकट विभिन्न विभिन्न देश आदि विशेष रूप रहते हैं, अत एक स्वभाव पूर्वक नही होते है, पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ भी भिन्न भिन्न देश, काल और आकार से युक्त हैं अत ये भी एक स्वभाव पूर्वक नही हैं। यह विभिन्न देश काल आकारत्व हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि इन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि पक्ष मे, भिन्न

ततो महेश्वरस्याशेषजगत्कर्तृत्वप्रसाधकस्यानवद्यप्रमाणस्यासम्भवात् कुतोऽनादिमुक्तत्वसिद्धिर्यतोऽनाद्यशेषज्ञत्वमस्य स्यात् ? प्रयोग –क्षित्यादिक नैकैकस्वभावभावपूर्वक विभिन्नदेशकालाकारत्वात्, यदित्थ तदित्थम् यथा घटपटमकुटशकटादि, विभिन्नदेशकालाकार चेदम्, तस्मान्नै कैकस्वभावभावपूर्वकमिति। न चेदमसिद्ध साधनम्, उर्वीपर्वततर्वादौ धर्मिणि विभिन्नदेशकालाकारत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्। नाप्यनैकान्तिक विरुद्ध वा, विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वा वृत्तेरभावात्।

नन्वेकस्याप्यनेककार्यकरणकुशलस्य कर्त्तु र्विचित्रसहकारिसान्निध्ये विचित्रकार्यकारित्व दृश्यते, अतोऽनेकान्त , इत्यप्यनुपपन्नम्, तत्राप्येकस्वभावत्वस्यासिद्धे , स्वरूपमभेदयता सहकारित्वस्यासम्भवप्रतिपादनात्। नापि कालात्ययापदिष्टम्, प्रत्यक्षागमाभ्या पक्षस्याबाध्यमानत्वात्। न हि क्षित्यादौ विचित्रकार्ये प्रत्यक्षेणैकैकस्वभाव कर्त्तोपलभ्यते, तस्यानीन्द्रियतया प्रत्यक्षागोचरत्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्, आगमस्यापि तत्प्रतिपादकस्य प्रागेव प्रतिषेधात्। नापि सत्प्रतिपक्षम्, विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्याभावात्, कार्यत्वादिहेतूना चात्रैवानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनादिति।

भिन्न देश, काल आकारत्व प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है। तथा यह हेतु अनैकातिक भी नही है और विरुद्ध भी नही है, क्योकि विपक्ष के देश मे रहना या मात्र विपक्ष में रहना इत्यादि हेतु सम्बन्धी दोषो से रहित है।

यौग—एक पुरुष भी अनेक कार्य करने मे कुशल होता है, उसको जब विचित्र विचित्र सहकारी कारण मिलते है तब वह अनेक कार्य करता ही है, अत आपके अनुमान अनेकान्तिक दोष आता है।

जैन—यह कथन ठीक नही है, एक पुरुप मे एक स्वभाव नही है किन्तु अनेक स्वभाव है, तथा यह भी बात है कि जिसके स्वरूप मे सर्वथा अभेद (एकत्व) रहता है उसमे सहकारी कारणो की सम्भावना होना अशक्य है ऐसा पहले सिद्ध कर चुके है। यह विभिन्न देश काल आकारत्व हेतु कालात्यापादिष्ट भी नही है, क्योकि इस हेतु के पक्ष मे प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण से बाधा नही आती है। पृथ्वी आदि अनेक कार्यो का कर्ता एक ईश्वर है, ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत नही होता है क्योकि अतीन्द्रिय होने से ईश्वर प्रत्यक्ष के अगोचर है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर चुके है, और ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले आगम का खण्डन हो चुका है। यह हेतु सत्प्रतिपक्षी भी नही है, क्योकि साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई अनुमान नही है कार्यत्वादि हेतु वाले अनुमान अनेक दोषो से युक्त है ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार जगत् कर्तृत्वरूप ईश्वर की सिद्धि नही होती है।

॥ ईश्वरवाद समाप्त ॥

ईश्वरवाद का सारांश

पूर्वपक्ष—नैयायिक वैशेषिक सृष्टि कर्ता को मानते है उनका कहना है कि सर्वज्ञ कर्मो का नाश करके बनना हो ऐसी बात नही है, एक अनादि महेश्वर है वही सर्वज्ञ है, उसकी सर्वज्ञता जगत की रचना मे सिद्ध होती है पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित है, क्योकि वे कार्य है, जैसे घटादि कार्य है, यह अनुमान हमारे अनादि ईश्वर को सिद्ध कर देता है, पृथ्वी आदि हमेशा से रहते हैं तो उसका निर्माता भी हमेशा से रहना चाहिये। कोई जैनादि कहे कि घटादि का कर्ता सशरीरी है वैसे ही ईश्वर होना चाहिये सो बात नही, कार्य करने के लिये शरीर की जरूरत नही होती वहा तो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की जरूरत होती है पृथ्वी आदि कार्य है यह बात उनके अवयव युक्त होने के कारण सिद्ध होती है, जो सावयव होता है वह कार्य है जैसे प्रासाद। पृथ्वी आदि का सावयव पना और महल आदि का सावयवपना भिन्न भिन्न है ऐसा भी नही समझना। यदि कहे कि अकृष्ट प्रभव तृणादि का कर्ता नही है, सो बात भी नही, उनमे जो कर्ता का ग्रहण नही होता उसका कारण वह अतीन्द्रिय है। आप पृथ्वी आदि के परमाणुओ को कर्त्ता मानते हैं किन्तु ऐसा करने से इन पृथ्वी आदि का अदृष्ट नामा कारण असिद्ध हो जाता है। स्थावरादि पदार्थो का बुद्धिमान कर्त्ता नही है इसलिये दिखायी नही देता है अथवा कर्त्ता है तो भी वह अनुपलब्धि लक्षण वाला है (अदृश्य) इसलिये दिखाई नही देता है इस तरह कर्ता के बारे मे सशय रहने से कार्यत्व हेतु सदिग्ध अनेकान्तिक सिद्ध करोगे तो सभी अनुमान के हेतु इसी दोष के शिकार बन जायेगे, जहा कही भी अग्नि न दिखकर धूम दिखेगा तो शका होगी कि क्या मालूम यहा पर अग्नि नही दिखायी देती वह नही है इसलिये अथवा अनुपलब्धि स्वभाव वाली है इसलिये ? इत्यादि रूप से प्रसिद्ध हेतु भी गलत ठहरेगे। यह सर्वज्ञ करुणा के सागर हैं अत जगत को रचता है तो सुखी प्राणी को बनाते दुखी को काहे को बनाया ? सो उसमे बडा रहस्य छिपा हुआ है प्राणिओ का जो अदृष्ट पुण्य पाप है उनको भोगे बिना मोक्ष नही मिलता अर्थात् पुण्य पापादि भोग कर ही नष्ट हो सकते है अन्यथा नही, इसीलिये तो जल्दी से वे प्राणी उन्हे भोग कर नष्ट करे इस हेतु से ईश्वर भोग के साधनभूत पदार्थों को दोनो सुख दुख के रूप

से निर्माण करता है (यदि सुख साधन ही बनाता तो दुख रूप पाप अदृष्ट का नाश न होता फिर मोक्ष भी कैसे मिलता) यह जैन का कहना भी ठीक नही कि सारा काम अदृष्ट ही करे क्योकि अदृष्ट अचेतन है, वार्तिककार अविद्धकर्ण, प्रशस्तमति, उद्योतकर इत्यादि महान व्यक्तियो ने भी उस ईश्वर का अनादि सर्वज्ञपना स्वीकार किया है।

उत्तरपक्ष—जैन इनके मंतव्य का निरसन करते है, आप यौग के कार्यत्व और सावयवत्व हेतु सदोष है। पहले आपने कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान कर्ता को सिद्ध किया, फिर कार्यत्व को भी सावयवत्व के द्वारा सिद्ध किया अब यह बता दो कि सावयवत्व किसे कहते है ? अवयवो के साथ रहना या अवयवो से उत्पन्न होना ? अवयवो के साथ रहना कहो तो सामान्य के साथ व्यभिचार है क्योकि वह अवयवो के साथ रहकर भी किसी का कार्य नही है, इस तरह दूसरा पक्ष भी बेकार है। आप ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ही कार्य का कर्ता मानते हैं किन्तु वह आपको ही घातक होगा। मुक्तात्मा मे ज्ञानादि है वे भी सृष्टि रचना शुरू कर देगे ? तथा ऐसा बिना शरीर के कार्य करते हुए जगत में देखा भी नही जाता है। बुद्धिमान मे बुद्धि व्याप्त होकर रहती है या अव्याप्त यह भी एक जटिल प्रश्न है ? आपने कहा कि अदृष्ट की सहायता से कार्य करता है सो उनके परतंत्रता का ही सूचक है, धूमादि सभी हेतुओ को संदिग्धानैकान्तिक बताना अज्ञानता है, धूमादि हेतु सामान्य अग्नि को ही सिद्ध करते है, न कि विशेष किसी अग्नि को, साराश यह है कि सामान्य हेतु विशेष साध्य को सिद्ध नही करता। आपने कार्यत्व सामान्य तो हेतु दिया और उससे विशेष बुद्धिमान कारण रूप (ईश्वर) साध्य को सिद्ध करना चाहा सो कैसे सभव हो ? कार्यत्व सामान्य तो सामान्य कारण मात्र को सिद्ध करता है, इसी तरह का कार्य कारण भाव सभी वादी प्रतिवादिओ ने स्वीकार किया है। ईश्वर की बुद्धि को क्षणिक कहते हो तो उसको बनाने वाला कौन है ? अन्य बुद्धिमान है तो अनवस्था होगी और स्वत: ही बुद्धि पैदा होती है कहो तो उसी से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ ? क्योकि बुद्धि, कार्यरूप होते हुए भी अपने आप उत्पन्न हुई ! फिर तो सारे ही पृथ्वी आदि पदार्थ स्वत. क्यो न होवे। यदि बुद्धि को अक्षणिक मानो तो शब्द को क्षणिक सिद्ध करने वाला अनुमान गलत ठहरेगा अर्थात् "शब्द क्षणिक है, हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त्त द्रव्य का विशेष गुण है" यह जो अनुमान है इसका हेतु अनेकान्तिक है क्यो... [illegible]

हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त द्रव्य का विशेप गुण होता है उसे क्षणिक सिद्ध किया है और ईश्वर की बुद्धि अमूर्त्त द्रव्य का विशेप गुण होते हुए भी उसे नित्य मान दिया सो व्यभिचार हुआ ।

अचेतन द्रव्य चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य करें ऐसा नियम नही है चेतन भी चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं जैसे पालकी ढोने वाले पुरुप अपने स्वामी के अधिष्ठित रहते है यह भी कोई जरूरी नही कि कारण सामग्री का पूरा ज्ञान होने के वाद ही कार्य करते है, हम लोगो को तो पूरी सामग्री का वोघ होना ही सभव नही, क्योकि कारण सामग्री से परमाणु अदृष्टादि तो कभी हमारे ज्ञान के विपय हो ही नही सकते । तुमने कहा था कि ईश्वर परम दयालु है, किन्तु वह क्या करे जीवो के अदृष्ट के अनुमार उन्हे सुख दुख आदि सामग्री को पैदा करना पडता है सो ऐसे क्यो ? क्या ईश्वर आधीन वह अदृष्ट नही है ? उस अदृष्ट को ही पाप रूप क्यो वनावें ? सभी कार्य को एक ही करे सो भी हटाग्रह गलत हैं, एक कार्य को एक व्यक्ति भी करता है जैसे वस्त्र को जुलाहा वनाता है एक व्यक्ति अनेक कार्यो को भी जैसे कु भकार घडा मटकी सकोरादि को बनाता है, अनेक मिलकर एक कार्य करना भी कहा है जैसे चार पुरुष एक पालकी ढोने का कार्य करते है । तथा ईश्वर यदि कार्य करने मे स्वत समर्थ है तो एक क्षण मे ही सारे कार्य कर डालेगा, किन्तु ऐसा है नही, सहकारी की अपेक्षा लेता है तो वे सहकारी कारण ईश्वर निर्मित है अथवा नही ? ईश्वर निर्मित हैं तो वही एक साथ कार्य करना रूप आपत्ति खडो है और ईश्वर के द्वारा निर्मित नही है तो वही कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ क्योकि सहकारी तो कार्य होते हुए भी ईश्वर कृत नही है । इस प्रकार ईश्वर अनादि निधन सिद्ध नही हुआ, वह तो आवरण कर्म के नाश करने से ही सिद्ध होता है वह कोई एक नही, न अनादि है जो कोई भी अन्य जीव अपने पुरुषार्थ से कर्म को नष्ट करेगा वह सर्वज्ञ वनेगा । इस तरह सृष्टि रचना और उसका कर्त्ता ईश्वर दोनो ही खण्डित हुए । सृष्टि तो अपने आप स्वभाव से अनादि निधन है और ईश्वर (भगवान सर्वज्ञ) कर्मों का नाश करके होते हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई ।

।। ईश्वरवाद का सारांश समाप्त ।।

५

प्रकृतिकर्तृत्ववादः

ननु साधूक्तमावरणापाये सर्वज्ञत्वमिति । तत्तु प्रकृतेरेव अत्रैवावरणसम्भवात्, नात्मनस्तस्यावरणाभावात् "प्रधानपरिणाम शुक्ल कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यभिधानात् । निखिलजगत्कर्तृत्वाच्चास्या एवाशेषज्ञत्वमस्तु, तदेतदप्यसमीक्षिताभिधानम्, कर्मणः प्रधानपरिणामताप्रतिषेधात् सकलजगत्कर्तृत्वस्य चासिद्धेः । ननु प्रकृतिप्रभवैवेय जगत सृष्टिप्रक्रिया, तत्कथ तस्यास्तत्कर्तृत्वासिद्धि ? तथा हि—

"प्रकृतेर्महास्ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य. पञ्च भूतानि ॥"

[साख्यका० २१]

साख्य—जैन ने उचित ही कहा कि आवरण के अपाय होने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है । किन्तु वह प्रकृति के होती है, क्योकि इसी पर आवरण आना सभव है, आत्माके नही, उसका भी कारण यह है कि आत्माके आवरण होना असभव है । कहा भी है कि प्रकृति के परिणाम कर्म कहते है, उसके कृष्ण कर्म और शुक्ल कर्म ऐसे दो भेद है । तथा सकल जगत का कर्त्ता होने से प्रकृति के ही सर्वज्ञता सिद्ध होती है ।

जैन—यह कथन अविचार पूर्ण है, कर्म मे प्रधान परिणाम होने का प्रतिषेध कर चुके है, तथा इसके सकल जगत के कर्त्तापन की भी असिद्धि है ।

साख्य—यह सृष्टि की प्रक्रिया प्रधान से ही प्रसृत है, उसके कर्त्तृत्वकी असिद्धि किसप्रकार कर सकते हैं ? सृष्टि के विषयमे कहा है कि—

प्रकृतेर्महास्ततोऽहकारस्तस्माद् गणश्चषोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात् पचभ्य पच भूतानि ॥१॥

अर्थ—प्रकृति से महान् (बुद्धि) महानसे अहकार, अहकार से सोलह गण सोलह गण से पंचभूत प्रादुर्भूत होते है । अर्थात् सर्व प्रथम प्रकृति से विषय का

प्रथमं हि प्रकृतेर्महान्–विषयाध्यवसायलक्षणा बुद्धिरुत्पद्यते। बुद्धेश्चाहङ्कारोऽहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिमानलक्षणः। अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि, इन्द्रियाणि चैकादश पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणि-पादपायूपस्थसंज्ञानि, मनश्च सङ्कल्पलक्षणम्–'भोजनार्थं हि तत्र गृहे यास्यामि किं दधि भविष्यति गुडो वा भविष्यति' इत्येव सङ्कल्पवृत्तिर्मनः। पञ्चभ्यश्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि—शब्दादाकाशं, स्पर्शाद्वायुः, रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथ्वीति। पुरुषश्चेति। पञ्चविंशतितत्त्वानि।

प्रकृत्यात्मकाश्चैते महदादयो भेदाः, न त्वत्यन्तभेदिनो लक्षणभेदाभावात्। तथाहि—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥"

[सांख्यका० ११]

अध्यवसाय करने वाली बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उससे अहंकार होता है, वह अहंकार मैं सुभग हूं, इत्यादि अभिमान स्वरूप हुआ करता है। अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधात्मक पांच तन्मात्राएँ, श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पांच बुद्धीन्द्रियां, वचन, हस्त, पाद, पायु (जननेन्द्रिय) उपस्थ (योनि) ये पांच कर्मेन्द्रियां, संकल्प स्वरूप मन जो संकल्प कराता है कि भोजनके लिये उस घरमे जाऊंगा उसमे भोजन मे गुड होगा या दही होगा इत्यादि, ये सब एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। पांच तन्मात्राओंसे पंचभूत पैदा होते हैं शब्द तन्मात्रासे आकाश, स्पर्शसे वायु, रूपसे अग्नि, रससे जल, एवं गंधसे पृथिवी आविर्भूत होती है। ये प्रधान स्वरूप २४ तत्त्व हैं पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है।

ये महान आदि भेद प्रकृत्यात्मक हैं इनमे लक्षण भेद का अभाव होने से अत्यन्त भिन्नता नही पायी जाती है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं–प्रधान त्रिगुणात्मक होता हैं अर्थात् सत्व रज और तमोगुणयुक्त होता है, तथा यह प्रधान अविवेकी अर्थात् प्रकृतिसे अभिन्न हैं, क्योंकि कारण से कार्य अभिन्न ही होता हैं, तथा विषय अर्थात् ज्ञानका विषय है, सामान्य है अर्थात् सर्व पुरुषोंका भोग्य है, अचेतन अर्थात् जड है, प्रसवधर्मी अर्थात् बुद्धि आदिको उत्पन्न करने वाला है, किन्तु पुरुष (आत्मा) इससे विपरीत है अर्थात् सत्वादि गुण रहित, विवेकी इत्यादि स्वभाव वाला है।

लोके हि यदात्मकं कारणं तदात्मकमेव कार्यमुपलभ्यते यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः। एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम्, तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि। तथाऽविवेकि—'इमे सत्त्वादय इदं च महदादि व्यक्तम्' इति पृथक्कर्तुं न शक्यते। किन्तु 'ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते गुणाः' इति। तथा व्यक्ताव्यक्तद्वयमपि विषयो भोग्यस्वभावत्वात्। सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात्पण्यस्त्रीवत्। अचेतनात्मकं च सुखदुःखमोहावेदकत्वात्। प्रसवधर्मि तथाहि-प्रधानं बुद्धिं जनयति, बुद्धिरप्यहङ्कारम्, अहङ्कारोपि तन्मात्राणीन्द्रियाणि चैकादश, तन्मात्राणि च महाभूतानीति।

प्रकृतिविकृतिभावेन परिणामविशेषाल्लक्षणभेदोप्यविरुद्धः। यथोक्तम्—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥"

[साङ्ख्यका० १०]

लोकमे देखा जाता है कि जिसरूप कारण होता है उसीरूप कार्य उपलब्ध होता है, जिसप्रकार कृष्ण ततुओसे बना हुआ पट कृष्ण रहता है। इसीप्रकार प्रधान भी त्रिगुणात्मक है, तथा व्यक्त प्रधान भी बुद्धि, अहकार, तन्मात्राये, इन्द्रिया पंचभूत इन रूप है। ये सत्वादि गुण है और यह महदादि व्यक्त है ऐसा विभाग करना अशक्य होनेसे प्रधान को अविवेकी कहते है। प्रधानमे जो गुण हैं वही व्यक्त है और जो व्यक्त है वही गुण है अतः विवेचना रहित होनेके कारण यह अविवेकी है। सर्व पुरुषोको भोग्य होनेसे पण्य स्त्री (वेश्या) के समान प्रधान को सामान्य कहा जाता हैं। सुख, दु.ख एवं मोह का वेदन नही करने से प्रधान अचेतन है। प्रधान प्रसव धर्मी भी है, अर्थात् प्रधान बुद्धिको उत्पन्न करता है, बुद्धि अहकारको, अहकार तन्मात्राओ को और ग्यारह इन्द्रियोको उत्पन्न करता है, और तन्मात्राये ही पच महाभूतो को [पृथ्वी जल वायु अग्नि आकाश को] उत्पन्न करती है।

इन महदादिमे प्रकृतिका विकृतिभाव होनेके कारण परिणाम विशेषसे लक्षणो का भेद होना भी अविरुद्ध है, जैसा कि कहा है—व्यक्त प्रधान हेतुमत् है, अनित्य, अव्यापि, क्रियावान, अनेक, आश्रित, लिग, सावयव, एव परतन्त्र है, इससे विपरीत अव्यक्त प्रधान है। व्यक्त प्रधान ही कारणवान् [हेतुमान] है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—प्रधानसे हेतुमान बुद्धि आविर्भूत होती है, बुद्धिसे अहकार, अहकार से पच

व्यक्तमेव हि कारणवत्, तथाहि-प्रधानेन हेतुमती बुद्धि, बुद्ध्या चाहङ्कार, अहङ्कारेण पञ्च तन्मात्राण्येकादश चेन्द्रियाणि, भूतानि तन्मात्रै । न त्वेवमव्यक्तम्-तस्य कुतश्चिदनुत्पत्ते । तथा व्यक्तमनित्यम् उत्पत्तिधर्मकत्वात्, नाव्यक्तम् तस्यानुत्पत्तिमत्त्वात् । यथा च प्रधानपुरुषौ दिवि चान्तरिक्षेऽत्र सर्वत्र व्यापितया वर्तेते न तथा व्यक्तम् । यथा च ससारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रियलक्षणेन सयुक्त सूक्ष्मशरीरादिक व्यक्त ससरति, नैवमव्यक्त तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात् । बुद्ध्यहङ्कारादिभेदेन चानेकविध व्यक्तम्, नाव्यक्तम् तस्यैकस्यैव सतो लोकत्रयकारणत्वात् । आश्रित च व्यक्तम्, यद्यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात् । न त्वेवमव्यक्तम् तस्याकार्यत्वात् । लिङ्ग च 'लय गच्छति' इति कृत्वा, प्रलयकाले हि भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिश्च प्रधाने । न चाव्यक्त क्वचिदपि लय गच्छतीति तस्याविद्यमानकारणत्वात् । सावयव च व्यक्तम् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात् । न त्वेवमव्यक्तम् प्रधानात्मनि शब्दा-

---

तन्मात्राये और ग्यारह इन्द्रिया एव उन्ही तन्मात्राओसे पचभूत होते हैं, अत उत्तरोत्तर हेतुमान होनेसे प्रधानको हेतुमान कहते हैं । अव्यक्त प्रधान इस तरह का नही है, क्योकि उसकी किसी से उत्पत्ति नही हुई है । तथा उत्पत्ति धर्मवाला होनेसे व्यक्त प्रधान तो अनित्य है और अव्यक्त प्रधान उत्पत्तिमान नही होनेसे नित्य है । तथा जिसप्रकार प्रधान और पुरुष स्वर्गमे आकाशमे, यहा पर सर्वत्र व्याप्त होकर रहते है उस प्रकार व्यक्त नही रहता । जिसप्रकार ससार कालमे बुद्धि अहकार एव एकादश इन्द्रिया इन तेरह प्रकार के लक्षण से सयुक्त सूक्ष्म शरीरादि को व्यक्त प्रधान प्राप्त होता है उसप्रकार अव्यक्त प्राप्त नही होता, क्योकि वह व्यापक होनेसे सक्रिय नही हो सकता । बुद्धि अहकारादि के भेद से व्यक्त अनेक विध है, अव्यक्त ऐसा नही है वह एक ही लोकत्रयका कारण है । व्यक्त आश्रित रहता है, क्योकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसके आश्रित रहता ही है । अव्यक्त अकार्य होने से ऐसा नही है । व्यक्त लिंग भी कहलाता है, "लय गच्छति इति लिंग" अर्थात् प्रलय कालमे पचभूत तन्मात्राओमे विलीन हो जाते हैं, तन्मात्राये और इन्द्रिया अहकारमे विलीन होते हैं, अहकार बुद्धि मे और बुद्धि प्रधानमे विलीन होती हैं अत व्यक्त को लिंग कहते हैं । किन्तु अव्यक्त किसी मे भी विलीन नही होता क्योकि उसका कारण अविद्यमान हैं । व्यक्त अवयव सहित होता है, क्योकि वह शब्द स्पर्श रूप रस गधात्मक अवयवो से युक्त हुआ करता है । अव्यक्तमे अवयव नही होते, क्योकि अव्यक्त प्रधान मे शब्दादि की उपलब्धि नही पायी जाती है । जिसप्रकार पिताके जीवित रहते हुए पुत्र स्वतत्र

दीनामनुपलब्धेः। यथा च पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्त सर्वदा कारणायत्तत्वात्परतन्त्रम्। न त्वेवमव्यक्त तस्य नित्यमकारणाधीनत्वात्।

ननु प्रधानात्मनि कुतो महदादीना सद्भावसिद्धिर्यत प्रागुत्पत्तेः सदेव कार्यमिति चेत्,

"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥"

[साख्यका० ६]

इति हेतुपञ्चकात्। यदि हि कारणात्मनि प्रागुत्पत्ते कार्यं नाभविष्यत्तदा तन्न केनचिदकरिष्यत। यदसत्तन्न केनचित्क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च प्रागुत्पत्ते परमते कार्यमिति। क्रियते च तिलादिभिस्तैलादिकार्यम्, तस्मात्तच्छक्तित प्रागपि सत्, व्यक्तिरूपेण तु कापिलैरपि प्राक् सत्त्वस्यानिष्टत्वात्।

नही होता उसप्रकार व्यक्त सर्वदा कारणाधीन होनेसे परतत्र रहता है। अव्यक्त ऐसा नही है, क्योकि वह नित्य होनेसे कारणाधीन नही है।

शका–प्रधान स्वरूप मे महदादिके सद्भावकी सिद्धि किस हेतु से होती है जिससे उत्पत्तिके पहले कार्य सद् रूप ही कहा जाता है?

समाधान–पाच हेतु से सद्रूपकार्यकी सिद्धि होती है, अर्थात् असत् की उत्पत्ति नही की जा सकती है, प्रतिनियत कार्यके लिये प्रतिनियत कारण को ग्रहण किया जाता है, सभी कारणोसे सभी कार्योकी उत्पत्ति नही देखी जाती है, समर्थ कारण ही शक्य कार्यको करता है अशक्यको नही, और पदार्थोमे कार्यकारणभाव देखा जाता है। यदि उत्पत्तिके पहले कारणमे कार्य नही होगा तो वह किसी के द्वारा किया नही जा सकता। जो असत् होता है वह किसीके द्वारा नही किया जाता जैसे आकाश का पुष्प, जैनादिप्रवादीके यहा उत्पत्तिके पहले कार्यको असत् माना है अत वह किसीके द्वारा नही किया जा सकता। किन्तु तिल आदिके द्वारा तैलादिकार्य किया जाता है अत. वह शक्तिसे पहले भी सद्रूप रहता है, हां व्यक्तिरूपसे पहले उसका सत्व मानना तो हम साख्यको भी अनिष्ट है।

यदि कार्य असत् होता तो पुरुषो द्वारा प्रतिनियत उपादानका ग्रहण नही होता। क्योकि जिसप्रकार शालि आदि का असत्व शालि आदि के वीजादि मे है उस

यदि चासद्भवेत्कार्यं तर्हि पुरुषाणा प्रतिनियतोपादानग्रहण न स्यात् । यथाहि–शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्त्व तथा कोद्रवबीजादिष्वपि । तथा च कोद्रवबीजादयोपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन् । न चैवम्, तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते ।

यदि चासदेव कार्यं सर्वस्मात्तृणपांशुलोष्ठादिकात्सर्वं सुवर्णरजतादि कार्यं स्यात्, तादात्म्यविगमस्य सर्वस्मिन्नविशिष्टत्वात् । न च सर्वं सर्वतो भवति तस्मात्तत्रैव तस्य सद्भावसिद्धिः ।

ननु कारणाना प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु प्रतिनियताः शक्तय । तेन कार्यस्यासत्त्वाविशेषेपि किञ्चिदेव कार्यं कुर्वन्ति, इत्यप्यनुत्तरम्; शक्ता अपि हि हेतव शक्यक्रियमेव कार्यं कुर्वन्ति नाशक्यक्रियम् । यच्चासत्तन्न शक्यक्रिय यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च परमते कार्यमिति ।

प्रकार कोद्रव आदि के बीजादि मे भी है इसलिये शालि धान्यके इच्छुक पुरुष कोद्रव आदिके बीजोंको भी ग्रहण कर सकते है ? किन्तु ऐसा देखा नही जाता, अत शालि बीजमे शालि अकुर रूप कार्य है ऐसा निश्चित होता है ।

तथा यदि कार्यको असत् ही माना जाय तो तृण, धूल, लोष्ट आदि सभीसे सुवर्ण रजत आदि सभी कार्य सम्पन्न होगा, क्योकि तादात्म्यका अभाव होनेसे सब कारणमे समानता रहेगी । किन्तु सब कारणसे सब कार्य नही होता अत. उसी एक कारणमे उसके कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है ।

शका–कारणोकी प्रतिनियतकार्योंमे ही प्रतिनियत शक्तिया हुआ करती है अत कार्यके असत् रहते हुए भी कोई एक कारण किसी एक कार्यको ही करता है ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, शक्त कारण शक्य कार्यको ही करते हैं, अशक्य कार्यको नही, जो असत् होता है वह अशक्य कार्य है जैसे गगनकुसुम, परवादी के यहा कार्यको असत् माना है अत वह अशक्यकार्य है ।

बीजादिके कारणभावसे भी सत्कार्यवादकी सिद्धि होती है, क्योकि कार्यका असत्व होता तो बीजादिमे कारण भाव नही देखा जाता । इसीको स्पष्ट करते हैं, कार्य अविद्यमान रहनेसे बीजादिमे कारणपना नही है, जैसे खरविषाण अविद्यमान रहनेसे किसीमे उसका कारणभाव नही देखा जाता । अत उत्पत्तिके पहले कारणमे कार्य रहता है ऐसा सिद्ध होता है ।

बीजादेः कारणभावाच्च सत्कार्यं कार्यासत्त्वे तदयोगात् । तथाहि–न कारणभावो बीजादेः अविद्यमानकार्यत्वात्खरविषाणवत् । तत्सिद्धमुत्पत्तेः प्राक्कारणे कार्यम् ।

तच्च कारणं प्रधानमेवेत्यावेदयति हेतुपञ्चकात्—

"भेदाना परिमाणात्समन्वयाच्छक्तित प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ।।"

[साख्यका० १५]

लोके हि यस्य कर्त्ता भवति तस्य परिमाण दृष्टम् यथा कुलाल परिमितान्मृत्पिण्डात्परिमितं प्रस्थग्राहिणमाढकग्राहिणं च घटं करोति । इद च महदादि व्यक्त परिमित दृष्टम्–एका बुद्धिः, एकोऽहङ्कार, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चभूतानीति । अतो यत्परिमित व्यक्तमुत्पादयति तत्प्रधानमित्यवगम ।

वह कारण प्रधान ही है ऐसा पाच हेतुओसे प्रतिपादन करते है–महदादि भेदोका परिमाण होनेसे, भेदोका समन्वय होनेसे शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होनेसे, कार्य-कारणका विभाग होनेसे एव वैश्वरूपका अविभाग होनेसे कारणमे कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है । लोकमे देखा जाता है कि जो जिस कार्यका कर्त्ता होता है वह उसके परि-माणका होता है, जैसे कुंभकार परिमित मृत् पिंडसे परिमित ही प्रस्थग्राही या आढक ग्राही घटको बनाता है । यह महदादि व्यक्त भी परिमित है, एक बुद्धि है, एक अह-कार है, पाच तन्मात्राये है, ग्यारह इन्द्रिया है एव पचभूत है । अत निश्चय होता है कि जो परिमित व्यक्तको उत्पन्न कराता है वह प्रधान है ।

भेदोका समन्वय दिखायी देनेसे भी प्रधान तत्व का अस्तित्व जाना जाता है, जो जिस जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है वह तन्मयकारणसे उत्पन्न होता है, जैसे घट, सकोरा आदि भेद मिट्टीरूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होते है अतः मिट्टी स्वरूप कारणसे उत्पन्न हुए माने जाते है यह व्यक्त भी सत्व रज तमो गुण रूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है अत तन्मय कारणसे सभूत है । सत्वगुणका कार्य प्रसाद, लाघव, उत्सव, प्रीति आदिक है, रजोगुणका ताप, शोष, उद्वेगादि कार्य है, तमोगुण का कार्य दैन्य, बीभत्स, गौरवादि है । अत महदादिका प्रसाद, दैन्य, ताप आदि कार्य उपलब्ध होनेसे उनकी प्रधानके साथ अन्वयपनेके सिद्धि होती है ।

इतश्चास्ति प्रधान भेदाना समन्वयदर्शनात्। यज्जातिसमन्वित हि यदुपलभ्यते तत्तन्मयकारणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा मृज्जातिसमन्विता मृदात्मककारणसम्भूता', सत्त्वरजस्तमोजातिसमन्वित चेद व्यक्तमुपलभ्यते। सत्त्वस्य हि प्रसादलाघवोद्धर्षप्रीत्यादय' कार्यम्। रजसस्तु तापशोषोद्वेगादय । तमसश्च दैन्यवीभत्सगौरवादय'। अतो महदादीना प्रसाददैन्यतापादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्वसिद्धि ।

इतश्चास्ति प्रधान शक्तित. प्रवृत्ते । लोके हि यो यस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यथा तन्तुवाय' पटकरणे, प्रधानस्य चास्ति शक्तिर्यया व्यक्तमुत्पादयति, सा च निराधारा न सम्भवतीति प्रधानास्तित्वसिद्धि ।

कार्यकारणविभागाच्च, दृष्टो हि कार्यकारणयोर्विभाग, यथा मृत्पिण्ड कारण घट कार्यम्। स च मृत्पिण्डाद्विभक्तस्वभावो घटो मद्योदकादिधारणाहरणसमर्थो न तु मृत्पिण्ड.। एव महदादि कार्यं दृष्ट्वा साधयाम –'अस्ति प्रधान यतो महदादिकार्यमुत्पन्नम्' इति।

शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होनेसे भी प्रधानका अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योकि लोकमे देखा जाता है कि जो जिस अर्थमे प्रवृत्त होता है वह उसमे शक्त रहता है, जैसे जुलाहा वस्त्र बुननेमे शक्त रहता है, जिसके द्वारा व्यक्त को उत्पन्न करता है वह शक्ति प्रधानके अवश्य है वह निराधार नही रहती, इस तरह प्रधान का अस्तित्व सिद्ध होता है। कार्य कारणके विभागसे भी प्रधान तत्त्व सिद्ध होता है, क्योकि कार्य और कारणमे विभाग दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे मिट्टीका पिंड कारण है घट कार्य है। वह घट स्वभाव मृत पिंडसे विभिन्न स्वभाव युक्त है, इसीलिये घट मद्य, जल आदिको धारणा ग्रहण करने की सामर्थ्य युक्त होता है किन्तु मृत् पिंड उस सामर्थ्य युक्त नही होता, इसप्रकार महदादि कार्यको देखकर सिद्ध करते हैं कि प्रधान तत्व है, क्योकि महदादि कार्य उत्पन्न हुआ है।

वैश्व रुप्यका अविभाग होनेसे भी प्रधानका अस्तित्व ज्ञात होता है तीन लोकको वैश्वरूप्य कहते हैं, वह प्रलयकालमे कही अविभावको प्राप्त होता है, जैसा कि कहा है–पहले पचभूत पच तन्मात्राओ मेअविभाग को प्राप्त होते हैं, यहा अविभागका अर्थ अविवेक है, जैसे दुग्ध अवस्थामे दुग्ध अन्य है और दही अन्य है ऐसा विवेक करना शक्य नही, वैसे प्रलयकालमे यह व्यक्त है और यह अव्यक्त है ऐसा विवेक करना शक्य नही है। अत. हम मानते है कि प्रधान है जिसमें कि महदादि अविभाग को प्राप्त होते है।

इतश्चास्ति प्रधान वैश्वरूप्यस्याविभागात्। वैश्वरूप्य हि लोकत्रयमभिधीयते। तच्च प्रलयकाले क्वचिदविभागं गच्छति। उक्तं च प्राक्-'पचभूतानि पचसु तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति' इत्यादि। अविभागो हि नामाविवेक·। यथा क्षीरावस्थायाम् 'अन्यत्क्षीरमन्यद्दधि' इति विवेको न शक्यते कर्त्तुं तद्वत्प्रलयकाले व्यक्तमिदमव्यक्तं चेदमिति। अतो मन्यामहेऽस्ति प्रधानं यत्र महदाद्यऽविभाग गच्छतीति।

अत्र प्रतिविधीयते-प्रकृत्यात्मकत्वे महदादिभेदानां कार्यतया तत· प्रवृत्तिविरोधः। न खलु यद्यस्मात्सर्वथाऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारण वा युक्त भिन्नलक्षणत्वात्तयो.। अन्यथा तद्व्यवस्था सङ्कीर्येत। तथा च यद्भवद्भिर्मूलप्रकृते कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणषोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राणा पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्व कारणत्व चेति प्रतिज्ञात तन्न स्यात्। तथा चेदमसङ्गतम्-

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय· सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुषः॥"

[साख्यका० ३] इति।

जैन-यहा उपर्युक्त साख्यके मतव्यका निराकरण किया जाता है, महदादि भेदोको प्रकृति स्वरूप माननेपर कार्यपनेसे प्रकृतिसे प्रवृत्ति होनेमे विरोध आता है, क्योंकि जो जिससे सर्वथा अभिन्न होता है वह उसका कारण या कार्य नही कहा जा सकता, क्योकि कार्य और कारण भिन्न भिन्न लक्षण वाले होते है, अन्यथा उनको व्यवस्थामें साकर्य होगा, और इस प्रकार साकर्य होने पर आपने जो मूल प्रकृतिको कारण ही माना है एव पचभूत, एकादश इन्द्रिया रूप सोलह गणको कार्य ही माना है, तथा बुद्धि अहकार और तन्मात्राओंको पूर्वोत्तरकी अपेक्षा कार्य कारण दोनो रूप माना है वह असिद्ध होगा, तथा यह भी असगत होगा-मूल प्रकृति अविकृति रहती है, महदादि सात भेद प्रकृतिकी [व्यक्त के] विकृतिया है एव सोलह विकार है, पुरुष तत्व न प्रकृति है और न विकृति है। तथा सभी पदार्थोका परस्परमे अव्यतिरेक स्वीकार करते है तो वे कार्यरूप या कारण रूप ही सिद्ध होगे, क्योकि कार्य कारणभाव आपेक्षिक होता है, किन्तु रूपातर स्वरूप अपेक्षणीय वस्तुका अभाव होनेसे सभी पदार्थोंके पुरुषके समान प्रकृतिका विकृतिपना होनेका अभाव हो जाता है, अन्यथा पुरुषको भी प्रकृतिके विकृतिकी सज्ञा प्राप्त होगी।

और जो कहा कि व्यक्त हेतुमत् अनित्य आदि धर्म युक्त है और अव्यक्त इससे विपरीत धर्म युक्त है, वह भी बाल प्रलाप है, क्योकि जो जिससे अभिन्न स्वभावी

सर्वेषामेव हि परस्परमव्यतिरेके कार्यत्व कारणत्व वा प्रसज्येत। आपेक्षिकत्वाद्वा तद्भावस्य, रूपान्तरस्य चापेक्षणीयस्याभावात्सर्वेषा पुरुषवत्प्रकृतिविकृतित्वाभाव। अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृति-विकृतिव्यपदेश स्यात्।

यच्चेदम्–हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि व्यक्त विपरीतमव्यक्तम्, तदपि बालप्रलापमात्रम्, न हि यद्यस्मादभिन्नस्वभाव तत्तद्विपरीत युक्त भिन्नस्वभावलक्षणत्वाद्विपरीतत्वस्य। अन्यथा भेदव्यवहारोच्छेद्य (द) स्यात्। सत्त्वरजस्तमसा चान्योन्य भिन्नस्वभावनिबन्धनो भेदो न स्यादिति विश्वमेकरूपमेव स्यात्। ततो व्यक्तरूपाव्यतिरेकादव्यक्तमपि हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यात् व्यक्तस्वरूपवत्। व्यक्त वाऽहेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यादव्यक्तस्वरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवदित्येकान्तः।

किञ्च, अन्वयव्यतिरेकनिश्चयसमधिगम्यो लोके कार्यकारणभावः प्रसिद्धः। न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिनिश्चयेऽन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतोस्ति येन प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कार इत्यादि सिद्ध्येत्।

होता है वह उससे विपरीत नही होता, क्योकि भिन्न स्वभावी होना ही विपरीतका लक्षण है। यदि ऐसा न हो तो भेद का व्यवहार ही समाप्त होगा। तथा विपरीत [भिन्न स्वभावी] न हो तो सत्व रज और तमका परस्परमे भिन्न स्वभावके निमित्तसे होने वाला भेद नही रहेगा और सपूर्ण विश्व एक रूप हो जावेगा। अत व्यक्तरूपसे अभिन्न जो अव्यक्त है उसके भी व्यक्त स्वरूपके समान हेतुमत्व, अनित्यत्वादि धर्मोका योग स्वीकार करना होगा। अथवा व्यक्तके अहेतु मत्व आदि धर्मोका योग स्वीकार करना होगा, क्योकि वह अव्यक्त स्वरूपसे अव्यतिरिक्त है जैसे उसका स्वरूप अव्यतिरिक्त है, इसप्रकार एक ही व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप प्रधानको माननेका प्रसग आता है।

तथा लोकमे कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेक द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु प्रधानादि से महदादिके उत्पत्ति के निश्चयमे अन्वय अथवा व्यतिरेक प्रतीत नही होता है जिससे प्रधानसे महान उत्पन्न होना, महानसे अहकार उत्पन्न होना इत्यादि सिद्ध हो सके।

कूटस्थ नित्य पदार्थ मे कारणभाव भी असिद्ध है, क्योकि नित्यमे क्रम अथवा अक्रमसे अर्थ क्रिया होनेमे विरोध है।

शका–जिसप्रकार कुडलादि आकारका [आटा देकर समेटकर बैठना] कारण सर्प है ऐसा कहा जाता है उसप्रकार महदादिरूपसे परिणामको प्राप्त होते हुए

न च नित्यस्य कारणभावोस्ति, क्रमाऽक्रमाभ्या तस्यार्थक्रियाविरोधात् । ननु नित्यमपि प्रधान कुण्डलादौ सर्पवन्महदादिरूपेण परिणामं गच्छत्तेषां कारणमित्युच्यते, ते च तत्परिणामरूपत्वात्त-त्कार्यतया व्यपदिश्यन्ते । परिणामश्चैकवस्त्वऽधिष्ठानत्वादभेदेपि न विरुध्यते, इत्यप्यनेकान्तावलम्बने प्रमाणोपपन्नं नित्यैकान्ते परिणामस्यैवासिद्धेः । स हि तत्र भवन् पूर्वरूपत्यागाद्वा भवेत्, अत्यागाद्वा ? यद्यत्यागात्, तदाऽवस्थासाङ्कर्यं वृद्धाद्यवस्थायामपि युवाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गात् । अथ त्यागात्, तदा स्वभावहानिप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वथा तत्त्यागः, कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेत्; कस्य परिणामः ? पूर्वरूपस्य सर्वथा त्यागादपूर्वस्य चोत्पादात् । कथञ्चित् चेत्, न किञ्चिद्विरुद्धम्, तस्यैवार्थस्य प्राच्यरूपत्यागेनान्यथा-भावलक्षणपरिणामोपपत्तेः । नित्यैकान्तता तु तस्य व्याहन्येत । अत्र हि नैकदेशेन तत्त्यागो निरंश-स्यैकदेशाभावात् । नापि सर्वात्मना, नित्यत्वव्याघातात् ।

उन महदादिका कारण प्रधान है ऐसा कहा जाता है एवं वे महदादि उसके परिणाम स्वरूप होनेसे उसके कार्य कहलाते है । और परिणाम एक वस्तुमे अधिष्ठित होनेसे अभेदमे भी हो सकता है, कोई विरोध नही है ।

समाधान—यह कथन अनेकातका अवलम्बन लेनेपर प्रामाणिक हो सकता है, क्योकि नित्य एकात मे परिणामका होना ही असिद्ध है । नित्यमें परिणामका होना माना जाय तो वह पूर्वरूपके त्यागसे होगा या बिना त्यागके होगा ? यदि बिना त्यागके होगा तो अवस्थाओंका साकर्य होनेसे वृद्धादि अवस्थामे भी युवादि अवस्थाकी उपलब्धि का प्रसग आता है । और यदि पूर्वावस्थाका त्याग करके परिणाम होता है तो स्वभाव हानिका प्रसग आता है ।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वरूपका त्याग भी कथंचित् होता है या सर्वथा होता है । सर्वथा कहो तो किसका परिणाम होगा ? क्योकि पूर्वरूपका तो सर्वथा त्याग हो चुका है और अपूर्वका उत्पाद हुआ है । पूर्वरूपका कथञ्चित् त्याग होता है ऐसा कहो तो कुछ भी विरुद्ध नही है, क्योकि उसी अर्थके पूर्व रूपके त्यागसे अन्यथा भाव लक्षणस्वरूप परिणाम उपपन्न होता है । किन्तु ऐसा होने पर उसकी नित्य एकातता नष्ट हो जाती है । क्योकि नित्य एकात मे एक देशमे पूर्व रूपका त्याग होना अशक्य है, क्योकि निरश वस्तुमे एक देशका अभाव है । सर्व देशसे पूर्वरूपका त्याग होता है ऐसा कहो तो नित्यपनेका व्याघात होता हे ।

किंच, प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्, अनर्थान्तरभूतो वा ? यद्यर्थान्तरभूत , तर्हि धर्मी तदवस्थ एवेति कथमसौ परिणतो नाम ? न ह्यर्थान्तरभूतयोरर्थयोरुत्पादविनाशे सत्यविचलितात्मनो वस्तुन परिणामो भवति, अन्यथाऽऽत्मापि परिणामी स्यात्। तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पादविनाशात्तस्य परिणाम, इत्यप्यसुन्दरम्, धर्मिणा सदसतो सम्बन्धाभावात्। सम्बन्धो हि धर्मस्य सतो भवेत्, असतो वा ? न तावत्सत , स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धाशेषस्वभावसम्पत्तेरनपेक्षतया क्वचित्पारतन्त्र्यासम्भवात्। नाप्यसत , तस्य सर्वोपाख्याविरहलक्षणतया क्वचिदप्याश्रितत्वानुपपत्ते । न खलु खरविषाणादि क्वचिदाश्रितो युक्तः। न च प्रवर्त्तमानाप्रवर्त्तमानधर्मद्वय व्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दर्शनपथप्रस्थायी कस्यचिदिति । अत स तादृशोऽसद्व्यवहार-

---

किंच, प्रवर्त्तमान और निवर्त्तमान धर्म धर्मीसे भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो धर्मी तदवस्थ ही रहेगा अत वह परिणमित हुआ ऐसा किसप्रकार कह सकते है ? क्योकि अर्थान्तरभूत वस्तुओ का उत्पाद और विनाश होनेपर नित्य वस्तुका परिणाम हुआ ऐसा नही कहते हैं, अन्यथा आत्मा भी परिणामी होवेगा ।

शका–नित्य वस्तुमे सबद्ध हुए धर्मोका उत्पाद और विनाश होनेसे नित्यका परिणाम माना जाता है ।

समाधान–यह कथन असुन्दर है, धर्मीके साथ सत् असत् का सम्बन्ध होना असभव है, सम्बन्ध सत् रूप धर्मका होता है या असत् रूप धर्मका होता है ? सत्का होना शक्य नही, क्योकि जो स्वतत्रतासे प्रसिद्ध अशेष स्वभावो की सपत्तिसे युक्त है वह अनपेक्ष होनेके कारण कही पर परतत्र नही हो सकता । असत् रूप धर्मका सम्बन्ध होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, असत् सपूर्ण धर्मोसे रहित होनेसे कही पर भी आश्रित नही हो सकता, जैसे कि असत् भूत खरविषाणादि कही आश्रित नही होता है । तथा उपलब्धि लक्षण वाला धर्मी प्रवर्त्तमान और अप्रवर्तमान दो धर्मोसे अतिरिक्त किसीके दृष्टिगोचर नही होता है । अत उसप्रकार का धर्मी विद्वानोके लिये असत् व्यवहारका ही विषय है । प्रवर्त्तमानादि धर्म धर्मीसे अभिन्न है ऐसा माने तो भी एक धर्मी स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण उन दोनोमे एकपना ही होवेगा अत धर्मीका परिणाम किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? अथवा धर्मोका विनाश और प्रादुर्भाव भी किसप्रकार हो सकता है, क्योकि धर्मीके स्वरूपके समान वे भी उससे अभिन्न होनेसे एक रूप है । अथवा उन उभय धर्मोके साथ धर्मीका अनन्यपना होनेसे धर्मोके स्वरूपके

विषय एव विदुषाम्। अथानर्थान्तरभूत., तथाप्येकस्माद्धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात्तयोरेकत्वमेवेति कथ परिणामो धर्मिण धर्मयोर्वा विनाशप्रादुर्भावौ धर्मिस्वरूपवत्? धर्माभ्या च धर्मिणोऽनन्यत्वाद्धर्मस्वरूपवदपूर्वस्योत्पाद पूर्वस्य विनाश इति नैव कस्यचित्परिणाम . सिध्यति। तस्मान्न परिणामवशादपि भवता कार्यकारणव्यवहारो युक्त:।

यच्चेदमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य सत्त्वसमर्थनार्थमसदकरणादिहेतुपञ्चकमुक्तम्, तद् असत्कार्यवादपक्षेपि तुल्यम्। शक्यते ह्येवमप्यभिधातुम्–'न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्।' न सत्कार्यमिति सम्बन्ध.।

किञ्च, सर्वथा सत्कार्यम्, कथचिद्वा? प्रथमपक्षोऽसम्भाव्य, यदि हि क्षीरादौ दध्यादिकार्याणि सर्वथा विशिष्टरसवीर्यविपाकादिना विभक्तरूपेण मध्यावस्थावत्सन्ति, तर्हि तेषा किमुत्पाद्यमस्ति येन तानि कारणैः क्षीरादिभिर्जन्यानि स्यु? तथा च प्रयोग – यत्सर्वाकारेण सत्तन्न केनचिज्जन्यम् यथा प्रधानमात्मा वा, सच्च सर्वात्मना परमते दव्यादीति न महदादे कार्यता। नापि प्रधानस्य

समान अपूर्वका उत्पाद एव पूर्वका विनाश होनेसे किसीका भी परिणाम होना सिद्ध नही होता, इसलिये आपके यहा परिणामके निमित्तसे भी कार्य कारणका व्यवहार सिद्ध नही है।

उत्पत्तिके पहले कार्यके सत्वका समर्थन करनेके लिये असत् अकरणात् इत्यादि पाच हेतु कहे थे वे असत् कार्यवादके पक्षमे भी समान रूपसे घटित होते है। क्योकि ऐसा कह सकते है कि सत्को न कर सकनेसे, उपादानका ग्रहण होनेसे, सर्वमे सर्व सभव न होनेसे, शक्तका शक्य करण होनेसे और कारणभाव होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्य सत् नही था, इसप्रकार "सत्कार्य न" ऐसा सम्बन्ध जोडकर प्रतिपादन कर सकते है।

दूसरी बात यह कि आपके यहा कार्यको सर्वथा सत् माना है या कथचित् सत् माना है? प्रथमपक्ष असभव है, क्योकि यदि दूध आदिमे दही आदि कार्य विशिष्ट रस, वीर्य, विपाक आदि विभक्त रूपसे मध्य अवस्थाके समान विद्यमान है तो अब उनका कौनसा धर्म उपाद्य रह जाता है जिससे वे दूध आदि कारणो द्वारा उत्पन्न किये जा सकते है? अत निश्चय होता है कि जो सर्वाकारसे सत् है वह किसीके द्वारा जन्य नही होता, जैसे प्रधान अथवा आत्मा किसीके द्वारा जन्य नही होता, पर मतमे दही आदि पदार्थ सत्रूप है अत किससे जन्य नही है, इसप्रकार महदादिमे कार्यपना सिद्ध नही होता। तथा प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नही होता, क्योकि कार्यपना ही अवि-

कारणता, अविद्यमानकार्यत्वात् । यदविद्यमानकार्यं तन्न कारणम् यथात्मा, अविद्यमानकार्यं च प्रधान मिति । क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीना पश्चादिवोपलम्भप्रसगश्च । अथ कथचिच्छक्तिरूपेण सत्कार्यम्; ननु शक्तिर्द्रव्यमेव, तद्रूपतया सतः पर्यायरूपतया चासतो घटादेरुत्पत्त्यभ्युपगमे जिनपतिमतानुसरणप्रसङ्ग ।

किंच, तच्छक्तिरूप दध्यादेर्भिन्नम्, अभिन्नं वा ? भिन्नं चेत्, कथ कारणे कार्यसद्भावसिद्धि ? कार्यव्यतिरिक्तस्य शक्त्याख्यपदार्थान्तरस्यैव सद्भावाभ्युपगमात् । आविर्भूतविशिष्टरसादिगुणोपेत हि वस्तु दध्यादि कार्यमुच्यते । तच्च क्षीराद्यवस्थायामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेर्नास्ति । यच्चास्ति शक्ति

द्यमान हैं । जिसका कार्य अविद्यमान होता है वह कारण नही कहलाता, जैसे आत्माके कारणपना नही है, प्रधानका कार्य भी अविद्यमान है अत. वह कारण नही है । तथा यदि कारणमे कार्य मौजूद रहता है तो दुग्धादि अवस्थामे भी दही आदि पश्चात् के समान उपलब्ध होने चाहिये ।

शका–कथचित् शक्तिकी अपेक्षा कार्यको सत् माना जाय ?

समाधान–शक्ति तो द्रव्य ही है, उस द्रव्यरूपसे सत् और पर्याय रूपसे असत् ऐसे घटादि कार्यकी उत्पत्ति होना स्वीकार करे तो जिनेन्द्र मतका अनुसरण हो जाता है ।

और वह शक्ति दही आदि से भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न है तो कारणमे कार्यका सद्भाव किसप्रकार सिद्ध होगा ? क्योकि कार्यसे अतिरिक्त शक्ति नामके पदार्थांतर का ही सद्भाव स्वीकार किया गया । जिसमे विशिष्ट रसादिगुण प्रगट हुआ है ऐसी दही आदि वस्तु कार्य कहलाती है, और वह कार्य दुग्धादि अवस्थामे उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्ध रहता है तो वह नही है, तथा जो शक्तिरूप है उसे कार्य ही नही कहते है, क्योकि अन्यके सद्भावमे अन्य किसीका होना सिद्ध नही होता, अन्यथा अतिप्रसग आता है । शक्तिका रूप उससे अभिन्न है ऐसा द्वितीयपक्ष लेते है तो दही आदिका नित्यपना सिद्ध होनेसे उनके लिये कारण व्यापार की आवश्यकता नही रहती है ।

शका–सत्कार्यकी अभिव्यक्ति करनेमे कारणोका व्यापार होना आवश्यक है अत वह व्यर्थ नही होता ।

रूप तत्कार्यमेव न भवति। न चान्यस्य भावेऽन्यदस्त्यतिप्रसङ्गात्। अथाभिन्नम्, तर्हि दध्यादेर्नित्यत्वात्कारणव्यापारवैयर्थ्यम्।

अभिव्यक्तौ कारणाना व्यापारान्न वैयर्थ्यम्; इत्यप्यसत्, यतोऽभिव्यक्ति पूर्वं सती, असती वा? सती चेत्, कथं क्रियेत? अन्यथा कारकव्यापारानुपरम. स्यात्। अथासती, तथाप्याकाशकुशेशयवत्कथ क्रियेत? असदकरणादित्यभ्युपगमाच्च।

सर्वस्य सर्वथा सत्त्वेन च कार्यत्वासम्भवादुपादानपरिग्रहोपि न प्राप्नोति। सर्वसम्भवाभावोपि प्रतिनियतादेव क्षीरादेर्दध्यादीना जन्मोच्यते। तच्च सत्कार्यवादपक्षे दूरोत्सारितम्। शक्तस्य शक्यकरणादिति चात्रासम्भाव्यम्, यदि हि केनचित् किंचिन्निष्पाद्येत तदा निष्पादकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत निष्पाद्यस्य च करणं नान्यथा। कारणभावोप्यर्थाना न घटते कार्यत्वाभावादेव।

समाधान–यह कथन अयुक्त है, इसमें प्रश्न होता है कि अभिव्यक्ति पूर्वमे सत् थी अथवा असत् थी? सत् थी तो उसको किसप्रकार किया जाय? यदि सत्को भी किया जाता है तो कारको को व्यापार किसी कालमे भी नही रुक पायेगा। यदि अभिव्यक्ति पूर्वमे असत् थी तो आकाश पुष्पके समान उसको किसप्रकार किया जा सकता है? असत् को नही किया जाता ऐसा आपने माना भी है।

दूसरी बात यह भी है कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप है तो उनमे कार्यपना असंभव होनेसे उपादान कारण का ग्रहण होना भी नही बनता है। सबसे सब सभव नही है ऐसा जो कहा उसका अर्थ यही है कि प्रतिनियत दुग्धादिसे दही आदिकी उत्पत्ति होना, किन्तु यह सत्कार्य वादके पक्षमे घटित नही होता है। तथा सत्कार्यवादमे शक्तका शक्य करण भी असभव है, क्योकि यदि किसीके द्वारा कोई निष्पादन करने योग्य होवे तो निष्पादककी शक्ति व्यवस्थापित की जा सकती है एव निष्पाद्यको किया जा सकता है, किन्तु निष्पाद्य आदिके अभावमे शक्तका शक्य करण कौनसा होगा, अर्थात् सत्कार्यवादमे पहलेसे ही सब निष्पन्न होनेसे शक्यका करना आदि नही बनता। और कार्यत्वका अभाव होनेसे पदार्थोमे कारण भाव भी सिद्ध नही होता है।

तथा आपके यहापर असत् अकरणात् आदि हेतु दिये जाते है वे प्रवृत्त होकर क्या करते है? क्योकि अपने विषयमें प्रवृत्त हुआ हेतु दो कार्योको करता है एक तो प्रमेयार्थ विषयमे उत्पन्न हुए सशय और विपर्यास को दूर करता है और दूसरे निश्चय को उत्पन्न करता है। किन्तु यह सब सत्कार्यवादमे सभव नही है। क्योकि आपके

किंच, एते हेतवो भवत्पक्षे प्रवृत्ताः किं कुर्वन्ति ? स्वविषये हि प्रवृत्त साधन द्वय करोति–प्रमेयार्थविषये प्रवृत्तौ सशयविपर्यासौ निवर्त्तयति, निश्चयं चोत्पादयति। तच्च सत्कार्यवादे न सम्भवति। सशयविपर्यासौ हि भवता मते चैतन्यात्मकौ, बुद्धिमन स्वभावौ वा ? पक्षद्वयेपि न तयोर्निवृत्ति सम्भवति, चैतन्यबुद्धिमनसा नित्यत्वेनानयोरपि नित्यत्वात्। नापि निश्चयस्योत्पत्ति, तस्यापि सदा सत्त्वात्, इति साधनोपन्यासवैयर्थ्यम्। तस्मात्साधनोपन्यासस्यार्थवत्त्वमिच्छता निश्चयोऽसन्नेव साधनेनोत्पाद्यत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तथा चासदकरणादेर्हेतुगणस्यानेनैवानैकान्तिकता। यथा चासतोपि निश्चयस्य करणम्, तन्निष्पत्तये च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रह, यथा चास्य न सर्वस्मात्साधनाभासादे सम्भव, यथा चासावसन्नपि शक्तैर्हेतुभि क्रियते, तत्र च हेतूना कारणभावोस्ति तथान्यत्रापि भविष्यति।

मतमे सशय और विपर्यासको चैतन्यात्मक माना है अथवा बुद्धि और मनका स्वभाव माना है ? दोनो पक्षमे भी उन सशय विपर्यासका प्रादुर्भाव होना असभव है, क्योकि चैतन्य, बुद्धि और मन नित्य होनेसे सशय विपर्यास भी नित्य सिद्ध होते है। असत् अकरणात् आदि हेतु निश्चयको उत्पन्न करते है ऐसा पक्ष भी अयुक्त है, क्योकि निश्चय भी सदा सत्रूप होता है। इसप्रकार आपके मतमे हेतुओका उपन्यास व्यर्थ होता है, अत हेतुके उपन्यास की सार्थकताको चाहने वाले आपको निश्चय असत् है और वह हेतु द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा स्वीकार करना होगा। और ऐसा स्वीकार करने पर असदकरणात् आदि हेतु पचक की इसीके साथ अनेकान्तिकता आती है, क्योकि जिसप्रकार निश्चय असत् था और उसको किया गया एव उसकी निष्पत्तिके लिये जैसे विशिष्ट साधनका ग्रहण हुआ, तथा जैसे इस निश्चयका सभी साधनाभास आदिसे होना सभव नही है, तथा जैसे यह निश्चय असत् होकर भी शक्त हेतु द्वारा किया जाता है एव उसमे हेतुओका कारणभाव भी है, ठीक इसीप्रकारसे अन्यत्र भी असत्को किया जा सकना, विशिष्ट उपादान ग्रहण आदि आदि सब सभव हो सकेगा।

शका–यद्यपि साधन प्रयोगके पहले निश्चय सत् ही रहता है फिर भी उसके लिये साधनका प्रयोग व्यर्थ नही जाता, क्योकि निश्चयकी अभिव्यक्ति के लिये उसका व्यापार होता है ?

समाधान–अभिव्यक्ति किसे कहते हैं स्वभावमे अतिशयकी उत्पत्ति होना या तद्विषयक ज्ञान होना अथवा उसके उपलब्धिके आवरणका अपगम होना ? स्वभाव

अथ यद्यपि साधनप्रयोगात्प्राक्सन्नेव निश्चयः, तथापि न तत्प्रयोगवैयर्थ्यं तदभिव्यक्तौ तस्य व्यापारात्। तत्र केयमभिव्यक्ति –किं स्वभावातिशयोत्पत्ति, तद्विषयज्ञान वा, तदुपलम्भावरणापगमो वा ? न तावत्स्वभावातिशय, स हि निश्चयस्वरूपादभिन्नः भिन्नो वा ? यद्यभिन्नः, तर्हि निश्चयस्वरूपवत् सर्वदा सत्त्वान्नोत्पत्तिर्युक्ता। अथ भिन्नः; तस्यासाविति सम्बन्धाभावः। स ह्याधाराधेयभावलक्षणो वा, जन्यजनकभावलक्षणो वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, परस्परमनुपकार्योपकारकयोस्तदसम्भवात्। उपकारे वा तस्याप्यर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिरनवस्था च। अनर्थान्तरत्वे साधनप्रयोगवैयर्थ्यं निश्चयादेवोपकाराऽनर्थान्तरस्यातिशयस्योत्पत्तेः। अमूर्त्तत्वाच्चातिशयस्याधोगमनाभावान्न तस्य कश्चिदाधारो युक्तः, अधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्यावस्थितेः। नापि जन्यजनकभावलक्षण; सर्वदैव निश्चयाख्यकारणस्य सन्निहितत्वेन नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्व युक्तम्, अनुपकारिण्यपेक्षाऽयोगात्। उपकारित्वे वा पूर्ववद्दोषोऽनवस्था च।

में अतिशय होनेको अभिव्यक्ति कहते है ऐसा प्रथम पक्ष ठीक नही क्योकि वह स्वभावातिशय निश्चयके स्वरूपसे अभिन्न है कि भिन्न है ? यदि अभिन्न है तो निश्चयके स्वरूपके समान सर्वदा सत्व रहनेसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है। और यदि वह स्वभावातिशय भिन्न है तो उसका यह स्वभावातिशय है ऐसा सम्बन्ध सिद्ध नही होता। यदि सम्बन्ध माना भी जाय तो वह कौनसा होगा, आधार आधेयभाव सम्बन्ध, अथवा जन्य जनकभाव सम्बन्ध ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योकि परस्परमे अनुपकार्य–अनुपकारक स्वरूप निश्चय और स्वभावातिशयमे आधार आधेयभाव सम्बन्ध का होना असभव है। यदि निश्चय द्वारा अतिशयका उपकार होना माने तो वह उपकार भी भिन्न होनेके कारण सम्बन्ध नही हो सकेगा तथा इस तरह अनवस्था भी होगी। यदि निश्चय द्वारा किये जाने वाले अतिशयके उपकार को अभिन्न माना जाय तो साधनका प्रयोग व्यर्थ होता है, क्योकि निश्चय द्वारा ही उपकार से अभिन्नभूत अतिशय की उत्पति हो जाती है। तथा यह भी बात है कि स्वभावातिशय अमूर्त्त होनेसे अधोगमन तो कर नही सकता अत उसका आधार मानना ही युक्त नही है। क्योकि आधार अधोगमनका प्रतिबन्धक होता है। निश्चय और स्वभावातिशयमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानना भी गलत है, क्योकि निश्चय नामका कारण सर्वदा सन्निहित रहता है अत सर्वदा अतिशयकी उत्पत्ति होनेका प्रसग आता है। साधन प्रयोग की अपेक्षा लेकर निश्चय अतिशयका उत्पादक होता है ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि अनुपकारकको अपेक्षा नही होती है। यदि निश्चयको उपकारक माना जाय तो उसके द्वारा

अपि चायमतिशय सन्, असन्वा क्रियेत ? असत्त्वे पूर्ववत्साधनानामनैकान्तिकतापत्ति । सत्त्वे च साधनवैयर्थ्यम् । तत्राप्यभिव्यक्तावनवस्था । तन्न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्ति ।

नापि तद्विषयज्ञानम्; सत्कार्यवादिनो मते तस्यापि नित्यत्वात्, द्वितीयज्ञानस्यासम्भवाच्च । एकमेव हि भवता मते विज्ञानम्-"आसर्गप्रलयादेका बुद्धि" [ ] इति सिद्धान्त-स्वीकारात् ।

तदुपलम्भावरणापगमोप्यभिव्यक्तिर्न युक्ता, तदावरणस्य नित्यत्वेनापगमासम्भवात् । तिरो-भावलक्षणोप्यपगमो न युक्त, अत्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावासम्भवात् । द्वितीयोपलम्भस्य चासम्भवा-त्कथ तदावरणसम्भवो येनास्यापगमोभिव्यक्ति स्यात् ? न ह्यावरणमसतो युक्त सद्वस्तु-विषयत्वात्तस्य ।

किया जाने वाला उपकार उससे भिन्न है कि अभिन्न इत्यादि पूर्वोक्त दोप एव अनवस्था आती है ।

और यह स्वभावका अतिशय सत् होकर किया जाता है या असत् होकर किया जाता है ? असत् होकर कहो तो पहले के समान हेतुओका अनैकान्तिक होना रूप दोष आता है । यदि वह अतिशय सत् होकर किया जाय तो सत् के लिये साधन का उपन्यास व्यर्थ होता है । तथा उसमें अभिव्यक्ति का पक्ष स्वीकार किया जाय कि साधन द्वारा अतिशयको अभिव्यक्त किया जाता है तो भी पूर्वोक्त अनवस्था दोष आता है अत स्वभावके अतिशय की उत्पत्ति होने को अभिव्यक्ति कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नही होता ।

निश्चयविषयक ज्ञान का होना अभिव्यक्ति कहलाती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योकि सत्कार्यवादी के मतमे उस ज्ञानको भी नित्य माना है [अत उसकी अभिव्यक्ति के लिये हेतु के व्यापार की आवश्यकता नही हो सकती] तथा दूसरा ज्ञान असभव भी है, क्योकि आपके मतमे ज्ञान एक ही माना है । विश्व की प्रादुर्भूति से लेकर प्रलय तक बुद्धि एक होती है ऐसा सिद्धात आपने स्वीकार किया है ।

निश्चय की उपलब्धिका आवरण दूर होने को अभिव्यक्ति कहना भी अयुक्त है क्योकि वह आवरण भी नित्य है अत उसका दूर होना अशक्य है । तिरोभाव होने को दूर करना कहते है ऐसा माने तो भी ठीक नही, क्योकि जिसने पूर्व स्वरूप

बन्धमोक्षाभावश्च सत्कार्यवादिनोऽनुषज्यते । बन्धो हि मिथ्याज्ञानात्, तस्य च सर्वदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषा बद्धत्वात्कुतो मोक्षः ? प्रकृतिपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानाच्च मोक्षः, तस्य च सदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषा मुक्तत्वात्कुतो बन्ध ? सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च; लोकः खलु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवर्त्तते । सत्कार्यवादपक्षे तु न किञ्चिदप्राप्यमहेयं चास्तीति निरीहमेव जगत्स्यात् ।

यदसत्तन्न केनचित्क्रियते इति चासङ्गतम्, हेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणाभावेनानेकान्तात् । कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासत्क्रियते यस्योत्पादकं कारणमस्ति । यस्य तु गगनाम्भोरुहादे-

---

छोडा नही है उसका तिरोभाव होना भी असंभव है, और दूसरे प्रकार की उपलब्धि होना भी असंभव है अतः उसका आवरण भी किसप्रकार होवेगा जिससे कि उसके अपगम हो जाने को अभिव्यक्ति कह सकेंगे ? क्योकि असत् का आवरण मानना अयुक्त है, उसका भी कारण यह है कि आवरण सत् रूप वस्तुका होता है । सत्कार्यवादी साख्यके यहां बध और मोक्ष के अभाव का प्रसग भी आता है क्योकि मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है और उसके सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियो की बद्ध अवस्था होने से मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ? तथा प्रकृति और पुरुष के विवेक की उपलब्धि स्वरूप तत्त्व ज्ञान के होने से मोक्ष होता है ऐसा आप मानते है सो वह तत्त्वज्ञान सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियो का मुक्तपना होने से बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? सपूर्ण लोक व्यवहार का उच्छेद होने का प्रसग भी आता है, क्योंकि लोक हित प्राप्ति और अहित परिहार के लिये ही प्रवृत्ति किया करते है, किन्तु सत्कार्यवाद के पक्षमे न कोई अप्राप्य है और न कोई अहेय है अत अखिल विश्व निरीह हो जायगा ।

जो असत् होता है वह किसी के द्वारा नही किया जाता ऐसा कहना भी असगत है, क्योकि इस हेतु का विपक्षमे जानेमे बाधा करने वाला प्रमाण नही है अत यह अनैकान्तिक है । असत् को करने की बात ऐसी है कि कारण के शक्ति का प्रतिनियम हुआ करता है उसके नियमानुसार किसी किसी असत् को ही किया जा सकता है जिसका कि उत्पादक कारण मौजूद है, किन्तु जिस आकाश पुष्प आदिका कारण नही है उसको नही किया जाता । हम जैन सबको सबका कारण नही मानते है, न हमारे यहा ऐसा नियम है कि जो जो असत् हो वह वह किया ही जाता हो, किन्तु जो किया जाता है वह उत्पत्तिके पहले कथचित् असत् ही रहता है ऐसा हमारा सिद्धात है ।

नास्ति कारणं तन्न क्रियते। न हि सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम्। नापि 'यद्यदसत्तत्तत्क्रियते एव' इति व्याप्तिरिष्टा। किं तर्हि? 'यत्क्रियते तत्प्रागुत्पत्तेः कथञ्चिदसदेव' इति। ननु तुल्येप्यसत्कारित्वे कारणानां किमिति सर्वं सर्वस्यासतः कारणं न स्यादित्यन्यत्रापि समानम्। समाने हि सत्कारित्वे किमिति सर्वं सर्वस्य सतः कारणं न स्यात्? कारणशक्तिप्रतिनियमात् 'सदप्यात्मादि न क्रियते' इत्यन्यत्रापि समानम्। प्रतिपादितप्रकारेण सर्वथा सतः कार्यत्वासम्भवात्कथञ्चिदसत्कार्यवादे एव चोपादानग्रहणादित्यादेर्हेतुचतुष्टयस्य विरुद्धता साध्यविपर्ययसाधनात्। तन्नोत्पत्तेः प्राक्कारण(णे) कार्यसद्भावसिद्धिः।

सांख्य—कारणों का असत्कारीपना [असत् को करना] तुल्य होते हुए भी सभी कारण सभी असत् को करने वाले क्यों नहीं होते ?

जैन—यह प्रश्न आपके प्रति भी है, सत्कार्यपना समान होने पर भी सभी कारण सभी सत्को करने वाले क्यों नहीं होते हैं ?

सांख्य—कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से सत् होते हुए भी आत्मा आदि को नहीं कि [या] जाता ?

जैन—यह बात असत् कार्यवाद में भी समान रूपसे सुघटित होती है, अर्थात् कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से असत् होते हुए भी किसी खरविषाणादि को तो नहीं किया जाता और घटादि को किया जाता है। तथा अभी तक जैसा हमने प्रतिपादन किया है तदनुसार यह निश्चित होता है कि सर्वथा सत् पदार्थ के कार्यपना असंभव है, कथंचित् असत् कार्यवाद में ही कार्यपना संभव है, और उपादान ग्रहण आदि शेष चार हेतुओं का विरुद्धपना भी होता है, क्योंकि ये हेतु आपके साध्यसे विपरीत जो असत् कार्यत्व है उसको सिद्ध करते हैं। अतः उत्पत्ति के पहले कारण में कार्यका सद्भाव मानना सिद्ध नहीं होता है।

और जो सांख्य ने कहा था कि भेदों का परिमाण इत्यादि हेतु से एक प्रधान रूप कारण ही सिद्ध होता है, वह भी प्रलाप मात्र है, क्योंकि "भेदों के परिमाण से" यह जो हेतु है उसका एक कारण पूर्वकत्व के साथ अविनाभाव नहीं है, भेदों के परिमाणका अनेक कारण पूर्वक होने में भी अविरोध है, क्योंकि इनका तो मात्र कारण-पूर्वक होनेके साथ ही अविनाभाव है, यदि उसीको सिद्ध करना है तो सिद्ध साधन है, अर्थात् ऐसा हम मानते ही हैं।

यच्चोक्तम्–भेदानां परिमाणादित्यादिहेतो कारणं च प्रधानमेवैकं सिद्ध्यति; तदप्युक्तिमात्रम्; 'भेदाना परिमाणात्' इत्यस्यैककारणपूर्वकत्वेनाविनाभावासिद्धे:, अनेककारणपूर्वकत्वेप्यस्याविरोधात्। कारणमात्रपूर्वकत्वेनैव हि तस्याविनाभाव:, तत्साधने च सिद्धसाधनम्।

'भेदाना समन्वयदर्शनात्' इति चासिद्धम्, न खलु सुखदु:खमोहसमन्वितं प्रमाणात. प्रसिद्धम्, शब्दादिव्यक्तस्याचेतनतया चेतनसुखादिसमन्वयविरोधात्। प्रयोग:–ये चैतन्यरहिता न ते सुखादिसमन्वया: यथा गगनाम्भोजादय:, चैतन्यरहिताश्च शब्दादय इति।

ननु चैतन्येन सुखादिसमन्वयस्य यदि व्याप्ति: प्रसिद्धा, तदा तन्निवर्त्तमानं शब्दादिषु सुखादिसमन्वयत्व निवर्त्तयेत्। न चासौ सिद्धा, पुरुषस्य चेतनत्वेपि सुखादिसमन्वयासिद्धे:, इत्यप्यपेशलम्; स्वसवेदनसिद्धिप्रस्तावे सुखादिस्वभावतयात्मन: प्रसाधनात्।

भेदों का समन्वय होने से एक प्रधान कारण ही सिद्ध होता है ऐसा हेतु भी असिद्ध है, क्योकि प्रधान का सुख दु ख मोह से समन्वितपना प्रमाणसे सिद्ध नही होता, शब्दादि व्यक्त प्रधान का अचेतनपना होने से चेतन के धर्मरूप सुख दु खादिसे समन्वय होने मे विरोध आता है, अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है कि–जो चेतन रहित होते है, वे सुखादि से समन्वित नही होते है, जैसे आकाश पुष्पादि वस्तु, शब्द आदि व्यक्त भी चैतन्य से रहित है अत. सुखादि से समन्वित नही हो सकते।

साख्य–यदि चैतन्य के साथ सुखादि के समन्वयकी व्याप्ति सिद्ध होती तब तो उस चैतन्य के निर्वत्तित होने से शब्द आदि मे सुखादि का समन्वयत्व निर्वत्तित होता, किन्तु वह व्याप्ति सिद्ध नही है, क्योंकि पुरुषके चेतनपना होते हुए भी सुखादि के साथ समन्वयपना नही है ? अभिप्राय यह है कि चैतन्य के साथ सुखादि का अविनाभाव नही है।

जैन–यह कथन असत् है, हम जैन ने स्वसवेदन सिद्धि के प्रकरण मे यह भली भाति सिद्ध कर दिया है कि सुखादि स्वभाव चैतन्य आत्मा के ही है।

और जो कहा कि प्रसाद ताप दैन्य आदि कार्यों की उपलब्धि होने के कारण प्रधानसे अन्वितपना सिद्ध होता है, इत्यादि, सो यह अयुक्त हैं, क्योकि इस कथन मे अनैकान्तिक दूषण आता है, इसीको स्पष्ट करते है–पुरुषको प्रकृतिसे भिन्नरूप भावना करने वाले कापिल योगियो के पुरुषका अवलम्बन लेकर जब अभ्यस्त योग हो जाता है तब प्रसाद और प्रीति होती है, जो अनभ्यस्त योगी है उनको शीघ्रता से आत्माका

यच्चान्यदुक्तम्–प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्वसिद्धिः, तदप्ययुक्तम्, अनेकान्तात्, कापिलयोगिना हि पुरुषं प्रकृतिविभक्तं भावयता पुरुषमालम्ब्य स्वभ्यस्तयोगानां प्रसादो भवति प्रीतिश्च, अनभ्यस्तयोगानां क्षिप्रतरमात्मानमपश्यतामुद्वेग', प्रकृत्या जडमतीनां मोहो जायते, न चासौ पुरुष' प्रधानान्वित परैरिष्ट । सङ्कल्पात्प्रीत्याद्युत्पत्तिर्न पुरुषादिति शब्दादिष्वपि समानम् । सङ्कल्पमात्रभावित्वे च प्रीत्यादीनामात्मरूपताप्रसिद्धि, सङ्कल्पस्य ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य चात्मधर्मतया स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अस्तु वा प्रीत्यादिसमन्वयो व्यक्ते, तथापि न प्रधानप्रसिद्धि, साधनस्यान्वयासिद्धेः । न खलु यथाभूतं त्रिगुणात्मकमेकं नित्यं व्यापि चास्य कारणं साधयितुमिष्टं तथाभूतेन क्वचिद्धेतो प्रतिबन्ध. सिद्ध । नापि यदात्मकं कार्यमुपलभ्यते कारणेनाप्यवश्यं तदात्मना भाव्यम्, अन्यथा महदादौ हेतुमत्त्वानित्यत्वाव्यापित्वादिधर्मोपलम्भात् प्रधानेपि तादृूप्यप्रसिद्धिप्रसङ्गाद्धेतोर्विरुद्धतानुषङ्गः ।

दर्शन न होने के कारण उद्वेग होता है, और जो प्रकृतिसे जडबुद्धि है उनको मोह होता है, सो यह प्रसाद आदि का अनुभवन करने वाला पुरुष [आत्मा] प्रधान से अन्वित है ऐसा मानना आप स्वय को इष्ट नही है । यदि कहा जाय कि प्रीति आदि की उत्पत्ति सकल्प से होती हैं न कि पुरुष से ? सो यह शब्दादि मे भी समान रूप से घटित होता है । तथा प्रीति आदिको सकल्पमात्रसे उत्पन्न होना माने तो वे आत्मारूप सिद्ध होगे, क्योकि सकल्प ज्ञानरूप होता है और ज्ञान आत्माका धर्म है ऐसा स्वसवेदन सिद्धि के प्रस्ताव मे प्रतिपादन कर आये हैं, अब अधिक कहने से बस हो ।

प्रीति आदि का समन्वय व्यक्त मे होता है ऐसा मान लेवे तो भी प्रधान की सिद्धि नही होती, क्योकि समन्वय दर्शनात् इत्यादि हेतु का अन्वय असिद्ध है, आपको इस प्रधान मे जिस प्रकार का त्रिगुणात्मक एक, व्यापि और नित्य कारणपना सिद्ध करना इष्ट है उस प्रकारका कारणपना कही पर हेतु के अविभाव रूपसे प्रसिद्ध नही है । तथा कार्य जिस रूप उपलब्ध होता है उस रूप कारण को भी होना आवश्यक नही है, यदि ऐसा माने तो महदादिमे हेतु मत्व, अनित्यत्व, अव्यापित्व आदि धर्म उपलब्ध होने से प्रधान मे भी हेतुमत्व आदि की सिद्धि होने का प्रसग आता है और इस तरह प्रधान को नित्य आदि रूप सिद्ध करने के लिये दिये गये सत्वादि हेतु विरुद्धपनेको प्राप्त होते हैं ।

यच्चेदं निदर्शनमुक्तम्–'यथा घटशरावादयो मृज्जातिसमन्विताः' इति; तदप्यसङ्गतम्; साध्यसाधनविकलत्वादस्य। न हि मृत्त्वसुवर्णत्वादिजातिर्नित्यनिरंशव्याप्येकरूपा प्रमाणतः प्रसिद्धा, येन तदात्मककारणसम्भूतत्वं तत्समन्वितत्वं च प्रसिद्ध्येत्, प्रतिव्यक्ति तस्याः प्रतिभासभेदाद्भेदसिद्धेः। विस्तरेण चास्याः सिद्ध्यभावं सामान्यविचारप्रस्तावे प्रतिपादयिष्याम इत्यलमतिविस्तरेण।

तथा 'समन्वयात्' इत्यस्यानेकान्तः, चेतनत्वभोक्तृत्वादिधर्मैः पुरुषाणाम्, प्रधानपुरुषाणां च नित्यत्वादिधर्मैः समन्वितत्वेपि तथाविधैककारणपूर्वकत्वानभ्युपगमात्।

एतेन शक्तितः प्रवृत्तेरित्याद्यप्यनैकान्तिकत्वादिदोषदुष्टत्वादेककारणपूर्वकत्वासाधनमित्यवसातव्यम्। तथा हि–प्रेक्षावत्कारणमेतेभ्यः प्रसाध्यते, कारणमात्रं वा ? प्रथमविकल्पे अनेकान्तः, विनापि हि प्रेक्षावता कर्त्रा स्वहेतुसामर्थ्यप्रतिनियमात्प्रतिनियतकार्यस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधान

और जो दृष्टांत दिया था कि जिस प्रकार घट सकोरा आदि मिट्टीरूप जाति से समन्वित है इत्यादि वह असंगत है, क्योंकि यह दृष्टांत साध्य और साधन से विकल है; मिट्टीरूप जाति या सुवर्णरूप जाति नित्य, निरंश, व्यापी एक रूप हो ऐसा प्रमाण से सिद्ध नहीं है, जिससे कि नित्य आदि धर्म युक्त उस जातिरूप कारण से उत्पन्न होना और उससे कार्यों का समन्वित होना सिद्ध हो सके, प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिभासका भेद होने से उस जाति का भिन्न भिन्नपना ही सिद्ध होता है। नित्य, एक रूप इस जाति का आगे सामान्य विचार प्रकरणमें विस्तार पूर्वक निरसन करने वाले है अतः अब अधिक कथनसे विराम लेते है।

समन्वयात् इस हेतु मे भी अनेकांत दूषण है, क्योंकि चेतनत्व भोक्तृत्वादि धर्मों के साथ पुरुषो का [आत्माओ का] तथा नित्यत्वादि धर्मों के साथ प्रधान और पुरुषो का समन्वय होने पर भी उस प्रकार के एक कारण पूर्वकपना उनमे नहीं माना है। अर्थात् जिनमे भेदो का समन्वय है वे सब एक नित्य कारण से होते है अथवा भेदो का समन्वय होने से सबका कारण एक ही है ऐसा जो कहा था वह व्यभिचरित होता है। भेदाना परिमाणात् और समन्वयात् इन दो हेतुओ के निरसन से ही शक्तितः प्रवृत्ते इत्यादि हेतुओका निरसन हुआ समझना, क्योंकि इनमे भी अनैकान्तिक आदि अनेक दोष है अतः एक कारण पूर्वक साध्यको सिद्ध करने मे ये सब असाधन है। आगे इसीको स्पष्ट करते है–इन हेतुओ द्वारा बुद्धिमानकारणको सिद्ध किया जाता है कि सामान्य से कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है ? प्रथम विकल्प कहो तो अनै-

प्रेक्षावद्युक्तं तस्याचेतनत्वात् प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायित्वात्। अथ कारणमात्र साध्यते, तर्हि सिद्धसाध्यता। न ह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्ट.। कारणमात्रस्य च 'प्रधानम्' इति सज्ञाकरणे न किञ्चिद्विरुध्यतेऽर्थभेदाभावात्।

किंच, शक्तित: प्रवृत्तेरित्यनेन यदि कथञ्चिदव्यतिरिक्तशक्तियोगिकारणमात्र साध्यते, तदा सिद्धसाध्यता। अथ व्यतिरिक्तविचित्रशक्तियुक्तमेक नित्य कारणम्, तदानैकान्तिकता हेतो। तथाभूतेन क्वचिदन्वयासिद्धेरसिद्धता च, न खलु व्यतिरिक्तशक्तिवशात् कस्यचित्कारणस्य क्वचित्कार्ये प्रवृत्ति· प्रसिद्धा, शक्तीना स्वात्मभूतत्वात्।

कान्तिक दोष आयेगा, क्योकि प्रेक्षावान कर्त्ताके बिना भी अपने हेतुके सामर्थ्य के प्रतिनियमसे प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति होनेमे अविरोध है। दूसरी बात यह भी है कि आप प्रधानको कारण मानते है किन्तु प्रधान अचेतन होने से बुद्धिमान कारण नही हो सकता, बुद्धि तो चेतन की पर्याय है। यदि कहे कि कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है। क्योकि हम जैन को भी कारण के बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना इष्ट नही है। यदि आप इस कारण मात्र को ही प्रधान ऐसा नामकरण करते है तो कोई विरोध नही है, क्योकि अर्थमे भेद भाव नही है।

किंच, शक्तित प्रवृत्ते इस हेतु द्वारा यदि कथचित् अव्यतिरिक्त शक्ति योगी कारण मात्र को सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है, और यदि व्यतिरिक्त [भिन्न] शक्तियुक्त एक नित्य कारणको सिद्ध किया जाता है तो हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होता है, क्योकि उस प्रकारके हेतु का कही पर अन्वय सिद्ध नही होने से असिद्धता होती है, क्योकि अपने से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न शक्ति से किसी कारण की कार्य मे प्रवृत्ति होती हुई नही देखी जाती, शक्तिया तो स्वात्मभूत हुआ करती है।

और भी जो कहा था कि वैश्वरूप्यका अविभाग होने से सब कार्यका एक कारण है ऐसा भी अयुक्त है, क्योकि वैश्वरूप्यके अविभाग [अन्तर्लीन] का कारण जो प्रलयकाल बताया उसकी ही असिद्धि है, यदि कदाचित् वह सिद्ध हो जाय तो भी महदादिका लय पूर्व स्वभाव से प्रच्युत होने पर होता है अथवा अप्रच्युत रहते हुए होता है? यदि प्रच्युत होने पर होता है तो साख्य को अनिष्ट ऐसे विनाश की सिद्धि होवेगी, क्योकि स्वभाव की प्रच्युति होना ही विनाश कहलाता है। और यदि

यच्चेदमुक्तम्-अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य, तदप्यसाम्प्रतम्; प्रलयकालस्यैवाप्रसिद्धे । सिद्धौ वा तदासौ महदादीनां लयो भवन् पूर्वस्वभावप्रच्युतौ भवेत्, अप्रच्युतौ वा ? यदि प्रच्युतौ, तर्हि तेषा तदा विनाशसिद्धिः स्वभावप्रच्युतेर्विनाशरूपत्वात् । अथाप्रच्युतौ, तर्हि लयानुपपत्ति , नहि अविकलमात्मनस्तत्त्वमनुभवतः कस्यचिल्लयो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । परस्परविरुद्धं चेदम् 'अविभागो वैश्वरूप्यम्' इति च । वैश्वरूप्य च प्रधानपूर्वत्वे नोपपद्यत एव, तन्मयत्वेन सर्वस्य जगतस्तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसङ्गात्, इति कस्याऽविभाग' स्यादिति ? तन्न प्रधानस्य सकलजगत्कर्तृत्व सिद्धम्, यतस्तत्सिद्धौ प्रधानस्य सर्वज्ञता, कर्तृत्वस्य कारणशक्तिपरिज्ञानाविनाभावासिद्धेरित्युक्त प्रागीश्वरनिराकरणे, तदलमतिप्रसङ्गेन ।

एतेन सेश्वरसाङ्ख्यैर्यदुक्तम्-'न प्रधानादेव केवलादमी कार्यभेदा प्रवर्त्तन्ते तस्याचेतन-

---

अप्रच्युतिमें होता है तो लयकी असिद्धि होती है, क्योकि पूर्णरूपसे अपने स्वरूपका अनुभवन करते हुए किसी वस्तुका लय मानना सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसग होगा । तथा यह परस्पर विरुद्ध है कि अविभाग है पुनश्च वैश्वरूप्य है, तथा प्रधान पूर्वत्वमे वैश्वरूप्य बनता ही नही, क्योकि प्रधानसे तन्मय होनेके कारण सपूर्ण जगत को उसके स्वरूपके समान एक रूप होने का प्रसग आता है और इस प्रकार जगतके एक रूप हो जानेसे किसका अविभाव होवेगा ? अतः प्रधानका सकल जगत् कर्तृत्व सिद्ध नही होता है जिससे यह माना जा सके कि प्रधान जगतका कर्त्ता होनेसे सर्वज्ञ है ? अर्थात् जगत कर्तृत्व हेतुसे प्रधानमें सर्वज्ञता सिद्ध करना असंभव है क्योकि कर्तृत्वका कारणकी शक्तिके परिज्ञानके साथ अविनाभाव सिद्ध नही है अर्थात् कर्त्ताको कारणकी शक्तिका ज्ञान अवश्य होना चाहिये ऐसा नियम नही है, इस विषय में पहले ईश्वरवाद का निराकरण करते समय वहुत कुछ प्रतिपादन हो चुका है, अतः अधिक नही कहते है ।

इस निरीश्वर साख्यके प्रकृतिकर्तृत्ववादके निराकरणसे ही सेश्वरवादी साख्य द्वारा जो कहा गया है उसका भी निराकरण होता है । उनका कहना है कि केवल प्रधानसे ये महदादि कार्यभेद नही हो सकते है, क्योकि प्रधान अचेतन है, अचेतन पदार्थ अधिष्ठायकके बिना कार्यको प्रारंभ करते हुए नही देखे जाते । ईश्वरसे अन्य सामान्य आत्माको अधिष्ठायक माने तो भी युक्त नहीं, क्योंकि सृष्टि कालमें वह अज्ञानी रहता है, कहा भी है कि बुद्धि द्वारा संसर्गित होकर ही आत्मा पदार्थ को जानता है । बुद्धिके संसर्ग होनेके पूर्व तो यह आत्मा अज्ञ ही रहता है अत. किसी भी

त्वात् । न ह्यचेतनोऽधिष्ठायकमन्तरेण कार्यमारभमाणो दृष्ट॰ । न चान्यात्माऽधिष्ठायको युक्तः, सृष्टिकाले तस्याज्ञत्वात् । तथा हि–बुद्ध्यध्यवसितमेवार्थं पुरुषश्चेतयते । बुद्धिससर्गाच्च पूर्वमसावज्ञ एव, न जातु किञ्चिदर्थं विजानाति न चाज्ञातमर्थं कश्चित्कर्त्तुं शक्त॰ । अतो नासौ कर्त्ता । तस्मादीश्वर एवं प्रधानापेक्ष कार्यभेदाना कर्त्ता, न केवल । न खलु देवदत्तादि॰ केवल पुत्रम्, कुम्भकारो वा घट जनयति' इति, तदपि प्रतिव्यूढम्, प्रत्येक तयो॰ कर्तृत्वस्यासम्भवे सहितयोरप्यसम्भवात्, अन्यथा प्रत्येकपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्ग ।

अथोच्यते–यदि नाम प्रत्येक तयो कर्तृत्वासम्भवस्तथापि सहितयो कथ तदभाव ? न हि केवलाना चक्षुरादीना रूपादि ज्ञानोत्पत्तिसामर्थ्याभावे सहितानामप्यसौ युक्तः, तदप्युक्तिमात्रम्, यत

पदार्थको नही जानता । यह बात निश्चित है कि अज्ञात पदार्थको करनेके लिये कोई भी पुरुष समर्थ नही हो सकता, अत सामान्य आत्मा कार्योका कर्त्ता सिद्ध नही होता है, इसप्रकार यह निश्चय हुआ कि प्रधानकी अपेक्षा रखते हुए ईश्वर ही कार्यभेदोका कर्त्ता है । अकेला आत्मा नही । लोक व्यवहारमे भी देखते हैं कि अकेले देवदत्तादि पुरुष पुत्रको उत्पन्न कर देते हो या अकेला कुम्हार घटको बना देता हो ऐसा नही होता । सो यह सेश्वर साख्यका कथन असत् है, जब प्रधान और ईश्वर इनमेसे प्रत्येक मे सृष्टिका कर्तृत्व सभव नही है दोनो सम्मिलित अवस्थामे भी उस कार्यको नही कर सकते, यदि सम्मिलित अवस्थामे कर्तृत्व संभव है ऐसा माने तो प्रत्येकके पक्षमे दिये गये अखिल दोष आ जायेंगे ।

साख्य–प्रधान और ईश्वर अकेले रहकर कार्यको नही कर सकते तो न सही किन्तु दोनो सम्मिलित होकर क्यो नही कर सकेंगे ? चक्षु आदि इन्द्रिया अकेली रहकर रूपादि विषयोमे ज्ञानको नही कर सकती तो [कमजोर होनेके कारण] क्या उनके सहायक प्रकाश नेत्राजनादिके सम्मिलित अवस्थामे भी नही करती ? अर्थात् अवश्य कर सकती है, इसीप्रकार अकेले प्रधान और ईश्वर भले ही सृष्टि कार्यको न करें किन्तु दोनो मिलकर तो कर सकते हैं ?

जैन–यह कथन अयुक्त है, सम्मिलित होकर करना, सहित होकर करना इस वाक्यका अर्थ होता है एक दूसरेका सहकारी बनना, अब बताइये कि प्रधान और ईश्वरमे किसप्रकारका सहकारीपना है परस्परमे अतिशयत्व लाना या एकमेक होकर कार्य करना ? प्रथमपक्ष श्रेयस्कर नही है क्योकि प्रधान और ईश्वर दोनो ही नित्य हैं

साहित्यं नामानयोरन्योन्यं सहकारित्वम् । तच्चान्योन्यातिशयाधानाद्वा स्यात्, एकार्थकारित्वाद्वा ? न तावदाद्यकल्पना युक्ता, नित्यत्वेनानयोर्विकाराभावात् । नापि द्वितीयकल्पना युक्ता; कार्याणा यौगपद्य-प्रसङ्गात् । अप्रतिहतसामर्थ्यस्येश्वरप्रधानाख्यकारणस्य सदा सन्निहितत्वेनाविकलकारणत्वात्तेषाम् । तथाहि–यद्यदाऽविकलकारणं तत्तदा भवत्येव यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽङ्कुरः, अविकलकारणं चाशेषं कार्यमिति ।

ननु यद्यपि कारणद्वयमेतन्नित्यं सन्निहित तथापि क्रमेणैवामी कार्यभेदा. प्रवर्त्तिष्यन्ते । महेश्वरस्य हि प्रधानगताः सत्त्वादयस्त्रयो गुणा सहकारिण, तेषा च क्रमवृत्तित्वात्कार्याणामपि क्रम । तथाहि–यदोद्भूतवृत्तिना रजसा युक्तो भवत्यसौ तदा सर्गहेतु प्रजानां भवति प्रसवकार्यत्वा-द्रजस, यदा तु सत्त्वमुद्भूतवृत्ति सश्रयते तदा लोकाना स्थितिकारण भवति सत्त्वस्य स्थितिहेतुत्वात्, यदा तमसोद्भूतशक्तिना समायुक्तो भवति तदा प्रलयं सर्वजगतः करोति तमसः प्रलयहेतुत्वात् । तदुक्तम्—

अत उनमें अतिशयरूप विकृति होना असभव है । दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, इस तरह मानने पर सभी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जानेका प्रसंग आता है, जिनकी सामर्थ्य अप्रतिहत हैं ऐसे प्रधान और ईश्वर रूप कारणोके सदा विद्यमान रहनेसे वे कार्य अविकल कारण वाले सिद्ध ही हो जाते है । अनुमान सिद्ध बात है कि जब जिसका अविकल [सपूर्ण] कारण मौजूद रहता है तब उसकी उत्पत्ति हो ही जाती है, जैसे अन्त्यक्षणको प्राप्त सामग्रीसे अकुर उत्पन्न हो जाता है, जगत्के अशेषकार्य भी अविकल कारण सहित है अत उनकी उत्पत्ति भी युगपत् हो जानी चाहिये ।

साख्य–यद्यपि दोनो कारण नित्य एव सन्निहित [निकटवर्त्ती] है तथापि नाना कार्यभेद तो क्रम से ही सम्पन्न होते है, आगे इसीका खुलासा करते है–महेश्वर के सहकारी कारण प्रधानमे होने वाले सत्व आदि तीन गुण है, ये गुण क्रमसे होने वाले है अत इन गुणोकी सहायतासे होने वाले कार्य भी क्रमिक सिद्ध होते हैं । आगे इसीका विवरण किया जाता है—जब यह ईश्वर आविर्भूत रजोगुणसे युक्त होता है तब वह प्रजाके उत्पत्तिका कारण होता है, क्योकि रजोगुणका कार्य उत्पत्ति कराना है । और जब वह ईश्वर सत्वगुणका आश्रय लेता है तब लोकोकी स्थितिका कारण होता हैं, क्योकि सत्वगुण स्थितिका हेतु है, तथा जब वही ईश्वर तमोगुणसे युक्त होता है तब सपूर्ण जगतका प्रलय कर डालता है, क्योकि तमोगुण प्रलयका हेतु माना गया है । यही कथन कादबरी ग्रंथमे पाया जाता है कि जब ईश्वर रजोगुणसे युक्त होता है

"रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजाना प्रलये तम स्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नम ॥१॥"

[कादम्बरी पृ० १]

इत्यप्यसाम्प्रतम्, यत प्रकृतीश्वरयो. सर्गस्थितिप्रलयाना मध्येऽन्यतमस्य क्रियाकाले तदपर-कार्यद्वयोत्पादने सामर्थ्यमस्ति, न वा ? यद्यस्ति, तर्हि सृष्टिकालेपि स्थितिप्रलयप्रसङ्गोऽविकलकारणत्वादुत्पादवत्। एव स्थितिकालेप्युत्पादविनाशयो, विनाशकाले च स्थित्युत्पादयो' प्रसङ्ग, न चैतद्युक्तम्। न खलु परस्परपरिहारेणावस्थितानामुत्पादादिधर्माणामेकत्र धर्मिण्येकदा सद्भावो युक्तः। अथ नास्ति सामर्थ्यम्, तदैकमेव स्थित्यादिना मध्ये कार्यं सदा स्यात् यदुत्पादने तयो सामर्थ्यमस्ति,

---

तब प्रजाके उत्पत्तिका हेतु होता है, सत्वगुण युक्त होनेपर स्थितिका एव तमोगुण युक्त होनेपर प्रलयका हेतु होता है, इसप्रकार उत्पत्ति स्थिति और नाशका हेतु, त्रिवेदमूर्त्ति, त्रिगुणात्मक अज नाम सयुक्त ईश्वरके लिये नमन हो ॥१॥ [कादबरी पृष्ठ १]

जैन–यह सपूर्ण कथन युक्तिशून्य है, उत्पत्ति स्थिति एव प्रलय इन तीनोमे से किसी एक क्रियाका सपादन करते समय प्रधान और ईश्वरमे अन्य दो कार्योको सपन्न करनेका सामर्थ्य है अथवा नही ? यदि है तो जगतकी उत्पत्तिके समयमे ही स्थिति और नाश भी हो जाना चाहिये ? क्योकि उत्पत्तिके समान उनका भी अविकल कारण मौजूद है। इसीप्रकार स्थितिकालमे उत्पत्ति और विनाशका तथा नाशकालमे स्थिति और उत्पत्ति हो जाने का प्रसग प्राप्त होता है, किन्तु यह सब युक्त नही है, क्योकि उत्पत्ति आदि धर्म परस्परका परिहार करके रहने वाले धर्म हैं, इनका एक धर्मीमे एक कालमे सद्भाव पाया जाना असभव है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरादिमे उत्पत्ति आदिकी क्रिया करते समय अन्य दो कार्योंके सपादनकी सामर्थ्य नही होती तो उन स्थिति आदि कार्योमे से कोई एक ही कार्य सदा ही होता रहेगा, जिसका कि सामर्थ्य उन ईश्वरादि दोनो कारणोमे मौजूद है, शेष दो कार्य तो कभी भी नही हो सकेंगे, क्योकि उनके उत्पादनकी सामर्थ्यका सदा ही अभाव है। तथा प्रधान और ईश्वर दोनो ही अविकारी पदार्थ है इनमे नयी सामर्थ्य उत्पन्न होना तो अशक्य अन्यथा इनकी नित्य एक स्वभावताका व्याघात हो जानेका प्रसग प्राप्त होगा।

साख्य–यद्यपि ईश्वर और प्रधान नित्य एक स्वभाव वाले हैं तो भी प्रधानमे सत्व आदि गुणोमेसे जो भी आविर्भूत वृत्तिक होता है वही कारणपने को प्राप्त होता

नापरं कदाचनापि तदुत्पादने तयो सदा सामर्थ्याभावात्। अविकारिणोश्च प्रकृतीश्वरयो पुनः सामर्थ्योत्पत्तिविरोधात्, अन्यथा नित्यैकस्वभावताव्याघात ।

अथ तत्स्वभावेपि प्रधाने सत्त्वादीना मध्ये यदेवोद्भूतवृत्ति तदेव कारणतां प्रतिपद्यते नान्यत्, तत्कथं स्थित्यादीना यौगपद्यप्रसङ्ग इति ? अत्रोच्यते–तेषामुद्भूतवृत्तित्व नित्यम्, अनित्य वा ? न तावन्नित्यम्, कादाचित्कत्वात्, स्थित्यादीना यौगपद्यप्रसङ्गाच्च। अथानित्यम्, कुतोऽस्य प्रादुर्भाव ? प्रकृतीश्वरादेव, अन्यतो वा हेतोः, स्वतन्त्रो वा ? प्रथमपक्षे सदास्य सद्भावप्रसङ्ग, प्रकृतीश्वराख्यस्य हेतोर्नित्यरूपतया सदा सन्निहितत्वात्। न चान्यतस्तत्प्रादुर्भावो युक्त, प्रकृतीश्वरव्यतिरेकेणापरकारणस्यानभ्युपगमात्। तृतीयपक्षे तु कादाचित्कत्वविरोधोऽस्य स्वातन्त्र्येण भवतो देशकालनियमा-

---

है अन्य नही, अत. स्थिति उत्पत्ति आदि एक साथ हो जायेंगे ऐसा अति प्रसग दोष किसप्रकार आ सकता है ?

जैन–उन सत्वादि गुणोका आविर्भूत वृत्तिपना नित्य है या अनित्य है ? नित्य तो हो नही सकता, क्योकि वह वृत्तिपना कदाचित् ही होता है, तथा उन गुणो का आविर्भूतपना नित्य माना जाय तो उत्पत्ति स्थिति आदिके युगपत् हो जाने का प्रसग उपस्थित होता है। यदि उन गुणोकी आविर्भूत वृत्तिको अनित्य माना जाय तो प्रश्न होता है कि वह किस कारणसे प्रादुर्भूत हुई ? प्रकृति और ईश्वरसे अथवा अन्य किसी हेतुसे, या स्वतत्रतासे ? प्रथमपक्ष माने तो इस वृत्तिका सदा ही सद्भाव मानना होगा क्योकि प्रकृति और ईश्वर नामके हेतु नित्य होनेसे सदा सन्निहित ही रहेगे। द्वितीयपक्ष–ईश्वर और प्रधानसे पृथक् अन्य किसी हेतुसे उन गुणोकी वृत्ति प्रादुर्भावित होती है ऐसा मानना भी अयुक्त है, प्रधान और ईश्वर इन दोनोको छोडकर अन्य किसीको आपके यहा कारण रूपसे स्वीकार नही किया गया है। तीसरापक्ष स्वतत्रता का है सो स्वतत्रतासे होने वाली उद्भूतवृत्ति कभी कदाचित् होनेमे विरोध आता है, क्योकि जो कार्य स्वतत्रतासे होता है उसमे अमुक क्षेत्र और कालमे ही होना ऐसा नियम नही बन सकता, जो पदार्थ स्वभावसे स्वभावातरको प्राप्त होते है वे कादाचित्क होते है, क्योकि स्वभावातरके होनेपर ही कादाचित्क सभव है स्वभावातरके न होनेपर कादाचित्क सभव नही है, दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जो पदार्थ कारणोके अधीन होते है वे ही कादाचित्क होते है स्वतत्रतासे होने वाले पदार्थ कारणोके अधीन नही होते, क्योकि स्वतत्रतासे जायमान पदार्थमे अपेक्ष करने योग्य कोई वस्तु ही नही है।

योगात्। स्वभावान्तरायत्तवृत्तयो हि भावा कादाचित्काः स्युः तद्भावाभावप्रतिबद्धत्वात्तत्सत्त्वास-त्त्वयो, नान्ये तेषामपेक्षणीयस्य कस्यचिदभावात्।

किञ्च, आत्मानं जनयति भावो निष्पन्न, अनिष्पन्नो वा ? न तावन्निष्पन्न, तस्यामवस्थाया-मात्मनोपि निष्पन्नरूपाव्यतिरेकितया निष्पन्नत्वान्निष्पन्नस्वरूपवत्। नाप्यनिष्पन्नः; अनिष्पन्नस्व-रूपत्वादेव गगनाम्भोजवत्। तस्मात्प्रकारान्तरेणाशेषज्ञत्वासिद्धेरावरणापाये एवाशेषविषय विज्ञानम्। तच्चात्मन एवेति परीक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। तच्च विज्ञानमनन्तदर्शनसुखवीर्याविनाभावि-त्वादनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमात्मनः प्रसाधयतीति सिद्धो मोक्षो जीवस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षण, तस्यापेतप्रतिबन्धकस्यात्मस्वरूपतया जीवन्मुक्तिवत्परममुक्तावप्यभावासिद्धेः॥

दूसरी बात यह है कि अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाले वह पदार्थ निष्पन्न है अथवा अनिष्पन्न है ? निष्पन्न तो नही हो सकता, क्योकि उस पदार्थके निष्पन्न अवस्थामे होनेपर उसका स्वरूप भी निष्पन्न रूपसे अभिन्न होनेके कारण निष्पन्न ही रहेगा, जैसा कि स्वयका रूप निष्पन्न है। अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाला पदार्थ अनिष्पन्न है ऐसा दूसरापक्ष स्वीकार करे तो भी ठीक नही, क्योकि अनिष्पन्न पदार्थ आकाश पुष्पकी तरह स्वयके स्वरूपसे अनिष्पन्न है [स्वरूप रहित है]

इसप्रकार सर्वज्ञत्वके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये साख्यादि द्वारा प्रदत्त प्रकृतिकर्तृत्व आदि हेतु सदोष सिद्ध होते हैं, अत सर्वज्ञ सिद्धिके लिये प्रकारातरका अभाव होनेसे आवरणका अपायरूप हेतु द्वारा उसकी सिद्धि होती है अर्थात् सपूर्ण विषयोको जानने वाला ज्ञान आवरणके नष्ट होनेपर ही उत्पन्न होता है ऐसा निश्चय हुआ। तथा ऐसा सपूर्ण विषयोका जानने वाला ज्ञान आत्माके ही होता है ऐसा परीक्षादक्ष पुरुषोको स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकारका सपूर्ण विषयोका जानने वाला जो ज्ञान है वह अनतदर्शन, अनतसुख, और अनतवीर्यका अविनाभावी होनेसे अनतचतुष्टयस्वरूप आत्माको सिद्ध कर देता है, अत निश्चित होता है कि इस जीवके अनतचतुष्टय स्वरूप स्वभावका लाभ होना मोक्ष है। यह अनत चतुष्टय स्वरूपका लाभ प्रतिबधक कर्मोसे अपेत है अपना निजी शाश्वत स्वरूप होनेके कारण जीवन्मुक्त दशाके समान [अरिहत अवस्थाके समान] परममुक्त दशामे [सिद्धोमे] भी सदा विद्यमान रहता है, उसका परममुक्त दशामे अभाव नही होजाता है।

॥ इति प्रकृतिकर्तृत्ववाद समाप्त ॥

प्रकृति कर्तृत्ववाद के खण्डन का सारांश

सांख्य के निरीश्वर साख्य और सेश्वर सांख्य ऐसे दो भेद हैं, निरीश्वर साख्य प्रकृति को जगत कर्त्ता मानते है और सेश्वर साख्य ईश्वर और प्रकृति दोनो को कर्त्ता मानते है पहले निरीश्वर साख्य का पूर्वपक्ष रखकर आचार्य ने सविस्तार खडन किया है। साख्य सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता प्रकृति है अत. वही सर्वज्ञ है, सारी सृष्टि प्रकृति से निर्मित है, ऐसा मानते है, आगे इसीको कहते है—

प्रकृते र्महास्ततोऽहकारस्तस्माद् गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडकात् पचभ्यः पंच भूतानि ॥१॥

प्रकृति से विषय का निश्चय कराने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से मैं सुभग हूं इत्यादि अहकार पैदा होता है, अहकार से शब्द रस गन्ध रूप स्पर्श ये पच तन्मात्राये एव ग्यारह इन्द्रिया प्रादुर्भूत होती है, पाच तन्मात्रा से पांच भूत होते है, शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रस से जल, रूप से तेज, गन्ध से पृथ्वी इसप्रकार ये सब प्रधान के २४ भेद है और पुरुष मिलाने से २५ तत्व होते हैं। प्रकृति के दो भेद हैं व्यक्त और अव्यक्त, व्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी होता है तथा हेतुमत्व, अनित्य, अव्यापि सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव एव परतत्र होता है। और अव्यक्त प्रकृति इससे विपरीत है। इस प्रकार महान् अहकार पचभूत आदि सभी तत्व प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होने के कारण सृष्टि का कर्त्ता प्रकृति है ऐसा कहना सिद्ध नही होता है। जैन—यह साख्य का कथन प्रमाण से सिद्ध नही होता है, आपने महान् आदि को प्रकृत्यात्मक माना है, फिर वे प्रकृति के कार्य कैसे हो सकते है? जो जिसरूप तन्मय होता है वह उसका कार्य या कारण नही होता, क्योकि कारण और कार्य भिन्न भिन्न लक्षण वाले होते है तथा आप प्रत्येक वस्तु को नित्य मानते है नित्य वस्तु मे कार्य कारण भाव होना शक्य नही, क्योकि बिना परिणमन हुए कोई वस्तु किसी का कारण नही बन सकती तथा अचेतन स्वभाव वाली प्रकृति से बुद्धि अहकार आदि चेतन स्वभाव रूप कार्य प्रादुर्भूत होना असभव है, मूर्तिक शब्द से अमूर्तिक आकाश होना भी असभव है। शब्द अमूर्तिक है ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योकि मूर्तिक पर्वत वायु आदि से शब्द का अभिघात होने से निश्चित

होता है कि शब्द अमूर्तिक नही है इस विषय का आगे प्रतिपादन होने वाला है। इस प्रकार प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानना सिद्ध नही होता है। सेश्वर साख्य—ईश्वर और प्रकृति दोनो सृष्टि को करते हैं क्योकि प्रकृति अचेतन होने से अकेली कार्य को नही कर सकती। अकेला ईश्वर भी नही कर सकता क्योकि प्रकृति के ससर्ग बिना वह अज्ञ है, दोनो मिलकर सृष्टि के कार्य को करते हैं जैसे–पुत्र को माता पिता दोनों करते हैं। सत्व, तम, रज इन गुणो की अपेक्षा लेकर ईश्वर जगत की स्थिति, नाश तथा उत्पत्ति को करता है अर्थात् ईश्वर मे जब प्रकृति के रजो गुण का ससर्ग होता है तब वह प्रजा को उत्पन्न करता है जब सत्व का ससर्ग होता है तब स्थिति और जब तमो गुण का ससर्ग होता है तब प्रलय कर देता है इसीलिये दोनो मिलकर सृष्टि कार्य करते है। सो सेश्वर साख्य का यह कथन भी चारु नही है सतत् रूप से कार्य होने की आपत्ति आती है, क्योकि ईश्वर और प्रधान ये दोनो ही समर्थ कारण मौजूद है तो सभी कार्य एक साथ होने मे कोई बाधा नही रहती। ईश्वर और प्रधान दोनो ही कारण नित्य है फिर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और नाश क्रम से क्यो होता है। एक साथ ही होना चाहिये। इस प्रकार सेश्वर साख्य का सुधारा हुआ पक्ष भी बाधित होता है इस तरह प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानना या ईश्वर और प्रकृति उभय को कर्ता मानना बाधित हुआ।

॥ प्रकृतिकर्तृत्ववाद का सारांश समाप्त ॥

६

कवलाहारविचारः

ये त्वात्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छन्ति तेषां तत्रास्यानन्तचतुष्टयस्वभावाभावोऽनन्तसुख-विरहात् । तद्विरहश्च बुभुक्षाप्रभवपीडाक्रान्तत्वात् । तत्पीडाप्रतीकारार्थो हि निखिलजनाना कवला-हारग्रहणप्रयास प्रसिद्धः । ननु भोजनादे सुखाद्यनुकूलत्वात्कथ भगवतोऽतोऽनन्तसुखाद्यभावः ? दृश्यते ह्यस्मदादौ क्षुत्पीडिते निश्शक्तिके च भोजनसद्भावे सुख वीर्यं चोत्पद्यमानम्, इत्यप्ययुक्तम्, अस्मदादि-

---

जीवन मुक्ति और परम मुक्ति इसप्रकार परमात्माओकी दोनो अवस्थाओमे अनतचतुष्टय विद्यमान रहते है, जीवन मुक्तको अरहत भगवान कहते है और परम मुक्तको सिद्ध भगवान कहते हैं । श्वेताबर जैन जीवन्मुक्त अरहतके कवलाहारका सद्भाव मानते हैं जैसे सामान्य ससारीजीव कवल [ग्रासवाला] आहार करते है वैसे अरहत भगवान भी करते हैं ऐसा श्वेताबर मानते है, इस मान्यता मे यह बाधा है कि अरहतके अनतचतुष्टय गुणोमेसे अनतसुख नामा गुणका अभाव होनेका प्रसंग आता है, जब चारोमेसे एकका अभाव स्वीकार करेंगे तो शेष तीनोका भी अभाव होवेगा, क्योकि इन चारोंका परस्परमे अविनाभाव है। केवलीके कवलाहार माननेसे अनतसुखका अभाव कैसे हो जाता है ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर यह है कि वे क्षुधा वेदनासे पीडित होकर भोजन करते हैं, अत अरहत भोजन करते है तो उनको पीडा होती है ऐसा स्वतः सिद्ध होता है । क्षुधाकी पीड़ा दूर करनेके लिये ही सभी जीव कवलाहार ग्रहण करते हैं यह सुप्रसिद्ध ही है ।

श्वेताबर जैन–भोजनादिके द्वारा तो सुख होता है, भोजन सुखके अनुकूल है न कि प्रतिकूल ! फिर उस भोजनका सद्भाव माननेसे अरहतके अनत सुखादिका अभाव कैसे हो सकता है ? देखा जाता है कि हम जैसे व्यक्ति भूखसे पीडित होते है शक्ति हीन हो जाते हैं तो भोजनके मिलने पर सुखी और शक्तिमान हो जाते है ?

सुखादे कादाचित्कतया विषयेभ्य एवोत्पत्तिसम्भवात् । भगवत्सुखादेश्च तत्सम्भवेऽनन्तताव्याघात । तथाहि-क्षुत्क्षामकुक्षिर्निश्शक्तिकश्चासौ यदा कवलाहारग्रहणे प्रवृत्तस्तदैव तदीयसुखवीर्ययोर्नष्टत्वात्कुतोऽनन्तता ? वीतरागद्वेषत्वाच्चास्य तद्ग्रहणप्रयासायोग । प्रयोग -केवली न भुंक्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्ते । ननु समभित्रशत्रूणा साधूना भोजनादिक कुर्वतामपि वीतरागद्वेषत्वसम्भवादनैकान्तिको हेतु , इत्यप्यसाम्प्रतम्, मोहनीयकर्मण सद्भावे भोजनादिक कुर्वता प्रमत्तगुणस्थानप्रवृत्तीना साधूना परमार्थतो वीतरागत्वासम्भवात् । तन्नानैकान्तिकोय हेतु । नापि विरुद्धो विपक्षे वृत्तेरभावात् ।

कवलाहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसङ्ग । प्रयोग -यो य कवल भुक्ते स स न वीतराग यथा रथ्यापुरुष , भुक्ते च कवल भवन्मत केवलीति । कवलाहारो हि स्मरणाभिलाषाभ्या भुज्यते,

---

दिगबर जैन-यह कथन अयुक्त है, हम जैसे जीवोको तो बाह्य पचेन्द्रियोके विषयो द्वारा सुख होता है, वह भी कदाचित् होता है, सतत रूपसे नही, ऐसा सुख अरहतके माने तो वह अनत नही रहा, क्षुधासे पीडित शक्तिहीन ऐसा यह भगवान जब कवलाहार ग्रहण करनेमे प्रवृत्त होगा तब उसके सुख और वीर्य नष्ट ही हो जाता है तो सुखादिमे अनतता कहा रही ? तथा अरहत भगवान रागद्वेषसे रहित होते है अत कवलाहारको ग्रहण करनेका प्रयास ही नही कर सकते । अनुमानसे सिद्ध होता है कि केवली भगवान आहार नही करते, क्योकि उनके रागद्वेषका अभाव है एव अनतवीर्य के सद्भावकी अन्यथानुपपत्ति है ।

श्वेताबर-जो शत्रु और मित्रमे समान भाव रखते हैं ऐसे वीतरागी साधुओ के भोजन करते हुए भी वीतरागता रहती है अत उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक है ।

दिगम्बर-यह कथन असत् है, जिनके मोहनीय कर्म विद्यमान है ऐसे प्रमत्तसयत नामा गुणस्थानमे वर्त्तमान साधुओके परमार्थभूत वीतरागता नही होती है, अत वीतरागत्वकी अन्यथानुपपत्ति नामा हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त नही है, तथा विरुद्ध दोष युक्त भी नही है, क्योकि विपक्षमे [अन्य सामान्य कवलाहार करनेवाले जीवोमे] नही जाता है ।

केवलीके कवलाहार मानते हैं तो उनके सरागी बननेका प्रसग आता है-जो जो पुरुष कवलवाला आहार करता है वह वह वीतरागी नही होता, जैसे रथ्या पुरुष

भुक्तवता च कण्ठोष्ठप्रमाणतस्तृप्तेनाऽरुचितस्त्यज्यते । तथा चाभिलाषाऽरुचिभ्यामाहारे प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्कथ वीतरागत्वम् ? तदभावान्नाप्तता । अथाभिलाषाद्यभावेप्याहार गृह्णात्यसौ तथाभूतातिशयत्वात्, ननु चाहाराभावलक्षणोप्यतिशयोऽस्याभ्युपगन्तव्योऽनन्तगुणत्वाद्गगनगमनाद्यतिशयवत् ।

अथाहाराभावे देहस्थितिरेवास्य न स्यात्, तथाहि–भगवतो देहस्थिति आहारपूर्विका देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । नन्वनेनानुमानेनास्याहारमात्रम्, कवलाहारो वा साध्येत ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, 'आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिण.' इत्यभ्युपगमात्, तत्र च कवलाहाराभावेप्यन्यस्य कर्मनोकर्मादानलक्षणस्याविरोधात् । षड्विधो ह्याहार —

"णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥" [ ]

भोजन करता है अतः वीतरागी नही है । आपके मतमे केवली भगवान कवलाहार करने वाले माने है अत वे वीतरागी सिद्ध नहीं होते ।

तथा कवल आहारको अभिलाषा और स्मरणके बिना ग्रहण नही कर सकते, अभिलाषा और स्मरण पूर्वक ही भोजन होता है, एव जब भोजन हो जाता हैं तब कठौष्ठ तक पूर्ण कुक्षि हुआ पुरुष अरुचिसे उस भोजनको छोड देता है । इसप्रकार अभिलाषासे आहारका ग्रहण और अरुचिसे त्याग हुआ करता है, फिर उस आहारको ग्रहण करने वालेके वीतराग भाव कैसे हो सकते है ? अर्थात् नही हो सकते, वीतरागत्वके अभावमे उस पुरुषमे [केवलीमे] आप्तपना भी सभव नही है ।

शका–केवली भगवानके अभिलाषा आदि विकार नही होते तो भी वे आहार ग्रहण करते हैं, उनमे ऐसा अतिशय ही रहता है ।

समाधान–यदि अतिशयपने की बात है तो आहार ग्रहण नही करना रूप अतिशय ही माना जाय ? क्योकि उनमे तो अनतगुण विद्यमान है, जैसे गगनगमन आदि अतिशय स्वीकार करते है वैसे आहार नही करना यह भी एक अतिशय है ।

शका–आहारके अभावमे अरहतके देहस्थिति नही रह सकती अनुमानसे सिद्ध करते हैं–अरहतके शरीरकी स्थिति आहार द्वारा होती है, क्योकि वह शरीर स्थिति है जैसे हम मनुष्योकी शरीरकी स्थिति आहार द्वारा हुआ करती है ?

समाधान–ठीक है, किन्तु इस अनुमान द्वारा सामान्य आहार सिद्ध करना है या कवलाहार ? सामान्य आहार कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि हम भी प्रथम

इत्यभिधानात्। न खलु कवलाहारेणैवाहारित्व जीवानाम्, एकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानामभुञ्जान-तिर्यग्मनुष्याणा चानाहारित्वप्रसङ्गात्। न चैवम्—

"विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥"

[जीवकाण्ड गा० ६६५, श्रावकप्रज्ञ० गा० ६८]

इत्यभिधानात्। द्वितीयपक्षे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचार, तेषा कवलाहाराभावेपि देहस्थिति-सम्भवात्। अथ 'औदारिकशरीरस्थितित्वात्' इति विशेष्योच्यते। तथाहि—या या औदारिकशरीर-

---

गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थानतकके जीवोको आहारी मानते हैं, यह बात अवश्य है कि तेरहवे गुणस्थानवालेके [केवलीके] कवलाहार तो नही है किन्तु कर्म नोकर्म आहार है। आहारके छह भेद है कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओज आहार, मानसिकाहार। कवलाहार करनेसे ही जीव आहारी होवे सो बात नही है, यदि ऐसा एकात मानेगे तो एकेन्द्रिय जीव, अडेमे स्थित जीव, देव और उपवास आदिके कारण भोजन नही करने वाले मनुष्य तिर्यंच इन सबके अनाहारी बन जानेका प्रसग आता है, परन्तु ये जीव अनाहारी नही हैं। अनाहारी जीव तो ये है—विग्रह-गतिमे स्थित, कार्मारण काययोगमे समुद्घात केवली, अयोगी जिन और सिद्ध। इनसे अवशेष जीव आहारी है, इसप्रकार सिद्धातमे कथन है।

देहस्थितिके लिये जो आहार होता है वह कवलाहार ही है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो हेतु देवादिके साथ अनैकान्तिक होता है, क्योकि देवोके कवलाहार नही होते हुए भी शरीरकी स्थिति बनी रहती है।

शका—औदारिक शरीर की स्थिति आहारके बिना नही होती ऐसा विशेष्य जोडकर हेतुका प्रयोग करनेसे दोप नही आयेगा, जो जो औदारिक शरीरकी स्थिति है वह वह कवलाहार पूर्वक होती है, जैसे हम लोगोके शरीरकी स्थिति कवलाहारसे होती है, भगवानके भी औदारिक शरीरकी स्थिति है अतः वह कवलाहार पूर्वक होनी चाहिये इसप्रकार विशेष्य जोडकर हेतुका प्रयोग करनेसे देवोके शरीर स्थितिके साथ व्यभिचार नही आता है।

समाधान—यह कथन असार है, भगवानके शरीरकी स्थिति परम औदारिक है वह हम जैसे लोगोके औदारिक शरीर स्थितिसे विलक्षण हुआ करती है परम औदा-

स्थितिः सा सा कवलाहारपूर्विका यथास्मदादीनाम्, औदारिकशरीरस्थितिश्च भगवत', इति न त्रिदश-शरीरस्थित्या व्यभिचार , इत्यप्यसारम्, तदीयौदारिकशरीरस्थिते परमौदारिकशरीरस्थितिरूप-तयाऽस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात् । तस्याश्च केवलावस्थाया केशादिवृद्धयभाववद्भुक्त्य-भावोप्यविरुद्ध एव ।

कथं चैवं वादिनो भगवत्प्रत्यक्षमतीन्द्रिय स्यात् ? शक्य हि वक्तुम्–तत्प्रत्यक्षमिन्द्रियंज प्रत्यक्षत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत् । तथा सरागोऽसौ वक्तृत्वात्तद्वदेव । न ह्यस्मदादौ दृष्टो धर्म कश्चित्तत्र साध्य कश्चिन्नेति वक्तु युक्तम्, स्वेच्छाकारित्वानुषङ्गात । तथा च न कश्चित्केवली वीतरागो वा, इति कस्य भुक्ति प्रसाध्यते ? यदि चैकत्र तच्छरीरस्थिते कवलाहारपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र तथाभाव

रिक शरीर स्थिति केवलज्ञान अवस्थामे अविरुद्ध ही है, अर्थात् बिना भोजन शरीर स्थिति रह सकती है । जैसे नख और केशोकी वृद्धि नही होना केवलीमे अविरुद्ध माना जाता है वैसे ही आहार बिना शरीर स्थिति का रहना भी अविरुद्ध है ।

श्वेताम्बर भगवानके कवलाहारका ग्रहण करना मानते है सो ऐसे भगवानके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान कैसे सभव है ? कोई कह सकता है कि केवलीका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योकि वह प्रत्यक्षज्ञान, जैसे हम लोगोका प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है । तथा वे केवली सरागी भी क्योकि बोलते है, जिसप्रकार हम लोग बोलते है । ऐसा तो कहना नही कि हमारे लोगोमे पाया जाने वाला कोई धर्म तो केवलीमे होता है और कोई धर्म नही होता, इसतरह तो स्वेच्छाकारिपना सिद्ध होता है । इसप्रकारके सरागी एव इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान वाले पुरुष केवली भगवान नही कहला सकते । फिर तो इस विश्वमे न कोई वीतरागी है और न कोई केवली ही है ? अत कवलाहार भी किसके सिद्ध किया जाय ? यदि आप कही पर सप्तधातुमय औदारिक शरीर की स्थिति आहार पूर्वक देखकर सभी शरीरोमे वैसे ही स्थिति सिद्ध करते है तो घटादिमे रचना विशेषको बुद्धिमान पूर्वक देखकर तनु, तरु, पर्वतादि की रचनाको भी बुद्धिमान पूर्वक सिद्ध करना मान्य होगा ? अर्थात् सृष्टि कर्तृत्वको स्वीकार करना होगा ? तथा तिमिर रोगी को एक चद्रमे दो चद्रका प्रतिभास होता है वह निरालब [विना दो चद्रके] होता हुआ देख सभी प्रतिभासोको निरालब मानना होगा ।

भावार्थ–हम जैसे सामान्य जीवोका औदारिक शरीर आहारके विना नही रह सकता वैसे केवली भगवानका परम औदारिक शरीर भी आहारके विना नही रह

साध्यते, तर्हि घटादौ सन्निवेशादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वोपलम्भात्तन्वादीनामप्यतो बुद्धिमत्पूर्वकत्वसिद्धिः स्यात्। द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वोपलम्भाच्चाखिलप्रत्ययाना निरालम्बनत्वप्रसङ्गः स्यात्। अथ यादृश बुद्धिमत्कारणव्याप्तं सन्निवेशादि घटादौ दृष्ट तादृगस्य तन्वादिष्वभावान्नातस्तेषा तत्पूर्वकत्वसिद्धि, तर्हि यादृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमस्मदादौ तद्भुक्तिपूर्वकं दृष्टं तादृगस्य भगवत्परमौदारिकशरीरस्थितावभावान्नातस्तस्यास्तद्भुक्तिपूर्वकत्वसिद्धि.। यथा च प्रत्ययत्वाविशेषेपि कस्यचिन्निरालम्बनत्वमन्यस्यान्यत्वम्, तथा च तच्छरीरस्थितेस्तत्त्वाविशेषेपि निराहारत्वमितरच्चेष्यतामविशेपात्।

सकता ऐसा सर्व सामान्य नियमको विशेपमे घटित किया जाय तो ईश्वर वादी नैयायिक आदिका कथन भी घटित होगा कि घटादि पदार्थोका कर्त्ता कोई बुद्धिमान चेतन व्यक्ति होता है अत सभी वृक्ष पर्वत पृथ्वी आदिका कर्त्ता भी बुद्धिमान चेतन व्यक्ति [ईश्वर] होना चाहिये [अर्थात् सृष्टिका रचयिता मानना चाहिये] इत्यादि। तथा शून्यवादीकी मान्यता है कि द्वि चन्द्रादिरूप प्रतिभास यदि विना आलवनके [दो चंद्रके नही होते हुए भी दो चन्द्र दिखायी देना] होते है तो सभी प्रतिभास [ज्ञान] विना आलवनके होना चाहिये। वाह्य पदार्थकी सत्ता ही नही है सव शून्य रूप है इत्यादि। ये ईश्वरवादी तथा शून्यवादी भी आप श्वेताम्वर के समान एक जगहका देखा गया धर्म सर्वत्र घटित करते है अत यह सव सिद्धातको भी स्वीकार करनेका प्रसग आता है।

शका—ईश्वरवादी आदि एकातमतीका कथन मान्य नही हो सकता क्योकि जिसप्रकार की बुद्धिमान कारण पूर्वक रचना घटादिमे व्याप्त हुई दिखायी देती है उस प्रकारकी वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी आदिमे दिखायी नही देती अत इन वृक्षादि मे बुद्धिमान कारणपना सिद्ध नही कर सकते।

समाधान—यही वात केवली भगवानके विपयमे हैं, जिसप्रकारका हमारा औदारिक शरीर है वह भोजन पूर्वक स्थित रहता है उसप्रकारका भगवानका परम औदारिक शरीर नही है, वह तो भोजनके अभावमे ही स्थित रहता है, अर्थात् हम जैसे सामान्य मनुष्योके शरीरकी स्थिति भोजन पूर्वक होती है, वैसे भगवानके परमौदारिक शरीर की स्थिति नही है, अत उनके शरीर स्थिति को भोजन पूर्वक सिद्ध नही कर सकते। जिसप्रकार प्रतिभासकी अपेक्षा समानता होते हुए भी किसी द्विचद्रादि प्रतिभासको तो निरालब मानते है और किसी घटादि के प्रतिभासको अवलबन सहित मानते हैं, यही सिद्धात शरीर स्थितिका है अर्थात् शरीर स्थितिपना समान होते हुए

अथ 'अन्यादृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमन्यादृशाश्च पुरुषा न सन्ति' इत्युच्यते तर्हि मीमासक-मतानुप्रवेशः। अतो यथान्यादृशाः सन्ति पुरुषास्तथा तत्स्थितित्वमपि। कथमन्यथा सप्तधातुमलापेतत्वं तच्छरीरस्य स्यात् ? तत्सम्भवे तत्स्थितेरतद्भुक्तिपूर्वकत्वमपि स्यात्।

तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्छायाभुक्तिपूर्वकत्वे तस्या को विरोध ? दृश्यते च पञ्चकृत्वो भुञ्जानस्य यादृशी तच्छरीरस्थितिस्तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि। तथा प्रतिदिन भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येवैकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनोपि। श्रूयते च बाहुबलिप्रभृतीना सवत्सरप्रमिताहारवैकल्येपि विशिष्टा शरीरस्थिति.। आयुःकर्मैव हि प्रधान तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिस्तु सहायमात्रम्। तच्छरीरोपचयोपि लाभान्तरायविनाशात्प्रतिसमय तदुपचयनिमित्तभूताना

भी केवलीके वह स्थिति निराहार पूर्वक है और हम जैसे जीवोकी स्थिति आहारपूर्वक है ऐसी न्याय संगत मान्यता होनी चाहिये।

शका—ऐसा परम औदारिक नामा शरीर और ऐसे शरीरके धारक केवलीका अस्तित्व ही नही होता ?

समाधान—इसतरहकी मान्यतासे मीमासक मतमे प्रवेश होवेगा, जैसे वे सर्वज्ञ को नही मानते वैसा स्वीकार करना होगा ? अत जिसप्रकार हमारेसे विलक्षण कोई महापुरुष सर्वज्ञ भगवान है यह बात हमे इष्ट है उसीप्रकार उन सर्वज्ञके हमारेसे विलक्षण परम औदारिक शरीरकी स्थिति भी बिना आहारके रहती है ऐसा मानना ही होगा, अन्यथा उनको सप्तधातु रहित शरीर वाले भी कैसे मान सकते है ? जैसे केवलीका शरीर सप्तधातु तथा मलोसे रहित है वैसे भोजन रहित भी है ऐसा स्वत सिद्ध होता है।

केवली भगवानके तपोमाहात्म्यसे चतुर्मुख दिखायी देते है, उनके शरीरकी परछाई नही पडती, ऐसे ही विना भोजनके शरीर बना रहता हैं, इसमे कोई विरोध नही है। कोई व्यक्ति पाच बार खाता है उसका जैसा शरीर रहता है वैसा ही विरक्त भावसे चार बार, तीन बार, दो बार, अथवा एक बार खाने वालोका शरीर भी उतना ही स्वस्थ बना रहता हुआ दिखायी देता है, तथा कोई व्यक्ति प्रतिदिन भोजन करता है और उसका शरीर जैसा बना रहता है वैसे ही एक दिन बाद भोजन करने वालेका, दो दिन बाद आदि रूपसे भोजन करनेवालेका शरीर भी बना रहता है, इस प्रकारकी साक्षात् उपलब्धि है। शास्त्रमे सुना जाता है कि बाहुबली जैसे महान् पुरुषो

दिव्यपरमाणूना लाभाद् घटते। एव छद्मस्थावस्थावच्च केवल्यवस्थायामप्यस्य भुक्त्यऽभ्युपगमे अक्षिपक्ष्मनिमेषो नखकेशवृद्ध्यादिश्चाभ्युपगम्यताम्। तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोप्यभ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात्।

ननु मास वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाऽऽकालं तत्स्थिति. पुनस्तदाहारे प्रवृत्त्युपलम्भादिति चेत्, कुत एतत्? आकाल वत्स्थितेरनुपलम्भाच्चेत्; सर्वज्ञवीतरागस्याप्यत एवासिद्धेर्लाभमिच्छतो मूलोच्छेद स्यात्। दोषावरणयोर्हान्यतिशयोपलम्भेन क्वचिदात्यन्तिकप्रक्षयसिद्धेस्तत्सिद्धौ क्वचिच्छरीरिण्यात्यन्तिको भुक्तिप्रक्षयोपि प्रसिध्येत् तदुपलम्भस्यात्राप्यविशेषात्। तन्न शरीरस्थितेर्भगवतो भुक्तिसिद्धि।

के एक वर्ष पर्यन्त विना भोजनके शरीर वना रहा इत्यादि। शरीरकी स्थितिमे प्रमुख हेतु आयु कर्म है, भोजनादिक उसके सहायक हैं। भगवानका शरीर लाभातराय कर्म का सर्वथा नाश हो जानेसे प्रतिसमय आनेवाले दिव्य परमाणुओसे परिपुष्ट एव स्वस्थ वना रहता है, अर्थात् केवली भगवान आहार तो नही करते किन्तु नोकर्माहार द्वारा उनका शरीर पुष्ट रहता है। क्योकि लाभातराय कर्मका नाश हो चुका है। यदि श्वेताबर भगवानके भी छद्मस्थ जीवोके समान भोजन करना स्वीकार करते हैं तो नेत्रकी पलके लगना, नख केशोका बढना आदिको भी स्वीकार करना होगा किन्तु आप नख केशोकी वृद्धि नही होना इत्यादिको अतिशय मानते हैं, अत भोजनका अभावरूप अतिशय भी अवश्य मानना चाहिये, दोनोमे कोई विशेषता नही है।

श्वेताबर—यद्यपि मनुष्योका शरीर महिनो तक या वर्ष तक विना भोजनके रह सकता है किन्तु मरणकाल पर्यन्त तो नही रह सकता। महिना आदि के वाद तो अवश्य भोजन करना पडता है?

दिगम्बर—इस बातको आप किस हेतुसे सिद्ध करेंगे? मरण काल तक शरीर की स्थिति विना भोजनके दिखायी नही देती अत ऐसा सिद्ध करते हैं, ऐसा कहो तो इसी हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतरागकी असिद्धि होनेसे लाभके वजाय, मूलका ही नाश होना जैसी उक्ति चरितार्थ होगी? [अर्हंतसर्वज्ञके कवलाहार माननेसे उनके सर्वज्ञपनेका ही अभाव सिद्ध होगा] यदि कहा जाय कि "किसी पुरुष विशेषमे आवरणकर्म और रागादि दोष अत्यत नाशको प्राप्त होते हैं, क्योकि उन आवरणादिमे हीयमानपना देखा जाता है, इस सुप्रसिद्ध अनुमान द्वारा सर्वज्ञ वीतरागका सद्भाव सिद्ध होता है? तो

अथोच्यते–वेदनीयकर्मणः सद्भावात्तत्सिद्धि', तथाहि–भगवति वेदनीयं स्वफलदायि कर्मत्वा-दायुकर्मवत्, तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽतोऽप्यनुमानात्तत्फलमात्रं सिद्ध्येन्न पुनर्भुक्तिलक्षणम्। अथ क्षुदादिनिमित्तवेदनीयसद्भावाद्भुक्तिसिद्धि, ननु तन्निमित्तं तत्तत्रास्तीति कुतः ? क्षुदादिफलाच्चे-दन्योन्याश्रय –सिद्धे हि भगवति तन्निमित्तकर्मसद्भावे तत्फलसिद्धिः, तस्याश्च तन्निमित्तकर्म-सद्भावसिद्धिरिति।

अथाऽसातवेदनीयोदयात्तत्र तत्सिद्धि'; न; सामर्थ्यवैकल्यात् तस्य। अविकलसामर्थ्यं ह्यसाता-दिवेदनीय स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम्। यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम्। यथा च

यही बात कवलाहारके अभाव की है अर्थात् किसी पुरुष विशेषमें कवलाहार [भोजन का] सर्वथा अभाव हो जाता है, क्योकि उसमे हीयमानपना देखा जाता है" इस अनुमान द्वारा अर्हंत सर्वज्ञके कवलाहार का अभाव सिद्ध होता ही है। उभयत्र अनुमानों मे कोई विशेषता नही है [दोनो ही स्वसाध्यको भलीभाति सिद्ध करने वाले हैं] अत शरीर स्थितिका हेतु देकर भगवानके कवलाहारको सिद्ध करना असभव है।

श्वेताम्बर–वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेके कारण केवलीमें कवलाहार स्वीकार किया है, भगवानका वेदनीयकर्म अपनाफल [सुख दु ख, भूख प्यासादिको] देनेवाला है, क्योकि वह कर्म है, जैसे उनका आयुकर्म अपना फल देनेवाला है।

दिगम्बर–यह कथन अयुक्त है, उपर्युक्त अनुमानसे वेदनीयकर्मका सामान्यसे फल देना तो सिद्ध होगा किन्तु भूख लगना आदि रूप विशेष फल तो सिद्ध नही होगा। क्षुधादि वेदना निमित्त भूत वेदनीय कर्म मौजूद है अत केवलीके भोजनकी सिद्धि होती है ऐसा कथन भी असत् है, केवलीमे वेदनाका निमितभूत वेदनीयकर्म है यह किस हेतुसे सिद्ध करेंगे ? क्षुधादि वेदना रूप फलको देखकर सिद्ध करे तो अन्योन्या-श्रय दोष होगा–भगवानमे क्षुधादि निमित्तक वेदनीय कर्मका सद्भाव सिद्ध होनेपर उसके फलकी सिद्धि होगी, और फलके सिद्ध होनेपर तन्निमित्तक वेदनीय कर्मकी सिद्धि होगी, इस तरहके अन्योन्याश्रय कारण दोनों भी असिद्धिकी कोटिमे आयेंगे।

श्वेताम्बर–अरहतके असाता वेदनीय कर्मका उदय पाया जाता है अतः उनके क्षुधा बाधाका सद्भाव है।

मन्त्रेण निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विष न दाहमूर्च्छादिक कर्त्तुं समर्थम्, तथा असातादिवेदनीय विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दु खकरणे प्रभु सामग्रीत कार्योत्पत्तिप्रसिद्धे ।

मोहनीयाभावश्च प्रसिद्धो भगवत, तीव्रतरशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघनघातिकर्मेन्धनत्वात् । यदि च तदभावेपि तदुदय स्वकार्यकारी स्यात्, तर्हि परघातकर्मोदयात्परान् यष्ट्यादिभिस्ताडयेत् स एव वा परैस्ताड्येत । परघातोदयोपि हि सयतानामर्हदवसानानामस्ति । अथ परमकारुणिकत्वात्तदुदयेपि न परास्ताडयति उपसर्गाभावाच्च न च तैस्ताड्यते, तर्ह्यनन्तसुखवीर्यत्वाद्बाधाविरहाच्चासातादिवेदनीयोदये सत्यपि भोजनादिक न कुर्यात् । मोहकार्यत्वाच्च करुणाया कथ तत्क्षये परमकारुणिकत्व तस्य स्यात् ?

दिगम्बर—ऐसी बात नही है, उनका असाता कर्म सामर्थ्य रहित है, जिसमे पूर्ण सामर्थ्य होती है वही असाता कर्म अपना कार्य कर सकता है, मोहनीय कर्मके नाश होनेसे वेदनीय कर्मकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है यह बात सिद्धात प्रसिद्ध है ही । जिसप्रकार सेनानीके नष्ट हो जाने पर सेनाका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है उसीप्रकार मोहनीय कर्मके नष्ट होने पर असाता वेदनीयादि अघाती कर्मोकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है । जैसे मत्र द्वारा जिसका विषैलापन नष्ट कर दिया है ऐसे विषको मत्रवादी भक्षण कर जाता है किन्तु अब वह विष मूर्च्छा, दाह आदि विकारको नही कर सकता, वैसे ही असाता वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी मोहनीय कर्मके नष्ट हो जाने से वह उदय क्षुधादि दु खरूप फलको देनेवाला नही हो सकता, क्योकि कार्य तो पूर्ण सामग्रीके मिलने पर ही होता है, केवली भगवानके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है यह बात तो सर्व सम्मत ही है, उन्होने तो तीव्रतर शुक्ल ध्यानरूपी अग्निद्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधनको भस्मसात् कर दिया है । यदि मोहनीय कर्मके अभावमे भी वेदनीय कर्मके उदयको कार्यकारी मानते हैं तब तो परघातनामा नामकर्म के उदय होनेसे केवली भगवान अन्य जीवोको लाठी आदिसे ताडित करें अथवा अन्य जीव द्वारा ये ताडित किये जा सकते हैं ? क्योकि परघात नामकर्मका उदय अर्हन्त केवली पर्यन्तके सयतोको भी होता ही है ।

श्वेताम्बर—केवली भगवान परम कारुणिक हैं अत परघात नामा कर्मका उदय होते हुए भी वे अन्य जीवोको ताडित नही करते, तथा उनके उपसर्गका अभाव हो चुका है अत अन्य जीव उन्हे ताडित नही कर सकते ?

किञ्च, कर्मणां यद्युदयो निरपेक्षः कार्यमुत्पादयति; तर्हि त्रिवेदानां कषायाणां वा प्रमत्तादिषूदयोस्तीति मैथुन भ्रूकुट्यादिक च स्यात्। ततश्च मनसः सक्षोभात्कथं शुक्लध्यानाप्तिः क्षपकश्रेण्यारोहणं वा ? तदभावाच्च कथ कर्मक्षपणादि घटेत ?

नन्वेव नामाद्युदयोपि तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्यप्यसङ्गतम्; शुभप्रकृतीनां तत्राप्रतिवद्धत्वेन स्वकार्यकारित्वसम्भवात्। यथा हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोपि न स्वदुष्टाचरणस्य विधातारःसुजनास्त्वप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारस्तथा प्रकृतमपि। कथ पुनरशुभप्रकृतीनामेवार्हति प्रतिबद्ध सामर्थ्यम् न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत्; उच्यते–अशुभ-

---

दिगम्बर–बिलकुल ठीक है, यही बात वेदनीय कर्मके विषयमें है अनंतसुख, अनतवीर्य गुण युक्त होनेके कारण तथा बाधा रहित होनेके कारण असाताकर्मका उदय होते हुए भी भगवान आहार नही करते है, ऐसा मानना ही चाहिये। आपने कहा कि भगवान परम कारुणिक है किन्तु करुणा तो मोहनीयकर्मका कार्य है, भगवानका मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो चुका है अत' वे परमकारुणिक नही कहला सकते।

आप यदि कर्मोके उदयको विना अन्यकी अपेक्षा लिये कार्य करनेमें समर्थ मानते हैं तो स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद एव कषायोंका उदय प्रमत्तादि गुणस्थानोमे रहता है अत उन कर्मोंका कार्य मैथुन सेवन भ्रूकुटि चढाना आदि भी उन गुणस्थानवर्त्ती साधुओंके मानना होगा ? फिर तो मनमें क्षोभको एवं विकारको प्राप्त उन साधुओंके शुक्ल ध्यानादि कैसे हो सकते है ? अथवा क्षपक श्रेणिमें आरोहण कैसे होगा ? और इनके अभाव कर्मका क्षय होना भी कैसे घटित होगा।

श्वेताम्बर–वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी वह यदि कार्यकारी नहीं होता तो नाम कर्मका उदय भी स्वकार्यकारी नही होना चाहिये।

दिगम्बर–ऐसी बात है कि जो शुभकर्मकी प्रकृतियां हैं उनका उदय विना रुकावटके भगवानमे कार्य करता रहता है, इस विषयमे दृष्टात है कि दुष्टोका निग्रह और शिष्ट पुरुषो पर अनुग्रह करने वाले बलवान राजा के देशमे दुष्ट जीव रहते हुए भी अपना दुष्टपूर्ण कार्य करनेमे असमर्थ हुआ करते हैं और शिष्ट–सज्जन अपने परोपकार आदि कार्यको विना रुकावट करते है। इसीप्रकार केवली भगवानके शुभ और अशुभ दोनो कर्म रहते हुए भी अशुभ तो स्वकार्यको नही कर सकता और शुभ

प्रकृतीनामर्हन्ननुभाग घातयति न तु शुभानाम्, यतो गुणघातिनां दण्डो नाऽदोषाणाम् । यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातादिवेदनीय स्वकार्यकारि स्यात्, तर्हि दण्डकवाटप्रतरादिविधान भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायुर्वेदनीयादिकमधिकस्थितिक भवति तदाऽनेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते । न चाधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म उपायशतेनाप्यन्यथा कर्त्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्त स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यान्निर्जीर्णमधिकस्थितिकत्वेन फलदानासमर्थम् आयु कर्मसमान क्रियते, तथा वेद्यमपि क्रियतामविशेषात् ।

कर्म अपना कार्य करता रहता है । कोई पूछे कि अर्हतके मात्र अशुभ कर्मका सामर्थ्य ही रुकता है शुभकर्मका नही यह किसप्रकार जाना जाय ? तो उस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि अर्हंत भगवान अशुभकर्म प्रकृतियोका ही अनुभाग नष्ट करते हैं शुभप्रकृतियोका नहीं, क्योंकि "गुणोका घात करनेवालेको दड दिया जाता है, निर्दोषको दड नही देते" इस न्यायके अनुसार अशुभकर्म गुणोका घातक होनेके कारण उन्ही का अनुभाग नष्ट किया जाता है, शुभका नही, क्योंकि शुभ गुणोका घातक नही है । इसप्रकारका सामर्थ्य विहीन वेदनीय कर्म भी यदि स्वकार्यको करता ही है ऐसा माने तो दड, कपाट, प्रतरादि समुद्घात क्रिया करना भगवानके व्यर्थ ठहरता है । यह समुद्घात क्रिया तो तब होती है जब आयुकर्म कम स्थितिवाला हो और नाम वेदनीय आदि कर्म अधिक स्थितिवाले हो, कर्मकी ऐसी स्थितिके रहनेपर समुद्घात क्रियासे उनको समान किया जाता है । जो अधिक स्थिति रूपसे फल देनेमे समर्थ है उसको सैंकडो उपायोसे भी अन्यथा नही कर सकता यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो कोई भी जीव कर्ममुक्त नही हो सकता ।

श्वेताम्बर—शुक्ल ध्यानरूपी तपो माहात्म्यसे कर्म निर्जीर्ण होता है वह अधिक स्थितिरूपसे फल देनेमे समर्थ नही रहता उसको आयु कर्मके समान स्थिति वाला किया जाता है ।

दिगम्बर—यही बात वेदनीयकर्म मे होती है, वह भी तपो माहात्म्यसे निर्जीर्ण हो जाने से फलदानमे असमर्थ होता है, और समुद्घात द्वारा उसको आयु कर्मके समान स्थिति वाला किया जाता है ऐसा मानना चाहिये । यहां तक के विवेचनसे अग्रिम मतव्य भी खडित हुआ समझना चाहिये कि दिगम्बर वेदनीय कर्मको केवलीमे फल देनेमे असमर्थ मानते है तो उसकर्मका उनमे सत्व ही नही रहता ऐसा मानना चाहिये ?

एतेनेदमप्यपास्तम्–यदि वेदनीयमफलम् तत्र तन्नास्त्येव ज्ञानावरणादिवत्, तथा च कर्मपञ्चकस्याभावस्तत्र प्राप्नोतीति। कथम् ? यद्यायुरधिकानि वेद्यादीनि स्वफलदानसमर्थानि; तर्हि मुक्त्यभावः। नो चेन्न तेषां कर्मत्वमिति तदपनयनाय योगिनो लोकपूरणादिप्रयासो व्यर्थः। अनुष्ठानविशेषेणापहृतसामर्थ्यानामवस्थानं वेद्येपि समानम्। न च कारणमस्तीत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः, अन्यथेन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुषङ्गाद्भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनां च प्रसङ्गः। अथावरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहान्नेन्द्रियादि स्वकार्ये व्याप्रियते, अत एव वेदनीयमपि न व्याप्रियेत। न ह्यत्यन्तमात्मनि परत्र वा विरतव्यामोहस्तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा प्रवर्त्तते। प्रयोगः–यो यत्रात्यन्तं व्यावृत्तव्यामोहः स तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा न

जैसे ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हुए है फिर तो केवलीके पांच कर्मोका अभाव होना स्वीकार करना होगा ? अब उपर्युक्त मतव्य कैसे खडित होता हैं सो बताते हैं–केवली भगवानके आयुकर्मसे अधिक स्थिति वाले वेदनीयादि कर्म अपना फल देनेमें समर्थ होते है तो उन केवलीको कभी भी मुक्ति नही होगी, और यदि वे कर्म फलदानमें असमर्थ है तो उन कर्मोका अस्तित्व नही रहनेसे लोक पूरण समुद्घात होना व्यर्थ ठहरता है।

श्वेताम्बर–यद्यपि अरहत केवलीके कर्मोका अस्तित्व है किन्तु वह अनुष्ठान विशेष के कारण सामर्थ्यहीन हो गये हैं ?

दिगम्बर–यही बात वेदनीय कर्ममे घटित होती है, उसकी सामर्थ्य भी अनुष्ठान विशेष द्वारा नष्ट हो चुकी है, कारणके होने मात्रसे कार्यकी उत्पत्ति होवे ही ऐसा नियम नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो भगवानके स्पर्शनादि इन्द्रिया होनेसे उनका कार्य जो मति ज्ञान उत्पन्न करना है वह भी मानना पडेगा, तथा रागकी उत्पत्ति भी माननी होगी, किन्तु यह सब नही होता है, ऐसे ही असाता रूप कारणके रहते हुए भी भोजनरूप कार्य नही होता ऐसा स्वीकार करना ही होगा।

श्वेताम्बर–आवरण कर्मके क्षयोपशम रूप सहकारी कारणके नही होनेसे तथा मोहनीयकर्मरूप सहकारीके नही होनेसे अरहत की इन्द्रिया स्वकार्यको करनेमें प्रवृत्त नही हो पाती एव रागादि उत्पन्न नही होते।

दिगम्बर–वेदनीयकर्मकी भी यही बात है वह भी मोहनीयकर्मके अभाव मे स्वकार्यके करनेमे प्रवृत्त नही हो पाता। जो व्यक्ति अपनेमे या परमे अत्यन्त विरक्तचित्त हो जाता है वह आदान प्रदान रूप कुछ भी कार्य नही करता है; अनुमान प्रसिद्ध

प्रवर्तते यथा व्यावृत्तव्यामोहा माता पुत्रे, व्यावृत्तात्यन्तव्यामोहश्च भगवान्, तत सोपि भोजनमादातु क्षुदादिकं वा हातु न प्रवर्त्तते । प्रवृत्तौ वा मोहवत्त्वप्रसङ्ग, तथाहि–यस्तदादातु हातु वा प्रवर्त्तते स मोहवान् यथाऽस्मदादि, तथा चाय श्वेतपटाभिमतो जिन इति । तथा च कुतोऽस्याप्तता रथ्यापुरुषवत् ?

न चेय बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम्, येनात्यन्तव्यावृत्तव्यामोहेप्यस्या सम्भव. । भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथ वेदनीयस्यैव कार्यम् ? इतरथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसा तत्कार्यं स्यात् । तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गान्नेश्वरादस्य विशेष । यथा

बात है कि जो जिसमे अत्यन्त मोहरहित हो जाता है वह उसके लिये ग्रहण या त्याग रूप कार्य नही करता, जैसे जिसकी ममता हटगयी है ऐसी माता पुत्रके प्रति ग्रहणादिका व्यवहार नही करती है । भगवान भी अत्यन्त विरक्त है निर्मोह हैं अत वे भोजनादिको ग्रहण करना व क्षुधादिको दूर करना आदि कार्य नही करते हैं, यदि करेंगे तो मोहवान बन जायेंगे जो व्यक्ति भोजनादिका ग्रहण या क्षुधादिका परिहार रूप कार्यको करता है वह मोहवान है जैसे हम ससारी जीव मोहवान हैं, श्वेताम्बर का मान्य जिनेन्द्रदेव भी भोजनादि कार्य करता है अत. वह निर्मोही सिद्ध नही होता फिर उसमे आप्तपना कैसे सभव है ? अर्थात् रथ्यापुरुषके समान वह भी आप्त नही कहलावेगा ।

मनुष्योको जो भूख लगती है मोहनीय की अपेक्षाके विना सिर्फ वेदनीयकर्म के निमित्तसे नही लगती, जिससे कि आप मोहसे सर्वथा रहित ऐसे भगवानके भी क्षुधा का सद्भाव सिद्ध कर रहे हैं ? भोजनकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं, इच्छा मोहनीय कर्मका कार्य है, वह वेदनीयका कार्य कैसे हो सकता है ? अन्यथा योनि आदिमे रमने की इच्छा रूप रिरसा भी वेदनीय का ही कार्य कहलायेगा ? क्योकि इच्छारूप कार्य को वेदनीयका सभावित कर लिया और ऐसा होनेपर जैसे केवली भोजन करते हैं वैसे स्त्री सभोग भी करने वाले बन जायेंगे, फिर ईश्वर [शकर] आदिसे केवलीमे कोई विशेषता नही रहेगी । जिसप्रकार आप केवलीमे प्रतिपक्षी वैराग्य भावना द्वारा रिरसा का अभाव होना मानते हैं उसीप्रकार भोजनकी इच्छाका अभाव भी मानना चाहिये । अनुमानसे सिद्ध होता है कि भोजनकी इच्छा प्रतिपक्ष भावनासे नष्ट होती है क्योकि वह आकाक्षा हैं, जैसे स्त्रीकी आकाक्षा प्रतिपक्षभावनासे नष्ट होती है । यदि कहा जाय कि जब प्रतिपक्ष भावना होती है तब बुभुक्षा नही रहती किन्तु उसके अभावमे

च रिरसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि। प्रयोगः—भोजनाकाक्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकाक्षात्वात् स्त्र्याद्याकाक्षावत्। नन्वस्तुतद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः, पुनस्तदभावे प्रवृत्तिरित्येतत् स्त्र्याद्याकाक्षायामपि समानम्। यथा चास्याश्चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वादत्यन्तनिवृत्तिस्तथा प्रकृताकाक्षाया अपि।

अथाकाक्षारूपा क्षुन्न भवति, तेन वीतमोहेप्यस्या. सम्भव, तदप्ययुक्तम्, अनाकाक्षारूपत्वेप्यस्या दु.खरूपतयाऽनन्तसुखे भगवत्यसम्भवात्। तथाहि—यत्र यद्विरोधि वलवदस्ति न तत्राभ्युदितकारणमपि तद्भवति यथाऽत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि वलवत् केवलिन्यनन्तसुखम्। तथा यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धानिवर्त्यपित्तविकाराक्रान्ते न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्यसुख च भगवतीति।

तो बुभुक्षा होती ही है ? सो यह नियम स्त्री सबधी आकाक्षामे भी घटित होगा, अर्थात् जब वैराग्य भावना रहती है तब रिरसा नही होती और जब वह भावना नही रहती तब उन केवलीके स्त्री अभिलाषा हो जाती है ऐसा अनिष्ट एव विपरीत माननेका प्रसंग उपस्थित होता है। अत. जिसप्रकार भगवानमे प्रतिपक्ष भावनाद्वारा रिरसाका अत्यन्ताभाव स्वीकार करते है उसीप्रकार भोजन इच्छाका भी अत्यन्ताभाव स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्वेताम्बर—आकाक्षारूप क्षुधा तो केवलीके नही होती किन्तु अनाकाक्षा रूप क्षुधा होती है, ऐसी क्षुधा वीतरागीमे भी सभव है ?

दिगम्बर—यह बात असत् है, अनाकाक्षारूप क्षुधा माने तो वह भी दु खरूप होनेके कारण अनत सुख स्वरूप भगवानमे होना असभव है, जहांपर जिसका विरोधी वलवान हो जाता है वहा पर कारणके रहते हुए भी वह धर्म नही होता, जैसे अति उष्ण प्रदेशमें शीतलता नही रहती। केवली भगवानमें भी क्षुधाका वलवान विरोधी अनत सुख विद्यमान है अत. क्षुधा वाधा नही हो सकती। दूसरा अनुमान प्रमाण भी है कि जिसके कार्यका विरोधी अनिवर्त्य रहता है वह अविकल रहते हुए भी स्वकार्यको नही कर पाता, जैसे श्लेष्मा आदिका जो विरोधी है एवं अनिवर्त्य है [हटाने योग्य नही है] ऐसा पित्तका विकार जब किसी व्यक्तिके हो जाता है तब उस व्यक्ति को दही आदि पदार्थ श्लेष्माकारक नही हो पाते है, वैसे ही वेदनीय कर्मके फलका विरोधी

अस्तु वा वेद्य तत्र बुभुक्षाफलप्रदायि, तथापि-बुभुक्षात समवसरणस्थित एवासौ भुक्ते, चर्यामार्गेण वा गत्वा ? प्रथमपक्षे मार्गस्तेन नाशित स्यात्। कथ च बुभुक्षोदयानन्तरमाहारासम्पत्तौ ग्लानस्य यथावद्बोधहीनस्य मार्गोपदेशो घटेत ? अथ तदुदयानन्तर देवास्तत्राहार सम्पादयन्ति, न, अत्र प्रमाणाभावात्। 'आगम' इति चेन्न, उभयप्रसिद्धस्यास्याप्यभावात्। स्वप्रसिद्धस्य भावेपि नातस्तत्सिद्धिः, 'भुक्त्युपसर्गाभाव' इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य भावात्। अथ चर्यामार्गेण गत्वासौ भुक्ते, तत्रापि किं गृह गृह गच्छति, एकस्मिन्नेव वा गृहे भिक्षालाभ ज्ञात्वा प्रवर्त्तते ? तत्राद्यपक्षे भिक्षार्थी गृह गृह पर्यटतो जिनस्याज्ञानित्वप्रसङ्ग । द्वितीयपक्षे तु भिक्षाशुद्धिस्तस्य न स्यात्। कथ चासौ मत्स्यादीन् व्याधलुब्धकप्रभृतिभि सर्वत्र सर्वदा व्याहन्यमानान्प्राणिनस्तेषा पिशितानि च तथाऽशुच्यादीश्चार्थान् साक्षात्कुर्वन्नाहार गृह्णीयात् ? अन्यथा निष्करुण. स्यात्। जीवाना हि वध

एव अनिवर्त्य ऐसा अनत सुख केवली भगवानके हुआ करता है अत उनके क्षुधा बाधा नही होती।

यदि माना जाय कि केवलीमे वेदनीय कर्म बुभुक्षा रूप फलको देता ही है तो प्रश्न होता है कि वे भगवान भूख लगने पर-समवशरणमे बैठकर भोजन करते हैं, अथवा चर्यासे जाकर गृहस्थके यहा भोजन करते हैं ? प्रथम पक्ष माने तो केवली स्वय ही मार्गका [मोक्षमार्गका] नाश करनेवाले कहलाये। तथा भूख लगने पर यदि आहार प्राप्त नही हुआ तो शक्तिहीन हुए उन भगवानके वास्तविक बोध—सुधबुध तो रहेगी नही, फिर वे मोक्षमार्गका उपदेश किसप्रकार दे सकेंगे।

श्वेताम्बर—भगवानके भूख लगते ही देवगण वहा आहार को करा देते हैं।

दिगम्बर—ऐसा नही हो सकता, क्योंकि इसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है, आगम प्रमाण है ऐसा कहो तो वह भी अपन दोनो को मान्य हो ऐसा नही है, स्वमान्य आगमके होनेपर भी उससे उक्त विषय सिद्ध नही होता, क्योंकि हमारे यहा "केवली भगवानके भोजन और उपसर्ग नही होता" ऐसा प्रामाणिक आगम मौजूद है। दूसरा पक्ष—चर्यासे जाकर भोजन करते हैं सो उसमे प्रश्न होता है कि घर घरमे भिक्षाके लिये घूमते है अथवा जिसमे भिक्षा लाभ होना है उसी एक घरमें जाते है प्रथम विकल्प कहो तो घर घरमे भिक्षाके लिये घूमते हुए उन भगवान के अज्ञानी होनेका प्रसग आता है। दूसरा विकल्प कहो तो केवलीके भिक्षाशुद्धि नही रहेगी, क्योंकि जहां आहार बढिया मिलेगा वही चले जाते है। तथा केवलज्ञानी तो

विष्ठादिकं च साक्षात्कुर्वन्तो व्रतशीलविहीना अपि न भुञ्जते, भगवास्तु व्रतादिसम्पन्नस्तत्साक्षात्कुर्वन् कथं भुञ्जीत ? अन्यथा तेभ्योप्यसौ हीनसत्त्व स्यात् ।

यदप्युच्यते–यत्किञ्चिद्दृष्ट शुद्धमशुद्ध तत्स्मरन्तो यथास्मदादयो भोजन कुर्वन्ति तथा केवली साक्षात्कुर्वन्निति, तदप्युक्तिमात्रम्, न ह्यस्मदादीना परमचारित्रपदप्राप्तेनाशेषज्ञेन भगवता साम्यमस्ति । अस्मदादयोपि हि यथा(यदा)कथञ्चित्किञ्चिदशुद्ध वस्तु दृष्टं स्मरन्तो भोजनपरित्यागेऽसमर्थास्तद्भुञ्जते तदा तद्दोषविशुद्ध्यर्थं गुरुवचनादात्मान निन्दन्त प्रायश्चित्तं कुर्वन्ति । ये तु तत्त्यागे समर्थाः पिण्डविशुद्धावुद्यतमनसो निर्वेदस्य परा काष्ठामापन्नास्त्यक्तशरीरापेक्षा जितजिव्हा अन्तरायविषये निपुणमतयस्ते स्मरन्तोपि न भुञ्जते ।

सकल चराचर जगतको जानते है अत मत्स्यादिको मारते हुए धीवरादिको देखकर एवं उनके मासको देखकर तथा अशुचि विष्ठा आदि मलोको देखकर किसप्रकार आहार कों कर सकेंगे ? अर्थात् नही कर सकते । यदि करते है तो वे निर्दयी कहलायेगे । हम साक्षात अनुभव करते हैं कि जो पुरुप व्रत शील आदिका पालन भी नही करते किन्तु जीवोका वध होता देख या विष्ठादिको देखकर भोजन नही करते फिर भगवान तो व्रत शील सपन्न है, वे उन पदार्थोको साक्षात् देखते हुए भोजन कैसे करेगे, नही कर सकते । अन्यथा उन जीवोसे भी हीन शक्तिक कहलायेगे ।

श्वेताम्बर–जिसप्रकार हम लोग जो कुछ शुद्ध या अशुद्ध वस्तुका स्मरण करते हुए भोजन को कर लेते है उसीप्रकार केवली उनको साक्षात् देखते हुए भोजन कर लेते हैं ।

दिगम्बर–यह कथन असत् है, हम जैसे रागी छद्मस्थ जीवोके और परम चारित्र पदको प्राप्त सर्वज्ञ भगवानके समानता नही हो सकती । हम लोगोमे भी बहुत से सयमी महानुभाव जब किसी प्रकारसे किसी अशुद्धवस्तुका स्मरण हो आता है तब भोजनका त्याग करनेमे असमर्थ होनेसे उसे कर तो लेते है किन्तु फिर उस दोषकी शुद्धिके लिये गुरुके समक्ष अपनी निंदा करते हुए प्रायश्चित लेते है । तथा बहुतसे महानुभाव साधु भोजन त्यागमे समर्थ है, पिडशुद्धि अर्थात् एषणा समितिके पालन करनेमे दक्ष, वैराग्यकी चरम काष्ठाको प्राप्त, शरीरकी उपेक्षा करनेवाले, जिन्होने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है, तथा बत्तीस अतराय पालनेमे कुशल है वे साधु उन विष्ठा आदि अशुचि पदार्थका स्मरण आनेपर आहार नही करते, अत कर लेते हैं ।

किञ्च,-असौ भोजन कुर्वाण किमेकाकी करोति, शिष्यैर्वा परिवृत ? यदि एकाकी, पश्चाल्लग्नान् शिष्यान्विनिवार्य श्रावकाना गृहे गत्वा भुंक्ते तर्हि दीन स्यात्। अथ तै परिवृत, तर्हि सावद्यप्रसङ्गः।

किञ्च, असौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिक करोति वा, न वा ? करोति चेत्, अवश्य दोषवान् सम्भाव्यते, तत्करणान्यथानुपपत्ते। न करोति चेत्, तर्हि भुजिक्रियात समुत्पन्न दोष कथ निराकुर्यात् ? आहारकथामात्रेणापि ह्यप्रमत्तोपि सन् साधु प्रमत्तो भवति, नार्हन्भुञ्जानोपीति श्रद्धामात्रम्। प्रमत्तत्वे चास्य श्रेणितः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वम्।

किमर्थं चासौ भुंक्ते-शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानध्यानसयमससिद्ध्यर्थं वा, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं

तथा श्वेताम्बर सम्मत केवली भोजन करते है सो अकेले करते हैं अथवा शिष्योसे परिवृत होकर करते है ? अकेले करते है तो अपने पीछे लगे हुए शिष्योको रोककर एकाकी श्रावकके घर जाकर भोजन करनेसे दीन जैसे कहे जायेंगे। तथा शिष्योसे परिवृत्त होकर भोजन करते है तो सावद्य दोष का प्रसग आता है। केवली भगवान आहारके अनतर प्रतिक्रमणादि करते हैं या नही ? करते हैं तो सदोष सिद्ध हुए। क्योकि दोष युक्त व्यक्ति ही प्रतिक्रमण करते हैं। यदि कहे कि वे प्रतिक्रमण तो नही करते तो भोजन क्रियासे सजात दोषको किसप्रकार दूर कर सकेंगे ? जब कि भोजन कथाको करनेमात्रसे अप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती साधु प्रमत्त गुणस्थानमे आजाते हैं तब अर्हंत केवली साक्षात् भोजन करते हुए भी प्रमत्त नही होते, यह कहना तो श्रद्धा मात्र है यदि आहार करते हुए केवली प्रमत्त हो जाते है ऐसा मानते हैं तब तो वे श्रेणिसे भी नीचे गिर गये ? फिर केवलज्ञानी कैसे रहे। तथा केवली भगवान किस लिये भोजन करते है ? शरीर पुष्टिके लिये, ज्ञान ध्यान एव सयमकी सिद्धिके हेतु, क्षुधावेदनाके परिहारके लिये, अथवा प्राणरक्षाके लिये ? शरीर पुष्टिके लिये भोजन करना आवश्यक नही, क्योकि लाभातराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रतिक्षण दिव्य विशिष्ट परमाणुओका लाभ भगवानके होता ही रहता है, उन्हीसे शरीर पुष्ट बना रहता है। तथा शरीर पुष्टि हेतु भगवान आहार करते है तो वे निर्ग्रन्थ कहा रहे ? वे तो प्राकृत (हीन)-पुरुष सदृश हो गये। ज्ञानादिकी सिद्धिके लिये आहार करना भी बनता नही, उनके तो सकल पदार्थ विषयक अक्षय अनतज्ञान प्राप्त हो चुका है, सयम भी यथाख्यात चारित्र नामा प्राप्त है, और ध्यान तो उनके होता नही

वा, प्राणत्राणार्थं वा ? न तावच्छरीरोपचयार्थम्, लाभान्तरायप्रक्षयात्प्रतिसमय विशिष्टपरमाणुलाभतस्तत्सिद्धे। तदर्थं तद्ग्रहणे चासौ कथ निर्ग्रन्थ स्यात् प्राकृतपुरुषवत् ? नापि ज्ञानादिसिद्ध्यर्थम्, यतो ज्ञान तस्याखिलार्थविषयमक्षयस्वरूपम् सयमश्च यथाख्यातः सर्वदा विद्यते। ध्यान तु परमार्थतो नास्ति निर्मनस्कत्वात्, योगनिरोधत्वेनोपचारतस्तत्रास्य सम्भवात्। नापि प्राणत्राणार्थम्, अपमृत्युरहितत्वात्। नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्या. सम्भवाभावस्योक्तत्वात्।

ननु भगवतो भोजनाभावे कथम् 'एकादश जिने परीषहा.' इत्यागमविरोधो न स्यात् ? तदसत्, तेषा तत्रोपचारेणैव प्रतिपादनात्, उपचारनिमित्त च वेदनीयसद्भावमात्रम्। परमार्थतस्तु तत्र तेषा सद्भावे क्षुदादिपरीषहसद्भावाद्बुभुक्षावद् रोगवधतृणस्पर्शपरीषहसद्भावान्महद्दु ख

क्योंकि भावमन नही है। सिर्फ योग निरोधादि को देखकर ध्यानको उपचारसे माना है। प्राणरक्षाके लिये भोजन करना भी आवश्यक नही वे तो अपमृत्यसे रहित है। क्षुधा की पीडाको दूर करनेके लिये भोजन करते है ऐसा कहना भी व्यर्थ है क्योकि वे अनत सुखी हैं, अनतसुख अनतवीर्य वाले भगवानके क्षुधाकी पीडा होती ही नही ऐसा अभी सिद्ध हो चुका है।

श्वेताम्बर–भगवानके भोजन नही होता ऐसा माने तो उनके "एकादश परिषह होती है" ऐसे आगम वाक्यसे विरोध प्राप्त होगा ?

दिगम्बर–ऐसा नही होगा, केवलीके ग्यारह परीषह उपचारसे कही है, उपचार भी इसलिये किया है कि वेदनीयकर्म का सद्भाव है, परमार्थसे वैसा माना जाय तो जैसे क्षुधा परीषहके सद्भावमे भूख लगती है वैसे रोग, वध, तृणस्पर्श आदि परीषहो के होनेसे तज्जन्य पीडा भी होगी ? इसतरह उनके महान दु खोका सद्भाव सिद्ध होगा। ऐसे दु खित पुरुष केवली भगवान नही कहला सकते, वे तो हमारे सदृश सिद्ध हुए।

यदि भगवान भोजन करते है, स्पर्शनेन्द्रियादि द्वारा शीतादि वस्तुओका अनुभव करते है तो वे मतिज्ञानी कहलाये, केवलज्ञानी कहा सिद्ध हुए ? केवलज्ञानी केवलज्ञान द्वारा भोजनादिका अनुभव करते है ऐसा कहे तो जगतके यावन्मात्र भोजनादि पदार्थोका एव पराये व्यक्ति द्वारा अनुभूत पदार्थोका अनुभोक्ता बन जायेगे।

स्यात्, तथा च दुःखितत्वान्नासौ जिनोऽस्मदादिवत्। तथा भोजनं रसनेन शीतादिकं च स्पर्शनादिनेन्द्रियेण यद्यसावनुभवेत्, तर्हि भगवतो मतिज्ञानानुषङ्गः। अथ केवलज्ञानेन, तत्रापि सर्वं भोजनादिकं परशरीरस्थमप्यस्यानुषज्यते। न चात्मशरीरस्थमेवास्य तन्नान्यदित्यभिधातव्यम्, भगवतो वीतमोहस्य स्वपरशरीरमतिविभागाभावात्।

यच्चोपचारतोप्यस्यैकादश परीषहा न सम्भाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य, 'एकेनाधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने' इति व्युत्पत्तेः। प्रयोगः–भगवान् क्षुदादिपरीषहरहितोऽनन्तसुखत्वात्सिद्धवत्।

किञ्च, भोजनं कुर्वाणो भगवान् किल लोकैर्नावलोक्यते चक्षुषेत्यभिधीयते भवता। तत्रादर्शनेऽयुक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्त इति कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा? तत्राद्यपक्षे पारदारिकवद्दीनवद्वा दोषसम्भावनाप्रसङ्गः। अन्धकारस्तु न सम्भाव्यते, तद्देहदीप्त्या तस्य निहतत्वात्। विद्याविशेषोपयोगे चास्य निर्ग्रन्थत्वाभावः। कथं चादृश्याय

भगवान सिर्फ स्वशरीर सबद्ध भोजन का अनुभव करते है अन्यके शरीर सबद्ध भोजन का नही, ऐसा कहना भी असत् है, वीतरागी भगवानके स्वका शरीर और परका शरीर ऐसा भेद होता नही।

जिनेन्द्रदेवके उपचारसे भी एकादश परीपह नही होती ऐसा अभिप्राय होवे तो "एकादश जिने" इस तत्वार्थ सूत्रका अर्थ निषेधपरक होगा। एकसे अधिक दस परीषह केवलीके नही होती ऐसी व्युत्पत्ति होगी।

अनुमान प्रमाण–भगवान क्षुधादि परीषहो से रहित है, क्योकि वे अनतसुखके भोक्ता हैं, जैसे कि सिद्ध भगवान है।

किंच, केवली भोजन करते हुए अन्य लोगोको दिखायी नही देते ऐसा आपका कहना है, सो क्या कारण है, अयुक्त भोजन करने के कारण एकातका आश्रय लेकर खाते हैं अथवा गाढ अधकारमे स्थित होकर खाते हैं अत दिखायी नही देते? अथवा विद्या विशेष द्वारा स्वयको तिरोभूत कर खाते है? प्रथम पक्ष माने तो परदारासेवी सदृश नीच या दीन पुरुष सदृश केवलीके भी दोषकी सभावना हुई? तभी तो एकात मे अभोग्यका भक्षण किया। दूसरापक्ष अधकारमे स्थित होकर खानेकी बात असभव है, क्योकि केवली जिनेन्द्रके स्वयके शरीरकाति द्वारा अधकार नष्ट हो चुका है। तीसरा पक्ष–विद्या द्वारा स्वको तिरोभूत कर भोजन क्रिया माने तो उनके निर्ग्रन्थता समाप्त होती है। तथा ऐसे अदृश्य भगवानको दातार आहार को कैसे देगे? इन सब दोषोको

तस्मै दान दातृभिर्दीयते ? अथातिशयविशेष । कश्चित्तस्य येन भुञ्जानो नावलोक्यते, तर्हि भोजनाभावलक्षण एवास्यातिशयोस्तु किं मिथ्याभिनिवेशेन ? ततो जीवन्मुक्तस्यात्मनोऽनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमिच्छता कवलाहाररहितत्वमेवैष्टव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

दूर करनेके लिये कहा जाय कि जिनेन्द्रका ऐसा अतिशय विशेष है कि वे खाते हुए किसीको दिखायी नही देते, तब तो विषय व्यवस्थित होगा, जिसप्रकार भोजन करते हुए दिखायी नही देनारूप अतिशय मान सकते है उसीप्रकार भोजनका अभावरूप अतिशय क्यो न मान सकते ? अवश्य ही मान सकते है, व्यर्थके हटाग्रह से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । इसलिये जीवन्मुक्त अवस्थामे भगवान जिनेन्द्रके अनंत चतुष्टय रूप स्वभाव स्वीकार करते हैं तो वे कवलाहार रहित है ऐसा मानना भी अत्यावश्यक है अब इस विषयसे विराम लेते है ।

।। इति कवलाहारविचार समाप्त ।।

कवलाहार विचार का सारांश

पूर्वपक्ष–श्वेताम्बर जैन केवलज्ञान होने के अनतर भी भगवान भोजन करते हैं ऐसा मानते है, उनका कहना हैं कि जैसे हमारा औदारिक शरीर है वैसे भगवान का भी औदारिक शरीर है अत उसकी आहार के बिना स्थिति नही रह सकती है। इस कथनमे देवो के साथ व्यभिचार भी नही आता है क्योकि उनका शरीर वैक्रियिक है महाशास्त्र तत्वार्थसूत्रमे कहा है कि "एकादश जिने" जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीषह होती है, इनमे भूख प्यास आदि अन्तर्भूत है, इत्यादि सो इस आगम प्रमाण से भगवान के आहार सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष–यह कथन युक्ति युक्त नही है, भगवान आहार करते है तो उनके अनतसुख का अभाव होने से अनत चतुष्टय स्वभाव का नाश होता है, आप कहो कि हमको भोजन करने से जैसे सुख होता हैं तथा शक्ति आती है वैसे भगवान के होता है सो यह कथन अनुचित है, भगवान के तो अनत सुख और शक्ति है अत आहारादि की जरूरत नही है। तथा भगवान के रागद्वेष न होने के कारण भोजन नही करते हैं साधु लोग भी भोजन करते है सो वास्तविक वीतरागी नही हैं अत करते हैं क्योकि उनके तो मोहनीय कर्म मौजूद है। आप केवली के सामान्य आहार मानते हो या कवलाहार हो ? सामान्य आहार मानो तो कोई बाधा नही, क्योकि केवली के (कर्म) नो कर्माहार होना माना ही है। आहार छ तरह का है, कर्माहार, नोकर्माहार, ओजाहार, लेपाहार, मानसिकाहार और कवलाहार, इनमे से भगवान के नोकर्माहार है। भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव यह अतिशय भगवान के केवलज्ञान होते ही प्रगट होते है ऐसा आगम हैं, वेदनीय कर्मका सद्भाव होने से आप केवली के भोजन का होना मानते हो किन्तु यह अयुक्त है, क्योकि वेदनीय कर्म मोहनीय के बिना फल देने मे समर्थ नही है अन्यथा स्त्री भोगादि भी मानने पडेगे। भगवान भोजन करते हैं सो किस प्रकार करते है ? घर घर मे भोजन के लिये घूमते है या एक घर मे भिक्षा लाभ जानकर सीधे चले जाते हैं ? घर घर मे घूमते है तो अज्ञानी दीन हुए, और जानकर एक जगह ही जाते है तो भिक्षा शुद्धि नही रही। समवशरणमे बैठकर भोजन

करेंगे तो मार्ग का नाश हुआ जबकि गृहस्थ भी आयतनो मे भोजनादि नही करते तो भगवान किस तरह करेंगे । देव भोजन देते है इस बात को पुष्ट करने वाला कोई प्रमाण नही है । तथा भगवान भोजन करने के अनन्तर प्रतिक्रमण करते है या नही ? करते है तो सदोप सिद्ध हुए ? जब साधु भोजनकथा करने मात्र से प्रायश्चित के भागी वनते है तो भगवान साक्षात भोजन करते हुए भी निर्दोष है यह बात श्रद्धा मात्र है । भगवान भोजन करते समय किसी को दिखत नही ऐसी आपकी युक्ति विचार करने पर शतधा जीर्ण हो जाती है इत्यादि अनेक दोपो से बचने के लिये केवली कवलाहार रहित ही है ऐसा निर्दोष पक्ष स्वीकार करना चाहिये ।

।। कवलाहारविचार का सारांश समाप्त ।।

७

मोक्षस्वरूपविचारः

ननु च 'अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभो मोक्ष' इत्ययुक्तम्, बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वात्तस्य। तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणाना सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् प्रदीपसन्तानवत्। न चायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात्। नापि विरुद्ध, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिक, पक्षसपक्षवद्विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्ते। नापि कालात्ययापदिष्ट, विपरीतार्थोपस्थापकयो प्रत्यक्षागमयोरसम्भवात्। नापि सत्प्रतिपक्ष, प्रतिपक्षसाधनाभावात्।

सर्वज्ञ सिद्धि के अनतर जैनाचार्य ने प्रतिपादन किया था कि सर्वज्ञ भगवान के अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख एव अनतवीर्य इसप्रकार अनत चतुष्टय स्वरूप स्वभावका लाभ होता है इसी स्वरूप लाभको मोक्ष कहते है, इसतरह मोक्षका स्वरूप प्रतिपादित होने पर वैशेषिक अपना पक्ष उपस्थित करता है—

वैशेषिक—अनत चतुष्टय स्वरूप आत्माका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका लक्षण अयुक्त है, मोक्ष तो बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोका होने से होता है। गुणोका नाश कैसे होता है इस बातको अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करते है–बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार इन गुणोके सतानका सर्वथा उच्छेद हो जाता है, क्योकि ये सब सतानरूप है [इनमे सतानपना इसप्रकार होता है–धर्म अधर्म से बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे सस्कार, सस्कारसे इच्छा और द्वेष, इच्छाद्वेष से प्रयत्न, प्रयत्नसे सुख दु.ख उत्पन्न होते है] जैसे प्रदीपकी सतान नष्ट होती है। यह सतानत्व हेतु असिद्ध नही है, क्योकि पक्षमे विद्यमान है, विरुद्ध भी नही है, क्योकि सपक्ष दीपक आदिमे विद्यमान है। पक्ष और सपक्ष रहते हुए भी विपक्षभूत परमाणु आदिमे नही रहन से अनैकान्तिक भी नही है। इस सतानत्व हेतुके अर्थको विपरीत

ननु सन्ततोच्छेदरूपेपि मोक्षे हेतुर्वाच्यो निर्हेतुकविनाशानभ्युपगमात्, इत्यप्यचोद्यम्, तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वोपपत्तेः । दृष्टं च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम् । ननु चातत्त्वज्ञानस्यापि तत्त्वज्ञानोच्छेदे सामर्थ्यं दृश्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधित्वेन मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानोच्छेदप्रतीतेः, इत्यप्ययुक्तम्, यतो नानयोरुच्छेदमात्रमभिप्रेतम् । किं तर्हि ? सन्तानोच्छेदः । यथा च सम्यग्ज्ञानान्मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदो नैव मिथ्याज्ञानात्सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, अस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात् । निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो न सम्भवन्ति कारणाभावे कार्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते । तदभावे च धर्मा-

---

सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण न होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट भी नही है एव प्रतिपक्ष साधक अन्य हेतुके नही होनेसे सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी नही है ।

शका—सतानका नाश होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना तो ठीक है किन्तु उस मोक्षके होनेमे कारण कौनसा है, कारणके विना नाशका होना स्वीकृत नही है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही, तत्त्वज्ञानको मोक्षका कारण माना है तत्वज्ञानसे विपरीतज्ञानका नाश होता है और क्रम से मोक्ष प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होनेपर मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, उसके नष्ट होनेसे रागादि भावका अभाव हो जाता है, उससे मन वचन कायका प्रयत्न [क्रिया] नष्ट होता है और प्रयत्नके नष्ट होते ही धर्म अधर्म समाप्त हो जाते हैं, इसप्रकार सतान उच्छेद का क्रम है । व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सीप आदिमे चांदीका भ्रम रूप मिथ्याज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञानद्वारा नष्ट होता है ।

शका—जैसे सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है वैसे मिथ्याज्ञानसे सम्यग्ज्ञान भी नष्ट होते हुए देखा जाता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञानमे मिथ्याज्ञानका नाश करनेकी सामर्थ्य है तो मिथ्याज्ञानमें सम्यग्ज्ञानका नाश करनेकी सामर्थ्य है, ज्ञान तो ज्ञानातर का विरोधी होता ही है, अत मिथ्याज्ञानके उत्पन्न होनेपर सम्यग्ज्ञानका नाश होना भी शक्य है ?

समाधान—यह कथन असत् है, हमको यहां पर दोनोका उच्छेदमात्र सिद्ध नही करना है किन्तु सतानोच्छेद सिद्ध करना है । सम्यग्ज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञानका

धर्मयोरनुत्पत्ति । आरब्धशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुखदु खफलोपभोगात्प्रक्षय. । अनारब्धतत्कार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षय. । तथा चागम —

"नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इति ।

अनुमान च, पूर्वकर्मण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरकर्मवत् । न चोपभोगात्प्रक्षये कर्मान्तिरस्यावश्य भावात्ससारानुच्छेद , समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्योपात्तकर्मप्रक्षयात्, भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलत्वाच्च ससारोच्छेदोपपत्ते: । अनुसन्धान हि रागद्वेषौ 'अनुसन्धीयते गत चित्तमाभ्याम्' इति व्युत्पत्ते: । न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासम्भवाद्भोगानुपपत्ति , तदुपभोग विना

संतानोच्छेद तो सभव है किन्तु मिथ्याज्ञानद्वारा सम्यग्ज्ञानका संतानोच्छेद होना सभव नही है, उसका कारण यह है कि सम्यग्ज्ञान बलशाली है ।

जब मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब तन्निमित्तक रागद्वेष भी उत्पन्न नही हो पाते, क्योकि कारणके अभावमे कार्य नही होता, रागादिके अभावमे मन वचन कार्यका प्रयत्न समाप्त होता है उसके अभावमे धर्म अधर्म नष्ट हो जाते हैं । वर्त्तमान मे जो धर्म अधर्मका कार्यरूप शरीर इन्द्रियादि है उनका सुखदु ख रूप फल भोगकर नाश हो जाता है । वर्त्तमानमे जिनका कार्य प्रारभ नही हुआ है ऐसे धर्म अधर्म आत्मा मे अवस्थित रहते हैं, उनका नाश तो फल भोगनेके अनतर होगा "नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतै रपि" ऐसा आगम वाक्य भी पाया जाता है । इसका समर्थक अनुमान प्रमाण–पूर्व सचित कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है, क्योकि वह कर्मरूप है, जैसे जिसने शरीर आदिरूप फल देना प्रारभ कर दिया है वह कर्म भोगकर नष्ट होता है। कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है ऐसा एकात माने तो जब उपभोग करते हैं तब अन्य कर्म अवश्य बधता है अत ससार भ्रमणका नाश कैसे होगा ? ऐसी आशका भी नही करना चाहिये, अन्य कर्म नही बधनेका कारण यह होता है कि प्रथम तो समाधि के बलसे जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा पुरुष कर्मकी सामर्थ्यको जानकर युगपत् सपूर्ण शरीरोका निर्माण करके अखिल कर्मोका भोग कर लेता है, उस क्रियासे पूर्वकृत कर्म नष्ट होते हैं और आगामी कर्मोकी उत्पत्तिका कारण जो मिथ्याज्ञान एवं तज्जन्य अनुसधान [विकार] है वह तत्वज्ञानके सद्भावमे रहता नही, इसप्रकार उस पुरुषके ससार का उच्छेद हो जाता है । यहा अनुसधान शब्दका अर्थ रागद्वेष है, "अनुसधीयते

हि कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेः तत्त्वज्ञानिनोपि कर्मक्षयार्थितया प्रवृत्ते र्वैद्योपदेशेनातुरवदौषधाचरणे। यथैव ह्यातुरस्यानभिलषितेप्यौषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः, तद्व्यतिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेस्तथात्रापि।

ननु तत्त्वज्ञानिना तत्त्वज्ञानादेव सञ्चितकर्मप्रक्षय इत्यप्यागमोस्ति—

"यथैधासि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"

[भगवद्गी० ४।३७] इति।

गत चित्तमाभ्यां इति अनुसधानं" इसप्रकार अनुसधान शब्दकी निरुक्ति है, इसका अर्थ जिनके द्वारा चित्त नाना विकल्पोमें उलझा रहता है उसको अनुसधान कहते हैं। मिथ्याज्ञानका अभाव हो जाने पर अभिलाषा समाप्त होती है अतः तत्त्वज्ञानीके उपभोग होना असभव है ऐसी शका भी नही करनी चाहिये, उपभोग किये बिना कर्मों का नाश नही होता अत तत्वज्ञानी पुरुष कर्मक्षयार्थ फलोपभोगमे प्रवृत्त होते है, जैसे रोगको दूर करनेका इच्छुक रोगी वैद्यके कथनानुसार औषधिका उपभोग करता है, जिस तरह उस रोगीको औषधिकी रुचि नही है फिर भी रोगके परिहारार्थ उसका सेवन करता है उसके सेवन विना रोग नष्ट नही होता, ठीक इसीप्रकार तत्वज्ञानीके कर्मोंका नाश उसके फल भोगे विना नही होता अतः विराग भावसे फलोपभोग करके उनको निर्जीर्ण करते हैं।

शका—तत्त्वज्ञानियोके तत्वज्ञानमात्रसे ही कर्मोका नाश होता है ऐसा आगम मे लिखा है, जैसे—प्रदीप्त हुई अग्नि ईंधनोको क्षणमात्रमे भस्मसात् कर देती है, वैसे तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि सकल कर्मेन्धनको भस्मसात् करती है यह आगम वाक्य और पूर्वोक्त नाभुक्त क्षीयते कर्म, इत्यादि वाक्य इनमे परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन होनेसे एक ही विषयमें वे आगम वाक्य प्रमाणभूत कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह शका अयुक्त है, तत्त्वज्ञान कर्मोका नाश करनेमे साक्षात् प्रवृत्ति नही करता, वह तो कर्मोकी शक्ति ज्ञात कराता है, कर्मशक्तिको ज्ञात कर लेनेसे अखिल शरीरोकी उत्पत्ति होकर फलोपभोग होता है, फिर कर्मोंका विध्वस हो पाता है। अत तत्त्वज्ञानके लिये अग्निकी उपमा उपचारसे है। इसप्रकारका पूर्वोक्त आगम वाक्योका व्याख्यान करनेसे विरोध समाप्त होता है। इन आगम वाक्योंका अर्थ कोई

तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यम् ? इत्ययुक्तम्, तत्त्वज्ञानस्य साक्षात्तद्विनाशे व्यापाराभावात्। तद्धि कर्मसामर्थ्यविगमतोऽशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्मणा विनाशे व्याप्रियते इत्यग्निरिवोपचर्यते ज्ञानमित्यागमव्याख्यानादविरोध.। न चैतद्वाच्यम्–'तत्त्वज्ञानिना कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानादितरेषा तूपभोगात्' इति, ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात्, फलोपभोगात्तु तत्प्रक्षये तत्सद्भावात्।

अन्ये तु मिथ्याज्ञानजनितसस्कारस्य सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीराद्यारम्भकाणीति मन्यन्ते, तेषामनुत्पादितकार्यस्यादृष्टस्याप्रक्षयान्नित्यत्वसङ्ग।अनागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तत्त्वज्ञानिनो नित्यनैमित्तिकानुष्ठान किमर्थमिति चेत् ? प्रत्यवायपरिहारार्थम्।

इसप्रकार करते है कि तत्त्वज्ञानी पुरुषके तो तत्वज्ञान द्वारा कर्मोका नाश होता है और तत्त्वज्ञान रहित पुरुषके फलोपभोग द्वारा कर्मो का नाश होता है, सो यह अर्थ अयुक्त है। तत्त्वज्ञान मात्रसे कर्मनाश हो जाता है ऐसा कथन किसी उदाहरण द्वारा पुष्ट नही हो पाता, जिससे वह सिद्ध हो। फलोपभोगद्वारा कर्म नाश होनेमे तो आगम तथा दृष्टात दोनो प्रसिद्ध है।

कोई महानुभाव इसतरह प्रतिपादन करते है–मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए सस्कार जिसमे सहकारी थे उनका जब अभाव हो जाता है तब विद्यमान रहते हुए भी वे कर्म अन्य जन्ममे शरीर इन्द्रिय आदिको उत्पन्न नही कर पाते है। किन्तु यह प्रतिपादन अयुक्त है, यदि कर्म अपने कार्यको उत्पन्न नही करते तो उनका नाश होना असभव होनेसे नित्य ही अवस्थित रह जायेगे।

शका–तत्त्वज्ञानियोके आगमी धर्म अधर्म उत्पन्न नही होते है तो वे नित्य नैमित्तिक क्रियानुष्ठान किसलिये करते है ?

समाधान–विघ्न बाधाये उपस्थित न हो एव दुष्कर्म न हो इस हेतुसे तत्त्वज्ञानी क्रियानुष्ठान किया करते हैं।

शका–तत्त्वज्ञानीके मिथ्याज्ञानका अभाव होनेसे दुष्कर्म भी नही है फिर किसका परिहार करना है ?

समाधान–ऐसी शका ठीक नही, तत्त्वज्ञानीके मिथ्याज्ञानके अभावमे मात्र निषिद्ध आवरण निमित्तक प्रत्यवाय नही होते किन्तु विहित अनुष्ठान निमितक

न च मिथ्याज्ञानाभावे दुष्कर्मणोऽभावात् कस्य परिहारार्थं तदित्यभिधातव्यम्; यतो मिथ्याज्ञानाभावे निषिद्धाचरणनिमित्तस्यैव प्रत्यवायस्याभावो न विहितानुष्ठाननिमित्तस्य,

"अकुर्वन्विहित कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" [ ] इत्यागमात्। ततस्तदनुष्ठान तत्परिहारार्थं युक्तम्। तदुक्तम्—

"नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया।
मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयो.॥ १॥

[मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११०]

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञान च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥ २॥
अभ्यासात्पक्वविज्ञान. कैवल्य लभते नर।
काम्ये निषिद्धे च पर प्रवृत्तिप्रतिषेधतः॥ ३॥" [ ]

प्रत्यवाय तो सभावित है। "अकुर्वन् विहित कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" अर्थात् विहित अनुष्ठानको नही करने वाले व्यक्ति दुष्कर्मसे बध जाते है। ऐसा आगम वाक्य है, अतः प्रत्यवायके परिहारार्थ विहितानुष्ठान करना आवश्यक है। कहा भी है ज्ञानी पुरुष नित्य नैमित्तिक क्रिया प्रत्यवायके परिहार हेतु करता है, मोक्षार्थी काम्य तथा निषिद्ध अर्थात् होम आदि शुभ क्रिया तथा ब्राह्मण वध आदि अशुभ क्रिया इनको सर्वथा न करे॥१॥ मोक्षाभिलाषी ज्ञानी नित्य नैमित्तिक क्रिया द्वारा दुरितका क्षय करे, तथा ज्ञानको निर्मल करते हुए उसको विस्तृत करे॥२॥ अभ्यास द्वारा उसका ज्ञान हो जाता है और वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है, उस तत्त्वज्ञानीके प्रथमत ही काम्य और निषिद्ध क्रियाका प्रतिषेध किया गया है॥३॥ स्वर्गका अभिलाषी इसप्रकार की क्रिया करे इत्यादि आगम वाक्यके श्रवणसे हो गयी है यागकी इच्छा जिसके ऐसे पुरुष द्वारा अग्निष्टोम आदि क्रिया की जाती है उसे 'काम्य' कहते है। सपूर्ण विशेष गुणोका उच्छेद होकर विशिष्ट आत्म स्वरूप जो निर्वाण होता है उसे कैवल्य कहते हैं।

शका—मिथ्याज्ञानका नाश होनेसे रागादिका नाश होता है इत्यादि क्रमसे होनेवाला विशिष्ट आत्मस्वरूप निर्वाण तत्त्वज्ञानका कार्य होनेसे अनित्य है?

समाधान—ऐसा नही है, आपने अनित्य किसको कहा विशेष गुणोके उच्छेदको या उस उच्छेदमे विशिष्ट आत्माको? विशेष गुणोके उच्छेदको अनित्य कहना तो ठीक

'स्वर्गकामः' इत्याद्यागमजनितकामेन यागाभिलाषेण निर्वर्त्यं हि काम्यमग्निष्टोमादि। कैवल्य तु सकलविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूप निर्वाणम्। न च विपर्ययज्ञानप्रध्वसादिक्रमेण तद्विशिष्टात्मस्वरूपनिर्वाणस्य तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्व वाच्यम्, यतो विशेषगुणोच्छेदस्यानित्यत्वमापाद्यते, तद्विशिष्टात्मनो वा ? न तावद्विशेषगुणोच्छेदस्य, अस्य प्रध्वसाभावरूपत्वात्। कार्यवस्तुनो ह्यनित्यत्व प्रसिद्धम्। तद्विशिष्टात्मनश्च वस्तुत्वेपि कार्यत्वाभावान्नानित्यत्वम्। न च बुद्ध्यादिविनाशे गुणिनस्तथाभावो युक्तः, तयोरत्यन्तभेदात्। तत्तादात्म्ये त्वय दोष स्यादेव।

अथ मोक्षावस्थाया चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते इत्यानन्दरूपो मोक्षोऽभ्युपगन्तव्य —

"आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" [ ] *इत्यागमात्। आत्मा सुखस्वभावोऽत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च। यद्यदेवविध तत्तत्सुखस्वभावम् यथा*

नही, क्योकि वह प्रध्वसाभाव रूप होनेसे नि स्वरूप है जो कार्यरूप वस्तु होती है उसी के अनित्यपना सभव है। उच्छेदसे विशिष्ट आत्माको अनित्य कहना भी अयुक्त है, क्योकि वह विशिष्ट आत्मा वस्तुरूप होते हुए भी किसीका कार्य नही होनेसे अनित्य नही है। तथा बुद्धि आदि गुणोका नाश होनेसे गुणी आत्मा नष्ट हो जाय सो बात नही है, क्योकि गुणीसे गुण अत्यन्त भिन्न होता है। गुण गुणीका तादात्म्य स्वीकार करते तो उक्त दोषकी सभावना थी। इसप्रकार वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप है।

वेदाती—वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्षावस्थामे बुद्धि आदि गुणोका ही अभाव है किन्तु हमारा कहना है कि वहापर चैतन्य भी अभाव होता है इसी कारणसे प्रेक्षावान उस अवस्थाके लिये प्रवृत्ति नही करते। मोक्ष तो आनदरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—"आनद परम ब्रह्म का स्वरूप है और वह मोक्षमे अभिव्यक्त होता है" इस आगम वाक्यके समान अनुमान भी इसी मोक्ष स्वरूपको सिद्ध करता है—आत्मा सुख स्वभाववाला है, क्योकि वह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है तथा अनन्य रूपसे ग्राह्य हैं, जो जो इसप्रकारका होता है वह वह अत्यन्त सुखस्वभाव वाला होता है, जैसे विषय सम्बन्धी सुख अत्यन्त प्रिय होता है, आत्मा अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय हैं ही अत. सुख स्वभावी है। इसप्रकार आत्मा सुख स्वभावी है यह भलीभाति सिद्ध हुआ।

वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा एवंविधः तस्मात्सुखस्वभाव' इत्यनुमानाच्चास्यानन्दस्वभावताप्रतीतिः, इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतस्तत्सुखं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; तत्स्वभावतयात्मनोप्यनित्यत्वप्रसङ्गात्। नित्यं चेत्; तत्संवेदनमपि नित्यम्, अनित्यं वा ? यदि नित्यम्, मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः तत्सुखसंवेदनयोर्नित्यत्वेनोभयत्र सत्त्वाविशेषात्। स्मरणानुपपत्तिश्च, अनुभवस्यैवावस्थानात्। संस्कारानुपपत्तिश्च, अनुभवस्य निरतिशयत्वात्। करणजन्यसुखेन चास्य संसारावस्थायां साहचर्यग्रहणप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः सदा स्यात्।

अथ धर्माधर्मफलेन सुखादिना शरीरादिना वा नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबद्धत्वेनानुभवाभावान्न मुक्तेतरावस्थयोरविशेषः सदा सुखद्वयोपलम्भो वा, तदयुक्तम्, शरीरादेः सुखार्थत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात्। न हि यद्यदर्थं तत्तस्यैव प्रतिबन्धकं युक्तम्। नापि वैषयिकसुखाद्यनुभवेन तत्प्रतिबन्धः।

वैशेषिक—यह वेदांतीका कथन ठीक नही है, आत्माका सुख अनित्य है या नित्य, अनित्य मानना अशक्य है, क्योकि आत्माके सुखस्वभावको अनित्य स्वीकार करनेपर आत्मा भी अनित्य होवेगा। उस सुखको नित्य स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि उस सुखका अनुभव नित्य ही होता है या अनित्य ? नित्य होनेपर मुक्त और ससार इन दोनो अवस्थाओमे भेद नही रहेगा, क्योकि सुख और सुखानुभव दोनो नित्य होनेसे उभयत्र अवस्थाओमे उनका अस्तित्व समान ही है। अब यदि ससार अवस्थामें भी सुखानुभव सदा हो रहा है तो उसका स्मृति रूप ज्ञान कैसे होवेगा ? क्योकि अनुभवरूप प्रत्यक्षज्ञान सदा विद्यमान है। सस्कार रूप ज्ञान भी सिद्ध नही होगा, क्योकि अनुभवमें निरतिशयता है [सदा एकता है] किन्तु ससारी जीवोमे धारणा रूप सस्कार अवश्य पाया जाता है। संसार अवस्था इन्द्रिय जन्य सुख विद्यमान रहनेसे नित्यसुखके साथ इसका ग्रहण भी अवश्यभावी है अत सदा दो सुखोकी उपलब्धि होनेका अनिष्ट प्रसग प्राप्त होता है।

शका—धर्म अधर्मके फल स्वरूप सुखादि एव शरीरादिके द्वारा नित्य सुखका सवेदन प्रतिहत होता है अत. उसके अनुभव का अभाव होनेसे मुक्तावस्था और ससारावस्थामे समानताका प्रसग या सदा दो सुखानुभवका प्रसग प्राप्त नही होता ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, शरीरादिक तो सुखके सहायभूत है "भोगायतनशरीरम्" अत शरीरादिको सुखका प्रतिबधक कहना असत् है। जो जिसके लिये है वह उसका प्रतिबधक नही होता। विपय जन्य सुखादिके अनुभव द्वारा नित्य सुखका

तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्त; द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात्। न च संसारावस्थाया बाह्यविषयव्यासङ्गाद्विद्यमानस्याप्यनुभवस्यासवेदनम्, तदभावात्तु मोक्षावस्थाया सवेदनमित्यभिधातव्यम्, तदनुभवस्य नित्यत्वेन व्यासङ्गानुपपत्ते। आत्मनो हि व्यासङ्गो रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्ति, इन्द्रियस्याप्येकस्मिन्विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वम्। स चात्रानुपपन्न, सुखवत्तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात्। शरीरादेस्तु प्रतिबन्धकत्वे तदपहन्तुर्हिंसाफल न स्यात्, प्रतिबन्धकविघातकारकस्योपकारकत्वेन लोके प्रतीते।

अथानित्य तत्सवेदनम्, तदोत्पत्तिकारण वाच्यम्। अथ योगजधर्मापेक्ष पुरुषान्त करणसयोगोऽसमवायिकारणम्। ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसम्भवात् कथमसौ तत्सयोगेनापेक्ष्येत यतस्तत्र

प्रतिबन्ध होना भी अशक्य है। नित्य सुख और उसका अनुभव दोनोका अनुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध अथवा विनाशरूप प्रतिबन्ध हो नही सकता, क्योकि सुख और अनुभव नित्य है।

शका–ससार अवस्थामें यह जीव बाह्य विषयमे आसक्त रहता है अत नित्य सुखानुभवके विद्यमान रहते हुए भी उसका सवेदन नही हो पाता, और मोक्ष अवस्था मे बाह्य विषयासक्ति नही होनेसे नित्य सुखका सवेदन होता है?

समाधान–ऐसा कहना ठीक नही, सुखानुभव नित्य होनेसे आत्मादिके विषय व्यासग या आसक्ति नही होना अशक्य है। रूपादि विषयमे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर अन्य विषयमे ज्ञान उत्पन्न नही होना आत्माका व्यासग कहलाता है, तथा एक विषय में ज्ञानको उत्पन्न करनेमे प्रवृत्त होनेपर अन्य विषयमे ज्ञानको उत्पन्न नही करना इन्द्रियका व्यासग कहलाता हैं, ऐसा व्यासग नित्यसुखमे अनुपपन्न है, क्योकि सुखके समान उसका ज्ञान भी सदा विद्यमान रहता है। शरीरादिको नित्य सुखका प्रतिबधक माने तो शरीरका घात करनेवाले हिंसकको हिंसाका फल [पापका दु ख रूप फल] नही मिलेगा, उस हिंसकने सुखका प्रतिबधक स्वरूप शरीरको नष्ट किया है अत वह उपकारक ही कहलायेगा। लोकमे भी यही उक्ति प्रसिद्ध है। नित्य सुखका सवेदन अनित्य हुआ करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस अनित्य सवेंदनकी उत्पत्तिमे हेतु कौन है यह प्रश्न होगा? योगज धर्मकी अपेक्षा लेकर होनेवाला आत्मा और भवका सयोग उस सवेदनकी उत्पत्तिका असमवायी कारण है ऐसा उत्तर ठीक नही है, मुक्त

ततस्तदुत्पत्ति स्यात् ? अथाद्य योगजधर्मापेक्षान्त -करणसयोगो विज्ञान जनयति तच्चापेक्ष्योत्तरोत्तर ज्ञानम्, तदप्ययुक्तम्, न हि शरीरसम्बन्धानपेक्ष विज्ञानमेवान्त करणसयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणं दृष्टम्। न च दृष्टविपरीत शक्य कल्पयितुमतिप्रसङ्गात्। आकस्मिक तु कार्यं न भवत्येव, अहेतोः सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्।

किञ्च, यथा मुक्तावस्थायामनित्यसुखमतिक्रम्य नित्य परिकल्प्यते, तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं शरीरादिकमपि परिकल्पनीयम्। कार्यत्वात् तस्य कथ नित्यत्वधर्माधिकरणत्वम् दृष्टविरोधादप्रमाणकत्वाच्च ? इत्यन्यत्रापि समानम्। न खलु नित्यसुखसाधकत्वेन प्रत्यक्षानुमानागमाना मध्ये किञ्चित्-

---

अवस्थामे योगज धर्मका अभाव होनेसे आत्मा और मनके सयोगके लिये उसकी अपेक्षा किसप्रकार हो सकती है जिससे कि मुक्तिमे नित्यसुखके सवेदनकी उत्पत्ति हो सके।

शका–योगज धर्मकी अपेक्षा लेकर होनेवाला मनका सयोग आदिके सवेदन को उत्पन्न करता है फिर उसकी अपेक्षा लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान उत्पन्न होते है ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, क्योकि शरीर के सम्बन्धकी अपेक्षा से रहित अकेला विज्ञान ज्ञानोत्पत्तिमे मन सयोग का सहकारी कारण बनता हुआ कही पर देखा नही है। देखे हुए पदार्थसे विपरीत की कल्पना करना अशक्य है अन्यथा अति-प्रसग होगा। आकस्मिक कार्य तो होता नही, यदि कार्यको अहेतुक माने तो सर्वत्र सर्वदा उसका सद्भाव स्वीकार करना पडेगा।

किंच, जिसप्रकार आप वेदाती मुक्तावस्थामे अनित्य सुखका अतिक्रम होकर नित्य सुखका होना स्वीकार करते है, उसप्रकार वहापर नित्य धर्मके अधिकरणभूत शरीरादिको भी स्वीकार करना चाहिये।

शका–शरीरादिक कार्यरूप है अत वह नित्य धर्मका आधार किसप्रकार हो सकता है ? क्योकि दृष्ट विरोध एव अप्रमाणत्वका प्रसग आता है ?

समाधान–यही दृष्ट विरोध एव अप्रमाणत्वका प्रसग ससारावस्थामे नित्य-सुखको माननेमे आता है, क्योकि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इनमेसे कोई भी प्रमाण नित्य सुखका साधक नही है, हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्षकी तो इस विषयमे प्रवृत्ति ही नही होती, और योगी प्रत्यक्ष इसप्रकारसे प्रवृत्त होता है या अन्यथा प्रवृत्त होता है [नित्य-

प्रवर्त्तते, अस्मदादीन्द्रियजप्रत्यक्षस्यात्र व्यापारानुपलम्भात् । 'योगिप्रत्यक्ष त्वेव प्रवर्त्ततेऽन्यथा वा' इत्यद्यापि विवादपदापन्नम् ।

यच्चात्मा सुखस्वभाव इत्यनुमान तदपि न नित्यसुखस्वभावतासाधकम्, सुखस्वभावतामात्रस्यैवातः प्रसिद्धे ।

किञ्च, सुखस्वभावत्व सुखत्वजातिसम्वन्धित्वम्, तन्नात्मनि सम्भाव्यते गुणे एवास्योपलम्भात् । न ह्येका काचिज्जातिर्द्रव्यगुणयो साधारणोपलभ्यते । अथ, सुखाधिकरणत्वम्, तन्न, अस्य नित्यानित्यविकल्पानुपपत्ते । तथा सुखत्वस्य सुखस्य वाधिकरणताया तज्ज्ञानस्यापि नित्यानित्यविकल्प· समान ।

सुखके ग्राहक रूपसे या अग्राहक रूपसे प्रवृत्त होता है] यह अद्यादि विवादके कोटीमे है ।

आत्मा सुख स्वभावी है इत्यादि रूपसे वेदाती द्वारा उपस्थित किया गया अनुमान प्रमाण भी नित्य सुखके स्वभावताका साधक नही है उससे तो मात्र सुख स्वभावता की सिद्धि हो सकती है ।

तथा सुखत्व जातिका सम्बन्ध होना सुखस्वभावत्व कहलाता है वह आत्मामे सभावित नही हो सकता, गुणमे ही सभावित होता है, कोई ऐसी एक जाति नही है जो गुण और द्रव्य दोनोमे सभावित हो । आत्मा सुखका अधिकरणभूत है ऐसा कहना भी ठीक नही क्योकि इस पक्षमे भी नित्य ही अधिकरणभूत है अथवा अनित्य अधिकरणभूत है इत्यादि विकल्प होकर कुछ भी सिद्ध नही होता । आत्मा सुख या सुखत्व सामान्यका अधिकरण है ऐसा स्वीकार करनेमे दूसरा दोष यह आता है कि उस सुखका सवेदन नित्य होता है अथवा अनित्य इत्यादि विकल्पोका समाधान नही होता है ।

आत्माको सुखस्वभावी सिद्ध करनेके लिये दिये गये अनुमानमें अत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व और अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेतु भी अनैकातिक होनेसे हेत्वाभासरूप हैं, क्योकि अत्यन्त प्रियबुद्धि विषयत्वरूप हेतु दु खके अभावमे भी पाया जाता है, इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–आत्मा सुख स्वभावी है, क्योकि वह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है ऐसा आप वेदाती द्वारा अनुमान प्रयुक्त हुआ था सो इस अनुमानका अत्यन्त प्रियबुद्धि विपयत्वनामा हेतु सुखस्वभावी साध्यके समान दु खाभावरूप

साधन च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमनन्यपरतयोपादीयमानत्व चानैकान्तिकत्वादसाधनम्, दुःखाभावेपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्व चासिद्धम्, न ह्यात्माऽन्यार्थी नोपादीयते, सुखार्थमस्योपादानात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमो नित्यसुखसद्भावावेदकः, इत्यप्यसमोचीनम्, तस्यैतदर्थत्वासिद्धेः । आनन्दशब्दो ह्यात्यन्तिकदुःखाभावे प्रयुक्तत्वाद्गौणः । दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः, यथा भाराक्रान्तस्य ज्वरादिसन्तप्तस्य वा तदपाये ।

असाध्यमे भी पाया जाता है, अर्थात् दुःखका अभाव होना भी अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है, किन्तु यह दुःखाभाव निःस्वभावरूप होनेसे आत्माका स्वभाव नही बन सकता, इस तरह साध्य और असाध्य दोनोमे रहनेसे यह हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त है । अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आत्मा सुखस्वभावी है क्योकि वह अनन्यपरतया उपादीयमान है अर्थात् आत्माका आत्मामे लीन होना रूप ग्राह्यपना है, अन्यके द्वारा उपादीयमानत्व नही है, सो यह अयुक्त है, क्योकि आत्मा अन्यके लिये उपादीयमान न होवे सो बात नही है, सुखके लिये वह उपादीयमान होता ही है । अत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व हेतुमे अनैकान्तिक दोषके समान असिद्ध दोष भी आता है, क्योकि आत्मा सिर्फ प्रिय बुद्धिविषय ही हो सो बात नही है दुःखित अवस्थामे वह अप्रिय बुद्धिका विषय भी होता है ।

"आनदो ब्राह्मणो रूप" इत्यादि आगम वाक्य नित्य सुखके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि उस वाक्यका इसतरहका अर्थ होना असिद्ध है, वहापर आनदशब्दका प्रयोग आत्यन्तिक रूपसे दुःखका अभावरूप अर्थमे हुआ है अत गौण है, देखा भी जाता है कि दुःखके अभाव होनेपर सुख शब्दका प्रयोग है जैसे भारसे आक्रात पुरुषका भार कम होनेपर या ज्वरयुक्त रोगीका ज्वर कम होनेपर सुख हुआ इसप्रकार सुख शब्दका प्रयोग होता है ।

दूसरी बात यह है कि नित्य सुख आत्माके स्वरूपसे अपृथक् है या पृथक् है ? प्रथमपक्ष माने तो जिसप्रकार आत्मस्वरूपका सतत् रूपसे अनुभव होता है उसप्रकार सुखका अनुभव भी सतत् रूपसे होनेके कारण बद्ध और मुक्त अवस्थाका भेद समाप्त हो जाता है ।

किंच, आत्मस्वरूपात्तन्नित्यसुखमव्यतिरिक्तम्, तद्व्यतिरिक्तं वा ? प्रथमपक्षे आत्मस्वरूपवत् सर्वदा सुखसंवित्तिप्रसङ्गाद्बद्धमुक्तयोरविशेषप्रसङ्गः।

अनाद्यविद्याच्छादितत्वान्न स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिः संसारिणः; इत्यप्यपेशलम्, आच्छाद्यते ह्यप्रकाशस्वरूपं वस्तु, यत्तु प्रकाशस्वरूपं तत्कथमन्येनाच्छाद्येत ? मेघादिना त्वादित्यादेराच्छादनं युक्तम् तस्यातोऽर्थान्तरत्वात्, मूर्त्तस्य मूर्त्तेनाच्छादनापत्तेः (दनोपपत्तेः)। अविद्यायास्तु सत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयतया तुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशानन्दाच्छादकत्वम्। तन्नाद्यः पक्षो युक्तः।

द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः, नित्यसुखस्यात्मनोऽर्थान्तरस्य प्रत्यक्षादेः प्रतिपादकस्य प्रतिषिद्धत्वाद्बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात्। तन्नपरमानन्दाभिव्यक्तिर्मोक्षः।

वेदांती—अनादि कालकी अविद्या द्वारा नित्य सुखका आच्छादन होनेके कारण संसारी जीवोको उसका अनुभव नही हो पाता।

वैशेषिक—यह कथन असमीचीन है अप्रकाश स्वरूप वस्तुका आच्छादन होना संभव है जो प्रकाशस्वरूप वस्तु है उसका अन्य द्वारा आच्छादन किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता, नित्य सुखानुभव तो प्रकाश स्वरूप है। मेघ आदि से प्रकाश स्वरूप सूर्यका आच्छादन कैसे होता है ? ऐसी आशंका भी नही करना क्योंकि सूर्यसे मेघादि पदार्थ एक तो पृथक् है दूसरे मूर्त्तका मूर्त्तद्वारा आच्छादन होना संभव भी है। किन्तु अविद्या सत्व और असत्व दोनो प्रकारसे ही कथन योग्य नही है, अतः तुच्छ स्वभावरूप होनेसे उस अविद्या द्वारा स्वप्रकाशरूप आनंद का आच्छादन हो नही सकता। अतः आत्मस्वरूपसे नित्य सुख अपृथक् है ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नही होता।

दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि आत्माके इस पृथक्भूत नित्यसुखका प्रतिपादन करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नही है ऐसा सिद्ध हो चुका है और बाधक कारण भी कह चुके हैं। अतः परम आनंद की अभिव्यक्ति होना मोक्ष है ऐसा वेदांती का कथन सिद्ध नही होता है।

विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध अभिमत मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, क्योंकि संसार अवस्थाके राग युक्त विज्ञानसे रागरहित विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना अशक्य है। जैसे ज्ञानसे ज्ञानांतरमे ज्ञानत्व आता है वैसे रागादिमे रागांतरमे रागत्व भी अवश्य आता है क्योंकि रागादि और ज्ञानका तादात्म्य होता है,

नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्ति:, रागादिमतो विज्ञानात्तद्रहितस्यास्योत्पत्तेरयोगात्। यथैव हि बोधाद्बोधरूपता ज्ञानान्तरे तथा रागादेरपि स्यात्तादात्म्यात्, अन्यथा तादात्म्याभावः स्यात्। न च 'बोधादेव बोधरूपता' इति प्रमाणमस्ति, विलक्षणादपि कारणाद्विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात्। बोधस्य च बोधान्तरहेतुत्वे पूर्वकालभावित्व समानजातीयत्वमेकसन्तानत्व वा न हेतु:, व्यभिचारात्, तथाहि–पूर्वकालभावित्व तत्समानक्षणै:, समानजातीयत्व च सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारि, तेषा हि पूर्वकालभावित्वे तत्समानजातीयत्वे च सत्यपि न विवक्षितज्ञानहेतुत्वम्।

एकसन्तानत्व च अन्त्यज्ञानेन व्यभिचारि। अथ नेष्यत एवान्त्यज्ञान सर्वदाऽऽरम्भात्, तथाहि–मरणशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुर्जाग्रदवस्थाज्ञान च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति। नन्वेव मरणशरीर-

---

यदि सराग ज्ञानसे ज्ञानातरमे सरागत्व आना नही मानते तो राग और ज्ञानका तादात्म्य मानना असंभव होगा। ज्ञानसे ही ज्ञानत्व आता है ऐसा कथन भी सर्वथा प्रमाणभूत नही है, विलक्षणकारणसे अन्य विलक्षणभूतकार्यकी उत्पत्ति होना भी सभव है, जैसे विभिन्न आकार वाले बीजसे विभिन्न आकारवाला अकुर उत्पन्न होता है। विवक्षितज्ञान उत्तर कालीन ज्ञानका कारण है ऐसा माननेमें क्या हेतु है? पूर्व काल भावित्व है अथवा समान जातियत्व है या एक सतानत्व है? तीनो हेतु व्यभिचार दोष युक्त है, कैसे सो बताते है–पूर्वकालीन ज्ञान उत्तर ज्ञानका हेतु है, क्योकि वह पूर्वमे हुआ है, ऐसा माने तो समान क्षणोके साथ अनैकान्तिकता होगी, अर्थात् अन्य अनेक पुरुषोके ज्ञान भी उस विवक्षित पूर्वकालीन ज्ञानक्षणके साथ थे अत: पूर्वकालीनज्ञान ही कहलाते थे, किन्तु वे इस विवक्षित उत्तर कालीन ज्ञानके हेतु नही हैं, अतः पूर्वकाल भावी होने मात्रसे वह उसका हेतु है ऐसा अनुमान वाक्य अयुक्त है। समान जातीय होनेसे ज्ञानका हेतु ज्ञान है ऐसा कहना भी युक्ति संगत नही, अन्य व्यक्तिके ज्ञान भी समान जातीय होते हैं किन्तु वे इस विवक्षित ज्ञानके हेतु तो नही होते।

एक संतानत्व होनेसे ज्ञान ज्ञानका हेतु है ऐसा तीसरा हेतुवाला अनुमान भी अप्रमाण है, क्योकि इस हेतुका अतिम ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है, अर्थात् जो एक सतान रूप है वह उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करे ही ऐसा नियम नही है, योगीका अतिम ज्ञान उत्तरज्ञानको उत्पन्न नही करता है।

बौद्ध–उत्तरोत्तरज्ञान सदा उत्पन्न होते रहनेसे अतका ज्ञान है ऐसा माना ही नही, मरण समयके शरीरका ज्ञान अन्य जन्यके ज्ञानका हेतु होता है एव जाग्रद अवस्थाका ज्ञान सुप्त अवस्थाके ज्ञानका हेतु होता है।

ज्ञानस्यान्तराभवशरीरज्ञानहेतुत्वे गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे वा सन्तानान्तरेपि ज्ञानजनकत्व किन्न स्यान्नियतहेतोरभावात् ? अथेष्यते एव उपाध्यायज्ञान शिष्यज्ञानस्य हेतु । अन्यस्य कस्मान्न भवति ? कर्मवासना नियामिका चेन्न, तस्या ज्ञानव्यतिरेकेणासम्भवात् । तत्तादात्म्ये हि विज्ञान बोधरूपतया अविशिष्ट बोधाच्च बोधरूपतेत्यविशेषेण ज्ञान विदध्यात् ।

सुषुप्तावस्थाज्ञानस्य जाग्रदवस्थाज्ञान कारणम्, इत्यप्यसम्भाव्यम्, सुषुप्तावस्थायां च ज्ञानाभ्युपगमे जाग्रदवस्थातो विशेषो न स्यादुभयत्रापि स्वसविदितज्ञानसद्भावाविशेषात् । मिद्धेनाभिभूतत्व विशेष , इत्यप्यसत्, तस्यापि तद्धर्मतया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात् । तद्व्यतिरेके तु रूपवेद-

---

वैशेषिक—मरणकालके शरीरका ज्ञान मध्यके शरीरके ज्ञानका हेतु है अथवा गर्भस्थ शरीरके ज्ञानका हेतु है ऐसा स्वीकार करे तो वह ज्ञान अन्य व्यक्तिके शरीरके ज्ञान हेतु भी हो सकेगा ? क्योकि हेतु नियत तो रहा नही ?

बौद्ध—अन्यव्यक्तिके शरीरके ज्ञानका हेतु होना भी सभव है, क्योंकि उपाध्याय का ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता हुआ देखा जाता है ?

वैशेषिक—उपाध्यायका ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता है वैसे अन्य किसी व्यक्तिके ज्ञानका हेतु क्यो नही होता अथवा शिष्यका ज्ञान उपाध्यायके ज्ञानका हेतु क्यो नही होता है ?

बौद्ध—कर्म वासनाके नियमके कारण ऐसा नही होता ?

वैशेषिक—यह उत्तर अयुक्त है, ज्ञान ही वासनारूप होता है ज्ञानके अतिरिक्त वासनाका होना असभव है, क्योकि विज्ञान बोधरूपतासे अविशिष्ट [साधारण] रहता है एव सतानातरमे ज्ञानसे ज्ञानरूपताको अविशेषरूपसे धारता है ऐसा कथन ज्ञान और वासनाका तादात्म्य स्वीकार करनेपर ही सिद्ध हो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि जाग्रत अवस्थाका ज्ञान सुप्त अवस्थाके ज्ञानका हेतु है ऐसी पूर्वोक्त मान्यता भी असंभव है । सुप्त अवस्थामे ज्ञानको स्वीकार करनेपर जाग्रत अवस्थासे उसमे अतर ही नही रहेगा, क्योकि दोनोमे सविदित ज्ञानका सद्भाव समान रूपसे हैं ? निद्राद्वारा ज्ञान अभिभूत होता है अत दोनो अवस्थाओमे समानज्ञान नही है ऐसा कहना भी असत् है, आपके मतमे अभिभव [निद्रा] आदिको भी ज्ञानका धर्म माना है अत उस तादात्म्यरूप अभिभवद्वारा ज्ञानका अभिभूत होना बनता ही नही, यदि निद्रादि अभिभव ज्ञानसे पृथक् सत्ता वाले है तो रूप, वेदना आदि पदार्थोसे पृथक्

नादिपदार्थस्वरूपव्यतिरिक्त तत्स्वरूप निरूप्यताम्। अभिभवश्च यदि विनाशः, कथ तत्र ज्ञानस्य सत्त्व विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्? अथ तिरोभावः, न, विज्ञानसत्त्वैव सवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्ते । अत सुषुप्तावस्थाया विज्ञानासत्त्वेनान्त्यज्ञानसद्भावादेकसन्तानत्व व्यभिचारीति।

यच्चोच्यते—विशिष्टभावनाभ्यासवशाद्रागादिविनाश, तदप्यसङ्गतम्, निर्हेतुकत्वाद्विनाशस्य अभ्यासानुपपत्तेश्च। अभ्यासो ह्यवस्थिते ध्यातर्यतिशयाधायकत्वेन स्यान्न क्षणिकज्ञानमात्रे। न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयो युक्तः, तस्यैवासत्त्वात्, अविशिष्टाद्विशिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च। अविशिष्टाद्धि पूर्व-

---

इनका क्या स्वरूप है यह कहना होगा। तथा अभिभवका अर्थ यदि विनाश होना करते है तो उस सुप्तावस्थामें ज्ञानका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध करेंगे, एव विनाश निर्हेतुक होता है यह भी किसप्रकार सिद्ध होगा? तिरोभाव होनेको ज्ञानका अभिभव कहते है ऐसा कहना ठीक नही क्योकि आपने ज्ञानकी सत्ताको ही सवेदन माना है अत. उसका तिरोभाव होना अशक्य है। इसप्रकार सुप्त अवस्थामे ज्ञान असत्व ही सिद्ध होता है, एव अंतिम ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है अत एक संतानत्व नामा पूर्वोक्त हेतु व्यभिचारी ही है।

भावार्थ—बौद्धने ज्ञानका सवेदन और ज्ञानकी सत्ता इनमे अंतर नही माना है ज्ञान चाहे प्रगट हो या अप्रगट दोनो अवस्थाओमे समान है, सो ऐसे ज्ञानका तिरोभाव और आविर्भावरूप भेद नही हो सकता, अत सुप्त दशामें ज्ञान अभिभूत होनेके कारण सुप्तावस्था और जाग्रदवस्था इनमे भेद है ऐसा बौद्धका कहना सिद्ध नहीं होता, इसी-लिये हम वैशेपिकके मान्यतानुसार सुप्तावस्थामे ज्ञानका अभाव होना सिद्ध होता है। तथा एक सतानपना होनेसे पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करता है ऐसा कहना भी असिद्ध है क्योकि निर्वाणके समुख योगीका ज्ञान एक सतानरूप होते हुए भी अग्रिम उत्तर ज्ञानको उत्पन्न नही करता है, अत बौद्ध द्वारा प्रयुक्त एक सतानत्व हेतु व्यभिचार दोष युक्त है।

बौद्धोके यहा मान्यता है कि विशिष्टभावना और अभ्यासके बलसे रागादि का नाश हो जाता है, सो यह भी असत् है, क्योकि आप नाशको निर्हेतुक मानते है। अभ्यास होना तो क्षणिकमतमे सर्वथा असभव है, क्योकि ध्याता पुरुप अवस्थित होने पर ही उसमे अभ्यास द्वारा अतिशयत्व आ सकता है, क्षणिक ज्ञानमात्रमे अतिशय किसप्रकार सभव है?

ज्ञानादुत्तरोत्तर सातिशय कथमुत्पद्ये त ? तत्कथ योगिना सकलकल्पनाविकलज्ञानसम्भव इति ?

यच्च 'सन्तानोच्छित्तिर्नि.श्रे यसम्' इति मतम्, तत्र निर्हेतुकतया विनाशस्योपायवैयर्थ्य-मयत्नसिद्धत्वादिति ।

अन्ये त्वनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयशरीरादिलाभो नि श्रे यसमिति मन्यन्ते । तथाहि-नित्यत्वभावनाया ग्रहोऽनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना, इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्, मिथ्याज्ञानस्य नि श्रे यसकारणत्वायोगात् । अनेकान्तज्ञान मिथ्यैव विरोधवैयधिकरण्याद्यनेकबाधको-पनिपातात् । स्वदेशादिषु सत्त्व परदेशादिषु चासत्त्वम् इतरेतराभावादिष्यते एव । स्वकार्येषु कर्तृत्व कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्व न प्रतिषिध्यते, यद्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियमाणमुपलब्ध तत्तस्य

बौद्ध–एक ज्ञानमे अभ्यास द्वारा अतिशय नही आता किन्तु उत्तरोत्तरज्ञानमे आता है, सतानकी अपेक्षा अतिशयाधायकत्व होना बन जाता है ।

वैशेषिक–यह कथन भी ठीक नही, सतानका अस्तित्व ही सिद्ध नही होता, तथा अविशिष्ट ज्ञानसे [सराग ज्ञानसे] विशिष्ट ज्ञान [विशुद्ध ज्ञान] उत्पन्न होना भी अशक्य है, सामान्यरूप पूर्वज्ञानसे उत्तरोत्तर विशेषरूप सातिशय ज्ञान किसप्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं ? अर्थात् नही किये जा सकते । अत सपूर्ण कल्पना- जालसे रहित ऐसा विशुद्धज्ञान योगियोके होता है ऐसा कहना असिद्ध है ।

बौद्धमतमे ही कोई विद्वान् सतानकी व्युच्छित्ति [नाश] होना मोक्ष है ऐसा कहते है उसमे भी विशिष्ट भावनारूप अभ्यास होना सिद्ध नही होता, क्योकि नाशको निर्हेतुक माननेसे उसके उपायभूत अभ्यासका करना व्यर्थ ही ठहरता है, वह तो विना प्रयत्नके स्वत ही होता है ।

जैनमतमे अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट प्रदेशमे [सिद्ध शिलापर] ज्ञानरूप शरीरादिका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप माना गया है, उनका कहना है कि नित्यधर्ममे आग्रह और अनित्यधर्ममे द्वेष ये दोनो ही अयुक्त है अत दोनोका परिहार करके अनेक धर्मरूप अनेकात माना है और उस तात्विक अनेकातकी भावनासे मोक्षकी प्राप्ति होना स्वीकार किया गया है । किन्तु यह अभिमत भी असत् है, मिथ्याज्ञान मोक्षका हेतु हो नही सकता, अनेकातका ज्ञान मिथ्या ही है क्योकि उसमे विरोध, वैयधिकरण आदि अनेक बाधक कारण है । जैन एक ही वस्तुमे सत्व और

कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगमात् । तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तत इति 'स एव मुक्तः संसारी च' इति प्रसक्तम् । तथाऽनेकान्तेप्यनेकान्तप्रसङ्गात्, सदसन्नित्यानित्यादिरूपव्यतिरिक्तं रूपान्तरमपि प्रसज्येतेति ।

अन्ये त्वात्मैकत्वज्ञानात्परमात्मनि लयः सम्पद्यते इति ब्रुवते । तथाहि-आत्मैव परमार्थसंस्ततोऽन्यत्र भेदे प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षं हि पदार्थाना सद्भावस्यैव ग्राहकं न भेदस्येत्यविद्यासमारोपितो भेदः; तेप्यतत्त्वज्ञाः; आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाऽसाधकत्वात् । तन्मिथ्यात्वं चार्थाना प्रमाणतो वास्तवभेदप्रसिद्धेः ।

एवं शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाप्रसाधकं द्रष्टव्यम् । निरस्त चात्माद्वैतं शब्दाद्वैत च प्राक्प्रबन्धेनेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

असत्व मानते है अत. उसमें विरोधादि दोष आते है, हम वैशेषिकने तो इतरेतराभाव से स्वप्रदेशादिमे सत्व और पर प्रदेशादिमे असत्व स्वीकार किया है । वस्तुके स्वकार्योमें कर्तृत्व और कार्यांतरोमे अकर्तृत्व रूप धर्म भी निषिद्ध नही है, क्योकि जिसकी उत्पत्तिमे अन्वय और व्यतिरेकपनेसे जो प्रवृत्त होता है वह उसका कारण माना जाता है अन्यका नही, ऐसा माना गया है ।

जैन मुक्तिमे भी अनेकातकी व्यावृत्ति नही मानते अत. वही जीव मुक्त और ससारी होनेका प्रसग आता है । सब अनेकातरूप है तो अनेकातमें भी अनेकात स्वीकार करने का प्रसंग आता है, एवं सत् असत् नित्य अनित्यादिसे भिन्न किसी अन्य रूप होनेका प्रसंग भी आता है ।

ब्रह्माद्वैतवादी आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे परमातमामे लय होना मोक्ष है ऐसा कहते है, एक आत्मा ही परमार्थभूत वस्तु है इससे भिन्न अन्य वस्तुको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है, प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थोके सद्भावमात्रका ग्राहक हैं न कि भेद का अतः निश्चित होता है कि अविद्याके द्वारा ही भेदभावका आरोप होता है । सो यह मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, एक आत्मा नामा पदार्थ ही है अन्य नहीं ऐसा आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या होनेके कारण मोक्षका असाधक है, घट पटादि पदार्थोके भेद वास्तविक हैं अविद्याकल्पित नही है ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है अत आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या है ।

प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भ स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानलक्षणानि श्रेयसस्य साधनमित्यन्ये। तथाहि–पुरुषार्थसम्पादनाय प्रधानं प्रवर्त्तते। पुरुषार्थश्च द्वेधा–शब्दादिविषयोपलब्धि, प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भश्च। सम्पन्ने हि पुरुषार्थे चरितार्थत्वात्प्रधान न शरीरादिभावेन परिणमते, विज्ञान(त) वा दुष्टतया कुष्टिनीस्त्रीवद्भोगसम्पादनाय पुरुष नोपसर्पति, इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रधानासत्त्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्। सति हि प्रधाने पुरुषस्य तद्विवेकोपलम्भः स्यात्। अस्तु वा तत्, तथापि पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य तत्प्रवर्त्तेत, अपेक्ष्य वा ? न तावदनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अथापेक्ष्य प्रवर्त्तते, किं तदपेक्ष्यम् ? विवेकानुपलम्भ, अदृष्ट वा ? न तावद्विवेकानुपलम्भ,

---

ब्रह्माद्वैतके ज्ञानके समान शब्दाद्वैतका ज्ञान भी मिथ्या होनेके कारण मोक्ष का प्रसाधक नही है ऐसा समझना चाहिये। तथा आत्मद्वैत [ब्रह्माद्वैत] और शब्दाद्वैतका निरसन भी पहले कर चुके है अतः अब अधिक कथन नही करते।

प्रकृति और पुरुषके भेदका ज्ञान चैतन्यका स्वरूपमे अवस्थान होना रूप मोक्ष का कारण है ऐसा सांख्य कहते हैं, प्रधान पुरुषार्थको सपादित करनेके लिये प्रवृत्ति करता है, पुरुषार्थके दो भेद हैं, शब्दादि विषयोंकी उपलब्धि होना और प्रधान तथा पुरुषके विवेक की उपलब्धि होना। पुरुषार्थके सपन्न हो जानेपर कृतकृत्य होनेके कारण प्रधान शरीरादि रूपसे परिणमन नही करता, जिसप्रकार किसी पुरुष द्वारा दुष्ट रूपसे कुट्टिनी स्त्रीके ज्ञात होनेपर वह कुट्टिनी पुरुषके उपभोगके लिये निकट नही आती भयसे दूर ही रहती है उसीप्रकार प्रधान और पुरुषके भेदकी उपलब्धि होनेपर वह प्रधान शरीरादि कार्यमे प्रवृत्ति नही करता और इसतरह ससार समाप्त होकर चैतन्यका स्वरूप मे अवस्थान होता है इसीको मोक्ष कहते हैं। इसप्रकार का साख्यका मतव्य भी अयुक्त है। प्रधानका अस्तित्व नही है ऐसा पहले ही कह दिया है प्रधान नामा तत्त्व होवे तो उसका और पुरुषका विवेक उपलब्ध होसकता है। प्रधानके अस्तित्व को माने तो भी प्रश्न होता है कि वह प्रधान पुरुषमे स्थित निमित्तकी अपेक्षा किये विना प्रवृत्ति करता है अथवा अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ? विना अपेक्षा किये तो प्रवृत्ति कर नही सकता, अन्यथा मुक्तात्मामे भी शरीरादिके सपादनके लिये प्रवृत्ति करने लगेगा। अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ऐसा द्वितीय पक्ष माने तो पुन प्रश्न होता है कि पुरुष मे स्थित निमित्तकी अपेक्षा लेकर प्रधान की प्रवृत्ति होती है सो वह निमित्त कौनसा है, विवेकका अनुपलभ या अदृष्ट ? विवेकका अनुपलभ कहो तो ठीक नही क्योंकि विवेक

तस्य विवेकोपलम्भविनष्टत्वेन मुक्तात्मन्यपि सम्भवात्। न चानुत्पत्तिविनाशयोरसत्त्वेन विशेषं पश्याम.। द्वितीयविकल्पोप्ययुक्त, अदृष्टस्यापि प्रधाने शक्तिरूपतया व्यवस्थितस्यो भयत्राविशेषात्।

दुष्टतया च विज्ञात प्रधानं पुरुष नोपसर्पतीति चायुक्तम्, तस्याचेतनतया 'अहमनेन दुष्टतया विज्ञातम्' इति ज्ञानासम्भवात्। ततः पूर्ववत्प्रवृत्तिरविशेषेणैव स्यात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थान मोक्षः' इति चाभ्युपगतमेव, विशेषगुणरहितात्मस्वरूपे तस्यावस्थानाभ्युपगमात्। 'चिद्रूपेऽवस्थानम्' इत्येतत्तु न घटते, अनित्यत्वेन चिद्रूपताया विनाशात्। न

की उपलब्धि नष्ट होना विवेकका अनुपलभ है और यह मुक्तात्मामें भी सभावित है, क्योकि विवेककी अनुत्पत्ति और विवेकका विनाश इन दोनोमें असत्वकी अपेक्षा तो कुछ भी भेद दिखायी नही देता।

भावार्थ–साख्य यदि कहे कि ससार अवस्थामें प्रकृति और पुरुषमे विवेकके उपलब्धिकी अनुत्पत्ति है और मुक्त अवस्थामे विवेक उपलब्धिका विनाश है सो इनमे सत्व की अपेक्षा कोई भेद दिखायी नही देता, विवेक उत्पन्न नहीं हुआ और विवेकका नाश हुआ सो अभावकृत भेद नही होनेसे कोई विंशेषता नही है। पुरुषमे स्थित जो निमित्त है वह अदृष्ट है और उसकी अपेक्षा लेकर शरीरादिके संपादनमें प्रधान की प्रवृत्ति होती है ऐसा द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, अदृष्ट भी प्रधानमे शक्तिरूपसे उभय अवस्थाओमे [ससारावस्था और मुक्तावस्था] विद्यमान है कोई विशेषता नही है।

दुष्टरूपसे ज्ञात हुआ प्रधान पुरुपके निकट नही जाता ऐसा पूर्वोक्त कथन तो युक्ति सगत नही होता, क्योकि प्रधान अचेतन है, अत· "मैं इसके द्वारा दुष्टपनेसे ज्ञात हो चुका हूं" ऐसा ज्ञान होना असभव है, इसलिये वह तो ज्ञात होनेपर भी पहले के समान प्रवृत्ति करता ही रहेगा। इसप्रकार साख्य परिकल्पित मोक्षका स्वरूप असिद्ध है, इस विषयमे अब अधिक नही कहते।

दृष्टा आत्माका स्वस्वरूपमे अवस्थित होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना हमको [नैयायिक–वैशेषिक को] भी इष्ट है विशेष गुण रहित आत्माके स्वरूपमे स्थित होना रूप मोक्ष हम भी स्वीकार करते है, किन्तु चैतन्य स्वरूपमे अवस्थित होना रूप मोक्षका विशेषण घटित नही होता, क्योकि चैतन्यत्व अनित्य होनेके कारण नष्ट होता है। इन्द्रियादिके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेके कारण चैतन्य

चाक्षाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यास्तस्या नित्यत्वे प्रमाणमस्ति । आत्मस्वरूपतास्तीति चेत्, ननु चिद्रूपतात्मनोऽभिन्ना, भिन्ना वा स्यात् ? अभेदे पर्यायमात्रम् 'आत्मा, चिद्रूपता च' इति, तस्य च नित्यत्वाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यता । भेदे तु सयोगादिभिरनैकान्तिकत्वम्, तेपामात्मधर्मत्वेपि नित्यत्वाभावात् । गुणगुणिनोश्च तादात्म्यविरोधादित्युपरम्यते । ततो बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूप एव मोक्षस्तत्त्वज्ञानादिति स्थितम् ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–नवानामात्मविशेषगुणाना सन्तानोत्यन्तमुच्छिद्यते; तत्रात्मनो भिन्नाना बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्मन्येव समवायादिना वृत्त्यसिद्धे प्रागेवोक्तत्वात् कथमात्म-

---

नित्य है ऐसा कहना भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नही होता । आत्मरूपता होना यही प्रमाण है अर्थात् चैतन्यत्व तो आत्मरूपता ही है और वह नित्य है ही ? ऐसा कहो तो प्रश्न होता है कि चैतन्यरूपता आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न ? अभिन्न कहो तो नाममात्रका भेद रहा आत्मा और चिद्रूपता, ऐसी आत्मरूपताको नित्यपनेसे स्वीकार करने के कारण सिद्ध साध्यता है । आत्मासे भिन्न होकर भी चिद्रूपता नित्य है क्योकि वह आत्माका धर्म है ऐसा भिन्नताका द्वितीयपक्ष स्वीकार करे तो सयोगादिके साथ अनैकातिकदोष आता है, क्योकि सयोगादिक आत्माके धर्म होते हुए भी नित्य नही हैं । गुण और गुणीमे तादात्म्य माननेमे विरोध भी आता है, इस विषयमे अब अधिक नही कहना है, अत सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि विशेष गुणोका उच्छेद होकर विशिष्ट आत्म स्वरूप रहना ही मोक्ष है और वह तत्त्व ज्ञानसे प्राप्त होता है ।

जैन–अब यहा पर वैशेषिकके सपूर्ण मतव्यका निरसन किया जाता है, आत्माके विशेष नौ गुणोकी सतान अत्यन्त उच्छिन्न होती है ऐसा वैशेषिकने कहा किन्तु बुद्धि आदि विशेष गुण आत्मासे भिन्न नही है उनका समवायादि सबधसे आत्मामे रहना सिद्ध नही होता ऐसा पहले ही निश्चित किया है, अत आत्माके विशेष गुणोकी सतान किसप्रकार सिद्ध हो सकती है जिससे कि उक्त सतानत्व हेतु आश्रयासिद्ध दोष मुक्त न हो ? तथा आपने इन विशेष गुणोको अस्वसविदित [स्वयके अनुभवसे रहित] माना है अत सतानत्व हेतु फिर भी आश्रयसे रहित हो जाता है ।

विशेषार्थ–वैशेषिक गुणीसे गुणोको भिन्न मानते हैं, समवाय सम्बन्ध द्वारा उन भिन्न गुणोका गुणीमे सम्बन्ध होता है, बुद्धि आदि विशेषगुण आत्मामे समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, ऐसा इनका कहना है किन्तु यह असत् है क्योकि बुद्धि

विशेषगुणाना सन्तान· सिद्धो यत हेतोराश्रयासिद्धिर्न स्यात् ? तथा तेषा, परेणास्वसविदितत्वेनाभ्युपगमात् । ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे चानवस्थादिदोषप्रसक्ते , अज्ञानस्य च सत्त्वाप्रसिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मनोऽभिन्नाना तत्साधने तु तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्ष ? कथञ्चिदभेदस्तु नाभ्युपगम्यते । अभ्युपगमे वा नात्यन्तोच्छेदसिद्धिः इत्यनन्तर वक्ष्याम. ।

सन्तानत्व च हेतुः सामान्यरूपम्, विशेषरूप वा ? सामान्यरूपं चेत्, परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूप वा ? प्रथमपक्षे गगनादिनानेकान्त ; अत्यन्तोच्छेदाभावेप्यत्र हेतोर्वर्तनात् । सत्तासामान्यरूपत्वे च सन्तानत्वस्य सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात् न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम् । अथ

आदि गुण आत्मासे सर्वथा पृथक् है तो उनका सम्बन्ध आत्मामे ही हो अन्य आकाशादि द्रव्योमे न हो ऐसा नियम नही बन सकता, जब आत्माके विशेषगुण ही सिद्ध नही होते तो उनके सतानका उच्छेद होना रूप मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नही होता । अत· वैशेषिक द्वारा प्रयुक्त अनुमान असत् है कि बुद्धि आदि विशेष गुणो की संतान अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योकि वह सतानरूप हैं । यह सतानत्व हेतु पूर्वोक्त रीत्या आश्रयासिद्ध [आश्रय रहित] ठहरता है क्योकि विशेषगुण ही सिद्ध नही है तो उनकी सतान किस आश्रयमे रहेगी ? बुद्धि आदि गुणोको वे लोग अस्वसविदित मानते है, सो इस विपयमे पहले स्वसवेदन ज्ञानवाद प्रकरणमे [प्रथम भागमे] विशदरीत्या प्रतिपादन कर चुके है कि बुद्धि आदि गुण स्वयके द्वारा आबाल गोपलोको सवेदनमे आ रहे हैं ।

उन गुणोको अन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य माने तो अनवस्था आदि दोषोका प्रसग आता है, इस तरह अज्ञानरूप उन गुणोकी सत्ता ही सिद्ध नही हो पाती, इसीलिये सतानत्व हेतु आश्रयासिद्ध है । यदि उन गुणोको आत्मासे अभिन्न सिद्ध किया जाय तो गुणोके अत्यन्त उच्छेदसे आत्माका भी अत्यन्त उच्छेद हो जायगा फिर यह मोक्ष किसके होगा ? बुद्धि आदि गुण आत्मासे कथचित् अभिन्न है ऐसा तो आप मानते नही, यदि मान लेवे तो भी गुणोका अत्यन्त उच्छेद तो कथमपि सिद्ध नही होता ऐसा इसी प्रकरणमे आगे सिद्ध करेंगे ।

पूर्वोक्त सतानत्व हेतु सामान्यरूप है या विशेषरूप है ? सामान्यरूप है तो परसामान्यरूप है अथवा अपर सामान्यरूप है ? प्रथमपक्ष मानो तो आकाशादिके साथ अनैकातिकता आती है, क्योकि आकाशादिमे अत्यन्त उच्छेद होनारूप साध्यके नही

विशेषगुणाश्रिता जातिः सन्तानत्वम्, तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपदृष्टान्ते तस्याऽसम्भवात्साधनविकलो दृष्टान्त । न च सन्तानत्व परमपर वा सामान्य सर्वथा भिन्न बुद्ध्यादिषु वृत्तिमत्प्रसिद्धम्, तद्वृत्तेः समवायस्य प्रतिषिद्धत्वात् इति स्वरूपासिद्धत्वम् ।

अथ विशेषरूपम्, तत्राप्युपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिलक्षणक्षणविशेषरूपम्, पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूप वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्यासाधारणानैकान्तिकत्व तथाभूतस्यास्या-

---

होते हुए भी परसामान्यरूप सतानत्व हेतु रहता है । दूसरी बात यह है कि इस हेतुको सामान्यरूप स्वीकार करे तो यह हेतु "सत् है सत् है" इतना ही ज्ञान करा सकेगा यह संतान है ऐसा ज्ञान नही करा सकता । विशेष गुणोके आश्रित रहने वाले अपरसामान्य रूपको सतानत्व कहते है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो उक्त अनुमान में दिया गया दृष्टात साधन विकल [हेतुसे रहित] होता है अर्थात् संतानपना होनेके कारण बुद्धि आदि गुणोकी सतान नष्ट होती है, जैसे दीपककी सतान नष्ट होती है, इस दीपकके दृष्टातमे हेतुका अभाव है क्योकि सतानत्वका अर्थ विशेषगुणके आश्रयमें रहनेवाला अपर सामान्यरूप किया है, सो ऐसा अपर सामान्यरूप विशेष गुणाश्रित सतानत्व दीपकरूप द्रव्यमे नही रहता । दूसरी बात यह है कि सर्वथा भिन्न पर सामान्यरूप सतानत्व अथवा अपर सामान्यरूप सतानत्व बुद्धि आदिमे रहना असिद्ध भी है, समवाय से बुद्धि आदिमे रहना भी अशक्य है क्योकि समवायका निरसन हो चुका है, इसप्रकार सतानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी होता है ।

भावार्थ–जिस हेतुका स्वरूप सिद्ध न हो उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते है, प्रकृतमे सतानत्व हेतुका स्वरूप भी सिद्ध नही है, क्योकि पर सामान्य या अपर सामान्यरूप सतानत्व बुद्धि आदि गुणोमें समवाय सम्बन्धसे रहता है ऐसा वैशेषिक ने कहा, किन्तु समवाय नामा पदार्थका पहले खडन हो चुका है, जब समवायका ही अस्तित्व नही है तब उसके द्वारा सतानत्वका बुद्धि आदि गुणमे रहना भी किसप्रकार सभव है ? अत यह हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त है ।

सतानत्व हेतु विशेषरूप है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह विशेष कौनसा है उपादान उपादेय भूत बुद्धि आदि लक्षण वाले क्षण विशेष रूप है अथवा पूर्वापर समान जातीय क्षणोका प्रवाह रूप है ? प्रथम पक्ष माने तो सतानत्व हेतु असाधारण अनैकान्तिक दोष युक्त होगा, क्योकि ऐसा हेतु अन्यत्र [प्रदीप दृष्टातमे] नही पाया

न्यत्रानुवृत्तेः। अभ्युपगमविरोधश्च; न खलु परेण बुद्ध्यादिक्षणोपादानोऽपरोऽखिलो बुद्ध्यादिक्षणोऽभ्युपगम्यते। अन्यथा मुक्त्यवस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गान्न बुद्ध्यादिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेद स्यात्। द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमाणुरूपादिनानेकान्तः; तथाविधसन्तानत्वस्यात्र सद्भावेप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्।

जाता। आपके मान्यतामे भी विरोध होगा, क्योंकि बुद्धि आदि क्षणोका उपादान अन्य अखिल बुद्धि क्षण है ऐसा आपने माना ही नही। यदि ऐसा हटाग्रहसे मान लेगे तो मुक्तावस्थामे भी पूर्व पूर्व बुद्धि आदि उपादान भूत क्षणसे उत्तरोत्तर उपादेयभूत बुद्धि आदि क्षण की उत्पत्ति होनेका प्रसग आता है, फिर बुद्धि आदिके संतानका अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है ऐसा आपका अभिमत सिद्ध नही हो सकता। पूर्वापर समान जातीय क्षणोका प्रवाहरूप विशेषको सतानत्व कहते है ऐसा द्वितीयपक्ष माने तो पाकज-परमाणुओंके रूपादिगुणोके साथ संतानत्व हेतु व्यभिचरित होता है, क्योकि उनमे पूर्वापर समान जातीय क्षणोका प्रवाह रूप सतानत्व तो पाया जाता है किन्तु उस सतानत्वका अत्यन्त उच्छेद नही होता।

भावार्थ—आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंकी सतान सर्वथा नष्ट होती है, क्योकि वह संतानरूप है, जैसे दीपककी सतान नष्ट होती है। मुक्तावस्थामे आत्मीक गुणोका अभाव सिद्ध करनेके लिये वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण उपस्थित करते है, इसमे सतानत्व हेतु है और गुणोकी सतान सर्वथा नष्ट होना साध्य है एव प्रदीप का दृष्टात है। सतानके भावको संतानत्व कहते हैं 'संतानस्य भावः संतानत्वम्', किसी पदार्थके वाचक शब्दमे त्व प्रत्यय आता है तो वह उस पदार्थमे होनेवाले सामान्य धर्म का उल्लेख करता है और वह सामान्य धर्म सामान्य नामा एक पदार्थसे समवाय नामा सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होता है ऐसा वैशेषिक सिद्धात है। सामान्य नामा पदार्थके दो प्रकार हैं पर सामान्य और अपर सामान्य, सतानत्व हेतुमे कौनसा सामान्य पाया जाता है ऐसा जैनने प्रश्न किया तब उसका कोई भी समाधान कारक उत्तर नही मिल सका, क्योकि परसामान्यको हेतु मानते है तो आकाशादिके साथ व्यभिचार आता है, आकाशादिमे परसामान्य तो पाया जाता है किन्तु उसका सर्वथा नाश नही होता अतः जो परसामान्य रूप सतान हो वह सर्वथा नष्ट होती है ऐसा कथन व्यभिचरित हुआ। सतानत्व हेतुको अपर सामान्य रूप मानते है तो प्रदीप

विरुद्धश्चायं हेतु, कार्यकारणभूतक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य एकान्तनित्यवदनित्येप्यसम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्यानेकान्ते एव प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

शब्दविद्युत्प्रदीपादीनामप्यत्यन्तोच्छेदासम्भवात् साध्यविकलो दृष्टान्तः। न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपादे परिणामान्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारि स्थिते तेजसि भासुररूपाभ्युपगमेऽपि तत्प्रसङ्गात्। अथोष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवात् तत्रानुद्भूतस्यास्य परिकल्पनमनुमानत', तर्हि 'प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽपरापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्वकृतकत्वादिक न सम्भवति' इत्यनुमानतस्तत्सन्तत्यनुच्छेद किन्न कल्प्यते? तथाहि-पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपादिः सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा घटादिवत्।

दृष्टात हेतुसे विकल होता है, क्योकि अपर सामान्यका अर्थ विशेष गुणके आश्रित रहनेवाला धर्म किया है, ऐसा अपर सामान्य प्रदीपमे नही है, प्रदीप तो द्रव्य है, अत सतानत्व हेतु साधन विकल होनेके कारण सदोष है। इसीप्रकार इस हेतुको विशेष रूप माने तो भी अनेक दोष आते है।

सतानत्व हेतु विरुद्ध दोष युक्त भी है, क्योकि कार्यकारणभूत क्षणोका प्रवाह रूप लक्षणवाला सतानत्व एकात नित्यके समान अनित्यमे पाया जाना भी असभव है, अर्थात् कार्य कारणभाव सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्यरूप पदार्थमे होना असंभव है। अर्थक्रियाकारीपना कथचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुमे होना ही शक्य है ऐसा हम आगे प्रतिपादन करने वाले हैं।

सतानका सर्वथा उच्छेद सिद्ध करनेके लिये दीपकका दृष्टात प्रयुक्त किया है, वह साध्य विकल है, क्योकि विद्युत्, शब्द, प्रदीपादि की सतान सर्वथा उच्छिन्न नही होती। दीपक आदिके नष्ट होनेपर भी वे अन्य परिणामरूपसे अवस्थित रहते हैं और ऐसा माननेमे प्रत्यक्ष बाधा भी नही आती, यदि बाधा आना माने तो उष्ण जलमे स्थित अग्निमे भासुररूपको आपने माना है उसमे भी बाधा आयेगी।

वैशेषिक—भासुर रूपका अधिकरणभूत अग्नि द्रव्यके अभावमे उष्णस्पर्श होना असभव है अत उष्ण जलमे अप्रगटभूत भासुर रूपका सद्भाव अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं?

जैन—तो फिर दीपक आदिमे भी अतिम अवस्थामे अन्य अन्य परिणाम का आधारपना स्वीकार किये विना सत्त्व कृतकत्व आदि धर्मका होना असभव है उन

सत्प्रतिपक्षश्च, तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एव स न तत्त्वेनोपेयो यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति। न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदप्रतीते सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्व-

---

दीपकादिकी बिना उपादानके उत्पत्ति होनेका प्रसग भी अवश्यभावी है, इन प्रत्यक्ष बाधाओके कारण दीपकादिके सतानका सर्वथा उच्छेद नही होता ऐसा क्यो न माना जाय ? अनुमान प्रमाण द्वारा भलीभाति सिद्ध होता है कि प्रदीप आदि पदार्थ पूर्व स्वभावका त्याग और उत्तर स्वभावकी प्राप्ति एवं स्थिति रूप परिणमन वाले है, क्योकि वे सत्तारूप एव कृतक रूप है, जैसे घट पट आदि पदार्थ सत्तारूप अथवा कृतक रूप होनेसे परिणमन वाले है ?

विशेषार्थ—वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि एव वायुको सर्वथा पृथक् द्रव्य मानते है इन द्रव्योके परमाणु कभी भी परस्पर रूप परिणमन नही करते, इन पृथ्वी आदि द्रव्योके धारण द्रवन आदि गुणधर्म भी अपनेमे समाविष्ट है। अग्निके जलमे स्थित होनेपर उसका उष्णधर्म तो प्रगट रहता है किन्तु भासुर धर्म [चमकीलापन] मात्र तिरोभूत होता है, नष्ट नही होता, यदि इसका नाश माने तो उसका साथी उष्ण धर्म एव इन दोनोका आधारभूत अग्निद्रव्य के नाश होनेका प्रसग आता है। इस वैशेषिक सिद्धातको लेकर आचार्यने कहा कि विद्युत्, प्रदीप आदि पदार्थकी सतान भी सर्वथा नष्ट नही होती न इनकी उत्पत्ति बिना उपादानके होती। जिसप्रकार उष्ण जलमे भासुरपना मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है तो भी उसे स्वीकार करते है उसीप्रकार दीपकके बुझ जानेपर उसका अस्तित्व अन्य परिणामरूपसे रहता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, किसी भी सत्तामूलक पदार्थका सर्वथा नाश नही होता यह अटल सिद्धात है, अत बुद्धि आदि गुणोका अत्यन्त उच्छेद होना सिद्ध नही होता।

सतानत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी है, यथा—बुद्धि आदि गुणोकी सतान अत्यन्त उच्छिन्न होनेवाली नही है, क्योकि किसी भी प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना सिद्ध नहीं होता, जो इसप्रकार प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होता उसे वास्तविक रूपसे स्वीकार नही करते, जैसे पाकज परमाणुओके रूपादि गुणोकी सतान अत्यन्त उच्छिन्न होना नही मानते, बुद्धि आदि गुणो की सतान भी प्रमाण द्वारा उच्छिन्न होना सिद्ध नही होती अत वह अत्यन्त उच्छेद होनेवाली नही है। वैशेषिक द्वारा प्रस्तुत किये गये

मसिद्धम्, सन्तानत्वसाधनस्यासत्प्रतिपक्षत्वासिद्धे, तत्सिद्धौ हि हेतोर्गमकत्वम्। कालात्ययापदिष्टत्वं च, अनेनैवानुमानेन बाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्।

यच्च तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमित्युक्तम्, तदप्युक्तिमात्रम्, ततो विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण धर्माधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्याभावासिद्धेः। इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानोच्छेदसाधने च सिद्धसाधनम्। इन्द्रियाद्यपाये ज्ञानादिसन्तानसद्भावश्चाशेषज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादित। कथं चातीन्द्रियज्ञानाद्यनभ्यु-

---

सतानत्व हेतुवाले अनुमानसे सतानका सर्वथा उच्छेद होना सिद्ध होता है अतः "सर्व प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना असिद्ध है" ऐसा हमारे द्वारा प्रयुक्त हुआ हेतु असिद्ध दोष युक्त है ऐसी आशका भी नही करना, क्योकि वैशेपिकके सतानत्व हेतुका असत्प्रतिपक्षपना असिद्ध है, हेतुका असत् प्रतिपक्षत्व सिद्ध होनेपर ही वह अपने साध्यका गमक होता है अन्यथा नही। सतानत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है, क्योकि इसी अनुमान द्वारा [बुद्धि आदि गुणोकी सतान अत्यन्त उच्छिन्न होनेवाली नही है– इत्यादि अनुमान द्वारा] सतानत्व हेतुका पक्ष बाधित होता है, जिस हेतुका पक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है उसको कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं। इसप्रकार सतानत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध, अनैकातिक, सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट इन पाचो ही दोषो से युक्त होनेके कारण स्वसाध्यको [बुद्धि आदिगुणोका अत्यन्त नाश होना] कथमपि सिद्ध नही कर सकता ऐसा निश्चय हुआ।

तत्त्वज्ञानसे विपरीतज्ञान का नाश होता है और क्रमसे धर्मादिका नाश होकर मोक्ष होता है, अत तत्त्वज्ञान मोक्षका हेतु है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, तत्त्वज्ञानद्वारा विपरीत ज्ञानका व्यवच्छेद एव क्रमसे धर्माधर्म तथा उनके कार्यभूत शरीरादिका नाश होनेपर भी अनत अतीन्द्रिय अखिल पदार्थोंको विषय करने वाला सम्यग्ज्ञान तथा सुखादि सतानोका नाश होना असिद्ध है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानादि सतान का उच्छेद करना इष्ट हो तो यह सतानत्व हेतु सिद्ध साधन है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण मे हम इसका प्रतिपादन कर चुके हैं कि सर्वज्ञ अवस्था एव मुक्तावस्थामे इन्द्रियादिके नही रहनेपर भी ज्ञानादि सतानका सद्भाव पाया जाता है। यदि अतीन्द्रिय ज्ञानादि को न माना जाय तो महेश्वर मे उसका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध होगा ? ईश्वर का ज्ञान नित्य है इस मान्यताका निरसन तो ईश्वर का निराकरण करते समय हो चुका

पगमे महेश्वरे तत्सद्भाव. स्यात् ? नित्यत्व चेश्वरज्ञानस्येश्वरनिराकरणे प्रतिषिद्धम्। शरीराद्यपायेप्यस्य ज्ञानाद्यभ्युपगमेऽन्यात्मनोपि सोस्तु तत्स्वभावत्वात्। न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानमतिप्रसङ्गात्।

यत्तूक्तम्–आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात्प्रक्षय', तदपि न सूक्तम्, उपभोगात्कर्मण प्रक्षये तदुपभोगसमये अपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादे सम्भवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवत' कथमात्यन्तिकः प्रक्षय ? सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञानोच्छेदक्रमेण बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् सञ्चितकर्मक्षयेपि सामर्थ्यं सम्भाव्यत एव। यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ सामर्थ्यवत् प्रवृत्ततत्स्पर्शादिध्वंसेपि सामर्थ्यं प्रतीयते। किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानम्, न पुनरेकान्तनित्यानित्यात्मादि-

---

है। तथा महेश्वरके शरीरादिके नही रहने पर भी ज्ञानादि गुणोका सद्भाव स्वीकार किया जाता है तो अन्य आत्माके ज्ञानादि गुणोका सद्भाव भी मुक्तदशामे स्वीकार करना चाहिये, क्योकि अन्य आत्मा भी ज्ञान स्वभावरूप है, यदि उस स्वभावका अभाव माना जाय तो स्वभाववान् आत्माका अभाव माननेका अतिप्रसग उपस्थित होगा।

धर्माधर्मका कार्य प्रारभ हो चुकनेपर उनका उपभोग होकर क्षय हो जाता है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी ठीक नही है, मात्र उपभोगसे ही कर्मका क्षय होता है ऐसा मानने पर उन कर्म फलोका उपभोग करते समय अन्य नवीन कर्मके निमित्तभूत अभिलाषा पूर्वक मन वचन कायकी क्रियाका सद्भाव होनेसे जिसका अविकल कारण मौजूद है ऐसे प्रचुरतर नवीनकर्म उत्पन्न होते ही रहेगे, अत उनका अत्यन्त क्षय किस प्रकार हो सकेगा ? सम्यग्ज्ञान द्वारा कर्मोका सर्वथा क्षय होना तो भलीभाति सिद्ध होता है, हा वह सम्यग्ज्ञान बाह्य क्रिया-हिंसादि पाप रूप एव अभ्यतर क्रिया-राग द्वेषादि कषाय की निवृत्ति होना रूप चारित्र द्वारा वृद्धिगत होना चाहिये, ऐसे सम्यग् ज्ञानमे जैसे आगामी कर्मोको उत्पन्न नही होने देना [सवर] रूप सामर्थ्य है वैसे पूर्व सचित कर्मोका क्षय करादेनारूप सामर्थ्य भी अवश्य ही रहती है। जैसे उष्ण स्पर्शमे भावीशीत स्पर्श को उत्पन्न नही होने देना रूप सामर्थ्य है वैसे वर्त्तमानके शीतस्पर्शको नष्ट करना रूप सामर्थ्य भी रहती है। किन्तु सम्यग्ज्ञान वही कहलाता है जो कथञ्चित् परिणमनशील जीव, अजीव आदि वस्तुभूत पदार्थोको विषय करता हो। सर्वथा नित्य या अनित्यरूप कल्पित पदार्थोको विषय करनेवाला ज्ञान सम्यग् नही कहलाता, क्योकि विपरीत अर्थका ग्राहक होनेके कारण उसमे मिथ्यापना है ऐसा आगे प्रतिपादन करने

विषयम्, तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेरित्यग्रे निवेदयिष्यते। अतो यदुक्तम्-'यथै-धासि' इत्यादि, तत्सर्वं सवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्याभ्युपगमात्सिद्धसाधनम् ।

यच्चाभ्यधायि-समाधिवलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, अभिलाषरूपरागाद्यभावेऽङ्गनाद्युपभोगासम्भवात् । तत्सम्भवे वावश्यभावी गृद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोपि प्रचुरतरधर्माधर्मसम्भवो नृपत्यादेरिवातिभोगिन । वैद्योपदेशादातुरोप्यौषधाद्याचरणे नीरुग्भावाभिलाषेणैव प्रवर्त्तते, न पुनर्ज्ञानमात्रात्। तन्नाशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्ति । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य, इत्यल विवादेन, जीवन्मुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव हेतो सिद्धे । ससारकारण हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मक न पुनर्मिथ्याज्ञानमात्रात्मकम्, तच्चै कस्मात्सम्यग्ज्ञानमात्रात्कथ व्यावर्त्तेत इत्युक्त सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे ।

वाले हैं । ज्ञान रूपी अग्नि कर्मरूपी ईंधनको जलाती है इत्यादि जो पूर्वमे कहा था वह भी हमारे लिये सिद्ध साधन है, सवररूप चारित्र द्वारा बढी हुई सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि सपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेकी सामर्थ्य रखती है ऐसा हम मानते ही है ।

वैशेषिक ने कहा था कि समाधिके बलसे उत्पन्न हुआ है तत्त्वज्ञान जिनके ऐसे पुरुष अनेक शरीरोको एक साथ उत्पन्न कर कर्मोका उपभोग कर डालते हैं इत्यादि, वह सब प्रलाप मात्र है, अभिलाषारूप रागादि विकार भावके नही होनेपर स्त्री आदि पदार्थका उपभोग होना असभव है, यदि सभव है तो उस उपभोगके सद्भावमे गृद्धियुक्त उस तत्त्वज्ञानी योगीके भी आपके अभिप्रायानुसार प्रचुरतर धर्माधर्म [पुण्य पाप] का सद्भाव सिद्ध होता है, फिर तो वे योगी राजाके समान अतिभोगी ही कहलाये । वैद्यके कथनानुसार रोगी औषधि आदिका सेवन बिना आसक्ति के करता है वैसे योगीजन बिना आसक्तिके उपभोग करते है ऐसा भी नही कहना, रोगी के निरोग होनेकी अभिलाषा अवश्य होती है, उस अभिलाषाके बिना ज्ञान मात्रसे औषधि सेवन नही होता । अत. अशेष शरीर द्वारा सपूर्ण कर्म फलोका उपभोग होनेसे अन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना नही रुकता, किन्तु परिपूर्ण प्रकृष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होनेसे अन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना रुकता है, अब अधिक विवादसे बस हो, परममुक्ति स्वरूप मोक्षके समान जीवन्मुक्तिके प्राप्तिका कारण भी यही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्न है ऐसा निश्चित होता है । ससारका कारण भी मिथ्यादर्शन-ज्ञान, चारित्ररूप त्रितयात्मक

यच्चान्यदुक्तम्–नित्यनैमित्तिकानुष्ठान केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतु, तदिष्टमेवास्माकम् ।

आनन्दरूपता तु मोक्षस्याभीष्टैव । एकान्तनित्यता तु तस्याः प्रतिषिध्यते । चिद्रूपतावदानन्दरूपताप्येकान्तनित्या, इत्यप्ययुक्तम्, चिद्रूपताया अप्येकान्तनित्यत्वासिद्धेः, सकलवस्तुस्वभावानां परिणामिनित्यत्वेनाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् ।

अथानित्यत्वे तस्या तत्सवेदनस्य चोत्पत्तिकारण वक्तव्यम्, ननूक्तमेव प्रतिबन्धापायलक्षणं तत्कारण सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे । आत्मैव हि प्रतिबन्धकापायोपेतो मोक्षावस्थाया तथाभूतज्ञानसुखादि-

---

ही है न कि एक मिथ्याज्ञान रूप । जब संसारका कारण भी मिथ्यादर्शनादि तीनरूप है तो उनका नाश केवल सम्यग्ज्ञान द्वारा किसप्रकार सभव है ? अर्थात् सभव नही है, इस विषयमें सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें कथन कर आये है ।

केवल ज्ञानोत्पत्तिके पहले तत्त्वज्ञानी नित्य नैमित्तिक क्रियाका अनुष्ठान करता है ऐसा कहा था सो हम लोगो को भी इष्ट है क्योकि काम्य और निषिद्ध अनुष्ठान [अभिलाषा युक्त शुभ-अशुभ आचरण] को छोड़कर नित्य नैमित्तिक क्रिया [आवश्यक क्रिया] का अनुष्ठान ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोके क्षयका निमित्त होनेसे केवलज्ञान की प्राप्तिका हेतु है ।

ब्रह्मवादीका आनदरूप मोक्षका लक्षण भी हम जैनको कथंचित् इष्ट है, परंतु उस आनदरूपताको एकांतसे सर्वथा नित्य मानना निषिद्ध है । चैतन्यरूपताके समान आनंदरूपता भी एकातसे नित्य है ऐसा कहना भी अयुक्त है, हम स्याद्वादी चैतन्यरूपता को भी एकातसे नित्य नही मानते, जगत्के यावन्मात्र पदार्थोके स्वभाव परिणामी नित्य है ऐसा आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं ।

शंका–यदि आनदरूपको अनित्य मानते है तो उसके एवं उसके सवेदनके उत्पत्तिका कारण बताना चाहिये ?

समाधान–सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरणमे उस आनदरूपता आदिके उत्पत्तिका कारण कह दिया है कि प्रतिबधक कर्मोके नष्ट हो जानेसे अनत सुखादिरूप आनदरूपतादिकी उत्पत्ति होती है । मोक्ष अवस्थामे प्रतिबधक कर्मोसे रहित आत्मा ही अतीन्द्रिय ज्ञान सुख आदि का कारण होता है, जिसप्रकार घट आदि आवरणसे रहित प्रदीपक्षण

कारणम्, घटाद्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकापरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ, तदुत्पादन[स्व]भावस्यान्यापेक्षायोगात्। यद्धि यदुत्पादनस्वभाव न तत्तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् यथान्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, तदुत्पादनस्वभावश्चातीन्द्रियज्ञानसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मेति। ससारावस्थायामप्युपलभ्यते–वासीचन्दनकल्पाना सर्वत्र समवृत्तीना विशिष्टध्यानादिव्यवस्थिताना सेन्द्रियशरीरव्यापाराऽजन्य परमाल्हादरूपोऽनुभव । अस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरावस्थामासादयत: परमकाष्ठा गति सम्भाव्यत एव।

स्वपर प्रकाशक अपर प्रदीपक्षणकी उत्पत्तिका कारण है, क्योकि उसको उत्पन्न करनेका जो स्वभाव है वह अन्यकी अपेक्षा नही रखता है। आत्मा अतीन्द्रिय सुखादिकी उत्पत्ति मे अन्यकी अपेक्षा नही रखता, क्योकि उसको उत्पन्न करनेका उसका स्वभाव ही है, जो जिसके उत्पादनके स्वभावभूत होता है वह उसके उत्पादनके लिये अन्यकी अपेक्षा नही करता है, जैसे अत्यक्षणकी कारण सामग्री स्वकार्यके उत्पादनमे अन्यकी अपेक्षा नही रखती, प्रतिबधक कर्मसे रहित आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्ञानसुखादिके उत्पादनमे तदुत्पादन स्वभावभूत है, अत अन्य कारणकी अपेक्षा नही करता। इस अतीन्द्रिय सुखादिकी झलक उन पुरुषो को ससार अवस्थामे भी आती है जो वासी और चदनमे समान भाव धारते है [कुठार द्वारा घात करने वाले और चदन द्वारा लेप करने वाले इन दोनोमे समता भाव] विशिष्ट ध्यानादिमे सलग्न हैं, ऐसे साम्यभावधारक वीतराग साधुओको इन्द्रिय एव शरीरकी क्रियासे जो उत्पन्न नही हुआ है ऐसा परम आह्लादरूप सुखानुभव होता है, यही अनुभव शुद्धात्माके भावनाके वशसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ चरम सीमापर पहुचना सभव ही है।

विशेषार्थ–शुद्धात्माके ध्यानमे लीन परम वीतराग महासाधुओको जो अकथनीय आनद प्राप्त होता है उसका आध्यात्मिक ग्रथोमे वर्णन पाया जाता है, वह शुद्धात्म भावना या सिद्धातानुसार शुक्ल ध्यान वृद्धिगत होते हुए सपूर्ण कर्मोके नाशमे हेतु होता है। अत आनदरूपताको मोक्षका स्वरूप मानना जैनको इष्ट ही है। किन्तु ब्रह्मवादी इसको सर्वथा नित्य मानते है इसलिये उन्हे शका हुई कि आत्माकी आनदरूपता यदि अनित्य है तो उसके उत्पत्ति कारण कौन होगा ? तब जैनने समाधान किया कि प्रतिबधक कर्मका अभाव होना आनंदरूपताका कारण है। मुक्तावस्थामे केवल आनद ही नही रहता अपितु ज्ञान दर्शन आदि गुणोका सद्भाव भी रहता है, अब यहा इन गुणोके आविर्भावके कारण क्रमश बताते हैं–ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे

आनन्दरूपताभिव्यक्तिश्चानाद्यऽविद्याविलयात्, इत्यभीष्टमेव; अष्टप्रकारपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपाऽनाद्यविद्याविलयाद् अनन्तसुखसंज्ञानादिस्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात् ।

विशुद्धज्ञानसन्तानोत्पत्तिलक्षणोऽप्यसौ मोक्षोऽभ्युपगम्यते । स तु चित्तसन्तानः सान्वयो युक्तः । बद्धो हि मुच्यते नाबद्ध । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः तत्र ह्यन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते ।

अनत केवलज्ञान, दर्शनावरण कर्मके नाशसे अनत केवल दर्शन, मोहनीय कर्मके क्षयसे अनतसुख या आनद, अतरायकर्मके विनाशसे अनतवीर्य । जीवन्मुक्तिमे ये गुण प्रगट होते हैं । परममुक्तिमे वेदनीयके क्षयसे अव्याबाधत्व, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व, गोत्रके नाशसे अगुरुलघुत्व एव आयुकर्मके विनाशसे अवगाहनत्व गुण प्रगट होते है । वैशेषिक मुक्तावस्थामे किसी भी गुणका सद्भाव नही मानते, बुद्धि, सुख जैसे सर्वथा आत्मीक गुणोका अभाव भी मुक्तिमे होता है ऐसा उनका कहना है, यह सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है, यदि आत्मारूपी गुणीका सद्भाव मुक्तिमे है तो उसके ज्ञानादिगुण अवश्य ही विद्यमान रहेगे, क्योकि गुणी और गुणका तादात्म्य है । तथा जहां पर अपने गुणोका ही नाश हो वहा पर जाना कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ? एक कविने व्यग करते हुए कहा है कि —

वरं वृंदावनेऽरण्ये शृंगालत्वं भजाम्यहम् ।
न पुन वैंशेषिकी मुक्ति प्रार्थयामिकदाचन ।।२८।। [सर्वसिद्धातसग्रह]

अनादिकालीन अविद्याके विलय होनेपर आनदरूपता अभिव्यक्त होती है ऐसा ब्रह्मवादी मतव्य भी हमे इष्ट है, किन्तु वह अविद्या मायारूप या काल्पनिक न होकर वास्तविक है, आठ प्रकारके ज्ञानावरणदि कर्मप्रवाहरूप अनादि अविद्याके विलय हो जानेसे अनंतज्ञान, अनतसुखादिकी प्राप्ति होना रूप मोक्ष मानना हम जैनको अभीष्ट ही है ।

हम लोग बौद्धाभिमत विशुद्ध ज्ञानसतानकी उत्पत्ति होना रूप मोक्षको भी स्वीकार कर सकते है, किन्तु वह ज्ञान सतान अन्वययुक्त होती है [द्रव्य सहित पर्याय होती है न केवल पर्याय] बौद्धोके समान निरन्वय नही, क्योंकि जो बधा था वह छुटता है न कि अबधक, बौद्ध ज्ञानसतानको निरन्वय [मूल-आधारभूत द्रव्यसे रहित] मानते हैं अत जो बद्ध था उसकी मुक्ति हुई ऐसा सिद्ध होना असभव है, उनके यहा तो अन्य ही कोई बद्ध होता है और अन्य कोई मुक्त होता है ।

सन्तानैक्याद्बद्धस्यैव मुक्तिरपीति चेत्, ननु यदि सन्तानार्थः परमार्थसन्, तदात्मैव सन्तानशब्देनोक्त स्यात्। अथ सवृतिसन्, तदैकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वात् 'अन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते' इति मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्। अथात्यन्तनानात्वेपि दृढतरैकत्वाध्यवसायाद् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवत प्रवृत्तेर्नाय दोष, न तर्हि नैरात्म्यदर्शनम्, इति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः ? अथास्ति तद्दर्शन शास्त्रसस्कारजम्, न तर्ह्येकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्ति स्यात् ? तथा च—

"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [प्रमाणवा० २।१९२] इति प्लवते। तस्मात्सान्वया चित्तसन्ततिरभ्युपगन्तव्या, सकलविज्ञानक्षणत्वेपि जीवाभावे बन्धमोक्षयोस्तदर्थं वा

सतान एक रूप होनेके कारण बद्ध की ही मुक्ति होती है ऐसा कहना भी शक्य नही, आप सतानको यदि परमार्थभूत मानते है तो आत्माका ही सतान शब्द द्वारा उल्लेख हुआ। और यदि काल्पनिक मानते है तो एक वास्तविक सत्ताभूत पदार्थ के नही होनेसे वही दोष आता है कि अन्य बद्ध था और अन्य कोई मुक्त हुआ, इस तरह तो मुक्तिके लिये प्रयत्न शील हो ही नही सकता, क्योकि जिसने प्रयत्न किया वह मुक्त न होकर अन्य कोई होता है।

बौद्ध—सतानमे अत्यन्त नानापना होनेपर भी दृढतर एकपनेका अध्यवसाय [अभ्यास] होनेके कारण बद्ध हुए आत्माको विमुक्त करूगा इसप्रकारके अभिप्राय युक्त पुरुष मोक्षके लिये प्रयत्न करते ही है। अत कोई दोष नही ?

जैन—तो फिर आपका नैरात्म्य दर्शन समाप्त होता है, अर्थात् प्रदीप निर्वाणवत् आत्मनिर्वाणम्—दीपकके समान आत्माका निरन्वय नाश होता है और वही मोक्ष है ऐसे शून्यस्वरूप नैरात्म्य भावनासे मोक्ष होता है ऐसी मान्यता नष्ट होती है फिर उस भावनाके निमित्तसे होनेवाला मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध होगा ? नैरात्म्य दर्शनका अस्तित्व है और वह शास्त्र सस्कार से होता है ऐसा कहो तो उक्त एकत्वका अध्यवसाय सत्यार्थ नही रहता [क्योकि नैरात्म्य भावना आत्म-अभावरूप है और आत्म-एकत्वकी भावना आत्म सद्भाव रूप है अत. एकको सत्यभूत स्वीकार करनेपर दूसरी स्वतः असत्य ठहरती है] फिर बद्ध पुरुषके आत्म एकत्वका अध्यवसाय हो जानेसे मुक्तिके लिये प्रवृत्ति होती है ऐसा कथन किस तरह सिद्ध होगा ? इसतरह मुक्तिके लिये प्रवृत्ति होना सिद्ध नही होनेपर मुक्त होनेवाले आत्माके नही होनेपर भी मिथ्या

प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। न चान्योन्यविलक्षणाऽपरापरचित्तक्षणानामनुयायिजीवाभावो विरोधात्, इत्यभिधातव्यम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तत्रानुयायिरूपतया तस्य प्रतीतेः। प्रतीयमानस्य च कथं विरोधो नाम अनुपलम्भसाध्यत्वात्तस्य ?

तद्व्यापारे चासति आत्मनि प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्य प्रादुर्भावो न स्यात्। अथात्मन्यप्यारोपितैकत्वविषयत्वादस्य प्रादुर्भावः, न; अस्यारोपितैकत्वविषयत्वे स्वात्मन्यनुमानात्क्षणिकत्व निश्चिन्वतो निवृत्तिप्रसङ्गात्, निश्चयारोपमनसोर्विरोधात्। निवर्तत एवेति चेत्, तर्हि सहजस्याभिसस्कारिकस्य च

अध्यारोपको दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं इत्यादि कथन नष्ट होता है। इसलिये ज्ञान सतानको सान्वय [द्रव्याधारभूत] स्वीकार करना ही युक्ति सगत है, सकल विज्ञानके क्षणभूत सतानके होनेपर भी जीवके अभावमे बंध मोक्ष एव उनके लिये प्रवृत्ति दोनो ही घटित नही होते।

बौद्ध—परस्परमे अत्यन्त विलक्षण ऐसे अन्य अन्य ज्ञान क्षणोंका अन्वय हो नही सकता अतः इनमे रहने वाले अनुयायी जीवका अभाव ही है यदि उसको माने तो विरोध होगा ?

जैन—ऐसा कहना असत् है मैं पहले दुःखी था अब सुखी हो गया इत्यादि स्वयके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानक्षणो का अन्वय एवं अनुयायीकी प्रतीति हो रही हैं, प्रतीयमान वस्तुका विरोध किसप्रकार हो सकता ? विरोध तो अनुपलभ साध्य है।

इसप्रकार संतान एकत्वकी सिद्धि नही होनेसे मुक्तिके लिये प्रयत्न करना सिद्ध नही होता तथा आत्माका अस्तित्व भी स्वीकृत नही किया जाता अतः प्रत्यभिज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकती, क्षणिक आत्मामे कल्पित किया गया जो एकत्व है उसको विषय करनेसे प्रत्यभिज्ञानका प्रादुर्भाव होता है ऐसा कहना भी गलत है, प्रत्यभिज्ञानका विषय कल्पित एकत्व माने तो अपनेमे अनुमानसे क्षणिकपनेका निश्चय करने वाले पुरुषके वह प्रत्यभिज्ञान निवृत्त हो जायगा [नष्ट होवेगा,] क्योकि निश्चित ज्ञान और कल्पित विषयक ज्ञानका एकत्र रहनेमे विरोध है।

बौद्ध—आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय हो जानेपर एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान निवृत्त होता ही है।

-सत्त्वदर्शनस्याभावात्तदैव तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्। भ्रान्तत्वे चास्य प्रत्यक्षस्याशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, बाह्याध्यात्मिकभावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाशेषप्रत्यक्षाणां प्रवृत्तिप्रतीतेः। तथा च

जैन–तो फिर ग्राम्यजन और सुशिक्षितजनका जीवस्तित्वसबधी प्रत्यभिज्ञान समाप्त होते ही तत्काल एकत्व ज्ञान मूलक रागादि विकार भी नष्ट होना चाहिये और मुक्ति होना चाहिये ?

विशेषार्थ–बौद्ध मतमे आत्मा आदि पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक माना है, जब आत्मा क्षणिक है तब उसकी क्रमसे होनेवाली बद्ध और मुक्त अवस्था किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? जो पहले बद्ध था उसीके मुक्ति हुई ऐसा कहना अशक्य है, यदि अन्य बधा और अन्य मुक्त हुआ तो ऐसे अन्यके मुक्तिके लिये प्रयत्न भी नही हो सकेगा, तथा आत्माको क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञान होना अशक्य है, क्योकि पदार्थके कथचित् नित्य होनेपर ही उस ज्ञानका विषय एव प्रादुर्भाव सभव है। आत्मामे काल्पनिक एकत्वका आरोप करके उसको प्रत्यभिज्ञान विषय करता हैं, और जब अनुमान द्वारा आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय होता है तब वह काल्पनिक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है ऐसा बौद्धके कहनेपर आचार्य कहते है कि आत्माके क्षणिकपनेका ज्ञान होते ही एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होगा, राग द्वेष आदि विकार भी तत्काल नष्ट हो जायेंगे, क्योकि राग द्वेष आदि आत्माके नित्य रहनेपर ही सभव है अर्थात् अतरग आत्मामे किसीके प्रति राग तब होता है जब कुछ समय पहले उसने हमारे लिये इष्ट प्रवृत्ति की हो जैसे पुत्रका माताके प्रति सद्व्यवहार होनेपर माताका पुत्रके प्रति स्नेहाधिक्य हो जाता हैं, ऐसे ही द्वेष की प्रवृत्ति है अत निश्चित है कि राग द्वेषका उद्भव आत्माके नित्य रहनेपर ही [कथञ्चित् नित्य] सभव है। बौद्ध मतानुसार आत्मा क्षणिक है, उसमें एकपनेका भ्रात प्रत्यभिज्ञान होने से राग द्वेष होते हैं "सर्वं क्षणिक सत्वात्" इत्यादि अनुमान द्वारा आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय होनपर वह प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है। यदि ऐसा माने तो क्षणिकत्वका ज्ञान होनेके साथ ही प्रत्येक बौद्धमतानुयायीको मुक्ति हो जानी चाहिये ? क्योकि ग्रामीण जन हो चाहे शिक्षित जन हो सभी बौद्धोको आत्मक्षणिकत्वका ज्ञान होता है उसके होते ही राग द्वेष नष्ट होगे और रागादिके नष्ट होते ही मुक्ति होगी ? किन्तु ऐसा कुछ भी नही होता अत प्रत्यभिज्ञान को काल्पनिक मानना असिद्ध है।

प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविशेषणमसम्भाव्यमेव स्यात्। समर्थयिष्यते च प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्यानारोपितार्थग्राहकत्वमभ्रान्तत्वं च। तन्नैकत्वाभावः। अनुभूयमानस्यापि चैकत्वस्यानेकत्वेन विरोधे ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणविरुद्धरूपत्रयाध्यासितज्ञानस्य, अर्थस्वलक्षणस्य चैकदा स्वपरकार्यकर्तृत्वाकर्तृत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्य एकत्व विरोध स्यात्।

प्रत्यभिज्ञानको भ्रांत माननेपर सभी प्रत्यक्षज्ञानको भी भ्रांत माननेका प्रसंग आता है, क्योकि सभी प्रत्यक्ष प्रमाण बाह्य अभ्यंतर पदार्थों [चेतन अचेतन] में एकत्व ग्रहण द्वारा ही प्रवृत्त होते हुए प्रतीतिमें आ रहे है। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञानके समान प्रत्यक्षज्ञान भी एकत्वको विषय करनेवाला सिद्ध होता है अत उस प्रत्यक्षका अभ्रांतत्व विशेषण [कल्पनापोढ अभ्रात–प्रत्यक्षम्] असिद्ध हो जाता है। प्रत्यभिज्ञान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है एवं अभ्रात है ऐसा हम जैन आगे सिद्ध करनेवाले हैं, अत: आत्मादि पदार्थोके एकत्वधर्मका अभाव करना असभव है। दूसरी बात यह है कि एकत्वका साक्षात् अनुभव न होते हुए भी सुखदु खादि अनेक धर्मोंके साथ उसका रहना विरुद्ध माना जाय तो बौद्ध समत ग्राह्य ग्राहक और सवित्ति [पदार्थ ज्ञान एव उसकी प्रतीति] इन तीन विरुद्ध धर्मोंका ज्ञापन करानेवाले ज्ञानमें एकत्व मानना विरुद्ध होगा, तथा एक नीलादि स्वलक्षणभूत पदार्थमे एक ही कालमे स्वकार्यके प्रति कर्तृत्व और परकार्यके प्रति अकर्तृत्व ऐसे विरुद्ध दो धर्मोंका अस्तित्व स्वीकार किया है उसमें विरोध होगा।

विशेषार्थ—बौद्धका कहना था कि प्रत्यभिज्ञान एकत्वको विषय करता है अत. असमीचीन है, क्योंकि वस्तुमे अनेक धर्म होनेसे वह अनेक रूप है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान उन अनेक धर्मोमे भी एकपनेका बोध कराता है अर्थात् आत्मा सुखक्षण, दु खक्षण आदि अनेक धर्मरूप है उन सब धर्मोमे प्रतिक्षणकी आत्मा पृथक् होते हुए भी प्रत्यभिज्ञान सबमें एकत्वकी प्रतीति कराता है, अतः असत् है, इस कथनका जैनने उन्हीका सिद्धात लेकर निरसन किया कि आपके यहा ज्ञानक्षण और अर्थक्षण ऐसे दो वस्तुभूत पदार्थ माने है, ग्राह्य–जानने योग्य पदार्थ, ग्राहकज्ञान और सवित्ति इनका वेदन ये तीन धर्म एक ही ज्ञानमें सवेदित होते है, सो विरुद्ध तीन धर्मोका एकत्व अनुभवन करानेवाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञानके समान किसप्रकार विरोधको प्राप्त नही होगा? अवश्य होगा। तथा नील स्वलक्षण पीत स्वलक्षण आदि अर्थक्षणके भेद है एक नील स्वलक्षण

यच्चान्यत्–रागादिमतो विज्ञानान्न तद्रहितस्यास्योत्पत्तिरित्याद्युक्तम्, तदप्यसाम्प्रतम्; रागादिरहितस्याखिलपदार्थविषयविज्ञानस्याशेषज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात् । न च बोधाद्बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति, इत्यप्ययुक्तम्, विलक्षणकारणाद्विलक्षणकार्यस्योत्पत्यभ्युपगमे अचेतनाच्छरीरादेश्चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गाच्चार्वाकमतानुषङ्ग । प्रसाधितश्च परलोकी प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यच्चाभ्यधायि–सुषुप्तावस्थाया विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेष स्यात्; तदप्यभिधान-

---

मे एक ही समयमे अपने उत्तरक्षणवर्त्ती नीलक्षणको उत्पन्न करनेरूप कर्तृत्व धर्म रहता है और उसीमे उसीक्षण पीतक्षणको उत्पन्न नही करनेरूप अकर्तृत्व धर्म भी रहता है, ऐसे कर्तृत्व अकर्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मोके रहते हुए भी उस नीलक्षणमे एकत्व माना है सो यह मान्यता उक्त प्रत्यभिज्ञानके समान विरोधको क्यो नही प्राप्त होगी ? अत जिसप्रकार नीलक्षणमे अनेक धर्मोके रहते हुए भी एकत्व मानना अविरुद्ध है उसीप्रकार सुखक्षण आदि अनेक धर्मोके रहते हुए भी उन सब धर्मोमे एक ही आत्मा है और उस आत्म एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान भी समीचीन है ऐसा स्वीकार करना ही होगा ।

बौद्धाभिमत मोक्षके लक्षणका निरसन करते हुए वैशेषिकने कहा था कि रागयुक्तज्ञानसे रागरहित विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकती इत्यादि वह सब अयुक्त है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरणमे सपूर्ण पदार्थोको विषय करनेवाला ज्ञान रागरहित ही होता है ऐसा हम जैन निर्विवाद प्रतिपादन कर आये हैं । ज्ञानसे ही ज्ञानपना आने की मान्यता प्रमाणभूत नही है ऐसा कथन भी अयुक्त है, सर्वथा विलक्षणभूत कारणसे अन्य विलक्षणकार्य की उत्पत्ति स्वीकार करे तो अचेतनभूत शरीर आदिसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेका प्रसग आता है, और इसतरह विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार वाले वैशेषिकका चार्वाकमतमे प्रवेश हो जाता है, हम जैनने इस चार्वाकमतका निरसन करते हुए पहले ही सिद्ध कर दिया है कि परलोकमे गमन वाला ज्ञानादिसे तादात्म्य सबध ऐसा आत्मा अचेतनभूत चतुष्टयसे सर्वथा पृथक् है । अब यहापर अधिक नही कहते ।

सुप्त दशामे ज्ञानका सद्भाव मानेगे तो जाग्रत् दशासे उसकी विशेषता नही रहती ऐसा मतव्य भी असत् है, सुप्तदशामे ज्ञानके रहते हुए भी अतिनिद्रा द्वारा वह अभिभूत हो जाता है इसलिये जाग्रत् दशासे उस दशामे समानता नही होती, जिसप्रकार मत्त मूर्च्छित आदि दशामे मदिरा आदिके द्वारा उत्पन्न किये गये मद वेदना आदिसे हमारा ज्ञान अभिभूत हो जाता है । अभिप्राय यह है कि सुप्त उन्मत्त आदि दशामे

मात्रम्; अतस्तदा विज्ञानसद्भावेपि अतिनिद्रयाभिभूतत्वान्न जाग्रदवस्थातोऽविशेषः, मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थाया मदिराद्युत्पादितमदवेदनाद्यभिभूतविज्ञानवत् ।

ननु कोय मिद्धेनाभिभव· ? ज्ञानस्य नाशश्चेत्; कथ तस्य सत्त्वम् ? तिरोभावश्चेत्, न, स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यसम्भवात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, मणिमन्त्रादिनाग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिबन्धे च समानत्वात् । न हि तत्राप्यग्न्यादेर्नाश· प्रतिबन्धः, प्रत्यक्षविरोधात् । नापि तिरोभाव·; स्वपरप्रकाशस्वभावस्य स्फोटादिकार्यजननसमर्थस्य तिरोभावस्याप्यसम्भवात् । प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्यप्रतिबन्धाभ्युपगमोऽन्यत्रापि समानः । मिद्धादि-

---

ज्ञानका अभाव न होकर केवल अभिभव होता है, अभिभवके कारण जाग्रत दशासे इन दशाओमे विषमता होती है, वैशेषिक सुप्तादि दशामे ज्ञानका अभाव मानते है वह सर्वथा असत् है ।

वैशेषिक–निद्रा द्वारा ज्ञानका अभिभव होना मायने क्या ? ज्ञानका नाश होना अभिभव है ऐसा माने तो सुप्तादि दशामे उसकी सत्ता माननेका सिद्धात नष्ट होता है और उस अभिभवका अर्थ तिरोभाव होना करे तो स्वपरके प्रकाशक ऐसे जैनाभिमत ज्ञानका तिरोभाव होना भी असभवसा दिखाई देता है ?

जैन–यह कथन असम्यक् है, स्वपर के प्रकाशक ऐसे अग्निका मणिमत्रादिसे प्रतिबंध होता है तथा शराव आदिसे स्वपर प्रकाशक दीपकका प्रतिबध [तिरोभाव] होता है उसमे उपर्युक्त प्रश्न होगा कि स्वपरका प्रकाशन करने वाले इन पदार्थोका तिरोभाव होना असभव है, मत्रादिसे अग्निका नाश होना प्रतिबंध है ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष विरोध आता है, तथा उस मत्रादिसे अग्निका तिरोभाव होनेको प्रतिबध कहे तो स्वपर प्रकाशक एव स्फोट आदि कार्य करनेमे समर्थ ऐसे अग्निका तिरोभाव होना असभवसा दिखाई देता है ।

वैशेषिक–प्रतीतिके अनुसार वस्तु व्यवस्था होती हैं अत मत्रादि द्वारा अग्नि के स्वरूप सामर्थ्यका प्रतिबध होना स्वीकार करते है ?

जैन–प्रतीतिका यही क्रम ज्ञानके विषयमे सुघटित होता है निद्राद्वारा ज्ञानका केवल अभिभव होता है न कि अभाव ऐसा उभयत्र समान न्याय स्वीकार करना होगा । सुप्तादिदशामे निद्रादि सामग्रीके वशसे ज्ञान बाह्याभ्यंतर पदार्थके विषयमे

सामग्रीविशेषवशाद्धि वाह्याध्यात्मिकार्थविचारविधुर गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानसमान सुपुप्तावस्थाया ज्ञानमास्ते ।

न हि स्वपरप्रकाशस्वभावत्वमात्रेणैवास्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्; सर्वत्रानभिभूतस्यैवार्थस्य स्वकार्यकारित्वप्रतीते , अन्यथा दहनादिस्वभावस्याग्नेः सदा दाहकत्वप्रकाशकत्वप्रसङ्ग , गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्य वा तदर्थनिरूपकत्वानुषङ्ग । अथात्र मनोऽव्यासङ्गोऽस्मरणकारणम्; अन्यत्र मिद्धादिकमित्यविशेष । अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्–'एतावत्काल निरन्तरसुप्तोहमेतावत्काल सान्तरम्' इत्यनुस्मरणप्रतीतेः । न च स्वापलक्षणार्थाननुभवेपि सुप्तोत्थानानन्तर 'गाढोह तदा सुप्त.' इत्यनुस्मरण घटते, तस्यानुभूतवस्तुविपयत्वेनानुभवाविनाभावित्वात्, अन्यथा घटाद्यर्थाननुभवेपि

विचारशक्तिसे रहित हो जाता है, जैसे चलते हुए व्यक्तिके तृण स्पर्श विषयक ज्ञान विचार शक्तिसे रहित होता है ।

ज्ञान स्व और परका प्रकाशक स्वभाव युक्त होने मात्रसे उनके निरूपणकी सामर्थ्य उसमे सदा वनी रहे सो वात नही है, कोई भी पदार्थ हो वह अभिभूत न हो तभी अपने कार्यको कर सकता है, अभिभूत दशामे नही । अभिभूत दशामे भी कार्यकारी माने तो दहनादि स्वभाव वाली अग्नि सदा ही [प्रतिवंध दशामे भी] दाहक प्रकाशक होनी चाहिये, चलते हुए पुरुषके तृण स्पर्शका ज्ञान उस अर्थका निरूपक होना चाहिये इत्यादि अतिप्रसग दोष आता है ।

वैशेषिक—चलते हुए पुरुषका मन अन्य कार्यमे सलग्न होता है इसलिये तृण स्पर्शका निरूपण स्मरण आदि नही हो पाता ।

जैन—यही वात सुप्तदशाकी है निद्राके कारण ही ज्ञान स्वपर प्रकाशनमे असमर्थ हो जाता है । किञ्च, सुप्तदशामे भी निद्रित अर्थका प्रकाशन तो होता ही है, "इतनेकालतक निरतर सोया हूँ और इतनेकालतक सातर सोया हूँ" इसप्रकारका स्मृतिरूपज्ञान अन्यथा हो नही सकता । निद्रारूप अर्थका अनुभवन नही होता तो शयनकरके उठनेके वाद "उस उक्त मैं गाढ सो गया था" ऐसा स्मृतिज्ञान नही हो सकता, क्योकि स्मृतिज्ञान अनुभूत विषयमे ही प्रवृत्त होता है उसका अनुभवके साथ अविनाभाव ही है । अन्यथा घट आदि पदार्थका अनुभव नही होनेपर भी उसका स्मरण होना शक्य होगा, फिर अनुभव की सिद्धि भी किस हेतुसे होगी ?

तत्रानुस्मरणासम्भवात्कुतस्तदनुभवोपि सिद्धयेत् ? न च मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि विज्ञानाभावाद् दृष्टान्तस्य साध्यविकलता, इत्याशङ्कनीयम्, तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तरकालं 'मया न किञ्चिदप्यनुभूतम्' इत्यनुभवाभावप्रसङ्गात्, स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वात्। अतो येनानुभवेन सतात्मा निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थाया सोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः।

किञ्च, सुप्ताद्यवस्थाया विज्ञानाभाव स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? स एव चेत्, तत एव ज्ञानात्, तदभावाद्वा, ज्ञानान्तराद्वा ? न तावत्तत एव, अस्यासत्त्वात्, 'तदेव नास्ति तत्र, तत एव चाभावगतिः' इत्यन्योन्य विरोधात्। ज्ञानाभावात्तत्र तदभावपरिच्छित्तिः इत्ययुक्तम्, परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मतयाऽभावेऽसम्भवात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव 'अभाव' इति नामकृत स्यात्।

अथ ज्ञानान्तरात्तत्र तदभावगति, किं तत्कालभाविन, जाग्रत्प्रबोधकालभाविनो वा ? प्रथम

वैशेषिक—निद्रित अवस्थाके समान मत्त एवं मूर्च्छित आदि अवस्थामे भी विज्ञानका अभाव स्वीकार करते है अतः निद्रितदशा मे ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये मत्तदशाका दृष्टात प्रयोग साध्य विकल है ?

जैन—यह कथन असत् है, यदि मत्तादि अवस्थामे ज्ञानका अभाव माने तो उस अवस्थाके समाप्त होनेके अनंतर समयमे "मैने उस समय कुछ भी अनुभव नही किया" इसतरह की स्मृति नही हो सकती, क्योकि स्मृति ज्ञान अनुभव पूर्वक ही होता है। इसलिये जिस अनुभव द्वारा आत्मा निखिल अनुभवसे विकल रूप अनुभवमे आता है उस अवस्थामें [सुप्त मत्त आदिमे] उस अनुभव ज्ञानका सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

तथा सुप्तादि दशामे ज्ञानका अभाव है ऐसा आप मानते हैं सो उस दशामे ज्ञानका अभाव था इस बातको कौन जानता है वही आत्मा या पासमे स्थित कोई अन्य व्यक्ति ? वही जानता है तो किस ज्ञानसे जानेगा। उसी ज्ञानसे या उसके अभाव से अथवा ज्ञानातरसे ? उसी ज्ञानसे जानना अशक्य है, क्योकि उसका तो सत्त्व ही नही है, निद्रित दशामे वही ज्ञान नही है और उसी ज्ञानसे ज्ञानका अभाव जाना ये दोनों बाते परस्पर विरुद्ध है। उस ज्ञानाभावसे सुप्तदशाके ज्ञानका अभाव जाना जाता है ऐसा कथन भी हास्यास्पद है, जानना तो ज्ञानका धर्म है जब ज्ञानका अभाव है तो जानना भी असभव है, यदि ज्ञानके अभावमे जानना होता है तो ज्ञानका ही "अभाव" ऐसा नामकरण हुआ।

पक्षे कथं सुषुप्ताद्यवस्थायां सर्वथा ज्ञानाभावः ? अथ जाग्रत्प्रबोधकालभाविविज्ञानाभ्यामन्तराले ज्ञानाभावोऽवसीयते, ननु तद्दशाभाविज्ञानयोः सुषुप्ताद्यवस्थाभाविज्ञानं नोपलब्धिलक्षणप्राप्तम्, तत्कथं ताभ्यां तदभावोऽवसीयेत ? अन्यथाऽदृष्टस्यापि परलोकादेरभावोऽध्यक्षत एव स्यात्। तथा च "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः" [ ] इत्याद्यसङ्गतम्।

नापि पार्श्वस्थोऽन्यस्तत्र तदभावं प्रतिपद्यते, कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धेर्विरुद्धविधेर्वा

सुप्त दशाके ज्ञानाभावको ज्ञानांतर जानता है ऐसा तीसरा विकल्प कहो तो वह ज्ञानांतर कौनसा है तत्कालभावी है या जाग्रद् प्रबोध कालभावी है? प्रथमपक्ष माने तो सुप्तादिदशामे सर्वथा ज्ञानका अभाव है ऐसी मान्यता किसप्रकार सिद्ध होगी? दूसरापक्ष-जाग्रत प्रबोध कालभावी अर्थात् जाग्रद्दशाका ज्ञान और प्रबोधदशा-शयनानंतर अवस्थाका ज्ञान इन दोनो ज्ञानोसे अंतरालमे ज्ञानका अभाव था ऐसा जाना जाता है इसतरह माने तो भी ठीक नही, क्योंकि सुप्तादि दशाका ज्ञान उपलब्ध होने योग्य [इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य] नही है अतः जाग्रत् एवं प्रबोध दशावाले ज्ञानो द्वारा उस ज्ञानके अभावको जानना किसप्रकार शक्य है ? जो उपलब्ध होने योग्य नही है ऐसे पदार्थके अभावको भी यदि प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है तो अदृष्टभूत परलोक आदिका अभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा हो जायगा, फिर निम्न कारिकांश असंगत होवेगा कि प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था होनेसे, अन्यकी बुद्धि का ज्ञान होनेसे तथा किसी का अभाव किया जा सकनेसे प्रत्यक्षसे भिन्न प्रमाणांतरका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस कारिकासे यह सिद्ध होता है कि किसीका अभाव ज्ञात करना प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमानादि अन्य प्रमाण द्वारा होता है।

विशेषार्थ—प्रमाणेतर सामान्य स्थिते रन्यधियो गते ।
प्रमाणांतर सद्भाव प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥१॥

यह कारिका चार्वाकके एक प्रत्यक्ष प्रमाणवादका निरसन करने हेतु बौद्ध ग्रंथमे आयी है इसका अर्थ—प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था, अन्यके बुद्धिका अवगम एवं किसीका प्रतिषेध प्रत्यक्ष द्वारा न होकर प्रमाणांतरसे होता है अतः उस प्रमाणांतर का सद्भाव मानना आवश्यक है। जो पदार्थ अनुपलब्धि लक्षण वाले है उनको जानना तथा किसी वस्तुके अभावको जानना प्रत्यक्षके [इन्द्रिय प्रत्यक्षके] वशकी बात नही है, अतः सुप्त आदि दशामे ज्ञानका अभाव था ऐसा जानना जाग्रत् एवं प्रबोध दशाके

तदभावाविनाभाविनो लिङ्गस्यात्रानुपलब्धेः। न तत्र विज्ञानसद्भावेपि लिङ्गाभाव. समान इत्यभिधातव्यम्, स्वात्मनि स्वसविदितज्ञानाविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेस्तत्सद्भावावेदिनो; लिङ्गस्यात्रोपलब्धेः, जाग्रद्दशायामप्यन्यचेतोवृत्तेस्तद्वयतिरेकेणान्यतोऽप्रतीते ।

ननु द्विविधोत्र प्राणादि. चैतन्यप्रभवो जाग्रद्दशायाम्, प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति। तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद्दशाया चैतन्यानुमान युक्तम्, न पुनः प्राणादिप्राणादे । न खलुः गोपाल-

---

ज्ञानोद्वारा शक्य नही है, क्योंकि ये ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इसप्रकार प्रत्यक्षद्वारा सुप्तादिदशा का ज्ञानका अभाव नही जाना जाता यह सिद्ध हुआ, अनुमानादि अन्य प्रमाण द्वारा भी उस ज्ञानके अभावको नही जान सकते, क्योकि उसके लिये हेतु आदिकी आवश्यकता होती हैं। अतः निद्रित मूर्च्छित आदि अवस्थाओमे आत्मा ज्ञान शून्य हो जाता है वहा ज्ञानका सर्वथा अभाव ही हो जाता है ऐसा बौद्ध एव वैशेषिक आदि परवादी की मान्यता कथमपि सिद्ध नही होती।

सुप्त आदि दशामें ज्ञानका अभाव है ऐसा पासमे बैठा हुआ व्यक्ति जानता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो भी ठीक नही, पासमे स्थित व्यक्ति प्रत्यक्षसे तो उस ज्ञानाभावको जान नही सकता, क्योकि उसका वह विषय ही नही है, अनुमान द्वारा उसके ज्ञानाभावको जानना चाहे तो उसके लिये अविनाभावी हेतुका होना आवश्यक है किन्तु यहा कारणानुपलब्धि, स्वभावानुपलब्धि व्यापकानुपलब्धि एव विरुद्ध की विधिरूप कोई भी हेतु उपलब्ध नही होता।

वैशेषिक–जिसप्रकार सुप्तादि दशामे ज्ञानका अभाव सिद्ध करनेके लिये कोई हेतु उपलब्ध नही होता उसीप्रकार उक्त दशामे ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये भी कोई हेतु उपलब्ध नही है।

जैन–यह कथन असत् है, पासमे स्थित पुरुष अपने आत्मामे स्वसविदित ज्ञान के साथ जिनका अविनाभाव है ऐसे श्वासोच्छ्वास लेना, शरीर उष्ण रहना, ओज युक्त आकार होना इत्यादि हेतुसे ज्ञानका सत्व जानता है अत उन्ही हेतुओंसे निद्रित हुए उस अन्य व्यक्तिमें ज्ञानके अस्तित्व को भलीभाति जान लेता है। जाग्रद् दशामे भी अन्य की चित्तवृत्ति का जानना इन्ही हेतुओसे होता है, किसी अन्य हेतुसे तो वह चित्तवृत्ति प्रतीत नही होती।

घटादौ धूमप्रभवधूमादग्न्यनुमान दृष्टम्, अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्, इत्यप्यसङ्गतम्; सुपुप्तेतराव-स्थयो प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीते: । यथैव हि सुपुप्त. प्राणिति तथेतरोपि, अन्यथा 'किमय सुपुप्त किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुपुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्युः किन्तु प्राणादिप्रभवा., तर्हि जाग्रत परवञ्चनाभिप्रायेण सुपुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशामेव तेषा भावो न स्यात् । न ह्यग्नेर्जायमानो

भावार्थ–मेरे आत्मामे स्वसविदित ज्ञानके साथ अविनाभाव सम्वन्ध रखने वाले श्वासोच्छ्वास, शरीर उष्णता आदि कार्य है अर्थात् आत्मासे तादात्म्य सम्वन्ध वाले ज्ञानके होनेपर ही श्वास आदि क्रिया होती है ऐसा निश्चय किये हुए पुरुष निद्रा युक्त अन्य पुरुषमे श्वासादि क्रिया द्वारा ही ज्ञानका एव आत्माका सद्भाव जान लेते है, अन्य किसी हेतुसे नही । अत सिद्ध होता है कि सुप्त दशामे ज्ञानके सद्भावका आवेदन करने वाले प्राणापान शरीर उष्णता आदि हेतु मौजूद है ।

शका–आत्माके जाग्रद् आदि दशाओमे दो प्रकारके प्राण आदि होते हैं, चैतन्य प्रभवप्राणादि और प्राणादिप्रभव प्राणादि, इनमेसे चैतन्य प्रभव प्राणादि जाग्रद् दशामे और प्राणादि प्रभव प्राणादि सुप्तादि दशाओमे पाये जाते हैं, इनमे जो चैतन्य प्रभव प्राणादि है उससे जाग्रद् दशामे चैतन्यका अनुमान करना तो युक्त है किन्तु प्राणादि प्रभव प्राणादिसे सुप्त आदि दशामे चैतन्यका अनुमान करना युक्त नही, जैसे गोपाल घटादि [इन्द्रजालियाके घटमे] धूमसे प्रादुर्भूत धूमद्वारा अग्निका अनुमान करना युक्ति सगत नही होता अपितु अग्निसे प्रादुर्भूत धूमद्वारा ही अग्निका अनुमान करना युक्त होता है । अभिप्राय यह है कि सुप्त दशाके प्राण चैतन्यसे उत्पन्न नही हुए है अत उनके द्वारा चैतन्यका अनुमान करना अयुक्त है ?

समाधान–यह शका असत् है, सुप्तादिदशा और जाग्रद् दशा इनमें प्राणादि भिन्न भिन्न हो ऐसा प्रतीत नही होता, जिसप्रकार सुप्त पुरुष श्वासको ग्रहण करते हुए जीवित रहता है उसीप्रकार जाग्रद् पुरुष भी श्वासको ग्रहण करते हुए जीवित रहता है, यदि दोनोमे श्वासादिकी विशेषता होती तो क्या यह व्यक्ति सुप्त है अथवा जाग्रद् है ऐसा सदेह नही होता । दूसरी बात यह भी है कि यदि सुप्त व्यक्ति के ये प्राणा-पानादि चैतन्यप्रभव न होकर प्राणादि प्रभव हैं ऐसा माने तो कोई जाग्रत् पुरुष परको ठगनेके अभिप्रायसे सुप्तके समान पडा रहता है उसके प्राणापानादि सुप्त दशाके प्राणादि सदृश प्रतीत नही हो सकेंगे, अर्थात् जाग्रत व्यक्ति छलसे सुप्त जैसा बहाना

'किमय धूमोऽग्ने', धूमान्तराद्वा' इति सन्देह प्रवृत्तस्याग्निदर्शनेनतरास्या निवर्त्तते। प्राणादौ तु 'किमयमनन्तरचैतन्यप्रभव, किं वा भूतभाविजन्मान्तरचैतन्यप्रभव' इति सन्देह कुतो निवर्त्तेत परचैतन्यस्य द्रष्टुमशक्यत्वात्? ततोस्य न निश्शङ्क परप्रतिपादनार्थं शास्त्रप्रणयन युक्तम्। सन्देहात्तु तत्प्रणयन चार्वाकस्याप्यविरुद्धम्, इत्ययुक्तमुक्तम्–"अन्यधियो गते" [ ] इति।

उसको दूर करना अशक्य है क्योकि पर चैतन्यको देखना शक्य नही है। इसप्रकार परके चैतन्यका अस्तित्व सदेहास्पद हो जाता है, जब पर चैतन्यका अस्तित्व ही निश्चित नही है तो आपके बुद्धदेव निशशकरीत्या परजीवोको सबोधन करनेके लिये शास्त्र रचना किसप्रकार कर सकते है अर्थात् नही कर सकते। यदि कहा जाय कि पर चैतन्यके अस्तित्वका सदेह रहते हुए भी वे शास्त्र रचना कर लेते हैं तब तो चार्वाकमतमे भी शास्त्र रचना अविरुद्ध सिद्ध होगी? इसतरह सिद्ध होनेपर परके बुद्धिका निश्चय अनुमान प्रमाण द्वारा होता है अत· प्रत्यक्ष प्रमाणके समान अनुमान प्रमाणको मानना भी आवश्यक है इत्यादिरूपसे चार्वाक के प्रति बौद्ध द्वारा किया गया प्रतिपादन अयुक्त ठहरता है।

भावार्थ–बौद्ध आदि परवादी निद्रितादिदशामे चैतन्यके धर्मस्वरूप ज्ञानका अस्तित्व नही मानते हैं, किन्तु निद्रितादिदशामे श्वास लेना आदिरूप चैतन्यके अस्तित्वके बाह्य चिह्न दिखायी देते है, जैसे कि जाग्रद् दशामे दिखायी देते है, अत यदि उन चिह्नोके रहते हुए भी निद्रितादि दशामे चैतन्यका अस्तित्व एव उसके ज्ञान धर्मको नही माना जाय तो जाग्रद् दशामे भी ज्ञानका तथा चैतन्यका अस्तित्व सिद्ध नही होगा। इस तरह किसी भी पर व्यक्तिमे ज्ञानादिका निश्चय नही हो सकनेसे उसको उपदेश देना भी अशक्य है फिर परोपदेशके हेतुसे बुद्धका शास्त्र प्रणयन करना विरुद्ध ही पडता है। यदि बौद्ध इस बातको स्वीकार कर लेवे कि पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नही होता तो उन्हीके द्वारा अनुमान प्रमाणको सिद्ध करनेके लिये कहा गया है कि पर व्यक्तिके बुद्धिका ग्रहण अनुमान प्रमाणसे होता है अत. अनुमान प्रमाणका सद्भाव है इत्यादि सो वह कथन विरुद्ध हो जाता है, इसलिये पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नही होता ऐसा बौद्ध स्वीकार कर ही नही सकते। ज्ञानका निश्चय प्राणापान आदि से होता है अर्थात् श्वास लेना आदि जीवित चिह्न द्वारा चैतन्य एव ज्ञानका अस्तित्व जाना जाता है ये चिह्न जाग्रद् दशाके समान सुप्तादि दशामे भी अवस्थित है अत सुप्तादि दशामे ज्ञानका अभाव है ऐसा कहना आगम एव तर्क विरुद्ध पडता है।

सुषुप्तादौ चाद्यः प्राणादि कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणोजाग्रत्प्राणादेरिति चेत्, न, एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानादनन्तरभावीप्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासम्भाव्यमानत्वात्। न ह्येकस्मात्सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्यद्वयसम्भवो नाम, अन्यथा नित्यादप्यक्रमात्क्रमवत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग । तथाच "नाऽक्रमात्क्रमिणो भावा." [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोध । तस्मात्तत्कालभाविन एव ज्ञानात् प्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्य । तत्कथ तत्र ज्ञानाभावसिद्धि ?

स्वापसुखसवेदन चात्र सुप्रतीतम्–'सुखमहमस्वापम्' इत्युत्तरकाल तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेः। न ह्यननुभूते वस्तुनि स्मरण प्रत्यभिज्ञान चोपपद्यते। न च तदा स्वापसुखनिरूपणाभावात्तत्सवेदना-

---

सुप्त दशामे प्राणापान आदि प्राणादिप्रभव होते हैं ऐसा परवादी मानते है इस मान्यतामे प्रश्न होता है कि सुप्तादि दशामे शुरुका प्राणापान किससे उत्पन्न होगा ? जाग्रद् दशाके ज्ञानके साथ रहने वाले जाग्रद् प्राणादिसे उक्त प्राणापान उत्पन्न होता है ऐसा कहो तो युक्त नही, एक ही जाग्रद् ज्ञानसे अनंतर भावी प्राणादि और कालातरभावी प्रबोधज्ञान इसतरह दो कार्योका होना असभव है, क्योकि एक सामग्री विशेषसे क्रमभावी दो कार्यो की उत्पत्ति नही होती, अन्यथा नित्य एव अक्रमवर्त्ती कारणसे भी क्रमिक कार्यकी उत्पत्ति होनेका प्रसग प्राप्त होगा, और ऐसा स्वीकार करनेपर "अक्रमभूत कारणसे क्रमवर्त्ती पदार्थ उत्पन्न नही हो सकता" ऐसा बौद्धाभिमत प्रमाण वार्त्तिक ग्रथका कथन विरुद्ध हो जायगा। इसलिये सुप्तादि दशामे तत्कालभावी ज्ञानसे ही प्राणादिकी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। अत सुप्तादि अवस्थामे ज्ञानका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि सुप्तादि दशामे निद्रा सम्बन्धी सुखका सवेदन होता है "मैं सुख पूर्वक सोया था" इसप्रकार उत्तर कालमे होनेवाली प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिसे ही ज्ञात होता है कि सुप्त दशामे सवेदनका अस्तित्व था। क्योकि जिसका अनुभव नही हुआ है ऐसे वस्तुमे स्मृति और प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नही होता है। सुप्त दशाके समय निद्रा सुखका निरूपण नही होनेसे उस सवेदनका अभाव है ऐसा कहना भी अयुक्त है, उसी दिन जन्मे हुए बालक के मुखमे प्रक्षिप्त स्तनके दूधके पीनेसे उत्पन्न

भाव', तदहर्जातबालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनितसुखसंवेदनेन व्यभिचारात्। न खलु तत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते।

न च दु खाभावात्सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौण.; अभावस्य प्रतियोगिभावान्तरस्वभावतया व्यवस्थितेः इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चोक्तम्-अनेकान्तज्ञानस्य बाधकसद्भावेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्न नि.श्रेयससाधकत्वम्, तदप्युक्तिमात्रम्, तज्ज्ञानस्यैवाबाधिततया सम्यक्त्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। नित्यानित्यत्वयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिण्यभावः, इत्याद्यप्ययुक्तम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धे.। न च येन रूपेण

हुआ सुख उस बालक द्वारा निरूपित नही होता तो भी उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतः निरूपण नही होनेसे निद्रित दशामे सवेदनादिका अभाव है ऐमा कहना व्यभिचरित होता है।

निद्रित अवस्थामे दु खका अभाव होनेसे "सुख पूर्वक सोया था" इत्यादि प्रतीतिमे सुख शब्दका प्रयोग होता है अत गौण है इसप्रकार कहना भी अशक्य है, अभाव भी भावातर स्वभाववाला होता है ऐसा पूर्वमे निश्चय कर आये हैं, अतः अब सुप्तादि दशामे ज्ञानका सद्भाव करनेसे बस हो वह सर्वथा सुप्रसिद्ध ही है।

जैनके मोक्ष स्वरूपमे दोष उपस्थित करते हुए वैशेषिकने कहा था कि जैन अनेकातके ज्ञानसे मोक्ष होना मानते हैं किन्तु उस ज्ञानमे बाधाका सद्भाव होनेके कारण मिथ्यापना है अत वह मोक्षका हेतु नही हो सकता, सो यह उक्ति मात्र है, अनेकात स्वरूप ज्ञान ही सर्वथा अबाधित होनेसे सम्यग् है ऐसा हम आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं।

शका—नित्य और अनित्य धर्म परस्परमें विधि और प्रतिषेध रूप होनेसे एक धर्मीमे उनका अभाव है?

समाधान—यह शका असत् है, जो वस्तु प्रतीतिमे आ रही है उसमे विरोध मानना असिद्ध है। तथा वस्तुमे जिसरूपसे नित्यपनेकी विधि होती है उसी रूपसे अनित्यपनेकी विधि नही होती है जिससे कि उनका एकत्र रहना विरुद्ध हो जाय, अनुवृत्त रूपसे तो नित्यत्वकी विधि होती है और व्यावृत्तरूपसे अनित्यत्वकी विधि होती है ऐसा हमारा अविरुद्ध सिद्धात है। तथा विभिन्न धर्मोंके निमित्तसे होनेवाले विधि

नित्यत्वविधिस्तेनैवानित्यत्वविधि:; येनैकत्र विरोधः स्यात्; अनुवृत्त-व्यावृत्ताकारतया नित्यानित्यत्व-विधेरभ्युपगमात्। विभिन्नधर्मनिमित्तयोश्च विधिप्रतिषेधयोर्नैकत्र प्रतिषेधः अतिप्रसङ्गात्। न चानुवृत्तव्यावृत्ताकारयो सामान्यविशेषरूपतयाऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येनावस्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याध्यात्मिकार्थेपु प्रत्यक्षप्रतीतौ प्रतिभासनादित्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते।

स्वदेशादिषु सत्त्व परदेशादिष्वसत्त्व च वस्तुनोऽभ्युपगम्यते एवेतरेतराभावात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, इतरेतराभावस्य घटादभेदे तद्विनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाभावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद्भिन्नोऽसौ, तर्हि घटादीनामन्योन्य भेदो न स्यात्। यथैव हि घटस्य घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात्। नाप्येषा परस्पराभिन्नानामभावेन भेद कर्तु शक्य, भिन्नाभिन्न-

---

प्रतिषेधोंका एकत्र रहना निषिद्ध भी नही है अन्यथा अतिप्रसंग होगा अर्थात् स्वकार्यके प्रति कर्तृत्व और पर कार्यके प्रति अकर्तृत्व जैसे दो धर्म भी एकत्र वस्तुमे रहना दुर्लभ होगा जो कि सभी परवादीको 'अभीष्ट है। अनुवृत्ताकार सामान्यरूप है और व्यावृत्ताकार विशेषरूप है अत' इनमे अत्यन्त भेद है ऐसा कहना भी अशक्य है, बाह्य और आध्यात्मिक [अचेतन और चेतन] सभी पदार्थोमे पूर्व उत्तर कालभावी स्व स्व पर्यायोके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला अनुगताकार [अनुवृत्ताकार] प्रत्यक्षज्ञानमे साक्षात् ही प्रतिभासित हो रहा है, इस विषयमें आगे विस्तार पूर्वक कथन करेंगे।

वस्तुका स्वदेशादिमे सत्व और परदेशादिषु असत्व इतरेतराभावसे होता है ऐसा वैशेषिक का स्वीकार करना भी असमीक्षकारी है, यदि आपके इतरेतराभावको पदार्थसे अभिन्न माने तो घटके नष्ट होनेपर उससे अभिन्न इतरेतराभावका नाश होगा और पटकी उत्पत्ति का प्रसग आयेगा क्योकि पटका अभाव विनष्ट हो चुका है। यदि इस इतरेतराभावको घटसे भिन्न स्वीकार करे तो घट पट आदि पदार्थोका परस्परमे भेद नही रहेगा, क्योकि जैसे भिन्न घटाभावसे घटकी घटरूपता हो सकती है वैसे पट आदिकी भी हो सकती है। तथा परस्पर अभिन्नभूत घट पट आदि पदार्थोंका अभाव द्वारा [इतरेतराभाव द्वारा] भेद करना भी शक्य नही, क्योकि यदि अभाव ने भिन्न रूप भेदको किया तो उक्त पदार्थोका साकर्य बन बैठेगा और यदि अभिन्नरूप भेदको किया तो पदार्थको ही किया ऐसा अर्थ होनेसे अभावकी अकिंचित्करता सिद्ध होती है। पदार्थोमे भेदका व्यवहार इतरेतराभाव मूलक हो ऐसी बात भी नही है, जगत्के यावन्मात्र पदार्थ अपने अपने कारणोद्वारा असाधारण स्वरूपसे उत्पन्न हुए हैं उनका प्रत्यक्षमे साक्षात् प्रतिभासन हो रहा है उसीसे भेद व्यवहार की सिद्धि हो जाती है।

भेदकरणे तस्याकिञ्चित्करत्वप्रसङ्गात् । नापि भेदव्यवहार., स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकलभावाना प्रत्यक्षेप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेः । प्रतिक्षिप्तश्चेतरेतराभाव. प्रागेवेति कृत प्रयासेन ।

कार्यान्तरेषु चाऽकर्तृ त्व न प्रतिषिध्यते, इत्याद्यप्यसारम्, एकान्तपक्षे कार्यकारित्वस्यैवासम्भवात् ।

यच्च मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते, तदिष्यते एव । अनेकान्तो हि द्वेधा–क्रमानेकान्तः, अक्रमानेकान्तश्च । तत्र क्रमानेकान्तापेक्षया य एव प्रागमुक्तः स एवेदानी मुक्तः ससारी चेत्यविरोध. । अनेकान्तेऽनेकान्ताभ्युपगमोप्यदूषणमेव, प्रमाणपरिच्छेद्यस्यानेकधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपानेकान्तस्य नयपरिच्छेद्यैकान्ताविनाभावित्वात् ।

इस इतरेतराभावका प्रथम भागके "अभावस्य प्रत्यक्षादावतर्भाव." इस प्रकरणमे भलीभाति निरसन भी हो चुका है अत: यहा अधिक नही कहते ।

स्वकार्यमें कर्तृत्व और कार्यांतरमे अकर्तृत्वका निषेध नही करते इत्यादि रूपसे वैशेषिक का पूर्वोक्त कथन भी असार है, एकात पक्षमे कार्यकारी पना होना ही सर्वथा असभव है ।

पहले वैशेषिक ने कहा था कि जैन मुक्तिमे भी अनेकात की व्यावृत्ति नही मानते सो वात ठीक ही है, अनेकात दो प्रकारका है क्रम अनेकांत और अक्रमअनेकांत, इनमेसे क्रम अनेकातकी अपेक्षा देखा जाय तो जो ही पहले अमुक्त था वही इससमय मुक्त हुआ है, और ससारी भी है, इसप्रकार द्रव्यदृष्टिसे संसारी और मुक्तका एकत्र अविरोध है । अनेकातमे भी अनेकात मानना होगा इत्यादि कहना भी हमारे लिये दूषणरूप नही है, प्रमाणद्वारा परिच्छेद्य एव अनेकधर्मोंसे अध्यासित ऐसा जो वस्तु स्वरूप अनेकात है उसका नयद्वारा परिच्छेद्य रूप एकातके साथ अविनाभावपना होने के कारण अनेकातमे अनेकान्त सुघटित ही होता है ।

विशेषार्थ–"अनेके अन्ता धर्माः वर्त्तन्ते यस्मिन् पदार्थे सोय अनेकान्त." इसप्रकार अनेकान्त शब्दका व्युत्पत्ति सिद्धि अर्थ है अर्थात् अनेक धर्म गुण या स्वभाव जिसमें पाये जाते है उस वस्तुको अनेकात नामसे कहा जाता है, वस्तुमे यह जो अने-

'आत्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमर्हति ।

कात या गुणधर्म समूह पाया जाता है वह दो प्रकारका है क्रम अनेकांत और-अक्रम अनेकात, प्रत्येक वस्तुमे क्रम प्रवाह रूपसे अवस्थाये अथवा पर्याये (हालते) प्रादुर्भूत होती रहती है उन्हे क्रम अनेकात कहते है, जैसे मिट्टीरूप वस्तुमे घट, कपाल आदि अवस्थाये होती रहती है । उसी वस्तुमें युगपत् अनेक गुणधर्मोंका जो अस्तित्व दिखाई दे रहा है उन्हे अक्रम अनेकांत कहते है । इन्ही क्रम अक्रम अनेकांतको अन्यत्र पर्याय तथा गुण नामसे कहा है अर्थात् क्रम अनेकात मायने पर्याय और अक्रम अनेकात मायने गुण । गुण हो चाहे पर्याय दोनो ही एक एक नही है अपितु अनेक अनेक है इसीलिये गुणपर्याय युक्त वस्तुका सार्थक नाम 'अनेकात' है । इस अनेकात रूप वस्तुका सर्वांगीन युगपत् ज्ञान प्रमाण द्वारा [सकल प्रत्यक्ष द्वारा] होता है अत यहा पर अनेकात को प्रमाण परिच्छेद्य कहा है । वस्तुके एक एक गुणधर्मका ज्ञान नय द्वारा होता है अत. एकान्त नय परिच्छेद्य है । जो वस्तु प्रमाण द्वारा परिच्छेद्य है वह अवश्यमेव नय द्वारा भी परिच्छेद्य होती है इसीलिये अनेकात के साथ एकान्त का अविनाभावीपना है । वस्तु के उक्त गुणधर्मोमे नित्य अनित्य, सत् असत् आदि प्रतिपक्षी धर्म भी समाविष्ट है ऐसे प्रतिपक्षभूत धर्मों का सद्भाव एक ही वस्तुमे किस प्रकार हो सकता है ? ऐसी आशङ्का होने पर स्याद्वाद सप्तभगीका अवतरण होता है कि ये नित्य अनित्य आदि धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षाके साथ एकत्र वस्तुमे युगपत् सभावित हो जाते है अर्थात् स्यात् कथचित् द्रव्यदृष्टिसे वस्तुमे नित्यता है, स्यात् पर्यायदृष्टिसे अनित्यता है इत्यादि, इस स्याद्वादका विवरण आगे इसी ग्रन्थमे [तृतीय भाग मे] होनेवाला है । प्रत्येक वस्तुमे यह स्याद्वाद प्रक्रिया अवश्यभावी है, अत परवादी की आशंका थी कि सभीमे अनेकात स्याद्वादका अस्तित्त्व है तो स्वय अनेकान्तमे भी अनेकान्त होना ही चाहिये । इसका समाधान यह है कि जैन अनेकान्त मे भी अनेकान्त मानते है, कैसे सो बताते है–अनेकान्त मे स्यात् कथचित् एकान्त है तथा स्यात् अनेकान्त है, एकान्त दो प्रकार का है सम्यग्एकान्त और मिथ्या एकान्त, वस्तु के एक देशको सापेक्ष ग्रहण करनेवाला सम्यग्एकान्त है और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य सब धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है, सम्यग् नयके विषयभूत सम्यग्एकांत का ही इस अनेकातके स्याद्वादमे ग्रहण समझना, मिथ्या एकान्त तो काल्पनिक शून्यरूप वचन

न च गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनं निःश्रेयससाधनं घटते, प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत् ।

अथ फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसस्य साधनम्, तदनपेक्षं चाऽपरनिःश्रेयसस्येत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात् । तस्यौपक्रमिकत्वे कुतस्तदुपक्रमोऽन्यत्र तपोतिशयात्, इति तत्त्वज्ञानं तपोतिशयसहायमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनि.श्रेयसकारणमित्यनिच्छतोप्यायातम् । तस्यानौपक्रमिकत्वे तु सदा सद्भावानुषङ्गः ।

प्रलाप मात्र है । इस प्रकार अनेकान्तरूप वस्तु एवं अनेकांत ग्राहक प्रमाण की सिद्धि निर्बाधरूपसे होती है ।

आत्मा के एकत्व ज्ञानसे मोक्ष होता है इत्यादि कथन तो सिद्धसाध्यता रूप होनेसे उसमे समाधान की आवश्यकता नही है ।

प्रधान और पुरुषका भेद दर्शन [भेद ज्ञान] मोक्षका हेतु है ऐसा कहना भी घटित नही होता, आत्मामे उस भेद दर्शनकी चरम प्रकर्ष अवस्था होने पर भी शरीर के साथ वह अवस्थित रहता है जैसे कि मिथ्याज्ञान शरीरके साथ स्थित रहता है, अभिप्राय यह है कि प्रधान और पुरुषके भिन्नताका ज्ञान होने मात्रसे मोक्ष होता तो जिस किसीको वह ज्ञान होनेके साथ मोक्ष हो जाना था किन्तु ऐसा नही होता भेद ज्ञान होने पर भी कितने ही समय तक योगीजन नि श्रेयसको प्राप्त नही करते अत केवल भेद ज्ञान मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध नही होता ।

सांख्य—जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर्मोंके फलोका उपयोग करके होने वाले क्षयकी अपेक्षा रखता है वह पर नि श्रेयस [जीवन्मुक्ति] का कारण है और जो उक्त क्षयकी अपेक्षा नही रखता वह तत्त्वज्ञान अपर नि श्रेयस [परममुक्ति] का कारण है ऐसा हम मानते हैं ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, कर्मफलोका उपभोग दो विकल्परूप है औपक्रमिक फलोपभोग और अनौपक्रमिक फलोपभोग, इनमेसे उक्त फलोपभोग औपक्रमिक रूप माने तो वह उपक्रम भी तपोतिशयको छोडकर अन्य कौन-सा होगा ? अर्थात् तपोतिशयरूप उपक्रम ही होगा । अत तपोतिशयकी सहायतासे जो युक्त है जिसके अतर्भूत तत्त्वार्थ श्रद्धान है ऐसा तत्त्वज्ञान परनि श्रेयस का कारण है ऐसा नही चाहते हुए भी सांख्यादि

यच्च स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थान मोक्ष इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादिस्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादिस्वरूपं नात्मन इत्यसत्, तस्याचेतनत्वेनाकाशादिवत्तद्विरोधात्। ज्ञानादेरप्यचेतनत्वात् प्रधानस्वभ(भा)वत्वाविरोधश्चेत्, कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः? 'अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवत्' इत्यनुमानाच्चेत्; न, हेतोरनुभवेनानेकान्तात्, तस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वात्। न चोत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्; परापेक्षत्वाद्बुद्ध्यादिवत्। परापेक्षोसौ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यव.ि न मर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इत्यभिधानात्।

परवादी को मानना होगा। यदि उक्त फलोपभोगको अनौपक्रमिक स्वीकार करे तो वैसा फलोपभोग सदा होनेसे मोक्षका सद्भाव भी सदा मानना होगा।

चैतन्यमात्र स्वरूपमे अवस्थान होना मोक्ष है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, चैतन्यमात्र मे नही अपितु अनन्तज्ञान दर्शन आदि चैतन्यके विशेष स्वरूपमे अवस्थान होना मोक्ष है। अदि अनंतज्ञान आदिको आत्माका स्वरूप नही माना जायगा तो उसके सर्वज्ञपना आदि धर्मोके साथ विरोध प्राप्त होगा।

सांख्य—सर्वज्ञपना आदि धर्म प्रधानका स्वरूप है, आत्माका नही।

जैन—यह कथन असत् है, प्रधान तत्त्व अचेतन होनेसे उसमे सर्वज्ञत्व आदि धर्म पाये जाना विरुद्ध है जैसे अचेतन आकाशादि पदार्थोमें सर्वज्ञत्वादि पाये जाना विरुद्ध है।

सांख्य—ज्ञानादि धर्मोको भी अचेतन स्वीकार किया है अत वे प्रधानके स्वभाव हो सकनेसे विरोध नही आता।

जैन—ज्ञानादि धर्म अचेतन है ऐसा किस हेतुसे सिद्ध होगा ?

साख्य—ज्ञानादि गुणधर्म अचेतन हैं, क्योकि उत्पत्तिमानरूप हैं, जैसे घट पट आदि उत्पत्तिमान होनेसे अचेतन है। इस अनुमान द्वारा ज्ञानादि का अचेतनपना सिद्ध होता है।

जैन—यह अनुमान असत् है क्योकि हेतु अनुभव [दर्शन] के साथ अनेकान्तिक हो जाता है, अनुभवमे चेतनपना होते हुए भी उत्पत्तिमत्व है, अनुभवका उत्पत्ति मानपना असिद्ध है ऐसा भी नही समझना, क्योकि यह बुद्धि आदिकी तरह परापेक्षी

कालात्ययापदिष्टश्चायं हेतुः, ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षाच्चेतनत्वप्रसिद्धः प्रत्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। चेतनसंसर्गात्तेषां चेतनत्वप्रसिद्धिः, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, शरीरादेरपि तत्प्रसिद्धिप्रसङ्गात् चेतनप्र(त्व)संसर्गाविशेषात्। शरीराद्यसम्भवी तेषां संसर्गविशेषोऽस्तीति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात् ? तददृष्टकृतकत्वादे शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादयः स्वसंवेद्यत्वादनुभववत्। स्वसंवेद्यास्ते परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रति-

---

है, बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा रखनेसे अनुभव पर सापेक्ष ही है, कहा भी है "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते"। यह उत्पत्तिमत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है क्योंकि ज्ञानादि धर्म स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा ही चेतन रूप प्रसिद्ध हो रहे है, प्रत्यक्ष प्रमाणसे पक्षके बाधित होने पर इस उत्पत्तिमत्व हेतुका प्रयोग हुआ है इसीलिये उक्त दोषसे दुष्ट है।

सांख्य—चेतनका संसर्ग होनेके कारण ज्ञानादि धर्म चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं ?

जैन—यह कथन चर्चा योग्य नही है, चेतनका संसर्ग होने मात्रसे कोई चेतन रूप प्रसिद्ध हो तो शरीरादिको भी चेतनरूप प्रसिद्ध होना चाहिये क्योंकि चेतनका संसर्ग तो इनके भी है ?

सांख्य—शरीरादिमे असंभव ऐसा चेतन का विशेष संसर्ग उन ज्ञानादिमे पाया जाता है अत वे ही चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं।

जैन—वह विशेष संसर्ग भी कथंचित् तादात्म्यको छोडकर अन्य कोई नही हो सकता अर्थात् ज्ञानादिधर्म और चेतनधर्मी इनका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा आपके उक्त संसर्ग शब्दका अर्थ है। अदृष्ट द्वारा [पुण्य पाप द्वारा] किये गये संसर्ग को संसर्ग विशेष कहना तो पूर्ववत् सदोष होगा, क्योंकि अदृष्टकृत संसर्ग विशेष शरीरादिमे भी है। अत अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि ज्ञान दर्शनादि गुणधर्म अचेतन नही हैं, क्योंकि वे स्वसंवेद्य हैं, जैसे अनुभव स्वसंवेद्य होनेसे अचेतन नही है। ज्ञान आदिका स्वसंवेद्यपना भी तर्क संगत है, ज्ञानादि धर्म अपने द्वारा अनुभवन करने योग्य [जानने योग्य] होते है, क्योंकि पर संवेदनकी अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् यदि ये ज्ञानादिक स्वद्वारा संवेद्यमान नही होते तो वे परका संवेदन भी नही कर सकते थे, इस विषयका प्रतिपादन पहले स्वसंवेदनज्ञानवादमे [प्रथम भाग मे] कर चुके हैं।

पादितम्। तथा चात्मस्वभावास्ते चेतनत्वादनुभववत्। सुखमप्यात्मस्वभाव एव मोक्षेऽभिव्यज्यमानत्वाद् ज्ञानवत्। अनात्मस्वभावत्वे तत्र तदभिव्यक्तिर्नस्याद्दुःखवत्।

तथा सुखात्मको मोक्षश्चेतनात्मकत्वे सत्यखिलदुःखविवेकात्मकत्वात् सहृतसकलविकल्पध्यानावस्थावत्। तथानन्त तत् आत्मस्वभावत्वे सत्यपेतप्रतिबन्धत्वात्ः ज्ञानवदेव। अपेतप्रतिबन्धत्वं तु मोहनीयादे. प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽपायात्प्रसिद्धमेव। इति सिद्धमनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानं पुंसो मोक्ष इति।

इसप्रकार ज्ञानादि धर्मोमें चेतनत्व सिद्ध होता है अतः वे आत्माके स्वभाव हैं क्योंकि चैतन्यरूप है, जैसे अनुभव चेतनरूप है। ज्ञानके समान सुख भी आत्माका ही स्वभाव है, क्योंकि ज्ञानके समान वह भी मोक्षमे अभिव्यक्त होता है, यदि सुख आत्माका स्वभाव नही होता तो मोक्षमे उसकी अभिव्यक्ति नही होती, जैसे दुःख आत्माका स्वभाव नही होनेके कारण उसकी मोक्षमे अभिव्यक्ति नही होती।

मोक्ष सुखात्मक होता है, क्योंकि चेतनात्मक होकर सम्पूर्ण दुःखोंसे विविक्तरूप हो चुका है, जिसप्रकार निरुद्ध होगये है सकल विकल्पजाल जिसमे ऐसी ध्यान की अवस्था सुखात्मक हुआ करती है। वह मोक्षका सुख अंत रहित अनन्त है, क्योंकि आत्माका स्वभाव होकर प्रतिबन्धसे रहित है, जैसे ज्ञान आत्माका स्वभाव है पुनश्च प्रतिबन्ध रहित है अत अनन्त होता है [कभी भी नाश नही होता] ज्ञान सुख आदि आत्मीक गुणो का प्रतिबन्ध रहितपना इसलिये हुआ है कि मोहनीय ज्ञानावरणीय इत्यादि प्रतिबन्धक स्वरूप कर्मोका सर्वथा अभाव [नाश] हो गया है। इस प्रकार जैन द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त मोक्षका लक्षण अवाधित सिद्ध होता है कि आत्मा का अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप चैतन्यविशेषमे सदा शाश्वत रूपेन अवस्थान हो जाना मोक्ष है।

॥ इति मोक्षस्वरूपविचार समाप्त ॥

मोक्ष स्वरूप विचार का सारांश

पूर्व पक्ष–जैन लोगोने अनन्त अनादि गुणोकी प्राप्ति होना मोक्ष माना है सो युक्त नही है, मोक्षमे तो बुद्धि आदि नौ विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, अनुमानसे यह बात सिद्ध होती है। बुद्धि आदिक आत्माके विशेष नौ गुणोकी सन्तान अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योकि वह सन्तान रूप है जैसे दीपककी सन्तान। यह सन्तानत्व हेतु असिद्धादि पाचो दोषोसे रहित है। उस बुद्धि आदिके अभाव होनेरूप मोक्षका कारण तत्त्वज्ञान है। सर्व प्रथम तत्त्वज्ञान होता है उसके होते ही मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर क्रमसे रागादि विकार पार कर जाते हैं रागादिके अभावमे मन, वचन, काय की चेष्टायें शात होती है, पुनश्च पुण्य पाप रूप धर्म अधर्म भी उत्पन्न नही होते। इस प्रकार नये कर्मोके आगमनके कारण हट जाने पर सचित हुए जो धर्म अधर्म हैं उनका सुख दु खादि रूप फल भोग करके नाश होता है। कोई पूछे कि यदि कर्म बिना भोगे छूटते नही तो नित्य नैमित्तिक क्रिया किसलिये की जाती है ? तो उसका समाधान यह है कि मोक्षमार्गमे आयी हुई बाधाओको रोकनेके लिये क्रियानुष्ठान किया जाता है। इस तरह हमारा मोक्षका स्वरूप निर्दोष है।

अब क्रमसे अन्यके मोक्षका विचार करते हैं—वेदान्ती आनन्दरूपताको मोक्ष मानते हैं, सो उन्हे पूछते हैं कि आनन्द सुख रूप है, सो वह सुख नित्य है या अनित्य ? नित्य है तो उसका सवेदन सदा होता रहनेसे ससारावस्थामे भी मोक्ष का आनन्द प्राप्त होनेका प्रसग आता है। यदि वह आनन्द अनित्य है तो मोक्षमे उसकी किस कारणसे उत्पत्ति होगी ? योगज धर्मके अनुग्रहसे युक्त हुआ मन उस सुख को उत्पन्न करता है ऐसा आपने माना है किन्तु ऐसा मन मोक्षमे नही है। तथा यदि मोक्षमे सुख है तो उसके लिये शरीरादिकी कल्पना करनी पडेगी। बौद्ध विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होनेको मोक्ष मानते हैं, सो सराग ज्ञानसे विशुद्ध वीतराग ज्ञान उत्पन्न होना असम्भव है। यदि कहा जाय कि अभ्यास विशेषसे रागादि नष्ट होकर शुद्ध ज्ञान हो जायगा सो भी युक्त नही, आपके यहा विनाश निर्हेतुक माना है, तथा क्षणिक पक्षमे अभ्यास होना अशक्य है।

जैन अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट जगह पर अक्षय ज्ञानरूप शरीर आदि की प्राप्ति होनेको मोक्ष कहते है, वह भी अयुक्त है, अनेकान्त ज्ञान ही मिथ्या है क्योकि उसमें विरोधादि दोष आते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मवादी का परमात्मा मे लीन होना रूप मोक्ष भी असिद्ध है, क्योकि उनके यहा सभी वस्तु ब्रह्मरूप हैं अत. कौन किसमे लीन होगा। साख्य प्रकृति और पुरुषमें विवेक होना मोक्ष है ऐसा कहते है वह भी ठीक नही, मोक्षके लिये पुरुषार्थ प्रधान करे और उसका लाभ पुरुष भोगे, ऐसा सिद्ध नही होता। इस प्रकार सभी परवादीके मोक्षका लक्षण सत्य नही है।

उत्तर पक्ष—वैशेषिकने मोक्षके विषयमे सब मतका खण्डन कर अपना पक्ष सिद्ध करनेका प्रयत्न किया हैं किन्तु उसमे वे सफल नही हुए, क्योकि उनके स्वय के मोक्षका लक्षण भी असम्भव है। बुद्धि आदि गुणोका नाश सिद्ध करने के लिये दिया हुआ हेतु सदोप है, क्योकि किसी भी वस्तुका सर्वथा उच्छेद नही देखा गया है, दीप की सन्तान भी सर्वथा नष्ट नही होती किन्तु प्रकाश अवस्थाको छोडकर अन्धकार रूप होती है। बुद्धि आदि गुणोका सर्वथा नाश होगा तो गुणी आत्मा भी नष्ट हो जायगा। आपने कहा कि तत्त्वज्ञानसे विपरीत ज्ञानका नाश होता है फिर क्रमसे धर्मादिका नाश होता है अत तत्त्व ज्ञान मोक्षका कारण है सो उस पर हमारा कहना है कि यद्यपि तत्त्वज्ञान, धर्मादिको नष्ट करता है तो भी अतीन्द्रिय ज्ञान, सुख इत्यादि गुणोको नष्ट नही कर सकता है। आपने उदाहरण दिया कि जैसे रोगी बिना इच्छाके औषधि का सेवन करता है वैसे योगीजन बिना इच्छा के कर्म से प्राप्त उपभोग को करते हैं सो यह दृष्टान्त गलत है रोगी भी निरोग होने की इच्छा से औषधि सेवन करता है।

वेदान्तीके आनन्द स्वरूप मोक्षका खण्डन किया था सो क्या मोक्षमे आनद नही रहता तो शोक विषाद रहता है? अर्थात् नही। हा वेदान्तीका नित्य एक कूटस्थ रूप जो आनन्द है वह ठीक नही हैं। वेदान्ती कहे कि आनन्दको अनित्य मानेंगे तो उसके उत्पत्तिका कारण भी मानना होगा सो कर्मोका नाश होना रूप कारण अनंत सुख रूप आनन्दको उत्पन्न करता है ऐसा जैन ने माना है। विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्धका कथन भी कुछ ठीक है किन्तु बौद्धको जिसमें विशुद्ध ज्ञान

उत्पन्न होता है उस आत्माको नित्य मानना होगा तभी उसके पहलेका अशुद्ध ज्ञान नष्ट होकर विशुद्ध ज्ञान होना रूप मोक्ष सिद्ध हो सकेगा। जैनके मोक्षका समर्थन तो आगे कर ही रहे है अत उसका खण्डन करना अशक्य है।

ब्रह्माद्वैतवादके मोक्षका निरसन तो ठीक ही है क्योकि जब ब्रह्म स्वरूप एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है तब उसमे अवस्थासे अवस्थान्तर होना इत्यादि रूप मोक्ष सिद्ध नही होता।

साख्यके द्वारा माना गया चैतन्यमे अवस्थान होना रूप मोक्षका खण्डन उचित है क्योकि वह मोक्षका लक्षण असत्य है, साख्य भी वैशेषिकके समान अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होना कहते है उसमे वही प्रश्न है कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद पूर्व सचित कर्मका क्रमसे भोग करके मोक्ष होता है या अक्रम से भोग करके ? क्रमसे होना तो शक्य नही क्योकि क्रमसे भोग करनेमे नये नये कर्म बन्ध होते जायेगे इत्यादि पहलेके दोष आते है, और अक्रमसे कहो तो उसमे तप आदि कारण अवश्य मानने होगे। तथा साख्य भी मोक्षमे ज्ञानका अभाव मानते हैं अत उनके मोक्षका स्वरूप असिद्ध है।

जैन के मोक्ष स्वरूपका खण्डन होना असम्भव है, क्योकि वह निर्दोष है। वैशेषिकने कहा था कि अनेकान्त की भावनासे मोक्ष होता है तो उस अनेकातको मोक्ष अवस्थामे भी मानना पडेगा ? सो हमे इष्ट ही है। अत: अनेकातका जो तत्त्वज्ञान है उस तत्त्वज्ञानके द्वारा जिसको सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र आदिकी सहायता है ऐसे ज्ञानके द्वारा आत्माका अवस्थान्तर होता है वही मोक्ष है, मोक्षमे अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख, अनतवीर्य, इस प्रकार अनत चतुष्टय स्वरूप आत्मा रहता है, वहा वैशेषिक साख्यादिके समान ज्ञानका अभाव नही है, तथा आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख या आनन्द भी रहता है अन्यथा ज्ञान और सुख रहित ऐसे वैशेषिकादि की मुक्तिके लिये कौन पुरुष प्रयत्न करेगा ? अर्थात् नही करेगा। अनत सुखादि गुण उनके प्रतिबधक कर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त होते है, कर्मोंका अस्तित्व तथा उनका नाश ये दोनो मुख्य प्रत्यक्षका लक्षण करते समय सिद्ध हो चुका है, इस प्रकार अनत चतुष्टय स्वरूप मोक्ष है यह मोक्षका लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

॥ मोक्षस्वरूपविचार का सारांश समाप्त ॥

८

स्त्रीमुक्तिविचारः

ननु पुंस एवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभलक्षणो मोक्ष इत्ययुक्तम्, स्त्रीणामप्यस्योपपत्तेः। तथाहि–अस्ति स्त्रीणां मोक्षोऽविकलकारणत्वात् पुरुषवत्, तदसत्, हेतोरसिद्धेः, तथाहि–मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्। यदि नाम तत्र तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमायातम्? कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावाभावे हि तयोः कथमन्यस्याभावेऽन्यस्याभावोऽतिप्रसङ्गात् इति चेत्, सत्यम्, अयं हि तावन्नि-

---

श्वेताम्बर–अभी सांख्य मतके मुक्तिका खण्डन करते हुए जैन ने कहा था कि अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्ष पुरुषके ही होता है, सो ऐसा आग्रह ठीक नही है, मोक्ष तो स्त्रियो को भी होता है, इसीको अनुमानसे सिद्ध करते है कि स्त्रियोको मोक्ष होता है, क्योकि मोक्षके अविकल कारण उनके भी होते है, जैसे पुरुष के होते हैं ?

दिगम्बर–यह कथन अयुक्त है, "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध है, कैसे सो बताते हैं, मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण हैं उनका परम प्रकर्ष स्त्रियोमे नही होता है, क्योकि वह परम प्रकर्षरूप है, जैसे सप्तम पृथ्वीमे जाने के कारणभूत पापका परम प्रकर्ष स्त्रियोमे नही पाया जाता है।

श्वेताम्बर–नरक का कारण पापकर्म का परम प्रकर्ष स्त्रियोमे नही होता तो उससे मोक्षके कारणका परम प्रकर्ष होने मे क्या बाधा आयी ? जिससे उसके अभाव मे मोक्ष कारण का भी अभाव माना जाय ? मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि का परम प्रकर्ष और नरकके कारणभूत पापका परमप्रकर्ष इन दोनोमे कारण कार्यभाव या

यमोस्ति–यद्वेदस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षस्तद्वेदस्य तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षोप्यस्त्येव, यथा पुंवेदस्य। न च चरमशरीरेण व्यभिचार, पुंवेदसामान्यापेक्षयोक्ते । विपरीतस्तु नियमो न सम्भवत्येव, नपुंसकवेदे तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षे सत्यप्यन्यस्यानभ्युपगमात् पुंस्यभ्युपगमाच्च, अनित्यत्वस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वेतरत्ववत् । ततश्च स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्षहेतु परमप्रकर्ष स्यात्, तदा तदभ्युपगमादेवापरोप्यनिष्टोऽवश्यमापद्यते, अन्यथा पुंस्यपि न स्यात् । सिद्धे च प्रतिबन्धद्वयाभावेपि कृत्तिकोदयादिवदुक्तप्रकर्षयोरविनाभावे स्त्रीणा तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षप्रतिषेधेन मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो निषिध्यते ।

व्याप्य व्यापक भाव तो नही है फिर इनमेसे एकके अभाव मे अन्यका भी अभाव कैसे कर सकते हैं ? अतिप्रसग होगा ।

दिगम्बर–आपने ठीक कहा, किन्तु यह तो नियम है कि जिस वेद मे मोक्ष के कारणों का परमप्रकर्ष है उस वेदमे पाप कारणोका परम प्रकर्ष भी है, जैसे पुरुषवेद मे दोनो उपलब्ध है, इस कथनमे चरम शरीरीके साथ व्यभिचार भी नही होता क्योकि हमने पुरुषवेद सामान्य की अपेक्षा से कथन किया है । ऐसा विपरीत नियम तो सम्भव नही है कि मोक्षहेतुका प्रकर्ष व्यापक (साध्य हो) और नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष व्याप्य हो, (हेतु) क्योकि नपुसकवेद मे नरक का कारणभूत पाप का प्रकर्ष है किन्तु मोक्ष के कारण ज्ञानादि का प्रकर्ष तो नही है, पुरुष मे दोनोको स्वीकार किया है । जिस प्रकार अनित्यत्व को हेतु और प्रयत्नानतरीयकत्व या अप्रयत्नानतरीयकत्व को साध्य बनाने मे विपरीत क्रम होता है उसी प्रकार नरक गमन के कारण का जो प्रकर्ष है उसको हेतु और मोक्ष के कारण के प्रकर्ष को साध्य बनावे तो विपरीत क्रम होता है । इस तरह का क्रम माने तो स्त्रीवेद मे यदि मोक्ष के कारण का प्रकर्ष आप श्वेताम्बर मानते है तो उसके साथ आपको अनिष्ट ऐसा जो पाप का प्रकर्ष है वह भी अवश्य मानना पडेगा, अन्यथा पुरुष मे भी पाप का प्रकर्ष नही रहेगा ? पाप का प्रकर्ष और मोक्ष के कारण का प्रकर्ष इन दोनो मे तादात्म्य सम्बन्ध या तदुत्पत्ति सम्बन्ध रूप अविनाभाव नही है किन्तु कृतिका नक्षत्र का उदय और रोहिणी नक्षत्र का उदय इन दोनोका जिस जातिका अविनाभाव है उस जातिका पाप प्रकर्ष और मोक्ष हेतु प्रकर्षमे अविनाभाव है अत जहा स्त्रियोके लिये पाप प्रकर्ष का निषेध किया जाता है साथ ही मोक्ष हेतुके प्रकर्ष का भी निषेध होता है ।

न च 'नपु सकस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षोस्ति तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षसद्भावात् पु वत् । पु सो वा नास्त्यत एव नपु सकवत् । तत्कारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षो वा नपु सके नास्ति परमप्रकर्षत्वात् स्त्रीवदित्यप्यनिष्टापत्ति' उभयप्रसिद्धाद्धेतोरुभयप्रसिद्धस्य निषेधेनोभयोस्तुल्यत्वात्' इत्यभिघातव्यम्, उभयाभिप्रेतागमेन बाधनात् । स्त्रीणा तु तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षं पराभ्युपगतेनैव मोक्षहेतुपरमप्रकर्षेणापाद्य तत्प्रतिपेधेन तद्धेतुरेव प्रतिषिध्यत इत्यस्ति विशेषः ।

यद्वा नोक्तानुमाने तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावाद्धेतोर्मोक्षहेतुपरमप्रकर्षं स्त्रीषु निषिध्यते,

---

शका—नपु सक के मोक्षके कारणोका प्रकर्ष है, क्योकि उनके नरकके कारण भूत पापका प्रकर्ष होता है, जैसे पुरुषके होता है । अथवा नपु सक के समान पुरुष के भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष नही है क्योकि नपु सक के समान इसके पाप प्रकर्ष का अभाव है । अथवा नपु सक मे नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष नही है, क्योकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे स्त्रीवेदी के वह पाप प्रकर्ष नही होता है । इस तरह दोनो जगह प्रसिद्ध हेतु से दोनो के (दिगम्बर श्वेताम्बर) साध्यका निषेध समान रूपसे हो जाता है । अर्थात् श्वेताम्बर स्त्रीमे मोक्ष हेतुका प्रकर्ष सिद्ध करना चाहते है और दिगम्बर स्त्री मे उसका अभाव सिद्ध करना चाहते है किंतु उभयत्र समान हेतु होनेसे दोनोका साध्य सिद्ध नही होता है ?

समाधान—ऐसा नही कह सकते, दिगम्बर और श्वेताम्बर मे इष्ट जो आगम है, उसके द्वारा स्त्री मुक्ति मे बाधा आती है, श्वेताम्बर मतमे स्त्रियो मे नरक का कारणभूत पापका प्रकर्ष मानते नही है अत जब एक प्रकर्ष नही माना तो मोक्ष हेतुका प्रकर्ष भी उसीसे निषिद्ध हो जाता है, इसलिये दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो मतमे समान हेतु और निषेध नही है, हम दिगम्बर तो पुरुपमे दोनोका प्रकर्ष देखकर उसके मुक्ति होना स्वीकार करते है, और तुम लोग स्त्रियोमे पापका प्रकर्ष नही मानकर भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष मानते हो सो यह युक्ति सगत नही है ।

अथवा हमने शुरूमे जो अनुमान उपस्थित किया था कि स्त्रियोमे मोक्ष हेतुका परम प्रकर्ष नही होता है क्योकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे उनके सप्तम नरकमे गमन के कारण पापका परम प्रकर्ष नही होता है, पाप प्रकर्षके अभावरूप हेतुवाले इस अनुमान द्वारा स्त्रियोमे मोक्ष हेतुके प्रकर्षका निषेध नही करते है अपितु दृष्टान्त मे सप्तम नरक गमन हेतु प्रकर्ष अभाववत्) परमप्रकर्ष हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति

अपि तु परमप्रकर्षत्वाद् दृष्टान्ते दृष्टसाध्यव्याप्तिकात् । न चात्र केनचिद्व्यभिचार, स्त्रीसम्बन्धिन कस्यचित्परमप्रकर्षस्यासम्भवात् । मायापरमप्रकर्षोस्तीति चेत्, न, स्त्रीणा मायाबाहुल्यमात्रस्यैवागमे प्रसिद्धे । अन्यथा पु वत्सप्तमपृथिवीगमनानुषङ्ग । 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा न दोष । तन्न ज्ञानादिपरमप्रकर्षो मोक्षहेतुस्तत्रास्तीत्यसिद्धो हेतु । न खलु ज्ञानादयो यथा पुरुषे प्रकृष्यमाणाः प्रमाणत प्रतीयन्ते तथा स्त्रीष्वपि, अन्यथा नपु सके ते तथा स्यु, तथा चास्याप्यपवर्गप्रसङ्ग ।

सयमस्तु तद्धेतुस्तत्रासम्भाव्य एव, तथाहि-स्त्रीणा सयमो न मोक्षहेतु नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्ते । यत्र हि सयम सासारिकलब्धीनामप्यहेतु तत्रासौ कथ नि शेषकर्मविप्रमोक्ष-

---

देखकर इसके द्वारा स्त्रियोमे मोक्षके हेतु का प्रकर्ष निषिध्य किया जाता है । इस परम प्रकर्षत्वात् हेतुका किसीके साथ व्यभिचार भी नही है अर्थात् स्त्रियोमे किसीका भी परमप्रकर्ष नही होता है । स्त्रियोमे मायाका प्रकर्ष होता है अत हेतु व्यभिचारी है ऐसा भी नही कहना, स्त्रियोमे मायाका बाहुल्य होता है इतना ही आगम वाक्य है, यदि माया का प्रकर्ष स्त्रियोमे होता तो वह पुरुषके समान सातवे नरकमे जा सकती थी । यदि किसीका जबरदस्त आग्रह हो कि, नही स्त्रियोमे तो माया का परमप्रकर्ष होता ही है, तब तो हम "परम प्रकर्षत्वात्" इस हेतुमे "माया परम प्रकर्षादन्यत्वे-सति" इतना विशेषण जोड देंगे, अर्थात् माया प्रकर्षको छोडकर अन्य किसी प्रकार का परमप्रकर्ष स्त्रियोमे नही होता है, ऐसा कथन करनेसे अनुमान निर्दोष होता है । इस प्रकार स्त्रियोमे ज्ञानादि गुणो का परमप्रकर्ष जो कि मोक्ष का हेतु है वह नही है यह भली प्रकार निश्चित हुआ, अत श्वेताम्बरका "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध ही रहा । पुनश्च-ज्ञानादि गुण पुरुषमे जिस प्रकार से प्रकृष्ट होते हुए दिखाई देते हैं उस प्रकारसे स्त्रियोमे नही दिखाई देते, यदि स्त्रियोमे इन गुणोकी उत्कृष्टता होती तो नपु सकमे भी होती ? फिर तो स्त्रियोके समान नपु सक के भी मुक्ति होनेका प्रसग आता है ।

तथा मोक्ष के कारणो मे अन्तर्भूत हुआ जो सयम है उसका स्त्रियोमे होना असम्भव है, अब इसीको बताते है-स्त्रियो का सयम मोक्ष का हेतु नही है, क्योकि स्त्रियोमे नियमसे ऋद्धि विशेषके अहेतुत्वकी अन्यथानुपपत्ति है, अर्थात् ऋद्धिके कारणभूत सयम भी स्त्रियो के नही है तो मोक्षका कारणभूत सयम कैसे हो सकता है ?

लक्षणमोक्षहेतु स्यात्? नियमेन च स्त्रीणामेव ऋद्धिविशेषहेतुः सयमो नेष्यते, न तु पुरुषाणाम्। यदि हि नियमेन लब्धिविशेषस्याजनक सयमः क्वचिदन्यत्राविवादास्पदीभूते मोक्षहेतु प्रसिद्ध्येत् तदा तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्राप्यसौ तथा प्रत्येतु शक्येत, नान्यथातिप्रसङ्गात्। सयममात्र तु सदप्यासा न तद्धेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसयमवत्।

सचेलसयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसयमवत्। न चायमसिद्धो हेतु, न हि स्त्रीणा निर्वस्त्र सयमो दृष्ट प्रवचनप्रतिपादितो वा। न च प्रवचनाभावेपि मोक्षमुखाकाक्षया तासा वस्त्र-त्यागो युक्त', अर्हत्प्रणीतागमोल्लघनेन मिथ्यात्वाराधनाप्राप्ते। यदि पुनर्नृणामचेलोसौ तद्धेतु स्त्रीणा तु सचेल, तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेद स्वर्गादिवत्। देशसयमिनश्चैव मुक्ति

जहा पर सांसारिक लब्धिया भी जिससे नही हो पाती वहा वह सयम सम्पूर्ण कर्मोका सदा के लिये नाश होने रूप मोक्षका कारण कैसे हो सकेगा? स्त्रियोके ऋद्धि का कारणभूत सयम नही होता किन्तु पुरुषो के विषय मे ऐसा नियम नही है, उनके तो ऐसा सयम होता है, यदि नियम से लब्धिका अजनक संयम विवाद रहित किसी पुरुष विशेषमे मोक्ष का कारण होता हुआ उपलब्ध होता तो उस दृष्टान्तके वल से स्त्रियोमे उसी रूपसे निश्चय करते किन्तु ऐसा नही है। तथा स्त्रियोके मोक्ष होना मानेगे तो गृहस्थके भी मुक्ति होनेका अतिप्रसग आता है। स्त्रियो के सामान्यत सयम (देश सयम) तो है किन्तु वह सयम मोक्ष का कारण नही है, जैसे तिर्यच का सयम या गृहस्थ का सयम मोक्षका कारण नही है।

स्त्रियो के सवस्त्र सयम है अत मोक्षका हेतु नही है जैसे गृहस्थ का सयम नही है। "सचेल सयमत्वात्" यह हेतु असिद्ध नही है, क्योकि स्त्रियो मे वस्त्र रहित सयम कही पर देखा नही गया है, और न शास्त्र मे ही उसका प्रतिपादन है। शास्त्रमे वस्त्र रहित सयम स्त्रियोको नही वताया है तो भी मोक्ष सुखकी अभि-लाषिणी स्त्रिया वस्त्रका त्याग करेगी तो गलत क्रिया कहलायेगी, क्योकि अर्हन्त भग-वानके शास्त्रका उल्लघन करनेसे तो मिथ्यात्व हो जाता है। कोई कहे कि पुरुषके तो वस्त्र रहित सयम मोक्षका हेतु है, और स्त्रियोके वस्त्र सहित सयम मोक्षका कारण है तो यह कथन ठीक नही है। जहां कारण भेद होता है वहा कार्य जो मुक्ति है उसमे भी भेद होवेगा, जैसे स्वर्गादिके कारणो मे भेद होनेसे स्वर्ग जाने मे भेद पडता है। तथा सवस्त्रके मुक्ति होती है तो देशसयमीको हो सकेगी? फिर तो दीक्षा लेना ही

प्रसज्यते। तथा च लिङ्गग्रहणमनर्थकम्। सचेलसयमश्च मुक्तिहेतुरिति कुतोऽवगतम् ? स्वागमा-च्चेत्, न, अस्यास्मान् प्रत्यागमाभासत्वाद् भवतो यज्ञानुष्ठानागमवत्।

स्त्रियो न मोक्षहेतुसयमवत्य साधूनामवन्द्यत्वाद् गृहस्थवत्। न चात्रासिद्धो हेतु,

"वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमणवदणणमसणविणएण सो पुज्जो ॥" [ ]

इत्यभिधानात्।

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्त्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत्। न चायमसिद्धो हेतु, प्रत्यक्षेणावगतो हि वस्त्रग्रहणादिबाह्यपरिग्रहोऽभ्यन्तर स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति। न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपघातनिवारणार्थं स्वशरीरानुरागाद्यभावेप्यसावुपादीयते इत्यभिधेयम्, पुसामा-चेलक्यव्रतस्य हिंसात्वानुषङ्गात्। तथा चार्हदादयो मुक्तिभाजस्तदुपदेष्टारो वा न स्युः, किन्तु सवस्त्रा एव गृहस्था मुक्तिभाजो भवेयु। न चाचेलक्य नेष्यते।

बेकार होगा। आपने सचेल सयम मोक्षका कारण है ऐसा किस प्रमाण से जाना है? अपने आगमसे जाना है कहो तो ठीक नही, हम दिगम्बर के लिये वह आगमाभास है, जैसे आपको यज्ञानुष्ठानादि प्रतिपादक मीमासकका आगम आगमाभास रूप है। स्त्रिया मुक्त नही होती इस विषयमे और भी अनुमान है, स्त्रिया मोक्ष के कारणभूत सयम-वाली नही हो सकतो क्योकि वे साधुओ के लिये वन्दनीय नही हुआ करती हैं, जैसे गृहस्थ वन्दनीय नही होते हैं। कहा भी है—सैंकडो वर्षोकी दीक्षित आर्यिकाये आज के दीक्षित साधु को नमस्कार करती है साधु उनके द्वारा वन्दनीय, आदरणीय होता है, विनय करने योग्य होता है, सन्मुख जाने योग्य होता है ॥१॥

स्त्रिया बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी होती हैं अत मोक्ष के योग्य सयम को नही धार सकती। यह बाह्याभ्यन्तर परिग्रहत्व हेतु भी असिद्ध नही है प्रत्यक्ष से दिखता है कि वस्त्र ग्रहणादि बाह्य परिग्रह तथा स्वशरीरका अनुरागादि रूप अभ्यतर परिग्रह स्त्रियोके होता है। श्वेताम्बर कहे कि शरीरकी गरमी से वायुकायिक आदि जीवोको बाधा न होवे इसलिये शरीरका राग नही रहते हुए भी स्त्रिया वस्त्र को धारण करती हैं ऐसा कथन गलत है, इस तरह तो पुरुषोके आचेलक्य (वस्त्र त्याग) नामा व्रत हिंसाका कारण बन जायगा? फिर तो अर्हंत, गणधर आदिक मुक्तिके पात्र नही रहेगे, न आचेलक्य का उपदेश देने वाले मुक्तिके पात्र होगे, अपितु वस्त्रधारी

"आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहररायपिंडकिदिकम्म' ['जीतकल्प–भा० गा० १९७२] इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्।

किञ्च, गृहीतेपि वस्त्रे जन्तूपघातस्तदवस्थः, तेनानावृतपाणिपादादिप्रदेशोष्मणा तदुपघातस्य परिहर्त्तुमशक्तेः। वस्त्रस्य यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणत्वाच्च। तथाविधस्यापि स्वीकरणे मूर्द्धजानां लुञ्चनादिक्रिया न स्यात्। वस्त्राकुञ्चनादेर्जातवातेनाकाशप्रदेशावस्थितजन्तूपपीडनाच्च व्यजनादिवातवत्।

किञ्च, एवमनेकप्राण्युपघातनिवारणार्थमविहारोप्यनुष्ठेयो वस्त्रग्रहणवदविशेषात्। प्रयत्नेन गच्छतो जन्तूपघातेप्यहिंसा निश्चेलेपि समा। यथा च यज्ञानुष्ठानं पशुहिंसाङ्गत्वेनाऽश्रेयस्करत्वात् त्याज्यं तथा वस्त्रग्रहणमप्यविशेषात्।

गृहस्थ मुक्तिके पात्र होगे? किन्तु आचेलक्य आपको इष्ट न हो सो बात नही है। आचेलक्य, औद्देशिक, शय्याघर आदि दश प्रकारका स्थिति कल्प साधुओके लिये आगममे बतलाया है, सो उसमे साधुका आचेलक्य गुण आया है।

आपने कहा कि सयमके लिये वस्त्र धारण किया जाता है, सो वस्त्र ग्रहणमे भी जीवोका घात तो होता ही है, वस्त्रसे नही ढके हुए ऐसे शरीरके अवयव हाथ पैर आदि की गरमीसे जीवोका होने वाला घात रुक नही सकता है। तथा वस्त्र स्वय जू, लिक्षा आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीवोका आधारभूत है, ऐसे वस्त्र को भी ग्रहण किया जाय तो केशोका लोच आदि क्रिया भी जरूरी नही रहेगी? तथा वस्त्र को फैलाना, समेटना आदि व्यापारसे वायु सचार होकर आकाश प्रदेशमे स्थित जीवोका घात होता है, जैसे पखा आदि से हवा करनेमे जीवो का घात होता है।

दूसरी बात यह है कि यदि जीवो का बचाव करने के लिये वस्त्र ग्रहण करते है तो विहारमे अनेक जीवोका घात होता है अत साधुको विहार नहीं करना चाहिये? तुम कहो कि प्रयत्न पूर्वक ईर्या समितिसे विहार करनेमे जीवोका घात होते हुए भी साधुको अहिंसक माना है, सो यही बात वस्त्र त्यागमे है अर्थात् वस्त्रका त्याग करने पर शरीर की गरमी से जीवोका घात कभी भी हो जाय तो साधु प्रमाद रहित होने से अहिंसक कहलाता है। जैसे यज्ञानुष्ठान पशु हिंसाका कारण होनेसे अकल्याणकारी होनेसे त्याज्य है, वैसे वस्त्र भी हिंसाका कारण होनेसे त्यागने योग्य है, दोनो मे समानता है।

एतेन संयमोपकरणार्थं तदित्यपि निरस्तम्।

किञ्च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः सयम । स च याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमन. सक्षोभकारिणिवस्त्रे गृहीते कथ स्यात्? प्रत्युत सयमोपघातकमेव तत् स्याद्बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात्।

ह्रीशीतार्तिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते।
कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये?॥ १॥
येन येन विना पीडा पुसा समुपजायते।
तत्तत्सर्वमुपादेय लावकादिपलादिकम् ॥ २॥
वस्त्रखण्डे गृहीतेपि विरक्तो यदि तत्त्वतः।
स्त्रीमात्रेपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधित ॥ ३॥

"जीवो की रक्षा के हेतु वस्त्र है" यह बात जैसे खण्डित होती है वैसे सयम का उपकरण वस्त्र होने से ग्रहण करते है, यह कथन भी खण्डित होता है।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना सयम कहलाता है, वस्त्र ग्रहण करने पर उसको सीना, धोना, सुखाना, रखना, उठाना:तथा चोरके ले जाने पर मन मे क्षोभ होना इत्यादि असयमकी बाते हो जाने से सयम किस प्रकार पल सकता है? वस्त्र ग्रहण से उल्टे सयम का नाश होता है वस्त्र तो बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता का प्रतिपक्षी है।

वस्त्र को लज्जा, शीत की पीडा आदिका निवारण करनेके लिये ग्रहण करते हैं ऐसा कहा जाय तो स्त्री आदि को भी काम पीडाका निवारण करने के लिये ग्रहण करना दोपास्पद नही होगा? ॥१॥ फिर तो जिस जिस कारणसे पीडा दूर हो वह वह सब पदार्थ पक्षी आदिका मास आदि भी ग्रहण करने योग्य होगे? ॥२॥ श्वेताबर कहते है कि थोडा-सा वस्त्र लेने पर भी वास्तविक दृष्टिसे वह साधु विरागी ही बना रहता है? तब ऐसा हो सकता है कि स्त्री को ग्रहण करने पर भी साधु विरागी ही है, इसमे भी प्रश्न उत्तर समान रहेगे। राग सहित ही स्त्री का ग्रहण होता है ऐसा कहो तो वस्त्रमे भी यही दोष है कि वह भी राग सहित होकर ही ग्रहणमे आता है। तथा वस्त्र ग्रहण मात्रसे राग नही आता है तो स्त्री मात्र ग्रहणसे भी राग नही आता

नापि तन्वीमनःक्षोभनिवृत्त्यर्थं तदादृतम् ।
तद्वाञ्छाऽहेतुकत्वेन तन्निषेधस्य सम्भवात् ।। ४ ।।
चक्षुरुत्पाटन पट्टबन्धन च प्रसज्यते ।
लोचनादेस्तदुत्पत्तौ निमित्तत्वाविशेषत ।। ५ ।।
चलचित्ताङ्गना काचित्सयत च तपस्विनम् ।
यदीच्छति भ्रातृवर्त्कि दोषस्तस्य मतो नृणाम् ।। ६ ।।
बीभत्स मलिन साधु दृष्ट्वा शवशरीरवत् ।
अङ्गना नैव रज्यन्ते विरज्यन्ते तु तत्त्वतः ।। ७ ।।
स्त्रीपरीषहभग्नैश्च बद्धरागैश्च विग्रहे ।
वस्त्रमादीयते यस्मात्सिद्ध ग्रन्थद्वय तत ।। ८ ।।

न चैव जन्तुरक्षागण्डादिप्रतीकारार्थं पिच्छौषधादौ गृह्यमाणेप्यय दोष समान ; त्रिचतुरपिच्छग्रहणस्य जन्तुरक्षार्थत्वात्, शरीरे ममेदम्भावाऽसूचकत्वाच्च, औषधस्यापि प्रतिपन्नसामर्थ्यस्य

है ऐसा स्वीकार करना पडेगा ।।३।। यदि नग्न रहते है तो स्त्री विकारी होती है अत: स्त्री के मन का क्षोभ दूर करने के लिये वस्त्र को ग्रहण करते है, ऐसा कहना भी असत् है, स्त्री के मन मे क्षोभ तो साधु ने कराया नही, न नग्नता ही वांछा को कराती है नग्नता वाञ्छा की अहेतु होने से उसका निषेध सभव है ।।४।। यदि स्त्रियो को देखकर मन मे क्षोभ होता है अथवा साधु को देखने से स्त्री विकार को प्राप्त होती है तब तो अपनी या उसकी आंख को फोड डालना या आखो पर पट्टी बाधना भी जरूरी होगा ? क्योकि आख आदिक भी क्षोभ का अविशेप रूप से कारण है ? ।।५।। यदि कदाचित् कोई चचल स्वभाव वाली स्त्री सयमी की वांछा करती भी है तो वह साधु भाई के समान होने से कुछ भी आपत्ति नही हो सकती, अत नग्नता दोप युक्त नही है ।।६।। प्रथम तो बात यह है कि नग्न साधु को देखकर स्त्री को विकार आ नही सकता क्योकि उसका शरीर, बीभत्स, मैला, शव के समान रहता है ऐसे शरीर को देखकर स्त्रिया उनसे विरक्त ही होती हैं आसक्त नही हो सकती ।।७।। इस प्रकार यहा तक के विवेचन से स्पप्ट होता है कि जो विपयासक्त हैं, स्त्री परीपह सहन नही कर सकते, शरीर मे राग युक्त है, वे ही वस्त्र को ग्रहण करते है, इसीलिये बाह्याभ्यंतर परिग्रह धारी कहलाते हैं ।।८।। यहा पर शका हो सकती है कि इस तरह वस्त्र ग्रहण मे दूषण बतायेंगे तो जीव रक्षा के लिये मयूर पिच्छिका ग्रहण एव रोग निवृति के लिये औपधि ग्रहण करने से भी यही दूषण आता है ? सो यह शका

गण्डादेर्व्यावृत्तिहेतुत्वात् नाग्न्याविरोधित्वाच्च, वस्त्रे तु विपर्ययात्, परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्ध्यर्थं पिच्छस्याप्यग्रहणाच्चौषधवत्। पिण्डौपध्यादयो हि सिद्धान्तानुसारेणोद्गमादिदोषरहिता रत्नत्रयाराधनहेतवो गृह्यमाणा न कस्यापि मोक्षहेतो हन्तारः। न हि तद्ग्रहणे रागादयोऽन्तरङ्गा वहिरङ्गा वा स्वभूषावेषादयो ग्रन्था जायन्ते, अतस्ते मोक्षहेतोरुपकर्त्तार एव। पिण्डग्रहणमन्तरेण ह्यपूर्णकालेपि विपत्तेरापत्तेरात्मघातित्व स्यात्, न तु वस्त्रे। षष्ठाष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभि पिण्डोपि त्यज्यते, न तु स्त्रीभि कदाचिद्वस्त्रम्।

अथ वस्त्रादन्यस्याखिलस्य त्यागात्साकल्येनासा वाह्य नैर्ग्रन्थ्यम्, तर्हि लोभादन्यकषायत्यागादेवावाह्यमपि स्यात्। न च गृहीतेपि वस्त्रे ममेदम्भावस्याभावात्तदवतिष्ठते, विरोधात्-

---

ठीक नही है, तीन चार पखो का ग्रहण तो जीव रक्षा के लिए किया जाता है, तथा यह ममकार भाव का सूचक भी नही है। पके हुए फोडा फुन्सी आदि का प्रतिकारक होने से एव नग्नता का अविरोधक होने से औषधि का ग्रहण होता है। किन्तु वस्त्र ग्रहण मे ऐसी बात नही है। दूसरी वात यह है कि परम निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिये तो महाश्रमण पीछी भी ग्रहण नही करते है जिस प्रकार कि औषधि का ग्रहण नही करते है। सिद्धान्तानुसार उद्गम, उत्पादन आदि ४६ दोषो से रहित आहार औषधि आदि को ग्रहण करते है ये पदार्थ रत्नत्रय की आराधना के कारण है अत मोक्षमार्ग मे किसी के भी बाधक नही है। पीछी आदि ग्रहण करने से अतरग रागादि परिग्रह और वहिरग वसन, भूपण आदि परिग्रह नही होते हैं, अत ये पदार्थ परिग्रह नही हैं प्रत्युत मोक्ष के हेतु के उपकारक है। इसी का खुलासा करते है, साधु आहार को ग्रहण नही करेगा तो अकाल मे मरण होने से आत्मघाती कहलायेगा किन्तु वस्त्र मे ऐसी बात नही है। समर्थ अभ्यासी साधु तो आहार को भी दो दिन तीन दिन आदि के क्रम से छोड देता है, किंतु स्त्रियो द्वारा वस्त्र नही छोडा जा सकता है।

श्वेताम्बर—स्त्रिया वस्त्र को छोड़कर अन्य सपूर्ण परिग्रहो का त्याग कर लेती है, अत उनको बाह्य मे निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए ?

दिगम्बर जैन—ऐसी बात है तो लोभ कषाय को छोडकर अन्य अभ्यतर परिग्रह का त्याग होने से अन्तरग मे उन्हे निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए ? तुम कहो कि वस्त्र को ग्रहण करने पर भी ममत्व बुद्धि नही होने से निर्ग्रन्थता बनी रहेगी ? सो भी बात नही है, इस तरह के कथन मे विरोध आता है यदि बुद्धिपूर्वक अपनी इच्छा

'बुद्धिपूर्वक हि हस्तेन पतितवस्त्रमादाय परिदधानोपि तन्मूर्च्छारहित' इति कश्चेतन श्रद्दधीत ? तन्वीमाश्लिष्यतोपि तद्रहितत्वप्रसङ्गात् । ततो वस्त्रग्रहणे बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहप्राप्तेर्नैर्ग्रन्थ्यद्वयासम्भवान्न स्त्रीणां मोक्षः । स हि बाह्याभ्यन्तरकारणजन्यः कार्यत्वान्माषपाकादिवत् । तच्च बाह्यमभ्यन्तरं च कारणमाकिञ्चन्यम्, तदभावे कथ स स्यात् ? इति परहेतोरसिद्धेर्नानुमानात् स्त्रीमुक्तिसिद्धिः ।

नाप्यागमात्, तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात् ।

"पुंवेद वेदता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झति ।।" [ ]

से स्वहस्त से वस्त्र को पहिनता है, गिरे वस्त्र को सम्हालता है, ठीक करता है, ठीक करके पुनः धारण करता है इत्यादि क्रिया करते हुए भी वह वस्त्र की इच्छा से रहित है, ऐसा कौन विश्वास कर सकता है ? यदि ऐसा माना जाय तो साधु स्त्री का आलिगन करता हुआ भी उसके ममत्व से रहित हैं, ऐसा मानना चाहिए ? अतः निश्चित होता है कि वस्त्र को ग्रहण करने से स्त्रियो को बाह्याभ्यतर परिग्रह का दोष आता ही है इसलिये स्त्रियो के बाह्याभ्यतर निर्ग्रन्थपना संभव नही होने से मोक्ष नही होता है। मोक्ष की प्राप्ति बाह्यकारण और अतरंग कारण मिलने पर होती है, क्योकि वह कार्य है, जिस प्रकार उडद आदि धान्य बाह्याभ्यंतर अग्नि, स्वशक्ति आदि कारण के मिलने पर ही पकते है, मोक्ष का कारण तो बाह्य में आकिंचन रहना अर्थात् संपूर्ण वस्त्र, पात्र आदि से रहित होना है और अतरग आकिंचन्य रागादि से रहित होना है, ये दोनो आकिंचन्य धर्म स्त्रियो मे नही हो सकते तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है । इस प्रकार परवादी श्वेताम्बर का दिया हुआ "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध होने के कारण अनुमान द्वारा स्त्री मुक्ति सिद्ध नही होती है ।

आगम से भी स्त्री मुक्ति सिद्ध नही होती है क्योंकि स्त्री मुक्ति के प्रतिपादक आगम का अभाव है । पुरुषवेद का अनुभव करने वाले जो पुरुष है वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर ध्यान लीन होते हुए सिद्ध बन जाते हैं, तथा शेष स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद वाले भी इसी प्रकार मोक्ष जाते हैं ।।१।। यह जो आगम कथित गाथा है इससे भी स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन नही होता है, पुरुषवेद के समान अन्य वेदो के उदय होने पर भी पुरुष ही मोक्ष जाते है । दोनो जगह पुरुष का संबंध हैं, उदय होता है वह भाव का होता है न कि द्रव्य का ।

इत्यादेरप्यागमस्य स्त्रीमुक्तिप्रतिपादकत्वाभाव । न हि पुंवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवर्गविदक उभयत्रापि 'पुरुषा ' इत्यभिसम्बन्धात् । उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

स्त्रीत्वान्यथानुपपत्तेश्चासां न मुक्तिः । आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवै. उत्कर्षेण द्वित्रैर्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्य मुक्तिरुक्ता । यदा चास्य सम्यग्दर्शनाराधकत्वम् तत्प्रभृति सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न सम्भवतीति कथ स्त्रीमुक्तिसिद्धि ।

ननु चानादिमिथ्यादृष्टिरपि जीव पूर्वभवनिर्जीर्णाशुभकर्मा प्रथमतरमेव रत्नत्रयमाराध्य भरतपुत्रादिवन्मुक्तिमासादयतात स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्यापि मुक्तिरविरुद्धेति, तदप्ययुक्तम्, पूर्वं निर्जीर्ण-

---

भावार्थ — स्त्रीवेद आदि मोहनीय कर्म के होने पर जीव के भाव स्त्रीरूप आदि होते हैं मोहनीय का उदय भावो की सृष्टि करता है स्त्री के शरीराकार या पुरुष के शरीराकार बनना तो नामकर्म के आधीन है अत द्रव्यवेद नामकर्म का कार्य है, किंतु जो बाह्य मे पुरुष रूप द्रव्यवेद वाले है, और अंतरग मे स्त्रीवेद के उदय का अथवा पुरुषवेद के उदय का अनुभव कर रहे है ऐसे पुरुष ही क्षपक श्रेणी पर चढकर मोक्ष को प्राप्त करते है । जो बाह्य मे स्त्रीरूप शरीर वाले हैं या नपुसकरूप शरीर वाले हैं अर्थात् द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुमक है वे मनुष्य मोक्ष नही जा सकते । जहां भी स्त्रीवेद के उदय वाले मोक्ष जाते है ऐसा कथन है वहा स्पष्टतया मोहनीय का उदय सबधित है, क्योकि भाव तो मोह कर्म से होते है । स्त्रियो मे स्त्रीत्व अवश्य रहता है अत उनके मोक्ष नही हो सकता है । आगम मे रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव जघन्य मे सात आठ भवो मे और उत्कृष्टता से दो तीन भवो मे मोक्ष जाते है, ऐसा कहा है, जब से यह जीव मात्र सम्यग्दर्शन की आराधना करता है तब से किसी भी स्त्री पर्याय मे (देवी, मनुष्यनी, तिर्यचनी मे) उत्पन्न ही नही होता है, जब सम्यग्दृष्टि के स्त्रीपर्याय होना सभव नही है तो मुक्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती ।

श्वेतांबर— जिसने पूर्व भव मे अशुभ कर्मो को निर्जीर्ण कर दिया है ऐसा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है वह पहली बार ही रत्नत्रय की भावना कर भरत चक्रवर्ती के पुत्रो के समान मुक्ति को प्राप्त करता है ऐसे जीव के स्त्रीपने से उत्पन्न होने पर भी मुक्ति होना अविरुद्ध है ?

शुभकर्मण स्त्रीवेदेनोत्पत्ते रसम्भवात्, तस्याप्यशुभकर्मत्वेन निर्जीर्णत्वात्। कथ पुनः स्त्रीवेदस्याशुभकर्मत्वमिति चेत्, सम्यग्दर्शनोपेतस्य तत्त्वेनोत्पत्ते रयोगात्।

ततो नास्ति स्त्रीणा मोक्ष पुरुषादन्यत्वात् नपु सकवत्। अन्यथाऽस्याप्यसौ स्यात्। न चैतद्वाच्यम्-नास्ति पु सो मोक्ष स्त्रीतोन्यत्वात् नपु सकवत्, उभयवादिसम्मतागमेन बाधितत्वात्, भवदागमस्य चास्मान्प्रति अप्रमाणत्वात्।

तथा स्त्रीणा मोक्षो नास्ति उत्कृष्टध्यानफलत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनवत्। अतोपि न तासा मुक्तिसिद्धि। ततोऽनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणो मोक्ष पुरुषस्यैवेति प्रेक्षादक्षै प्रतिपत्तव्यम्।

दिगम्बर—यह कथन अयुक्त है, जिसके पूर्व मे अशुभ का नाश हुआ है वह जीव स्त्रीपर्याय मे उत्पन्न ही नही होता है, क्योकि स्त्रीवेद एक अशुभकर्म है वह भी अशुभ कर्म के साथ निर्जीर्ण हो जाता है। स्त्रीवेद को अशुभकर्म क्यो कहते है? ऐसा प्रश्न होवे तो उसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि स्त्रीवेद को लेकर उत्पन्न नही होता है इसी से निश्चित होता है कि स्त्रीवेद अशुभ है।

इस प्रकार स्त्रियो के मोक्ष नही होता है क्योकि वह पुरुषवेद से अन्यवेद युक्त है। जैसे नपु सक। इस अनुमान द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। यदि स्त्रियो को मोक्ष होना मानते है तो नपु सक के भी मानना पडेगा। कोई कहे कि पुरुष के मोक्ष नही होता, क्योकि वह स्त्री से अन्यरूप है, जैसे नपु सक के नही होता है? सो यह कथन सर्वथा विपरीत है यह अनुमान उभयवादी मे (श्वेताबर और दिगम्बरो मे) प्रसिद्ध आगम द्वारा बाधित है, श्वेताम्बर का जो आगम स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन करता है वह हमारे लिये अप्रमाणभूत है अत उससे स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नही होती है। अनुमान प्रमाण से पुन सिद्ध करते है कि स्त्रियो के मोक्ष नही होता है, क्योकि वह उत्कृप्ट ध्यान का फल है स्त्रियो के उत्कृष्ट ध्यान नही होता है, जैसे सातवे नरक मे गमन नही होता है। इस अनुमान से स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्यो को अनत चतुष्टयत्वरूप का लाभ होता है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पुरुषो को ही होता है अन्य को नही, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार स्त्रीमुक्ति का निषेध सिद्ध हुआ। साथ ही प्रत्यक्ष परिच्छेद नामा दूसरा परिच्छेद भी समाप्त होता है। अत मे उपसहाररूप श्लोक कहते है।

मुख्य साव्यवहारिक च गदित भानुप्रदीपोपमम्,
प्रत्यक्ष विशदस्वरूपनियत साकल्यवैकल्यत ।
निर्बाध नियतस्वहेतुजनित मिथ्येतरं कल्पितम्,
तल्लक्ष्मेति विचारचारुधिषणैश्चेतस्यल चिन्त्यताम् ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
द्वितीय परिच्छेद समाप्त. ॥२॥

मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ऐसे प्रत्यक्ष के दो भेद इस अध्याय मे कहे गये हैं, मुख्य प्रत्यक्षप्रमाण सूर्य के समान पदार्थों का प्रकाशक है, पूर्णरूप से विशद है, निर्बाध है, अपने सामग्री विशेष से उत्पन्न होता है। तथा साव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण दीपक के समान पदार्थों का प्रकाशक है। एकदेशविशद, निर्बाध, इद्रियादि से जनित है। अन्य परवादी के द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्षादि प्रमाणो का लक्षण सिद्ध नहीं होता है अत मिथ्या है, इस प्रकार विचार करने मे चतुर पुरुष अपने मन मे निश्चय करें। अव इस विषय को समाप्त करते हैं। अलं विस्तरेण।

इस प्रकार श्री प्रभाचंद्राचार्य विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ का
दूसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

स्त्री मुक्ति विचार के खंडन का सारांश

पूर्वपक्ष – पुरुष के ही अनंत चतुष्टय गुणों का लाभ रूप मोक्ष हो ऐसा नही है, स्त्री के भी मोक्ष होता है, स्त्रियो के अनंत ज्ञानादि की प्राप्ति रूप मोक्ष का लाभ होता है, क्योकि उनके अविकल कारणो का सद्भाव है। तथा आगम मे स्त्री मुक्ति प्रतिपादक वाक्य मौजूद है—

पु वेद वेदता जे पुरिसा खवग सेढि मारूढा।
सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥

अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपक श्रेणी का आरोहण करते है तथा अन्य वेदो का अनुभव करते हुए जो जीव ध्यान युक्त होते है वे सिद्ध हो जाते है। स्त्री वस्त्र धारण करती है अतः उसके मुक्ति नही होती ऐसा भी नहीं कहना क्योकि जिस प्रकार रागादि के अभाव मे भी पीछी आदि धारण की जाती है वैसे ही स्त्रिया वस्त्र को धारण करती है, तथा शरीर की गर्मी से वायुकायिकादि जीवो का घात न हो इसलिये भी वस्त्र धारण किया जाता है इस प्रकार अनुमान, आगम और युक्ति से स्त्री के मुक्ति की सिद्धि हो जाती है?

उत्तरपक्ष—यह श्वेताम्बर का मतव्य ठीक नही है, सर्व प्रथम आपने अनुमान से स्त्री मुक्ति का जो समर्थन किया है वह ठीक नही है क्योंकि उसका अविकल कारणत्व हेतु असिद्ध है, स्त्रियो के मुक्ति साधक संपूर्ण हेतु की प्राप्ति होना अशक्य है जैसे स्त्रियो के सातवें नरक जाने योग्य पुण्य का परम प्रकर्ष भी नही होता है, अत हेतु असत् ठहरने से उस अनुमान के द्वारा स्त्री मुक्ति सिद्ध नही होती, स्त्रिया सातवे नरक नही जाती यह बात तो उभय प्रवादी को इष्ट है।

शका—महिला सातवे नरक के योग्य पाप का प्रकर्ष न करे किंतु मोक्ष होवे तो क्या बाधा है? मोक्ष हेतु का परम प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का परम प्रकर्ष इनका कोई अविनाभाव नही है, यदि मानो तो सप्तम नरक को योग्यता रखने वाले सभी पुरुष मोक्ष जा सकेंगे तथा नपुसक भी मोक्ष जा सकेंगे?

उत्तर—मोक्ष हेतु का प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का प्रकर्ष इनमे विषम व्याप्ति है, जहा मोक्ष हेतु का प्रकर्ष है वहा नरक योग्य पाप के प्रकर्ष की योग्यता

अवश्य है किंतु जहा नरक हेतु का प्रकर्ष है वहा मोक्ष कारण का प्रकर्ष हो और नही भी हो ऐसा है ।

आपका आगम वाक्य भी स्त्री मुक्ति का प्रतिपादन न करके पुरुषवेदी के मुक्ति का ही प्रतिपादन करता है, अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए और अन्य वेदो का अनुभव करते हुए जीव श्रेणी चढकर मोक्ष जाते है ऐसा जो वाक्य है उसका अर्थ यह है कि चाहे जिस वेद का उदय हो उस वेद के उदय से सहित पुरुष ही श्रेणी आरोहण कर सिद्ध होते हैं । तथा आपकी स्त्री मुक्ति के लिये दी गई युक्तिया असत्य हैं, जैसे पीछी आदि जीव रक्षा के लिये सहायक है वैसे वस्त्र नही हैं उल्टे उसमे अनेक जीवो का घात होता है । वस्त्र को धोना, सुखाना, फटकारना, समेटना इत्यादि क्रियाओ मे हिंसा होती है, याचना वृत्ति भी होगी । जब अति उच्च श्रेणी का परम नैर्ग्रन्थ होता है तब पीछी आदि का भी त्याग होता है तो वस्त्र की बात ही क्या ? यदि कहे कि सयमी को वस्त्र धारण मे राग नही होता सो असभव है, बुद्धिपूर्वक हाथ से ओढना आदि करते हुए भी उस पर राग नही है ऐसा माने तो स्त्रियो का आलिगन आदि करते हुए भी राग नही है ऐसा भी मानना होगा, इस तरह तो आप और वैशेषिकादि मे कुछ भी अतर नही रहेगा (क्योकि वे भी स्त्री वस्त्रादि से युक्त होकर मोक्ष होना मानते है)

तथा जब सम्यग्दर्शन होने के अनन्तर यह जीव स्त्री पर्याय मे जन्म नही लेता है तो मोक्ष कैसे जायगा ? अनादि मिथ्यादृष्टि के कर्मोपशम होने पर स्त्री अवस्था मे ही कर्म काट मोक्ष जाने की बात कहना हास्यास्पद है क्योकि यदि अनादि मिथ्यादृष्टि के कर्म का उपशम हुआ है तो उसका स्त्री पर्याय मे जन्म ही नही होगा, स्त्रियो के उत्कृष्ट ध्यान भी नही होता है, सयम भी अच्छी तरह नही पलता वह स्वभाव से ही भीरु रहती है इत्यादि अनेक युक्तियो से स्त्री मुक्ति का निरसन हो जाता है ।

तृतीय खण्ड
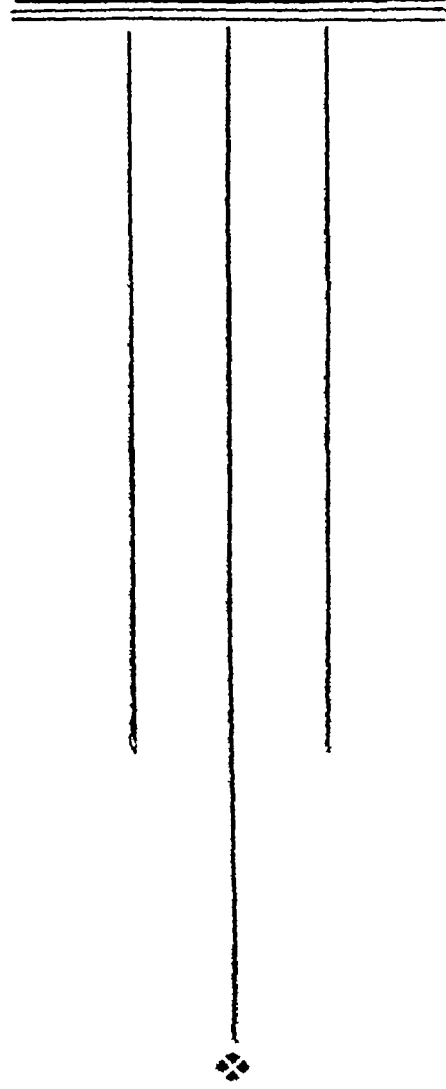
अथेदानी परोक्षप्रमाणस्वरूपनिरूपणाय—

परोक्षमितरत् ॥१॥

इत्याह। प्रतिपादितविशदस्वरूपविज्ञानाद्यदन्यदऽविशदस्वरूप विज्ञान तत्परोक्षम्। तथा च प्रयोगः—अविशदज्ञानात्मकं परोक्ष परोक्षत्वात्। यन्नाऽविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम् यथा मुख्येतरप्रत्यक्षम्, परोक्ष चेद वक्ष्यमाण विज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकमिति।

तन्निमित्तप्रकारप्रकाशनाय प्रत्यक्षेत्याद्याह—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

अब यहा पर श्री माणिक्यनदी आचार्य परोक्ष प्रमाण के स्वरूप का सूत्रबद्ध निरूपण करते है—

"परोक्षमितरत्"

सूत्रार्थ—पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा था उससे पृथक् लक्षण वाला परोक्ष प्रमाण होता है। विशद ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ऐसा प्रतिपादन कर चुके है—उससे अन्य अर्थात् अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण है। इसी को अनुमान प्रयोग द्वारा बतलाते हैं—परोक्ष प्रमाण अविशद ज्ञान रूप है, क्योकि वह परोक्ष है, जो अविशद ज्ञान रूप नही है वह परोक्ष नही कहलाता जैसे—मुख्य प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्ष नही कहलाता है यह वक्ष्यमाण ज्ञान परोक्ष है, अत. अविशद-ज्ञान रूप है। उस परोक्ष प्रमाण के कारण और भेद अग्रिम सूत्र में कहते है—"प्रत्यक्षादि निमित्त स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागम भेदम्" ॥२॥

प्रत्यक्षादिनिमित्त यस्य, स्मृत्यादयो भेदा यस्य तथोक्तम्। तत्र स्मृतेस्तावत्सस्कारेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

सस्कार साव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा। तस्योद्वोध प्रवोधः। स निबन्धन यस्या तदित्याकारो यस्या सा तथोक्ता स्मृति ।

विनेयाना सुखाववोधार्थं दृष्टान्तद्वारेण तत्स्वरूप निरूपयति—

यथा स देवदत्त इति ॥४॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने। स देवदत्त इति। एवप्रकार तच्छब्दपरामृष्ट यद्विज्ञान तत्सर्वं स्मृतिरित्यवगन्तव्यम्। न चासावप्रमाण सवादकत्वात्। यत्सवादक तत्प्रमाण यथा प्रत्यक्षादि, सवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्।

सूत्रार्थ—जिसमे प्रत्यक्ष प्रमाण आदिक निमित्त हैं वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, व आगम ऐसे पाच भेद हैं। अव इन भेदो का वर्णन करते हुए सवसे पहले स्मृति प्रमाण का कारण तथा स्वरूप वतलाते हैं—

"सस्काराद्बोध निबधना तदित्याकारा स्मृति" ॥३॥

सूत्रार्थ—जो ज्ञान सस्कार से होता है जिसमे "वह" इस प्रकार का आकार (प्रतिभास) रहता है वह स्मृति प्रमाण है। सस्कार का अर्थ धारणा ज्ञान है जो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेद है, उस धारणा ज्ञान का उद्वोध होना स्मृति है।

यहा पर शिष्यो को सरलता से समझ मे आने के लिये दृष्टात द्वारा स्मृति का स्वरूप बतलाते है— "स देवदत्तो यथा" ॥४॥

सूत्रार्थ—यथा "वह देवदत्त" इस प्रकार का प्रतिभास होना स्मृति है। सूत्र मे "यथा" शब्द उदाहरण का प्रदर्शन करता है। "वह देवदत्त" इस प्रकार का तत् शब्द का परामर्श करने वाला जो ज्ञान है वह सब स्मृति रूप है ऐसा समझना। यह ज्ञान अप्रमाण नही है क्योकि सवादक है। जो ज्ञान सवादक होता है वह प्रमाण है जैसे— प्रत्यक्षादि ज्ञान है। स्मृति भी सवादक है अत प्रमाण है।

ननु कोय स्मृतिशब्दवाच्योर्थ—ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषय वा विज्ञानम् ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिशब्दवाच्यत्वानुषङ्गः। तथा च कस्य दृष्टान्तता ? न खलु तदेव तस्यैव दृष्टान्तो भवति। द्वितीयपक्षेपि देवदत्तानुभूतार्थे यज्ञदत्तादिज्ञानस्य स्मृतिरूपताप्रसङ्ग । अथ 'येनैव' यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुन कालान्तरे तस्यैव तत्रैवोपजायमान ज्ञान स्मृति' इत्युच्यते ननु 'अनुभूते जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात्। न चासती विषयीकर्तुं शक्या। न चाविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इत्यधिगति । न चानुभवकालेऽर्थस्यानुभूततास्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात्, तथा च 'अनुभूयमाने स्मृति' इति स्यात्। अथ 'अनुभूते स्मृतिः' इत्येतत्स्मृतिरेव प्रतिपद्यते, न, अनयाऽतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्। तद्विषयीकरणे वा निखिलातीतविषयीकरणप्रसङ्गोऽविशेषात् । यदि चानुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्, तदा स्मृतिरपि जानीयात्

सौगत—स्मृति शब्द का वाच्य अर्थ क्या है ? ज्ञान मात्र को स्मृति कहते है तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी स्मृति शब्द के वाच्य होवेगे फिर उपर्युक्त अनुमान मे दृष्टात किसका होगा ? वही उसका दृष्टान्त तो नही हो सकता । दूसरा पक्ष—अनुभूत विषय वाले ज्ञान को स्मृति कहते है ऐसा कहे तो देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषय मे यज्ञदत्त आदि के ज्ञान को स्मृतिपना होने का प्रसग आयेगा । यदि कहे कि जिसके द्वारा जो विषय पूर्व मे अनुभूत है पुन कालान्तर मे उसी का उसी मे ज्ञान उत्पन्न होना स्मृति है सो यह कथन असत् है "अनुभूत मे उत्पन्न हुआ है" इस तरह से किसके द्वारा प्रतीत होगा ? अनुभव द्वारा तो नही हो सकता, क्योकि उस वक्त स्मृति का ही असत्व है, जो नही है उसको विषय नही कर सकते और अविषय के बारे मे उसमे "उत्पन्न होती है" ऐसा निश्चय नही कर सकते । तथा वस्तु के अनुभवन काल मे वस्तु की अनुभूतता नही होती किंतु उस समय उसकी अनुभूयमानता होती है । जब ऐसी बात है तो अनुभूयमान म स्मृति होती है ऐसा मानना होगा ।

"अनुभूत विषय मे स्मृति होती है" इस बात का निश्चय तो स्वय स्मृति ही कर लेती है ऐसा कहो तो गलत है क्योकि स्मृति के द्वारा अतीतार्थ और अनुभवार्थ का ग्रहण नही होता, क्योकि वैसा प्रतीत नही होता है । तथा यदि स्मृति अतीतार्थ और अनुभवार्थ को ग्रहण करती है तो सम्पूर्ण अतीत विषयो को ग्रहण करने का प्रसंग आता है क्योकि उक्त विषय मे अतीतपने की अविशेपता है । तथा यदि अनुभूतपना प्रत्यक्षगम्य होता तो स्मृति भी जान सकती है कि "मैं अनुभूत विपय मे उत्पन्न हुई हूँ,

'अहमनुभूते समुत्पन्ना' इति अनुभवानुसारित्वात्तस्या । न चासौ प्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, स्मृतिशब्दवाच्यार्थस्य प्रागेव प्ररूपितत्वात् । 'तदित्याकारानुभूतार्थविषया हि प्रतीति स्मृतिः' इत्युच्यते ।

ननु चोक्तमनुभूते स्मृतिरित्येतन्न स्मृतिप्रत्यक्षाभ्या प्रतीयते, तदप्यपेशलम्, मतिज्ञानापेक्षेणात्मना अनुभूयमानाऽनुभूतार्थविषयतायाः स्मृतिप्रत्यक्षाकारयोश्चानुभवसम्भवात् चित्राकारप्रतीतिवत् चित्रज्ञानेन । यथा चाशक्यविवेचनत्वाद् युगपच्चित्राकारतैकस्याविरुद्धा, तथा क्रमेणापि अवग्रहेहावायधारणास्मृत्यादिचित्रस्वभावता । न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे तदैवार्थेऽनुभूततायाः अप्यनुभवोऽनुषज्यते, स्मृतिविशेषणापेक्षत्वात्तत्र तत्प्रतीतेः, नीलाद्याकारविशेषणापेक्षया ज्ञाने चित्रप्रतिपत्तिवत् ।

क्योकि स्मृति अनुभव के अनुसार हुआ करती है किन्तु अनुभूतता प्रत्यक्ष गम्य नही है। (इस प्रकार स्मृति ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध नही होता है)

जैन—यह सारा कथन बिना सोचे किया है, स्मृति शब्द का वाच्यार्थ पहले ही बता चुके है कि "वह" इस प्रकार का प्रतिभास जिसमे हो वह अनुभूत विषय वाली प्रतीति ही स्मृति कहलाती है ।

शका—"अनुभूत अर्थ मे स्मृति होती है" ऐसा स्मृति और प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत नही होता है ।

समाधान—यह बात ठीक नही है । जिसमे मतिज्ञान की अपेक्षा है ऐसे आत्मा के द्वारा अनुभूय विषय और अनुभूतार्थ विषय का प्रत्यक्ष तथा स्मृति के आकार से अनुभव होना सभव है । जैसे—चित्र ज्ञान के द्वारा चित्राकारो का प्रतिभास होना सभव है । जिस प्रकार आप बौद्ध के यहा अशक्य विवेचन होने से एक ज्ञान की एक साथ चित्राकारता होना अविरुद्ध हैं उसी प्रकार क्रम से भी अवग्रहज्ञान, ईहाज्ञान, अवायज्ञान, धारणाज्ञान, स्मृतिज्ञान इत्यादि विचित्र ज्ञानो का एक आत्मा मे होना अविरुद्ध है । कोई कहे कि प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूय मानता अनुभव मे आने के साथ उसी वक्त पदार्थ मे अनुभूतता का भी अनुभव हो जाना चाहिए, सो यह कथन ठीक नही, क्योकि उस अनुभूतता मे स्मृति विशेषण की अपेक्षा होती है, उससे ही अनुभूतता की प्रतीति होती है, जैसे नीलादि आकाररूप विशेषण की अपेक्षा से ज्ञान मे चित्र की प्रतिपत्ति होती है ।

न चानुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्गृहीतग्राहित्वेनाऽप्रामाण्यम्, [प]रिच्छित्तिविशेषसम्भवात्। न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया वस्तुप्रतिभास. तथैव स्मृतौ तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याऽप्रतीते । पुनः पुनर्भावयतो वैशद्यप्रतीतिस्तु भावनाज्ञानम्, तच्च तद्रूपतया भ्रान्तमेव स्वप्नादिज्ञानवत्। तथाप्यनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्या प्रामाण्यानभ्युपगमे अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्ष तदप्यप्रमाण स्यात्। असत्यतीतेर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्कालेऽसत्त्वात्। तज्जन्मादेस्तत्रास्य प्रामाण्ये स्मरणेपि तदस्तु । निराकृत चार्थजन्मादि ज्ञानस्य प्रागेवेति कृत प्रयासेन।

स्मृति प्रमाण अनुभूत विषय को जानता है अत गृहीत ग्राही होने से अप्रमाणभूत है ऐसा भी नही समझना । क्योकि इसमे परिच्छित्ति विशेष सभव है । जिस प्रकार प्रत्यक्ष में विशदरूप से वस्तु का प्रतिभास होता है उस प्रकार स्मृति मे नही होता है, उसमे तो वस्तु का अविशदरूप प्रतिभास होता है ।

पुन: पुन· भावना करने वाले मनुष्य को यदि किसी विषयमे विशदता प्रतीत होती है तो वह भावना ज्ञान है स्मृति ज्ञान नही है, भावना ज्ञान तो उस रूप से भ्रात ही है जैसे स्वप्न ज्ञान भ्रान्त है। स्मृति स्वप्न ज्ञान या भावना ज्ञानके समान भ्रात नही होती, तो भी अनुभूत विषय वाली होने मात्र से इसका प्रामाण्य स्वीकार न किया जाय तो जो अनुमान द्वारा अनुभूत हुई अग्निमे प्रवृत्ति करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को अप्रमाण मानने का प्रसग आयेगा । असद्भूत अतीत पदार्थ मे प्रवृत्तमान होने से स्मृति अप्रमाण हैं, ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणता का प्रसग आता है क्योकि उसके विपयभूत पदार्थ का भी तत्काल मे (बौद्धमत की अपेक्षा) असत्व है । यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसी पदार्थ मे उत्पन्न हुआ है, उसी के आकार का है अत प्रमाण है तो यही बात स्मरण मे भी होवे । किन्तु ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना आदिका पूर्व मे ही निराकरण हो चुका है अत इस विषय मे अधिक कहने से बस हो। स्मृति का अविसवादकपना असिद्ध भी नही है क्योकि स्वय के द्वारा स्थापित किये निक्षेप (धन) आदि मे उसके ग्रहण करने पर प्राप्तिरूप प्रत्यक्ष-प्रमाणांतर से स्मृति का अविसंवादकपना सिद्ध होता है। जहा विसवाद होता है वह स्मरणाभास कहलाता है जैसे—प्रत्यक्षाभास होता है तथा यदि स्मृति को अप्रमाण मानते है तो अनुमान की प्रवृत्ति किस प्रकार होवेगी ? क्योकि स्मृति के अभाव मे साध्य साधन के अविनाभाव सबध की सिद्धि नही हो सकती । अविनाभावी सबध की स्मृति हुए बिना अनुमान प्रमाण उदित नही हो

न चाविसवादकत्व स्मृतेरसिद्धम्, स्वयं स्थापितनिक्षेपादौ तद्गृहीतार्थे प्राप्तिप्रमाणान्तर-प्रवृत्तिलक्षणाविसवादप्रतीते । यत्र तु विसवाद सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत् । विसंवादकत्वे चास्या कथमनुमानप्रवृत्ति सम्बन्धस्यातोऽप्रसिद्धे: ? न च सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानमुदेत्यति-प्रसङ्गात् ।

किञ्च, सम्बन्धाभावात्तस्या विसवादकत्वम्, कल्पितसम्बन्धविषयत्वाद्वा, सतोप्यस्याऽनया विषयीकर्त्तु मशक्यत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कुतोऽनुमानप्रवृत्तिः ? अन्यथा यत कुतश्चित्सम्बन्धरहिताद्यत्र क्वचिदनुमान स्यात् । कल्पितसम्बन्धविषयत्वेनास्या विसवादित्वे दृश्यप्राप्यैकत्वे प्राप्यविकल्प्यैकत्वे

सकता, अन्यथा अतिप्रसग होगा । बौद्ध स्मृति को विसवादक मानते हैं सो उसका कारण क्या है ? साध्य साधन के संबध का अभाव है इसलिये ? अथवा कल्पित सबध को विषय करने से, या सबध के रहते हुए भी स्मृति द्वारा इसको विषय करना अशक्य होने से ? प्रथम पक्ष कहो तो अनुमान की प्रवृत्ति किससे होवेगी ? बिना सबध के अनुमान प्रवृत्ति करेगा तो जिस किसी सबध रहित हेतु से जहा चाहे वहा प्रवृत्ति कर सकेगा । कल्पित सबध को स्मृति विषय करती है अत विसवादक है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो भी ठीक नही क्योकि इस तरह मानें तो दृश्य (स्वलक्षण) और प्राप्य मे एकत्व रूप कल्पित सबध को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्राप्य और विकल्प मे एकत्वरूप कल्पित सबध को विषय करने वाला अनुमान प्रमाण अविसवादक नही रहेगा ।

भावार्थ—बौद्ध मतानुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, उस क्षणिक वस्तु का जो स्वरूप है उसे स्वलक्षण कहते हैं, स्वलक्षण को दृश्य भी कहते हैं, प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्य कहते है, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय दृश्य है, वह क्षणिक होने के कारण प्राप्ति के समय तक नही रहता, फिर भी दृश्य और प्राप्य मे एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण मे अविसवादकपना माना जाता है, इसी प्रकार प्राप्य और विकल्प मे एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले अनुमान मे अविसवादपना माना जाता है, इस तरह बौद्धमत मे कल्पित संबंध को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाणभूत स्वीकार किया है, अत स्मृति ज्ञान को कल्पित सबध को विषय करने वाला होने से विसंवादक है ऐसा कहना गलत है, अन्यथा उनके अभीष्ट प्रत्यक्षादि प्रमाण मे भी विसंवादकपना सिद्ध होगा ।

च प्रत्यक्षानुमानयोरविसवादो न स्यात् । तत्सम्बन्धस्य कल्पितत्वे च अनुमानमप्येवंविधमेव स्यात् । तथा च कथमतोऽभीष्टतत्त्वसिद्धि: ? अथ सन्नपि सम्बन्धोऽनया विषयीकर्त्तु न शक्यते, यत्तु विपयीक्रियते सामान्यं तस्याऽसत्त्वात् स्मृतेर्विसवादित्वम्, तदेतदनुमानेपि समानम् । अध्यवसितस्वलक्षणाव्यभिचारित्वं स्मृतावपि ।

'किञ्च, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतु, तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा ? तत्राद्यविकल्पे नालिकेरद्वीपायातस्याप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्ति स्यात् । न चाविज्ञात सम्बन्धोस्ति उपलम्भनिबन्धनत्वात्सद्व्यवहारस्य, अन्यथातिप्रसङ्गात् । तद्दर्शनमात्रेण

तथा स्मृति के द्वारा गृहीत सबध को कल्पित माना जायगा तो अनुमान भी इसी प्रकार का सिद्ध होगा, फिर कल्पित विपय वाले उस अनुमान से अभीष्ट तत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी ?

बौद्ध—सबध सद्रूप है किन्तु स्मृति द्वारा इसको विषय करना शक्य नही, स्मृति द्वारा जिसको विषय किया जाता है, वह सामान्य है और सामान्य असत्वरूप माना गया है, अत स्मृति मे विसवादकपना सिद्ध होता है ?

जैन—यह सब कथन अनुमान मे भी घटित होता है, अर्थात् अनुमान द्वारा विद्यमान स्वलक्षण का विपय करना अशक्य है, उसके द्वारा तो सामान्य को विषय किया जाता है, और सामान्य असत्वरूप होता है अत अनुमान भी विसवादक सिद्ध होता है ।

बौद्ध—प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये स्वलक्षण के साथ अव्यभिचारीपना होने से अनुमान को विसवाद रहित मानते है ?

जैन—यही बात स्मृति के विषय मे है, अर्थात् स्मृति भी प्रत्यक्ष के विषय के साथ अव्यभिचारी है अत वह भी विसवाद रहित है ।

किंच, साध्य साधन के सबध का सत्ता रूप रहना मात्र अनुमान प्रवृत्ति का हेतु है, अथवा इस सबध को देखने से अनुमान की प्रवृत्ति होती है अथवा उस सबध के स्मरण से अनुमान की प्रवृत्ति होती है ? प्रथम विकल्प माने तो जिसने अग्नि और धूम का सबध नही जाना है ऐसे नालिकेर द्वीप से आये हुए पुरुष को भी धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता तो नही । तथा सबध अविज्ञात नही होता, क्योकि अस्तित्व का व्यवहार उपलब्धि के निमित्त से ही हुआ करता है ।

तत्प्रवृत्तौ बालावस्थाया प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धदशाया धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्ग, न चैवम् । तत्स्मृतावस्त्येवेति चेत्, कथ नासौ प्रमाणम् ? को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्ता निराकुर्यात् ? अनुमानस्याऽपि निराकरणानुपङ्गात् । न खलु कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्नामाऽतिप्रसङ्गात् ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्या प्रामाण्यमनुमानवत् । न च स्मृतिविषयभूते सम्बन्धादौ समारोपस्यैवासम्भवात् कस्य व्यवच्छेद इत्यभिधातव्यम्, साधर्म्यदृष्टान्ताभिधानानर्थक्यप्रसङ्गात् । तत्र स्मृतिहेतुभूत हि तत्, अन्यथा हेतुरेव केवलोभिधीयेत । ततस्तदभिधानान्यथानुपपत्तेस्तद्विषयभूते सम्बन्धादौ विस्मरणसशयविपर्यासलक्षणः समारोपोस्तीत्यवगम्यते । तन्निराकरणाच्चास्या प्रामाण्यमिति ।

अन्यथा अतिप्रसग होगा साध्य साधन के सवध को देखने मात्र से अनुमान की प्रवृत्ति होती है । ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो बाल अवस्था मे जिसने धूम और अग्नि का सबध जाना है ऐसे पुरुप के वृद्ध अवस्था आने पर धूम देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाने का प्रसग आता है, किन्तु इस प्रकार नही होता है । तुम कहो कि उस पुरुप को यदि बाल्यावस्था का धूम-अग्नि का सबध स्मृति मे रहता है तो अग्नि का ज्ञान हो जाता है सो स्मृति प्रमाणभूत कैसे नही कहलायेगी ? ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति है कि जो स्मृतिपूर्वक होने वाले अनुमान को स्वीकार करे और स्मृति का निराकरण करे । यदि करेगा तो अनुमान का भी निराकरण होवेगा । क्योकि कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति मानने मे अतिप्रसग दोष आता है । तथा यह स्मृति ज्ञान समारोप (सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का) व्यवच्छेदक होने से अनुमान के समान ही प्रामाणिक है ।

शका—स्मृति के विषयभूत सबधादि मे समारोप होना ही असभव है अत यह ज्ञान किसका व्यवच्छेद करेगा ?

समाधान— ऐसा नही कह सकते, यदि स्मृति के विषय मे समारोप नही होता तो साधर्म्य दृष्टात का कथन व्यर्थ होता, क्योकि अनुमान मे साधर्म्य दृष्टात स्मरण के लिये ही दिया जाता है, अन्यथा केवल हेतु का ही कथन करते । साधर्म्य दृष्टान्त का कथन करने से ही निश्चय होता है कि स्मृति के विषयभूत सबध मे विस्मरण सशय और विपर्यास लक्षण वाला समारोप होता है । और उस समारोप का निराकरण करने वाली होने से स्मृति प्रमाण भूत है ऐसा सिद्ध होता है ।

॥ स्मृति प्रामाण्य विचार समाप्त ॥

अथेदानी प्रत्यभिज्ञानस्य कारणस्वरूपप्ररूपणार्थं दर्शनेत्याद्याह—

दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।।५।।

दर्शनस्मरणे कारण यस्य तत्तथोक्तम् । सङ्कलन विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शन प्रत्यभिज्ञानम् । ननु प्रत्यभिज्ञाया प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपत्वात् परोक्षरूपतयात्राभिधानमयुक्तम्, तथाहि—प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत् । न च स्मरणपूर्वकत्वात्तस्या प्रत्यक्षत्वाभाव , सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरणपश्चाद्भावित्वेप्यस्या. प्रत्यक्षत्वाविरोधात् । उक्त च—

प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्य का विचार

अब श्री माणिक्यनदी आचार्य प्रत्यभिज्ञान का कारण तथा स्वरूप बतलाते है ।

दर्शन स्मरण कारणक सकलन प्रत्यभिज्ञान, तदेवेद, तत् सदृश तत् विलक्षण तत् प्रतियोगीत्यादि ।।५।।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के द्वारा जो जोडरूप ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते है । उसके "वही यह है" "यह उसके समान है" यह "उससे विलक्षण है" यह उसका प्रतियोगी है इत्यादि अनेक भेद है । जिस ज्ञान मे दर्शन और स्मरण निमित्त पडता है वह "दर्शन स्मरण कारणक" कहलाता है । सकलन का अर्थ विवक्षित धर्म से युक्त होकर पुन ग्रहण होना है ।

मीमासक—यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है अत यहा परोक्ष रूप से उसका कथन करना अयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योकि इसका इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है उससे अन्य जो प्रत्यक्ष है उसमे पाया जाता है । प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अत यहा परोक्षरूप से उसका कथन करना अयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योकि इसका इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे उससे अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण मे इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अत परोक्ष है ऐसा भी नही कहना क्योकि यह ज्ञान सत् सप्रयोगज है अत स्मरण के पश्चात् होने पर भी उसमे प्रत्यक्षता मानने मे विरोध नही आता । [विद्यमान अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होना सत् संप्रयोग कहलाता है उससे जो हो उसे सत् सप्रयोगज कहते है] कहा भी है जो ज्ञान स्मरण के

"न हि स्मरणतो यत्प्राक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम् ।
वचन राजकीय वा लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥
न चापि स्मरणात्पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ।
वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानी प्रदुष्यति ॥२॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः ।
विज्ञान जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥"

[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३४-२३७]

अनेकदेशकालावस्थासमन्वित सामान्य द्रव्यादिकं च वस्त्वस्या प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः । तदुक्तम्—

"गृहीतमपि गोत्वादि स्मृतिस्पृष्ट च यद्यपि ।
तथापि व्यतिरेकेण पूर्ववोधात्प्रतीयते ॥१॥

पहले हो वही प्रत्यक्ष प्रमाण हो ऐसा लौकिक या राजकोय नियम नही है स्मरण के पश्चात् इन्द्रियो के प्रवर्त्तन को किसी के द्वारा रोक दिया जाता हो सो भी बात नही है और न उस समय वे दूपित ही होती है । इसलिये निश्चय होता है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सवध से होता है वह सव प्रत्यक्ष प्रमाण है फिर चाहे वह स्मृति के प्राग्भावी हो चाहे पश्चाद्भावी हो । इस प्रत्यभिज्ञान रूप प्रत्यक्ष का विषय अनेक देश काल अवस्थाओ से युक्त सामान्य और द्रव्यादिक है, अत इसमे अपूर्व विषयपना भी है । कहा भी है यद्यपि यह प्रत्यभिज्ञान स्मृति के पीछे होता है तथा इसका गोत्वादि विपय भी गृहीत है तथापि यह पूर्व ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है क्योकि विभिन्न देश काल आदि के निमित्त से उसमे भेद होता है, पहले जो अश अवगत था वह अब प्रतीत नही हो रहा और इस समय का अस्तित्व पूर्व ज्ञान द्वारा अवगत नही हुआ है ।

जैन – मीमासक का यह कथन अयुक्त है, प्रत्यभिज्ञान मे इन्द्रियो के साथ अन्वय व्यतिरेक के अनुविधान की असिद्धि है, अन्यथा पहली बार व्यक्ति के देखते समय भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होती ।

शका—प्रथम बार के दर्शन से सस्कार होता है उस सस्कार के प्रबोध से उत्पन्न हुई स्मृति जिसमे सहायक है ऐसी इन्द्रिय पुन उस वस्तु के देखने पर प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करती है ।

देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मिते ।
यः पूर्वमवगतोंश स न नाम प्रतीयते ॥२॥
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ।"

[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३२-२३४]

तदप्यसमीचीनम्, प्रत्यभिज्ञानेऽक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धे, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शन-कालेप्यस्योत्पत्ति स्यात् । पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रिय तज्जनयति, इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वाभाव स्यात् ।

देशकालेत्याद्यप्ययुक्तमुक्तम्, यतो देशादिभेदेनाप्यध्यक्ष चक्षुःसम्बधमेवार्थं प्रकाशयत्प्रतीयते । न च प्रत्यभिज्ञा त प्रकाशयति पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकत्वविषयत्वात्तस्या । वर्त्तमानश्चाय चक्षु सम्बद्ध प्रसिद्ध ।

यदप्युच्यते-स्मरतः पूर्वदृष्टार्थानुसन्धानादुत्पद्यमाना 'मतिश्चक्षुःसम्बद्धत्वे प्रत्यक्षमिति, तदप्यसारम्, न हीन्द्रियमति. स्मृतिविषयपूर्वरूपग्राहिणी, तत्कथ सा तत्सन्धानमात्मसात्कुर्यात् ? पूर्वदृष्टसन्धान हि तत्प्रतिभासनम्, तत्सम्भवे चेन्द्रियमते परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रतिभासता न

समाधान—यह कथन ठीक नही है इद्रियज प्रत्यक्ष के स्मृति की अपेक्षा नही होती है, यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को स्मृति सापेक्ष मानते है तो उसमे अपूर्वार्थ के साक्षात्कारीपने का अभाव हो जायगा ।

मीमासक ने कहा कि देश काल आदि के निमित्त से ज्ञान मे भेद होता है सो यह कथन ठीक नही । देश आदि भेद होते हुए भी चक्षु से सम्बद्ध हुए वस्तु को ही प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकाशित करता हुआ प्रतीत होता है । किन्तु प्रत्यभिज्ञान उसको प्रकाशित नही करता, क्योंकि पूर्वोत्तर पर्यायो मे रहने वाला एकत्व उसका विषय है । प्रत्यक्ष का विषय चक्षु से सम्बद्ध वर्तमान रूप होता है यह प्रसिद्ध ही है । मीमासक के यहा कहा जाता है कि स्मरण करते हुए पुरुष के पहले देखे हुए पदार्थ के अनुसधान से उत्पद्यमान ज्ञान चक्षु से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष कहा जाता है, सो यह कथन भी असार है, इन्द्रिय ज्ञान स्मृति के विषयभूत स्वस्वरूप का ग्राहक नही होता है अत वह किस प्रकार उस अनुसन्धान को आत्मसात् करेगा ? पूर्व मे देखे हुए पदार्थ का अनुसधान होना उसका प्रतिभासन कहलाता है, उसके होने पर तो इन्द्रियज्ञान परोक्षार्थग्राही हो जाने से उसमे परिस्पष्ट प्रतिभासता नही हो सकेगी । तथा यदि

स्यात्। यदि च स्मृतिविषयस्वभावतया दृश्यमानोर्थः प्रत्यक्षप्रत्ययैरवगम्येत तर्हि स्मृतिविषय. पूर्वस्वभावो वर्त्तमानतया प्रतिभातीति विपरीतख्याति सर्व प्रत्यक्ष स्यात्। अव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावाच्च न प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षम् इत्यलमतिप्रसगेन।

तच्च तदवेद तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादिप्रकारं प्रतिपत्तव्यम्। तदेवोक्तप्रकारं प्रत्यभिज्ञानमुदाहरणद्वारेणाखिलजनाववोधार्थं स्पष्टयति—

यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥
गोसदृशो गवयः ॥७॥
गोविलक्षणो महिषः ॥८॥
इदमस्माद् दूरम् ॥९॥
वृक्षोयमित्यादि ॥१०॥

दृश्यमान वर्त्तमान का पदार्थ स्मृति के विषय के स्वभाव रूप से प्रत्यक्ष ज्ञानो द्वारा अवभासित होता है तो स्मृति के विषयभूत पूर्व स्वभाव वर्तमान रूप से अवभासित होना भी मान सकते हैं, इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष विपरीत ख्याति रूप हो जायेंगे। अव्यवधान से प्रतिभासित करना रूप वैशद्य का अभाव होने से भी प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप सिद्ध नही होता है, अब इस विषय पर अधिक नही कहते।

इस प्रत्यभिज्ञान के वही यह है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि भेद हैं। अब इन्ही प्रत्यभिज्ञानो के उदाहरण सभी को समझ मे आने के लिये दिये जाते है—

यथा स एवाय देवदत्त, गो सदृशो गवय, गोविलक्षणो महिष इदमस्माद् दूर वृक्षोयमित्यादि ॥६॥

सूत्रार्थ—जैसे वही देवदत्त यह है, गो सदृश रोझ होती है, गो से विलक्षण भैस होती है, यह इससे दूर है, यह वृक्ष है इत्यादि क्रमश एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान, प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान और सामान्य प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण समझने चाहिये।

बौद्ध—"यह वही देवदत्त है" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान रूप नही है। "वह" ऐसा उल्लेख तो स्मरण है और "यह" ऐसा उल्लेख प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है, इन

ननु स एवायमित्यादि प्रत्यभिज्ञानं नैकं विज्ञानम्-'सः' इत्युल्लेखस्य स्मरणत्वात् 'अयम्' इत्युल्लेखस्य चाध्यक्षत्वात्। न चाभ्या व्यतिरिक्तं ज्ञानमस्ति यत्प्रत्यभिज्ञानशब्दाभिधेय स्यात्। नाप्यनयोरैक्य प्रत्यक्षानुमानयोरपि तत्प्रसगात्। स्पष्टेतररूपतया तयोर्भेदेऽत्रापि सोऽस्तु, तदसाम्प्रतम्, स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्त्येकद्रव्यविषयस्य सकलनज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन सुप्रतीतत्वात्। न खलु स्मरणमेवातीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्तिद्रव्य सकलयितुमल तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापि दर्शनम्, तस्य वर्तमानमात्रपर्यायविषयत्वात्। तदुभयसस्कारजनित कल्पनाज्ञानं तत्सकलयतीति कल्पने तदेव प्रत्यभिज्ञान सिद्धम्।

प्रत्यभिज्ञानानभ्युपगमे च 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्' इत्याद्यनुमानवैयर्थ्यम्। तद्ध्येकत्वप्रतीतिनिरासार्थम् न पुनः क्षणक्षयप्रसिद्ध्यर्थं तस्याध्यक्षसिद्धत्वेनाभ्युपगमात्। समारोपनिषेधार्थं तत्,

---

दोनो से अतिरिक्त अन्य ज्ञान नही है जो प्रत्यभिज्ञान शब्द का अभिधेय हो, इस स्मृति और प्रत्यक्ष को एक रूप भी नही मान सकते है अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान मे भी एकत्व मानना होगा। प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला है और अनुमान अस्पष्ट प्रतिभास वाला है अत इनमे भेद सिद्ध होता है ऐसा कहो तो यही बात स्मरण और प्रत्यक्ष मे है। अर्थात् स्मरण अस्पष्ट प्रतिभास वाला और प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला होने से इनमे भेद ही है।

जैन—यह कथन ठीक नही है, जो स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है, पूर्वोत्तर पर्यायो मे व्यापी एक द्रव्य जिसका विषय है ऐसा जोड रूप प्रत्यभिज्ञान भली भाति प्रतीति मे आता है। स्मरण ज्ञान अतीत और वर्तमान पर्यायो मे रहने वाले द्रव्य के जोड रूप विषयको जानने मे समर्थ नही है, वह तो केवल अतीत पर्याय को जान सकता है- दर्शनरूप प्रत्यक्ष भी इस विषय को ग्रहण नही कर पाता क्योकि वह केवल वर्तमान पर्याय को जानता है। यदि कहे कि अतीत और वर्तमान पर्याय के सस्कार से उत्पन्न हुआ कल्पना ज्ञान उन दोनो पर्यायो का सकलन करता है तो वही ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप सिद्ध होता है।

तथा प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नही करे तो "जो सत है वह सब क्षणिक है" इत्यादि अनुमान व्यर्थ हो जाता है।

सौगत—अनुमान प्रमाण एकत्व का निरसन करने के लिये दिया जाता है, क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये नही, क्योकि क्षणिकत्व तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो

इत्यप्यपेशलम्, सोयमित्येकत्वप्रतीतिमन्तरेण समारोपस्याप्यसम्भवात् । तदभ्युपगमे च 'अयं स. इत्यध्यक्षस्मरणव्यतिरेकेण नापरमेकत्वज्ञानम्' इत्यस्य विरोधः। न चाध्यक्षस्मरणे एव समारोप, तेनानयोर्व्यवच्छेदेऽनुमानस्यानुत्पत्तिरेव स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्य। कथ चास्या प्रतिक्षेपेऽभ्यासेतरावस्थाया प्रत्यक्षानुमानयो प्रामाण्यप्रसिद्धि ? प्रत्यभिज्ञाया अभावे हि 'यद्दृष्ट यच्चानुमित तदेव प्राप्तम्' इत्येकत्वाध्यवसायाभावेनानयोरविसवादासम्भवात् । तथा च "प्रमाणमविसवादि ज्ञातम्" [प्रमाणवा० २।१] इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमयुक्तम्। अन्यद् दृष्टमनुमित वा प्राप्त चान्यदित्येकत्वाध्यवसायाभावेप्यविसवादे प्रामाण्ये चानयोरभ्युपगम्यमाने मरीचिकाचक्रे जलज्ञानस्यापि तत्प्रसङ्ग ।

जाता है। उस प्रत्यक्ष मे आये हुए समारोप का निषेध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती है।

जैन—यह कथन अशोभन है "वह यह है" इस प्रकार की एकत्व की प्रतीति हुए बिना समारोप आना भी सभव नही है अत. एकत्व की प्रतीति को स्वीकार करना होगा और उसको स्वीकार करे तो आपका निम्नकथन विरोध को प्राप्त होगा कि "यह वह है" इस तरह के ज्ञान मे प्रत्यक्ष और स्मरण को छोडकर अन्य कोई एकत्व नाम का ज्ञान नही है। प्रत्यक्ष और स्मरण ही समारोप है ऐसा कहना भी शक्य नही, क्योकि यदि इन दोनो का समारोप द्वारा व्यवच्छेद होगा तो अनुमान उत्पन्न नही होगा, क्योकि अनुमान प्रत्यक्षादि पूर्वक होता है। दूसरी बात यह हैं कि प्रत्यभिज्ञान का निरसन करेगे तो अनभ्यास दशा मे प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रमाणता किस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योकि प्रत्यभिज्ञान के अभाव मे जो देखा था अथवा जिसका अनुमान हुआ था वही पदार्थ प्राप्त हुआ है ऐसा एकत्व का निश्चय नही होने से प्रत्यक्ष और अनुमान मे अविसवाद सिद्ध होना असभव है, अत. "अविसवादी ज्ञान प्रमाण है" इस प्रकार आप बौद्ध के प्रमाण का लक्षण अयुक्त सिद्ध होता है। तथा बौद्ध के यहा प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट एव अनुमान द्वारा अनुमित हुआ पदार्थ अन्य है और प्राप्त होने वाला पदार्थ अन्य है, उस दृष्ट और प्राप्त पदार्थ मे एकत्व अध्यवसाय के अभाव मे भी प्रत्यक्ष और अनुमान का अविसवादपना एव प्रामाण्यपना स्वीकार किया जाय तो मरीचिका मे होने वाले जल के ज्ञान को भी अविसवादक एव प्रामाण्य स्वीकार करना होगा।

न चैववादिनो नैरात्म्यभावनाभ्यासो युक्तः फलाभावात् । न चात्मदृष्टिनिवृत्तिः फलम्, तस्या एवासम्भवात् । 'सोहम्' इत्यस्तीति चेत्, न, स्मरणप्रत्यक्षोल्लेखव्यतिरेकेण तदनभ्युपगमात् । तथा च कुतस्तन्निमित्ता रागादयो यत· ससारः स्यात् ?

ननु पूर्वापरपर्याययोरेकत्वग्राहिणी प्रत्यभिज्ञा, तस्य चासम्भवात कथमियमविसवादिनी यत: प्रमाण स्यात् ? प्रत्यक्षेण हि तृद्यद्रूपयोः प्रतीति स्वकालनियतार्थविषयत्वात्तस्य, इत्यपि मनोरथ-मात्रम्, सर्वथा क्षणिकत्वस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । प्रत्यक्षेणाऽत्रुद्यद्रूपतयार्थप्रतीतेश्चानुभवात् कथ विसंवादकत्व तस्याः ? तत. प्रमाण प्रत्यभिज्ञा स्वगृहीतार्थाविसवादित्वात् प्रत्यक्षादिवत् । नीलाद्यनेकाकाराक्रान्त चैकज्ञानमभ्युपगच्छत 'स एवायम्' इत्याकारद्वयाक्रान्तैकज्ञाने को विद्वेष· ?

तथा प्रत्यभिज्ञान का निराकरण करने वाले बौद्ध के यहा नैरात्म्य भावना का अभ्यास करना भी युक्त नही हैं, क्योकि उसका कोई फल नही है । अपनत्व दृष्टि दूर होना उसका फल है ऐसा कहना भी असत् है, क्योकि अपनत्व दृष्टि का होना ही असभव है, "सोहम्" इस प्रकार से अपनत्व की दृष्टि होना सभव है ऐसा कहो तो वह भी ठीक नही, क्योकि स्मरण और प्रत्यक्ष के उल्लेख बिना "सोहम्" इस प्रकार की अपनत्व की दृष्टि का होना स्वीकार नही किया है, इस तरह अपनत्व दृष्टि की असिद्धि होने पर उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष भी कैसे उत्पन्न हो सकेगे जिससे ससार अवस्था सिद्ध होवे ? अभिप्राय यह है कि प्रत्यभिज्ञान के अभाव मे रागद्वेप उत्पन्न होना इत्यादि सिद्ध नही होता ।

सौगत—पूर्व और उत्तर पर्यायो मे एकत्व को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान है किन्तु उस एकत्व का होना असभव होने से यह ज्ञान किस प्रकार अविसवादक होगा जिससे उसको प्रमाण माना जाय । प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नष्ट होते हुए स्वरूपो की ही प्रतीति होती है, क्योकि स्वकाल मे नियत रहने वाला पदार्थ उसका विपय है ?

जैन—यह कथन भी गलत है, सर्वथा क्षणिक वाद का हम आगे खण्डन करने वाले है । आपने कहा कि प्रत्यक्ष से वस्तुओ का नष्ट होता हुआ रूप ही प्रतीत होता है किन्तु यह बात असत्य है प्रत्यक्ष द्वारा तो अन्वय रूप से पदार्थ की प्रतीति होती है, अत प्रत्यभिज्ञान के विसवादकपना कैसे हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता, इसलिये निश्चित हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है, क्योकि वह अपने गृहीत विपय मे अविसवादक है, जैसे प्रत्यक्षादि अविसवादक है । आप बौद्ध भी नीलादि अनेक आकारो

ननु स एवायमित्याकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननुप्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षेऽन्यतराकारस्यैव प्रतिभास स्यात्। द्वितीयपक्षे तु परस्परविविक्तप्रतिभासद्वयप्रसङ्ग। अथ प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमित्युच्यते, न, एकाधिकरणत्वासिद्धे। न खलु परोक्षापरोक्षरूपौ प्रतिभासावेकमधिकरण बिभ्राते सर्वसंविदामेकाधिकरणत्वप्रसङ्गात्। इत्यप्यसारम्, तदाकारयो कथञ्चित्परस्परानुप्रवेशेनात्माधिकरणतयात्मन्येवानुभवात्। कथ चैववादिनश्चित्रज्ञानसिद्धिः ? नीलादिप्रतिभासाना परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपतानुषङ्गात् कुतश्चित्रतैकनीलाकारज्ञानवत् ? तेषा तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ताननीलादिप्रतिभासानामिवात्यन्तभेदसिद्धे नितरा चित्रताऽसम्भव। एकज्ञानाधिकरणतया तेषा प्रत्यक्षत प्रतीते प्रतिपादितदोषाभावे प्रकृतेप्यसौ मा भूत्तत एव।

से व्याप्त ऐसे एक ज्ञान को स्वीकार करते हैं तो "वही यह है" इस प्रकार के दो आकारो से व्याप्त ज्ञानको एक मानने मे कौन सा विद्वेष है ?

बौद्ध—"वही यह है" ऐसे दो आकार परस्पर मे मिले हुए प्रतिभासित होते है या बिना मिले प्रतिभासित होते हैं ? प्रथम विकल्प कहो तो दो मे से कोई एक आकार ही प्रतीत हो सकेगा क्योकि दोनो परस्पर मे मिल चुके है। दूसरे पक्ष मे परस्पर से सर्वथा पृथक् दो प्रतिभास सिद्ध होगे। कोई कहे कि दो प्रतिभासो का अधिकरण एक है अत एकत्व सिद्ध होगा ? सो यह कथन भी ठीक नही, एकाधिकरणत्व ही असिद्ध है क्योकि परोक्ष और अपरोक्ष रूप दो प्रतिभास यदि एक अधिकरण को धारण करेगे तो सभी ज्ञान मे एक अधिकरणपना सिद्ध होगा ?

जैन—यह कथन असार है। पूर्वापर दो आकारो का कथचित् परस्परानुप्रवेश द्वारा आत्मा अधिकरणरूप से अपने मे ही प्रतीत होता है, तथा इस प्रकार एकाधिकरणत्व का निषेध करने वाले बौद्ध के यहा चित्र ज्ञान की सिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योकि नील पीत आदि प्रतिभासो का परस्पर मे प्रवेश होने पर सभी आकारो को एक रूप हो जाने का प्रसग प्राप्त होता है अत उनमे चित्रता किससे आयेगी ? अर्थात् नही आ सकती, जिस प्रकार एक नील आकार वाले ज्ञान मे नही होती। तथा नीलादि अनेक आकार परस्पर मे प्रविष्ट नहीं हैं ऐसा मानते है तो वे आकार भिन्न भिन्न सतानो के नील पीत आदि प्रतिभासो के समान अत्यत भिन्न सिद्ध होने से उनमे चित्रता होना नितरा असभव है। बौद्ध कहे कि एकाधिकरणपने से नील पीतादि आकारो की प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है अत उपर्युक्त दोष नही आते हैं, तो प्रकृत

अथोच्यते—'पूर्वमुत्तर वा दर्शनमेकत्वेऽप्रवृत्त कथ स्मरणसहायमपि प्रत्यभिज्ञानमेकत्वे जनयेत् ? न खलु परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुर्गन्धे ज्ञानमुत्पादयति' इति, तदप्युक्तिमात्रम्, तथा च तज्जनकत्वस्यात्र प्रमाणप्रतिपन्नत्वात् । न च प्रमाणप्रतिपन्न वस्तुस्वरूप व्यलीकविचारसहस्रेणाप्यन्यथाकर्तुं शक्यं सहकारिणा चाचिन्त्यशक्तित्वात् । कथमन्यथाऽसर्वज्ञज्ञानमभ्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञान जनयेत् ? एकत्वविषयत्व च दर्शनस्यापि, अन्यथा निर्विषयकत्वमेवास्य स्यादेकान्ताऽनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीते । केवल तेनैकत्व प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतयार्थस्य प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षजनितप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणानुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेष. ।

न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा, क्षणक्षयैकान्तस्यानुपलम्भात् । तदुपलम्भे हि सा निर्विषया स्यात् एकचन्द्रोपलम्भे द्विचन्द्रप्रतीतिवत् । लूनपुनर्जातनखकेशादौ च 'स

प्रत्यभिज्ञान मे भी उपर्युक्त दोष मत होवे, क्योकि इसमे भी एकाधिकरत्व की प्रत्यक्ष से प्रतीति आती है ।

बौद्ध—पूर्व प्रत्यक्ष अथवा उत्तर प्रत्यक्ष एकत्व विषय मे प्रवृत्त नही होता अत स्मरण की सहायता लेकर भी वह प्रत्यभिज्ञान को किस तरह उत्पन्न कर सकेगा, सुगन्धि की सहायता मिलने पर भी क्या चक्षु गध विषय मे ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है प्रत्यक्ष का एकत्व विषय मे ज्ञान उत्पन्न करना प्रमाण से प्रसिद्ध है । प्रमाण से प्रतिभासित हुए वस्तु स्वरूप को झूठे हजारो विचारो द्वारा भी अन्यथा नही कर सकते, क्योकि सहकारी कारणो की अचिन्त्य शक्ति हुआ करती है, यदि ऐसा नही होता तो असर्वज्ञ का ज्ञान अभ्यास की सहायता लेकर सर्वज्ञ ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकता था ? दूसरी बात यह है कि प्रत्यभिज्ञान का ही विषय एकत्व होवे सो बात भी नही, प्रत्यक्ष भी एकत्व विषय का ग्राहक हैं अन्यथा यह ज्ञान निर्विषयक होवेगा, क्योकि सर्वथा अनित्य की कभी भी प्रतीति नही होती है । प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान मे अतर केवल यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत वर्तमान पर्याय के आधारभूत द्रव्य के एकत्व को ग्रहण करता है और प्रत्यभिज्ञान स्मरण तथा प्रत्यक्ष की सहायता से उत्पन्न होकर स्मर्यमान पर्याय और अनुभूयमान पर्याय इन दोनो के आधारभूत द्रव्य के एकत्व को ग्रहण करता है । जिस प्रकार काटकर पुन उत्पन्न हुए नख केश आदि मे होने वाला एकत्व का प्रतिभास निर्विषय है उसी प्रकार प्रत्यभि-

एवायं नखकेशादिः' इत्येकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानं 'लूननखकेशादिसदृशोयं पुनर्जातनखकेशादिः' इति सादृश्यनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणं प्रसिद्धम्, न पुनः सादृश्यप्रत्यवमर्शि तत्रास्याऽबाध्यमानतया प्रमाणत्वप्रसिद्धेः। न चैकत्रैकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यात्वदर्शनात्सर्वत्रास्य मिथ्यात्वम्; प्रत्यक्षस्यापि सर्वत्र भ्रान्तत्वानुषङ्गान्न किञ्चित्कुतश्चित्कस्यचित्प्रसिद्ध्येत्। ततो यथा शुक्ले शङ्खे पीताभासं प्रत्यक्षं तत्रैव शुक्लाभासप्रत्यक्षान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणम्, न पुनः पीते कनकादौ तथा प्रकृतमपीति।

कथं च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिः? येनैव हि पूर्वं धूमोऽग्निर्दृष्टस्तस्यैव पुनः पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यस्यान्यदर्शनात्। न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्'

ज्ञान सर्वत्र निर्विषय है अर्थात् इसका कोई विषय नही है, ऐसा भी नही कहना, क्योंकि क्षणिक एकांत की अनुपलब्धि है, यदि क्षणिक एकांत सिद्ध होता तो प्रत्यभिज्ञान को निर्विषयी मानते, जिस प्रकार एक चन्द्र के उपलब्ध होने पर द्विचन्द्र के ज्ञान को निर्विषयी मानते हैं। कटकर पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि मे वही यह नख केशादि है ऐसी प्रतीति कराने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान, कटे हुए नख केश के समान यह पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि हैं इस तरह के होने वाले सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से बाधित होता है अतः अप्रमाण है किन्तु सादृश्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं कहलाता, क्योकि अबाध्यमान होने से उसके प्रामाण्य की प्रसिद्धि है। तथा एक जगह एकत्व के परामर्शी प्रत्यभिज्ञान मे मिथ्यापना दिखायी देने से उसमे सर्वत्र मिथ्यापना मानना गलत है अन्यथा प्रत्यक्ष के भी सर्वत्र भ्रान्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा फिर तो कोई भी वस्तु किसी भी प्रमाण से किसी के भी सिद्ध नही होगी। इस बडे भारी दोष को दूर करने के लिये जैसे-सफेद शंख मे पीताभास को करने वाला प्रत्यक्ष शुक्लाभास प्रत्यक्ष से बाधित होकर अप्रमाण सिद्ध होता है और पीत सुवर्णादि मे पीताभास बाधित न होकर प्रमाणभूत सिद्ध होता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान मे बाधितपना और अबाधितपना होने से अप्रमाणपना और प्रमाणपना दोनो सिद्ध होते है।

यदि एकत्व और सादृश्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का लोप करेंगे तो अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी?

जिसने पूर्व मे धूम को देखकर अग्नि को देखा है उसी पुरुष के पुनः पूर्व के धूम सदृश धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होना युक्त है, न कि अन्य व्यक्ति के अन्य किसी वस्तु के देखने से अग्नि का ज्ञान होना युक्त है। प्रत्यभिज्ञान के बिना "यह

इति प्रतिपत्तिरस्ति, पूर्वप्रत्यक्षेणोत्तरस्य तत्प्रत्यक्षेण च पूर्वस्याग्रहणात्, द्वयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वादु-भयसादृश्यप्रतिपत्ते: सम्बन्धप्रतिपत्तिवत् । तत: प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमभ्युपगन्तव्या ।

तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात्, स्मरणानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमान-त्वाद्वा स्यात् ? न तावदाद्यविकल्पो युक्त:, न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यमित्युक्तम् । तद्गृहीतातीतवर्त्तमानविवर्त्तमानविवर्त्ततादात्म्येनावस्थितद्रव्यस्यकथञ्चित्पूर्वार्थत्वेपि तद्विषयप्रत्यभि-ज्ञानस्य नाप्रामाण्यम्, लैङ्गिकादेरप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धे:, सम्बन्धग्राहि-विज्ञानविषयसाध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् कथञ्चि-त्पूर्वार्थत्वसिद्धे: । तन्न गृहीतग्राहित्वात्तत्राप्रामाण्यम् ।

नापि स्मरणानन्तरभावित्वात्, रूपस्मरणानन्तरं रससन्निपाते समुत्पन्नरसज्ञानस्याप्य-प्रामाण्यप्रसङ्गात् । तत्र हि रूपस्मृते: पूर्वकालभावित्वात् समनन्तरकारणत्वं "बोधाद्बोधरूपता"

उसके समान अग्नि है" इत्यादि प्रतीति नही होती, क्योकि पूर्व पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा उत्तर पर्याय का ग्रहण नही होता और उत्तरकालीन पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा पूर्व पर्याय का ग्रहण नही होता । उभय पर्यायो मे होने वाले सादृश्य का ज्ञान उभय को जानने से ही होगा जैसे सबध का ज्ञान उभय पदार्थो के जानने से होता है । इसलिये प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणभूत स्वीकार करना चाहिए ।

बौद्ध प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाणभूत किस कारण से मानते है ? गृहीत ग्राही होने से अथवा स्मरण के अनन्तर होने से, शब्दाकार को धारण करने से अथवा बाध्यमान होने से ? प्रथम विकल्प ठीक नही क्योकि प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत जो एक द्रव्य है वह स्मृति और प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य नही होता ऐसा सिद्ध कर आये है । स्मरण और प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहीत अतीत और वर्तमान पर्यायो मे तादात्म्य सबध से अवस्थित हुआ द्रव्य यद्यपि कथचित् पूर्वार्थ है तो भी उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण नही कह सकते, अन्यथा अनुमानादि को भी अप्रमाण मानना होगा, क्योकि इसका विषय भी सर्वथा अपूर्वार्थ नही है । आगे इसी को बताते है, सबध को ग्रहण करने वाले तर्क ज्ञान का विषय जो साध्यादि सामान्य है उससे कथचित् अभिन्न अनुमान का विषय होता है, जो देश और काल से विशिष्ट है उसको विषय करने से अनुमान मे भी कथचित् पूर्वार्थपना सिद्ध ही है, अत: गृहीत ग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है ऐसा कहना असिद्ध है । स्मरण के अनन्तर होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है, ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नही है इस तरह माने तो रूप

[ ] इत्यभ्युपगमात्। न चात्र बोधरूपतया समनन्तरकारणत्वमन्यत्र स्मृतिरूपतयेत्यभिधातव्यम्; स्मृतिरूप-बोधरूपयोस्तादात्म्येक्वचिद्बोधरूपतया तत्तस्य क्वचित्, स्मृतिरूपतयेति व्यवस्थापयितुमशक्तेः। कथ चैववादिनोऽनुमान प्रमाणम् ? तद्धि लिंगलिंगिसम्बन्धस्मरणानन्तरमेवोपजायते, अन्यथा साधर्म्यदृष्टान्तोपन्यासो व्यर्थ स्यात्।

शब्दाकारधारित्व च प्रागेव प्रतिषिद्धम्।

बाध्यमानत्व चासिद्धम्, न खलु प्रत्यक्ष तद्बाधकम्; तस्य तद्विषयप्रवृत्त्यऽसम्भवात्। यद्धि यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्र तस्य साधक बाधक वा यथा रूपज्ञानस्य रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञानस्य विषये प्रत्यक्षमिति। नाप्यनुमान तद्बाधकम्, प्रत्यभिज्ञानविषये तस्याप्यप्रवृत्ते, क्वचिद-

---

के स्मरण के अनन्तर रस के सन्निधि मे उत्पन्न हुआ रस का ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होगा, क्योकि उसमे भी रूप स्मृति का पूर्व काल भावीपना होने से समनन्तर कारणत्व है, बोध से बोध होना आपने स्वीकार भी किया है। इस रस ज्ञान मे बोध रूपता से समनतर कारणत्व है और अन्यत्र स्मृतिरूपता से समनतर कारणत्व है, ऐसा भी नही कहना, क्योकि स्मृतिरूप और बोध रूप मे तादात्म्य होने से कही पर ज्ञान का समनतर कारणत्व बोध रूपता से हो और कही पर स्मृतिरूपता से हो ऐसी व्यवस्था करना अशक्य है। तथा इस तरह प्रत्यभिज्ञान को नही मानने वाले बौद्ध अनुमान को किस प्रकार प्रामाणिक सिद्ध कर सकेंगे। क्योकि हेतु और साध्य के सबध का स्मरण होने के अनन्तर ही अनुमान उत्पन्न होता हैं। यदि ऐसा नही होता तो साधर्म्य दृष्टात देना व्यर्थ होता।

भावार्थ—पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करते समय स्मरण दिलाते हैं कि "जैसे तुमने रसोई घर मे अग्नि-धूम देखा था वैसे यहा है" इत्यादि दृष्टात से मालुम होता है कि अनुमान मे स्मरण की जरूरत है।

प्रत्यभिज्ञान शब्दाकार को धारण करता है अत अप्रमाण है ऐसा तीसरा विकल्प भी ठीक नही। ज्ञान मे शब्दाकार का होना तो पहले शब्दाद्वैतवाद मे ही खण्डित हो चुका है।

प्रत्यभिज्ञान बाधित होने से अप्रमाण है ऐसा चौथा विकल्प भी असिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान किससे बाधित होगा ? प्रत्यक्ष से बाधित होना अशक्य है, क्योकि उसकी

नुमेयमात्रे प्रवृत्तिप्रसिद्धे । तस्य तद्विषये प्रवृत्तौ वा सर्वथा बाधकत्वविरोध । तत प्रमाण प्रत्यभिज्ञा सकलबाधकरहितत्वात्प्रत्यक्षादिवत् ।

एतेनैव 'गोसदृशो गवय ' इत्यादि सादृश्यनिबन्धन प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमावेदित प्रतिपत्तव्यम्, तस्यापि स्वविषये बाधविधुरत्वस्य सवादकत्वस्य च प्रसिद्धे ।

ननु सादृश्यस्यार्थेभ्यो भिन्नाभिन्नादिविकल्पैर्विचार्यमाणस्यायोगात्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधविधुरत्वमविसवादकत्व चासिद्धम्, इत्यप्यास्ता तावत्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतत्वेनाबाधिततत्स्वरूपस्य सामान्यसिद्धिप्रक्रमे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च तस्मिन्नेव स्वपुत्रादौ 'तादृशोयम्' इति प्रत्यभिज्ञान सादृश्यनिबन्धन 'स एवायम्' इत्येकत्वनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमानमप्रमाणं

प्रत्यभिज्ञान के विषय मे प्रवृत्ति नही होती, जो जिसके विपय मे प्रवृत्त नही होता वह उसका साधक या बाधक नही होता है, जैसे रूप ज्ञान का बाधक रस ज्ञान नही होता, प्रत्यभिज्ञान के विषय मे प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नही करता, अत उसका बाधक नही हो सकता । अनुमान प्रमाण भी बाधक नही है, क्योकि वह भी प्रत्यभिज्ञान के विपय मे प्रवृत्ति नही करता । अनुमान प्रमाण तो अपने अनुमेय (अग्नि आदि) विषय मे प्रवृत्ति करता है । प्रत्यभिज्ञान के विपय मे अनुमान प्रवृत्त होता है, ऐसा कदाचित् मान भी लेवे तो उसका बाधक तो सर्वथा नही हो सकता । अत निश्चय हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है क्योकि सम्पूर्ण बाधाओ से रहित है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण बाधा रहित है ।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि होने से ही "गो के सदृश रोझ है" इत्यादि सादृश्य के कारण से होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध होता है ऐसा समझना चाहिये, क्योकि यह ज्ञान भी अपने विषय मे बाधा रहित है तथा सवादक है ।

शका—सादृश्य पदार्थो से भिन्न है कि अभिन्न इत्यादि विकल्पो से विचार के अयोग्य होने से उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का बाधा रहितपना एवं अविसवादपना असिद्ध है ?

समाधान—इस शका का समाधान आगे करेंगे, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विपय होने से उस सादृश्य का स्वरूप अबाधित है ऐसा आगे सामान्य सिद्धि प्रकरण मे प्रतिपादन करने वाले है । उसी एक अपने पुत्र आदि में "वैसा है" इस प्रकार का

प्रतिपाद्य स्वपुत्रादिना सदृशे पुरुषे 'तादृशोयम्' इत्यपि प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं प्रतिपादयितुं युक्तम्, तस्यावाध.मानत्वेन प्रमाणत्वात् ।

स्यान्मतम्–प्रत्यभिज्ञानमनुमानत्वेन प्रमाणमिष्यत एव; तथाहि–पूर्वोत्तरार्थक्षणयोरनर्थान्तरभूत सादृश्य तत्प्रत्यक्षाभ्या प्रतीयत एव । यस्तु तथा प्रतिपद्यमानोपि सादृश्यव्यवहार न करोति घटविविक्तभूतलप्रतिपत्तावपि घटाभावव्यवहारवत्, स 'प्रागुपलब्धार्थसमानोय तत्सदृशाकारोपलम्भात्' इत्युभयगतसदृशाकारदर्शनेन तथा व्यवहार कार्यते, दृश्यानुपलम्भोपदर्शनेन घटाभावव्यवहारवत्; तदप्यसङ्गतम्, 'प्राक्प्रतिपन्नधूमसदृशोय धूम' इत्यादिलिङ्गप्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य लैङ्गिकत्वे तल्लिङ्गप्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यापि लैगिकत्वमित्यनवस्थाप्रसगात् ।

सादृश्य निमित्तक प्रत्यभिज्ञान "वही यह है" इस प्रकार के एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा बाध्यमान होने से अप्रमाण है, ऐसा प्रतिपादन करके अपने पुत्र के सदृश जो अन्य पुरुष है उसमे "वैसा है" इस तरह का होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण है ऐसा प्रतिपादन करना युक्त नही है, क्योकि अबाधित होने से यह प्रमाणभूत है ।

बौद्ध—हम लोग प्रत्यभिज्ञान को अनुमान रूप से प्रमाण मानते ही हैं आगे इसी को स्पष्ट करते है पूर्व और उत्तर अर्थ क्षणो मे जो अभिन्न रूप सादृश्य है वह पूर्वोत्तर प्रत्यक्षो द्वारा प्रतीत होता ही है । किन्तु जो पुरुष उस प्रकार प्रतिपादन करते हुए भी सादृश्य का व्यवहार नही करता जैसे घट रहित भूतल को जान लेने पर भी घटाभाव के व्यवहार को साख्यादि परवादी नही करते है, ऐसे पुरुष को "पहले देखे हुए पदार्थ के समान यह है" क्योकि उसके समान आकार की उपलब्धि है, इस प्रकार उभयगत सदृशाकार को दिखलाकर सदृशता का व्यवहार कराया जाता है "जैसे कि उन्ही साख्यादि को दृश्यानुपलभ दिखलाकर घट के अभाव का व्यवहार कराया जाता है । साराश यह निकला कि प्रत्यभिज्ञान अनुमान मे अतर्हित है ।

जैन—यह कथन असगत है "पहले जाने हुए धूम के समान यह धूम है" इत्यादि रूप से धूम हेतु को विषय करने वाला जो प्रत्यभिज्ञान है उसको अनुमान रूप स्वीकार करेंगे तो उसके हेतु को जानने वाले प्रत्यभिज्ञान को भी अनुमानपना प्राप्त होगा और इस तरह अनवस्था आ जायेगी ।

किञ्च, अर्थे सादृश्यव्यवहारस्य सदृशाकारनिबन्धनत्वे सदृशाकारेपि कुतस्तद्व्यवहारसिद्धि ? अपरतद्गतसदृशधर्मदर्शनाच्चेत्; अनवस्था। धर्मिसादृश्यव्यवहारे चान्योन्याश्रय । तन्नेयं सादृश्य-प्रत्यभिज्ञा लिङ्गजाभ्युपगन्तव्या ।

ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनर्गवयदर्शनाद्गवि स्मरणे सति 'अनेन समान सः' इत्येवमा-कारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता । सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो विशेषविशिष्ट वा सादृश्य-मुपमानस्यैव प्रमेयम् । ऊक्तं च—

दूसरी बात यह है कि पदार्थ मे सदृशता का व्यवहार सदृश आकार के निमित्त से होता है ऐसा मानते हैं, तो स्वयं सदृश आकार मे किससे सदृशता का व्यवहार होवेगा ? अन्य किसी वस्तु मे होने वाले सदृश धर्म के देखने से कहो तो अनवस्था आती हैं और धर्मी के सादृश्य से कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, अत सादृश्य प्रत्यभिज्ञान अनुमान रूप है ऐसा कथन सिद्ध नही होता ।

मीमासक—गाय को देखने से उत्पन्न हुआ है सस्कार जिसको ऐसे पुरुष के रोझ को देखकर गाय का स्मरण होता है तब इसके समान वह है ऐसा आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो उपमा प्रमाण रूप है अतः इसमे प्रत्यभिज्ञानपना सिद्ध नही होता । सादृश्य से विशिष्ट विशेष अथवा विशेष से विशिष्ट सादृश्य जो प्रमेय है वह उपमा ज्ञान ही है । कहा भी है उस देखी हुई वस्तु से जो स्मरण किया जाता है वह सादृश्य से विशेषित होता है अथवा उससे अन्वित जो सादृश्य है वह उपमा प्रमाण का प्रमेय है । यद्यपि प्रत्यक्ष द्वारा सादृश्य ज्ञान होता है एव गाय की स्मृति भी होती है फिर भी उनका विशिष्टपना अन्य ज्ञान से ही जाना जाता है, जो अन्य ज्ञान है वही उपमा प्रमाण है, इस प्रकार उपमा मे प्रमाणता की सिद्धि होती है। अभिप्राय यह है कि सादृश्यग्राही ज्ञान उपमा प्रमाण है न कि प्रत्यभिज्ञान ।

जैन —यह कथन बिना सोचे किया है, एकत्व और सादृश्य की प्रतीति सकलन ज्ञान रूप होने से प्रत्यभिज्ञान का अतिक्रमण नही करती, "वही यह है" ऐसा आकार वाला ज्ञान जैसे उत्तर पर्याय का पूर्व पर्याय के साथ एकता की प्रतीति स्वरूप प्रत्यभिज्ञान है वैसे ही इसके समान वह हैं ऐसी सादृश्य की प्रतीति कराने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है क्योकि सकलनता दोनो मे समान है, कोई विशेषता नही है । जैसे—पूर्वोत्तर प्रत्ययो से वेद्य जो एकत्व है उसको जानने वाला होने से उस ज्ञान के

"तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्य वा तदन्वितम् ॥१॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यत सिद्धे रुपमानप्रमाणता ॥२॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३८] इति ।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, एकत्वसादृश्यप्रतीत्यो सङ्कलना (न) ज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् । 'स एवायम्' इति हि यथोत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेणैकताप्रतीति प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीतिरपि 'अनेन सदृश' इत्यविशेषात् । पूर्वोत्तरप्रत्ययवेद्यैकत्वगोचरत्वात्तस्या प्रत्यभिज्ञानत्वे सादृश्यप्रतीतावपि तत्स्यात् । न हि तत्ताभ्या न परिच्छिद्यते—

प्रत्यभिज्ञानपना है, वैसे ही सादृश्य प्रतीति वाला ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान ही है । यह सादृश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययो से [स्मरण तथा प्रत्यक्ष ज्ञानो से] नही जाना जाता हो सो भी बात नही है । आप मीमासक के ग्रन्थ मे ही कहा है कि इस सादृश्य का वस्तुपना सिद्ध होने पर तथा चक्षु द्वारा सबधपना सिद्ध होने पर उसका दोनो जगह (गाय और रोझ मे) अथवा एकत्र (रोझ मे) प्रत्यक्ष होना सिद्ध ही होता है, अत सादृश्य का प्रत्यक्ष होना रोका नही जा सकता, अर्थात् सादृश्य प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है ॥१॥ यह सादृश्य सामान्य के समान एक–एक पदार्थ मे परिसमाप्त होकर रहता है, और प्रतियोगी के नही देखने पर भी प्रत्यक्षादि से उपलब्ध होता है ॥२॥ इन उपर्युक्त दोनो श्लोकार्थ से सिद्ध होता है कि सादृश्य प्रत्यक्षादि से जाना जाता है । आप जिस प्रकार गाय और रोझ का विशिष्ट सादृश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययो से प्रतीति मे नही आकर उपमा ज्ञान से प्रतीति मे आता है ऐसा मानते है उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्यायो से विशिष्ट ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा प्रतीति मे आता है ऐसा भी मानना चाहिये । यदि एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान उपमा प्रमाण है ऐसा मानेंगे तो वैलक्षण्य का ज्ञान किस नाम का प्रमाण होगा ? जिस प्रकार गो को देखने से सस्कारित हुए पुरुष को रोझ को देखकर "इसके समान वह है" ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार भैस को देखकर इससे विलक्षण वह है ऐसी विलक्षणता की प्रतीति भी होती है । आपके कथनानुसार वह प्रतीति प्रत्यभिज्ञान और उपमान मे से किसी रूप तो हो नही सकती, क्योकि यह प्रतीति एकत्व और सादृश्य को विषय करने वाले ज्ञानो

"वस्तुत्वे सति चास्यैवं सम्बद्धस्य च चक्षुषा ।
द्वयोरेकत्र वा दृष्टौ प्रत्यक्षत्वं न वार्यते ॥१॥
सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते ।
प्रतियोगिन्यदृष्टेपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥२॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३४-३५]

इत्यस्य विरोधानुषगात् । यथा च पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्या गवयगवादिविशिष्टमप्रतिपन्न सादृश्य-मनेन प्रतीयते तथा पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टमेकत्व प्रत्यभिज्ञानेन ।

यदि च 'एकत्वज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञा सादृश्यज्ञानं तूपमानम्' इत्यभ्युपगमः; तर्हि वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाण स्यात् ? यथैव हि गोदर्शनाहितसस्कारस्य गवयदर्शिन 'अनेन समानः स' इति प्रति-पत्तिस्तथा महिष्यादिदर्शिन. 'अनेन विलक्षण स' इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति । सा च न प्रत्यभि-ज्ञोपमानयोरन्यतरा तदेकत्वसादृश्याविषयत्वात्. अत प्रमाणान्तर प्रमाणसख्यानियमविघातकृद्भवे-त्परस्य ।

ननु सादृश्याभावो वैलक्षण्यम्, तस्याभावप्रमाणविषयत्वान्न प्रमाणसख्यानियमविघात , तर्हि वैलक्षण्याभाव सादृश्यमिति स एव दोषः । नन्वनेकस्य समानधर्मयोग. सादृश्यम्, तत्कथ वैलक्षण्या-भावमात्रं स्यादिति चेत्, तर्हि वैलक्षण्यमपि विसदृशधर्मयोग , तत्कथ सादृश्याभावमात्र स्यादिति समानम् ?

का अविषय है, अत' प्रमाणातर स्वरूप प्रत्यभिज्ञान अवश्य ही परवादी (मीमासक) के प्रमाणो की सख्या का व्याघात करता है ।

मीमासक—सादृश्य का अभाव ही वैलक्षण्य है और वह अभाव प्रमाण के द्वारा जाना जाता है । अत. हमारे छह प्रमाण सख्या का व्याघात नही होता है ।

जैन— तो वैलक्षण्य का अभाव सादृश्य है ऐसा भी कह सकते है इस तरह सादृश्य के अभाव होने से उसको ग्रहण करने वाला उपमा प्रमाण का भी अभाव हो जाता है और प्रमाण सख्या का व्याघात होना रूप वही दोष तदवस्थ रहता है ।

मीमासक—अनेक गो रोझ आदि के समान धर्म का योग होना सादृश्य कहलाता है वह वैलक्षण्य का अभाव रूप कैसे हो सकता है ?

जैन—तो वैलक्षण्य भी विसदृश धर्म का योग स्वरूप है, उसको सादृश्याभाव रूप किस प्रकार मान सकते है ? इस प्रकार समान ही प्रश्नोत्तर है । इस प्रकार मीमासक के प्रत्यभिज्ञान को उपमा मे अतर्भाव करने के अभिप्राय का निराकरण करने से

एतेन 'गौरिव गवय ' इत्युपमानवाक्याहितसस्कारस्य पुनर्वने गवयदर्शनात् 'अयं गवयशब्द-वाच्य.' इति सज्ञासज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानमिति नैयायिकमतमपि प्रत्युक्तम्। यथैव ह्येकदा घट-मुपलब्धवत पुनस्तस्यैव दर्शने 'स एवाय घट ' इति प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञा, तथा 'गोसदृशो गवय ' इति सकेतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्ध प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते ? न खलु पूर्वमप्रतिपन्नेऽपूर्वदर्शनात्स्मृतिर्युक्ता, यतस्तथा प्रतिपत्तिः स्यात्।

गोविलक्षणमहिष्यादिदर्शनाच्च 'अय गवयो न भवति' इति तत्सज्ञासज्ञिसम्बन्धप्रतिषेधप्रति-पत्तिश्च यद्युपमानम्–"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इति व्याहन्येत। अथ प्रसिद्धार्थवैधर्म्यादपीष्यते, तर्हि 'प्रसिद्धार्थवैधर्म्याच्च साध्यसाधनमुपमानम्' इत्युपख्यान सूत्रे कर्त्तव्यम्।

किञ्च, प्रसिद्धार्थैकत्वात्साध्यसाधनमुपमानमित्यप्यभ्युपगम्यताम्। तथा च प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षेन्तर्भावोऽयुक्त ।

"गाय के समान गवय होती है" इस प्रकार के उपमा वाक्य का हुआ है सस्कार जिसको ऐसे पुरुष के वन मे गवय को देखकर यह गवय शब्द का वाच्य है इस प्रकार सज्ञा और सज्ञी के सबध का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है ऐसे नैयायिक के मत का भी निराकरण हुआ समझना चाहिए। क्योकि जिस प्रकार एक दिन घट को जानने के अनतर पुन उसी घट के दृष्टि गोचर होने पर वही यह घट है इस प्रकार के प्रतिभास को प्रत्यभिज्ञान कहते है, उसी प्रकार गो के सदृश गवय होती है ऐसा सकेत काल मे गाय का सदृश धर्म और गवय का नाम इनके वाच्य वाचक सबध को जानकर पुन गवय के देखने से होने वाला सदृशता का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान क्यो न माना जाय ? क्योकि जो पूर्व मे नही जाना है उसके अपूर्वदर्शन से स्मृति होना तो युक्त नही, जिससे प्रतीति हो सके। यदि नैयायिक कहे कि गाय से विलक्षण भैसादि को देखकर "यह रोझ नही है" इस प्रकार का सज्ञा सज्ञी सबध के निषेध का ज्ञान होता है वह भी उपमा प्रमाण है, तो "प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य साधन का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है" यह न्याय सूत्र खण्डित होता है।

शका— प्रसिद्ध वैधर्म्य से भी उपमा प्रमाण हो सकता है ?

समाधान—तो "प्रसिद्धार्थ वैधर्म्याच्च साध्य साधन मुपमानम्" ऐसा न्याय सूत्र मे उपसख्यान करना चाहिये था। तथा प्रसिद्धार्थ एकत्व से साध्य साधन का ज्ञान

तथा स्वसमीपवर्त्तिप्रासादादिदर्शनोपजनितसस्कारस्य तत्प्रतियोगिभूधराद्युपलम्भात् 'इदमस्माद्दूरम्' इति प्रतिपत्ति, आमलकदर्शनाहितसस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत्सूक्ष्मम्' इति, ह्रस्वदर्शनाविर्भूतसस्कारस्य तद्विपरीतार्थोपलम्भात् 'अतोयं प्राशु, इति च प्रतिपत्ति किं नाम मान स्यात्?

तथा वृक्षाद्यनभिज्ञो यदा कञ्चित्कञ्चित्पृच्छति कीदृशो वृक्षादिरिति? स तं प्रत्याह–'शाखादिमान्वृक्ष एकशृङ्गो गण्डकोऽष्टपाद' शरभ चारुसटान्वित सिह'' इत्यादि। तद्वाक्याहितसस्कार प्रष्टा यदा शाखादिमतोर्थान् प्रतिपद्य 'अय स वृक्षशब्दवाच्य' इत्यादिरूपतया तत्सज्ञासज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते तदा किं नाम तत्प्रमाण स्यात्? उपमानम्, इत्यसम्भाव्यम्, सर्वत्रोक्तप्रकारप्रतिपत्तौ प्रसिद्धार्थसाधर्म्यासम्भवात्। तत प्रतिनियतप्रमाणव्यवस्थामभ्युपगच्छता प्रतिपादितप्रकारा प्रतीति प्रत्यभिज्ञैवेत्यभ्युपगन्तव्यम्।

होना उपमा प्रमाण है ऐसा भी नैयायिक को स्वीकार करना चाहिए, [क्योकि यह भी प्रसिद्ध वैधर्म्य जैसे प्रतिभास वाला है] और इस तरह स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञान का प्रत्यक्ष मे अतर्भाव करना अयुक्त सिद्ध होता है। तथा अपने निकटवर्ती महल आदि को देखकर जिसको सस्कार उत्पन्न हुआ है उस पुरुष के उस महल के प्रतियोगी पर्वत आदि को देखने से "यह इससे दूर है" इस प्रकार की प्रतीति होती है एव आवला को देखने से उत्पन्न हुआ है सस्कार जिसके उस पुरुष के बेल आदि को देखकर "इससे वह छोटा था" इत्यादि ज्ञान होता है तथा वामन पुरुष को देखकर सस्कारित हुए व्यक्ति के उससे विपरीत ऊँचे पुरुष के देखने से इससे यह ऊँचा है, इत्यादि ज्ञान होता है, ये सब कौन से प्रमाण कहलायेगे? तथा कोई पुरुष वृक्षादि को नही जानता है वह जब किसी को पूछता है कि वृक्षादि कैसे होते है? तब वह उसको समझाता है कि शाखा आदि से युक्त वृक्ष होता है, एक सीग वाला गेडा होता है, आठ पैरो वाला अष्टापद होता है, सुन्दर सटायुक्त सिह होता है, इत्यादि। इन वाक्यो को सुनकर जिसके सस्कार हो चुका है ऐसा वह प्रश्न कर्त्ता जब शाखा युक्त वृक्ष को देखता है, तब यह वृक्ष शब्द का वाच्य पदार्थ है, इत्यादि सज्ञा और सज्ञी का सबध जान लेता है। इस प्रकार के ज्ञानो को कौन सा प्रमाण माना जाय? उपमा कहना तो असभव है क्योकि सबमे उपर्युक्त प्रसिद्धार्थ साधर्म्य का अभाव है। इसलिये प्रतिनियत प्रमाण की व्यवस्था चाहने वाले परवादी को सादृश्य आदि भेद वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञान रूप ही स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता का सारांश

बौद्ध—हम स्मृति को प्रमाण नही मानते हैं ज्ञान मात्र को स्मृति कहे तो प्रत्यक्षादि सभी ज्ञान स्मृति शब्द से कहे जायेगे। अनुभूत पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को स्मृति माने तो भी जिस किसी देवदत्त के द्वारा अनुभूत की गई वस्तु जिस किसी यज्ञदत्त आदि को याद आनी चाहिए क्योकि वह अनुभूत तो हो चुकी? यदि कहे कि जिसने अनुभव किया है वही याद करेगा सो भी ठीक नही, मेरा यह स्मरण अनुभूत मे ही हो रहा है ऐसा कौन निर्णय कर सकता है? प्रत्यक्ष तो नही कर सकता और स्मृति अभी प्रामाणिक सिद्ध नही हुई है?

जैन—यह कथन ठीक नही है, ज्ञान मात्र को स्मृति नही कहते किन्तु "वह" इस प्रकार के प्रतिभास को स्मृति कहते है, "अनुभूत की याद आ रही है" इस बात का निर्णय तो खुद आत्मा करता है क्योकि वही अनुभव और स्मरण इन दोनो अवस्था मे व्यापक रहता है, आप लोग सभी वस्तु को क्षणिक मानते हैं अत कुछ व्यवस्था नही दिखाई देती है, अनुभूत वस्तु को जानने वाली होने से स्मृति को गृहीत ग्राही भी नही मानना क्योकि अनुभूत पदार्थ का जब साक्षात् अनुभव हुआ था तब वह भिन्न ही था और अब वह सिर्फ यादगारी रूप है। तथा अनुभव किये हुए को जानने से स्मरण को अप्रमाण कहे तो अनुमान ज्ञान की सिद्धि नही होती, तथा प्रत्यक्ष भी अप्रमाणिक हो जायगा। जब कभी दूर से पर्वत पर धुआ देखकर अग्नि को जाना पुन पहाड पर गये तो वही अग्नि प्रत्यक्ष होती है तो क्या उस प्रत्यक्ष को अप्रमाण कहेगे? अतीत विषय वाली होने से स्मृति को असत्य मानते है तो प्रत्यक्ष को भी असत्य मानना होगा, क्योकि क्षणिकवादी के यहा पर जब ज्ञान होता है तब पदार्थ नही होता जब पदार्थ होता है तब ज्ञान नही होता, सबसे बडी आपत्ति तो यह है कि स्मृति को अप्रमाण मानने पर अनुमान की सिद्धि नही हो सकती।

बौद्ध आदि के प्रमाण की सख्या का विघटन करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण मौजूद है, इसको प्रत्यक्षादि मे अतर्भूत करना असम्भव है। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सदृश, आदि विषय को न प्रत्यक्ष ग्रहण करता है और न स्मरण ही "यह वही है जिसको मैने कल देखा था" इस ज्ञान मे 'यह' इस प्रकार की झलक तो वर्तमान प्रत्यक्ष रूप है और "वही है" इस प्रकार की झलक अतीत स्मरण रूप है, इन

दोनो का जोड़ प्रत्यभिज्ञान ही कर सकता है। भिन्न भिन्न वस्तु की भिन्न भिन्न शक्ति हुआ करती है। बौद्धादि परवादी यदि प्रत्यभिज्ञान को नही मानेंगे तो सभी के इष्ट मत की सिद्धि नही होगी, क्योकि स्वतत्व का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया जाता है और अनुमान बिना प्रत्यभिज्ञान के उत्पन्न ही नही हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान के बिना तो जगत का व्यवहार ही समाप्त होगा जो पहले दिया था उसको वापस दो ऐसा कह नही सकेंगे विवाह मगल, मित्रता, शत्रुता, किये हुए कार्यो की सफलता, ऋण चुकाना, बीमा उतारना, आदि कार्य ठप्प हो जायेंगे, क्योकि पहले और अभी के अवस्था के कार्यो का मिलान करने वाला कोई ज्ञान हमारे पास नही है। जिसके सहारे कह सके कि यह पुत्री विवाहित है, यह मेरा शत्रु या मित्र है इत्यादि। इस ज्ञान में दो आकार है अर्थात् यह वही है ऐसे दो आकार प्रतीत है अत: अप्रमाण है ऐसा भी नही कह सकते। अनेक आकारो को एक साथ प्रतीत कराना तो ज्ञान की महिमा है उसे कौन रोकेगा? आप बौद्ध खुद ही चित्र ज्ञान को मानते है उसमे भी अनेक आकार है? कटे हुए नख केश आदि मे यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह असत्य है अत: जोडरूप ज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा कहना भी ठीक नही वह ज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान रूप है न कि एकत्व रूप। तथा प्रत्यभिज्ञान को न माने तो अनुमान प्रमाण सिद्ध नही होगा, क्योकि अनुमान मे जोडरूप ज्ञान की भी आवश्यकता है। नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को उपमा प्रमाण मे अन्तर्भूत करते है, किन्तु वह ठीक नही है, क्योकि उपमा मे एकत्व, वैलक्षण्य, प्रतियोगी आदि प्रत्यभिज्ञानो का अर्न्तभाव होना अशक्य है। अत: प्रत्यभिज्ञान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

।। समाप्त ।।

१०

तर्कस्वरूपविचारः

अथेदानीमूहस्योपलम्भेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥

उपलम्भानुपलम्भौ साध्यसाधनयोर्यथाक्षयोपशम सकृत पुनः पुनर्वा दृढतर निश्चयानिश्चयौ न भूयोदर्शनादर्शने । तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमाननिश्चयानिश्चयहेतुकसम्बन्धबोधस्यापि सङ्ग्रहान्नाव्याप्ति । यथा 'अस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टसुखादिसद्भावान्यथानुपपत्ते' इत्यादौ, 'आदित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्ते' इत्यादौ च । न खलु

अब यहा पर तर्क प्रमाणके कारणका तथा स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपलभानुपलभनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह ॥११॥

सूत्रार्थ—उपलभ [साध्यके होने पर साधन का होना] तथा अनुपलभ [साध्य के अभाव मे साधन का नही होना] के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञानको तर्क कहते है ।

व्याप्ति ज्ञानके दो कारण है—एक प्रत्यक्ष उपलभ और एक अनुपलभ । अग्नि के होने पर धूमके होने का ज्ञान प्रत्यक्ष है और अग्निके अभाव मे धूम के अभाव का ज्ञान अनुपलभ है । इन अग्नि और धूमादि रूप साध्य साधनो का क्षयोपशम के अनुसार एक बार मे अथवा अनेक बार मे दृढतर निश्चय अनिश्चय होना उपलभ अनुपलभ कहलाता है, अर्थात् इस अग्निरूप साध्य के होने पर ही यह धूमरूप साधन होता है और साध्य के न होने पर साधन भी नही होता ऐसा दृढतर ज्ञान होना उपलभ अनुपलभ है । साध्य साधन का बार बार प्रत्यक्ष होना उपलभ है और उनका प्रत्यक्ष न

धर्मविशेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत्तुं शक्यः, नाप्यतोनुमानादन्यतः कुतश्चित्प्रमाणादादित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धः साध्यत्वाभिमतः साधनं वा गतिमत्त्वं देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वानुमानादन्यत इति। तौ निमित्तं यस्य व्याप्तिज्ञानस्य तत्तथोक्तम्। व्याप्तिः साध्यसाधनयोरविनाभावः, तस्य ज्ञानमूहः।

न च, बालावस्थायां निश्चयानिश्चयाभ्यां प्रतिपन्नसाध्यसाधनस्वरूपस्य पुनर्वृद्धावस्थायां तद्विस्मृतौ तत्स्वरूपोपलम्भेप्यविनाभावप्रतिपत्तेरभावात्तयोस्तदहेतुत्वम्, स्मरणादेरपि तद्धेतुत्वात्।

होना अनुपलभ है ऐसा उपलभ अनुपलभ शब्दो का अर्थ यहा इष्ट नही है, इसीलिये जो साध्य साधन इन्द्रिय गम्य नही है जिनका उपलभ अनुपलभ [साध्य साधन के अविनाभाव का ज्ञान], आगम एव अनुमान प्रमाण द्वारा होता है उनके व्याप्ति ज्ञान का भी तर्क प्रमाण मे सग्रह हो जाता है, अतः सूत्रोक्त तर्क प्रमाण लक्षण अव्याप्ति दोष युक्त नही है। जिस साध्य साधन का अविनाभाव आगम द्वारा गम्य है उसका उदाहरण—इस प्राणी के धर्म विशेष [पुण्य] है क्योकि विशिष्ट सुखादि के सद्भावकी अन्यथानुपपत्ति है। जिस साध्य साधन की व्याप्ति अनुमान गम्य होती है उसका उदाहरण-सूर्य के गमन शक्ति सद्भाव है क्योंकि गतिमानकी अन्यथानुपपत्ति है इत्यादि। प्राणी के पुण्य विशेष को जानने के लिये आगम को छोड कर अन्य कोई प्रमाण नही है। तथा अनुमान प्रमाण को छोडकर अन्य किसी प्रमाणसे सूर्य के गमन शक्ति को जानना भी शक्य नही है, अर्थात् गमन शक्तिका सबध रूप साध्य और गतिमत्व रूप साधन देश से देशान्तर की प्राप्ति रूप हेतु वाले अनुमान द्वारा ही उक्त व्याप्ति का ज्ञान होता है। इस प्रकार वे उपलभ और अनुपलभ है निमित्त जिस व्याप्ति ज्ञानके उसे कहते है "उपलभानुपलभ निमित्त" यह इस पद का समास है। साध्य और साधनके अविनाभावको व्याप्ति कहते है और उसके ज्ञान को तर्क कहते हैं।

बाल अवस्था मे जिस साध्य साधन का स्वरूप उपलभ अनुपलभ द्वारा निश्चित किया था वह वृद्धावस्थामे विस्मृत होजाने पर उस स्वरूप के उपलब्ध होते हुए भी अविनाभाव का ज्ञान नही होता अत उक्त उपलभ अनुपलभ व्याप्ति ज्ञान के हेतु नही हैं? ऐसी आशका भी नही करना चाहिये, उपलभादि के समान स्मरणादि ज्ञानोको भी व्याप्ति ज्ञान का हेतु माना गया है, साध्य के होने पर ही साधन होता है साध्य के अभाव मे साधन होता ही नही इस प्रकार के स्वरूप वाले निश्चय अनिश्चय को बार बार स्मरण करते हुए और प्रत्यभिज्ञान करते हुए जीव के व्याप्ति का ज्ञान होता ही है अत.

भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मर्यमाणप्रत्यभिज्ञायमानौ तत्कारणमिति स्मरणादेरपि तन्निमित्तत्वप्रसिद्धि । मूलकारणत्वेन तूपलम्भादेरत्रोपदेश, स्मरणादेस्तु प्रकृतत्वादेव तत्कारणत्वप्रसिद्धेरनुपदेश इत्यभिप्रायो गुरूणाम् ।

तच्च व्याप्तिज्ञान तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्या प्रवर्त्तत इत्युपदर्शयति–इदमस्मिन्नित्यादि ।

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति च ॥१२॥

स्मरणादिमे भी व्याप्ति ज्ञानका हेतुपना सिद्ध है। व्याप्ति ज्ञान का मूल निमित्त उपलभादि होने से उनका सूत्र मे उपदेश किया है, स्मरणादि तो प्रस्तुत होने से ही तर्क के निमित्तरूप से सिद्ध है अत उनका सूत्र मे उल्लेख नही किया है, इस तरह गुरुदेव माणिक्यनन्दी आचार्य का अभिप्राय है ।

विशेपार्थ— तर्क प्रमाणके निमित्त का प्रतिपादन करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने सबसे पहले यह खुलासा किया कि—साध्य साधन के व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष निमित्तक नही है अपितु आप्त पुरुष के [यो यत्र अवचक स स्तत्र आप्त] वाक्यो को सुनकर और अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ज्ञान होता है। यदि साध्य साधन के अविनाभाव का निश्चय केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना माने तो अतीन्द्रिय रूप साध्य साधनका अविनाभाव ज्ञात नही हो सकेगा। इस पुरुपके पुण्य का सद्भाव पाया जाता है, क्योकि विशिष्ट सुखादिकी अन्यथानुपपत्ति है। सूर्य के गमन शक्ति का अविनाभाव भी प्रत्यक्ष व गम्य नही होता। अत जो परवादी व्याप्ति का ग्रहण केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना मानते हैं वह असत् है। तर्क मे स्मरणादि ज्ञान भी निमित्त हुआ करते हैं, यदि साध्य साधन के अविनाभाव का ज्ञान विस्मृत हो जाय तो तर्क प्रमाण प्रवृत्त नही होता प्रत्यभिज्ञान भी इस ज्ञान मे निमित्त होता है किन्तु मुख्य कारण उपलभ अनुपलभ है अत इन्ही को सूत्र बद्ध किया है।

उस तर्क प्रमाण की प्रवृत्ति तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्वारा होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति च ॥१२॥

इद साधनत्वेनाभिप्रेत वस्तु, अस्मिन्साध्यत्वेनाभिप्रेते वस्तुनि सत्येव सम्भवतीति तथोपपत्ति । अन्यथा साध्यमन्तरेण न भवत्येवेत्यन्यथानुपपत्तिः । वाशब्द उभयप्रकारसूचकः ।

तावेवोभयप्रकारौ सुप्रसिद्धव्यक्तिनिष्ठतया सुखाववोधार्थं प्रदर्शयति—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥१३॥

ननु चास्याऽप्रमाणत्वात्किं कारणस्वरूपनिरूपणप्रयासेन, इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतोस्याप्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वात्, विसवादित्वाद्वा स्यात्, प्रमाणविषयपरिशोधकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्ति. प्रत्यक्षात् प्रतीयते, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य सन्निहितमात्रगोचरतया देशादिविप्रकृष्टाशेषार्थालम्बनत्वानुपपत्ते, तत्रास्य वैशद्यासम्भवाच्च । न खलु सत्त्वानित्यत्वादयोऽ-

---

सूत्रार्थ—यह इसके होने पर ही होता है और नही पर नही होता । 'इद' इस पद से साधन रूप से अभिप्रेत वस्तु का ग्रहण होता है तथा 'अस्मिन्' इस पद से साध्य रूप से अभिप्रेत वस्तु का ग्रहण होता है, यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है यह तथोपपत्ति कहलाती है, साध्य के विना साधन नही होता, यह अन्यथानुपपत्ति कहलाती है । सूत्रोक्त वा [तु] शब्द उभय प्रकार का सूचक है ।

इस तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप उभय प्रकार को सुप्रसिद्ध दृष्टात द्वारा सुख पूर्वक अवबोध कराने के लिये कहते है—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥१३॥

सूत्रार्थ—जिस प्रकार धूम अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव मे नही होता ।

शंका—तर्क ज्ञान अप्रमाण है अत इसके कारण और स्वरूप का प्रतिपादन करना व्यर्थ है ?

समाधान —यह कथन ठीक नही, तर्क अप्रमाणभूत किस कारण से है गृहीत ग्राही होने से, विसंवादित्व होने से या प्रमाण के विषय का परिशोधक होने के कारण ? प्रथम पक्ष–गृहीत ग्राही होने से तर्क ज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा माने तो कौनसे प्रमाणसे उसका विषय ग्रहण हुआ है । साध्य साधन की साकल्य रूपसे व्याप्ति प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है या अनुमानसे ? केवल सन्निहित पदार्थका ग्राहक होनेके कारण प्रत्यक्ष ज्ञान देशादिसे विप्रकृष्ट [दूरवर्त्ती] भूत अशेष पदार्थोंका ग्राहक नहीं हो सकता तथा उन विषयो मे इसका वैशद्यधर्म भी असंभव है । सत्त्व नित्यत्व आदि तथा अग्नि धूम आदि सभी पदार्थ

ग्निधूमादयो वा सर्वे भावा' सन्निधानवत् प्रत्यक्षे विशदतया प्रतिभान्ति, प्राणिमात्रस्य सर्वज्ञतापत्तेरनुमानानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। अविचारकतया चाध्यक्ष 'यावान् कश्चिद्धूम. स सर्वोपि देशान्तरे कालान्तरे वाग्निजन्माऽन्यजन्मा वा न भवति' इत्येतावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थम्। पुरोऽव्यवस्थितार्थेषु प्रत्यक्षतो व्याप्ति प्रतिपद्यमान सर्वोपसहारेण प्रतिपद्यते, इत्यप्यसुन्दरम्, अविषये सर्वोपसहारायोगात्।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभाव, तथा चानिश्चितप्रतिबन्धकत्वाद्देशान्तरादौ साधन साध्य न गमयेत्।

ननु कार्यं धूमो हुतभुज. कार्यधर्मानुवृत्तितो विशिष्टप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चित, स देशान्तरादौ तदभावेपि भवस्तत्कार्यतामेवातिवर्त्तेत, इत्याकस्मिकोऽग्निनिवृत्तौ न क्वचिदपि निवर्त्तेत,

---

विशदरूपसे प्रतीत होते हुए दिखायी नही देते, यदि प्रतीत होते तो अशेष प्राणी सर्वज्ञ होने की आपत्ति आयेगी तथा अनुमान प्रमाण भी व्यर्थ ठहरेगा क्योकि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो चुके हैं तो अनुमानकी क्या आवश्यकता ? तथा परमतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से 'जितना भी धूम है वह सब देशान्तर तथा कालातरमे भी अग्नि से ही प्रादुर्भूत है अन्य से प्रादुर्भूत नही होता' इतने अधिक प्रतीति के कार्यको करने मे असमर्थ है, वह तो केवल सामने उपस्थित हुए पदार्थो का ही ग्राहक है।

शका—सामने उपस्थित पदार्थोंमे पहले प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति को ग्रहण कर लेते है और फिर क्रमशः सर्वोपसहार रूपसे ग्रहण करते है ?

समाधान—यह कथन असु दर है, जो अपना विषय नही है उस अविषय भूत पदार्थ मे सर्वोपसहार रूपसे जानना अशक्य है।

प्रत्यक्ष के पश्चात् प्रादुर्भूत हुए विकल्प ज्ञान द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना भी असभव है, क्योकि वह भी सन्निहितका ही ग्राहक है अतः सर्वोपसहार से व्याप्ति का ग्राहक होना शक्य नही, इस तरह प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का अनिश्चय होने से देशातरादिमे वह साधन स्वसाध्यका गमक नही हो सकता।

यहा पर कोई कहता है कि—कार्य धर्मकी अनुवृत्ति होनेसे प्रत्यक्ष एव अनुपलभ द्वारा धूम अग्निका कार्य है ऐसा निश्चित हो जाता है, यदि वह देशान्तरमे अग्निके अभावमे भी उपलब्ध होता है तो उसका कार्य कहाता, इस तरह अकारण रूप सिद्ध होने से कही पर अग्निके निवृत्त होने पर भी निवृत्त नही होगा तथा उसके सद्भाव होने पर नियमितपने से सद्भाव रूप भी नही रहेगा, इस प्रकार खरविषाण के समान उस

नाप्यवश्यतया तत्सद्भावे एव स्यादिति, अहेतोः खरविषाणवत्तस्यासत्त्वात् क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारेण वोपलम्भ स्यात्। स्वभावश्च 'तद्वतोर्थस्याभावेपि यदि स्यात्तदार्थस्य निःस्वभावत्व स्वभावस्य वाऽसत्त्व स्यात्, तत्स्वभावतया चास्य कदाचिदप्युपलम्भो न स्यात्। उक्तञ्च—

"कार्य धूमो हुतभुज कार्यधर्मानुवृत्तित ।
सम्भवस्तदभावेपि हेतुमत्ता विलङ्घयेत् ॥"
[प्रमाणवा० १।३५]

"स्वभावेप्यविनाभावो भावमात्रानुबन्धिनि ।
तदभावे स्वय भावस्याभाव स्यादभेदत ॥"
[प्रमाणवा० १।४०] इति ।

अहेतुक धूमकी असत्व होने से कही पर भी उपलब्धि नही हो सकेगी अथवा सर्वत्र सर्वदा सर्वाकार से उपलब्धि होने लगेगी। कार्य हेतु के समान स्वभाव हेतु की भी बात है, यदि स्वभाव भी स्वभाववान् अर्थ के अभावमे रहेगा तो स्वभाववान् अर्थ निःस्वभाव बन जायगा अथवा स्वभाव का ही असत्व हो जायगा, फिर तो पदार्थ के स्वभावरूप से इसकी कही भी उपलब्धि नही हो सकेगी। कहा भी है—अग्नि के कार्य धर्म की अनुवृत्ति होनेसे धर्म उसका कार्य कहाता है, यदि वह अग्नि के अभाव मे होता तो उसका कार्य नही कहा जाता ॥१॥ स्वभाव हेतु की भी यही बात है भाव मात्र का अनुकरण करने वाले स्वभाव मे अविनाभाव होता है अर्थात् स्वभाव और स्वभाववान मे अभेद होने के कारण स्वभाव के अभाव में स्वभाववान का अभाव हो जाता है।

किन्तु शंकाकार का उपर्युक्त कथन ठीक नही है प्रत्यक्षादि से व्याप्ति का बोध होने पर भी केवल उस प्रत्यक्ष के काल मे उपलब्ध व्यापक के साथ हो व्याप्य की व्याप्ति सिद्ध हो सकती है उसीका उस तरह से निश्चय हुआ है, तत् सदृश अन्य व्याप्यके साथ तो व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता, यदि तत् सदृश अन्य व्याप्य की भी व्याप्ति गृहीत होती है ऐसा माना जाय तो उस व्याप्ति ग्राहक विकल्प रूप ज्ञानको अग्रहीतग्राहीपना कैसे नही होगा ? यदि किसी प्रदेश विशेष मे प्रत्यक्ष द्वारा साध्यके साथ हेतु की व्याप्ति जानी जाती है और उससे अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है उस ज्ञान को विशेष तो दृष्ट अनुमान कहना होगा न कि तर्क प्रमाण, क्योकि उक्त ज्ञान द्वारा अन्य देश आदिमे स्थित साध्य के साथ इस हेतु की व्याप्ति सिद्ध नही होती।

व्याप्तिप्रतिपत्तावपि तन्निश्चयकालोपलब्धेनैव व्यापकेन व्याप्यस्य व्याप्तिः स्यात् तस्यैव तथा निश्चयात्, न तादृशस्य। तादृशस्यापि साध्यव्याप्तत्वग्रहणे तद्ग्राहिणो विकल्पस्याग्रहीतग्राहित्व कथं न स्यात्? यत्तु प्रत्यक्षेण क्वचित्प्रदेशे साध्यव्याप्तत्वेन प्रतिपन्न ततस्तस्यानुमाने विशेषतो दृष्टानुमान स्यात्, अन्यदेशादिस्थसाध्येनास्याव्याप्तेः।

पारिशेष्यात्तादृशेन व्यापकेनान्यत्र तादृशस्य व्याप्तिसिद्धिश्चेत्, ननु किमिद पारिशेष्यम्–प्रत्यक्षम्, अनुमान वा? न तावत्प्रत्यक्षम्, देशान्तरस्थस्यानुमेयस्य प्रत्यक्षेणाप्रतिपत्ते, अन्यथानुमानानर्थक्यानुषङ्ग। नाप्यनुमानम्, तत्राप्यनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, तेनैव तत्प्रतिपत्तावन्योन्याश्रयः।

एतेन साध्यसाधनयो साकल्येनानुमानाद्व्याप्तिप्रतिपत्तेस्तर्कस्याप्रामाण्यमिति प्रत्युक्तम्। तन्न प्रत्यक्षानुमानयो साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्।

शका—अन्य देशादि के साध्य मे उस प्रकार के व्यापक से व्याप्य की व्याप्ति तो पारिशेष्य रूप ज्ञान द्वारा हो जाया करती है?

समाधान—अच्छा तो बताईये पारिशेष्य ज्ञान किसे कहते हैं प्रत्यक्ष को या अनुमान को? प्रत्यक्ष को तो कह नही सकते, क्योकि देशातर मे स्थित अनुमेय अर्थ की प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपत्ति होना असभव है, यदि प्रत्यक्ष से ही उसकी प्रतिप्रत्ति होगी तो अनुमान प्रमाण मानना व्यर्थ ठहरता है। अनुमान को पारिशेष्य ज्ञान कहना भी ठीक नही क्योकि उस पारिशेष्य रूप अनुमान की व्याप्ति को यदि अन्य अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकार करते हैं तो अनवस्था दूषण आता हैं और उसी अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकारते हैं तो अन्योन्याश्रय दूषण प्राप्त होता है। इस प्रकार यहा तक यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नही होता है। इसी कथन से साध्य साधन की व्याप्ति साकल्य से अनुमान द्वारा गृहीत होती है अत तर्क अप्रमाणभूत हैं ऐसा कहना भी खडित हुआ समझना चाहिए। इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्यक्ष और अनुमान मे पूर्णरूपेण व्याप्ति को ग्रहण करने की सामर्थ्य नही है।

शका—हम जैसे सामान्य पुरुष सबधी प्रत्यक्ष ज्ञान मे व्याप्ति प्रतिपत्ति की सामर्थ्य भले ही न हो किन्तु योगीजनोके प्रत्यक्ष ज्ञान मे तो होती है?

अथास्मदादिप्रत्यक्षस्य व्याप्तिप्रतिपत्तावसामर्थ्येपि योगिप्रत्यक्षस्य तत् स्यात्, इत्यप्यसत्; तस्याप्यविचारकतया तावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वाविशेषात्। कुतश्चास्योत्पत्ति-विकल्पमात्राभ्यासात्, अनुमानाभ्यासाद्वा? प्रथमपक्षे कामशोकादिज्ञानवत्तस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग। द्वितीयपक्षेप्यन्योन्याश्रयः-व्याप्तिविषये हि योगिप्रत्यक्षे सत्यनुमानम्, तस्मिश्च सति तदभ्यासाद्योगिप्रत्यक्षमिति। अस्तु वा योगिप्रत्यक्षम्, तथापि-तत्प्रतिपन्नार्थेष्वनुमानवैयर्थ्यम्। साध्यसाधनविशेषेषु स्पष्ट प्रतिभातेष्वपि अनुमाने सर्वत्रानुमानानुषङ्गात् स्वरूपस्याप्यध्यक्षतोऽप्रसिद्धि.।

परार्थं तस्यानुमानमिति चेत्, तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? गृहीतव्याप्तिक चेत्, कुतस्तेन गृहीता व्याप्ति? न तावत्स्वसवेदनेन्द्रियमनो-

---

समाधान—यह शका असत् है, योगीजनो का प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से उतना व्यापार करने मे असमर्थ ही है, तथा इस योगी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति किससे होती है विकल्प मात्र के अभ्यास से अथवा अनुमान के अभ्यास से? प्रथम पक्ष स्वीकृत हो तो काम शोकादि ज्ञान के समान उस योगी प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणपना प्राप्त होगा। द्वितीय पक्ष कहो तो अन्योन्याश्रय होगा व्याप्ति को विषय करने वाले योगी प्रत्यक्षके होने पर अनुमान होगा और अनुमान के होने पर उसके अभ्यास द्वारा योगी प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा। कदाचित् योगी प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेवे तो भी उसके द्वारा ज्ञात हुए पदार्थों में अनुमान की प्रवृत्ति होना व्यर्थ ठहरता है, यदि साध्य साधनभूत पदार्थ विशेष स्पष्ट रूपेण प्रतिभासित होने पर भी उसमे अनुमान प्रवृत्त होता है तो सर्वत्र अनुमान से ही सिद्धि होगी फिर तो स्वय के स्वरूप की प्रत्यक्ष से सिद्धि होना दुर्लभ होगा।

शका—योगीजन का अनुमान प्रयोग परके लिये होता है?

समाधान—तो फिर वह योगी परार्थानुमान द्वारा व्याप्ति को ग्रहण करके परको समझाता है अथवा विना व्याप्ति को ग्रहण किये परको समझाता है? यदि व्याप्ति को ग्रहण करके समझाता है तो उसने किस ज्ञान द्वारा व्याप्तिको ग्रहण किया है? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से या इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा मानसप्रत्यक्ष से व्याप्ति को ग्रहण करना तो शक्य नही क्योकि व्याप्ति उन प्रत्यक्षो का विषय नही है। तथा योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिका ज्ञान होना स्वीकार करे तो अनुमान प्रमाण व्यर्थ ठहरता है ऐसा पहले ही कह दिया है। व्याप्तिको विना ग्रहण किये योगी परको समझाता है

विज्ञाने, तेषां तदविषयत्वात् । योगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानवैयर्थ्यमित्युक्तम् । अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिरतिप्रसङ्गात् ।

मानसप्रत्यक्षाद्व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यन्ये, तेप्यतत्त्वज्ञा, प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवत्वोपगमात् । अणुस्वभावमनसो युगपदशेषार्थैस्तत्सम्बन्धस्य च प्रागेव प्रतिविहितत्वात् कथं तत्प्रत्ययेनापि व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

ननु साध्यसाधनधर्मयोः क्वचिद्व्यक्तिविशेषे प्रत्यक्षत एव सम्बन्धप्रतिपत्तिः, इत्यप्ययुक्तम्, साकल्येन तत्प्रतिपत्त्यभावानुषङ्गात् । साध्यं च किमग्निसामान्यम्, अग्निविशेषः, अग्निसामान्यविशेषो वा ? न तावदग्निसामान्यम्, तदनुमाने सिद्धसाध्यतापत्तेः; विशेषतोऽसिद्धेश्च ? नाप्यग्निविशेषः

ऐसा माने तो असत् है, क्योंकि बिना व्याप्ति ज्ञानके परको समझाना अशक्य है, अन्यथा अतिप्रसग होगा ।

मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा कोई प्रवादी कहते हैं वे भी अतत्त्वज्ञ है, क्योंकि उनके यहा प्रत्यक्षको इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्षसे उत्पन्न होना स्वीकार किया है । तथा अणु स्वभाव वाले मनके द्वारा युगपत् सपूर्ण पदार्थो के सबध होना असभव है ऐसा पहले ही कह चुके है अतः मानस ज्ञान द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति किस प्रकार सभव हो सकती है ?

शका—किसी व्यक्ति विशेष में साध्य साधन धर्मो का सबध प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन की पूर्णरूपेण प्रतिपत्ति नही होती, प्रत्यक्ष मे इस तरह की प्रतिपत्तिका अभाव ही है । तथा साध्य साधन का सबध प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है ऐसा माने तो उसमे साध्य किसको माना जाय अग्नि सामान्यको, अग्नि विशेष को अथवा अग्नि सामान्य विशेष को ? अग्नि सामान्यको साध्य बनाना युक्त नही क्योकि उसके अनुमान करने मे सिद्धसाध्यता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ज्ञान होना माने तो देशादि विशेष से अग्नित्व सामान्य की सिद्धि नही हो सकती ।

भावार्थ—सर्वत्र साध्य साधन का अविनाभाव सबध होता है, इस प्रकार का व्याप्ति ज्ञान किस प्रमाण से होता है इस विषय मे विविध मत हैं अनेक बौद्धादि प्रवादी अपनी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं इसी बीच एक ने कहा कि साध्य साधन की

तस्यानन्वयात् । अग्निसामान्यविशेषस्य साध्यत्वे तेन धूमस्य सम्बन्ध कथं सकलदेशकालव्याप्त्याध्यक्षत सिद्ध्येत् ? तथा तत्सम्बन्धासिद्धौ च यत्र यत्र यदा यदा धूमोपलम्भस्तत्र तत्र तदा तदाग्निसामान्यविशेषविषयमनुमान नोदयमासादयेत् । न ह्यन्यथा सम्बन्धग्रहणमन्यथानुमानोत्थानं नाम, अतिप्रसङ्गात् । तत. सर्वाक्षेपेण व्याप्तिग्राही तर्क प्रमाणयितव्य ।

ननु 'यावान्कश्चिद्धूम स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवति' इत्यूहापोहविकल्पज्ञानस्य सम्बन्धग्राहिप्रत्यक्षफलत्वान्न प्रामाण्यम्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रत्यक्षस्य सम्बन्धग्राहित्वप्रतिषेधात् । तत्फलत्वेन चास्याऽप्रामाण्ये विशेषणज्ञानफलत्वाद्विशेष्यज्ञानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः । हानोपादानोपेक्षाबुद्धिफलत्वात्तस्य प्रामाण्ये च ऊहापोहज्ञानस्यापि प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । तन्नास्य गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम् ।

व्याप्ति को किसी व्यक्ति विशेषमे प्रत्यक्ष से ही ज्ञात कर लेते है, तब आचार्य समझाते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा साकल्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान नही हो सकता तथा प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन का सबध जाना जाता है ऐसा स्वीकार करे तो उस वक्त साध्य किसको बनायेगे, यदि सामान्य अग्निको साध्य बनाते है तो वह सिद्ध ही है और अग्नि विशेषको बनाते हैं तो उसका सर्वत्र अन्वय नही रहता अत प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वोपसहाररूप व्याप्तिका ज्ञान होना अशक्य है । यही बात आगे कह रहे है ।

दूसरा पक्ष—अग्नि विशेषको साध्य बनाते है तो उसका सर्वत्र अन्वय नही रह सकता । अग्नि सामान्य विशेषको साध्य बनावे तो उसके साथ धूमका सबध सपूर्ण देश एव काल की व्याप्ति के द्वारा प्रत्यक्षसे किस प्रकार सिद्ध होवेगा ? तथा उस सम्बन्ध के असिद्ध होने पर जहा जहा जब जब धूम उपलब्ध है वहा वहा तब तब अग्नि सामान्य विशेष को विषय करने वाला अनुमान प्रवृत्त नही हो सकेगा, क्योकि सम्बन्ध को अन्यथारूप से ग्रहण करे और अनुमान अन्यथारूप से उत्पन्न होवे ऐसा नही होता, यदि माने तो अति प्रसग होगा । इसलिए व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क नामा ज्ञान पृथक् ही है और वह प्रमाणभूत है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

शका—जो कोई भी धूम होता है वह सब अग्नि से उत्पन्न होता है बिना अग्निके नही होता इस प्रकार का ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान सम्बन्ध ग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण फल है अत वह प्रमाणभूत नही है ?

नापि विसवादित्वात्, स्वविषयेस्य सवादप्रसिद्धे:। साध्यसाधनयोरविनाभावो हि तर्कस्य विषय . तत्र चाविसवादकत्व सुप्रसिद्धमेव। कथमन्यथानुमानस्याविसवादकत्वम् ? न खलु तर्कस्यानुमाननिबन्धनसम्बन्धे सवादाभावेऽनुमानस्यासौ घटते।

ननु चास्य निश्चित सवादो नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वात्, तदसत्, तर्कस्य सवादसन्देहे हि कथ निस्सन्देहानुमानोत्थानम् ? तदभावे च कथ सामस्त्येन प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यव्यवच्छेदेन प्रामाण्यप्रसिद्धि ? ततो निस्सन्देहमनुमानमिच्छता साध्यसाधनसम्बन्धग्राहि प्रमाणमसन्दिग्धमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

समाधान—यह कथन असमीचीन है, प्रत्यक्ष प्रमाण सबधग्राही नही होता ऐसा अभी सिद्ध कर आये हैं, तथा प्रत्यक्ष का फल होने से इस ज्ञानको अप्रमाण मानेंगे तो विशेषण ज्ञान का फल होने से विशेष्य ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा। यदि कहा जाय कि हान उपादान एव उपेक्षा बुद्धिरूप फल युक्त होने से विशेष्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो ऊहापोह ज्ञानको भी प्रमाण मानना चाहिये, क्योकि उभयत्र कोई विशेषता नही है अर्थात् विशेष्य ज्ञान मे हानादि बुद्धि रूप फल है तो ऊहापोह ज्ञानमे भी हानादि बुद्धि रूप फल पाया जाता है। इसलिये गृहीतग्राही होने से तर्क अप्रमाण है ऐसा सिद्ध नही होता है।

विसवादक होने से तर्क अप्रमाण है ऐसा कहना भी असत् है तर्क ज्ञान तो अपने विषय मे सवाद स्वरूप है साध्य और साधन का अविनाभाव इस तर्क ज्ञान का विपय है, और उसमे अविसवादकपना सुप्रसिद्ध ही है। यदि ऐसा नही होता तो अनुमान प्रमाण मे अविसवादकपना कैसे होता? अनुमान के निमित्तभूत तर्क ज्ञान के विषय मे यदि सवादपने का अभाव है तो वह अनुमान में भी घटित नही हो सकता।

शका—तर्क मे सवादपना पाया जाना निश्चित नही क्योकि वह अति दूर देशादि मे स्थित पदार्थ को विषय करता है ?

समाधान—यह कथन असत् है, यदि तर्क ज्ञान मे सवादपने का सदेह माना जायगा तो नि सदेहरूप अनुमान की उत्पत्ति किस प्रकार होगी? और इस तरह अनुमान का अभाव होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण मे अप्रामाण्य का व्यवच्छेद करके पूर्णरूपेण प्रामाण्य प्रसिद्धि कैसे सभव होगी? अत नि सदेहरूप अनुमान की उत्पत्ति चाहने वाले को साध्य साधन के अविनाभाव सबध को ग्रहण करने वाले ज्ञानको अवश्यमेव स्वीकार करना होगा।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्य प्रामाण्यमनुमानवत् ।

प्रमाणविषयपरिशोधकत्वान्नोहः प्रमाणम्, इत्यपि वार्त्तम्, प्रमाणविषयस्याप्रमाणेन परिशोधनविरोधात् मिथ्याज्ञानवत्प्रमेयार्थवच्च । प्रयोगः—प्रमाण तर्क प्रमाणविषयपरिशोधकत्वा-दनुमानादिवत् । यस्तु न प्रमाण स न प्रमाणविषयपरिशोधकः यथा मिथ्याज्ञानं प्रमेयो वार्थः, प्रमाण-विषयपरिशोधकश्चायम्, तस्मात्प्रमाणम् ।

तथा, प्रमाण तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकत्वात्, यत्प्रमाणानामनुग्राहक तत्प्रमाणम् यथा प्रवचनानुग्राहक प्रत्यक्षमनुमान वा, प्रमाणानामनुग्राहकश्चायमिति । न चायमसिद्धो हेतु', प्रमाणानु-ग्रहो हि प्रथमप्रमाणप्रतिपन्नार्थस्य प्रमाणान्तरेण तथैवावसाय, प्रतिपत्तिदाढ्य विधानात् । स

तर्क ज्ञान समारोपका [सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय] व्यवच्छेदक होने से प्रमाणभूत है, जैसे अनुमान ज्ञान समारोपका व्यवच्छेदक होने से प्रमाणभूत है ।

प्रमाण के विपय का परिशोधक होने से तर्क प्रमाणभूत नही है ऐसा कहना भी व्यर्थ है, प्रमाण के विपय का परिशोधक ज्ञान कभी अप्रमाणभूत हो ही नही सकता वह तो प्रमाण रूप ही होगा, अप्रमाणभूत ज्ञानमे तो परिशोधकपने का अभाव ही है जैसे कि मिथ्याज्ञान मे परिशोधकता नही है अथवा प्रमेयार्थ मे परिशोधकता नही, अत' निश्चित होता है कि तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योकि प्रमाण के विपयका परिशोधक है जैसे अनुमान ज्ञान परिशोधक है, जो स्वय प्रमाणभूत नही होता वह प्रमाण के विपयका परिशोधक भी नही होता, जिस प्रकार मिथ्याज्ञान या प्रमेयभूत अर्थ परिशोधक नही है, यह तर्क ज्ञान प्रमाण के विषय का परिशोधक देखा जाता है अत प्रमाणभूत है ।

तर्क को प्रमाणभूत सिद्ध करने वाला अन्य अनुमान उपस्थित करते हैं—तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योकि वह प्रमाणोका अनुग्राहक है, जो ज्ञान प्रमाणोका अनुग्राहक होता है वह प्रमाणभूत होता है जैसे प्रवचनका [आगमका] अनुग्राहक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणभूत होता है, तर्क प्रमाणोका अनुग्राहक अवश्य है । इस अनुमानका अनुग्राहकत्व हेतु असिद्ध भी नही है क्योकि प्रथम प्रमाण द्वारा ज्ञात हुए पदार्थको अन्य प्रमाण द्वारा वैसा ही निश्चय करना प्रमाणोका अनुग्रह कहलाता है, यह अनुग्रह दृढ निश्चय के लिये हुआ करता है, ऐसा अनुग्राहकत्व तर्क ज्ञानमे अवश्य

चात्रास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणेनावगतस्य देशत साध्यसाधनसम्बन्धस्य दृढतरमनेनावगमात्। तत साध्य-साधनयोरविनाभावावबोधनिबन्धनमूहज्ञान परीक्षादक्षैः प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्।

न चोहः सम्बन्धज्ञानजन्मा यतोऽपरापरोहानुसरणादनवस्था स्यात्, प्रत्यक्षानुपलम्भजन्म-त्वात्तस्य। स्वयोग्यताविशेषवशाच्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्व प्रत्यक्षवत्। प्रत्यक्षे हि प्रतिनियतार्थ-परिच्छेदो योग्यतात एव न पुनस्तदुत्पत्त्यादे', ततस्तत्परिच्छेदकत्वस्य प्राक्प्रतिषिद्धत्वात्। योग्यता-विशेष पुन प्रत्यक्षस्येवास्य स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष प्रतिपत्तव्य।

ननु यथा तर्कस्य स्वविषये सम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा प्रवृत्तिस्तथानुमानस्याप्यस्तु सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशमस्य स्वार्थप्रकाशनहेतोरविशेषात्, तथा चानर्थक सम्बन्धग्रहणार्थं तर्कपरिकल्पनम्,

---

पाया जाता है, क्योकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा एक देश से ज्ञात हुए साध्य साधन सम्बन्धका दृढतर निश्चय तर्क द्वारा ही होता है। इसलिये साध्य साधनके अविनाभाव सम्बन्धको जाननेमे निमित्तभूत इस तर्क ज्ञानको परीक्षामे दक्ष पुरुषो द्वारा प्रमाणरूप स्वीकार करना ही चाहिये।

अनुमान के समान यह ज्ञान सम्बन्धज्ञान से उत्पन्न नही होता जिससे कि उसके लिये अन्य अन्य तर्क ज्ञानकी आवश्यकता होने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाय, तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुपलभ से उत्पन्न होता है। तथा यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानके समान अपनी योग्यता की विशेषता से प्रतिनियत पदार्थका व्यवस्थापक हुआ करता है, क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञानमे स्वयोग्यताके कारण ही प्रतिनियत अर्थका परिच्छेद (ज्ञान) होता है न कि तदुत्पत्ति तदाकार आदि के कारण। तदुत्पत्ति आदिक प्रति-नियत अर्थ के परिच्छेद मे कारण नही है ऐसा पहले ही निषिद्ध कर आये हैं। स्वविषय सबधी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम विशेष होना योग्यता विशेष का लक्षण है, यह योग्यता प्रत्यक्ष प्रमाणके समान तर्क प्रमाणमे भी होती है।

शका—जिस प्रकार तर्कज्ञान स्वविषयमे सबध ग्रहणकी अपेक्षा किये विना ही प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार अनुमान भी सबध ग्रहणकी अपेक्षा किये बिना स्वविषय मे प्रवृत्त होवे? क्योकि सभी ज्ञानोमे स्वार्थप्रकाशनका हेतु अपने अपने ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षयोपशम है, कोई विशेषता नही, अत सबध ग्रहण करने के लिये तर्क प्रमाणकी कल्पना करना व्यर्थ है?

तदप्यसमीचीनम्; यतोऽनुमानस्याभ्युपगम्यत एव स्वयोग्यताग्रहणनिरपेक्षमनुमेयार्थप्रकाशनम्, उत्पत्तिस्तु लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा नास्ति, अगृहीततत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुः क्वचित्कदाचित्तदुत्पत्त्यप्रतीतेः। न च प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्ति. करणार्थसबधग्रहणापेक्षा प्रतिपन्ना, स्वयमगृहीततत्सम्बन्धस्यापि प्रतिपत्तुस्तदुत्पत्तिप्रतीतेः। तद्वदूहस्यापि स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षस्योत्पत्तिप्रतिपत्तेर्नोत्पत्तौ संबधग्रहणापेक्षा युक्तिमतीत्यनवद्यम्।

समाधान—यह शका ठीक नही, अनुमान प्रमाण अपनी योग्यता ग्रहण की अपेक्षा किये बिना अनुमेय अर्थको प्रकाशित करता है ऐसा तो हम मानते ही हैं, किन्तु अनुमान की जो उत्पत्ति होती है वह हेतु और साध्यादिका सबध ग्रहण किये बिना नही होती, क्योकि जिस पुरुष ने साध्यसाधन संबध को ज्ञात नही किया उसको कही पर किसी काल मे भी अनुमान की उत्पत्ति होती हुई प्रतीत नही होती है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी इन्द्रिय और पदार्थके सबधको ग्रहण करने की अपेक्षा रखती है ऐसा भी नही कहना, क्योकि इन्द्रिय आदिके सबधको स्वय ग्रहण किये बिना भी प्रतिपत्ता पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, इसीप्रकार तर्क प्रमाण अपने उपलभ और अनुपलभ के सबंधको ग्रहण करने की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है अत इसकी उत्पत्ति मे सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा बतलाना अयुक्त है, इस प्रकार तर्क प्रमाण का कारण तथा स्वरूप निर्दोष रूप से सिद्ध होता है।

॥ तर्क प्रमाण समाप्त ॥

तर्क प्रमाण का सारांश

जिन प्रमाणो को सिर्फ जैन ही मानते है ऐसे प्रमाण तीन हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क, तर्क का ही दूसरा नाम "ऊह" है स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का कथन पहले हो चुका है, अब यहा पर तर्क प्रमाण पर विचार करते है—तर्क का लक्षण

उपलंभानुपलभ निमित्त व्याप्तिज्ञानमूह ॥

उपलभ का अर्थ प्रत्यक्ष न होकर निश्चय है और अनुपलभ का अर्थ प्रत्यक्ष न होकर अनिश्चय है ऐसा समझना चाहिए एक वार या पुन पुन. साध्य और साधन को देखकर जो ज्ञान पैदा होता है वह तर्क प्रमाण है, जहा जहां साधन है वहां वहा साध्य अवश्य है ऐसा अन्वय और जहा जहा साध्य नही है वहा वहा साधन भी नही होता, इस प्रकार के व्यतिरेक का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को तर्क कहते हैं, व्याप्ति इस प्रमाण का विषय है जो किसी भी प्रमाण के द्वारा ग्रहण नही होता है, बौद्ध प्रत्यक्ष के वाद विकल्प ज्ञान पैदा होता है वह व्याप्ति को विषय करता है ऐसा मानते है किन्तु वह गलत है, क्योकि प्रत्यक्ष के पीछे होने वाला विकल्प सिर्फ प्रत्यक्ष के विषय को ही ग्रहण करता है, उसकी सर्वोपसहारपने से व्याप्ति का ज्ञान कराने मे सामर्थ्य नही है योगी प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है ऐसा मानना भी सर्वथा असत्य है क्योकि वह निर्विकल्प है किसी की मान्यता है कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है किन्तु वह भी ठीक नही है क्योकि परमत मे मानस प्रत्यक्ष को भी सन्निकर्ष से पैदा होना माना है और मनको अणु वरावर छोटा माना है ऐसा मन सर्वत्र रहने वाली व्याप्ति को ग्रहण नही कर सकता। इसी प्रकार कोई मतवाले प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना मानते हैं वह भी अयुक्त है, प्रत्यक्ष वर्तमान की वस्तु को जानता है। वह सर्व देश और सर्वकाल मे होने वाली व्याप्ति को कैसे ग्रहण करेगा ? तर्क प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण का फल मानने वाले देवाना प्रिय भी मौजूद है। आचार्य ने परवादी से प्रश्न किया है कि आप सब लोग तर्क को प्रमाण क्यो नही मानते है ? क्या उसका विषय ग्रहीत ग्राही है या वह विसवाद पैदा करता है अथवा प्रमाण के विषयका परिशोधक है अत अप्रमाण है ? ग्रहीत ग्राही तो नही है अभी तक यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि इस तर्क प्रमाण के विषय को कोई भी प्रमाण ग्रहण करने की

सामर्थ्य नही रखता है तथा तर्क विसवादक तो बिलकुल नही है इससे विपरीत अनुमान आदि में सवादक अवश्य होता है। यदि तर्क प्रमाण अन्य प्रमाण के विषय का परिशोधक है तो उसमे और भी अच्छी तरह से प्रमाणता सिद्ध होती है इस तरह तर्क प्रमाण निर्विवाद रूप से पृथक् प्रमाणभूत सिद्ध होता है।

॥ समाप्त ॥

अथेदानीमनुमानलक्षण व्याख्यातुकाम' साधनादित्याद्याह—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।।१४।।

साध्याऽभावाऽसम्भवनियमनिश्चयलक्षणात् साधनादेव हि शक्याऽभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञान तदनुमानम्। प्रोक्तविशेषणयोरन्यतरस्याप्यपाये ज्ञानस्यानुमानत्वासम्भवात्।

अब यहा पर अनुमान प्रमाणके लक्षणका व्याख्यान करते हैं—

साधनात् साध्यविज्ञान मनुमानम् ।।१४।।

सूत्रार्थ—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं। जो साध्यके अभावमे नियमसे नही होता ऐसे निश्चित साधनसे शक्य अभिप्रेत एव असिद्ध लक्षण वाले साध्य का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं, शक्य अभिप्रेत और असिद्ध इन तीन विशेषणो मे से यदि एक भी न हो तो वह साध्य नही कहलाता तथा साध्यके अभाव मे नियमसे नही होना रूप विशेषणसे रहित साधन भी साधन नही कहलाता अत उक्त विशेषणो मे से एक के भी नही होने पर उक्त ज्ञानका अनुमानपना असभव है।

ननु चास्तु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। तत्तु साधनं निश्चितपक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम्। पक्षधर्मत्वं हि तस्यासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं लक्षरा निश्चीयते। सपक्ष एव सत्त्व तु विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमेव अनैकान्तिकत्वव्यवच्छित्तये। तदनिश्चये साधनस्यासिद्धत्वादिदोषत्रयपरिहारासम्भवात्। उक्तञ्च—

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वरिणतः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षत ॥" [प्रमाणवा० १।१६]

इत्याशङ्क्याह—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥१५॥

असाधारणो हि स्वभावो भावस्य लक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्। न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता, हेतौ तदाभासे च तत्सम्भवात्पञ्चरूपत्वादिवत्। असिद्धत्वादिदोषपरिहारश्चास्य

बौद्ध—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं यह अनुमान की व्याख्या तो सत्य है, किन्तु इसमे जो साधन (हेतु) होता है वह पक्ष धर्मत्व आदि तीन रूप सयुक्त होता है। पक्षधर्मत्व रूप हेतु का विशेषण उसके असिद्धत्व दोषका व्यवच्छेद करने के लिये प्रयुक्त किया है, सपक्ष मे ही सत्त्व होना रूप लक्षण विरुद्धपने का व्यवच्छेद के लिये है, और विपक्षमें असत्त्व होना रूप लक्षण अनैकान्तिक दोपके परिहार के लिये है। यदि इन पक्ष धर्मादि का हेतु मे रहना निश्चित न हो तो असिद्धादि तीन दोषोका परिहार होना असभव है। कहा भी है— हेतु के त्रैरूप्यका [पक्षधर्मत्व सपक्षत्त्व विपक्षव्यावृत्ति] निर्णय इसलिये करते हैं कि उससे असिद्ध विरुद्ध और अनैकातिक दोष नही आते।

इस बौद्ध के शंका का परिहार करते हुए हेतु के सही लक्षण का वर्णन करते हैं—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु ॥१५॥

सूत्रार्थ—साध्यके साथ अविनाभावरूप से रहना जिसका निश्चित है उसको हेतु कहते है।

वस्तुका जो असाधारण स्वभाव होता है वह उसका लक्षण होता है, क्योकि उस लक्षण मे किसी प्रकार का व्यभिचार नही आता, जैसे अग्निका उष्णता स्वभाव असाधारण होनेसे उसका वह लक्षण व्यभिचार दोष रहित है। बौद्ध का पूर्वोक्त

अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणत्वादेव प्रसिद्धः, स्वयमसिद्धस्यान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवाद् विरुद्धानैकान्तिकवत्।

किञ्च, त्रैरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्, विशिष्टं वा त्रैरूप्यम्? तत्राद्यविकल्पे धूमवत्त्वादिवद्वक्तृत्वादावप्यस्य सम्भवात्कथं तल्लक्षणत्वम्? न खलु 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्' इत्यत्र हेतो पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसद्भावे परैर्गमकत्वमिष्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वविरहात्। द्वितीयविकल्पे तु कुतो वैशिष्ट्यं त्रैरूप्यस्यान्यत्रान्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयात्, इति स एवास्य लक्षणमक्षूणं परीक्षादक्षै-

---

त्रैरूप्य लक्षण असाधारण स्वभावरूप नही है क्योकि वह हेतु और हेत्वाभास दोनो मे पाया जाता है जैसे कि यौग का पचरूपता लक्षण उभयत्र पाया जाता है। हेतु के असिद्धादि दोषो का परिहार तो अन्यथानुपपत्तिके नियम का निश्चितपने से रहनारूप लक्षण से ही हो जाता है, जो हेतु स्वय असिद्ध है उसमे अन्यथानुपपत्ति नियम का निश्चय [साध्य के बिना नियम से नही होने का निश्चय] असभव है, जैसे कि विरुद्ध एव अनैकातिक रूप हेतुओ मे अन्यथानुपपत्ति नियमका निश्चय होना असभव होता है।

किञ्च, केवल त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानना बौद्ध को इष्ट है अथवा विशिष्ट त्रैरूप्य को मानना इष्ट है? प्रथम विकल्प स्वीकार करे तो धूमत्व आदि हेतुओ के समान वक्तृत्वादि हेतु मे भी त्रैरूप्य सामान्य पाया जाना सभव है अतः वह किस प्रकार हेतु का लक्षण बन सकता है? बुद्धदेव असर्वज्ञ हैं, क्योकि वे बोलते है जैसे रथ्यापुरुष [पागल] बोलता है। इस अनुमान के वक्तृत्व [बोलना] हेतु मे पक्ष धर्मत्व आदि त्रैरूप्य का सद्भाव होते हुए इसको आपने साध्य का गमक नही माना है, इसका कारण यही है कि उक्त हेतु मे अन्यथानुपपत्ति का अभाव है। अभिप्राय यह हुआ कि त्रैरूप्य लक्षण के रहते हुए भी वह हेतु साध्यको सिद्ध नही कर पाता अत वह लक्षण असत् है। दूसरा विकल्प—विशिष्ट-त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण बनाते हैं तो वह विशिष्ट त्रैरूप्य अन्यथानुपपत्ति के नियम के निश्चय को छोडकर अन्य कुछ भी नही है, अर्थात् अन्यथानुपपत्व नियमको ही विशिष्ट त्रैरूप्य कहते है इसलिए परीक्षाचतुर पुरुषोको उसी परिपूर्ण लक्षणको स्वीकार करना चाहिए। अन्यथानुपपन्नत्व रूप हेतुका लक्षण मौजूद होवे तब पक्षधर्मत्व आदि लक्षण का अभाव होने पर भी हेतु साध्यका गमक [सिद्ध करने वाला] होता है, जैसे एक मुहूर्त्त बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो चुका है। इस अनुमान का कृतिका उदयत्व नामा

रुपलक्ष्यते । तद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेपि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादेर्गमकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्, सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादे शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीते ।

ननु नित्यादाकाशादेर्विपक्षादिव सपक्षादप्यनित्याद् घटादे सतो व्यावृत्तत्वेन श्रावणत्वादेरसाधारणत्वादनैकान्तिकता, तदसत्यम्, असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यऽसिद्धे । सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारण·, सशयितो वा ? निश्चितश्चेत्, कथमनैकान्तिक· ? पक्षे साध्याभावेनुपपद्यमानतया निश्चितत्वेन सशयहेतुत्वाभावात् ।

हेतु पक्ष धर्मत्व आदि त्रैरूप्य से रहित है तो भी अन्यथानुपपन्नत्व [मुहूर्त्त बाद रोहिणी· उदयका नही होना होगा तो अभी कृतिका उदय भी नही होता] रूप लक्षणके होनेसे यह हेतु स्वसाध्य का गमक है, ऐसा आगे कहने वाले है । जिस हेतुका सपक्षमे सत्त्व नही है ऐसे श्रावणत्व आदि हेतु शब्द के अनित्य धर्मरूप साध्यको सिद्ध करते हुए भी प्रतीति मे आ रहे हैं अत. सपक्ष सत्त्व आदि त्रैरूप्य को हेतुका लक्षण मानना असत् है ।

शका—श्रावणत्व आदि हेतुको साध्यका गमक मानना गलत है, क्योकि यह हेतु विपक्षभूत नित्य आकाशादि से जैसे व्यावृत होता है वैसे सपक्षभूत अनित्य घटादिसे भी व्यावृत्त होता है अत· असाधारण अनैकातिक दोष युक्त है ?

समाधान—यह कथन असमीचीन है, असाधारणत्व की अनैकातिकत्व के व्याप्ति सिद्ध नही है अर्थात् जो जो असाधारण हो वह वह अनैकातिक होता है ऐसा नियम नही है, बताइये कि सपक्ष और विपक्ष मे असत्वरूप से निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं या सशयित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते है ? निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहो तो वह अनैकातिक किस प्रकार हो सकता है ? जो हेतु पक्षमे साध्य के अभाव में नही रहना रूप निश्चित हो चुकता है वह सशयरूप हो ही नही सकता ।

कर्णज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेको श्रावणत्व कहते है, वह कर्णज्ञान अपने स्वरूप को शब्दसे प्राप्त करते हुए उस शब्दका ग्राहक होता है अन्यथा नही, क्योकि "नाकारण विषय" अकारण ज्ञानका विषय नही होता अर्थात् ज्ञान जिस कारण से उत्पन्न हुआ है उसीको जानता है ऐसी आप बौद्धकी मान्यता है ।

श्रावणत्व हि श्रवणज्ञानग्राह्यत्वम्, तज्ज्ञान च शब्दादात्मानं लभमान तस्य ग्राहकम् नान्यथा, "नाकारण विषय" [ ] इत्यभ्युपगमात् । शब्दश्च नित्यस्तज्जननैकस्वभावो यदि, तर्हि श्रवण-प्रणिधानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग । न ह्यविकले कारणे कार्यस्यानुत्पत्तिर्युक्ता अतत्कार्य-त्वप्रसङ्गात् । प्रयोगः—यस्मिन्नविकले सत्यपि यन्न भवति न तत्तत्कार्यम् यथा सत्यप्यविकले कुलाले अभवन्पटो न तत्कार्य , सत्यपि शब्दे पूर्वं पश्चाच्चाविकले न भवति च तज्ज्ञानमिति । ननु च श्रोत्र-प्रणिधानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानजननैकस्वभावोपि शब्दस्तन्न जनयत्यावृतत्वात्, तदप्यसङ्गतम्,

---

भावार्थ—शब्द अनित्य है क्योकि वह श्रवणेन्द्रियका विषय है अथवा श्रवण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है ऐसा एक अनुमान प्रमाण है इसमे शब्द पक्ष है, अनित्यत्व साध्य है एव श्रावणत्व हेतु है, अब यह देखना है कि बौद्धके हेतुका त्रैरूप्य [पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति] लक्षण इस श्रावणत्व हेतु में है या नही, शब्द अनित्य है वैसे घट आदि पदार्थ भी अनित्य हैं अतः यहा पर घटादि सपक्ष कहलाये, आकाशादि नित्य होने से इसके विपक्ष है, इन पक्ष सपक्ष और विपक्षोमेसे पक्ष मे रहने के कारण श्रावणत्व हेतुमे पक्षधर्मत्व तो है, किन्तु सपक्ष सत्त्व नही है, क्योकि सपक्षभूत घट आदिमे श्रावणपने का अभाव है [श्रवणेन्द्रिय का विषय या श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होना नही है] इस तरह श्रावणत्व हेतुमे त्रैरूप्य लक्षणका अभाव है तो भी यह साध्यका [अनित्यत्वका] गमक है । इस पर बौद्ध कहता है कि यह हेतु असाधारण अनैकातिक है क्योकि विपक्षभूत आकाशादिके समान सपक्षसे भी यह हेतु व्यावृत्त होता है, जब कि इसे केवल विपक्षसे ही व्यावृत्त होना चाहिए ? आचार्यने कहा कि साध्यके अभाव मे जो नियमसे नही होता ऐसा यह श्रावणत्व हेतु कथमपि अनैकातिक दोष युक्त नही हो सकता, क्योकि हेतुका अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण इसमे मौजूद है । इस श्रावणत्व हेतु का अर्थ श्रवणेन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य होना है अर्थात् कर्णसे उत्पन्न हुए ज्ञानका जो विषय है उसको श्रावणत्व कहते है, श्रवणज्ञान शब्दसे उत्पन्न होगा क्योकि बौद्धमतानुसार प्रत्येक ज्ञान जिस कारणसे उत्पन्न होता है उमीको जानता है अन्यको नही ऐसा माना है । इस श्रावणत्व हेतुके बारे मे आगे और भी कहते हैं ।

श्रवणज्ञान शब्दजन्य है तो वह शब्द नित्य ही उस ज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला यदि हो तो श्रवणेन्द्रियके प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विषयोन्मुख होनेके] पूर्व और पश्चात् मे भी उक्त श्रवणज्ञान का उत्पन्न होनेका प्रसग आता है, अविकल कारणके रहते हुए तो कार्यकी अनुत्पत्ति युक्त नही अन्यथा वह उसका कार्य ही नही

आवरणं हि द्रष्टृदृश्ययोरन्तराले वर्तमान वस्तु लोके प्रसिद्धम्, यथा काण्डपटादिकम् । श्रोत्रशब्दयोश्च व्यापकत्वे सर्वत्र सर्वदा तत्करणैकस्वभावयोरत्यन्तसश्लिष्टयो किं नामान्तराले वर्त्तेत ? वृत्तौ वा तयोर्व्यापकत्वव्याघात, तदवष्टब्धदेशपरिहारेणानयोर्वर्तनादिति 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम' (परीक्षामु० ३।१००) इत्यत्र विस्तरेण विचारयिष्याम । तन्नास्याऽऽवृतत्वात्तज्ज्ञानाजनकत्व किन्त्वसत्त्वादेव, इति श्रावणत्वादे सपक्षविपक्षाभ्या व्यावृत्तत्वेपि पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चित-

---

ठहरेगा, अर्थात् शब्द नित्य ही श्रवणज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला है तो उससे सदा वह ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कारण परिपूर्ण होवे और कार्य उत्पन्न न हो तो उसका वह कार्य ही नही है ? अनुमान प्रसिद्ध विषय है कि श्रवणज्ञान शब्दका कार्य नही है, क्योकि शब्दके रहते हुए भी पूर्व और पश्चात् मे उत्पन्न नही होता, जिस अविकल कारणके रहते हुए भी जो नही होता वह उसका कार्य नही है जैसे अविकल कारणभूत कुभकार के रहते हुए भी पट [वस्त्र] उत्पन्न नही होता अत उसका कार्य नही है । शब्दके रहते हुए भी पूर्वमे और पश्चात् मे उक्त ज्ञान नही होता अतः उसका वह कार्य नही है ।

शका—श्रोत्र प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विपयोन्मुख होनेके] पूर्वमे एव पश्चात् मे उस ज्ञानको उत्पन्न करने रूप स्वभाववाला शब्द अवश्य है किन्तु वह आवृत्त रहनेके कारण उक्त ज्ञानको उत्पन्न नही कर पाता ?

समाधान—यह कथन असगत है, दृष्टा और दृश्य [देखने वाला व्यक्ति और देखने योग्य पदार्थ] के अतराल मे विद्यमान वस्तुको आवरण कहते हैं जिसप्रकार काडपटादिक [वस्त्रादि] आवरण प्रसिद्ध है । किन्तु यौगमतानुसार शब्द और श्रवणेन्द्रिय सर्वत्र सर्वदा व्यापक है एव श्रवणज्ञानको उत्पन्न करने रूप स्वभाव वाले तथा अत्यत सश्लिष्टभूत हैं, अत इनके अतरालमे कौनसा आवरण विद्यमान होगा ? अर्थात् सर्वथा नही होगा । यदि शब्द और श्रोत्र मे अतराल एव आवरणका सद्भाव स्वीकार करेंगे तो वे दोनो—शब्द और श्रोत्रके व्यापक माननेका सिद्धान्त नष्ट होगा ? क्योकि शब्द और श्रोत्रके आवरणभूत वस्तुके देशको छोडकर रहनेसे अव्यापक सिद्ध होते है । इसका विशेष विवरण आगे "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम." इस प्रकरणमे करेंगे । अत शब्दआवृत होनेसे श्रवण ज्ञानको उत्पन्न करता ऐसा कथन असत् है, सत्य तो यह है कि असत्त्व होनेके कारण शब्द श्रवणज्ञानको सदा उत्पन्न नही कर पाता । इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रावणत्व हेतु सपक्ष और विपक्षसे

त्वाद्गमकत्वमेव। न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चित पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्य, सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। न खलु सत्त्वादिर्विपक्ष एवासत्त्वेन निश्चित, सपक्षेपि तदसत्त्वनिश्चयात्।

सपक्षस्याभावात्तत्र सत्त्वादेरसत्त्वनिश्चयान्निश्चयहेतुत्वम्, न पुन. श्रावणत्वादे सद्भावेपीति चेत्, ननु श्रावणत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा त व्याप्नुयादेवेति समानान्तर्व्याप्ति। सति विपक्षे धूमादिश्चासत्त्वेन निश्चितो निश्चयहेतुर्मा भूत्। विपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चित साध्याविना-

---

व्यावृत्त होने पर भी पक्षमे साध्यके साथ अविनाभाव रूपसे निश्चित रहता है अत स्वसाध्यका (अनित्यत्वका) गमक ही है। जो सपक्ष विपक्षमे असत्वरूपसे निश्चित है उस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित ही हो ऐसा नियम नही है? इसप्रकार बौद्ध कहे तो "सर्वं अनित्य सत्वात्" इत्यादि अनुमान मे सभी पदार्थोको अनित्य (क्षणिक) सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुए सत्त्वादि हेतुको हेत्वाभास हो जाने का प्रसग होगा। क्योकि सत्त्वादि हेतुका विपक्ष मे ही असत्व निश्चित नही है अपितु सपक्षमे भी असत्त्वका निश्चय है।

बौद्ध—"सर्वं क्षणिक सत्त्वात्" इस अनुमानमे जगत के यावन्मात्र पदार्थ पक्षमे समाविष्ट होनेके कारण सपक्षभूत कोई पदार्थ शेष नही रहता अत सपक्षके अभावमे सत्त्व हेतुका उसमे असत्वरूपसे रहना निश्चित ही है इसलिये यह निश्चय हेतु रूप है किन्तु श्रावणत्वादि हेतु ऐसे नही है उनमे सपक्षका सद्भाव है और फिर उसमे हेतुका असत्त्व निश्चय है?

जैन—यदि श्रावणत्वादि हेतुका सपक्ष है तो वह हेतु उसमे भी व्याप्त रह जायगा और पक्ष तथा सपक्षमे समान अतर्व्याप्ति हो जायगी। जो हेतु केवल पक्षमे व्याप्त हो उसको अतर्व्याप्ति वाला हेतु कहते हैं, यदि इसका सपक्ष सभावित हो तो उसमे व्याप्त रहना समाना अतर्व्याप्तिरूप हेतु कहलायेगा तथा विपक्षके रहते हुए धूमादि हेतु उसमे असत्त्वरूपसे निश्चित है तो भी उस हेतु को स्वसाध्यका निश्चायक नही मानो? क्योकि उसका विपक्ष मे असत्व है? यदि कहा जाय कि विपक्ष होवे चाहे मत होवे किन्तु हेतुका उसमे असत्त्व निश्चित है अत वह सही हेतु कहलायेगा क्योकि साध्यके साथ उसका अविनाभाव है? तो सपक्ष होवे चाहे मत होवे उसमे असत्त्व निश्चित होनेसे हेतु सही (सत्य) कहलाता है क्योकि उसका साध्यके साथ अविनाभाव है।

भावित्वाद्धेतुरेवेति चेत्, तर्हि सपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चितो हेतुरस्तु तत एव। नन्वेव सपक्षे तदेकदेशे वा सन्कथ हेतु ? 'सपक्षेऽसन्नेव हेतु' इत्यनवधारणात्। विपक्षेपि तदसत्त्वानवधारणमस्तु, इत्ययुक्तम्, साध्याविनाभावित्वव्याघातानुषङ्गात्।

यदि पुन सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन सशयितोऽसाधारण इत्युच्यते, तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया सशयितया वाऽनैकान्तिकत्व हेतोरित्यायातम्। न च श्रावणत्वादौ सास्तीति गमकत्वमेव। विरुद्धताप्येतेन प्रत्युक्ता। यो हि विपक्षैकदेशेपि न वर्त्तते, स कथ तत्रैव वर्त्तेत ? असिद्धता तु दूरोत्सारितैव, श्रावणत्वस्य शब्दे सत्त्वनिश्चयात्। तन्न पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्त्व वा हेतोर्लक्षणम्।

शका—सपक्ष या सपक्षके एक देशमे वर्त्तनेवाला हेतु किस प्रकार सही कहलायेगा ?

समाधान—यह आशका असत् है, सपक्षमे असत्वरूप हेतु ही सही है ऐसा अवधारण नही किया है अत सपक्ष या सपक्षके एक देशमे वर्त्तनेवाला हेतु सत् ही कहलाता है।

शका—इस तरह तो विपक्ष मे भी हेतुके असत्वका अवधारण नही होवे ?

समाधान—इस तरह अवधारण न हो तो साध्यके साथ अविनाभावपनेसे रहनारूप हेतुका लक्षण खडित होनेका प्रसग आता है। यहा बौद्धादिके साथ किये शका समाधान से यह तात्पर्य है कि ये परवादी हेतुका असाधारण अनैकातिक नामका दोष मानते हैं, "विपक्ष सपक्षाभ्या व्यावर्त्तमानो हेतुरसाधारणैकान्तिक." विपक्ष और सपक्ष से जो हेतु व्यावृत्त हो उसे असाधारण अनैकातिक कहते हैं, किन्तु यह दोप हेतुमे घटित नही होता क्योकि इसके रहते हुए भी यदि हेतु साध्याविनाभावी हो तो अवश्यमेव साध्यका गमक होता है। अस्तु।

यदि द्वितीय पक्षानुसार विचार किया जाय कि सपक्ष और विपक्षमे असत्त्वरूपसे वर्त्तनेका जिसका निश्चय न हो वह सशयित असाधारण हेतु कहलाता है तो इस कथनानुसार जो हेतु पक्षत्रय [पक्षसपक्ष और विपक्ष] मे निश्चितपनेसे वर्त्तता है अथवा सशयितपनेसे वर्त्तता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकारका अनैकान्तिक दोष तो पूर्वोक्त श्रावणत्वादि हेतुमे नही है, इसलिये वह साध्यका गमक अवश्य ही है। अनैकातिक के समान विरुद्ध दोष भी उस हेतुमे नही है, क्योकि जो हेतु विपक्षके एक देशमे भी नही रहता वह किस प्रकार पूर्ण विपक्षमे रह सकता है ?

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव। इति तदेव हेतोः प्रधान लक्षणमस्तु किमत्र लक्षणान्तरेण? न च सपक्षे सत्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्ग; अन्तर्व्याप्ति-लक्षणस्यतथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न खलु दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वैधर्म्यं वा हेतो प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्त., सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्व-प्रसङ्गात्।

अर्थात् नही रह सकता। श्रावणत्वादि हेतुमे असिद्धदोष तो दूरसे समाप्त होता है क्योकि शब्दमे श्रावण (सुनने योग्य अथवा श्रवणज्ञान द्वारा ग्राह्य) पनेका सत्त्व निश्चितरूपसे है। अतमे यह निष्कर्ष निकलता है कि पक्षधर्मत्व या सपक्षमे सत्त्व रहना यह कोई भी हेतुका लक्षण नही है।

विपक्षमे असत्व होना रूप लक्षण यही है कि साध्यके साथ अविनाभाव नियमसे हेतुका वर्त्तना। बस! यही हेतु का प्रधान लक्षण है, अन्य सपक्षसत्वादि लक्षणोसे कुछ भी प्रयोजन नही सधता।

शका—सपक्षसत्वरूप लक्षण न होवे तो हेतुमे अन्वयव्याप्तिका अभाव हो जायगा?

समाधान—ऐसा नही होगा, अंतर्व्याप्ति (पक्षमें साध्यसाधनकी व्याप्ति) लक्षणवाली तथोपपत्ति (साध्यके सद्भावमे साधनका होना) रूप अन्वयका सद्भाव होनेसे सपक्षसत्वके अभावमे भी हेतुका अन्वयत्व बन जाता है, जैसे कि अन्यथानुपपत्ति से व्यतिरेक बनता है। यह नियम नही है कि दृष्टांतधर्मीमे ही हेतुका साधर्म्य (अन्वय) या वैधर्म्य (व्यतिरेक) निश्चित हो। यदि ऐसा माने तो "सर्वं क्षणिक सत्त्वात्" इस अनुमान का सत्त्व हेतु सदोष (हेत्वाभास) होवेगा, क्योकि इसमे दृष्टातका अभाव होनेसे उक्त अन्वयपना सभव नही है। अतमे यह निश्चय होता है कि हेतुका लक्षण त्रैरूप्य न होकर साध्याविनाभावित्व ही है। क्योकि त्रैरूप्य के रहते हुए भी हेतु साध्य का गमक नही होता और त्रैरूप्य का सद्भाव हो चाहे अभाव साध्याविनाभावित्व गुण युक्त है तो वह हेतु साध्यका गमक होता है।

॥ समाप्त ॥

हेतु के त्रैरूप्य मान्यता के खंडन का सारांश

अनुमान का खास अग हेतु है उसके लक्षण मे विसवाद है, बौद्ध हेतु का लक्षण त्रैरूप्य करते है पक्ष धर्मत्व, सपक्ष सत्व, और विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन धर्मो को त्रैरूप्य कहते है। उनका कहना है कि असिद्ध नामा हेतु के दोष को हटाने के लिए पक्ष धर्मत्व गुण है विरुद्धता को हटाने के लिए सपक्ष सत्व है और अनेकान्तिक का निरसन करने के लिये विपक्ष व्यावृत्ति गुण है, इस पर आचार्य ने उदाहरण देकर समझाया है कि इन सबकी कोई नियामकता नही है, "उदेष्यति शकट कृतिकोदयात्" इस अनुमान के हेतु मे पक्ष धर्मत्व गुण नही है अर्थात् एक मुहूर्त के अनतर रोहिणी का उदय होगा यह साध्य है और उसका हेतु कृतिका नक्षत्र का उदय है, इन दोनो मे एक मुहूर्त का अन्तराल है अत यह हतु पक्ष धर्म युक्त नही है किन्तु वह अपने साध्य को (रोहिणी के उदय को) सिद्ध कर देता है अत पक्ष धर्मत्व गुण की आवश्यकता नही है, सपक्षत्व गुण भी ऐसा ही है क्योकि बहुत से हेतुओ के सपक्ष नही रहते हैं, आप बौद्ध के प्रसिद्ध अनुमान "सर्व क्षणिक सत्वात्" मे सत्व हेतु का कोई सपक्ष नही है क्योकि सभी पक्ष मे आ गये है। हा विपक्ष व्यावृत्ति गुण ठीक है किन्तु वह भी साध्याबिनाभावित्व नामक जैन हेतु के लक्षण मे पहले से ही विद्यमान है, जो साध्य का अविनाभावी होगा वह कथमपि विपक्ष मे नही जा सकता है, इस तरह बौद्धाभिमत हेतु का लक्षण सिद्ध नही होता है अत "साध्याबिनाभावित्वेन निश्चितो हेतु" यही लक्षण निर्दोष है, बुद्धिमान बौद्ध को नि पक्ष होकर इसे ही स्वीकार करना चाहिये।

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं ॥१॥

॥ समाप्त ॥

१२

हेतोः पाञ्चरूप्यखण्डनम्

ननु त्रैरूप्य हेतोर्लक्षण मा भूत् 'पक्वान्येतानि फलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवत्' इत्यादौ 'मूर्खोय देवदत्तस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यादौ च तदाभासेपि तत्सम्भवात्। पचरूपत्व तु तल्लक्षण युक्तमेवानवद्यत्वात्, एकशाखाप्रभवत्वस्याबाधितविषयत्वासम्भवाद् आत्मवाग्राहिप्रत्यक्षेणैव तद्विषयस्य बाधितत्वात्, तत्पुत्रत्वादेश्चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात् तत्प्रतिपक्षस्य शास्त्रव्याख्यानादिलिङ्गस्य सम्भवात्।

यौग—बौद्धाभिमत हेतुका त्रैरूप्य लक्षण असिद्ध है यह बात ठीक ही है, ये फल पक्व [पके] है क्योकि एक शाखासे उत्पन्न हुए है, जैसे उपभुक्त फल उसी एक शाखा प्रभव होनेसे पक्व थे, इत्यादि अनुमानमे प्रयुक्त "एक शाखा प्रभवत्व" हेतु सपक्ष सत्वादि त्रैरूप्यसे युक्त होते हुए भी हेत्वाभास है, तथा यह देवदत्त मूर्ख है, क्योकि उसका पुत्र है, जैसे उसके अन्य पुत्र मूर्ख हैं। इत्यादि तत्पुत्रत्व हेतु भी त्रैरूप्य लक्षणके होते हुए भी हेत्वाभास स्वरूप है, अत. हेतुका त्रैरूप्य लक्षण सदोष है।

भावार्थ—किसी व्यक्तिने वृक्षके एक शाखाके कुछ फलोको खाकर अनुमान किया कि इस शाखाके सभी फल पके है, क्योकि एक शाखा प्रभव है जैसे खाये हुए फल पके थे इत्यादि, इस एक शाखा प्रभवत्व नामा हेतुमे पक्ष धर्म आदि त्रैरूप्य मौजूद है–उक्त शाखाके फल पके होना सभावित है अत पक्षधर्मत्व, भुक्त फलोमे पक्वना होनेसे सपक्षसत्त्व एव अन्य शाखा प्रभव फलमे पक्वताका अभाव सभावित होनेसे विपक्ष व्यावृत्ति है तो भी यह हेतु साध्यका गमक नही हो सकता, क्योकि उस शाखाके फलोको साक्षात् उपयुक्त करने पर दिखायी देता है कि कुछ फल अपक्व भी

प्रकरणसमस्याप्यसत्प्रतिपक्षत्वाभावादहेतुत्वम् । तस्य हि लक्षणम् "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसम" । [न्यायसू० १।२ ७] इति । प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्षप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम् । तस्य चिन्ता सशयात्प्रभृत्याऽऽनिश्चयात्पर्यालोचना यतो भवति स एव, तन्निश्चयार्थं प्रयुक्त प्रकरणसम । पक्षद्वयेप्यस्य समानत्वादुभयत्राप्यन्वयादिसद्भावात् । तद्यथा–'अनित्य शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटादिवत्, यत्पुनर्नित्य तन्नानुपलभ्यमाननित्यधर्मकम् यथात्मादि' एवमेकेनान्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधकत्वेनोपन्यासे सति द्वितीय प्राह–यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्व प्रसाध्यते तर्हि

हैं । इसीप्रकार "यह देवदत्त मूर्ख है क्योकि उस व्यक्ति पुत्र है जैसे कि उसका अन्य पुत्र मूर्ख है," इस अनुमानका तत्पुत्रत्व हेतु भी त्रैरूप्य लक्षण रहते हुए भी सदोष है–साध्यका गमक नही है, क्योकि उस व्यक्तिका पुत्र होने मात्रसे देवदत्तकी मूर्खता सिद्ध नही होती ।

हम यौगाभिमत पाचरूप्य हेतुका लक्षण तो युक्त है क्योकि निर्दोष है, पूर्वोक्त एक शाखा प्रभवत्व हेतु इसलिये असत् हुआ कि उसमे अबाधित विपयत्व नामा लक्षण नही है, आत्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही एक शाखा प्रभवत्व हेतुका विषय [साध्य] बाधित होता है, तत्पुत्रत्वादि हेतु भी असत् प्रतिपक्षत्व नामा लक्षण के अभाव मे दोषी ठहरता है, अर्थात् देवदत्त मूर्ख है इत्यादि उक्त अनुमानके हेतुके प्रतिपक्षभूत शास्त्र-व्याख्यानादि हेतुका होना सभव है-यह देवदत्त विद्वान है क्योकि शास्त्रका व्याख्यान करता है इत्यादि अनुमान प्रयुक्त होनेके कारण तत्पुत्रत्व हेतु सदोष है । हेतुमे प्रकरणसम नामा दोष भी असत् प्रतिपक्षत्व लक्षणके न होनेसे आता है प्रकरण समका लक्षण—"यस्मात् प्रकरण चिता स प्रकरण सम" "प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्ष प्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्" जिससे प्रकरणकी चिंता हो उसे प्रकरण सम कहते है, साध्यपनेसे अनिश्चित किये जाते है पक्ष प्रतिपक्ष जहा उसे 'प्रकरण' कहते है । अर्थात् वादी द्वारा जो पक्ष निश्चित है वह प्रतिवादी द्वारा अनिश्चित है और जो प्रतिवादी द्वारा निश्चित है वह वादी द्वारा निश्चित नही, उसे प्रकरण कहते है । उस प्रकरणकी चिंता— सशयके अनतर समयसे लेकर निश्चय होने तक जिससे विचार चलता है वह हेतु ही है उसके निश्चयके लिए प्रयुक्त होना प्रकरण सम है । यह हेतु पक्ष प्रतिपक्षमे समान वर्त्तता है क्योकि उभयत्र अन्वय आदिका सद्भाव है, इसीको स्पष्ट करते हैं—शब्द अनित्य है, क्योकि इसमे नित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे घट आदिमे नित्य धर्म

नित्यतासिद्धिरप्यस्त्वन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथा हि–नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरात्मादिवत्, यत्पुनर्न नित्य तन्नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा घटादि;

इत्यप्यविचारितरमणीयम्, साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्याबाधितविषयत्वादेरसम्भवात् तदेव प्रधान हेतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपप्रकल्पनया ? न च प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यस्य हेतोर्विषये बाधा सम्भवति, अनयोर्विरोधात्। साध्यसद्भावे एव हि हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्त्रैरूप्यम्, तदभावे एव च तत्र तत्सम्भवो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोध।

अनुपलब्ध है, जो नित्य होता है उसमे नित्य धर्म अनुपलब्ध नही रहता (अर्थात् उपलब्ध ही होता है) जैसे आत्मादि पदार्थ। इस प्रकार एक किसी वादी द्वारा अन्यतर अनुपलब्धि—नित्य अनित्यमे से एक की अनुपलब्धि हेतुसे अनित्यत्व की सिद्धि मे साधन उपस्थित करने पर दूसरा प्रतिवादी कहता है—यदि इस प्रकारसे अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो नित्यत्वको सिद्धि भी होवे क्योकि उसमे भी अन्यतर अनुपलब्धि हेतुका सद्भाव है, यथा—शब्द नित्य है क्योकि उसमे अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे आत्मादिमे अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि देखी जाती है, जो नित्य नही है उसका अनित्य अनुपलब्ध नही रहता, जैसे घटादिका अनित्य धर्म अनुपलब्ध नही होता। इस प्रकार हेतुमे पाच रूप्य–पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्षत्व होना आवश्यक है अन्यथा उपर्युक्तरीत्या वह हेतु बाधित विषयत्व आदि दोपोका भागी हो जाता है।

जैन—यह कथन अविचारित रमणीय है, साध्यविनाभावित्वके बिना अन्य अबाधित विषयत्वादि हेतुके लक्षण असभव ही है अत वही हेतुका प्रधान लक्षण होना चाहिये पाचरूप्य लक्षणसे क्या प्रयोजन ? दूसरी बात यह है कि हेतुका त्रैरूप्य यदि प्रमाणसे सिद्ध है तो उसके विषयमे (साध्यमे) बाधा आना सभव नही क्योकि प्रमाण प्रसिद्ध और बाधापन ये दोनो परस्पर विरुद्ध है। साध्यके सद्भावमे ही हेतुका पक्षमे होना त्रैरूप्य कहलाता है, इस प्रकारके हेतुके रहते हुए उसके विषयमे बाधा किस प्रकार सभव है ? बाधा तो तब सभव है जब हेतु साध्यके अभावमे धर्मीमे होता। भाव और अभावका एकत्र रहना विरुद्ध है।

किंच, आध्यक्षागमयो कुतो हेतुविषयबाधकत्वम् ? स्वार्थ(र्था) व्यभिचारित्वाच्चेत्, हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समानमित्यसावप्यनयोर्विषये बाधक स्यात्। दृश्यते हि चन्द्रार्कादिस्थैर्यग्राह्यऽध्यक्ष देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवानुमानेन बाध्यमानम्। अर्थैकशाखाप्रभवत्वाद्यनुमानस्य भ्रान्तत्वाद्वाध्यत्वम्। कुतस्तद्भ्रान्तत्वम्–अध्यक्षबाध्यत्वात्, त्रैरूप्यवैकल्याद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय -भ्रान्तत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम्, ततश्च भ्रान्तत्वमिति। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्त, त्रैरूप्यसद्भावस्यात्र परेणाभ्युपगमात्। अनभ्युपगमे वाऽत एवास्याऽगमकत्वोपपत्ते किमध्यक्षबाधासाध्यम् ?

भावार्थ —बौद्धाभिमत हेतुके त्रैरूप्य लक्षणको जैन द्वारा बाधित किये जाने पर यौग कहता है कि त्रैरूप्य लक्षणका निरसन तो ठीक ही हुआ क्योकि उसमे अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो लक्षण समाविष्ट नही हुए ? आचार्य इस पांच रूप्य लक्षण का निरसन करते हुए कह रहे कि पाच रूप्य रहते हुए भी यदि साध्याविनाभावित्व नही है तो वह हेतु साध्यका गमक नही हो सकता, तथा त्रैरूप्य लक्षण यदि प्रमाणसे सिद्ध है अर्थात् उस त्रैरूप्यके साथ साध्याविनाभावित्व है तो वह हेतु साध्यका गमक क्यो नही होगा ? अवश्य होगा। जब हेतुका पक्षमे सद्भाव है तब उसमे पक्षधर्मत्व है ही, तथा हेतु केवल साध्य रहते हुए ही पक्षमे रहता है तो उसका अन्वय भी प्रसिद्ध है एव साध्य सद्भावमे ही पक्षमे रहनेके कारण उसका विपक्षमे असत्त्व स्वत. सिद्ध हो जाता है, इस प्रकारका प्रमाण प्रसिद्ध त्रैरूप्य अन्यथानुपपन्नरूप होनेके कारण अनिराकृत है। जिस हेतुका साध्य प्रमाणसे बाधित है उसे बाधित विपय कहते हैं जब हेतुका सारा स्वरूप प्रमाणसे सिद्ध हुआ तब उसमे किस प्रकार की बाधा ? एक ही अनुमानमे स्थित हेतुके बाधा सभव और बाधा अभाव [भाव और अभाव] मानना तो विरुद्ध है।

किंच, प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणमे जिस हेतुका विषय बाधित होता है वह बाधित विषयत्व दोष है इस दोषका निराकरण करनेके लिए हेतुके लक्षणमे अबाधित विषयत्वको समाविष्ट किया जाता है ऐसा आपका [यौगका] कहना है सो प्रत्यक्षादिमे हेतुका विपय किस कारणसे बाधित होता है ? स्वार्थ व्यभिचारिपना होने के कारण कहो तो हेतुमे भी त्रैरूप्यके रहने पर वह बात समान घटित होगी अर्थात् प्रत्यक्ष और आगमके विषयमे हेतु द्वारा बाधा उपस्थित की जायगी, देखा भी जाता है कि चन्द्र सूर्य आदिको स्थिर रूपसे ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण देशातर प्राप्तिरूप हेतु वाले अनुमान द्वारा बाधित होता है।

किंच, अबाधितविषयत्व निश्चितम्, अनिश्चित वा हेतोर्लक्षण स्यात् ? न तावदनिश्चितम्, अतिप्रसगात्। नापि निश्चितम्, तन्निश्चयासम्भवात्। स हि स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? स्वसबधी चेत्, तत्कालीन', सर्वकालीनो वा ? न तावत्तत्कालीन , तस्यासम्यगनुमानेपि सम्भवात्। नापि सर्वकालीन , तस्यासिद्धत्वात्, कालान्तरेप्यत्र बाधक न भविष्यति' इत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वात्।

सर्वसम्बन्धिनोपि तत्कालस्योत्तरकालस्य वा तन्निश्चयस्यासिद्धत्वम्, अर्वाग्दृशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभाव ' इति निश्चेतुमशक्तेस्तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात्। तन्निवन्धन

शका—एक शाखा प्रभवत्व आदि हेतु वाले अनुमान भ्रात हुआ करते है अत वे प्रत्यक्षादिसे बाध्यमान हैं ?

समाधान—उक्त अनुमान किस कारणसे भ्रात है प्रत्यक्ष द्वारा बाध्य होनेसे या त्रैरूप्य विकल होनेसे ? प्रथम पक्षमे अन्योन्याश्रय होगा–उक्त अनुमानका भ्रातपना सिद्ध होने पर प्रत्यक्षसे बाध्यत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर भ्रातत्व सिद्ध होगा। दूसरा पक्ष तो अयुक्त ही है क्योकि उक्त अनुमानके एक शाखाप्रभवत्व हेतुमे त्रैरूप्यका सद्भाव यौगने स्वय स्वीकार किया है अत इस हेतुमे त्रैरूप्य वैकल्प है ही नही। यदि इस हेतुमे त्रैरूप्यका सद्भाव स्वीकार नही करते तो उस त्रैरूप्यके अभाव के कारण ही एक शाखा प्रभवत्व हेतु अगमक [सदोष साध्यका असाधक] सिद्ध हुआ, उसमे फिरसे प्रत्यक्ष द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन है ?

हेतुका लक्षण अबाधित विषयत्वरूप होना चाहिए सो यह अबाधित विषयत्व निश्चित है या अनिश्चित ? अनिश्चित तो कहना नही अतिप्रसग होगा। निश्चित नही कह सकते क्योकि इस हेतुका विषय अबाधित है ऐसा निश्चय होना असभव है। यदि निश्चय होवे तो किसके होवे स्वसबधी या सर्वसबधी ? स्वसबधी कहो तो तत्कालीन [अनुमानकालीन] है अथवा सर्वकालीन है ? तत्कालीन स्वसबधी निश्चय है ऐसा कहना अयुक्त होगा क्योकि ऐसा निश्चय तो मिथ्या अनुमानमे भी सभव है। सर्वकालीन निश्चय तो सर्वथा असिद्ध है। क्योकि कालातरमे भी इस अनुमानके विषयमे बाधा नही होगी ऐसा निश्चय करना अल्पज्ञ के लिए अशक्य है।

अबाधित विषय सर्वसबधी निश्चित है ऐसा विकल्प माने तो वह तत्कालीन हो चाहे उत्तर कालीन हो दोनो निश्चय असिद्ध हैं, क्योकि असर्वज्ञ पुरुषो द्वारा सर्वत्र सर्वदा सभीको इस अनुमानके विषयमे बाधा नही है ऐसा निर्णय किया जाना असभव

ह्यनुपलम्भः, संवादो वा स्यात् ? न तावदनुपलम्भ, सर्वात्मसम्बन्धिनोऽस्याऽसिद्धानैकान्तिकत्वात्। नापि संवादः; प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः। अनुमानोत्तरकाल तत्सिद्धयभ्युपगमे परस्पराश्रय — अनुमानात्प्रवृत्तौ संवादनिश्चय, ततश्चाबाधितविषयत्वावगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति। न चाविनाभाव-निश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चय, हेतौ पंचरूपयोगिन्यऽविनाभावपरिसमाप्तिवादिनामबाधित-विषयत्वाऽनिश्चये अविनाभावनिश्चयस्यैवासम्भवात्। तन्नैकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधितविषयत्वाद्धेत्वा-भासत्वम्।

है, अत. सर्वसबधी निश्चयका निमित्त असभव है। सर्वसंबधी निश्चय का निमित्त यदि माना जाय तो वह कौनसा होगा अनुपलभरूप या सवादरूप? अनुपलभ होना अशक्य है क्योकि सर्वसबधी और स्वसबधी अनुपलभ क्रमश असिद्ध और अनैकातिक है अर्थात् सर्वको अनुपलभ है ऐसा कहना सभीका जानना असभव होनेसे असिद्ध है तथा स्वसबधी अनुपलभ तो अनैकान्तिक होता है—स्वको अनुपलंभ होने पर भी अन्य व्यक्तिको अनुपलभ नही होता।

भावार्थ—अमुक वस्तुका अनुपलभ [अभाव] है ऐसा किसी एक व्यक्तिको निश्चय हो जाने पर भी जगतके यावन्मात्र व्यक्ति को ऐसा निश्चय नही होता न उन व्यक्तियो का निश्चय अनिश्चय हमे ज्ञात ही है अत सर्व सबधी अनुपलभ द्वारा किसी का निश्चय करना या अमुक वस्तुका अभाव सिद्ध करना अशक्य है अतः केवल स्वको किसी वस्तु अनुपलभ होना सर्वथा मान्य नही हो सकता और सर्व व्यक्तियोका अनुपलभ निश्चय जानना तो असभव ही है।

सर्वसबधी निश्चयका निमित्त सवाद है ऐसा पक्ष भी ठीक नही, अनुमान प्रवृत्तिके पहले सवादकी असिद्धि है, अनुमान प्रवृत्तिके उत्तरकालमें संवादकी सिद्धि स्वीकार करे तो परस्वराश्रय दोष होगा – अनुमानसे प्रवृत्ति होने पर सवादका निश्चय होगा और उसके होने पर अबाधित विपयत्वका ज्ञान होकर अनुमान प्रवृत्ति होगी। यदि कहा जाय कि अविनाभावके निश्चयसे ही अबाधित विषयत्वका निश्चय हो जाता है तो यह भी ठीक नही, क्योंकि पचरूपयुक्त हेतुमे अविनाभावकी परिसमाप्ति मानने वाले आप यौगके यहा जब तक अबाधित विपयत्वका अनिश्चय है तब तक अविना-भावका निश्चय होना ही असभव है। इस प्रकार बाधित विषयत्व होनेके कारण एक शाखा प्रभत्वादि हेतु असत् है ऐसा कहना सिद्ध नही होता। उक्त हेतु तो साध्याविना-भावित्व के न होनेके कारण हेत्वाभासके कोटिमे आते हैं।

नापि तत्पुत्रत्वादे सत्प्रतिपक्षत्वात्। यत प्रतिपक्षस्तुल्यबल:, अतुल्यबलो वा सन् स्यात्? न तावदाद्य. पक्ष, द्वयोस्तुल्यबलत्वे 'एकस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वम्' इति विशेषानुपपत्ते। न च पक्षधर्मत्वाद्यभाव एकस्य विशेष, तस्यानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा अत एवैकस्य दुष्टत्वसिद्धेर्न किंचिदनुमानबाधया? द्वितीयपक्षेप्यतुल्यबलत्व तयो पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनित वा स्यात्? प्रथमपक्षोनभ्युपगमादेवायुक्त', पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यभ्युपगमात्। द्वितीयोप्यसम्भाव्य, तस्याद्यापि विवादपदापन्नत्वात्। न खलु द्वयोस्त्रैरूप्याविशेषतस्तुल्यत्वे सति 'एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वम्' इति व्यवस्थापयितु शक्यमविशेषेणैव तत्प्रसगात्। इतरेतराश्रयश्च-अतुल्यबलत्वे सत्यनुमानबाधा, तस्या चातुल्यबलत्वमिति।

तत्पुत्रत्वादि हेतु भी सत्प्रतिपक्षत्वके कारण हेत्वाभास नही बनते [किन्तु साध्याविनाभावके न होनेके कारण हेत्वाभास बनते है] जिस हेतुमे प्रतिपक्षी मौजूद हो उसे सत् प्रतिपक्षत्व नामा सदोष हेतु कहते है सो वह प्रतिपक्ष तुल्य बल वाला है या अतुल्य बल वाला है? प्रथम पक्ष ठीक नही यदि दोनो–पक्ष–प्रतिपक्षके हेतु तुल्य बल वाले होवे तो एकके बाधकपना और दूसरे के बाध्यपना इस प्रकार विशेष भेद बन नही सकता। एक हेतुमे पक्षधर्मत्वादिका अभाव होनेसे विशेष भेद हो जायगा ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योकि उसको आपने माना नही, अर्थात् पक्षधर्मत्वादिके कारण हेतुमे विशेष भेद हो ऐसा आप मानते नही। यदि मानते हैं तो इसी पक्षधर्मत्वादिके अभाव होनेके कारण ही दोनो मे से एकको सदोषता सिद्ध हो जाती है, उसके लिये अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे कुछ लाभ नही होता। दूसरे पक्षमे भी प्रश्न होता है कि उन दोनो हेतुओमे [तत्पुत्रत्व और शास्त्रव्याख्यानवत्व मे] अतुल्य बल किस कारणसे हुआ पक्षधर्मत्वादिका सद्भाव और अभाव होनेके कारण हुआ या अनुमानद्वारा बाधा होनेके कारण हुआ? प्रथम पक्ष स्वीकार नही होनेसे अयुक्त है, क्योकि आपने पूर्वोक्त तत्पुत्रत्व और शास्त्रव्याख्यानवत्व हेतुओमे पक्षधर्मत्वादि लक्षणो को स्वीकार किया है। द्वितीय पक्ष भी असभव है, क्योकि अनुमान द्वारा बाधित होना अभी तक विवादग्रस्त है, दोनो हेतुओमे त्रैरूप्य की अविशेषता होनेके कारण तुल्यपना होते हुए भी एक हेतुके बाध्यपना और दूसरेके बाधकपना है ऐसी व्यवस्था करना शक्य नही, उनमे तो समानरूपसे बाध्यपना या बाधकपना ही रहेगा। अन्योन्याश्रय दोष भी होगा—अतुल्य बलत्व होने पर अनुमान बाधा आयेगी और उसके होने पर अतुल्यबलत्व होगा।

यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणम्, तत्रानुपलभ्यमान-नित्यधर्मकत्व शब्दे तत्त्वतोऽप्रसिद्धम्, न वा ? प्रथमपक्षे पक्षवृत्तितयाऽस्याऽसिद्धे रसिद्धत्वम् । द्वितीय-पक्षे तु साध्यधर्मान्विते धर्मिणि तत्प्रसिद्धम्, तद्रहिते वा ? आद्यविकल्पे साध्यवत्येव धर्मिण्यस्य सद्भावसिद्धिः, कथमगमकत्वम् ? न हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिण्यऽभवन विहायापर हेतोरविना-भावित्वम् । तच्चेत्समस्ति, कथं न गमकत्वम् अविनाभावनिबन्धनत्वात्तस्य ? द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम्;

विशेषार्थ—यह देवदत्त मूर्ख है, क्योकि उस व्यक्तिका पुत्र है, इस अनुमानका तत्पुत्रत्व हेतु सत् प्रतिपक्ष दोष युक्त है क्योकि इस हेतुके साध्यके विरुद्ध पक्षको सिद्ध करनेवाला अन्य हेतु मौजूद है—यह देवदत्त विद्वान है, क्योकि शास्त्रका व्याख्यान करता है, यह शास्त्रव्याख्यानत्व हेतु उक्त मूर्खत्व साध्यका निरसन करता हैं, इस प्रकार के सत्प्रतिपक्षत्व हेतुके कारण तत्पुत्रत्व हेतु अगमक होता है ऐसा यौगका कहना है, आचार्यने कहा कि ऐसा प्रतिपक्षत्व किस कारणसे होता है ? दोनो हेतुओमे से एकमे अतुल्य बल होनेके कारण हुआ ऐसा कहना अशक्य है एकमे अतुल्यबल भी किस कारणसे हुआ यह प्रश्न खड़ा होता है एकमे पक्षधर्मत्वादि रहते है और दूसरेमें (तत्पुत्रत्वादिमे) नही रहते इस कारण एकमे अतुल्यबल है ऐसा कहना ठीक नही क्योकि यौगने दोनो हेतुओमे पक्षधर्मत्वादिको स्वीकार किया है । तुल्यबल होनेसे हेतु सत् प्रतिपक्षी होता है ऐसा कहना भी असत् है जब दोनोका समान बल है तब एक बाधक बने और दूसरा उसके द्वारा बाधित (खडित) हो जाय ऐसा असभव है । अत तत्पुत्र-त्वादि हेतु सत् प्रतिपक्षके कारण सदोष नही है अपितु अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण नही होनेके कारण सदोप है ।

सत् प्रतिपक्षत्व हेतुका दोष है उसके निमित्तसे प्रकरणसम नामका हेत्वाभास होता है, जैसे—शब्द अनित्य है क्योकि उसमे नित्य धर्मकी अनुपलब्धि है; ऐसा यौगने प्रकरणसम हेत्वाभास का उदाहरण दिया सो उसमे प्रश्न है कि शब्दमें अनुपलभ्यमान नित्य धर्मत्वरूप हेतु वास्तविकरूपसे असिद्ध है कि नही ? यदि है तो पक्षमें वर्त्तना असिद्ध होनेके कारण यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास कहलायेगा, न कि प्रकरणसम हेत्वा-भास । अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व शब्दमे अप्रसिद्ध नही है अर्थात् प्रसिद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष करे तो पुन शंका होती है कि उक्त धर्मत्व साध्यधर्मान्वित धर्मीमे प्रसिद्ध है या साध्यधर्म रहित धर्मीमें प्रसिद्ध है ? प्रथम कल्पनामे साध्ययुक्त धर्मीमें ही उक्त

साध्यधर्मरहिते धर्मिणि प्रवर्त्तमानस्य विपक्षवृत्तितया विरुद्धत्वोपपत्तेः । अथ सन्दिग्धसाध्यधर्मवति तत्तत्र प्रवर्त्तेत; तर्हि सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादस्याऽनैकान्तिकत्वम् ।

नन्वेवं सर्वो हेतुरनैकान्तिकः स्यात्, साध्यसिद्धेः प्राक्साध्यधर्मिणः साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सन्दिग्धत्वात्, ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्मवति धर्म्यन्तरे साध्याभावे च प्रवर्त्तमानो हेतुरनैकान्तिकः, साध्याभाववत्येव तु पक्षधर्मत्वे सति विरुद्ध, यस्तु विपक्षाद्व्यावृत्तः सपक्षे चानुगत पक्षधर्मो निश्चितः स्वसाध्य गमयत्येवेत्यभ्युपगन्तव्यम्, इत्यप्यसुन्दरम्, यतो यदि साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतो.

साधन धर्मका सद्भाव सिद्ध होनेसे उसे अगमक किस प्रकार माने ? क्योकि धर्मीमे साध्यधर्म के बिना नही होना यही हेतु अविनाभावित्व है इसको छोडकर अन्य किसीको अविनाभावीपना नही कहते, जब वह गुण-लक्षण हेतुमे है तब वह कैसे गमक नही होगा गमकत्वका निमित्त तो अविनाभाव ही है ? द्वितीय कल्पना साध्य रहित धर्मीमे अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतु रहता है ऐसा माने तो वह हेतु विरुद्ध कहलायेगा [न कि प्रकरण सम] जो हेतु साध्यधर्मरहित धर्मीमे रहता है उसका विपक्ष में वर्त्तने के कारण विरुद्धपना प्रसिद्ध ही है ।

यौग—साध्यधर्मका रहना जहा सदिग्ध है उस धर्मीमे उक्त हेतु प्रवृति करता है ?

जैन—तो इस हेतुका विपक्षमे रहना भी सदिग्ध होनेके कारण अनैकातिक दोष आयेगा (प्रकरण सम नही) ।

यौग—इस तरह मानने पर सभी हेतु अनैकान्तिक कहलायेगे, क्योकि साध्य सिद्धिके पहले साध्यधर्मीमे साध्यका धर्म सत् और असत् रूपसे रहना सदिग्ध ही रहता है, अत अनुमेयसे पृथक अन्य स्थान पर साध्य धर्म युक्त धर्मीमे (घटमे) प्रवृत्ति करने वाला हेतु एव साध्यके अभावमे प्रवृति करनेवाला हेतु ही अनैकातिक होता है ऐसा मानना चाहिए, तथा जहा साध्यका अभाव है केवल उसमे ही पक्षधर्म रूप रहता है वह हेतु विरुद्ध होता है, किन्तु जो हेतु विपक्षसे व्यावृत्त है सपक्षमे अनुगत एव पक्ष धर्मयुक्त है वह स्वसाध्य को अवश्य ही सिद्ध करता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ?

स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते; तर्हि साध्यधर्मिण्युपादीयमानो हेतुः कथं साध्य साधयेत्, तत्र साध्य-मन्तरेणाप्यस्य सद्भावाभ्युपगमात् ? तद्व्यतिरिक्ते एव धर्म्यन्तरे साध्येनास्य प्रतिबन्धग्रहणात्। न चान्यत्र साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरन्यत्र साध्यं गमयत्यतिप्रसङ्गात्। तत साध्यधर्मिण्येव हेतोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तव्या।

ननु यदि साध्यधर्मान्वितत्वेन साध्यधर्मिण्यसौ पूर्वमेव प्रतिपन्न, तर्हि साध्यधर्मस्यापि पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वाद्धेतो पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्, तदप्यसङ्गतम्; यत प्रतिबन्धसाधकप्रमाणेन सर्वोप-सहारेण 'साधनधर्म साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवति' इति सामान्येन प्रतिबन्ध प्रतिपन्न।। पक्षधर्मताग्रहणकाले तु 'यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुस्तत्रैव साध्य साधयति' इति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न खलु विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गत-

---

जैन—यह कथन असुन्दर है, साध्यधर्मी से पृथक् किसी अन्य धर्मीमे हेतुका स्वसाध्यके साथ अविनाभाव स्वीकृत किया जाय तो साध्यधर्मीमे प्रदत्त हेतु किस प्रकार साध्यको सिद्ध कर सकेगा ? क्योकि साध्यके बिना भी वहा हेतुका रहना मान लिया, इस हेतुका साध्यके साथ अविभाव ग्रहण तो विवक्षित साध्यधर्मीके व्यतिरिक्त अन्य धर्मीमे ही हुआ है। साध्याविनाभावपने से निश्चय तो अन्यत्र हो और वह हेतु अन्यत्र साध्यको सिद्ध करे ऐसा नही होता, अन्यथा अतिप्रसग होगा। अत .साध्यधर्मीमे ही हेतुका अविनाभाव जानना आवश्यक है।

यौग—साध्य धर्मीमे हेतुका साध्यधर्मसे अन्वितपना पहले ही ज्ञात है तो साध्यधर्म भी पहलेसे ज्ञात ही रहेगा, फिर हेतुके पक्षधर्मत्वको ग्रहण करना व्यर्थ ही ठहरता है ?

जैन—यह कथन असगत है, अविनाभाव सबध को सिद्ध करनेवाले तर्क प्रमाण द्वारा सर्वोपसहार से "साधनधर्म साध्यके अभावमे कही भी नही होता" इस प्रकार सामान्यत अविनाभाव ज्ञात रहता है, जब पक्षधर्म ग्रहणका समय आता है तब जहापर ही धर्मीमे हेतु उपलब्ध होता है वहीपर साध्यको सिद्ध करता है इसलिये पक्ष धर्मताका ग्रहण विशेष विषयकी प्रतिपत्तिका निमित्त है और इसीकारणसे अनुमानकी व्यर्थता नही होती या पक्षधर्मता ग्रहण व्यर्थ नही ठहरता है। विशिष्ट धर्मीमे उपलभ्य-मान हेतु उसमे होनेवाले साध्यके विना ही हो जाता है ऐसी बात तो नही है अन्यथा

साध्यमन्तरेणोपपत्तिमान्, तस्य तेन व्याप्तत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकहेत्वन्तरस्य सद्भाव, अन्यथा द्वयोरप्यनयो स्वसाध्याविनाभावित्वात्, नित्यत्वानित्यत्वयोश्चैकत्रैकदैकान्तवादिमते विरोधतोऽसभवात्, तद्वयवस्थापकहेत्वोरप्यसभवः। सम्भवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभूतत्वान्नित्यत्वानित्यत्वधर्मसिद्धिर्धर्मिणि स्यादिति कुत प्रकरणसमस्यागमकता एकातत्वसिद्धिर्वा ? अथान्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभाववैकल्यम्; तथाप्यत एवास्याऽगमकतेति किं तत्प्रतिपादनप्रयासेन ?

किञ्च, नित्यधर्मानुपलब्धि प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतु स्यात् ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्त, तुच्छाभावस्य साध्यासाधकत्वान्निषिद्धत्वाच्च। द्वितीयपक्षे तु अनित्यधर्मोप-

---

उसका साध्यके साथ अविनाभाव संबध नही रहने का प्रसग आता है। इसीलिये ज्ञात है साध्याविनाभावित्व जिसका ऐसे एक हेतुके सद्भावयुक्त धर्मीमें विपरीत साध्यका उपस्थापक अन्य हेतु आ नही सकता अन्यथा दोनो हेतु स्व–स्वसाध्यके अविनाभावी होगे और अविनाभावी होनेके कारण अपना अपना साध्य-नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म को एक जगह एक ही कालमे सिद्ध कर बैठेंगे किन्तु वह एकातमतमे विरुद्ध होनेसे असभव है अत उक्त नित्यत्वादिके व्यवस्थापक हेतुओंका भी अभाव हो जाता है, यदि उनका सद्भाव है तो अपने अपने साध्यके अविनाभावी होनेसे धर्मीमें नित्य और अनित्य धर्मकी सिद्धि करेगे ही फिर 'प्रकरणसम हेतु अगमक होता है' ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? और सर्वथा एकात मतकी (शब्द अनित्य ही है इत्यादिकी) सिद्धि भी किसप्रकार होगी ? अर्थात् नही हो सकती।

यौग—दोनो हेतुओमे से एकको (अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतुको) स्वसाध्य का अविनाभावी नही मानते ?

जैन—तो फिर अविनाभावित्वके नही होनेके कारण ही उक्त हेतु अगमक ठहरा, प्रकरण सम आदिके प्रतिपादनका प्रयास तो व्यर्थ ही है।

किंच, "नित्य धर्मकी अनुपलब्धि" इस वाक्यमे अनुपलब्धि का अर्थ उपलब्धि का अभाव है सो वह प्रसज्यप्रतिषेध स्वरूप है अथवा पर्युदास स्वरूप है दोनोमे से किसको शब्दके अनित्यत्वको सिद्ध करनेमे हेतु बनाया है ? प्रसज्यप्रतिषेधरूप अनुप-

लब्धिरेव हेतु, सा च शब्दे यदि सिद्धा कथ नानित्यतासिद्धिः ? अथ तच्चिन्तासम्बन्धिपुरुषेणासौ प्रयुज्यत इति तत्रासिद्धा; तर्हि कथ न सन्दिग्धो हेतुर्वादिन प्रति ? प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव, नित्यधर्मोपलब्धेस्तत्रास्य सिद्धेः। तन्न पचरूपत्वमप्यस्य लक्षण घटते अबाधितविषयत्वादेर्विचार्यमाणस्यायोगात्पक्षधर्मत्वादिवत्।

यदि चैकस्य हेतो पक्षधर्मत्वाद्यनेकधर्मात्मकत्वमिष्यते, तदाऽनेकान्त समाश्रितः स्यात्। न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्षे एव सत्त्वम् तदेव विपक्षात्सर्वतोऽसत्त्वमित्यभिधातव्यम्, अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयो सर्वथा तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान्।

लब्धि को हेतु बनानेका प्रथम पक्ष अयुक्त है, तुच्छाभावरूप प्रसज्यप्रतिषेध वाली अनुपलब्धि साध्यकी सिद्धि नही कर सकती तथा इस अभावका निरसन भी हो चुका है। द्वितीय पक्ष—नित्यधर्मकी अनुपलब्धिरूप अभाव पर्युदास स्वरूप है ऐसा कहे तो उसका सीधा अर्थ अनित्यधर्मकी उपलब्धि होना है उसको यदि हेतु बनाया है तो वह शब्दमे सिद्ध ही है फिर उससे अनित्य साध्यकी सिद्धि क्यो नही होगी ?

यौग—प्रकरण समकी चिंता करनेवाले पुरुषद्वारा उक्त हेतु प्रयुक्त होता है अत उसमे असिद्धि है ?

जैन—तो फिर उक्त हेतु वादीके प्रति किसप्रकार सदिग्ध नही होगा ? अवश्य होगा। प्रतिवादीके तो यह हेतु स्वरूपसे ही असिद्ध है, क्योकि प्रतिवादी मीमासक को शब्दमे नित्यधर्मकी उपलब्धि होती है। इसप्रकार हेतुका पचरूपत्व लक्षण घटित नही होता है, इसके अबाधित विषयत्व आदि रूपत्वका विचार करने पर अभाव ही प्रतीत होता है जैसे कि बौद्धाभिमत पक्षधर्मत्वादिका अभाव है।

तथा आप परवादी एक ही हेतुमे पक्षधर्मत्व आदि अनेक स्वभाव मानते है तो अनेकातमतका आश्रय लेना सिद्ध होता है। ऐसा तो कह नही सकते कि जो पक्षधर्मका सपक्षमे सत्त्व है वही सब विपक्षसे असत्त्व है ? क्योकि सपक्षसत्व भावरूप अन्वय है और विपक्ष असत्त्व अभावरूप व्यतिरेक है इनका सर्वथा तादात्म्य नही होता, यदि तादात्म्य माने तो सभी हेतु केवलान्वयी बन जायेंगे अथवा केवल व्यतिरेकी बन जायेंगे, कोई भी हेतु त्रिरूपवान् अवशेष नही रहेगा (तीसरा हेतु केवलान्वयव्यतिरेकीउभयरूप)।

व्यतिरेकस्य चाभावरूपत्वाद्धेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतु स्यात्। न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात्स्वसाध्येन धर्मिणा सम्बन्ध। यदि च सपक्ष एव सत्त्व विपक्षासत्त्वम् न ततो भिन्नम्, तर्हि तदेवास्यासाधारण कथ स्यात् ? वस्तुभूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्यास्याप्यत्रासम्भवात्। अथ ततस्तदन्यधर्मान्तरम्, तर्ह्येकस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य अनेकान्तात्मकार्थप्रसाधकत्वात् कथ न परोपन्यस्तहेतूना विरुद्धता ? एकातविरुद्धेनानेकातेन व्याप्तत्वात्।

किंच, परै सामान्यरूपो हेतुरुपादीयते, विशेषरूपो वा, उभयम्, अनुभय वा ? सामान्यरूपश्चेत्, तत्किं व्यक्तिभ्यो भिन्नम्, अभिन्न वा ? भिन्न चेत्, न, व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य सामान्यस्याऽप्रतिभासमानतयाऽसिद्धत्वात्। तथाभूतस्यास्य सामान्यविचारे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। अथाभिन्नम्;

तथा केवल व्यतिरेक स्वरूप हेतु रहे तो व्यतिरेक अभावस्वरूप होनेसे हेतु भी अभावरूप मानना होगा, किन्तु आपका अभाव तुच्छाभावरूप होनेसे उसका स्वसाध्य से धर्मीके साथ सबंध नही हो सकता है। तथा सपक्षका सत्त्व ही विपक्ष असत्त्व है उससे भिन्न नही है तो वही धर्म इसका असाधारण कैसे होवेगा ? क्योकि विपक्षका असत्त्व वास्तविक भिन्न अभावरूप हुए विना प्रतिनियत सपक्ष सत्त्वका हेतुमे होना भी असभव है। यदि सपक्ष सत्त्वसे विपक्षका असत्त्व भिन्न है ऐसा कहो तो एक ही हेतु अनेक धर्मात्मक है यह सिद्ध हो जाता है इस तरह का हेतु ही साध्यके साथ अविनाभाव रूपसे निश्चित होता है, इसीसे सपूर्ण पदार्थोमे अनेक धर्मात्मकता सिद्ध हो जानेसे परवादी द्वारा उपन्यस्त हेतु किस प्रकार विरुद्ध नही होगे अर्थात् अवश्य होगे, क्योकि ये हेतु एकात पक्षके विरोधी अनेकात के साथ व्याप्त हो रहे हैं।

आप यौगादि परवादीने सामान्यरूप हेतुको ग्रहण किया है या विशेषरूप, उभयरूप अथवा अनुभयरूप ग्रहण किया है, सामान्यरूप है तो वह व्यक्तियोसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न कहना शक्य नही, जो व्यक्तियो से भिन्न है ऐसा सामान्य प्रतिभासित नही होनेसे असिद्ध है, तथा इस प्रकारके सामान्यका हम जैन आगे सामान्य विचार नामा प्रकरणमे निराकरण करनेवाले है। सामान्य व्यक्तियोसे अभिन्न है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो कथचित् अभिन्न है या सर्वथा अभिन्न है ? सर्वथा कहना असत् है, क्योकि व्यक्ति से [विशेष या भिन्न भिन्न अनेक वस्तुओको व्यक्तिया कहते हैं जैसे पुस्तके है, एक एक पुस्तक एक एक व्यक्ति कहलाती है सपूर्ण पुस्तकोमे जो पुस्तकपना है उसे सामान्य कहते है। परवादी पुस्तक व्यक्तियोसे पुस्तकत्व सामान्यको सर्वथा पृथक्

कथञ्चित्, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्, न, सर्वथा व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्यास्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमत सामान्यरूपतानुपपत्ते । कथञ्चित्पक्षस्त्वनभ्युपगमादेवायुक्त । नापि व्यक्तिरूपो हेतु, तस्यासाधारणत्वेन गमकत्वायोगात् । नाप्युभयं परस्परानुविद्धम्, उभयदोषप्रसङ्गात् । नाप्यनुभयम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । तत पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं बिभ्रदेकमेवार्थस्वरूप प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धन हेतुत्वेनोपादीयमान तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम् ।

किंच, एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतो किं सामान्यं साध्यम्, विशेषो वा, उभय वा, अनुभयं वा ? न तावत्सामान्यम्, केवलस्यास्यासम्भवादर्थक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायितया

एव एक मानते हैं, ऐसे ही मनुष्य घट पट आदि यावन्मात्र पदार्थोमे घटित करना] अभिन्न सामान्य व्यक्तिके स्वरूप समान अन्य व्यक्तिमे गमन नही कर सकनेसे उस सामान्यकी सामान्यरूपता समाप्त हो जाती है । कथचित् अभिन्न कहनेका पक्ष तो अस्वीकृत होनेके कारण अयुक्त है । हेतु व्यक्तिरूप अर्थात् विशेषरूप होता है ऐसा पक्ष भी ठीक नही, क्योकि व्यक्तिरूप हेतु असाधारण होनेके कारण साध्यका गमक नही हो सकता । उभयरूप हेतुको मानना भी गलत है, क्योकि आपके यहा सामान्य और विशेष परस्परमे असबद्ध है अत: उभयदोष–दोनो–सामान्य विशेष पक्षके दोषोका प्रसग आता है । हेतुको अनुभयरूप स्वीकार करनेका चौथा विकल्प भी नही बनता जो एक दूसरे का व्यवच्छेद करके रहनेवाले धर्म है उनका एकका अभावमे दूसरेका विधान अवश्य होता जाता है, अत· अनुभय [सामान्य भी नही और विशेष भी नही] रूप धर्मका असत्त्व हो है इसलिये उसमे हेतुपना नही हो सकता । अत ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि जो अन्य पदार्थोसे अनुवृत्त तथा व्यावृत्तस्वरूप अपनेको धार रहा है तथा ज्ञातापुरुषके भेद और अभेद ज्ञानोत्पत्तिका निमित्त है उसको हेतु बनाने पर हो तथाभूत साध्यकी सिद्धि हो सकतो है, अर्थात् जिस हेतुमें अनुवृत्त व्यावृत्त स्वरूप सामान्य विशेष रूप अनेकात्मक हो वही स्वसाध्यकी सिद्धि करता है ।

किंच, एकातपक्षवाले परवादी द्वारा उपस्थित किये गये हेतुका साध्य भी किस प्रकार का होगा, सामान्य या विशेप, उभय या अनुभय ? केवल सामान्यरूप साध्यका होना अशक्य है क्योकि न इसप्रकारकी वस्तु है और न ऐसेमे अर्थक्रियाकारीपना संभव है । विशेषरूप वस्तुको साध्य बनाना भी ठीक नही, क्योकि वह अन्यत्र

हेत्वऽव्यापकस्य साधयितुमशक्तेः। नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम्, तस्यासतो हेत्व-व्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात्।

अनुयायी नही होनेसे हेतुमे अव्यापक है अतः उसको सिद्ध करना अशक्य है। उभय– सामान्य और विशेषको साध्य बनावे तो उभय पक्षके दोष आयेंगे। अनुभय तो असत् रूप ही है वह हेतुमे किसीप्रकार भी व्याप्त नही हो सकता, अतः उसमें साध्यपनेका अयोग ही है। इसप्रकार हेतुके लक्षणमे विचार करनेपर निश्चय हो जाता है कि जो साध्यका अविनाभावी हो वही वास्तविक हेतु है अत साध्याविनाभावित्व ही हेतुका लक्षण है, यौगाभिमत पाचरूप्य लक्षण असमीचीन है।

॥ समाप्त ॥

हेतु के पंचरूपता के खण्डन का सारांश

नैयायिक वैशेषिक हेतु के पाच अग बतलाते हैं पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व, इन पाच को न मानने से पाच दोष आते हैं पक्षधर्मत्व के अभावमे असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्व के अभाव में विरुद्ध, विपक्ष व्यावृत्ति के अभाव मे अनेकान्तिक, अबाधित विषयत्व के अभाव मे कालात्ययापदिष्ट और असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव मे प्रकरणसमनामक दोष आता है, किन्तु यह मान्यता ठीक नही है, क्योकि हेतु मे साध्याविनाभावित्व गुण एक ही ऐसा है कि उसके सद्भाव होने पर असिद्ध आदि दोष नही आते है। आपने कहा कि यदि हेतु मे पक्ष धर्मत्वगुण न होवे तो असिद्ध दोष आता है यह कथन असत् है, पूर्वचरादि हेतु मे पक्ष धर्मत्व नही है तो भी साध्य को सिद्ध करता है। ऐसे ही सपक्ष सत्व के नही होते हुए भी हेतु साध्य का गमक होता है। विपक्ष व्यावृत्ति नाम का गुण तो हेतु मे होना आवश्यक है किन्तु जब उसमे साध्याविनाभावित्व है तो नियम से विपक्ष से व्यावृत्त गुण युक्त होता है अत. इसका पृथक् रूप से प्रतिपादन करने की आवश्यकता नही रहती। अबाधित विषयत्व और असत् प्रतिपक्षत्व गुण भी हेतु की महत्ता बढाने वाले नही है, क्योकि ये गुण रहते हुए भी अविनाभावत्व के बिना वह हेतु साध्य को सिद्ध नही कर सकता। हेतु का जो अबाधित विषयत्व गुण माना है वह निश्चित है कि नही ? निश्चित होना अशक्य है क्योकि इसमे किसी काल मे किसी स्थान पर भी बाधा नही आवेगी ऐसा अल्पज्ञ को ज्ञान होना अशक्य है। असत्प्रतिपक्षत्व की कल्पना करना भी व्यर्थ है, अतिम यही निष्कर्ष होना है कि हेतु का लक्षण "साध्याबिना-भावित्व" ही है उसीसे साध्य की सिद्धि होती है।

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र कि तत्र पञ्चभि ।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभि ॥

॥ समाप्त ॥

१३

पूर्ववदाद्यनुमानत्रैविध्यनिरासः

यच्चान्यदुक्तम्—"प्रत्यक्षपूर्वक त्रिविधमनुमान पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्ट च।" [न्याय सू० १।१।५] इति। तत्र पूर्ववच्छेषवत्केवलान्वयि, यथा सदसद्वर्ग कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात् पचागुलवत्। पचागुलव्यतिरिक्तस्य सदसद्वर्गस्य पक्षीकरणादन्यस्याभावाद्विपक्षाभाव, अत एव व्यतिरेकाभाव। पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् केवलव्यतिरेकि, यथा सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्त्वा-

---

अनुमान प्रमाणके विषयमे यौगका कहना है कि "प्रत्यक्ष पूर्वक त्रिविध मनुमान पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्ट च" अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है उसके तीन भेद है—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। वृत्तिकार इनके नामो का विभाजन इस प्रकार करते है—पूर्ववत् शेपवत् केवलान्वयी, पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी। इनका क्रमश विवरण करते है—अनुमानमे सबसे पहले जिसका प्रयोग होता है उसे पूर्व अर्थात् पक्ष कहते हैं, जिसका अतमे प्रयोग हो वह शेषवत् अर्थात् दृष्टात है, साधनसामान्य की साध्य सामान्य के साथ व्याप्ति होना "सामान्यतो दृष्ट" कहा जाता है। पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी अनुमानका उदाहरण—सद्वर्ग—सत्ताभूत द्रव्य गुणादि, असत् वर्ग—अभाव रूप प्राग भावादि ये सभी किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलबनरूप है क्योकि अनेक हैं, जैसे पाच अगुलिया अनेक होनेसे एक पुरुषके ज्ञानका आलबनभूत हैं। इस अनुमान मे प्रथम प्रयुक्तपक्ष शेषमे प्रयुक्त दृष्टात एव केवल अन्वयव्याप्ति पायी जाती है। अत इसे पूर्ववत्शेपवत् केवलान्वयी कहते हैं। इस अनुमान मे पाच अगुलियो के अतिरिक्त सभी सत् असत् भूत पदार्थोंका पक्षमे सग्रह हो जानेसे विपक्षभूत पदार्थ शेष नही रहता इसीलिये व्यतिरेकका अभाव है इसी वजह से केवलान्वयी अनुमान कहलाता है।

दिति । पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्टमन्वयव्यतिरेकि, यथा विवादास्पद तनुकरणभुवनादि बुद्धिमत्कारणं कार्यत्वादिभ्यो घटादिवत् । यत्पुनर्बुद्धिमत्कारण न भवति न तत्कार्यत्वादिधर्माधारो यथात्मादि ' इति ।

तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्, सर्वत्रान्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणतोपपत्ते., तस्मिन्सत्येव हेतोर्गमकत्वप्रतीतेः ।

पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी अनुमान—जीवित शरीर आत्मा सहित है, क्योकि श्वास आदि प्राण पाये जाते है । इसमें केवल व्यतिरेक ही पाया जाता है अत. केवलव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है । पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी अनुमान—विवाद ग्रस्त, शरीर, पृथ्वी, पर्वतादि पदार्थ बुद्धिमान कारणयुक्त होते है क्योकि कार्यत्वादि स्वरूप है, जैसे घट आदि पदार्थ कार्यत्वादि धर्मयुक्त होने से बुद्धिमान कारण युक्त होते है जो बुद्धिमान कारण पूर्वक नही होते वे कार्यत्वादि धर्म युक्त भी नही होते, जैसे आत्मादि पदार्थ कार्यत्वादिसे शून्य होने के कारण बुद्धिमान कारण पूर्वक नही है । इसमे अन्वय और व्यतिरेक दोनो पाये जाते है अत केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है ।

विशेषार्थ—न्याय दर्शनमे अनुमानके तीन भेद माने है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयव्यतिरेकी, इनका विस्तृत नाम विभाजन—पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी, पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी, और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट केवलान्वयव्यतिरेकी । अनुमान के पाच अवयवोमे से [पक्ष, हेतु, दृष्टात, उपनय और निगमन] सर्व प्रथम जिसका प्रयोग हो वह पक्ष "पूर्व" कहलाता है यह प्रत्येक अनुमानमे पाया जाने से सभी अनुमान पूर्ववत् है । शेषवत् शब्दसे यहा पर दृष्टात अर्थ इष्ट है और "सामान्यतोदृष्ट" पदका अर्थ है साधन सामान्यका साध्य-सामान्यके साथ व्याप्त रहना । जिसमें अकेली अन्वयव्याप्ति पायी जाय उसे केवलान्वयी अनुमान कहते है, तथा जिसमे अकेली व्यतिरेकव्याप्ति पायी जाय उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान एव जिसमे उभय व्याप्ति हो उसे केवला वयव्यतिरेकी अनुमान कहते है । न्याय दर्शनका प्रमुख ग्र थ गौतम ऋषि प्रणीत न्याय सूत्र के "प्रत्यक्ष पूर्वक त्रिविध मनुमान पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्ट च ।।१।१।५।। अर्थमे विविध मतभेद हैं—भाष्यकार के मतानुसार जब कारणसे कार्यका अनुमान करते हैं उस अनुमानको

केवलान्वयिनो हि यद्यन्यथानुपपन्नत्व प्रमाणनिश्चितमस्ति, किमन्वयाभिधानेन ? अथान्वयाभावे तदभावस्तदनिश्चयो वेति तदभिधानम्, स्यादेतत् यद्यविनाभावस्तेन व्याप्त स्यात्, अव्यापकनिवृत्तेरव्याप्यनिवृत्तावतिप्रसङ्गात्। व्याप्तश्चेत्, तर्हि प्राणादौ तन्निवृत्तावविनाभावनिवृत्तेरगमकत्व स्यात्। न खलु यद्यस्य व्यापक तत्तदभावे भवति वृक्षत्वाभावे शिशपात्ववत्। गमकत्वे वास्य नान्वये-

---

"पूर्ववत्" कहते है, कार्यसे कारणका अनुमान करना "शेषवत्" कहलाता है, शेषका अर्थ अवशिष्ट होनेवाला, अतः परिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है, शब्द अनित्य है, क्योकि वह सामान्य आदि नित्य पदार्थरूप नही है, द्रव्य तथा कर्म-रूप भी प्रतीत नही होता अत पारिशेष्यसे गुणरूप ही नियमित हो जाता है इत्यादि। इस प्रकार सबके अतमे जो बाकी बचता है उसका प्रतिपादक शेषवत् अनुमान है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान वहा होता है जहा वस्तु विशेषकी सत्ताका अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही परिचय प्राप्त हो। तथा अन्वयमुखसे प्रवृत्त होनेवाला पूर्ववत्, व्यतिरेक मुखसे प्रवृत्त शेषवत् एव उभयरूप प्रवृत्त होनेवाला सामान्यतोदृष्ट अनुमान है ऐसी उक्त न्यायसूत्रकी व्याख्या करते है। अस्तु।

उपर्युक्त परवादीका मतव्य भी हेतुके पाचरूप्य या त्रैरूप्य लक्षणवत् खडित हुआ समझना चाहिये। चाहे पूर्ववत् अनुमान नाम धरे या शेषवत् सभी अनुमान तभी सिद्ध हो सकते है जब अन्यथानुपपन्न हेतुका लक्षण उनमे हो, उसके होने पर ही हेतु स्वसाध्यका गमक होकर अनुमानकी प्रसिद्धि कर सकता है।

तथा केवलान्वयी अनुमान मे अन्यथानुपपन्नत्व [साध्यके विना साधनका नही होना] प्रमाण द्वारा निश्चित है तो अन्वयका कथन करनेसे क्या प्रयोजन होगा ?

यौग—अन्वयका कथन किये विना सशय रहता है कि अविनाभावका अभाव है या उसका अनिश्चय है अर्थात् जहा जहा हेतु होता है वहा वहा साध्य अवश्य होता है इत्यादि अन्वयव्याप्ति सहित दृष्टात के बिना अविनाभाव ज्ञात नही होता, अत अन्वयका कथन करते है ?

जैन—ठीक है, यदि अविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त हो तो उक्त कथन सत्य हो सकता है, अन्यथा अव्यापककी निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति मानने से अति-प्रसग प्राप्त होगा।

नासौ व्याप्त स्यात् । यदभावे हि यद्भवति न तत्तेन व्याप्तम् यथा रासभाभावे भवन्धूमादिर्न तेन व्याप्त., भवति चान्वयाभावेपि तदविनाभाव इति ।

सदसद्वर्ग कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात्' इत्यय च हेतु कुत केवलान्वयी ? व्यतिरेकाभावाच्चेद्, अयमपि कुत ? तद्विषयस्य विपक्षस्याभावाच्चेद्, अथ कोय विपक्षाभावः–पक्षसपक्षावेव,

---

भावार्थ—अनुमानमे अन्वयका कथन इसलिये करते है कि उसके बिना अविनाभावका निश्चय नही हो पाता ऐसा परवादी ने कहा तब आचार्य कह रहे कि अन्वयकी और अविनाभावकी परस्परमे व्याप्ति होवे तो ऐसा मान सकते है अन्यथा नही, किन्तु इन दोनोकी वृक्षत्व और निबत्व कारण और कार्य आदिके समान परस्परमे व्याप्ति नही है । वृक्षत्व रूप व्यापक के हटते ही निंबत्वरूप व्याप्य हटता है अत इनमें व्याप्तिका रहना समत ही है, किन्तु अन्वय और अविनाभाव तो अव्यापक अव्याप्यरूप है अर्थात् अन्वयके हटते ही अविनाभाव हट जाता हो ऐसा नही है फिर भी एकके निवृत्तिसे दूसरे की भी निवृत्ति व्यर्थ ही मानी जाय तो अतिप्रसग उपस्थित होगा—चाहे जिस पदार्थके हटने पर उससे अव्याप्त असबद्ध ऐसे चाहे किसी पदार्थका हटना भी मानना होगा घट के हटते ही पटका हटना भी मानना होगा, इस तरह अव्यापकके निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति माननेका अतिप्रसग आता है ।

यदि हटाग्रह से अन्वय और अविनाभावकी व्याप्ति माने अर्थात् अन्वयके अभावमे अविनाभाव नही रहता ऐसा स्वीकार करे तो प्राणादिमत्व हेतुवाले अनुमानमे अन्वय नही होनेके कारण अविनाभावत्व भी नही रहेगा और इस तरह प्राणादिमत्व आदि प्रसिद्ध हेतु अगमक ठहरेगे । अभिप्राय यह है कि यह जीवित शरीर आत्मायुक्त है क्योकि श्वास लेना आदि प्राणादिमान है, जो प्राणादिमान नही होता वह आत्मयुक्त भी नहीं होता जैसे पाषाणादि । इस अनुमानमे अन्वयका लेश भी नही है तो भी साध्य साधनका अविनाभाव मौजूद है अत अन्वयसे ही अविनाभाव सबध हो ऐसा कथन असत् सिद्ध होता है । प्राणादिमत्व आदि हेतु अपने साध्यको (आत्मायुक्त होना आदिको) अवश्य हो सिद्ध करते है अत ये हेतु अन्वयके नही रहते हुए भी गमक है ऐसा सभी वादी परवादी स्वीकार करते है, इसीलिये अन्वय और अविनाभावको परस्परमे व्याप्ति माननेसे जो हेतु अन्वय रहित है उनको आगमक होनेका प्रसग आता है ।

निवृत्तिमात्र वा ? प्रथमपक्षे परमतप्रसङ्ग अभावस्य भावान्तरस्वभावतास्वीकारात् । द्वितीयपक्षे तु स तथाविध प्रतिपन्न, न वा ? न प्रतिपन्नश्चेत्, तर्हि विपक्षाभावसन्देहाद्व्यतिरेकाभावोपि सन्दिग्ध इति केवलान्वयोपि तादृगेव। अथ प्रतिपन्न, स यदि साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्त्याधार. प्रतिपन्न; तर्हि स एव विपक्ष, कथ विपक्षाभावो यतो व्यतिरेकाभाव ? साध्यसाधनाभावाधारतया निश्चितस्य

जो जिसका व्यापक होता है वह उसके अभावमे होता हो ऐसा तो देखा नही जाता, क्या वृक्षत्वरूप व्यापकके अभावमे शिशपारूप व्याप्य होता है ? अर्थात् नही होता। अत यदि वृक्षत्वादि व्यापक हेतु तथा प्राणादिमत्व आदि हेतु जो कि अन्वय रहित है उनको गमक मानना इष्ट है तो अविनाभावके साथ अन्वयकी व्याप्ति नही है ऐसा ही स्वीकार करना होगा। क्योकि जो जिसके अभावमे होता है वह उसके साथ व्याप्त होकर नही रहता, जैसे गर्दभके अभावमे धूम होता है अत उसके साथ व्याप्त नही है, अन्वयके अभावमे भी अविनाभाव पाया जाता है अत उसके साथ व्याप्त नही है।

सद् असद् वर्ग (सद्भावरूप पदार्थ और अभावरूप पदार्थ) किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलबनभूत है क्योकि अनेक हैं, ऐसा केवलान्वयी अनुमान उपस्थित किया जाता है सो इसका अनेकत्वहेतु किसी कारणसे केवल अन्वय सहित है ? व्यतिरेकका अभाव होने से कहो तो व्यतिरेकका अभाव भी किस कारणसे है ? व्यतिरेकके विषय-भूत विपक्षका अभाव होनेसे व्यतिरेक नही पाया जाता ऐसा कहे तो यह विपक्षाभाव क्या है इस पर विचार करना होगा—केवल पक्ष और सपक्ष होना विपक्षाभाव है अथवा निवृत्तिमात्र विपक्षाभाव है ? अर्थात् विपक्षका अभाव भावातररूप है अथवा सर्वथा अभाव—तुच्छाभावरूप है ? प्रथम पक्ष कहे तो परमतका प्रसग प्राप्त होता है (यौगको हमारे जैनमत स्वीकृतिका प्रसंग प्राप्त होता है) क्योकि आप यौगने यहा पर हम जैनके समान अभावको भावातर स्वभाववाला स्वीकार कर लिया। दूसरा पक्ष—तुच्छाभावरूप निवृत्तिमात्रको विपक्षाभाव माने तो प्रश्न होता है कि इस तरह का विपक्षाभाव ज्ञात है कि नही ? यदि ज्ञात नही है तो विपक्षाभावमे सदेह होनेसे व्यतिरेकमे भी सदेह बना रहेगा और इस तरह की सदिग्ध अवस्थामे केवल अन्वय भी सदेहास्पद ही रहेगा। विपक्षका अभाव ज्ञात है ऐसा माना जाय तो यहा साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति हुई इस प्रकार आधार ज्ञात हो चुका है तो इसीको विपक्ष कहते हैं ? फिर

विपक्षत्वात् । तच्च भाववदभावस्यापि न विरुध्यते, कथमन्यथा 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम्' इत्यत्रासन् पक्ष स्यात् ? असन् पक्षो भवति न विपक्ष इति किंकृतो विभाग ? अथाऽसद्वर्गशब्देन सामान्यसमवायान्त्यविशेषा एवोच्यन्ते, नाभावः, तर्हि तद्विषय ज्ञानं न कस्यचिदनेन प्रसाधितमिति सुव्यवस्थितम् ईश्वरस्याखिलकार्यकारणग्रामपरिज्ञानम् । प्रागभावाद्यज्ञाने कार्यत्वादेरप्यज्ञानात् ।

विपक्षका अभाव कैसे हुआ जिससे कि व्यतिरेकाभाव सिद्ध हो सके ? क्योकि साध्य-साधनके अभावका आधाररूपसे निश्चित हुआ ही विपक्ष है । वह विपक्ष सद्भावके समान अभावरूप भी होता है इसमे कोई विरोध नही अन्यथा "सद् असद् वर्ग एकके ज्ञानका आलबनभूत हैं" इत्यादि अनुमानमे असद्वर्ग रूप पक्ष (पक्षका एक देश) अभावरूप कैसे हो सकता था ? पक्ष तो अभावरूप हो सकता है और विपक्ष अभावरूप नही हो सकता ऐसा विभाग किस कारणसे सभव है ?

यौग—असद्वर्ग शब्दसे यहा पर सामान्य, समवाय और अत्यविशेषका ग्रहण किया जाता है अभाव का नही ?

जैन—तो फिर इस अनेकत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा अभावरूप पदार्थका ज्ञान नही होता यही बात प्रसिद्ध हुई, इस तरह तो आपके ईश्वरके सकल कार्य कारण समूहका ज्ञान होना भली भाति सिद्ध होता होगा ? अर्थात् कथमपि सिद्ध नही हो सकता क्योकि प्रागभाव आदि अभावरूप पदार्थ उसके द्वारा अज्ञात हैं ऐसा उक्त अनुमान सिद्ध कर रहा है और प्रागभावादि अज्ञात है तो कार्यत्वादि हेतु भी अज्ञात ही रहेंगे । अभिप्राय यह है कि सपूर्ण सत् असत् पदार्थोका ज्ञान एक ईश्वरके ही है ऐसा अनेकत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा सिद्ध करना यौगको अभीष्ट था किन्तु यहा अभावरूप पदार्थ उक्त अनुमानमे समाविष्ट नही है ऐसा यौगने कहा अत आचार्य उपहास करते है कि इस तरह अभावके अज्ञात रहने पर कार्यकारणभाव भी अज्ञात हो जाता है और फिर आपके ईश्वरके अखिल कार्य कारणोका परिज्ञान सुव्यवस्थित होता है, यह उभय कथन तो हास्यास्पद ही है ।

दूसरी बात यह है कि अनेकत्व हेतु वाले इस अनुमानमे अभावको पक्ष और सपक्षसे बहिर्भूत किया जाय तो इसीसे अनेकत्वादि हेतु व्यभिचरित होते है, क्योकि अभावरूप पदार्थ प्रागभाव आदि अनेक भेदरूप होने पर भी किसी एकके ज्ञानका आलबनभूत होना स्वीकार नही किया । यदि स्वीकार करते हैं तो अभावका पक्षमे

किंच, यद्यभावोऽत्र पक्षसपक्षाभ्यां बहिर्भूत , तर्ह्यनेनानेकत्वादित्ययंनैकान्तिको हेतु , तदनेकत्वेपि कस्यचिदेकज्ञानावलम्बनत्वानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा कथमभावो न पक्ष ? तथा विपक्षोप्यस्तु । नन्वेव विपक्षाभावोपि तदालम्बनमिति पक्ष एव स्यात्, तथा च पुनरपि विपक्षाभाव एव इति चेत्, तर्हि पुनरपि तदेव चोद्यम्—'कोय विपक्षाभाव इति ? यदि पक्षसपक्षावेव, भावाद्भिन्नस्याभावस्याभाव ।

अथ तुच्छा विपक्षनिवृत्तिस्तदभाव. सोपि यद्यप्रतिपन्नस्तर्हि सन्दिग्ध । तत्सन्देहे च व्यतिरेकाभावोपि तादृगेवेति न निश्चित केवलान्वय.' इत्यादि तदवस्थ पुन पुनरावर्त्तते इति चक्रकप्रसग ।

समावेश कैसे नही हुआ ? अवश्य हुआ । तथा अभाव पक्षातर्गत है तो जो तुच्छाभावरूप अभाव है वह विपक्ष है ऐसा भी स्वीकार करना होगा ।

यौग—यदि तुच्छाभावरूप अभावको विपक्ष माना जाय तो विपक्षाभाव भी पूर्वोक्त ज्ञानका आलबन होनेसे पक्षातर्गत होगा और ऐसा होनेसे उक्त अनुमानमे विपक्षका अभाव फिर भी होगा ही ?

जैन—ऐसी बात है तो पुन. वही प्रश्नावली उपस्थित होगी कि यह विपक्षाभाव कौन है ? यदि पक्ष और सपक्षको ही विपक्षाभाव कहते हैं तो भावातर स्वभाववाला अभाव है ऐसा निर्णय होनेसे 'अभाव सर्वथा सद्भावसे भिन्न ही है' ऐसा सिद्धात (यौगका) विघटित हो जाता है ।

यौग—विपक्षकी निवृत्ति तुच्छ है उसीको विपक्ष का अभाव कहते हैं ?

जैन—यह विपक्षका अभाव भी यदि अज्ञात है तो सदेह की कोटिमे जाता है और उसके सदिग्ध रहनेपर व्यतिरेकका अभाव भी उसी जातिका ठहरता है, व्यतिरेकाभाव के अनिश्चयमे केवलान्वय भी निश्चित नही होता इस तरह वही वही प्रश्नका चक्कर उपस्थित होनेसे ग्र थ चक्रक अर्थात् वही बात घूमकर बार बार आना रूप दोष आता है । अत केवलान्वयीरूपसे स्वीकार किये हुए अनुमानमे विपक्षाभाव ही तुच्छ विपक्ष है ऐसा सिद्ध होता है, जब विपक्ष ऐसा है तो साध्य निवृत्तिसे साधन की निवृत्ति होना सिद्ध ही है फिर उक्त अनुमानमे व्यतिरेक सद्भाव किस प्रकार नही है ? है ही । इसीलिये अविनाभावका एव उसके परिज्ञानका प्राणादिमत्व आदि व्यतिरेकी हेतु वाले अनुमानमे सद्भाव सिद्ध होता है, फिर आपके केवलान्वयी अनुमानसे क्या

ततः केवलान्वयित्वेनाभ्युपगतस्य विपक्षाभाव एव तुच्छो विपक्षः। ततः साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिश्चेति कथं न व्यतिरेक ? अत एवाविनाभावस्य तत्परिज्ञानस्य च प्राणादिमत्त्ववद्भावात्किमन्वयेन ?

अथ विपक्षाभावस्यापादानत्वायोगान्न ततः साध्यसाधनयोर्व्यावृत्ति, तन्न; 'भाव प्रागभावादिभ्यो भिन्नस्ते वा परस्परतो भिन्ना.' इत्यादावप्यभावस्यापादानत्वाभावप्रसङ्गात् सर्वेषा साङ्कर्यं स्यात्।

किंच, अन्वयो व्याप्तिरभिधीयते। सा च त्रिधा–बहिर्व्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः, अन्तर्व्याप्तिश्चेति। तत्र प्रथमव्याप्तौ भग्नघटव्यतिरिक्त सर्वं क्षणिक सत्त्वात्कृतकत्वाद्वा तद्वत्, विवादापन्ना प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्, ईश्वर किञ्चिज्ज्ञो रागादिमान्वा वक्तृत्वादिभ्यो रथ्या-

---

प्रयोजन सधता है ? अर्थात् केवलान्वयी अनुमानमे व्यतिरेकके बिना साध्य सिद्धि की शक्ति नही होनेसे उसकी मान्यता व्यर्थ ही ठहरती है। उपरोक्त रीत्या यह भलीभाति सिद्ध होता है कि अविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त नही है। अत केवलान्वयी अनुमानका पृथक्करण व्यर्थ है।

यौग—विपक्षाभाव अपादान योग्य नही होने के कारण अर्थात् विपक्षात् व्यावृत्ति विपक्षाभाव ऐसा विपक्षाभाव पदका अर्थ सभव नही, क्योकि अभाव तुच्छ है इसलिये उससे साध्य साधनकी व्यावृत्ति होना शक्य नही ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, सद्भाव प्रागभावादिसे भिन्न है अथवा प्रागभावादि आपसमे भिन्न है इत्यादिरूप सिद्धात अन्यथा असत्य साबित होगा। क्योकि उसमे भी मानना होगा कि अभाव का अपादान शक्य नही है, और इस प्रकार अभाव अपादानके योग्य नही होनेसे सद्भाव और अभावरूप सपूर्ण पदार्थोका साकर्य हो जावेगा।

किञ्च, व्याप्तिको अन्वय कहते है, वह व्याप्ति तीन प्रकारकी है—बहिर्व्याप्ति साकल्यव्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति। इन तीन व्याप्तियोमे से अन्वयव्याप्तिका अर्थ बहिर्व्याप्ति किया जाय तो "भग्न घटके अतिरिक्त सभी पदार्थ क्षणिक है क्योकि सब सत्त्वरूप है अन्यथा कृतक है, जैसे भग्न घट सत्त्वरूप था। विवादग्रस्त अखिलज्ञान निरालब (विना पदार्थके) होते है क्योकि वे ज्ञानरूप है जैसे स्वप्नका ज्ञान निरालंब होता है। ईश्वर अल्पज्ञ है, क्योकि रागादिमान है अथवा बोलता है, जैसे रथ्यापुरुप

पुरुषवत्' इत्यादेर्गमकत्वं स्यात् केवलान्वयस्यात्र सुलभत्वात्। ननु सर्वं न सत्त्वादिकं क्षणिकत्वादिना व्याप्तम् आत्मादौ क्षणिकत्वाद्यसत्त्वात्, तन्न, तदसत्त्वे तत्रार्थक्रियाऽसत्त्वात् सत्त्वं न स्यात्।

किंच, घटादिदृष्टान्ते सत्त्वादिकं क्षणक्षयादौ सति दृष्टमपि यदि क्वचित्तदभावेपि स्यान्न तर्हि बहिर्व्याप्तिरन्वयः, लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्।

अथ सकलव्याप्तिरन्वयः, ननु केयं सकलव्याप्तिः? 'दृष्टान्तधर्मिणीव साध्यधर्मिण्यन्यत्र च साध्येन साधनस्य व्याप्तिः सा' इति चेत्, सा कुतः प्रतीयताम्? प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा? प्रत्यक्षतश्चेत्, किमिन्द्रियात्, मानसाद्वा? न तावदिन्द्रियात्, चक्षुरादेरिन्द्रियस्य सकलसाध्यसाधनार्थसन्निकर्षवैधुर्ये तदनुपपत्तेः। न हि तद्वैधुर्ये तद्युक्तम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं

रागादिमान होनेसे अल्पज्ञ है। इत्यादि अनुमानस्थ हेतु स्व स्व साध्यके गमक हो जायेंगे? क्योंकि इनमे बहिर्व्याप्तिवाला केवलान्वय मौजूद है?

यौग—सभी सत्त्वादिरूप पदार्थ क्षणिकत्वके साथ व्याप्त नही हैं, कही क्षणिकत्वके बिना भी सत्त्वादिरूप पदार्थ सिद्ध है अर्थात् घट आदिकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति होनेपर भी आत्मादिकी तो नही होती!

जैन—ऐसा नही है, यदि आत्मादि पदार्थोंमे क्षणिकत्वका सर्वथा निषेध (अभाव) किया जाय तो अर्थक्रियाका अभाव होनेसे उनका अस्तित्व ही समाप्त होवेगा।

तथा घट आदि दृष्टातभूत पदार्थोंमे सत्त्वादि हेतु क्षणक्षयादिके साथ रहते हुए दिखायी देने पर भी यदि कही क्षणक्षयके अभावमे भी सत्त्वादि पाया जाय तो बहिर्व्याप्तिरूप अन्वय का लक्षण घटित नही होगा, क्योंकि लक्षणयुक्त वस्तुमे (हेतुमे) यदि बाधा संभावित है तो उसका मतलब लक्षण ही दूषित है।

अन्वय सकलव्याप्तिरूप होता है ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि सकलव्याप्ति किसे कहते है?

यौग—दृष्टातभूत धर्मीके समान साध्यधर्मीमे और अन्यत्र भी साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति घटित होना सकल व्याप्ति कहलाती है।

जैन—अच्छा तो यह व्याप्ति किस प्रमाणसे प्रतीत होती है प्रत्यक्षसे या अनुमानसे? प्रत्यक्षसे कहो तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे अथवा मानसप्रत्यक्षसे, इन्द्रिय प्रत्यक्षसे

ज्ञान प्रत्यक्षम्" [न्यायसू० १।१।४] इत्यभिधानात् । तस्य तत्सन्निकर्षे वा प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्व-प्रसङ्गान्न कश्चिदीश्वराद्विशेष्येत ।

ननु साध्यसाधनयो: साकल्येन ग्रहण सकलव्याप्तिग्रहणम् । साध्य चाग्निसामान्य साधन च धूमसामान्यम्, तयोश्चानवयवयोरेकत्रापि साकल्येन ग्रहणमस्ति, विशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वत्र पक्षधर्मता-बलादेवेति चेत्, तर्हि क्षणिकत्वादि साध्यम्, सत्त्वादि साधनम्, तयोश्चानवयवयो. प्रदीपादौ सह-दर्शनादेव सकलव्याप्तिग्रह: किन्न स्यात् ? मानसप्रत्यक्षादपि व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव दोष । तन्न प्रत्यक्षत सकलव्याप्तिग्रह । नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसगात् ।

सकल व्याप्तिको जानना शक्य नही, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रिया सपूर्ण साध्य-साधनभूत पदार्थोके साथ सन्निकर्ष नही कर सकती अत उनसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना बनता नही । इन्द्रियोके विषयमे उक्त बात असत् भी नही है—न्याय सूत्रमे कहा है कि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न व्यपदेश्य रहित अव्यभिचारी एव व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण कहते है । यदि ऐसा इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अखिल साध्यसाधनभूत पदार्थोका सन्निकर्ष करता है ऐसा माने तो सपूर्ण प्राणीको सर्वज्ञ बन जानेका प्रसग प्राप्त होगा, फिर तो किसी भी प्राणीका ईश्वरसे पृथक्करण नही हो सकेगा ।

यौग—साध्य–साधनका साकल्यरूपसे ग्रहण होना सकलव्याप्तिका ग्रहण कहलाता है । जैसे अग्निसामान्य साध्य है और धूमसामान्य साधन है इन दोनोंका एक अनुमानमे भी साकल्यरूपसे ग्रहण सभव है, हा यह बात जरूर है कि विशेषकी प्रतिपत्ति तो सर्वत्र हेतुके पक्षधर्मत्वरूप बलसे ही होती है ?

जैन—तो फिर इस तरह क्षणिकत्वादि साध्य है और सत्त्वादि साधन है इन दोनोका ग्रहण दीपकादिमे एक साथ ही हो जाता है अत उसीसे सकलव्याप्ति का ग्रहण क्यो नही होता ? इसप्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना सिद्ध नही होता, ऐसे ही मानस प्रत्यक्षसे उसका ग्रहण होना माने तो यही दोप आता है अत: प्रत्यक्षसे सकलव्याप्तिका ग्रहण सभव नही है । अनुमानसे भी उसका ग्रहण नही होगा, अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिये अन्य अनुमान चाहिये तो अन्य अनुमानकी व्याप्तिको कौन जानेगा ? उसके लिये पुन अन्य अनुमान चाहिये इस तरह अनवस्था आती है ।

सामान्यस्य च साध्यत्वे साधनवैफल्यम् तत्राविवादात्, व्याप्तिग्रहणकाल एवास्य प्रसिद्धे। कथमन्यथा सामान्यधर्मयो साकल्येन व्याप्तिर्निर्णीता स्यात् ?

साध्यत्व चास्यासत करणम्, सतो ज्ञापन वा ? प्रथमपक्षे सामान्यस्यानित्यत्वाऽसर्वगतत्व-प्रसङ्ग । द्वितीयपक्षेप्यस्य दृश्यत्वे धर्मिवत्प्रत्यक्षत्वमिति किं केन ज्ञाप्यते ? अन्यथा धूमसामान्यमप्य-ग्निसामान्येन ज्ञाप्येत । अथ व्यक्तिसहायत्वाद्धूमसामान्यमेव प्रत्यक्ष नान्यत् ततोऽयमदोष', न, अस्य सामान्यविचारे सहायापेक्षाप्रतिक्षेपात् ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यमात्रको साध्य बनाते हैं तो साधन व्यर्थ हो जाता है, क्योकि सामान्यमे विवाद नही होता, सामान्यसाध्य तो व्याप्तिग्रहण कालमे ही प्रसिद्ध हो चुकता है, अन्यथा सामान्यधर्मभूत साध्यसाधनकी साकल्यरूपसे व्याप्ति किस प्रकार निर्णीत होती ?

'साध्य' इस पदका क्या अर्थ होता है यह भी विचारणीय है, हेतु द्वारा असत् वस्तुका निष्पादन होना साध्य है अथवा उसके द्वारा सद्भूत वस्तुका ज्ञापन होना साध्य है ? प्रथमपक्षमे सामान्यको अनित्य एव असर्वगत माननेका प्रसग आयेगा, क्योकि साध्य साधन सामान्यरूप होते है (सकल व्याप्तिके ग्रहण कालमे) ऐसा आपने कहा और असत् का निष्पादन होना साध्य है ऐसा साध्यपदका अर्थ लिया सो यदि सामान्य रूप साध्यका निष्पादन होता है तो आप यौगका सर्वगत नित्य सामान्य असर्वगत एव नित्यरूप सिद्ध होता है । द्वितीयपक्ष—सद्भूतका ज्ञापन होनेरूप साध्य है ऐसा माने तो यह दृश्यभूत साध्य धर्मीके समान प्रत्यक्ष ही है उसे क्या ज्ञापन करना है ? यदि साक्षात् प्रत्यक्षभूत पदार्थका भी ज्ञापन करना जरूरी है तो धूमसामान्यको भी अग्नि-सामान्य द्वारा ज्ञापित करना चाहिये ।

यौग—धूमविशेषकी सहायता के कारण धूम सामान्य ही प्रत्यक्ष होता है अन्य अग्नि सामान्य नही (क्योकि उसके लिये विशेष सहायभूत नही है) अत उक्त दोष नही आयेगा ।

जैन— ऐसा सभव नही, क्योकि आपके सामान्यको विशेष सहायक नही बन सकता ऐसा आगे "सामान्यविचार" नामा प्रकरणमे (तृतीयभागमे) निर्णय करनेवाले है । भावार्थ यह है कि परवादीका नित्य सर्वगत ऐसा सामान्य नामा पदार्थ सिद्ध नही होता अत उस सामान्यरूप विशेषणसे युक्त साध्य आदि भी असत्य ठहरते हैं ।

यच्चोक्तम्–विशेषप्रतिपत्तिस्तु पक्षधर्मताबलादेवेति, तत्र पक्षधर्मता धूमस्य, तत्सामान्यस्य वा ? तत्राद्य पक्षोऽसङ्गतः, विशेषेण व्याप्तेरप्रतिपत्तितस्तद्गमकत्वायोगात् ।

द्वितीयपक्षेप्यग्निसामान्यस्यैव धूमसामान्यात्सिद्धि स्यात् तेनैव तस्य व्याप्ते , नाग्निविशेपस्य अनेनाव्याप्ते· । अथ साधनसामान्यात् साध्यसामान्यप्रतिपत्तेरेवेष्टविशेषप्रतिपत्तिः सामान्यस्य विशेप-निष्ठत्वात् । ननु तत्सामान्यमपि विशेषमात्रेण व्याप्त सत्तदेव गमयेन्नान्यत् । अथ विशिष्टविशेषाधार लिङ्गसामान्य प्रतीयमान विशिष्टविशेषाधिकरण साध्यसामान्य गमयतीत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, तथा व्याप्तेरभावात् । अथ विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणवशात्तत्सिद्धिरिष्यते, तर्हि तावतैव पर्याप्तत्वात् किमन्वयेन परस्य ?

"विशेषकी प्रतिपत्ति पक्षधर्मत्वके बलसे ही हो जाती है" ऐसा आपने कहा था उसमे प्रश्न होता है कि यह पक्षधर्मता किसकी है धूमकी (हेतुकी) या साध्यसाधन-भूत सामान्यकी ? प्रथम पक्ष असगत है, विशेपरूपसे व्याप्तिकी प्रतिपत्ति नही होनेके कारण वह पक्षधर्मत्व साध्यका गमक होना अशक्य है ।

द्वितीयपक्ष—पक्षधर्मता साध्यसाधन सामान्यकी है ऐसा माने तो धूम-सामान्यसे अग्निसामान्य ही सिद्धि हो पायेगी क्योकि उसीके साथ धूम सामान्यको व्याप्ति है, इस धूम सामान्यसे अग्निविशेषकी सिद्धि तो अशक्य है क्योकि उसके साथ व्याप्ति ही नही है ।

यौग—सामान्य साधनसे सामान्य साध्यकी प्रतिपत्ति होनेको ही विशेषकी प्रतिपत्ति कहते है, क्योकि सामान्य विशेषमे निष्ठ रहता है ।

जैन—तो उक्त सामान्य भी विशेष मात्रसे व्याप्त होता है अत· उसीका गमक होवेगा अन्यका नही ।

यौग—विशिष्ट विशेषके आधारमे प्रतीत होनेवाला साधनसामान्य (पर्वतस्थ-धूम) अपने विशिष्ट विशेष अधिकरणभूत साध्यसामान्यका गमक (पर्वतस्थ अग्निका गमक) होता है ऐसा हमारा कहना है ।

जैन—यह भी उक्तिमात्र है, इसतरह से कथन करने पर व्याप्तिका अभाव होवेगा, अर्थात् जो यह पर्वतस्थधूम है वह पर्वतस्थ अग्नि वाला है ऐसी व्याप्ति नही हो सकती ।

एतेनान्तर्व्याप्तिरपि चिन्तिता। न खलु प्रत्यक्षादित सापि प्रसिद्धयति। तन्न पूर्ववच्छेषवदिति सूक्तम्।

यच्चान्यदुक्तम्–'पूर्ववत्सामान्यतोदृष्ट चेति चशब्दो भिन्नप्रक्रम. 'सामान्यत' इत्यस्यानन्तर द्रष्टव्यः। ततोयमर्थ –पूर्ववत्पक्षवत्सामान्यतोपि न केवल विशेषतो दृष्ट विपक्षे। अनेन केवलव्यतिरेकी हेतुर्दर्शित —'सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, यत. प्राणादेरन्वयाभावे कुतोऽविनाभावावगति ? व्यतिरेकाच्चेत्, तथाहि—यस्माद् घटादे सात्मकत्वनिवृत्तौ प्राणादयो नियमेन निवर्त्तन्ते तस्मात्सात्मकत्वाभाव प्राणाद्यभावेन व्याप्तो धूमाभावेनेव पावकाभाव। जीव-

---

यौग—विपक्षमे बाधक प्रमाणका सद्भाव होनेसे ही व्याप्तिकी सिद्धि होती है अर्थात् अमुक हेतुका विपक्षमे जाना प्रमाणसे बाधित है इस प्रकार बाधक प्रमाणके वशसे व्याप्तिका ग्रहण हो जाता है ?

जैन—तो फिर उतनेसे पर्याप्त हो जानेसे अन्वयके प्रतिपादनसे आपका क्या प्रयोजन सधता है ? कुछ भी नही।

इसीप्रकार सकलव्याप्तिरूप अन्वयके निरसनसे अन्तर्व्याप्तिरूप अन्वयका निरसन भी हो जाता है, क्योकि उसकी भी प्रत्यक्षादिप्रमाणसे सिद्धि नही होती। अत पूर्ववत् शेषवत् अनुमानका प्रभेद सिद्ध नही होता है।

यौग—अन्य प्रतिपादन भी पाया जाता है कि—"पूर्ववत् सामान्यतो दृष्ट च" इस वाक्यमे आगत च शब्द भिन्न प्रक्रममे है उसका अर्थ "सामान्यत" इस पदके अनतर करना चाहिये, इस तरहकी वाक्य रचनासे यह अर्थ होता है कि पूर्ववत् (अर्थात् पक्षवत्) विपक्षमे सामान्यत भी देखा जाता है केवल विशेषत नही। इससे केवल व्यतिरेकी हेतुका प्रतिपादन होता है, इस हेतुका उदाहरण—जीवित शरीर आत्मसहित है, क्योकि प्राणादिमान् है। इत्यादि।

जैन—यह प्रतिपादन भी अयुक्त है, प्राणादिमत्व हेतुमे अन्वयका तो अभाव है अत वहा पर अविनाभावका बोध किससे हो सकेगा ?

यौग—व्यतिरेकसे हो जायगा, इसीको बताते है—जिस कारण घट आदि पदार्थसे आत्मासहितपना निवृत्त होनेपर प्राणादि नियमसे निवृत्त हो जाते हैं उसीकारण आत्मासहितपने का अभाव प्राणादिके अभावसे व्याप्त है, जैसे कि धूमके अभावसे

च्छरीरे च प्राणाद्यभावविरुद्धः प्राणादिसद्भाव प्रतीयमानस्तदभाव निवर्त्तयति। स च निवर्त्तमान. स्वव्याप्य सात्मकत्वाभावमादाय निवर्त्तते इति सात्मकत्वसिद्धिस्तत्र, इत्यप्यसारम्, यतोनुमानान्तरेप्येवमविनाभावप्रसिद्धे केवलव्यतिरेक्येव सर्वमनुमान स्यात्, अन्वयमात्रेण तत्सिद्धावतिप्रसगस्योक्तत्वात्।

किंच, साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिर्व्यतिरेक, स च क्वचित् कदाचित्, सर्वत्र सर्वदा वा स्यात्? न तावदाद्यः पक्ष, तथा व्यतिरेकस्य साधनाभासेपि सम्भवात्। द्वितीयपक्षोप्ययुक्त', साकल्येन व्यतिरेकप्रतिपत्ते. प्रत्यक्षादिप्रमाणतः परेषामन्वयप्रतिपत्तेरिवासम्भवात्।

एतेन पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेक्यनुमान प्रत्याख्यातम्, पक्षद्वयोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात्।

अग्निका अभाव व्याप्त है। (अर्थात् अग्निका अभाव है तो अवश्य ही धूमका अभाव होगा) जीवित शरीरमे प्राणादि अभावके विरुद्ध प्राणादिका सद्भाव प्रतीतिमे आता है, अत. वह प्राणादिके अभावकी निवृत्ति करता है, और प्राणादिका अभाव निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य सात्मकत्वके अभावको लेकर निवृत्त होता है इसप्रकार उक्त अनुमानमे सात्मकत्वकी (आत्मा सहितत्वकी) सिद्धि हो जाती है।

जैन—यह कथन असार है, क्योकि इस तरह की मान्यतासे अन्वय रहित अनुमानातरमे भी अविनाभाव प्रसिद्ध हो जानेसे सभी अनुमान केवलव्यतिरेकी ही बन जाते है, क्योकि अन्वयमात्रसे अविनाभावकी सिद्धि करनेमे अतिप्रसग आता है ऐसा कह चुके है।

तथा साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति होना व्यतिरेक है यह व्यतिरेक कही पर कदाचित होता है या सर्वत्र सदा ही होता है? प्रथम पक्ष असत् है, क्योकि उस प्रकारका व्यतिरेक साधनाभासमे (झूठे हेतु वाले अनुमानमे) भी सभव है। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योकि सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूपसे व्यतिरेककी प्रतिपत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणसे होना अशक्य है, जैसे कि परवादी यौगादिके अन्वयकी प्रतिपत्ति होना असभव है।

जिस तरह केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकीरूप पूर्ववत् आदि अनुमानोकी सिद्धि नही होती उसी तरह पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट नामा केवलान्वयव्यतिरेकी अनुमान भी सिद्ध नही होता, उसमे भी प्रथम दो अनुमानोमे दिये गये दोष आते है।

यच्च तदुदाहरणम्–विवादापन्न तनुकरणभुवनादिक बुद्धिमद्धेतुक कार्यत्वादिभ्यो घटादिवदित्युक्तम्, तदपीश्वरनिराकरणप्रकरणे विशेषतो दूषितमिति पुनर्न दूष्यते।

अथ "पूर्ववत्-कारणात्कार्यानुमानम्, शेषवत्–कार्यात्कारणानुमानम्, सामान्यतो दृष्टम्-अकार्यकारणादकार्यकारणानुमानम् सामान्यतोऽविनाभावमात्रात्" [न्यायभा०, वार्त्ति० १।१।५] इति व्याख्यायते, तदप्यविनाभावनियमनिश्चायकप्रमाणाभावादेवायुक्त परेषाम्। स्याद्वादिना तु तद्युक्त तत्सद्भावात् इत्याचार्यः स्वयमेव कार्यकारणेत्यादिना हेतुप्रपञ्चे प्रपञ्चयिष्यति।

यदपि–पूर्ववत्पूर्वं लिंगलिंगिसम्बन्धस्य क्वचिन्निश्चयादन्यत्रप्रवर्त्तमानमनुमानम्। शेषवत्परिशेषानुमानम्, प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टस्य प्रतिपत्तेः। सामान्यतो दृष्ट विशिष्टव्यक्तौ सम्बन्धाग्रहणात्सा-

---

केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमानका उदाहरण था— विवादग्रस्त शरीर, इद्रिया पृथ्वी आदि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक है, क्योकि कार्यरूप हैं, जैसे घटादि पदार्थ कार्यरूप होनेसे बुद्धिमान निमित्तक (कुंभकारनिमित्तक) होते है, सो इस अनुमानको ईश्वरका निराकरण करते समय विशेषरूपसे सदोष सिद्ध कर चुके हैं अब यहा पुनः दूषित करना व्यर्थ है।

यौग—कारणसे होनेवाले कार्यके अनुमानको "पूर्ववत्" अनुमान कहते हैं, तथा कार्यसे होनेवाले कारणके अनुमानको 'शेषवत'–अनुमान कहते हैं एव जो साध्य साधन कार्य कारणरूप नही है अन्यरूप है ऐसे अकार्य कारणसे होनेवाले अकार्यकारणके अनुमानको 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते है। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमानोकी व्याख्या भी हमारे न्याय भाष्यमे पायी जाती है?

जैन—यह व्याख्या भी सिद्ध नही हो सकती, क्योकि आप परवादीके यहा अविनाभावके नियमको निश्चित करनेवाला कोई भी प्रमाण नही है। किन्तु हम स्याद्वादी के यहा उक्त अनुमान सिद्ध हो जाते है, क्योकि अविनाभाव नियमका निश्चय करानेवाला तर्क नामा प्रमाण हमारे यहा मौजूद है, इस विषयका आगे कार्यकारण आदि हेतुओके प्रकरणमे सविस्तार प्रतिपादन स्वय आचार्य करने वाले है।

लिग लिंगीके सबधका (हेतु और साध्यके सबधका) कहीपर निश्चय करने पर अन्य स्थानमे उस अनुमानकी प्रवृत्ति होना 'पूर्ववत् पूर्व' अनुमान कहलाता है। प्रसक्तका प्रतिषेध करके परिशिष्टकी प्रतिपत्ति जिससे होती है वह "शेषवत् परिशेष" अनुमान है। तथा विशिष्ट व्यक्तिमे सबधका ग्रहण नही होनेसे सामान्यसे उसका ग्रहण

मान्येन दृष्टम्, यथा गतिमानादित्यो देशाद्देशान्तरप्राप्तेर्देवदत्तवदिति। तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्, उक्तप्रकाराणा प्रमाणतः प्रसिद्धाविनाभावाना प्रतिपादयिष्माणहेतुप्रपञ्चत्वेन स्याद्वादिनामेव सम्भवात्।

न चायं भेदो घटते। सर्वं हि लिंग पूर्ववदेव, परिशेषानुमानस्यापि पूर्ववत्त्वप्रसिद्धे -प्रसक्त-प्रतिषेधस्य परिशिष्टप्रतिपत्त्यविनाभूतस्य पूर्वं क्वचिन्निश्चितस्य विवादाध्यासितपरिशिष्टप्रतिपत्तौ

होना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है जैसे सूर्य गतिशील है क्योकि देशसे देशातर मे प्राप्त होता है जैसे देवदत्त प्राप्त होता है। इत्यादि पूर्ववत् पूर्व आदि अनुमान भी उक्त न्यायसे निराकृत हुए समझने चाहिये। क्योकि उक्त प्रकार भी स्याद्वादीके यहा ही सभव है, और इसका भी कारण यह है कि हमारे यहा इनके अविनाभाव सबधका नियम तर्क प्रमाण द्वारा भलीभाति प्रसिद्ध है, इन सबके सब अनुमानोंका आगे हेतु प्रकरण मे कथन करेगे।

विशेषार्थ—यौगके यहा पूर्ववत् और शेषवत् आदि अनुमानोके समान पूर्ववत् पूर्व, शेषवत् परिशेष आदि अनुमान प्रकार भी माने गये हैं। उनके उदाहरण क्रमश. उपस्थित किये जाते है—साध्य और साधनका अविनाभावका कही पर निश्चय करके अन्यत्र अनुमान लगाना पूर्ववत् पूर्वानुमान है, साध्य साधनका सबध पूर्वमे निश्चित होना पूर्व शब्दका अर्थ है और वह जिस अनुमानमे हो उसे पूर्ववत् पूर्व कहते है ऐसी पूर्ववत् पूर्व शब्दकी निरुक्ति है, इसका उदाहरण—यह पर्वत अग्नियुक्त है क्योकि धूमवाला है जैसे कि महानस (रसोई घर) है। महानसमे पहलेसे ही साध्य साधन (अग्नि-धूम) का निश्चय हो चुका या और अब पर्वत पर निश्चय होने जा रहा अत. यह पूर्ववत् पूर्वानुमान कहलाया। शेपवत् परिशेषानुमानका अर्थ एव उदाहरण—परिशिष्ट अर्थको शेष कहते है और वह जिस अनुमानसे हो उसे शेषवत् परिशेषानुमान कहते हैं, जैसे शब्द कहीपर आश्रित रहता है, क्योकि वह गुण है जैसे रूपादि गुण आश्रित रहते है। यौगकी मान्यतानुसार यह अनुमान प्रयुक्त हुआ है उनके यहा छह पदार्थ माने है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, उनका कहना है कि शब्द अनित्य होनेके कारण सामान्य और विशेष तथा समवाय नामा पदार्थरूप नही हो सकता क्योकि सामान्यादि पदार्थ नित्य है। शब्दको द्रव्य पदार्थरूप भी नही मान सकते क्योकि वह आकाशके आश्रित रहता है। तथा दूसरे शब्दके उत्पन्न होनेमे कारण होनेसे कर्म

साधनस्य प्रयोगात् । सामान्यतो दृष्टस्याऽपि पूर्ववत्त्वप्रतीते, क्वचिद्देशान्तरप्राप्तेर्गतिमत्त्वाविनाभाविन्या एव देवदत्तादौ प्रतिपत्ते, अन्यथा तदनुमानाप्रवृत्ते । परिशेषानुमानमेव वा सर्वम्, पूर्ववतोपि धूमात्पावकानुमानस्य प्रसक्ताऽपावकप्रतिषेधात्प्रवृत्तिघटनात्, तदप्रसक्तौ विवादानुपपत्तेरनुमानवैयर्थ्यं स्यात् । सामान्यतो दृष्टस्यापि देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमानस्य तदगतिमत्त्वस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधादेवोपपत्ते । सकल सामान्यतो दृष्टमेव वा, सर्वत्र सामान्येनैव लिंगलिंगिसम्बन्धस्य प्रतिपत्ते, विशेष-

---

पदार्थरूप भी नही है, अत परिशेष न्यायसे शेष बचे गुण नामा पदार्थमे ही शब्दका अतर्भाव होता है इसप्रकार सामान्य पदार्थ द्रव्य पदार्थ आदि रूप होनेका प्रसग प्राप्त था उसका प्रतिषेध करके परिशेष गुणमे शब्दका अतर्भाव करना शेषवत् परिशेषानुमान का दृष्टात है । सामान्यतो दृष्टानुमान—साध्य साधन धर्मकी सामान्यसे प्रतिपत्ति होना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है, जैसे सूर्य गमन शील है क्योकि देशसे देशातरमे प्राप्त होता है, जिस प्रकार देवदत्त देशातरमे प्राप्त होनेसे गमनशील प्रसिद्ध है । यहा देवदत्तमे सामान्यपनेसे पाये जाने वाले गमनत्व और देशातरप्राप्तत्व धर्मको देखकर उनको सूर्यमे सिद्ध किया अत यह सामान्यतो दृष्टानुमान है । जैनाचार्यका कहना है कि ये सब अनुमान तभी प्रसिद्ध हो सकते है जब आप अविनाभाव सबधका ग्राहक तर्क प्रमाणको स्वीकार करे । इन पूर्ववत् पूर्व आदि अनुमानोका अतर्भाव हमारे कारणकारणानुमान आदिमे हो जाता है । आगे इनका वर्णन करेगे । अस्तु ।

दूसरी बात यह है कि यौगाभिमत अनुमानोका प्रभेद घटित भी नही होता, क्योकि प्रत्येक अनुमानका हेतु (साधन या लिग) पूर्ववत् (पूर्वमे ज्ञात) ही होता है, अत परिशेष अनुमानमे पूर्ववत्पना है—परिशिष्ट की प्रतिपत्तिका अविनाभावी प्रसक्त-प्रतिषेध होता है वह पूर्वमे ही कहीपर निर्णीत रहता है और विवादग्रस्त परिशिष्टके प्रतिपत्तिके लिये वह साधनरूपमे प्रयुक्त होता है, इसप्रकार साधन पूर्ववत् होनेसे परिशेषानुमान भी पूर्ववत् सरीखा ही है । सामान्यतोदृष्ट अनुमानमे भी पूर्ववत्पना प्रतीत होता है–गतिमत्वकी अविनाभावीरूप देशातर प्राप्ति नामा हेतु देवदत्तादिमे पहलेसे ही ज्ञात रहता है, अर्थात् देवदत्तमे गमन क्रियाके साथ देशातर प्राप्तिको देखकर ही सूर्यमे गमनत्वका निश्चय करते है अन्यथा वह अनुमान प्रवृत्त ही नही होता । अथवा सभी अनुमान परिशेषरूप ही दृष्टिगोचर होते है, क्योकि धूमसे होनेवाले अग्नि का अनुमान भी पूर्ववत्के समान प्रसक्त अनग्निका प्रतिषेध करके प्रवृत्त होता है, यदि अनग्निके प्रतिषेधका प्रसग नही होवे तो विवाद ही नही रहे और जिसमे विवाद नही

तस्तत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः। ततोनुमानं तत्प्रभेदं चेच्छताऽविनाभाव एवैक हेतो. प्रधान लक्षण प्रतिपत्तव्यम्।

वहां अनुमान प्रयोग व्यर्थ ही है। सामान्यतोदृष्ट नामा अनुमान भी परिशेषानुमानके अंतर्गत हो सकता है, क्योकि अगतिमत्व प्रसंगका प्रतिषेध करके ही देशातर प्राप्तिरूप हेतुसे सूर्यकी गति सिद्ध की जाती है। अथवा सभी अनुमान सामान्यतोदृष्ट रूप ही हो सकते है, क्योकि सर्वत्र अनुमानोमे साध्यसाधनका सवंध सामान्यपनेसे ही ज्ञात रहता है, विशेषपनेसे उस संबधको जानना तो अशक्य ही है। अतः अनुमान और उसके प्रभेदको चाहनेवाले आप यौगको हेतुका प्रधान लक्षण एक अविनाभाव ही है (साध्याविनाभावित्व) ऐसा स्वीकार करना होगा।

।। समाप्त ।।

१४

अविनाभावादीनां लक्षणानि

ननु चास्तु प्रधानं लक्षणमविनाभावो हेतो । तत्स्वरूप तु निरूप्यतामप्रसिद्धस्वरूपस्य लक्षण-त्वायोगादित्याशकच सहक्रमेत्यादिना तत्स्वरूप निरूपयति—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥

सहभावनियम क्रमभावनियमश्चाविनाभाव प्रतिपत्तव्य ।

कयो पुन सहभाव कयोश्च क्रमभावो यन्नियमोऽविनाभाव स्यादित्याह—

सहचारिणो· व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

शका—हेतुका प्रधान लक्षण अविनाभाव है यह बात तो ठीक है किन्तु अविनाभावके स्वरूपका निरूपण भी करना होगा, क्योकि अप्रसिद्ध स्वरूपवाली वस्तु किसीका लक्षण नही बन सकती ?

समाधान—अब इसी शकाको लक्ष्य करके अविनाभावका स्वरूप बताते हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव ॥१६॥

सूत्रार्थ—सहभाव नियम और क्रमभाव नियम ऐसे अविनाभाव के दो भेद हैं, युगपत् रहनेका नियम सहभाव अविनाभाव है और क्रमश रहनेका नियम क्रमभाव अविनाभाव है ये दोनो अविनाभावके लक्षण या स्वरूप समझने चाहिए। किन दो पदार्थोमे सहभाव होता है और किन दो मे क्रमभाव होता है ऐसा अविनाभाव नियमके विषयमे प्रश्न होने पर कहते हैं—

सहचारिणो व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव ॥१७॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१८॥

सहचारिणो रूपरसादिलक्षणयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वादिस्वभावयो सहभाव प्रतिपत्तव्यः। पूर्वोत्तरचारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयो कार्यकारणयोश्चाग्निधूमादिस्वरूपयोः क्रमभाव इति।

कुतोसौ प्रोक्तप्रकारोऽविनाभावो निर्णीयते इत्याह—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥१९॥

न पुन· प्रत्यक्षादेरित्युक्त तर्कप्रामाण्यप्रसाधनप्रस्तावे।

ननु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तत्र किं साध्यमित्याह—

पूर्वोत्तर चारिणो कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१८॥

सूत्रार्थ—सहचारीरूप रसादिमे और व्याप्य व्यापक पदार्थोमे सहभाव अविनाभाव होता है। पूर्व और उत्तर कालभावी पदार्थोमे तथा कार्य कारणोमे क्रम-भाव अविनाभाव होता है। रूप रसादि सहचारी कहलाते है, वृक्षत्व और शिंशपात्वादि व्याप्यव्यापक कहलाते है, इनमे सहभाव पाया जाता है। कृतिका नक्षत्रका उदय और रोहिणी नक्षत्रका उदय आदि पूर्वोत्तर चारी कहलाते है एव धूम और अग्नि आदि कार्य कारण कहलाते है इनमे क्रमभाव पाया जाता है।

इस अविनाभावका निर्णय किस प्रमाणसे होता है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है—

तर्कात् तन्निर्णय ॥१६॥

सूत्रार्थ—अविनाभाव सवधका निश्चय तर्क प्रमाणसे होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अविनाभावका निर्णय नही होता ऐसा पहले तर्क ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध करते समय कह आये है।

शका—साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते है ऐसा प्रतिपादन तो हो चुका किन्तु साध्य किसे कहना यह नही बताया है?

समाधान—अब इसी साध्यका लक्षण कहते है—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

सशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूप सिद्धमुच्यते, तद्विपरीतमसिद्धम् । तच्च—

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥२१॥

किमय स्थाणु पुरुषो वेति चलितप्रतिपत्तिविषयभूतो ह्यर्थः सन्दिग्धोभिधीयते। शुक्तिकाशकले रजताध्यवसायलक्षणविपर्यासगोचरस्तु विपर्यस्त । गृहीतोऽगृहीतोपि वार्थो यथावदनिश्चितस्वरूपोऽव्युत्पन्न । तथाभूतस्यैवार्थस्य साधने साधनसामर्थ्यात्, न पुनस्तद्विपरीतस्य तत्र तद्वैफल्यात्।

इष्टाऽबाधिनविशेषणद्वयस्यानिष्टेत्यादिना फल दर्शयति—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥२२॥

इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम् ॥२०॥

इष्ट अबाधित और असिद्धभूत पदार्थको "साध्य" कहते है। जो पदार्थ वादीको अभिप्रेत हो उसे इष्ट कहते है। किसी प्रमाणसे बाधित नही होना अबाधित है और अप्रतिपन्नभूत पदार्थको असिद्ध कहते है। सशयादिका व्यवच्छेद करके पदार्थका स्वरूप ज्ञात होना "सिद्ध" कहलाता है और इससे विपरीत असिद्ध है।

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्य सिद्धपदम् ॥२१॥

सूत्रार्थ— सदिग्ध, विपरीत एव अव्युत्पन्न पदार्थ साध्यरूप हो सके इस हेतुसे साध्यका लक्षण करते समय "असिद्ध पदका" ग्रहण किया है। "यह स्थाणु है या पुरुष है" इसप्रकार चलित प्रतिपत्तिके विषयभूत अर्थको "सदिग्ध" कहते है। सीपके टुकडेमे चादीका निश्चय होना रूप विपर्यास के गोचरभूत पदार्थको "विपर्यस्त" कहते है। गृहीत अथवा अगृहीत पदार्थ जब यथावत् निर्णीत नही होता तब उसे "अव्युत्पन्न" कहते हैं। इन तीन प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धि करनेमे ही हेतुकी सामर्थ्य होती है इनसे विपरीत पदार्थोंकी सिद्धि करनेमे नही। क्योकि असदिग्ध आदि पदार्थोंके लिये अनुमान की आवश्यकता नही रहती वे तो सिद्ध ही रहते है।

अब साध्यके इष्ट और अबाधित इन दो विशेपणोंकी सफलता दिखलाते हैं—

अनिष्टाध्यक्षादिवाधितयो साध्यत्वमाभूदितीष्टावाधितवचनम् ॥२२॥

अनिष्टं हि सर्वथा नित्यत्वं शब्दे जैनस्य। अश्रावणत्वं तु प्रत्यक्षबाधितम्। आदिशब्देनानुमानादिबाधितपक्षपरिग्रहः। तत्रानुमानबाधितं यथा—नित्यः शब्द इति। आगमबाधितं यथा—प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति। स्ववचनबाधितः यथा—माता मे बन्ध्येति। लोकबाधितं यथा—शुचि नरशिरःकपालमिति। तयोरनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।

ननु यथा शब्दे कथञ्चिदनित्यत्वं जैनस्येष्टं तथा सर्वथाऽनित्यत्वमाकाशगुणत्वं चान्यस्येति तदपि साध्यमनुषज्यते। न च वादिनो यदिष्टं तदेव साध्यमित्यभिधातव्यम्, सामान्याभिधायित्वेनेष्टस्यान्यत्राप्यविशेषात्। इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥२३॥

सूत्रार्थ—अनिष्ट पदार्थ एवं प्रत्यक्षादिप्रमाणसे बाधितपदार्थ साध्यरूप मत होवे एतदर्थ 'इष्ट' और 'अबाधित' ये दो विशेषण साध्य पदके साथ प्रयुक्त किये है। जैसे शब्दमे सर्वथा नित्यपना सिद्ध करना जैनके लिए अनिष्ट है। तथा शब्दमे अश्रावणत्व (कर्ण गोचर न होना) मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। सूत्रोक्त 'आदि' शब्द द्वारा अनुमानादि प्रमाणसे बाधित पक्षवाले साध्यका भी ग्रहण हो जाता है, अर्थात् जो साध्य अनुमानादिसे बाध्य हो उसको भी साध्य नही कहते। जैसे "शब्द नित्य है" ऐसा साध्य बनाना अनुमान बाधित है। "धर्म परलोकमे दुःखदायक है" ऐसा कहना आगम बाधित है। जो साध्य अपने ही वचनसे बाधित हो उसे स्ववचन बाधित कहते है जैसे—मेरी माता वध्या है। जो लोक व्यवहारमे बाधित हो उसे लोक बाधित साध्य कहते है जैसे मनुष्यका कपाल शुचि है। इस प्रकारके अनिष्ट एवं प्रत्यक्षादिसे बाधित वस्तुको साध्यपना न हो इस कारणसे इष्ट और अबाधित विशेषण साध्यपदमे प्रयुक्त हैं।

शका—जिसप्रकार जैनको शब्दमे कथचित् अनित्यपना मानना इष्ट है उसी प्रकार अन्य वैशेषिकादि परवादियोको उसमे सर्वथा अनित्यत्व और आकाशगुणत्व मानना इष्ट है अत उसको साध्यत्वका प्रसग प्राप्त होता है। ऐसा तो कह नही सकते कि जो वादीको इष्ट हो वही साध्य बने, क्योकि सामान्यरूपसे कहा गया इष्ट विशेषण अन्यत्र (प्रतिवादीमे) भी सभव है कोई विशेपता नही है?

समाधान—अब इसी शकाका परिहार करते हुए श्री माणिक्यनदी आचार्य सूत्र कहते है—

न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिन ॥२३॥

विशेषणम् । न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणं प्रतिनियतत्वाद्विशेषणविशेष्यभावस्य । तत्रासिद्धमिति साध्यविशेषणं प्रतिवाद्यपेक्षया न पुनर्वाद्यपेक्षया, तस्यार्थस्वरूपप्रतिपादकत्वात् । न चाविज्ञातार्थस्वरूप प्रतिपादको नामातिप्रसङ्गात् । प्रतिवादिनस्तु प्रतिपाद्यत्वात्तस्य चाविज्ञातार्थस्वरूपत्वाविरोधात् तदपेक्षयैवेद विशेषणम् । इष्टमिति तु साध्यविशेषणं वाद्यपेक्षया, वादिनो हि यदिष्ट तदेव साध्य न सर्वस्य । तदिष्टमप्यध्यक्षाद्यबाधित साध्य भवतीति पतिपत्तव्य तत्रैव साधनसामर्थ्यात् ।

तदेव समर्थयमान प्रत्यायनाय हीत्याद्याह—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२४॥

इच्छया खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते । स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनाय चेच्छा वक्तुरेव ।

तस्य चोक्तप्रकारस्य साध्यस्य हेतोर्व्याप्तिप्रयोगकालापेक्षया साध्यमित्यादिना भेद दर्शयति—

सूत्रार्थ—जिस तरह असिद्ध विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त हुआ है उस तरह इष्ट विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त नही हुआ । विशेष्यविशेपणभाव प्रतिनियत होता है अत सभीके लिये सब विशेषण लागू नही होते । साध्यका असिद्ध विशेषण तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे है न कि वादीकी अपेक्षासे, क्योकि वादी तो साध्यके स्वरूपका प्रतिपादक होता है, यदि वादीको साध्य असिद्ध है तो वह उसका स्वरूप किस प्रकार प्रतिपादन करता ? क्योकि जिसके लिये अर्थस्वरूप ज्ञात नही उसको प्रतिपादक माने तो अतिप्रसग होगा । हा प्रतिवादी तो प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) होनेके कारण अविज्ञातअर्थ स्वरूपवाला होता है, इसमे अविरोध है अत उसकी अपेक्षासे ही असिद्ध विशेषण प्रयुक्त हुआ है । तथा साध्यका इष्ट विशेपण वादीकी अपेक्षासे है, क्योकि वादीको जो इष्ट हो वही साध्य होता है सबका इष्ट साध्य नही होता । इस प्रकार साध्य इष्ट और अबाधित होता है ऐसा समझना चाहिए, ऐसे साध्यकी सिद्धिके लिए ही साधनमे सामर्थ्य होती है । आगे इसीका समर्थन करते हैं—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२४॥

सूत्रार्थ—विपय प्रतिपादन एव समझानेकी इच्छा वक्ताको ही हुआ करती है । अर्थात् अपने इष्ट तत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये वक्ताको (वादीको) ही इच्छा होती है ।

उक्त प्रकारके साध्य सबधी हेतुके साध्यमे व्याप्तिकाल और प्रयोगकालकी अपेक्षासे भेद होता है ऐसा वतलाते है—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२५॥

क्वचिद्व्याप्तिकाले साध्यं धर्मो नित्यत्वादिस्तेनैव हेतोर्व्याप्तिसम्भवात्। प्रयोगकाले तु तेन साध्यधर्मेण विशिष्टो धर्मी साध्यमभिधीयते, प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टत्वात् साध्यव्यपदेशाविरोधः।

अस्यैव पर्यायमाह—

पक्ष इति यावत् ॥२६॥

ननु च कथ धर्मी पक्षो धर्मधर्मिसमुदायस्य तत्त्वात्, तन्न, साध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिण साधयितुमिष्टस्य पक्षाभिधाने दोषाभावात्।

स च पक्षत्वेनाभिप्रेत —

साध्यं धर्म क्वचित् तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२५॥

सूत्रार्थ—कही धर्मको साध्य बनाते है और कही धर्म विशिष्ट धर्मीको साध्य बनाते है। कही पर अर्थात् व्याप्तिकालमें (जहा जहा साधन होता है वहा वहां साध्य अवश्य होता है इत्यादि रूपसे साध्य साधनका अविनाभाव दिखलाते समय) नित्यत्वादि धर्म ही साध्य होता है, क्योकि उसके साथ ही हेतुकी व्याप्ति होना सभव है। प्रयोग-कालमे (अनुमानप्रयोग करते समय) तो उस साध्य धर्मसे युक्त धर्मीको साध्य बनाया जाता है, क्योकि धर्मी प्रतिनियत साध्यधर्मके विशेषण द्वारा विशिष्ट होनेके कारण उसको सिद्ध करना इष्ट होता है अत· साध्य व्यपदेशका उसमे अविरोध है। धर्मीका नामातर कहते है—

पक्ष इति यावत् ॥२६॥

सूत्रार्थ—धर्मीका दूसरा नाम पक्ष भी है।

शका—धर्मीको पक्ष किसप्रकार कह सकते है? क्योकि धर्म और धर्मीके समुदायका नाम पक्ष है।

समाधान—ऐसा नही, साध्य धर्मके विशेषण द्वारा युक्त होनेके कारण धर्मीको सिद्ध करना इष्ट रहता है अतः उसको पक्ष कहनेमे कोई दोष नही है। पक्षरूपसे स्वीकार किया—

प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्विकल्पत क्वचित्प्रत्यक्षादित. क्वचिच्चोभयत इति प्रदर्शनार्थम्–'प्रत्यक्षसिद्धस्यैव धर्मित्वम्' इत्येकान्तनिराकरणार्थं च विकल्पसिद्ध इत्याद्याह्—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥२८॥

अस्ति सर्वज्ञः नास्ति खरविषाणमिति ॥२९॥

विकल्पेन सिद्धे तस्मिन्धर्मिणि सत्तेतरे साध्ये हेतुसामर्थ्यत । यथा अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, नास्ति खरविषाण तद्विपर्ययादिति । न खलु सर्वज्ञखरविषाणयो सदसत्ताया साध्याया विकल्पादन्यत सिद्धिरस्ति, तत्रेन्द्रियव्यापाराभावात् ।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

सूत्रार्थ— धर्मी प्रसिद्ध होता है । उसकी प्रसिद्धि किसी अनुमानमे विकल्पसे होती है, किसीमे प्रत्यक्षादिसे होती है और किसीमे उभयरूपसे होती है ऐसा समझानेके लिये तथा "धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध ही होता है" ऐसे एकातका निराकरण करनेके लिये आगेका सूत्र प्रसूत होता है ।

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये । २८॥

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—जब धर्मी विकल्प सिद्ध होता है तब साध्य सत्ता और असत्ता (अस्तित्व और नास्तित्व) दो रूप हो सकता है अर्थात् सत्तारूप भी होता है और कहीं असत्तारूप भी । जैसे "सर्वज्ञ है" ऐसे प्रतिज्ञारूप वाक्यमे सत्ता साध्य है, तथा "खर विषाण (गधेके सीग) नही हैं" ऐसे प्रतिज्ञा वाक्यमे असत्ता साध्य है ।

धर्मीके विकल्पसे सिद्ध रहनेपर (अर्थात् सवाद और असवादरूपसे अनिश्चित रहने पर) सत्ता और असत्ताको सिद्ध करने के लिए हेतुमे सामर्थ्य हुआ करता है । जैसे—सर्वज्ञ है, क्योकि सुनिश्चितपनसे उसमे बाधक प्रमाणका अभाव है, इस अनुमानमे सत्ताको साध्य बनाया । खरविषाण नही है क्योकि उसके माननेमे प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक है । इस अनुमानमे असत्ताको साध्य बनाया । सर्वज्ञकी सत्तारूप साध्यमे और खरविषाणकी असत्तारूप साध्यमे विकल्पको छोडकर अन्य कोई प्रमाणसे सिद्धि नही है, क्योकि सर्वज्ञ और खरविषाणमे इन्द्रिय प्रत्यक्षका व्यापार ही नही है ।

ननु चेन्द्रियप्रतिपन्न एवार्थे मनोविकल्पस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्रेन्द्रियव्यापाराभावे विकल्पस्यापि प्रवृत्तिः; इत्यप्यपेशलम्; धर्माधर्मादौ तत्प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्। आगमसामर्थ्यप्रभवत्वेनास्यात्र प्रवृत्तौ प्रकृतेप्यतस्तत्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्।

शंका—इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हुए पदार्थमे ही मनके विकल्प की प्रवृत्ति होती है अतः इन्द्रिय व्यापार से रहित सर्वज्ञादिमें विकल्पका प्रादुर्भाव किसप्रकार हो सकता है?

समाधान—यह कथन ठीक नही, इस तरह की मान्यतासे तो धर्म अधर्म आदिमें विकल्पकी (मनोविचारका) प्रवृत्ति होना अशक्य होवेगा।

शका—धर्माधर्मादि विषयमे आगमकी सामर्थ्यसे विकल्प प्रादुर्भूत होते हैं अतः उनसे धर्मादिमें प्रवृत्ति होना शक्य ही है?

समाधान—तो फिर यही बात प्रकृत धर्मीके विषयमे है अर्थात् सर्वज्ञ आदि धर्मीमे भी आगमकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ विकल्प प्रवृत्ति करता है कोई विशेषता नही।

विशेषार्थ—जिसमे साध्य रहता है उसे पक्ष या धर्मी कहते है। यह पक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध भी होता है और आगमादि से भी सिद्ध होता है। जो पदार्थ इन्द्रियगम्य नही है ऐसे पुण्य, पाप, आकाश, परमाणु आदि कोई तो आगमगम्य है और कोई अनुमानगम्य। इनमे धर्मी अर्थात् पक्ष विकल्प सिद्ध रहता है जिस पक्षका आस्तित्व और नास्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसे विकल्प सिद्ध कहते हैं। शकाकारने प्रश्न किया कि इन्द्रियसे जाने हुए पदार्थमे मनोविकल्प हुआ करते है जो पदार्थ इन्द्रिय गम्य नही हैं उनमे विकल्प नही होते, अत सर्वज्ञादिको विकल्प सिद्ध धर्मी मानना ठीक नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यने कहा कि जो इन्द्रिय गोचर नही हैं ऐसे पदार्थ आगम ज्ञानसे विचारमे आते है। सभी वादी परवादी किसी ना किसी रूपसे ऐसे पदार्थ स्वीकार करते ही हैं कि जो इन्द्रियगोचर नही। परमाणुको सभीने इन्द्रियके अगम्य माना है। यौग धर्म अधर्म आत्मादिको अतीन्द्रिय मानते है, इन पदार्थोंकी सत्ता आगमसे स्वयं ज्ञात करके परके लिये अनुमान द्वारा समझाया जाता है। सर्वज्ञका विषय भी आगमगम्य है, उनको आगमके बलसे निश्चित करके जो परवादी उसकी सत्ता नही मानते उनको अनुमानसे सिद्ध करके बतलाते हैं।

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥३०॥

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

प्रमाण प्रत्यक्षादिकम्, उभय प्रमाणविकल्पौ, ताभ्या सिद्धे पुनर्धर्मिणि साध्यधर्मेण विशिष्टता साध्या। यथाग्निमानय देश, परिणामो शब्द इति। देशो हि धर्मित्वेनोपात्तोऽध्यक्षप्रमाणत एव प्रसिद्ध., शब्दस्तूभाभ्याम्। न खलु देशकालान्तरिते ध्वनौ प्रत्यक्ष प्रवर्त्तते, श्रूयमाणमात्र एवास्य प्रवृत्तिप्रतीते। विकल्पस्य त्वऽनियतविषयतया तत्र प्रवृत्तिरविरुद्धैव।

ननु चैव देशस्याप्यग्निमत्त्वे साध्ये कथ प्रत्यक्षसिद्धता? तत्र हि दृश्यमानभागस्याग्निमत्त्वसाधने प्रत्यक्षबाधन साधनवैफल्य वा, तत्र साध्योपलब्धे। अदृश्यमानभागस्य तु तत्साधने कुतस्त-

---

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्य धर्म विशिष्टता ॥३०॥

अग्निमानय देश. परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

सूत्रार्थ—प्रमाण धर्मीके रहते हुए एव उभयसिद्ध धर्मीके रहते हुए साध्यधर्म विशिष्टता साध्य होती है। जैसे—यह प्रदेश अग्नियुक्त है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध धर्मीका उदाहरण है। शब्द परिणामी है। यह उभय सिद्ध धर्मीका उदाहरण है। प्रत्यक्षादि प्रमाण है, जिसमे प्रमाण और विकल्पसे सिद्धि हो उसे उभय सिद्ध धर्मी कहते हैं। इन धर्मियोके रहते हुए साध्य धर्मसे विशिष्टता साध्य होती है। यथा—यह देश अग्नियुक्त है और शब्द परिणामी है ये क्रमश प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीके उदाहरण हैं। अग्नियुक्त प्रदेश प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है अत यह धर्मी प्रमाण सिद्ध कहलाया। शब्द उभयरूपसे सिद्ध है, क्योकि देश और कालसे अतरित हुए शब्दमे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त नही होता केवल श्रूयमाण शब्दमे ही इसकी प्रवृत्ति होती है। अनियत विषयवाला होनेसे विकल्पकी प्रवृत्ति शब्दमे होना अविरुद्ध ही है।

शका—इसप्रकारसे शब्दको उभयसिद्ध धर्मी माने अर्थात् वर्त्तमानका शब्द प्रमाण सिद्ध और देश एव कालसे अतरित शब्द विकल्प सिद्ध माने तो अग्निमत्व साध्यमे प्रदेशरूप धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध कैसे हो सकता है? क्योकि दृश्यमान प्रदेशके भागको अग्नियुक्त सिद्ध करते है तो प्रत्यक्ष बाधा आयेगी या हेतु विफल ठहरेगा अर्थात् दृश्यमान प्रदेश भागमे यदि अग्नि प्रत्यक्षसे दिखायी दे रही तो उसको हेतु द्वारा सिद्ध करना व्यर्थ है क्योकि साध्य उपलब्ध हो चुका। और यदि उक्त भागमे अग्नि प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षतेति ? तदप्यसमीचीनम्, अवयविद्रव्यापेक्षया पर्वतादे साव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रसिद्धताभिधानात् । अतिसूक्ष्मेक्षिकापर्यालोचने न किञ्चित्प्रत्यक्ष स्यात्, बहिरन्तर्वाऽस्मदादिप्रत्यक्षस्याशेषविशेषतोऽर्थ-साक्षात्करणेऽसमर्थत्वात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तत्र सामर्थ्यात् ।

ननु प्रयोगकालवद्व्याप्तिकालेपि तद्विशिष्टस्य धर्मिण एव साध्यव्यपदेश कुतो न स्यादित्या-शङ्कयाह—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥३२॥

न पुनस्तद्वान् ।

अन्यथा तदघटनात् ॥३३॥

अनेन हेतोरन्वयासिद्धे । न खलु यत्र यत्र कृतकत्वादिक प्रतीयते तत्र तत्रानित्यत्वादिविशिष्ट-शब्दाद्यन्वयोस्ति ।

नही है तो वहा हेतु द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध करना प्रत्यक्ष बाधित है । यदि उक्त प्रदेशके अदृश्यमान-भागमे अग्निमत्वको सिद्ध करते है तो उस भागको प्रत्यक्षसिद्ध धर्मी किस प्रकार कह सकते है ?

समाधान—यह कथन असम्यक है, अवयवी द्रव्यकी अपेक्षासे पर्वतादिप्रदेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध माने गये है । यदि अत्यत सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करे तो कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष नही कहलायेगा, क्योकि अतरग या बहिरग (चेतनाचेतन) पदार्थको जाननेवाला हम जैसे सामान्य व्यक्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान (साव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण) पूर्ण विशेषताके साथ पदार्थका साक्षात्कार करनेमे असमर्थ है, ऐसा साक्षात्कार करनेमे तो योगी प्रत्यक्षज्ञान (पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण) ही समर्थ है ।

शका—प्रयोगकालके समान व्याप्तिकालमे भी साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको ही साध्य क्यो नही बनाते ?

समाधान—इस शकाका समाधान अग्रिम दो सूत्रो द्वारा करते है—

व्याप्तौ तु साध्य धर्म एव ॥३२॥

अन्यथा तदघटनात् ॥३३॥

सूत्रार्थ .. व्याप्ति करते समय धर्मको ही साध्य बनाते है न कि धर्मविशिष्ट धर्मीको, क्योकि धर्मीको (पर्वतादिको) साध्य बनाने पर व्याप्ति घटित नही हो सकती ।

'ननु प्रसिद्धो धर्मीत्यादिपक्षलक्षणप्रणयनमयुक्तम्, अस्ति सर्वज्ञ इत्याद्यनुमानप्रयोगे पक्षप्रयोगस्यैवासम्भवात् अर्थादापन्नत्वात्तस्य । अर्थादापन्नस्याप्यभिधाने पुनरुक्तत्वप्रसङ्ग –"अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधान पुनरुक्तम्" [न्यायसू० ५।२।१५] इत्यभिधानात् । तत्प्रयोगेपि च हेत्वादिवचनमन्तरेण साध्याप्रसिद्धेस्तद्वचनादेव च तत्प्रसिद्धेर्व्यर्थं पक्षप्रयोग.' इत्याशङ्क्य साध्यधर्माधारेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३४॥

साध्यधर्मोऽस्तित्वादिः, तस्याधार आश्रय यत्रासौ साध्यधर्मो वर्त्तते, तत्र सन्देह –किमसौ साध्यधर्मोऽस्तित्वादि सर्वज्ञे वर्त्तते सुखादौ वेति, तस्यापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

अर्थात् जहा जहा धूम है वहा वहा पर्वत है ऐसी व्याप्ति नही होती अपितु जहा जहा धूम है वहा वहा साध्य धर्म अग्नि है ऐसी व्याप्ति ही घटित होती है । इसका भी कारण यह है कि धर्मीके साथ हेतुका अन्वय असिद्ध है । जैसे शब्द अनित्य है (धर्मी) क्योकि वह कृतक है (हेतु) इस अनुमानके कृतकत्व हेतुका अन्वय केवल अनित्यत्वादि-विशिष्ट शब्दमे ही नही है । अर्थात् जहा जहा कृतकत्वादि प्रतीत होता है वहा वहा शब्दरूप धर्मी ही प्रतीत होवे ऐसी बात नही, कृतकत्व तो शब्दके समान घट पट आदि अनेको के साथ रहता है ।

बौद्ध—"प्रसिद्धो धर्मी" इसप्रकार से पक्षका लक्षण करना अयुक्त है, क्योकि "सर्वज्ञ है" इत्यादि अनुमान प्रयोगमे पक्षका प्रयोग होना ही असभव है, पक्ष तो अर्थादापन्न ही है (प्रकरणसे ही गम्य है) अर्थादापन्न का भी कथन करे तो पुनरुक्त दोष आयेगा "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानम् पुनरुक्तम्" ऐसा न्याय सूत्रमे कहा है । तथा पक्षका प्रयोग करनेपर भी जब तक हेतु वचन प्रयुक्त नही होता तब तक साध्य की सिद्धि नही होती, हेतु वचनसे ही साध्य सिद्धि होती है अत पक्षका प्रयोग करना व्यर्थ है ।

जैन—अब इसी शका का निरसन करते है—

साध्य धर्माधार सदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—साध्य धर्मके आधारका सदेह दूर करनेके लिये गम्यमान अर्थात् जाने हुए भी पक्षका कथन करना आवश्यक है । अस्तित्वादि साध्यका धर्म होता है उसका आधार या आश्रय कि जहा पर साध्य धर्म रहता है उसमे सशय प्रादुर्भूत

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥३५॥

तस्याऽवचनं साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽयुक्तः, वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ साधयितुं प्रस्तुताया प्रतिज्ञाप्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाभावात् तत. प्रतिपक्षासिद्धेः । द्वितीयपक्षोप्ययुक्त, तत्प्रयोगे प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्, पक्षाऽप्रयोगे तु केषाञ्चिन्मन्दमतीना प्रकृतार्थाप्रतिपत्ते. । ये तु तत्प्रयोगमन्तरेणापि प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते तान्प्रति तदप्रयोगोऽभीष्ट एव । "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत" [ ] इत्यभिधानात् । ततो युक्तो गम्यमानस्याप्यस्य प्रयोग, कथमन्यथा शास्त्रादावपि प्रतिज्ञाप्रयोग. स्यात् ? न हि शास्त्रे नियतकथाया प्रतिज्ञा नाभिधीयते–'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोय शिशपात्वात्'

होता है कि यह अस्तित्वादि साध्यधर्म सर्वज्ञमे रहता है या सुखादिमे रहता है ? इत्यादि, इस सशयको दूर करनेके लिए ज्ञात होते हुए भी पक्षको कहना जरूरी है ।

साध्य धर्मिणि साधन धर्मावबोधनाय पक्ष धर्मोपसहारवत् ॥३५॥

सूत्रार्थ—जिसप्रकार साध्यधर्मीमे साधनधर्मका अवबोध करानेके लिये पक्षधर्मका उपसहार किया जाता है ।

बौद्ध पक्ष प्रयोग नही मानते सो उसके नही कहनेमे क्या कारण है, साध्यके सिद्धिमे प्रतिबधक होनेके कारण पक्षको नही कहते या प्रयोजन नही होनेके कारण पक्षको नही कहते ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, जब वादी साध्य विनाभावी नियम वाले हेतु द्वारा अपने पक्षको सिद्ध करनेमें प्रस्तुत होता है तब किया गया पक्षका प्रयोग साध्यकी सिद्धिमे प्रतिबधक हो नही सकता, क्योकि उस पक्ष प्रयोगसे तो प्रतिवादीका पक्ष असिद्ध हो जाता है (खडित होता है) द्वितीय विकल्प भी अयुक्त है, क्योकि प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिपत्ति (जानकारी) होना रूप विशेष प्रयोजन पक्ष प्रयोग होने पर ही सधता है यदि पक्षका प्रयोग न किया जाय तो किन्ही मदबुद्धि वालोको प्रकृत अर्थका बोध नही हो सकता । हा यह बात जरूर है कि जो व्यक्ति पक्ष प्रयोगके विना भी प्रकृत अर्थको जान सकते हैं उनके लिये तो पक्षका प्रयोग नही करना अभीष्ट ही है । अनुमान प्रयोगकी परिपाटी तो प्रतिपाद्य (शिष्यादि) के अनुसार हुआ करती है अत गम्यमान (ज्ञात) रहते हुए भी पक्षका प्रयोग करना चाहिये । यदि ऐसी बात नही होती तो शास्त्रके प्रारभमे प्रतिज्ञा प्रयोग किस प्रकार होता ? शास्त्रमे नियत कथाके

इत्याद्यभिधानाना तत्रोपलम्भात् । परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेवोपयोगित्वात्तस्येत्यभिधाने वादेपि सोऽस्तु तत्रापि तेषा तादृशत्वात्।

अमुमेवार्थं को वेत्यादिना परोपहसनव्याजेन समर्थयते—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ? ॥३६॥

को वा प्रामाणिक कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयभेदेन वा त्रिधा हेतुमुक्त्वाऽसिद्धत्वादिदोषपरिहारद्वारेण समर्थयमानो न पक्षयति ? अपि तु पक्ष करोत्येव । न चाऽसमर्थितो हेतु साध्यसिद्धयङ्गमतिप्रसङ्गात् । तत: पक्षप्रयोगमनिच्छता हेतुमनुक्त्वैव तत्समर्थन कर्त्तव्यम् । हेतोरवचने

प्रसगमे प्रतिज्ञा अर्थात् पक्षप्रयोग नही होता हो सो भी बात नही "अग्निरत्र धूमात्" वृक्षोय शिशपात्वात् यहा पर धूम होनेसे अग्नि है, शिशपा होनेसे यह वृक्ष है इत्यादि रूपसे पक्षके प्रयोग शास्त्र कथामे उपलब्ध होते है ।

बौद्ध—शास्त्रकार जन शिष्योको बोध किस प्रकार हो इस प्रकारके विचारमे लगे रहते है अत परानुग्रहको करनेवाले वे शास्त्रादिमे यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग करते हो तो युक्तिसगत है, क्योकि प्रतिपाद्य-शिष्यादिके लिये पक्ष प्रयोग उपयोगी है ?

जैन—तो यही बात वादमे है, वादमे भी वादीगण परानुग्रह पक्ष एव प्रतिपाद्य को अवबोधन करानेमे लगे रहते है अत वाद कालमे भी पक्षका प्रयोग नितात आवश्यक है । इसी अर्थका उपहास करते हुए समर्थन करते हैं—

को वा त्रिधा हेतु मुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३६॥

सूत्रार्थ—कौन ऐसा बुद्धिमान है कि जो तीन प्रकारके हेतुको कहकर पुनश्च उसका समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे ? [अपितु अवश्य ही करे] ऐसा कौन प्रामाणिक बुद्धिमान पुरुष है जो कार्य हेतु, स्वभाव हेतु एव अनुपलभ हेतु इसप्रकार हेतु के तीन भेदोको कथन करता है अथवा पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप हेतुके तीन स्वरूपका प्रतिपादन असिद्धादि दोषोका परिहार करनेके लिये करता है वह पुरुष पक्षका प्रयोग न करे ? अर्थात् वह अवश्य ही पक्षका प्रयोग करता है । असमर्थित हेतु साध्यसिद्धिका निमित्त होना भी असभव है, क्योकि अतिप्रसग आता हैं अर्थात् समर्थन रहित हेतु साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है तो हेत्वाभास भी साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है क्योकि उसके स्वरूपका प्रति-

कस्य समर्थनमिति चेत् ? पक्षस्याप्यनभिधाने क्व हेत्वादि प्रवर्त्तताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्, गम्यमानस्य हेत्वादेरपि समर्थनमस्तु। गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचने तदर्थमेव प्रतिज्ञावचनमप्यस्तु विशेषाभावात्। तत. साध्यप्रतिपत्तिमिच्छता हेतुप्रयोगवत्पक्षप्रयोगोप्यभ्युपगन्तव्यः। तद्द्वयस्यैवानुमानाङ्गत्वात्, इत्याह—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्, नोदाहरणम् ॥३७॥

ननु "पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयवा" [न्यायसू० १।१।३२ (?)] इत्यभिधानाद् दृष्टान्तादेरप्यनुमानाङ्गत्वसम्भवादेतद्द्वयमेवागमित्ययुक्तमुक्तम्। प्रतिज्ञा ह्यागम। हेतुरनुमानम्,

---

पादनादिरूपसे समर्थन करना तो आवश्यक नही रहा ? फिर तो पक्षप्रयोगको नही चाहने वाले पुरुषको हेतुको बिना कहे ही उसका समर्थन करना चाहिये।

बौद्ध—हेतुका वचन या प्रयोग किये बिना किसका समर्थन करे ?

जैन—तो पक्षका वचन न कहने पर हेतु आदि भी कहा पर प्रवृत्त होंगे ?

बौद्ध—गम्यमान (ज्ञात हुए) प्रतिज्ञाके विषयमे ही हेतु आदि प्रवृत्त होते हैं।

जैन—तो वैसे ही गम्यमान हेतु आदिका समर्थन करना चाहिए।

बौद्ध—मदमतिको समझाने के लिये गम्यमान हेतु आदिका भी कथन करना पडता है ?

जैन—इसीप्रकार प्रतिज्ञा प्रयोग भी मंदमतिको समझानेके लिये करना पडता है उभयत्र समान बात है, कोई विशेषता नही। अतः साध्यकी प्रतिपत्तिको चाहनेवाले पुरुषको हेतु प्रयोगके समान पक्षप्रयोग भी स्वीकार करना चाहिये। यही दो अनुमानके अग है ऐसा अग्रिम सूत्रमे कहते हैं—

एतद् द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमानके अग हैं, उदाहरण अनुमानका अग नही है।

यहा पर नैयायिकादि परवादियोका कहना है कि पक्ष, हेतु, दृष्टात, उपनय, निगमन ये पाच अनुमानके अग है, इनमे उदाहरणको भी अनुमानका अग स्वीकार किया है अत अनुमानके दो ही अंग मानना अयुक्त है। पक्ष आदि अंगोंका अर्थ

प्रतिज्ञातार्थस्य तेनानुमीयमानत्वात्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्, "वादिप्रतिवादिनोर्यत्र बुद्धिसाम्यं तदुदाहरणम्" [ ] इति वचनात्। उपनय उपमानम्, दृष्टांतधर्मिसाध्यधर्मिणोः सादृश्यात्, "प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्यभिधानात्। सर्वेषामेकविषयत्वप्रदर्शनफलं निगमनमित्याशङ्कयोदाहरणस्य तावत्तदङ्गत्वं निराकुर्वन्नाह—नोदाहरणम्। अनुमानाङ्गमिति सम्बन्धः।

तद्धि किं साक्षात्साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुपादीयते, हेतोः साध्याविनाभावनिश्चयार्थं वा, व्याप्तिस्मरणार्थं वा प्रकारान्तरासम्भवात्? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः—

इसप्रकार है—पक्ष अर्थात् प्रतिज्ञा आगम ज्ञान रूप होती है। हेतु अनुमान रूप होता है, क्योंकि प्रतिज्ञात अर्थ अनुमान द्वारा अनुमेय (जानने योग्य) होता है। उदाहरण अर्थात् दृष्टांत प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी (जो पहले अपना पक्ष स्थापित करता है उसे वादी कहते हैं और जो उस पक्षका निराकरण करते हुए अपना दूसरा पक्ष (सिद्धांत) स्थापित करता है उसे प्रतिवादी कहते हैं) का बुद्धिसाम्य जहां पर हो उसे उदाहरण कहते हैं, अर्थात् दोनोंको जो मान्य एवं ज्ञात हो उसे उदाहरण कहते हैं। उपनय उपमा प्रमाणरूप होता है क्योंकि दृष्टांत धर्मी और साध्यधर्मीका सादृश्य इसका विषय है, प्रसिद्ध साधर्म्यसे साध्यको साधना उपमाज्ञान कहलाता है इस ज्ञानरूप उपनय होता है। सभी प्रमाणोंका एक विषय है ऐसा प्रदर्शन करना अर्थात् आगम अनुमानादिप्रमाण द्वारा प्रतिपादित पक्ष हेतु आदिका विषय एक अग्नि-आदि साध्यको सिद्ध करना ही फल है ऐसा अंतमें दिखलाना निगमननामा अनुमानांग है।

इसप्रकार के नैयायिकादिके मतव्यको लक्ष्य करके ही माणिक्यनंदी आचार्यने "नोदाहरणम्" इस पदका प्रयोग किया है अर्थात् उदाहरण अनुमानका अंग नहीं है ऐसा प्रथम ही यहां पर कहकर उक्त मतव्यका निराकरण किया है (आगे क्रमशः उपनय और निगमनका भी निराकरण करेंगे)

उदाहरणका प्रयोग साक्षात् साध्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये होता है अथवा हेतुका साध्याविनाभाव निश्चित करानेके लिये होता है या व्याप्तिका स्मरण करानेके लिये होता है? इसप्रकार नैयायिकके प्रति जैनके प्रश्न हैं उक्त तीन विकल्पों को छोडकर अन्य प्रकार तो संभव नहीं है। प्रथम विकल्प अयुक्त है—

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

न हि तत् साध्यप्रतिपत्त्यंग तत्र यथोक्तहेतोरेव साध्याविनाभावनियमैकलक्षणस्य व्यापारात् । द्वितीयविकल्पोप्यसम्भाव्यः—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥३९॥

न हि हेतोस्तेन साध्येनाविनाभावस्य निश्चयार्थं वा तदुपादानं युक्तम्, विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः । न हि सपक्षे सत्त्वमात्राद्धेतोर्व्याप्तिः सिद्धचति, 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र तदाभासेपि तत्सम्भवात् । ननु साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधन निवृत्तेरत्रासम्भवात्परत्र गौरेपि तत्पुत्रे

न हि तत् साध्यप्रतिपत्यग न्त्रा यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—साध्यकी प्रतिपत्तिके लिये उदाहरण निमित्त नही है, क्योकि वह प्रतिपत्ति तो यथोक्त (साध्याविनाभावी) हेतुके प्रयोगसे ही हो जाती है । साध्यके साथ जिसका अविनाभावी सबध है ऐसे हेतु द्वारा ही साध्यका बोध हो जानेसे उदाहरणकी आवश्यकता नही रहतो है । द्वितीय विकल्पहेतुका साध्याविनाभाव ज्ञात करनेके लिये उदाहरणरूप अगको स्वीकार करना भी अयुक्त है—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत् सिद्धे. ॥३९॥

सूत्रार्थ—साध्य साधनका अविनाभाव निश्चित करनेके लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है, क्योकि विपक्षमे बाधक प्रमाणको देखकर ही उसका निश्चय हो जाता है । साध्यके साथ अमुक हेतुका अविनाभाव है इसप्रकारका निर्णय करनेके लिए उदाहरणको ग्रहण करना भी अयुक्त है, वह निर्णय तो विपक्षमे बाधक प्रमाणसे ही हो जाता है अर्थात् अमुक हेतु विपक्षमे सर्वथा असभव है, इस प्रकारके बाधक प्रमाणसे ही हेतुका अविनाभाव सिद्ध होता है । हेतुके साध्याविनाभावकी सिद्धि केवल सपक्षसत्त्वसे नही होती, क्योकि सपक्षसत्त्व तो हेत्वाभासमे भी सभव है, जैसे "वह पुत्र काला है, क्योकि उसका पुत्र है, जिस तरह उसके अन्य पुत्र भी काले है" इस प्रकारके तत्पुत्रत्वादि हेत्वाभासोमे सपक्ष सत्त्व रहता है किन्तु उससे साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नही होती ।

तत्पुत्रत्वस्य भावान्न व्याप्तिः, तर्हि साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिनिश्चयरूपाद्बाधकादेव व्याप्तिप्रसिद्धेरलं दृष्टान्तकल्पनया ।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥४०॥

किंच, वादिप्रतिवादिनोर्यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तो भवति प्रतिनियतव्यक्तिरूपः, यथाऽग्नौ साध्ये महानसादिः । व्यक्तिरूपं च निदर्शनं कथं तदविनाभावनिश्चयार्थं स्यात् ? प्रतिनियतव्यक्तौ तन्निश्चयस्य कर्तुमशक्तेः । अनियतदेशकालाकाराधारतया सामान्येन तु व्याप्तिः । कथमन्यथान्यत्र

शंका—उक्त अनुमानमे साकल्यपनेसे साध्यके निवृत्त होनेपर साधनकी निवृत्ति होना असंभव है, क्योंकि उसके अन्य गोरे पुत्रमे भी तत्पुत्रत्व संभावित है अतः तत्पुत्रत्व हेतुकी स्वसाध्य (काला होना) के साथ व्याप्ति सिद्ध नही होती ?

समाधान—तो फिर साकल्यपनेसे साध्यके निवृत्त होने पर साधनकी निवृत्ति होती है ऐसा निश्चय करानेवाले बाधक प्रमाणसे ही व्याप्तिकी सिद्धि हुई, दृष्टांतकी कल्पना तो व्यर्थ ही है ।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्ति स्तत्रापि तद् विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टांतांतरापेक्षणात् ॥४०॥

सूत्रार्थ—दूसरी बात यह भी है कि दृष्टांत किसी विशेष व्यक्तिरूप मात्र होता है किन्तु व्याप्ति सामान्यरूप होती है अतः दृष्टांतमे भी यदि साध्यसाधनके अविनाभाव संबंधमे विवाद खडा हो जाय तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि उक्त विवाद स्थानमे पुनः दृष्टांतकी आवश्यकता पडेगी, तथा उसमे विवाद होनेपर तीसरे दृष्टांतकी आवश्यकता होगी ।

किंच, जहां वादी प्रतिवादी दोनोके बुद्धिका साम्य हो वह दृष्टांत कहलाता है, यह दृष्टांत प्रतिनियत व्यक्तिरूप हुआ करता है, जैसे अग्निरूप साध्यमे महानसका दृष्टांत है । यह व्यक्तिरूप उदाहरण साध्यसाधनके अविनाभावका निश्चय किसप्रकार करा सकता है ? प्रतिनियत व्यक्तिमे उसके निश्चयको करना तो अशक्य ही है । इसका भी कारण यह है कि अनियत देश अनियत काल एवं अनियत आकार के आधाररूपसे सामान्यस्वरूप व्याप्ति होती है उसका प्रतिनियतव्यक्ति मे निश्चय होना कथमपि संभव

साधनं साध्य साधयेत् ? तत्रापि दृष्टान्तेपि तस्था व्याप्तौ विप्रतिपत्तौ सत्या दृष्टांतान्तरान्वेषणेऽनवस्थान स्यात्।

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥४१॥

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं दृष्टान्तोपादान तथाविधस्य प्रतिपन्नाविनाभावस्य हेतो. प्रयोगादेव तत्स्मृतेः। एव चाप्रयोजन तदुदाहरणम्।

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥४२॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ? ॥४३॥

पर केवलमभिधीयमान साध्यसाधने साध्यधर्मिणि सन्दहयति सन्देहवती करोनि। कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ?

नही है। यदि ऐसा नही होता तो अन्यत्र स्थान पर हेतु स्वसाध्यको कैसे सिद्ध करता ? तथा दृष्टातमे भी व्याप्तिके विषयमे विवाद हो जाय तो अन्य दृष्टातकी खोज करनी पडनेसे अनवस्था आयेगी।

नापि व्याप्ति स्मरणार्थ तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृते ॥४१॥

सूत्रार्थ—व्याप्तिका स्मरण करानेके लिए भी उदाहरणकी जरूरत नही, उसका स्मरण तो तथाविध हेतुके प्रयोगसे ही हो जाया करता है। व्याप्ति स्मृतिके लिये दृष्टातका ग्रहण भी व्यर्थ है, क्योकि जिसका साध्याविनाभाव ज्ञात है ऐसे हेतुके प्रयोग से ही व्याप्ति स्मरण हो जाता है। इस प्रकार उदाहरण प्रयोजनभूत नही है ऐसा सिद्ध हुआ।

तत् परमभिधीयमान साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सदेहयति ॥४२॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥४३॥

सूत्रार्थ—तथा केवल उदाहरणको कहनेसे साध्यधर्मीमे साध्यसाधनके बारेमे सशय उत्पन्न होता है। यदि ऐसा नही होता तो उदाहरणके अनतर ही उपनय और निगमनके प्रयोगकी आवश्यकता किस तरह होती ? अभिप्राय यह कि बाल प्रयोगरूप अनुमानमे पक्ष हेतु और उदाहरणके अनतर तत्काल ही उपनय और निगमनका प्रयोग किया जाता है, केवल उदाहरणका प्रयोग करे और आगेके उपनयादि को न कहे तो साध्यसाधन सदेहास्पद हो जाते है (अर्थात् ये धूम तथा अग्निरूप साध्यसाधन महानस के समान है या अन्य है ? इसप्रकार केवल उदाहरणके प्रयोग से सदेह बना रहता है।)

मा भूद्दृष्टान्तस्यानुमान प्रत्यगत्वमुपनयनिगमनयोस्तु स्यादित्याशकापनोदार्थमाह—

न च ते तदंगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयात् ॥४४॥

न च ते तदगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेव हेतुसाध्यप्रतिपत्तौ सशयाभावात्। तथापि दृष्टान्तादेरनुमानावयवत्वे हेतुरूपत्वे वा—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवोवास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥४५॥

समर्थनमेव वर हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तस्योपयोगात्। समर्थन हि नाम हेतोरसिद्धत्वादिदोष निराकृत्य स्वसाध्येनाऽविनाभावसाधनम्। साध्य प्रति हेतोर्गमकत्वे च तस्यैवोपयोगो नान्यस्येति।

ननु व्युत्पन्नप्रज्ञाना साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासशयादर्थप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तादिवचनमनर्थकमस्तु। बालाना त्वव्युत्पन्नप्रज्ञाना व्युत्पत्त्यर्थं तन्नानर्थकमित्याह—

दृष्टात अनुमानका अग मत होवे किन्तु उपनय और निगमन तो उसके अग होते है? इसप्रकारकी आशका होने पर उसको दूर करते है—

न च ते तदगे साध्यधर्मिणि हेतु साध्ययोर्वचनादेवाऽसशयात् ॥४४॥

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन भी अनुमानके अग नही हैं क्योकि साध्यधर्मी मे साध्य और हेतुका कथन करनेसे ही तत्सबधी सशय दूर हो जाता है। इसप्रकार सशय रहित साध्य सिद्धि सभावित होते हुए भी दृष्टातादिको अनुमानका अग माना जाय अथवा सपक्षसत्त्वादि हेतुका त्रिरूप माना जाय तो—

समर्थनं वा वर हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—हेतुरूप समर्थनको ही अनुमानका अवयव माना जाय, क्योकि वह साध्यमे उपयोगी है। हेतुके असिद्धादि दोषको दूर करके स्वसाध्यके साथ उसका अविनाभाव स्थापित करना समर्थन कहलाता है। अथवा विपक्षमे साकल्यपनेसे बाधक प्रमाणका प्रदर्शन करना समर्थन है। साध्यके प्रति हेतुका गमकपना होनेमे समर्थन ही उपयोगी है अन्य नही।

शका—व्युत्पन्न प्रज्ञा वाले (साध्य माधन सवधी पूर्णज्ञान रखने वाले) पुरुषोको साध्यधर्मीमे हेतु और साध्यके कथन करनेसे ही सशयरहित अर्थकी प्रतिपत्ति

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४६॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे दृष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाभ्युपगमे, शास्त्र एवासौ तदभ्युपगम कर्तव्य न वादेऽनुपयोगात् । न खलु वादकाले शिष्या व्युत्पाद्यन्ते व्युत्पन्नप्रज्ञानामेव वादेऽधिकारात् । शास्त्रे चोदाहरणादौ व्युत्पन्नप्रज्ञा वादिनो वादकाले ये प्रतिवादिनो यथा प्रतिपद्यन्ते तान् तथैव प्रतिपादयितु समर्था भवन्ति, प्रयोगपरिपाटचा प्रतिपाद्यानुरोधतो जिनपतिमतानुसारिभिरभ्युपगमात् ।

तत्र तद्व्युत्पादनार्थं दृष्टान्तस्य स्वरूप प्रकार चोपदर्शयति—

दृष्टान्तो द्वेधाऽन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४७॥

हो जाती है अत उनको दृष्टातादि का कथन करना व्यर्थ है किन्तु अव्युत्पन्न प्रज्ञावाले पुरुषोको व्युत्पन्न करानेके लिए दृष्टान्तादिक व्यर्थ नही होते ?

उपर्युक्त शकाका समाधान करते है—

बालव्युत्पत्यर्थ तत् त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४६॥

सूत्रार्थ—बाल बुद्धिवाले पुरुषोके जानकारीके लिए दृष्टात आदि तीनों अंगोको स्वीकार किया जाता है किन्तु वह स्वीकृति शास्त्रके समय है वादके समय नही, वादमे दृष्टान्तादि तो अनुपयोगी है । यदि दृष्टात उपनय और निगमनको स्वीकार करना है तो वह शास्त्र चर्चामे स्वीकार करना चाहिए । वाद कालमे नही । इसका कारण यह है कि वादकालमे शिष्योको व्युत्पन्न नही बनाया जाता । वादका अधिकार तो व्युत्पन्न बुद्धिवालोको ही है । शास्त्रमे उदाहरण आदि रहते है उसमे जो निपुण हो जाते हैं वे वादीगण वाद करते समय सामनेवाले प्रतिवादो पुरुष जिसप्रकारसे समझ सके उनको उसी प्रकारसे समझानेमे समर्थ हुआ करते है, उस समय जितने अनुमानागसे प्रयोजन सधता है उतने अगका प्रयोग किया जाता है, क्योकि प्रयोग परिपाटी तो प्रतिपाद्यके अनुसार होती है ऐसा जिनेन्द्रमतका अनुसरण करनेवालोने स्वीकार किया है ।

अब बाल बुद्धिको व्युत्पन्न करानेके लिए दृष्टातका स्वरूप तथा प्रकार कहते है—

दृष्टातो द्वेधा अन्वय व्यतिरेकभेदात् ॥४७॥

दृष्टो हि विधिनिषेधरूपतया वादिप्रतिवादिभ्यामविप्रतिपत्त्या प्रतिपन्नोऽन्तः -साध्यसाधनधर्मो यत्रासौ दृष्टान्त इति व्युत्पत्ते ।

अथ कोऽन्वयदृष्टान्त कश्च व्यतिरेकदृष्टात इति चेत्—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोन्वयदृष्टान्तः ॥४८॥

यथाग्नौ साध्ये महानसादि ।

साध्याभावे साधनाभावः यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४९॥

यथा तस्मिन्नेव साध्ये महाह्लदादिः ।

अथ को नाम उपनयो निगमन वा किमित्याह—

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥५०॥

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—दृष्टातके दो भेद हैं अन्वय दृष्टात और व्यतिरेक दृष्टात । वादी और प्रतिवादी द्वारा विना विवादके विधि प्रतिषेधरूपसे देखा गया है साध्य साधन धर्म जहा पर उसे "दृष्टान्त" कहते है इसप्रकार दृष्टान्त शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ है दृष्टौ अन्तौ–साध्यसाधन–धर्मौ यस्मिन् स दृष्टान्त । अन्वय दृष्टान्त कौन है और व्यतिरेक दृष्टान्त कौन है ? इसप्रकार प्रश्न होने पर कहते है—

साध्य व्याप्त साधन यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय दृष्टान्त ॥४८॥

सूत्रार्थ—जहा पर साध्यसे व्याप्त साधनको दिखाया जाता है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते है । जैसे अग्निको साध्य करने पर रसोई घर का दृष्टात देते हैं ।

साध्याभावे साधनाभाव यत्रकथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्त ॥४९॥

सूत्रार्थ—जहापर साध्यके अभावमे साधनका अभाव दिखलाया जाता है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं । जैसे उसी अग्निरूप साध्य करनेमे महाह्लद (सरोवर) का दृष्टान्त दिया जाता है ।

उपनय किसे कहते है और निगमन किसे कहते है मो बताते हैं—

हेतोरुपसहार उपनय ॥५०॥

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥५१॥

प्रतिज्ञायास्तूपसहारो निगमनम् । उपनयो हि साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिण्युपनीयते । येनोपदर्श्यते हेतु. सोभिधीयते । निगमन तु प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्धयन्ते येन तदिति ।

तच्चानुमानं द्वयवयवं त्र्यवयव पञ्चावयव वा द्विप्रकार भवतीति दर्शयन्—

तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥

इत्याह ।

कुतस्तद् द्वेधेति चेत् ?

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥५३॥

तत्र—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५४॥

स्वार्थमनुमान साधनात्साध्यविज्ञानमित्युक्तलक्षणम् ।

सूत्रार्थ—हेतुको दुहराना उपनय है और प्रतिज्ञाको दुहराना निगमन है । साध्यके साथ जिसका अविनाभाव है ऐसे हेतुका विशिष्ट साध्य धर्मीमे जिसके द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको उपनय कहते हैं "उपनीयते हेतु. येन स उपनयः" इस प्रकार उपनय शब्दकी निरुक्ति है । प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इनका साध्य लक्षणभूत एक है अर्थ जिसका इसप्रकार जिसके द्वारा संबद्ध किया जाता हैं उसे निगमन कहते है । "निगम्यते—सबद्धच ते प्रतिज्ञादय. येन तद् निगमनम्" इसतरह निगमन शब्दकी निरुक्ति है ।

इसप्रकार दो अवयव वाला या तीन अवयव वाला अथवा पाच अवयव वाला वह अनुमान दो प्रकारका होता है ऐसा दिखलाते हैं—

तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥५३॥

स्वार्थमुक्त लक्षणम् ॥५४॥

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकारका है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते है ऐसा पहले बताया है वही स्वार्थानुमान कहलाता है । परार्थानुमान कौनसा है सो ही कहते हैं—

किं पुन. परार्थानुमानमित्याह परार्थमित्यादि—

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।।५५।।

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधने तत्परामर्शिवचनाज्जात यत्साध्यविज्ञान तत्परार्थानुमानम् ।

ननु वचनात्मक परार्थानुमान प्रसिद्धम्, तच्चोक्तप्रकार साध्यविज्ञान परार्थानुमानमिति वर्णयता कथ सङ्गृहीतमित्याह—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।।५६।।

तद्वचनमपि तदर्थपरामर्शिवचनमपि तद्धेतुत्वात् ज्ञानलक्षणमुख्यानुमानहेतुत्वादुपचारेण परार्थानुमानमुच्यते । उपचारनिमित्त चास्य प्रतिपादकप्रतिपाद्यापेक्षयानुमानकार्यकारणत्वम् ।

परार्थं तु तदर्थ परामर्शि वचनाज्जातम् ।।५५।।

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमानके अर्थका परामर्श करनेवाले वचनसे जो उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते है । स्वार्थानुमानके अर्थभूत साध्यसाधनको प्रकाशित करने वाले वचनको सुनकर जो साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है ।

शका—परार्थानुमान वचनात्मक होता है, साध्यके ज्ञानको परार्थानुमान कहते है ऐसा वर्णन करते हुए उक्त वचनात्मक परार्थानुमान का सग्रह क्यो नहीं किया है ?

इस शकाका समाधान करते हैं—

तद् वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।।५६।।

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान का प्रतिपादक वचन भी कथचित् परार्थानुमान कहलाता है, क्योकि वह वचन परार्थानुमान ज्ञानमे कारण पडते है । साध्य साधनभूत अर्थके द्योतक वचन भी ज्ञान लक्षणभूत मुख्य अनुमानका निमित्त होनेके कारण उपचारसे परार्थानुमान कहलाता है । प्रतिपादक पुरुप और प्रतिपाद्य शिष्यादिकी अपेक्षासे इस अनुमानमे कार्य कारणभाव होनेसे यह उपचार निमित्तिक है । साध्यसाधन वचनका प्रतिपादन करने वाले पुरुषका ज्ञान लक्षणभूत अनुमान है कारण जिसका उसको कहते हैं "तद् वचन" । तथा प्रतिपाद्य शिष्यादि पुरुपके ज्ञान लक्षणरूप अनुमानका जो

तत्प्रतिपादकज्ञानलक्षणानुमान(न)हेतु कारण यस्य तद्वचनस्य, तस्य वा प्रतिपाद्यज्ञानलक्षणानुमानस्य हेतु कारणम्, तद्भावस्तद्धेतुत्वम्, तस्मादिति। मुख्यरूपतया तु ज्ञानमेव प्रमाण परनिरपेक्षतयाऽर्थप्रकाशकत्वादिति प्राक्प्रतिपादितम्।

यथा चानुमान द्विप्रकारं तथा हेतुरपि द्विप्रकारो भवतीति दर्शनार्थं स हेतुर्द्वेधेत्याह—

स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् इति ॥५७॥

कारण है उसे "तद्धेतुत्व" कहते हैं यह "तद् वचन" और "तद्धेतुत्वात्" शब्दकी निरुक्ति है। इसका अर्थ यह है कि जिस पुरुषको धूम और अग्निरूप साध्य साधनका ज्ञान है वह कही पर्वतादिमे धूमको देखकर समीपस्थ पुरुषको कहता है कि "यहा पर अग्नि अवश्य है क्योकि धूम दिखायी दे रहा है" इस साध्यसाधनके वचनको सुनकर उसके निमित्तसे उक्त पुरुपको जो साध्यसाधनका ज्ञान होता है वह वास्तविक परार्थानुमान है और उक्त ज्ञाता पुरुपके जो साध्यसाधनके वचन मात्र है वह औपचारिक परार्थानुमान है। परकी अपेक्षा बिना किये जो पदार्थोको प्रकाशित करता है ऐसा ज्ञान ही मुख्यरूपसे प्रमाण है इसप्रकार पहले प्रतिपादन कर चुके है (प्रथम भागके कारकसाकल्यवाद सन्निकर्षवाद आदि प्रकरणोमे) अत वचनात्मक अनुमान उपचार मात्रसे परार्थानुमान कहला सकता है वास्तविकरूपसे नही ऐसा निश्चय हुआ।

भावार्थ—नैयायिक आदि परवादी साध्यसाधनको कहने वाले वचनको ही परार्थानुमान मानते है, उनके यहा सर्वत्र ज्ञानके कारणको ही प्रमाण माना जाता है जैसे इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष अर्थात् योग्य समीप स्थानमे होना ज्ञानका कारण है सो इस सन्निकर्षको प्रमाण माना किन्तु पदार्थोको जाननेकी सामर्थ्य तो ज्ञानमे है अत ज्ञान ही प्रमाण है, बाध्यसन्निकर्षादि तो व्यभिचारी कारण है अर्थात् इससे ज्ञान हो नही भी हो, तथा दिव्य ज्ञानीके तो इन कारणोके बिना ही ज्ञान उत्पन्न होता है अत प्रमाण तो ज्ञान ही है, वचनको प्रमाण मानना, सन्निकर्षको प्रमाण मानना यह सब मान्यता सदोप है, इसका विवेचन प्रथम भागमे भली भाति हुआ है। इसप्रकार यह निश्चित हो जाता है, साध्यसाधनके वचन परार्थानुमानका निमित्त होनेसे उपचारसे उसे परार्थानुमान कह देते हैं, वह कोई वस्तुभूत अनुमान प्रमाण नही है। अस्तु।

अनुमानके समान हेतु भी दो प्रकारका होता है ऐसा कहते है—

स हेतु द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ॥५७॥

योऽविनाभावलक्षणलक्षितो हेतु प्राक्प्रतिपादित स द्वेधा भवति उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।

तत्रोपलब्धिर्विधिसाधिकैवानुपलब्धिश्च प्रतिषेधसाधिकैवेत्यनयोर्विषयनियममुपलब्धिरित्यादिना विघटयति—

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

अविनाभावनिमित्तो हि साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभाव । यथा चोपलब्धेर्विधौ साध्येऽविनाभावाद्गमकत्व तथा प्रतिषेधेपि। अनुपलब्धेश्च यथा प्रतिषेधे ततो गमकत्व तथा विधावपीत्यग्रे स्वयमेवाचार्यो वक्ष्यति।

सा चोपलब्धिर्द्विप्रकारा भवत्यविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५९॥

सूत्रार्थ—उपलब्धि हेतु और अनुपलब्धि हेतु इसतरह हेतुके दो भेद हैं। साध्यके साथ जिसका अविनाभाव है वह हेतु कहलाता है ऐसा पहले कहा है, उसके उपलब्धि हेतु और अनुपलब्धि हेतु इसतरह दो भेद हैं। उपलब्धि हेतु केवल विधि-साधक ही है और अनुपलब्धि हेतु केवल प्रतिषेध साधक ही है ऐसा इन हेतुओके विषयका नियम करनेवालेका मतव्य विघटित करते है—

उपलब्धिर्विधि प्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

सूत्रार्थ—उपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेध (अस्तित्व नास्तित्व या सद्भाव अभाव) का साधक है और अनुपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेधका साधक है। साध्य—साधनमे गम्य—गमकभाव अविनाभावके निमित्तसे होता हैं। जिसप्रकार विधिरूप साध्यमे अविनाभावके कारण उपलब्धि हेतु गमक होता है उसप्रकार प्रतिषेध-रूप साध्यमे भी अविनाभावके कारण उक्त उपलब्धि हेतु उस प्रतिषेधरूप साध्यका गमक होता है। तथा जिस प्रकार प्रतिषेधरूप साध्यमे अविनाभावके निमित्तसे अनुप-लब्धि हेतु गमक होता है उसप्रकार विधिरूप साध्यमे भी उसी निमित्तसे अनुपलब्धि हेतु गमक होता है। आगे स्वय आचार्य इस विषयको कहेगे। उपलब्धि दो प्रकारकी है अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। आगे अविरुद्धोपलब्धिके भेद वताते हैं—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौपोढा व्याप्य कार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात् ॥५९॥

तत्र साध्येनाविरुद्धस्य व्याप्यादेरुपलब्धिर्विधौ साध्ये षोढा भवति व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तर-सहचरभेदात्।

ननु कार्यकारणभावस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धे कथं कार्यं कारणस्य तद्वा कार्यस्य गमकं स्यादित्यप्यास्तां तावद्विपयपरिच्छेदे सम्बन्धपरीक्षायां कार्यकारणतादिसम्बन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात्।

ननु प्रसिद्धेऽपि कार्यकारणभावे कार्यमेव कारणस्य गमकं तस्यैव तेनाविनाभावात्, न पुनः कारणं कार्यस्य तदभावात्, इत्यसङ्गतम्, कार्याविनाभावितयाऽवधारितस्यानुमानकालप्राप्तस्य छत्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्। न ह्यनुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं

सूत्रार्थ—विधिरूप साध्यके रहने पर अविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेद होते है व्याप्यअविरुद्धोपलब्धिहेतु, कार्यअविरुद्धउपलब्धिहेतु, कारणअविरुद्धउपलब्धिहेतु, पूर्वचरअविरुद्धउपलब्धिहेतु, उत्तरचरअविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर अविरुद्ध उपलब्धि हेतु। साध्यके साथ जो अविरुद्धपने से उपलब्ध हो ऐसे हेतुके विधिरूप साध्यके रहने पर ये छह भेद सभावित है।

बौद्ध—किसी प्रमाणसे कार्य कारणभाव सिद्ध नही होता अत. कार्य हेतु कारणरूप साध्यका गमक या कारण हेतु कार्यरूप साध्यका गमक किस प्रकार हो सकता है?

जैन—इस मतव्यको अभी ऐसे ही रहने दीजिये आगे प्रमाणके विषयका वर्णन करनेवाले परिच्छेदमे सबधकी परीक्षा करते हुए कार्यकारण आदि सबधको भले प्रकारसे सिद्ध करने वाले है।

बौद्ध—कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाय तो भी केवल कार्य ही कारणका गमक बन सकता है क्योकि कार्य कारणके साथ अविनाभावी है, किन्तु कारण, कार्यके साथ अविनाभावी नही होनेसे उसका गमक नही बन सकता?

जैन—यह असगत है, जिस कारणका कार्याविनाभाव सुनिश्चित है ऐसे अनुमानकालमे उपस्थित हुए छत्रादि विशिष्ट कारण, छायाआदिरूप कार्यके अनुमापक हो रहे प्रसिद्ध ही है। हम जैन अनुकूलतारूप कारणमात्र को कारण हेतु नही मानते, न अंत्यक्षण प्राप्त कारणको कारण हेतु मानते है जिससे कि अविनाभावित्वकी

लिंगमुच्यते, येन प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवाद्वयभिचारि स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यस्य प्रत्यक्षीकरणादनुमानानर्थक्य वा । तदेव समर्थयमानो रसादेकसामग्रचनुमानेनेत्याद्याह—

रसादेकमामग्रचनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥६०॥

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका सामग्रचनुमीयते । पश्चात्तदनुमानेन रूपानुमानम्। सजातीय हि रूपक्षणान्तर जनयन्नेव, प्राक्तनो रूपक्षणो विजातीयरसादिक्षणान्तरोत्पत्तौ प्रभुर्भवेन्नान्यथा । तथा चैकसामग्रचनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये भवत ।

अथ पूर्वोत्तरचारिणो प्रतिपादितहेतुभ्योर्थान्तरत्वसमर्थनार्थमाह—

विकलता संभावित रहनेसे व्यभिचार दोष आवे । अथवा कारणके द्वितीय क्षणमे अर्थात् उत्तरकालमे कार्यका साक्षात्कार हो जानेसे कारणानुमान व्यर्थ हो जानेका प्रसग आ सके । आगे इसी विषयको कहते है—

रसादेक सामग्रचनुमानेन रूपानुमान मिच्छद्भिरिष्टमेव किंचित्कारण—

हेतु र्यत्र सामर्थ्याप्रतिबधकारणातरा वैकल्ये ॥६०॥

सूत्रार्थ—रससे सामग्रीका अनुमान और उस अनुमानसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करनेवाले बौद्धोको कारण हेतुको अवश्य मानना होगा जिसमे कि सामर्थ्यका प्रतिबध नही हुआ हो एवं कारणातरोकी अविकलता (पूर्णता) हो । अर्थात् बौद्धोका मतव्य है कि आस्वादन किये गये रससे 'उस' रमको 'उत्पन्न करनेवाली सामग्रीका अनुमान लग जाता है, पश्चात् उस अनुमानसे रूपका अनुमान 'होता है'। इसका कारण यह है कि पहलेका रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षणको उत्पन्न करके ही विजातीय रसादि क्षणातरकी उत्पत्ति करानेमे समर्थ सहायक हो सकता अन्यथा नही । इसप्रकार एक सामग्रीभूत अनुमान द्वारा रूपानुमानका प्रादुर्भाव माननेवाले बौद्धोका जहापर सामर्थ्यकी रुकावट और अन्य कारणोकी अपूर्णता न हो उस कारणको कारणहेतुरूपसे स्वीकार करना इष्ट ही है ।

इसप्रकार बौद्धके मान्य तीन हेतुओमे (कार्य-स्वभाव और अनुपलब्धि) कारणरूप हेतुका समावेश नही होनेसे उनके हेतुकी सख्या गलत सिद्ध होती है । तथा

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥६१॥

प्रयोगः—यद्यत्काले अनन्तरं वा नास्ति न तस्य तेन तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा यथा भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्तिकाले असतो रावणादे, नास्ति च शकटोदयादिकाले अनन्तर वा कृत्तिकोदयादिकमिति। तादात्म्य हि समसमयस्यैव कृतकत्वानित्यत्वादे प्रतिपन्नम्। अग्निधूमादेश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव तदुत्पत्ति, न पुनर्व्यवहितकालस्य अतिप्रसङ्गात्।

पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी उक्त हेतुओसे पृथकरूप सिद्ध होते है ऐसा आगेके सूत्रमे कह रहे—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्ति र्वा कालव्यवधानेतदनुपलब्धे ॥६१॥

सूत्रार्थ—पूर्वचर हेतु और उत्तर हेतु तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिरूप तो हो नही सकते क्योकि इनमे कालका व्यवधान पडता है अत इन हेतुओका स्वभाव हेतु या कार्य हेतुमे अन्तर्भाव करना अशक्य है। काल व्यवधानमे तो तादात्म्य और तदुत्पत्ति की अनुपलब्धि ही रहेगी। जो जिसकालमे या अनतरमे नही है उसका उसके साथ तादात्म्य तदुत्पत्तिरूप सबध नही पाया जाता है, जैसे आगामीकालमे होनेवाले शख नामा चक्रवर्तीके समयमे असद्भूत रावणादिका तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप सबध नही पाया जाता। रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमे अथवा अनतर कृतिका नक्षत्रका उदय नही पाया जाता अत उन नक्षत्रोका तादात्म्यादि सबध नही होता। जो समान समयवर्ती होते है ऐसे कृतकत्व और नित्यत्वादिका ही तादात्म्य सबध हो सकता है। तथा अग्नि और धूम आदिके समान जो परस्परमे अव्यवहित रहते है उनमे ही तदुत्पत्ति सबध होना सभव है, काल व्यवधानभूत पदार्थोमे नही। ऐसा नही मानेगे तो अतिप्रसग होगा। अर्थात् अतीत और अनागतवर्त्ती मे भी तादात्म्यादि माननेका अनिष्ट प्रसग प्राप्त होगा।

बौद्ध—प्रज्ञाकर गुप्त नामा ग्रंथकार का मतव्य है कि भावी रोहिणी का उदय कृतिकोदयका कार्य है अत. कृतिकोदयका गमक होता है, इसलिए इस रोहिणी उदयका कार्य हेतुमे अतर्भाव कैसे नही होगा? अर्थात् इसका अतर्भाव कार्य हेतुमे होना चाहिए।

ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृत्तिकोदयस्य गमकत्वात्कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भाव इति चेत् ? कथमेवमभूद्भरण्युदय कृत्तिकोदयादित्यनुमानम् ? अथ भरण्युदयोपि कृत्तिकोदयस्य कारण तेनायमदोष, ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात्कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयात्,

जैन—तो फिर "भरणीका उदय एक मुहूर्त्त पहले हो चुका क्योकि कृतिका का उदय हो रहा है" इस अनुमानकी किस प्रकार प्रवृत्ति होगी ? अर्थात् इस हेतुका किसमे अतर्भाव करेगे ?

बौद्ध—भरणीका उदयभी कृतिकोदयका कारण है अत उक्त अनुमान प्रवृत्त नही होना आदि दोष नही आयेगा।

जैन—जिस स्वभाव द्वारा भरणी उदयसे कृतिकोदय हुआ उसी स्वभाव द्वारा रोहिणी उदयसे कृतिकोदय हुआ है क्या ? यदि हा तो भरणी उदयके बाद जैसे कृतिका उदय होता है वैसे रोहिणी उदयके बाद भी कृतिका उदय होना चाहिए ? तथा जिस प्रकार रोहिणी उदयके पहले कृतिका का उदय होता है उस प्रकार भरणी उदयके पहले भी कृतिका उदय होना चाहिए था ? तथा इसप्रकार अतीत और अनागत कारणोका एक कार्यमे व्यापार होना स्वीकार करते है तो आस्वाद्यमान रसका अतीत रस और भावीरूप दोनो ही कारण हो सकते है ? (क्योकि अतीत और अनागत कारणोका एकत्र कार्यमे व्यापार होना स्वीकार कर लिया) फिर वर्त्तमानरूप की अथवा अतीतरूपकी प्रतीति संभावित नही रहेगी। अभिप्राय यह है कि वर्त्तमान कार्यमे अनागत हेतु होता है तो उसका अवबोध किस प्रकार होगा ? अर्थात् नही हो सकता। अतीतकाल और एक काल अर्थात् वर्त्तमानकाल है जिनका उन पदार्थोका बोध होता है (कारणहेतुसे) न कि अनागतोका। ऐसा बौद्ध अभिमत प्रमाणवार्तिक ग्रथमे कहा है यह भी उक्त कथनसे अयुक्त हो जाता है।

बौद्ध—कृतिकोदयरूप हेतु भरणी उदय और रोहिणी उदयमे से किसी एकका कार्य है ?

जैन—तो उससे भरणी उदय और रोहिणी उदयमे से किसी एककी ही प्रतीति होगी।

तदा भरण्युदयादिवाऽतोपि पश्चादसौ स्यात्। यथा च शकटोदयात्प्राक्तथैव भरण्युदयादपि। यदि चातीतानागतयोरेकत्र कार्ये व्यापार., तर्ह्यास्वाद्यमानरसस्यातीतो रसो भावि च रूप हेतुः स्यात्। ततो न वर्त्तमानस्य रूपस्य वातीतस्य वा प्रतीतिः। इत्ययुक्तमुक्तम्–"अतीतैककालाना गतिर्नाऽनागतानाम्" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१३] इति। अथान्यतरकार्यमसौ, तर्ह्यन्यतरस्यैवात प्रतीतिर्भवेत्।

ननु स्वसत्तासमवायात्पूर्वमसन्तोपि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणो दृष्टास्ततोऽनेकान्तो हेतोरित्याशङ्क्य भाव्यतीतयोरित्यादिना प्रतिविधत्ते—

भावार्थ—बौद्ध पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुको नही मानते अतः प्रश्न होता है कि कृतिकोदय आदिरूप पूर्वचर आदि हेतुओका अतर्भाव किस हेतुमे किया जाय? उनके यहा तीन हेतु माने है–कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु। तादात्म्य सबधवाले पदार्थमे स्वभाव हेतु प्रवृत्त होता है एव अनुपलब्धि हेतु अभावरूप होता है अतः इनमे पूर्वचरादि हेतु अतर्भूत नही हो सकते, कार्य हेतुमे अतर्भाव करना चाहे तो वह भी असभव है क्योकि कृतिका नक्षत्रका उदय भरणी और रोहिणीके अतराल काल मे होता है अर्थात् भरणी उदयके अनन्तर और रोहिणीके पहले होता है अत यह भरणी उदयका तो उत्तरचर हेतु है, अर्थात् कृतिकाका उदय हुआ देखकर भरणी उदयका निश्चय हो जाता है। तथा कृतिकोदयके एक मुहूर्त्त पश्चात् रोहिणीका उदय होता है अत. उसके लिये यह कृतिकोदय पूर्वचर हेतु होता है, इसप्रकार कृतिकोदय भरणी उदय आदिसे काल व्यवधानको लिए हुए है, जिनमे कालका व्यवधान पडता है उन पदार्थोमे कार्य कारणभाव नही माना जाता। फिर भी बौद्धकी मान्यता है कि कृतिकोदय हेतुका कार्य हेतुमे ही अतर्भाव करना चाहिए, इस मान्यतापर विचार करते है–कृतिकोदय एक कार्य है ऐसा मानकर उसमे अतीत भरणी उदय और अनागत रोहिणी उदय कारण पडते है ऐसा स्वीकार करते है तो पहली बाधा तो यह आती है कि जिसका कारण अभी आगे होनेवाला है उसकी प्रतीति नही हो सकेगी क्योकि कारण ही नही तो उसका कार्य किसप्रकार दृष्टिगोचर होवे? दूसरी बाधा यह होगी कि स्वय बौद्ध ग्रथमे लिखा है कि—"अतीतैक कालाना गतिर्नागतानाम्" अतीत और वर्त्तमानवर्त्ती रूपादि साध्य की ही कार्य हेतु द्वारा अवगति (ज्ञान) होती है, अनागत साध्यकी नही। अत कृतिकोदयरूप पूर्वचर आदि हेतुओका कार्यहेतुमे अंतर्भाव करना कथमपि सिद्ध नही होता।

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ॥६२॥

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥६३॥

न च पूर्वमेवोत्पन्नमरिष्टं करतलरेखादिकं वा भाविनो मरणस्य राज्यादेर्व्यापारमपेक्षते, स्वयमुत्पन्नस्यापरापेक्षायोगात् । अथास्योत्पत्तिर्मरणादिनैव क्रियते, न, असत खरविषाणवत्कर्तृत्वायोगात् । कार्यकालेऽसत्त्वेपि स्वकाले सत्त्वाददोषश्चेत्, ननु किं भाविनो मरणादे स्वकाले पूर्वं सत्त्वम्,

---

शका—स्वसत्ताका समवाय होनेके पहले मरणादिक असद्भूत होते हुए भी अरिष्ट आदि कार्यको करते हुए देखे गये है अर्थात् मरण भावीकालमे स्थित है और उसका अरिष्टरूप कार्य पहले होता है अत. कारण हेतु पहले ही होता है। ऐसा कारण हेतुका लक्षण व्यभिचरित होता है ?

समाधान—इसी आशकाका अग्रिम सूत्र द्वारा निरसन करते हैं—

भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद् बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौप्रतिहेतुत्वम् ॥६२॥

तद् व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम् ॥६३॥

सूत्रार्थ—भावी मरणका अरिष्टके प्रति हेतुपना नही है, तथा अतीत जाग्रद् बोधका (निद्रा लेनेके पहलेका जाग्रत अवस्थाके ज्ञानका) उद्बोधके (निद्रा के अनन्तर होने वाले ज्ञानके) प्रति हेतुपना नही है, अर्थात् भावीकालमे होनेवाला मरण वर्त्तमानके अरिष्टका कारण नही हो सकता एव अतीतकालका जाग्रद ज्ञान आगामी अनेक समयोके अतरालमे होनेवाले उद्बोधका (सुप्तदशाके अनन्तरका ज्ञान) कारण नही हो सकता, क्योकि कारणभावका होना कारणके व्यापारके आश्रित है पहलेसे ही उत्पन्न हुए अरिष्ट आदि अथवा हस्तरेखादिक आगामी कालके मरण या राज्यप्राप्ति आदिके व्यापारकी अपेक्षा नही रखते है, क्योकि "जो स्वय उत्पन्न हो चुका है उसको अन्यकी अपेक्षा नही होती" ऐसा न्याय है ।

बौद्ध—अरिष्टादिकी उत्पत्ति भावी मरणादि द्वारा ही की जाती है ?

जैन—नही, खर विषाणके समान जो असत् है उसमे कार्यके कर्तृत्वका अयोग है ।

अरिष्टादेर्वा। भाविनः पूर्वं सत्त्वे ततः पश्चादरिष्टादिकमुपजायमानं पाश्चात्य न पूर्वम्। इत्ययुक्त-मुक्तम्–'पूर्वमसन्तोपि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणः' इति। अथान्यभाविमरणाद्यपेक्षयारिष्टादिकं पूर्वमुच्यते; ननु तदपि सत् स्वकाले यदि ततः प्रागेव स्यात्; तर्हि पाश्चात्यमरिष्टादिक कथ ततः पूर्व-मुच्यते ? अन्यभाविमरणाद्यपेक्षया चेदनवस्था।

अथ पूर्वमरिष्टादिक स्वकाले पश्चाद्भाविमरणादिकं स्वकालनियत भवेत्; तर्हि निष्पन्नस्य निराकाङ्क्षस्यास्य पश्चादुपजायमानेन मरणादिना कथं करणं कृतस्य करणायोगात्? अन्यथा न

बौद्ध—कार्यके कालमें भले असत्व हो किन्तु स्वकालमें सत्त्व होनेसे कोई दोष नही आता, अर्थात् मरणादिका भावीकालमे सत्त्व होता ही है अतः वह अरिष्टादि का कारण हो सकता है ?

जैन—स्वकालमे होनेवाले भावी मरणादिका पहले सत्व था या अरिष्टादिका पहले सत्त्व था ? भावी मरणका पहले सत्त्व था पीछे उससे अरिष्टादि उत्पन्न हुए ऐसा कहो तो अरिष्टादिको पाश्चात्यपना ठहरा न कि पूर्वपना ? इस तरह तो पूर्वोक्त कथन अयुक्तसिद्ध होता है कि "पूर्वमें असत् होकर भी मरणादिक अरिष्टादिको करते है"।

बौद्ध—अन्यके भावी मरणादिकी अपेक्षासे अरिष्टको पहले हुआ ऐसा कहा जाता हैं।

जैन—वह अन्यका भावी मरण भी स्वकालमें पहले सत्त्वरूप था तो अरिष्टादिको पाश्चात्यपना ही ठहरता है, फिर उसको मरणके पहले हुआ ऐसा किस प्रकार कह सकते है ? अन्यके भावी मरणकी अपेक्षासे कहो तो अनवस्थादोष स्पष्ट दिखायी देता है।

स्वकालमे होनेवाले अरिष्टादिका पहले सत्त्व या भावी मरणादिक तो पीछे स्वकालमे होते है ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार करे तो जो निष्पन्न हो चुका है एवं किसी की अपेक्षा नही करता है ऐसे इस अरिष्टको पश्चात् उत्पन्न होनेवाले मरणादिके द्वारा किसप्रकार किया जाय ? किये हुएको तो किया नही जाता, अन्यथा किसीभी कार्यमें किसी भी कारणका कभी भी उपरम नही होगा अर्थात् कारण हमेशा उस एक कार्यको करता ही जायगा, क्योकि पुन पुन उसी उसीको करना मान लिया।

क्वचित्कार्ये कस्यचित्कारणस्य कदाचिदुपरमः स्यात्, पुनःपुनस्तस्यैव करणात्। अथ निष्पन्नस्याप्यनिष्पन्नं किञ्चिद्रूपमस्ति तत्करणात्तत्तत्कारणं कल्प्यते, तत्ततो यद्यभिन्नम्, तदेव तत्तस्य च न करणमित्युक्तम्। भिन्नं चेत्, तदेव तेन क्रियते नारिष्टादिकमित्यायातम्। तत्सम्बन्धिनस्तस्य करणात्तदपि कृतमिति चेत्, भिन्नयोः कार्यकारणभावान्नान्यः सम्बन्धः, स्वयं सौगतैस्तथाऽभ्युपगमात्। तत्र चारिष्टादिना तत्क्रियेत, तेन वारिष्टादिकम्? प्रथमपक्षेऽरिष्टादेरेव तन्निष्पत्तेर्मरणादिकमकिञ्चित्करमेव क्वचि-

---

बौद्ध—निष्पन्न वस्तुका स्वरूप भी कुछ अनिष्पन्न रहता है उसको पुनः किया जाता है अतः वह उसका कारण माना जाता है, अर्थात् अरिष्ट आदि निष्पन्न होते हुए भी उसका कुछ रूप अनिष्पन्न रहता है और उसको भावी मरण करता है?

जैन—निष्पन्न अरिष्टका जो स्वरूप अनिष्पन्न है वह यदि अरिष्टसे अभिन्न है तो निष्पन्न अरिष्टरूप ही है और उसको तो करना नही है। यदि अनिष्पन्न स्वरूप अरिष्टसे भिन्न है तो उसीको मरणादिने किया अरिष्टको नहीं किया ऐसा अर्थ हुआ।

बौद्ध—अरिष्टका अनिष्पन्न स्वरूप अरिष्टसे सम्बद्ध रहता है अतः उसको करनेसे अरिष्टको भी किया ऐसा माना जाता है?

जैन—अरिष्ट और उसका अनिष्पन्न स्वरूप ये दोनो भिन्न होनेसे इनमे कार्यकारण भावसे अन्य कोई सबध बन नही सकता, स्वय बौद्धने ऐसा स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है कि यदि अरिष्ट और उसके अनिष्पन्न स्वरूपमे कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तो उनमेसे किसके द्वारा किसको किया जाता है, अरिष्ट द्वारा अनिष्पन्न स्वरूपको किया जाता है या अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा अरिष्टको किया जाता है? प्रथम पक्षमे माने तो अरिष्टसे अनिष्पन्न स्वरूप बन जानेसे मरणादिक अकिंचित्कर ठहरते हैं, क्योकि किसी कार्यमे भी वे उपयोगी नही है। अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा अरिष्टको किया जाता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो अरिष्ट पहलेसे ही निर्मित है अत पीछेसे उत्पन्न होनेवाले अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा उसको क्या करना शेष है? कुछ भी नही, किये हुएको पुन पुन करना व्यर्थ है ऐसा पहले ही निर्णय हो चुका है। यदि कहा जाय कि अरिष्ट पहलेसे निर्मित रहते हुए भी उसका कुछ स्वरूप अनिष्पन्न रहता है और उसको किया जाता है तो यह वही पहलेकी चर्चा है इसमे तो अनवस्था दोष आना स्पष्ट ही है।

दप्यनुपयोगात् । तेनारिष्टादिकरणे पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चादुपजायमानेन तेन किं क्रियत इत्युक्तम् । अथाऽनिष्पन्न किञ्चिदस्ति, तत्रापि पूर्ववच्चर्चानवस्था च ।

ननु यद्यत्र कार्यकारणभावो न स्यात्कथ तर्हि एकदर्शनादन्यानुमानमिति चेत्, 'अविनाभावात्' इति ब्रूमः । तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धेप्यविनाभावादेव गमकत्वम् । तदभावे वक्तृत्वतत्पुत्रत्वादेस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धे सत्यपि असर्वज्ञत्वे श्यामत्वे च साध्ये गमकत्वाप्रतीतेः । तदभावेपि चाविनाभावप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोदय-उद्गृहीताण्डकपिपीलिकोत्सर्पणएकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूना यथाक्रम शकटोदय-समानसमयसमुद्रवृद्धि-भाविवृष्टि-समसमयसिन्दूरारुणरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वप्रतीतेश्च । तदुक्तम्—

बौद्ध—अरिष्ट और भावी मरणमे यदि कार्यकारण भाव न माने तो उनमेसे एकको देखनेसे दूसरेका अनुमान किस प्रकार हो जाता है ?

जैन—अविनाभाव होनेसे एकको देखकर दूसरेका अनुमान होता है । जहां पर तादात्म्य या तदुत्पत्ति लक्षण वाले सबध होते है उनमे भी अविनाभावके कारण ही परस्परका गमकपना सिद्ध होता है । अविनाभावके नही होनेसे ही वक्तृत्व तत्पुत्रत्व आदि हेतु तादात्म्य और तदुत्पत्तिके रहते हुए भी असर्वज्ञत्व और श्यामत्व रूप साध्यके गमक नही हो पाते । और तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति नही होने पर भी केवल अविनाभावके प्रसादसे कृतिकोदय हेतु, चन्द्रोदय हेतु तथा उद्गृहीत-अडक पिपीलिका उत्सर्पण-अर्थात् अंडेको लेकर चीटियोका निकलना रूप हेतु, एक आम्रफल मे उपलब्ध हुआ मधुररस स्वरूप हेतु, इतने सारे हेतु यथाक्रमसे अपने अपने साध्यभूत रोहिणी उदय, समान समयकी समुद्र वृद्धि, भावी वर्षा, समान समयका सिंदूरवत् लालवर्ण को सिद्ध करते हुए प्रतीतिमें आते हैं ।

भावार्थ—एक मुहूर्तके अनतर रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा क्योकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है । इस अनुमानके कृतिकोदय हेतुमे साध्यके साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सबध नही है फिर भी यह स्वसाध्यभूत रोहिणी उदयका गमक अवश्य है, इसीप्रकार समुद्रकी वृद्धि अभी जरूर हो रही क्योकि चन्दमाका उदय हुआ है, वर्षा होनेवाली है क्योकि चीटिया अंडे लेकर निकल रही है इत्यादि तथा सिंदूरके समान लाल रग वाले एक आमको पहले किसीने खाया था पीछे प्रकाश रहित स्थान पर किसी आमको खाया तो उसके मधुर रससे अनुमान प्रवृत्त होता है कि यह आम सिंदूर वर्णी है क्योकि मधुर रसवाला है, इन अनुमानोंके हेतु तादात्म्य तदुत्पत्तिसे

"कार्यकारणभावादिसम्बन्धाना द्वयी गतिः ।
नियमानियमाभ्या स्यादनियमादनङ्गता ॥१॥
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् ।
नियमात्केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते ॥२॥" [ ]

तत. शरीरनिर्वर्त्तकाऽदृष्टादिकारणकलापादरिष्टकरतलरेखादयो निष्पन्ना· भाविनो मरण-राज्यादेरनुमापका इति प्रतिपत्तव्यम् ।

जाग्रद्‌बोधस्तु प्रबोधबोधस्य हेतुरित्येतत्प्रागेव प्रतिविहितम्, स्वापाद्यवस्थायामपि ज्ञानस्य प्रसाधितत्वात् । ततो भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्‌बोधयोरपि नारिष्टोद्‌बोधौ प्रति हेतुत्वम्, येनाभ्याम-नैकान्तिको हेतु स्यादिति स्थितम् ।

रहित होकर भी केवल स्वसाध्यके अविनाभावी होनेके कारण गमक–स्व स्व साध्यको सिद्ध करने वाले होते है । अत अविनाभावके निमित्तसे हेतुका गमकपना निश्चित होता है ।

जैसा कि कहा है—कार्यकारणभाव आदि सबधोकी दो गति हैं अर्थात् दो प्रकार है एक नियमरूप सबध (अविनाभाव) और एक अनियमरूप सबध, यदि हेतुमे अनियमत्व है तो वह अनुमानका कारण नही हो सकता ॥१॥ वक्तृत्वादि उक्त सभी हेतु अनियमरूप हैं अतः अनुमानके उत्पत्तिमे कारण नही हैं, तथा केवल अविना-भावरूप नियमवाले हेतुसे ऐसा कोई साध्य नही है कि जो अनुमानित नही होता हो । अर्थात् मात्र नियमरूप हेतुसे अनुमानकी उत्पत्ति अवश्य होती है किन्तु नियम रहित हेतु चाहे तादात्म्यादि से युक्त हो तो भी उससे अनुमान प्रादुर्भूत नही होता ॥२॥

इसलिये निश्चय होता है कि अरिष्ट करतल रेखा आदि, शरीरकी रचना करनेवाले अदृष्ट-कर्म आदि कारण समूहसे उत्पन्न होते है और वे भावी मरण और राज्यादिके अनुमापक (अनुमान करनेवाले) होते हैं ।

जाग्रद्‌बोध प्रबोध अवस्थाके बोधका हेतु होता है ऐसे मतव्यका निराकरण तो पहले ही (मोक्षविचार नामा प्रकरणमे) कर दिया है, वहापर निद्रादि अवस्थामे ज्ञानका सद्भाव होता है ऐसा सिद्ध हो चुका है, अत "निद्रा लेनेके पहले ज्ञान प्रात. कालके जागकर उठनेके अनतर होनेवाले ज्ञानका हेतु होता है अतराल कालमे ज्ञानका अभाव रहता है इसलिये काल व्यवधान वाले पदार्थोमे भी कार्यकारणभाव है" इत्यादि

यथा च पूर्वोत्तरचारिणोर्न तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा तथा—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

ययो॰ परस्परपरिहारेणावस्थानं न तयोस्तादात्म्यम् यथा घटपटयो, परस्परपरिहारेणावस्थानं च सहचारिणोरिति। एककालत्वाच्चानयोर्न तदुत्पत्ति:। ययोरेककालत्व न तयोस्तदुत्पत्ति॰ यथा सव्येतरगोविषाणयो॰, एककालत्व च सहचारिणोरिति।

न चास्वाद्यमानाद्रसात्सामग्र्यनुमान ततो रूपानुमानमनुमितानुमानादित्यभिधातव्यम्; तथा व्यवहाराभावात्। न हि आस्वाद्यमानाद्रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति, रससमसमयस्य रूप-

---

कथन असत्य सिद्ध होता है। इसप्रकार "भावी मरण और अतीत जाग्रद् बोध क्रमशः अरिष्ट तथा उद्बोधके हेतु होनेसे जैनका कारण हेतुका लक्षण अनेकातिक होता है" ऐसा बौद्धका प्रतिपादन खडित होगया।

जैसे पूर्वचर और उत्तरचर हेतुमे तादात्म्य तदुत्पत्ति सबध नही होता वैसे—

सहचारिणोरपि परस्पर परिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

सूत्रार्थ—सहचरभूत साध्यसाधनोमे भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति सबध नही हो सकता क्योकि ये परस्परका परिहार करके अवस्थित रहते है तथा युगपत् प्रादुर्भूत होते हैं। जिन दो पदार्थोंका परस्पर परिहार करके अवस्थान होता है उनमे तादात्म्य नही होता, जैसे घट और पट मे तादात्म्य नही है, सहचारि पदार्थभी परस्पर परिहार करके अवस्थित हैं अत इनमे तादात्म्य नही हो सकता। तथा सहचारी पदार्थोमे एक काल भाव होनेसे तदुत्पत्ति सबध (उससे उत्पन्न होना रूप कार्यकारण संबंध) भी असभव है। जिनमे एक कालत्व होता है उनमे तदुत्पत्ति सबध नही होता जैसे गायके दायें बाये सीगमे नही होता, सहचारी साध्यसाधनमे एक कालत्व है अत. तदुत्पत्ति नही हो सकती।

बौद्धका जो यह कहना है कि आस्वादनमे आ रहे रससे सामग्रीका अनुमान होता है और उस सामग्रीके अनुमानसे रूपका अनुमान होता है अत. रूपानुमान अनुमितानुमान कहलाता है, सो वह असत् है क्योकि उस प्रकारका व्यवहार देखनेमें नही आता। व्यवहारी जन आस्वाद्यमानरससे सामग्रीका अनुमान नही करते अपितु रसके समकालमे होनेवाले रूपका इसके द्वारा अनुमान होता है। आप भी व्यवहारके

स्यानेनानुमानात् । व्यवहारेण च प्रमाणचिन्ता भवता प्रतन्यते । "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात् । सामग्रीतो रूपानुमाने च कारणात्कार्यानुमानप्रसङ्गाल्लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात् ।

तानेव व्याप्यादिहेतून् बालव्युत्पत्त्यर्थमुदाहरणद्वारेण स्फुटयति । तत्र व्याप्यो हेतुर्यथा—

परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्, तस्मात् परिणामीति ॥६५॥

'दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्' इत्युक्तम् । तत्रान्वयदृष्टान्तं प्रतिपाद्य व्यतिरेकदृष्टान्तं प्रतिपादयन्नाह—यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्,

---

अनुसार प्रमाणका विचार करते हैं "प्रामाण्य व्यवहारेण" ऐसा कहा गया है। तथा दूसरी बात यह होगी कि यदि सामग्रीसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करते हैं तो कारणसे (सामग्रीका अर्थ कारण है यह बात प्रसिद्ध ही है) कार्यका अनुमान होना सिद्ध होता है, फिर आपके हेतुकी त्रिसख्याका (कार्य हेतु स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु) विघटन हो जाता है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पूर्वचर आदि कार्य हेतुमे अतर्भूत नही होते। तथा यह भी सिद्ध हुआ कि कारण पूर्ववर्त्ती होता है एव कारण कार्यमे कालका व्यवधान नही होता।

अब क्रमसे अविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेदोका वर्णन बाल बुद्धिवालोको समझानेके लिये उदाहरणपूर्वक उपस्थित करते है। उनमे प्रथम क्रम प्राप्त व्याप्य हेतुको दिखलाते है—

परिणामी शब्द, कृतकत्वात्, य एव स एव दृष्ट यथा घट, कृतकश्चाय तस्मात् परिणामी। यस्तु न परिणामी स न कृतक यथा वध्यास्तनधय, कृतकश्चाय तस्मात् परिणामी ॥६५॥

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है क्योंकि किया जाता है, जो इस तरहका होता है वह ऐसा ही रहता है जैसे घट, शब्द कृतक है अत. परिणामी है। जो परिणामी नही होता वह कृतक नही होता जैसे वध्यास्त्रीका पुत्र, यह शब्द तो कृतक है इसलिए परिणामी होता है। अन्वय और व्यतिरेकके भेदसे दृष्टात दो प्रकारका होता है ऐसा

तस्मात्परिणामीति। कृतकत्व हि परिणामित्वेन व्याप्तम्। पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामशून्यस्य सर्वथा नित्यत्वे क्षणिकत्वे वा शब्दस्य कृतकत्वानुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वाद्।

किं पुन कार्यलिङ्गस्योदाहरणमित्याह—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥६६॥

व्याहारो वचनम्। आदिशब्दाद्व्यापाराकारविशेषपरिग्रह। ननु ताल्वाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया शब्दस्योपलम्भात्कथमात्मकार्यत्व येनातस्तदस्तित्वसिद्धि स्यात्? न खल्वात्मनि विद्यमानेपि विवक्षाबद्धपरिकरे कफादिदोषकण्ठादिव्यापाराभावे वचन प्रवर्त्तते, तदप्यसारम्, शब्दोत्पत्तौ

कह आये है। इस सूत्रमे अन्वय दृष्टातका प्रतिपादन करके व्यतिरेक दृष्टात देते हुए कहते हैं कि जो परिणामी नही होता वह कृतक नही देखा जाता जैसे वध्याका पुत्र। यह कृतक है इसलिये परिणामी है। कृतकपना परिणामीके साथ व्याप्त है। पूर्व आकारका परिहार और उत्तर आकारकी प्राप्ति एव स्थिति है लक्षण जिसका ऐसे परिणामसे जो शून्य है उस सर्वथा क्षणिक या नित्य पक्षमे शब्दका कृतकपना सिद्ध नही हो सकता। आगे शब्दनित्यत्ववाद प्रकरणमे इस विषयको कहने वाले है।

कार्य हेतुका उदाहरण क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि व्याहारादे. ॥६६॥

सूत्रार्थ—इस प्राणीमे बुद्धि है, क्योकि वचनालाप आदि पाया जाता है। वचनको व्याहार कहते है आदि शब्दसे व्यापार–प्रवृत्ति आकार विशेष (मुखका आकार आदि) का ग्रहण होता है। किसी व्यक्तिके वचन कुशलताको देखकर बुद्धिका अनुमान लगाना कार्यानुमान है इसमे बुद्धिके अदृश्य रहते हुए भी उसका कार्य वचनको देखकर बुद्धिका सत्त्व सिद्ध किया जाता है।

शका—तालु कठ आदिके अन्वय व्यतिरेक का अनुविधायी शब्द है अर्थात् तालु आदिकी प्रवृत्ति हो तो शब्द उत्पन्न होता है और न हो तो नही, इसलिये शब्द तो तालु आदिका कार्य है उसको आत्मा का (बुद्धिका) कार्य किसप्रकार कह सकते है? जिससे कि वचनालापसे आत्मरूप बुद्धिका अस्तित्व सिद्ध हो। तथा आत्माके विद्यमान होते हुए भी बोलनेकी इच्छाको रोकनेवाले कफादिदोष के कारण कठादि व्यापार के अभावमे वचन नही होते, अत वचनको बुद्धिका कार्य न मानकर व तालु आदिका कार्य मानना चाहिए?

ताल्वादिसहायस्यैवात्मनो व्यापाराभ्युपगमात्। घटाद्युत्पत्तौ चक्रादिसहायस्य कुम्भकारादेर्व्यापारवत्, कथमन्यथा घटादेरप्यात्मकार्यता ? कार्यकार्यादिश्च कार्यहेतावेवान्तर्भाव ।

कारणलिंग यथा—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥६७॥

कारणकारणादेरत्रैवानुप्रवेशान्नार्थान्तरत्वम् ।

पूर्वचरलिंग यथा—

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥६८॥

पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव सगृहीतम् ।

उत्तरचर लिंग यथा—

उदगाद्भरणिस्तत एव ॥६९॥

समाधान—यह कथन असार है, जैनने शब्दकी उत्पत्तिमे तालुआदिकी सहायतासे युक्त आत्माको कारण माना है, जैसे घट आदिकी उत्पत्तिमे चक्रादिकी सहायतासे युक्त हुआ कुभकार प्रवृत्ति करता है। शब्दकी उत्पत्तिमे आत्माको कारण न मानो तो घटआदिकी उत्पत्तिमे आत्माको कारण भी किसप्रकार मान सकते हैं? अस्तु। इस कार्य हेतुमे ही कार्यकार्यहेतुका अतर्भाव होता है।

कारण हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥६७॥

सूत्रार्थ—यहापर छाया है क्योकि छत्र है। कारण कारण हेतुका इसी हेतुमे अतर्भाव होनेसे उसमे पृथक हेतुत्व नही है।

पूर्वचर हेतुका उदाहरण—

उदेष्यति शकट कृतिकोदयात् ॥६८॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त वाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है। पूर्व पूर्वचर हेतु इसीमे अतर्हित है। उत्तरचर हेतुका उदाहरण—

उदगाद् भरणिस्तत एव ॥६९॥

कृत्तिकोदयादेव । उत्तरोतरश्चरमेतेनैव सगृह्यते ।

सहचर लिंग यथा—

अस्त्यत्र मातुर्लिंगे रूपं रसात् ॥७०॥

सयोगिन एकार्थसमवायिनश्च साध्यसमकालस्यात्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्य. ।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणि नक्षत्रका उदय हो चुका है क्योकि कृतिकोदय हो रहा । इसी हेतुमे उत्तर उत्तर चर हेतु गर्भित होता है । सहचर हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र मातुर्लिंगे रूपं रसात् ॥७०॥

सूत्रार्थ—इस बिजौरेमे रूप है क्योकि रस है । साध्यके समकालमें होनेवाले संयोगी और एकार्थसमवायी हेतुका इसी सहचर हेतुमे अतर्भाव हो जाता है ।

विशेषार्थ—नैयायिक मतमे सयोगी और एकार्थ समवायी हेतु भी माने है, जैनाचार्यने इनको सहचर हेतुमे अंतर्भूत किया है । जो साध्यके समकालमे हो तथा साध्यका कार्य या कारण न हो वह सहचर हेतु कहलाता है, उक्त संयोगी आदि हेतु इसी रूप है जैसे—यहा आत्माका अस्तित्व है, क्योकि विशिष्ट शरीराकृति विद्यमान है । आत्मा और शरीरका सयोग होनेसे विशिष्ट शरीर रूप हेतु सयोगी कहलाता है, इसका सहचर हेतुमे सहज ही अतर्भाव हो जाता है, क्योकि जैसे बिजौरेमें रूप और रस साथ उत्पन्न होते है वैसे विवक्षित पर्यायमे आत्मा और शरीर साथ रहते है । एकार्थ समवायी हेतु भी सहचर हेतु रूप है—एक अर्थ मे समवेत होने वाले रूप रस आदि अथवा ज्ञान दर्शन आदि है इनमेंसे एकको देखकर अन्यका अनुमान होता हैं । पूर्वचर हेतुका उदाहरण यह दिया कि एक मुहूर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय होगा क्योकि कृतिकाका उदय हो रहा । उत्तर हेतु—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय हो चुका है क्योकि अब कृतिकोदय हो रहा । भरणि कृतिका और रोहिणी इन तीन नक्षत्रोका आकाशमे उदय एक एक मुहूर्त्तके अतरालसे होता है अत. ज्योतिर्विद इनमेसे किसी एक नक्षत्रोदयको देखकर अन्य नक्षत्रके उदयका अनुमान कर लेते हैं । कृतिकोदय इनके मध्यवर्त्ती है अत यह रोहिणी उदयका पूर्वचर है और भरणिका उत्तर चर है । कृतिकोदयको देखकर दोनो अनुमान हो जाते हैं कि एक मुहूर्त्त पहले

अथाविरुद्धोपलब्धिमुदाहृत्येदानी विरुद्धोपलब्धिमुदाहर्त्तुं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति ॥७१॥

प्रतिषेध्येन यद्विरुद्धं तत्सम्बन्धिना तेषा व्याप्यादीनामुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये तथाऽविरुद्धोपलब्धिवत् षट्प्रकारा ।

तानेव षट् प्रकारान् यथेत्यादिना प्रदर्शयति—

(यथा) नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने । औष्ण्य हि व्याप्यमग्नेः । स च विरुद्ध शीतस्पर्शेन प्रतिषेध्येनेति ।

विरुद्धकार्यं लिंग यथा—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥७३॥

भरणिका उदय हो चुका है, तथा एक मुहूर्त्त बाद रोहिणीका उदय होगा । इसतरह कृतिकोदय हेतु भरणिके प्रति उत्तर चर और रोहिणीके प्रति पूर्वचर है । अस्तु ।

अविरुद्धोपलब्धिके उदाहरणोको प्रस्तुत कर अब विरुद्धोपलब्धिके उदाहरणो का प्रतिपादन करते हैं—

विरुद्ध तदुपलब्धि प्रतिषेधे तथा ॥७१॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधरूप साध्यमे विरुद्धोपलब्धि हेतुके वैसे ही भेद होते हैं। प्रतिषेध्यरूप साध्यसे जो विरुद्ध है उस विरुद्धके सबधभूत व्याप्य, कार्य आदिकी उपलब्धि होना विरुद्धतदुपलब्धि कहलाती है, प्रतिषेधरूप साध्यमे इस हेतुके अविरुद्धोपलब्धिके समान छह भेद हैं । अब उन्हीके भेद क्रमसे बताते है—

यथा नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

सूत्रार्थ—यहापर शीत स्पर्श नही है, क्योकि उष्णता है । सूत्रोक्त यथा शब्द उदाहरणका द्योतक है । औष्ण्य अग्निका व्याप्य है वह प्रतिषेध्यभूत शीतस्पर्शके विरुद्ध है अतः यह हेतु व्याप्य विरुद्धोपलब्धि है ।

विरुद्ध कार्य हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शोधूमात् ॥७३॥

विरुद्धकारणं लिंग यथा—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७४।।

सुखेन हि प्रतिषेध्येन विरुद्धं दुःखम्। तस्य कारणं हृदयशल्यम्। तत्कुतश्चित्तदुपदेशादेः सिद्ध्यत्सुखं प्रतिषेधतीति।

विरुद्धपूर्वचरं यथा—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।।७५।।

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयस्तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति।

विरुद्धोत्तरचर यथा—

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।।७६।।

सूत्रार्थ—यहापर शीत स्पर्श नही है, क्योकि धूम है।

विरुद्ध कारण हेतुका उदाहरण—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७४।।

सूत्रार्थ—इस शरीरधारी प्राणीमे सुख नही है, क्योकि हृदयमें शल्य है। प्रतिषेध्यभूत सुखके विरुद्ध दु ख है और उसका कारण हृदय शल्य है, उस हृदय-शल्यका अस्तित्व किसीके कथनसे जाना जाता है और उससे सुखका प्रतिषेध होता है।

विरुद्ध पूर्वचर हेतुका उदाहरण—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकट रेवत्युदयात् ।।७५।।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय नही होगा क्योंकि रेवती नक्षत्रका उदय हो रहा। रोहिणी उदयके विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतोका उदय है, अत. रेवतीका उदय रोहिणीके विरुद्ध पूर्वचर कहलाया।

विरुद्ध उत्तरचर हेतुका उदाहरण—

नोदगाद्भरणि र्मुहूर्त्तात् पूर्वं पुष्योदयात् ।।७६।।

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयस्तदुत्तरचरः पुष्योदय इति ।

विरुद्धसहचर यथा—

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥७७॥

परभागाभावेन हि विरुद्धस्तत्सद्भावस्तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति ।

अथोपलब्धि व्याख्यायेदानीमनुपलब्धि व्याचष्टे । सा चानुपलब्धिरुपलब्धिवद् द्विप्रकारा भवति। अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिश्चेति । तत्राद्यप्रकार व्याख्यातुकामोऽविरुद्धेत्याद्याह—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारण-

पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति ॥७८॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय नही हुआ क्योकि पुष्यका उदय हो रहा । भरणि उदयका विरोधी पुनर्वसू का उदय है और उसका उत्तरचर पुष्योदय है अत पुष्योदय भरणि उदयका विरुद्ध उत्तरचर है ।

विरुद्ध सहचर हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र भित्ती परभागाभावोऽर्वाग्भाग दर्शनात् ॥७७॥

सूत्रार्थ—इस भित्तिमे पर भागका अभाव नही है क्योकि अर्वाग्भाव इधरका भाग दिखायी देता है । परभागके अभावका विरोधी उसका सद्भाव है और उसका सहचर अर्वागभाग है अत यह विरुद्ध सहचर कहा जाता है ।

अब उपलब्धि हेतुका कथन करके अनुपलब्धि हेतुका प्रतिपादन करते हैं। वह अनुपलब्धि भी उपलब्धिके समान दो प्रकारकी है—अविरुद्ध अनुपलब्धि और विरुद्ध अनुपलब्धि । इनमे प्रथम प्रकारका व्याख्यान करते हैं—

अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव व्यापक कार्यकारणपूर्वोत्तर

सहचरानुपलभभेदात् ॥७८॥

प्रतिषेध्येनाविरुद्धस्यानुपलब्धि प्रतिषेधे साध्ये सप्तधा भवति। स्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलब्धिभेदात्।

तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्र भूतले घट उपलब्धि लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥७९॥

पिशाचादिभिर्व्यभिचारो मा भूदित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति विशेषणम्। कथ पुनर्यो नास्ति स उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्तत्प्राप्तत्वे वा कथमसत्त्वमिति चेदुच्यते–आरोप्यैतद्रूप निषिध्यते सर्वत्रारोपित-रूपविषयत्वान्निषेधस्य। यथा 'नाय गौरः' इति। न ह्यत्रैतच्छक्य वक्तुम्–सति गौरत्वे न निषेधो निषेधे वा न गौरत्वमिति। नन्वेवमदृश्यमपि पिशाचादिक दृश्यरूपतयाऽऽरोप्यप्रतिषेध्यतामिति चेन्न, आरोप-

---

सूत्रार्थ—प्रतिषेधरूप साध्यमे अविरुद्ध अनुपलब्धि हेतुके सात भेद होते है—स्वभाव-अविरुद्धानुपलब्धि, व्यापक अविरुद्धानुपलब्धि, कार्य-अविरुद्धानुपलब्धि, कारण अविरुद्धानुपलब्धि, पूर्वचर अविरुद्धानुपलब्धि, उत्तरचर अविरुद्धानुपलब्धि और सहचर अविरुद्धानुपलब्धि। प्रतिषेध्यके अविरुद्धकी अनुपलब्धि होना रूप हेतु प्रतिषेधरूप साध्यके होने पर सात प्रकार का होता है।

उनमे क्रमप्राप्त स्वभावानुपलब्धिको कहते है—

नास्त्यत्र भूतले घटो उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥७९॥

सूत्रार्थ—इस भूतलपर घट नही है क्योकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्धि है। पिशाच परमाणु आदिके साथ व्यभिचार न होवे इसलिये "उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य" ऐसा हेतुमे विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

शका—जो नही है वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त कैसे हो सकता है और जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त है उसका असत्त्व कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—उपलब्धि लक्षण प्राप्तका आरोप करके निषेध किया जाता है, क्योकि सर्वत्र निषेधका विषय आरोपितरूप ही होता है। जैसे यह गोरा नही है। यहा पर ऐसा तो नही कह सकते कि गोरापन है तो निषेध नही हो सकता और निषेध ही है तो गोरापन काहे का।

शका—यदि ऐसा है तो अदृश्यभूत पिशाचादिका भी दृश्यपनेका आरोप करके प्रतिषेध करना चाहिये?

योग्यत्व हि यस्यास्ति तस्यैवारोप । यश्चार्थो विद्यमानो नियमेनोपलभ्येत स एवारोपयोग्य, न तु पिशाचादि. । उपलम्भकारणसाकल्ये हि विद्यमानो घटो नियमेनोपलम्भयोग्यो गम्यते, न पुन पिशाचादि. । घटस्योपलम्भकारणसाकल्य चैकज्ञानससर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमाने निश्चीयते। घटप्रदेशयो खलूपलम्भकारणान्यविशिष्टानीति। यश्च यद्देशाधेयतया कल्पितो घट स एव तैनैकज्ञानससर्गी, न देशान्तरस्थ । ततश्चैकज्ञानससर्गिपदार्थान्तरोपलम्भे योग्यतया सम्भावितस्य घटस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भ सिद्ध ।

ननु चैकज्ञानससर्गिण्युपलभ्यमाने सत्यपीतरविषयज्ञानोत्पादनशक्ति सामग्र्या समस्तीत्यवसातु न शक्यते, प्रभाववतो योगिन पिशाचादेर्वा प्रतिबन्धात्सतोपि घटस्यैकज्ञानससर्गिणि प्रदेशा-

---

समाधान – नही, जिसमे आरोप की योग्यता होती है उसीका आरोप किया जाता है । जो विद्यमान पदार्थ नियमसे उपलब्ध होता है वही आरोप योग्य होता है न कि पिशाचादि । इसका भी कारण यह है कि उपलभ अर्थात् प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण मिलनेपर विद्यमान घट नियमसे उपलभ योग्य हो जाता है किन्तु पिशाचादि ऐसे नही होते । घटके प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण तो एक व्यक्तिके ज्ञान ससर्गी उपलभ्यमान प्रदेशादिमे निश्चित किये जाते है (अर्थात् जाने जाते है) घट और उसके रखनेका प्रदेश इन दोनोके प्रत्यक्ष होनेके कारण समान है अर्थात् घट और उसका स्थान ये दोनो ही एक ही पुरुषके ज्ञानके द्वारा जाने जाते है । अतः घट आरोप योग्य है । पिशाच आदि ऐसे नही है अत आरोप योग्य नही है । तथा जो घट जिस प्रदेशके आधेयपनेसे कल्पित है वही उससे एक पुरुषके ज्ञानका ससर्गी है, अन्य प्रदेशस्थ घट एक पुरुषके ज्ञानका ससर्गी नही है । इसलिये एक पुरुषके ज्ञानका ससर्गी पदार्थांतर अर्थात भूतल का उपलभ (प्रत्यक्ष) होनेपर दृश्यपनेसे सभावित घटका उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलभ सिद्ध होता है ।

शका—एक ज्ञान ससर्गी पदार्थांतर के उपलभ्यमान होने पर भी दूसरा विषय जो घट है उसके ज्ञानोत्पादनकी शक्ति है ऐसा उक्त सामग्रीसे निश्चय करना शक्य नही, क्योकि किसी प्रभावशाली योगी द्वारा अथवा पिशाचादि द्वारा प्रतिबध होवे तो घटके विद्यमान रहते हुए भी उसका एक ज्ञान ससर्गीभूत प्रदेशादिके उपलभ्यमान होते भी अनुपलभ सभव है ? अर्थात् घटके रहते हुए भी किसी योगी आदिने उसको अदृश्य कर दिया हो तो उसका अस्तित्व रहते हुए भी अनुपलभ होता है दिखायी नही

दावुपलभ्यमानेष्यनुपलम्भसम्भवात्, तदयुक्तम्; यतः प्रदेशादिनैकज्ञानसंसर्गिण एव घटस्याभावो नान्यस्य। यस्तु पिशाचादिनाऽन्यत्वमापादित स नैव निषेध्यते। इह चैकज्ञानसंसर्गिभासमानोर्थस्तज्ज्ञानं च पर्युदासवृत्त्या घटस्याऽसत्तानुपलब्धिश्चोच्यते।

ननु चैवं केवलभूतलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तद्रूपो घटाभावोपि सिद्ध एवेति किमनुपलम्भसाध्यम्? सत्यमेवैतत्, तथापि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेष्यभावे यो व्यामुह्यति साङ्ख्यादिः सोनुपलम्भ निमित्तीकृत्य प्रतिपाद्यते। अनुपलम्भनिमित्तो हि सत्त्वरजस्तम.प्रभृतिष्वसद्व्यवहार'। स चात्राप्यस्तीति निमित्त-

---

देता अतः उपलब्ध होने योग्य होकर उपलब्ध न होवे तो उसका नियमसे अभाव ही है ऐसा कहना गलत ठहरता है?

समाधान—यह शका अयुक्त है प्रदेशादिसे जो घट एक ज्ञानका ससर्गी (विषय) था उसी घटका अभाव निश्चित किया जाता है न कि अन्य घटका। जो घट पिशाचादि द्वारा अन्यरूप अर्थात् अदृश्यरूप कर दिया है उसका निषेध (अभाव) नही किया जाता है। यहां पर एक पुरुषके ज्ञान ससर्गमे प्रतिभासमान पदार्थ और उसका ज्ञान इन दोनोको पर्युदासवृत्तिसे घटकी असत्ता और अनुपलब्धि इन शब्दो द्वारा कहा जा रहा है। अभिप्राय यह है कि किसी एक पुरुषने एक स्थान पर घट देखा था पुन' किसी समय उस स्थान को घट रहित देखता है तो अनुमान करता है—यहां भूतल पर घट नहीं है क्योकि उपलब्ध नही होता (दिखायी देने योग्य होकर भी दिखता नही) जो घट पिशाचादिके द्वारा अदृश्य किया गया है उस घट की चर्चा इस अनुमान मे नही है।

शका—ऐसी बात है तो केवल भूतल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उस रूप घट का अभाव भी सिद्ध ही हैं इसलिये "नास्त्यत्रभूतले" इत्यादि अनुमान के अनुपलंभ हेतुसे क्या सिद्ध करना है?

समाधान—यह कथन सत्य है, किन्तु अभावके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होनेपर भी जो साख्यादिपरवादी उस अभावके विषयमे व्यामोहित है अर्थात् अभावको स्वीकार नही करते उनको अनुपलभ हेतुका निमित्त करके प्रतिबोधित किया जाता हैं।

साख्याभिमत सत्त्वरजतम. आदि प्रकृतिके धर्मोमे असत्पनेका जो व्यवहार होता है वह अनुपलभके निमित्तसे ही होता है अर्थात् सत्त्वमे रजोधर्म नही है अथवा रजोधर्ममे सत्त्वधर्म नही है इत्यादि अभावका व्यवहार अनुपलंभ हेतु द्वारा ही होता है

प्रदर्शनेन व्यवहार प्रसाध्यते। दृश्यते हि विशाले गवि सास्नादिमत्त्वात्प्रवर्त्तितगोव्यवहारो मूढमति- र्विशङ्कटे सादृश्यमुत्प्रेक्षमाणोपि न गोव्यवहार प्रवर्त्तयतीति विशङ्कटे वा प्रवर्त्तितो गोव्यवहारो न विशाले, स निमित्तप्रदर्शनेन गोव्यवहारे प्रवर्त्त्यते। सास्नादिमन्मात्रनिमित्तको हि गोव्यवहारस्त्वया प्रवर्तितपूर्वो न विशालत्वविशङ्कटत्वनिमित्तक इति। तथा महत्या शिंशपाया प्रवर्त्तितवृक्षव्यवहारो मूढमति स्वल्पाया तस्या तद्व्यवहारमप्रवर्त्तयन्निमित्तोपदर्शनेन प्रवर्त्त्यते वृक्षोय शिंशपात्वादिति।

व्यापकानुपलब्धिर्यथा—

कि—यहा सत्त्वमे रजोधर्म नही है क्योकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्धि है। इस तरहका अनुपलभरूप असत्का व्यवहार उक्त अनुमानमे भी है इसप्रकार निमित्त प्रदर्शन द्वारा घटाभावका व्यवहार प्रसाधित किया जाता है। देखा भी जाता है कि—जिस मूढमतिको विशाल बैलमे (अथवा गायमे) सास्नादि हेतु द्वारा बैलपनेका व्यवहार प्रवर्त्तित किया जाता है अर्थात् इस पशुके गलेमे चर्म-लटक रहा है इसे सास्ना कहते हैं जिसमे ऐसी सास्ना होती है उसे बैल (या गाय) कहते हैं ऐसा किसीने एक विशाल बैलको दिखलाकर मूढमतिको समझाया, पुनश्च वह मूढमति छोटे बैलको देखता है उसमे उसे सास्नादि दिखायी देती है तो भी वह मूढ बैलपनेका व्यवहार नही करता (अर्थात् यह बैल है ऐसा नही समझता है) अथवा किसी मूढको छोटे बैलमे शुरुवातमे बैलपने का ज्ञान कराया था वह विशाल बैलमे बैलपनेको नही जान रहा है उस मूढमति पुरुषको सास्नादि निमितको दिखलाकर गो व्यवहारमे प्रवर्त्तित कराया जाता है। अर्थात् बैलपनेका व्यवहार केवल सास्ना निमित्तक है तुम्हारेको पहले जो बैल मे प्रवृत्ति करायी थी वह केवल सास्ना निमित्तक थी विशाल या छोटेपनेकी निमित्तक नही थी, अर्थात् विशाल हो चाहे छोटा हो जिस पशुमे सास्ना होती है उसे बैल अथवा गाय कहते है इससे गोत्वका व्यवहार—बैल या गायका कार्य लिया जाता है इत्यादि रूपसे मूढको समझाते है। तथा बडे शिंशपावृक्षमे शिंशपावृक्षत्वका व्यवहार जिसको प्रवर्त्तित कराया है वह मूढमति छोटे शिंशपावृक्षमे उसका व्यवहार नही करता तो उसे शिंशपापनरूप निमित्त दिखलाकर प्रवृत्ति करायी जाती है कि यह शिंशपारूप होनेसे वृक्ष है। इसप्रकार निश्चय हुआ कि अनुपलब्धिरूप हेतु कार्यकारी है।

व्यापकानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षाऽनुपलब्धेः ॥८०॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्राऽप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८२॥

इति कारणानुपलब्धिः ।

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥८३॥

इति पूर्वचरानुपलब्धि ।

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव ॥८४॥

कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेव । इत्युत्तरचरानुपलब्धिः ।

नास्त्यत्र शिशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥८०॥

सूत्रार्थ—यहां पर शिंशपा नही है क्योंकि वृक्षकी अनुपलब्धि है । कार्यानुपलब्धि तथा कारणानुपलब्धिका उदाहरण—

नास्त्यत्रा प्रतिबद्ध सामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८२॥

सूत्रार्थ—यहा अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाली अग्नि नहीं, क्योकि धूमकी अनुपलब्धि है । तथा—यहा धूम नही क्योंकि अग्निकी अनुपलब्धि है ।

पूर्वचर अनुपलब्धिहेतुका उदाहरण—

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकट कृतिकोदयानुपलब्धेः ॥८३॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्तके अनतर रोहिणीका उदय नही होगा, क्योंकि कृतिकोदयकी अनुपलब्धि है ।

उत्तरचर अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नोदगाद् भरणिर्मुहूर्त्तात् प्राक् तत एव ॥८४॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय नही हुआ था क्योंकि कृतिकोदय की अनुपलब्धि है ।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

इति सहचरानुपलब्धिः ।

अथानुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिकैवेति नियमप्रतिषेधार्थं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८६॥

विधेयेन विरुद्धस्य कार्यादेरनुपलब्धिर्विधौ साध्ये सम्भवन्ती त्रिधा भवति–विरुद्धकार्यकारण-स्वभावानुपलब्धिभेदात् ।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा—

यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥८७॥

आमयो हि व्याधिः, तेन विरुद्धस्तदभावः, तत्कार्या विशिष्टचेष्टा तस्या अनुपलब्धिर्व्याधि-विशेषास्तित्वानुमानम् ।

सहचर अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र समतुलाया मुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

सूत्रार्थ—इस तुलामे उन्नाम–ऊँचापना नही क्योकि नाम–नीचापनकी अनुपलब्धि है ।

अनुपलब्धिरूप हेतु केवल प्रतिषेधरूप साध्यको ही सिद्ध करता है ऐसा किसी का मतव्य है उस नियम का निषेध करनेके लिए अग्रिम सूत्र अवतरित होता है–

विरुद्धानुपलब्धि विधौ त्रेधा विरुद्ध कार्य कारण स्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८६॥

सूत्रार्थ—विधिरूप (अस्तित्वरूप) साध्यके रहनेपर विरुद्ध अनुपलब्धि हेतुके तीन भेद होते है विरुद्ध कार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि । साध्यके विरुद्ध कार्यादिकी अनुपलब्धि होना रूप हेतु उक्त तीन प्रकारका है ।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामय चेष्टानुपलब्धेः ॥८७॥

सूत्रार्थ—जैसे इस प्राणीमे रोगविशेष है क्योकि निरोगके समान चेष्टा नही करता । आमय रोगको कहते हैं उस आमयके विरुद्ध उसका अभाव निरामय कहलाता है निरामय अवस्थाका कार्य विशिष्ट चेष्टा है उसकी अनुपलब्धि होनेसे रोगके अस्तित्व का अनुमान लग जाता है ।

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥८८॥

दुःखेन हि विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमभीष्टार्थेन सयोगः, तदभावस्तदनुपलब्धिर्दुःखास्तित्वं गमयतीति ।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिर्यथा—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ॥८९॥

अनेकान्तेन हि विरुद्धो नित्यैकान्तः क्षणिकैकान्तो वा । तस्य चानुपलब्धिः प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाऽस्य ग्रहणाभावात्सुप्रसिद्धा । यथा च प्रत्यक्षादेस्तद्ग्राहकत्वाभावस्तथा विषयविचारप्रस्तावे विचारयिष्यते ।

ननु चैतत्साक्षाद्विधौ निषेधे वा परिसङ्ख्यातं साधनमस्तु । यत्तु परम्परया विधेर्निषेधस्य वा साधक तदुक्तसाधनप्रकारेभ्योऽन्यत्वादुक्तसाधनसङ्ख्याव्याघातकारि छलसाधनान्तरमनुषज्येत । इत्याशङ्क्य परम्परयेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

विरुद्ध कारणानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र देहिनि दुःख मिष्ट सयोगाभावात् ॥८८॥

सूत्रार्थ—इस जीवमे दुःख है क्योकि इष्ट संयोगका अभाव है। दुःखके विरुद्ध सुख होता है और उसका कारण अभीष्ट पदार्थका संयोग है उस संयोगका अभाव होनेसे दुःखका अस्तित्व जाना जाता है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

अनेकान्तात्मक वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ॥८९॥

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक होती है क्योकि एकातकी अनुपलब्धि है। अनेकातके विरुद्ध नित्यएकात या क्षणिक एकात होता है उसकी अनुपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है क्योकि एकातको ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव है। प्रमाणके विषयका विचार करते समय आगे निश्चय करेगे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण नित्यैकात आदि एकांतको ग्रहण नही करते।

शंका—जो साध्य साक्षात् विधिरूप या निषेधरूप है उसमें उक्त प्रकारके हेतुकी सख्या मानना ठीक है किन्तु जो परपरारूपसे विधि या निषेधका साधक है ऐसा

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥९०॥

यत· परम्परया सम्भवत्कार्यकार्यादि साधनमत्रैव अन्तर्भावनीय ततो नोक्तसाधनसङ्ख्या-व्याघात· ।

तत्र विधौ कार्यकार्यं कार्याविरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भावनीयम् यथा—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् । कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥९१-९२॥

शिवकस्य हि साक्षाच्छत्रक कार्यं स्थासस्तु परम्परयेति ।

निषेधे तु कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथाऽन्तर्भाव्यते तद्यथा—

हेतु उक्त हेतु के प्रकारोसे अन्यरूप है, अत. ऐसे हेतुसे उक्त हेतु सख्याका व्याघातकारी छल साधनातर का प्रसग आता है ?

समाधान—इस शकाका समाधान आगेके सूत्र द्वारा करते हैं—

परपरया सभवत् साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥९०॥

सूत्रार्थ—परपरारूप होनेवाला साधन (हेतु) इन्ही पूर्वोक्त हेतुप्रकारोमे अतर्भूत करना चाहिए । अत उक्त हेतुओकी सख्याका व्याघात नही होता । विधिरूप साध्यमे कार्यकार्यरूप हेतुका कार्याविरुद्धोपलब्धि नामा हेतुमे अतर्भाव होता है जैसे—

अभूदत्र चक्रे शिवक· स्थासात् ॥९१॥ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥९२॥

सूत्रार्थ—इस कुभकारके चक्र पर शिवक नामा घट का पूर्ववर्ती कार्य हुआ है क्योकि स्थासनामा कार्य उपलब्ध है । शिवक नामा मिट्टी के आकार का साक्षात् कार्य छत्रकाकार है और स्थास नामा कार्य परंपरारूप है ।

भावार्थ—कुभकार जब गीली चिकनी मिट्टीको घट बनानेमे उपयुक्त ऐसे चक्रपर चढाता है तब उसके क्रमश. शिवक, छत्रक स्थास आदि नामवाले आकार बनते जाते है, पहले शिवक पीछे छत्रक और उसके पीछे स्थास आकार है अत. शिवकका साक्षात् कार्य तो छत्रक है और परपरा कार्य स्थास है इसलिये यहा स्थासको कार्य कार्यहेतु कहा हैं । निषेधरूप साध्यके होनेपर कारण विरुद्ध कार्य हेतुका विरुद्ध कार्योपलब्धिमे अंतर्भाव होता है । जैसे—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथेति ।९३॥

मृगक्रीडनस्य हि कारण मृग । तेन च विरुद्धो मृगारिः । तत्कार्यं च तच्छब्दनमिति ।

ननु यद्यव्युत्पन्नाना व्युत्पत्त्यर्थं दृष्टान्तादियुक्तो हेतुप्रयोगस्तर्हि व्युत्पन्नाना कथ तत्प्रयोग इत्याह—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथाऽनुपपत्त्यैव वा ॥९४॥

एतदेवोदाहरणद्वारेण दर्शयति—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥९५॥

नास्त्यत्र गुहाया मृग क्रीडन मृगारि शब्दनात् कारण विरुद्ध कार्यविरुद्ध कार्योपलब्धौ यथा ॥९३॥

सूत्रार्थ—इस गुहामे हिरणकी क्रीडा नही है, क्योकि सिंहकी गर्जना हो रही है। यह "मृगारिशब्दनात्" हेतु कारणके विरुद्ध जो कार्य है उस रूप है अतः इस हेतुका विरुद्धकार्योपलब्धि नामा हेतुमे अतर्भाव करना होगा। क्योकि हिरणकी क्रीडाका कारण हिरण है और उसका विरोधी सिंह है उसका कार्य गर्जना है अत. यह हेतु विरुद्ध कार्योपलब्धि कहलाया।

शका—अव्युत्पन्न पुरुपोको व्युत्पन्न करनेके लिये दृष्टान्त आदिसे युक्त हेतु प्रयोग होना चाहिए ऐसा प्रतिपादन कर आये हैं किन्तु जो पुरुष व्युत्पन्नमति है उनके लिये किस प्रकारका हेतु प्रयोग होता है?

समाधान—अब इसी शकाका समाधान करते है—

व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्यैव वा ॥९४॥

सूत्रार्थ—व्युत्पन्नमति पुरुपोके लिए तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुका प्रयोग होता है, अर्थात् इस विवक्षित साध्यके होनेपर ही यह हेतु होता है ऐसा "तथोपपत्ति" रूप हेतु प्रयोग अथवा इस साध्यके न होनेपर यह हेतु भी नही होता ऐसा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुप्रयोग व्युत्पन्नमतिके प्रति हुआ करता है। इसीका उदाहरण द्वारा प्रतिपादन करते है—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्वोपपत्तेर्धूमवत्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥९५॥

कुतो व्युत्पन्नाना तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां प्रयोगनियम इत्याशङ्क्य हेतुप्रयोगो हीत्याद्याह-

हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते इति ॥९६॥

यतो हेतो प्रयोगो व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेण विधीयते। सा च व्याप्तिस्तावन्मात्रेण तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्युत्पन्नैर्निश्चीयते इति न दृष्टान्तादिप्रयोगेण व्याप्त्यवधारणार्थेन किञ्चित्प्रयोजनम्।

नापि साध्यसिद्धयर्थं तत्प्रयोग' फलवान्—

तावताच साध्यसिद्धिः ॥९७॥

यतस्तावतैव चकार एवकारार्थे निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिः।

सूत्रार्थ–यह प्रदेश अग्निमान है क्योकि धूमपनाकी उपपत्ति है। यह तथोपपत्ति हेतु प्रयोग हुआ। अथवा यह देश अग्निमान है (अग्नियुक्त) क्योकि धूमपनेकी अन्यथानुपपत्ति है। यह अन्यथानुपपत्ति हेतु प्रयोग है। व्युत्पन्न पुरुषोके प्रति तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति प्रयोगका नियम किस कारणसे करते हैं? ऐसी आशका का समाधान करते है–

हेतु प्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहण विधीयते, सा च तावन्मात्रेणव्युत्पन्नै रवधार्यते ॥९६॥

सूत्रार्थ – उस तरहका हेतुप्रयोग करते है कि जिस तरहसे व्याप्तिका ग्रहण किया जाय, अत वह व्याप्ति उतने मात्रसे (हेतु प्रयोग मात्रसे) व्युत्पन्न पुरुषो द्वारा अवधारित (निश्चित) की जाती है। व्याप्ति ग्रहणका अनतिक्रम रखते हुए हेतुके प्रयोगका विधान किया जाता है, और वह व्याप्ति भी तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति प्रयोग मात्रसे व्युत्पन्नमति द्वारा निश्चित की जाती है। इसीलिये दृष्टातादिके प्रयोगसे व्याप्ति अवधारण करना आदि कुछ भी प्रयोजन नही रहता।

तथा साध्यकी सिद्धिके लिये भी दृष्टातादिका प्रयोग प्रयोजनभूत नही होता है—

तावता च साध्यसिद्धि' ॥९७॥

सूत्रार्थ—उतने तथोपपत्ति आदि रूप हेतु मात्रसे ही साध्यकी सिद्धि भी हो जाती है। सूत्रोक्त च शब्द एवकार अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् निश्चित विपक्ष

तेन पक्षः तदाधारसूचनाय उक्तः ॥९८॥

तेन पक्षो गम्यमानोपि व्युत्पन्नप्रयोगे तदाधारसूचनाय साध्याधारसूचनायोक्त.। यथा च गम्यमानस्यापि पक्षस्य प्रयोगो नियमेन कर्त्तव्यस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम् ।

असभवरूप हेतु प्रयोगसे ही साध्य सिद्धि हो जाती है। उसके लिये दृष्टान्तादिकी जरूरत नही पडती।

तेन पक्षः तदाधारसूचनाय उक्त ॥९८॥

सूत्रार्थ—इसी कारणसे साध्यके आधारकी सूचना करनेके लिए पक्षका प्रयोग करनेको कहा है। ज्ञात रहते हुए भी पक्षका प्रयोग व्युत्पन्न के प्रति किया जाता है कि जिससे साध्यका आधार सूचित होवे। पक्षका प्रयोग नियमसे करना चाहिए। ऐसा पहले अच्छी तरहसे सिद्ध कर आये है।

भावार्थ—अनुमान प्रमाणका विवेचन बहुत विस्तृत हुआ है इस प्रकरणमे अनुमान, हेतु, अविनाभाव, तर्क, उपनय, निगमन, दृष्टात, पक्ष, साध्य आदि सभी लक्षण किया गया है। इनमे सबसे अधिक वर्णन हेतुका है, क्योकि अनुमान, प्रमाणका आधार स्तम्भ हेतु है हेतुके कितने भेद होते है इसमे परवादियोके यहा विभिन्न मान्यताये हैं। बौद्ध हेतुके तीन भेद मानता है। कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु। किन्तु इनमे पूर्वचर आदि अन्य हेतुओका अंतर्भाव अशक्य है अत बौद्धोकी मान्यताका निरसन करते हुए पूर्वचर आदिका सयुक्तिक विवेचन किया है। इस प्रमेयकमल मार्त्तण्ड ग्र थमे हेतुओंके कुल भेद बाईस किये गये है।

[हेतु भेद संबधी चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

हेतुओं के बावीस भेदोंका चार्ट

उपलब्धि हेतु		अनुपलब्धि हेतु	
अविरुद्ध की उपलब्धि	विरुद्ध की उपलब्धि	अविरुद्ध की अनुपलब्धि	विरुद्ध की अनुपलब्धि
विधिसाधक	प्रतिषेध साधक	प्रतिषेध साधक	विधि साधक
१ अविरुद्ध व्याप्य उपलब्धि	१ विरुद्ध व्याप्योपलब्धि	१ अविरुद्ध स्वभावअनुपलब्धि	१ विरुद्धकार्य अनुपलब्धि
२ अविरुद्ध कार्य उपलब्धि	२ विरुद्ध कार्य उपलब्धि	२ अविरुद्ध व्यापकअनुपलब्धि	२ विरुद्धकारण अनुपलब्धि
३ अविरुद्ध कारण उपलब्धि	३ विरुद्ध कारण उपलब्धि	३ अविरुद्ध कार्यअनुपलब्धि	३ विरुद्ध स्वभाव अनपलब्धि
४ अविरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	४ विरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	४ अविरुद्ध कारणअनुपलब्धि	
५ अविरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि	५ विरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि	५ अविरुद्ध पूर्वचरअनुपलब्धि	
६ अविरुद्ध सहचर उपलब्धि	६ विरुद्ध सहचर उपलब्धि	६ अविरुद्ध उत्तरअनुपलब्धि	
		७ अविरुद्ध सहचरअनुपलब्धि	

१२   १०

हेतुओके कुल मिलाकर बावीस भेद हुए

१५

वेदापौरुषेयत्ववादः

अथेदानीमवसरप्राप्तस्यागमप्रमाणस्य कारणस्वरूपे प्ररूपयन्नाप्तेत्याद्याह—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥९९॥

आप्तेन प्रणीत वचनमाप्तवचनम् । आदिशब्देन हस्तसज्ञादिपरिग्रहः । तन्निबन्धनं यस्य तत्तथोक्तम् । अनेनाक्षरश्रुतमनक्षरश्रुत च सगृहीत भवति । अर्थज्ञानमित्यनेन चान्यापोहज्ञानस्य

(आगम प्रमाण)

अब आगम प्रमाणका वर्णन करते हुए उसका कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं—

आप्तवचनादिनिबधनमर्थज्ञानमागम ॥९९॥

सूत्रार्थ—आप्तके वचनादिके निमित्तसे होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको आगम प्रमाण कहते हैं। आप्त द्वारा कथित वचनको आप्तवचन कहते है, आदि शब्दसे हस्तका इशारा आदिका ग्रहण होता है, उन आप्त वचनादिका जिसमे निमित्त है उसे आप्त वचन निबधन कहते हैं, इस प्रकारका लक्षण करनेसे अक्षरात्मक श्रुत और अनक्षरात्मक श्रुत दोनोका ग्रहण होता है। सूत्रमे 'अर्थ ज्ञानं' ऐसा पद आया है उससे बौद्धके अन्यापोह ज्ञानका खण्डन होता है तथा शब्द सदर्भ ही सब कुछ हैं शब्दसे पृथक कोई पदार्थ नही है ऐसा शब्दाद्वैतवादीका खडन हो जाता है। आप्त द्वारा कथित शब्दोंसे पदार्थोका जो ज्ञान होता है वह आगम प्रमाण है। अन्यापोह ज्ञान आदिक

शब्दसन्दर्भस्य चागमप्रमाणव्यपदेशाभाव । शब्दो हि प्रमाणकारणकार्यत्वादुपचारत एव प्रमाण-व्यपदेशमर्हति ।

ननु चातीन्द्रियार्थस्य द्रष्टु कस्यचिदाप्तस्याभावात् तत्राऽपौरुषेयस्यागमस्यैव प्रामाण्यात् कथमाप्तवचननिबन्धन तद् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्, अतीन्द्रियार्थद्रष्टुर्भगवत प्राक्प्रसाधितत्वात्, आगमस्य चाऽपौरुषेयत्वासिद्धे । तद्धि पदस्य, वाक्यस्य, वर्णाना वाऽभ्युपगम्येत प्रकारान्तराऽ-

---

आगम प्रमाण नही कहलाते । आप्तके वचनको जो आगम प्रमाण माना वह कारणमे कार्यका उपचार करके माना है, अर्थात् वचन सुनकर ज्ञान होता है अत वचनको भी आगम प्रमाण कह देते हैं, किन्तु यह उपचार मात्र है वास्तविक तो ज्ञानरूप ही आगम प्रमाण है ।

विशेपार्थ—आप्तके (सर्वज्ञके) वचन आदिके निमित्तसे जो पदार्थोका वोध होता है वह आगम प्रमाण कहलाता है, इसप्रकार आगम प्रमाणका लक्षण है । यदि पदार्थोके ज्ञानको आगम प्रमाण कहते है इतना मात्र लक्षण होता तो प्रत्यक्षादि प्रमाणो मे अतिव्याप्ति होती, क्योकि पदार्थोका ज्ञान तो प्रत्यक्षादिसे भी होता है अतः वचनोंके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान आगम प्रमाण है ऐसा कहा है, "वचन निवधनमर्थ ज्ञान मागम" इतना ही आगम प्रमाणका लक्षण करते तो रथ्यापुरुषके वचन, उन्मत्त, सुप्त, ठग पुरुषके वचन भी आगम प्रमाणके निमित्त बन जाते अत 'आप्त' ऐसा विशेपण प्रयुक्त किया है । सूत्रमे "अर्थ" यह शब्द आया है उसका मतलब है प्रयोजनभूत पदार्थ, अथवा जिससे तात्पर्य निकले उसे अर्थ कहते हैं, तथा बौद्ध शब्दके द्वारा अर्थका ज्ञान न होकर सिर्फ अन्यवस्तुका अपोह होना मानते है उस मान्यताका अर्थ पदसे खण्डन हो जाता है, अर्थात् शब्द वास्तविक पदार्थके प्रतिपादक है न कि अन्यापोहके । शब्द और अर्थ मे ऐसा ही स्वाभाविक वाचक-वाच्य सबध है कि घट शब्द द्वारा घट पदार्थ कथनमे अवश्य आ जाता है । घट पदार्थमे वाच्य शक्ति और शब्दमे वाचक शक्ति हुआ करती है । इसप्रकार आप्त पुरुषो द्वारा कहे हुए वचनोको सुनकर पदार्थका जो ज्ञान होता है वह आगम प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है ।

शका—अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने देखनेवाले आप्तनामा पुरुप होना ही असभव है, अत अपौरुषेय आगमको ही प्रमाणभूत माना गया है, फिर जो ज्ञान आप्त वचनके निमित्तसे हो वह आगम प्रमाण है ऐसा कहना किसप्रकार सिद्ध हो ?

सम्भवात् ? तत्र न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ घटेते, तथाहि–वेदपदवाक्यानि पौरुपेयाणि पदवाक्यत्वाद्भारतादिपदवाक्यवत् ।

अपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च कथमपौरुपेयत्व वेदस्योपपन्नम् ? न च तत्प्रसाधकप्रामाणाभावोऽसिद्ध , तथाहि– तत्प्रसाधक प्रमाण प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अर्थापत्त्यादि वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन पौरुषेयत्वापौरुपेयत्वधर्मग्राहकत्वाभावात् । अनादिसत्त्वस्वरूप चापौरुषेयत्व कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् ? अक्षाणा प्रतिनियतरूपादिविपयतया अनादिकालसम्बन्धाऽभावतस्तत्सम्बन्धसत्त्वेनाप्यसम्बन्धात् । सम्बन्धे वा तद्वदऽनागतकालसम्बद्धधर्मादिस्वरूपेणापि सम्वन्धसम्भवान्न धर्मज्ञप्रतिषेध. स्यात् ।

समाधान—यह शका असार है, अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने वाले भगवान अरिहत देव है ऐसा अभी सर्वज्ञ सिद्धिमे निश्चय कर आये है, तथा आगम अपौरुषेय हो नही सकता, आप अपौरुषेय किसको मानते है पदको, वाक्यको या वर्णोको ? इनको छोडकर अन्य तो कोई आगम है नही । पद और वाक्यको अपौरुषेय कहना शक्य नही, क्योकि पद स्वय रचना बद्ध हो जाय ऐसा देखा नही जाता । अनुमान प्रयोगवेदके पद और वाक्य पौरुषेय (पुरुष द्वारा रचित) है क्योकि पद वाक्य रूप है, जैसे महाभारत आदि शास्त्रोके पद एव वाक्य पौरुषेय होते है ।

वेदको अपौरुपरूप सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी दिखाई नही देता, फिर किस प्रकार उसको अपौरुपेय मान सकेगे ? वेदके अपौरुषेयत्वका प्रसाधक प्रमाण नही हैं यह बात असिद्ध भी नही । वेदके अपौरुषेयत्वको कौनसा प्रमाण सिद्ध करेगा । प्रत्यक्ष, अनुमान या अर्थापत्ति आदिक ? श्रावण प्रत्यक्ष प्रमाणतो कर नही सकता क्योकि वह तो केवल शब्दके स्वरूपको जानता है, यह सुनायी देनेवाला पद वाक्य पौरुपेय है या अपौरुषेय है इत्यादिरूप शब्दके धर्मको श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान जान नही मकता । तथा अपौरुषेय तो अनादि कालसे सत्ताको ग्रहण किया हुआ रहता है इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष उसको कैसे जान सकता है ? इद्रिया तो अपने अपने प्रतिनियत रूप शब्द आदि विषयोको ग्रहण करती है, इन्द्रियोका अनादिकालसे कोई सम्बन्ध नही है अत इद्रिया अनादि अपौरुषेय शब्दके सत्ताके साथ सबधको स्थापित नही कर सकती । अनादि कालीन पदार्थसे यदि इद्रिया सवधको कर सकती है तो उसके समान अनागतकाल सबधी धर्म अधर्म के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर सकेगी ? फिर तो आप मीमासक आत्माके धर्मज्ञ बननेका निषेध नही कर सकेगे । अर्थात् आपका यह कहना है कि कोई

नाप्यनुमानं तत्प्रसाधकम्, तद्धि कर्त्रऽस्मरणहेतुप्रभवम्, वेदाध्ययनशब्दवाच्यत्वलिङ्गजनितं वा स्यात्, कालत्वसाधनसमुत्थं वा ? तत्राद्यपक्षे किमिदं कर्त्तुरस्मरणं नाम-कर्तृस्मरणाभावः, अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरणाऽसिद्धो हेतुः, कर्तृस्मरणाभावो ह्यात्मन्यपौरुषेयत्वं वेदे वर्त्तते इति।

द्वितीयपक्षे तु दृष्टान्ताभावः, नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतिपन्नम्, किन्त्वकर्तृकमेव। हेतुश्च व्यर्थविशेषणः, सति हि कर्तरि स्मरणमस्मरणं वा स्यान्नासति

भी पुरुष चाहे वह महायोगी भी क्यों न हो किन्तु धर्म अधर्मरूप अदृष्टको प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। सो आपकी यह बात खंडित होगी, क्योंकि यहां इंद्रिय द्वारा धर्म आदिका ज्ञान होना स्वीकार कर रहे हैं ? अतः प्रत्यक्ष प्रमाण वेदके अपौरुषेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता।

अनुमान प्रमाण भी वेदके अपौरुषेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता, आप अनुमानद्वारा अपौरुषेयत्वको सिद्ध करना चाहते हैं सो उस अनुमानमें कौनसा हेतु प्रयुक्त करेंगे, कर्त्ताका अस्मरणरूप या वेदाध्ययन शब्द वाच्यत्वरूप अथवा कालत्वरूप ? प्रथम पक्षमें प्रश्न होता है कि कर्त्ताका अस्मरण इस पदका क्या अर्थ है, कर्त्ताके स्मरणका अभावरूप अर्थ है या अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप अर्थ है ? (स्मृतिमें आये हुए कर्त्ताका निषेध करना रूप अर्थ है ?) प्रथम विकल्प कहो तो व्यधिकरण असिद्ध नामा हेत्वाभास बनता है कैसे सो ही बताते हैं—साध्य और हेतुका अधिकरण विभिन्न होना व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है, यहां पर कर्त्ताके स्मरण का अभावरूप हेतु है सो यह स्मरणका अभाव आत्मारूप अधिकरणमें है और अपौरुषेयरूप साध्य वेद अधिकरणमें है (अर्थात् स्मरणाभावरूप हेतु हमारे आत्मामें है और अपौरुषेयत्वको सिद्ध करना है वह साध्य वेद में है) अतः व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास होता है।

दूसरा विकल्प—अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप हेतु पदका अर्थ करते हैं तो दृष्टांतका अभाव होगा, जो वस्तु नित्य होती है वह स्मर्यमाण कर्तृत्वरूप भी नहीं है और अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप भी नहीं है वह तो अकर्तृत्वरूप ही है। (क्योंकि नित्यवस्तुका कर्त्ता ही नहीं होता अतः उसके कर्त्ताका स्मरण है या नहीं इत्यादि कथन गलत ठहरता है) हेतुका विशेषण भी व्यर्थ होता है क्योंकि कर्त्ताके होने पर ही स्मरण और अस्मरण संबंधी प्रश्न होते हैं, कर्त्ताके अभाव में तो हो नहीं सकते, जैसे खरविषाणका

खरविषाणवत् । अथाऽकर्तृकत्वमेवात्र विवक्षितम्, तर्हि स्मर्यमाणग्रहणं व्यर्थम्, जीर्णकूपप्रासादादिभिर्व्यभिचारश्च । अथ सम्प्रदायाऽविच्छेदे सत्यऽस्मर्यमाणकर्तृकत्व- हेतु., तथाप्यनेकान्तः । सन्ति हि प्रयोजनाभावादस्मर्यमाणकर्तृकाणि 'वटे वटे वैश्रवण' [ ] इत्याद्यनेकपदवाक्यान्यविच्छिन्नसम्प्रदायानि । न च तेषामपौरुषेयत्वं भवतापीष्यते । असिद्धश्चाय हेतुः, पौराणिका हि ब्रह्मकर्तृकत्वं स्मरन्ति "वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता" [ ] इति । "प्रतिमन्वन्तरं

स्मरण या अस्मरण कुछ भी नही होता । यदि कहा जाय कि वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेमे अकर्तृत्वको ही हेतु बनाया है तो फिर उसका अस्मर्यमाणत्व विशेपण व्यर्थ ठहरेगा ? तथा पुराने कूप महल आदिके साथ हेतु व्यभिचरित होता है, क्योकि ये पदार्थ कर्त्ता द्वारा रचित होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप है (कर्त्ताके स्मरणसे रहित हैं) यदि कहा जाय कि जिसमे सप्रदायके विच्छेदसे रहित अस्मर्यमाणकर्तृत्व है उसको हेतु बनाते है तो यह हेतु भी अनेकान्तिक दोष युक्त है ।

भावार्थ—जिस वस्तुमे शुरूसे अभी तक परपरासे कर्त्ताका स्मरण न हो उसे अस्मर्यमाण कर्तृत्व कहते हैं, वेद इसी प्रकारका है उसके कर्त्ताका परपरासे अभी तक किसीको भी स्मरण नही है अत इस अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु द्वारा अपौरुषेयत्वसाध्यको सिद्ध किया जाता है, जीर्ण कूप आदि पदार्थ भी अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है किन्तु सप्रदाय अविच्छेद रूप अस्मर्यमाणकर्तृत्व नही है क्योकि जीर्णकूपादिका कर्त्ता वर्त्तमान कालमें भले ही अस्मर्यमाण हो किन्तु पहले अतीतकालमे तो स्मर्यमाण ही था, अतः जीर्णकूप आदिका अस्मर्यमाणकर्तृत्व विभिन्न जातिका है ऐसा परवादी मीमासकादिका कहना है सो यह कथन भी अनेकान्त दोप युक्त है, इसीको आगे वता रहे हैं ।

वट वट मे वैश्रवण रहता है, पर्वत पर्वत पर ईश्वर वसता है, इत्यादि पद एव वाक्य प्रयोजन नही होनेसे अविच्छिन्न सम्प्रदायसे अस्मर्यमाण कर्त्तारूप है किंतु उन पद एव वाक्योको आप भी अपौरुषेय नही मानते है, इससे यह निप्कर्प निकलता है कि जो अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है वह अपौरुषेय होता है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है । यह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु असिद्ध भी है, अव इसी दोपका विवरण करते हैं—आपके यहा पौराणिक लोग ब्रह्माको वेदका कर्त्ता मानते है, "वक्त्रेभ्योवेदास्तस्य विस्तृता." उस ब्रह्माजीके मुखमे वेद शास्त्र निकला है ऐसा आगमवाक्य है । प्रतिमन्वन्तर (एक मनुके बाद दूसरे मनुकी उत्पत्ति होने मे जो वीचमे काल होता है उस अतरालको

चैव श्रुतिरन्या विधीयते" [ ] इति चाभिधानात्। "यो वेदांश्च प्रहिणोति" [ ] इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च तत्कर्त्ता स्मर्यते।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किता काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादय शाखाभेदा कथमस्मर्यमाणकर्तृका ? तथाहि–एतास्तत्कृतकत्वात्तन्नामभिरङ्किता, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वमस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा ? उत्तरपक्षद्वयेपि यदि तावदुत्सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथ सम्प्रदायाऽविच्छेदोऽतीन्द्रियार्थदर्शिन प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथानवच्छिन्नैव सा सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि यावद्भिरुपाध्यायै सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावन्ना नामभिस्तस्याः किन्नाङ्कितत्व स्याद्विशेषाभावात् ?

प्रतिमन्वन्तर कहते हैं) प्रमाण वर्ष व्यतीत होनेपर अन्य अन्य श्रुतियोका निर्माण होता है, इत्यादि तथा जो वेदोका कर्त्ता है वह प्रसन्न हो इत्यादि वेद वाक्योसे वेदकर्त्ताका स्मरण है ऐसा निश्चित होता है।

जिम प्रकार स्मृतिग्रथ, पुराणग्रथ आदिमे ऋषियो के नाम पाये जाते हैं उसीप्रकार कण्वऋषि निर्मित काण्व, मध्यदिनका माध्यदिन तैत्तिरीय इत्यादि शाखा भेद वेदोमे पाये जाते हैं फिर उन वेदोको अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप कैसे मान सकते हैं, वेद इन ऋषियो के नामोसे अकित क्यो है ? उनके द्वारा किया गया है या देखा गया है अथवा प्रकाशित हैं ? यदि उनके द्वारा किया गया है तो वह अपौरुषेय किस प्रकार कहलायेगा और अस्मर्यमाण भी किस प्रकार कहलायेगा ? अर्थात् नही कहला सकता। उनके द्वारा वेद देखा गया है अथवा प्रकाशित किया गया है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि व्युच्छिन्न हुई वेद शाखाओ को देखा या प्रकाशित किया अथवा अव्युच्छिन्न वेद शाखाओको देखा या प्रकाशित किया ? प्रथम विकल्प माने तो वेदके सप्रदायका अविच्छेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? तथा अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञाताका खडन भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् नही हो सकता, क्योकि कण्व आदि ऋषियोने व्युच्छिन्न हुए वेद शाखाओका देखा है। द्वितीय विकल्प माने तो सप्रदाय परपरासे जितने भी उपाध्यायो द्वारा वेद शाखाये देखी या प्रकाशित की गयी है उन सबके नाम वेदोमे क्यो नही अकित हुए ? आशय यह है कि जब वेद शाखा अनवच्छिन्न सप्रदायसे चली आयी है तब उस सप्रदायको अनच्छिन्न बनाये रखने वाले सभी महानुभावोके नाम वेदमें अकित होने चाहिए किन्हीके नाम हो और किन्हीके न हो ऐसा होनेमे कोई विशेष कारण तो है नही।

एतेन 'छिन्नमूलं वेदे कर्तृस्मरणं तस्य ह्यनुभवो मूलम्। न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यते' इत्यपि प्रत्युक्तम्। यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा? अध्यक्षेण चेत्; किं भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्ह्यागमान्तरेपि कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतुः। अथागमान्तरे कर्तृग्राहकत्वेनास्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः कर्तृसद्भावाभ्युपगमात् ततो व्यावृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपौरुषेयत्वेनैव व्याप्यते इति अव्यभिचारः; न; परकीयाभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्, अन्यथा वेदेपि परैः कर्तृसद्भावाभ्युपगमतोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात्।

मीमांसक का कहना है कि वेदके विषयमे कर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल हो गया है, स्मरण ज्ञानका कारण अनुभव है वह वेदके विषयमे नही रहा है? इत्यादि सो यह कथन भी खंडित होता है, आगे इसीको बताते हैं–प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नही होनेसे उसको छिन्नमूल मानते हैं अथवा अनुमानादि प्रमाण द्वारा अनुभव नही होनेसे छिन्नमूल मानते हैं? प्रथम पक्ष कहो तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण किसका है आप स्वयंको होने वाला प्रत्यक्ष या सर्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष? आपके प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नही आता इसलिये उसको छिन्नमूल कहो तो अन्य बौद्ध आदिके आगमकर्त्ताका भी आपको अनुभव नही है अतः वह आगम भी छिन्नमूल होनेसे अस्मर्यमाण कर्तृस्वरूप सिद्ध होता है और इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु व्यभिचारी बनता है।

भावार्थ—वेदका कर्त्ता स्मरणमे नही आता अतः वेद अपौरुषेय है ऐसा मीमांसकका कहना है किन्तु यह हेतु सदोष है, क्योंकि ऐसे बहुतसे पद वाक्य एवं ग्रन्थ हैं कि जिनके कर्त्ताका स्मरण नही है, अपनेको स्मरण नहीं होने मात्रसे वह वस्तु अकृतक नही कहलाती। स्मरणका मूल अनुभव है और अनुभव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे होता है, हमको वेदकर्त्ताका अनुभव प्रत्यक्षसे नही होनेके कारण इस वेदको अस्मर्यमाण कर्तृस्वरूप मानते हैं तो बौद्धादिके ग्रन्थको भी अस्मर्यमाण कर्तृस्वरूप मानना होगा? क्योंकि उन ग्रन्थका भी हमको प्रत्यक्षसे अनुभव नही है।

मीमांसक–बौद्ध आदिके आगमका कर्त्ता हमारे प्रत्यक्ष भले ही न हो किन्तु वे परवादी तो कर्त्ताका सद्भाव स्वीकार करते ही है अतः उनका आगम अस्मर्यमाण कर्तृत्व नही होनेसे अपौरुषेय सिद्ध नही होता, इसतरह उस आगमसे व्यावृत्त हुआ अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु वेदमे अपौरुषेयत्वको सिद्ध कर देता है। अतः यह हेतु अव्यभिचारी है।

अथ वेदे सविगानकर्तृविशेष विप्रतिपत्ते कर्तृस्मरणमऽतोऽप्रमाणम्—तत्र हि केचिद्धिरण्यगर्भम्, अपरे अष्टकादीन् कर्तॄन्स्मरन्तीति। नन्वेव कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते कर्तृमात्रस्मरणत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावात्पुनरप्यनेकान्त। अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत्कर्तृमात्रेपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्, कादम्बर्यादीना तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेस्तत्प्रमाणमित्यनैकान्तिकत्वाभावोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विपक्षे प्रवृत्त्यभावात्। ननु वेदे सौगतादयः कर्त्तार स्मरन्ति न

जैन—ऐसा नही है, परवादीकी मान्यता अप्रमाण हुआ करती है, यदि उनका सिद्धात स्वीकार करते तो उन्होने वेदमे कर्त्ता माना उसको भी स्वीकार करना होगा। फिर उसका अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही कहलायेगा।

मीमासक—वेदमे कर्त्ताके विषयमे परवादी विवाद करते हैं अर्थात् कर्त्ताको स्वीकार करके भी निश्चित कर्त्ता विशेष तो उनके यहा भी सिद्ध नही होता, अत बौद्ध आदिका वेद कर्तृविषयक स्मरण ज्ञान अप्रमाणभूत है, उन परवादियोमे कोई तो ब्रह्माको वेदकर्त्ता बतलाते हैं और कोई अष्टक नामा दैत्यको वेदकर्त्ता बतलाते हैं।

जैन—इसतरह कर्त्ता विशेषमे विवाद होनेसे उस कर्त्ता विशेषका स्मरण ज्ञान ही अप्रमाणभूत कहा जा सकता है किन्तु कर्त्ता सामान्यका स्मरण ज्ञान तो प्रमाण भूत ही कहलायेगा, यदि कर्त्ता विशेषमे विवाद होने मात्रसे वेदको अपौरुषेय मानकर अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु द्वारा उसे सिद्ध किया जाय तो कादवरी आदि ग्रथोके कर्त्ता विशेपमे भी विवाद देखा जाता है कि इस कादबरी आदि ग्रथका कर्त्ता बाण नामा कवि है अथवा शकर है? इत्यादि, सो यहा कर्त्ता सामान्यका स्मरण होते हुए भी कर्त्ता विशेषका तो अस्मरण ही रहता है अत अस्मर्यमाण कर्तृत्व होनेसे वेद अपौरुषेय है ऐसा कहना गलत ठहरता है, क्योकि अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु पौरुषेय आगममें भी पाया जाता है अत अनैकातिक हेत्वाभास बनता है।

शका—वेदमे कर्त्ता विशेपके समान कर्त्ता सामान्यमे भी विवाद है अत वेद कर्त्ताका स्मरण अप्रमाणभूत है किन्तु कादम्बरी आदि ग्रथोमे ऐसी बात नही है, वहा तो सिर्फ कर्त्ता विशेषमे ही विवाद है अत वहा कर्त्ताका स्मरण प्रमाणभूत माना जाता है इसप्रकार अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास नही बनता, क्योकि वह विपक्षमे नही जाता।

मीमासका इत्येव कर्तृ मात्रे विप्रतिपत्तेर्यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वदस्मरणमप्यऽप्रमाण किन्न स्याद्वि-प्रतिपत्ते रविशेषात् ? तथा चासिद्धो हेतु ।

अथ यद्यनुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृ कत्व हेतुत्वेनोच्येत, तदोक्तप्रकारेणाऽसिद्धानैकान्तिकत्वे स्याताम्, तदभावपूर्वके तु तस्मिस्तयोरनवकाश , न, अत्र कर्त्रऽभावग्राहकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽसम्भवात् । अस्मादेवानुमानात्तदभावसिद्धावन्योन्याश्रय -अतो ह्यऽनुमानात्तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृ कत्व सिद्धयति, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नही, बौद्ध आदि परवादी वेद कर्त्ताका स्मरण होना मानते है किन्तु मीमासक तो स्मरण होना मानते ही नही इसप्रकार सामान्य कर्त्ताके बारे मे भी विवाद है ऐसा मानकर उस कर्त्ताके स्मरणको अप्रमाण कहेगे तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि वेदकर्त्ताका अस्मरण अप्रमाणभूत है, क्योकि उसमे विवाद है । इसतरह वेदकर्त्ता का स्मरण होना और स्मरण नही होना इन दोनोमे विवाद ही रह जाता है अत मीमासक द्वारा दिया हुआ अस्मर्यमाणकर्तृ त्व नामा हेतु असिद्ध होता है ।

मीमासक—वेद अपौरुषेय है, क्योकि उसके कर्त्ताका अस्मरण है, इस अनुमान के अस्मर्यमाणकर्तृ त्व हेतुको यदि अनुपलभरूपसे सिद्ध किया जाता है अर्थात् कर्त्ताके स्मरणका अनुपलभ होनेसे अस्मर्यमाण कर्त्तृ त्व है, ऐसा माना जाय तब तो वह हेतु असिद्ध एव अनैकान्तिक हो सकता है किन्तु कर्त्ताके स्मरणका अभाव होनेसे अस्मर्यमाणकर्तृ त्व है ऐसा मानेगे तब असिद्धादि दोष नही आते है ।

जैन—यह कथन ठीक नही, क्योकि वेदकर्त्ताके अभावको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाणान्तर सभव नही है, यदि इसी अस्मर्यमाणकर्तृ त्व हेतु वाले अनुमान द्वारा वेदकर्त्ताका अभाव सिद्ध करेगे तो अन्योन्याश्रय होगा—अस्मर्यमाण कर्तृ त्व हेतुसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होनेपर उसके अभाव पूर्वक होनेवाला अस्मर्यमाणकर्तृ त्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर इस अनुमानसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होवेगा, इस तरह दोनो असिद्ध कोटीमे रह जाते हैं ।

ननु वेदे कर्तृसद्भावाभ्युपगमे तत्कर्त्तु पुरुषस्यावश्य तदनुष्ठानसमये अनुष्ठातॄणामनिश्चितप्रामाण्याना तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरण स्यात्। ते ह्यदृष्टफलेषु कर्मस्वेव निःसशया प्रवर्त्तन्ते। यदि तेषा तद्विषय सत्यत्वनिश्चय, सोपि तदुपदेष्टुः स्मरणात्स्यात्। यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात्स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात्प्रवर्त्तन्ते 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्ट तेनानुष्ठीयते', एव वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्त्तु स्मरण स्यात्। न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणा त्रैवर्णिकाना तत्स्मरणमस्ति। तथा चैव प्रयोग—कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादपौरुषेयो वेद'। तदप्यसम्बद्धम्; आगमान्तरेऽप्यस्य हेतो सद्भावबाधकप्रमाणाऽसम्भवेन सद्भावसम्भवत सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिकत्वात्।

मीमासक—बात यह है कि वेदकर्त्ताका सद्भाव मानते हैं तो उस वेदकर्त्ताका स्मरण उन पुरुषोको अवश्य होना चाहिये जिनको कि वेदमे लिखित क्रियाका अनुष्ठान करना है, वे अनुष्ठान करने वाले पुरुष पहले तो वेदकी प्रमाणताको जानने वाले नही होते है जब वे उसकी प्रमाणताका निश्चय करते है तब अनुष्ठायक बनते हैं क्योकि जब तक अनुष्ठानका फल नही जाना है तव तक उसमे नि सशयरूप प्रवृत्ति नही हो सकती, इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका निश्चय होना चाहिए यह बात सिद्ध हुई, अब उस वेद विषयक प्रमाणताका निश्चय अनुष्ठायक पुरुषोको किसप्रकार होगा यह देखना है, वह निश्चय तो वेदका उपदेश देने वाले पुरुषका स्मरण होने से होगा, जैसे कि जिन क्रियाओका फल अज्ञात है उन क्रियाओमे—अपने माता पिताके प्रमाणताके निमित्तासे क्रिया सबधी उपदेशको पाकर प्रवृत्ति होती है कि पिताजीने इस प्रकार बताया था [ऐसी क्रिया बतलायी थी] इत्यादि, फिर तदनुसार वे पुत्रादि अनुष्ठानमे प्रवृत्ति करते है। ठीक इसीप्रकार वैदिक क्रियानुष्ठान करते समय भी वेद कर्त्ताका स्मरण होना चाहिए किन्तु वेद विहित क्रियानुष्ठानोमे प्रवृत्त हुए त्रैवर्णिक पुरुषोको ऐसा स्मरण ज्ञान होता तो नही। इसीसे अनुमान होता है कि वेदकर्त्ता स्मरण होने योग्य होकर भी स्मरणमे नही आता अत अस्मर्यमाण होनेसे वेद अपौरुषेय है।

जैन—यह मीमासक का विस्तृत कथन असबद्ध प्रलाप मात्र है, आपका अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु बौद्धादिके पौरुषेय आगममे जाना सभव है उसका उस विपक्षीभूत पौरुषेय आगममे जानेमे कोई बाधक प्रमाण तो दिखायी नही देता अत. यह हेतु सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति नामा अनैकातिक हेत्वाभास बनता है।

किञ्च, विपक्षविरुद्धं विशेषणं विपक्षाद्व्यावर्त्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्त्तेत । न च पौरुषेयत्वेन सह कर्त्तुः स्मरणायोग्यत्वस्य सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा विरोधः सिद्धः । सिद्धौ वा तत एव साध्यप्रसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम् ।

यच्चोक्तम्–तदनुष्ठानसमय इत्यादि, तदागमान्तरेपि समानम् न वा इति चिन्त्यताम्– न चायं नियमः–'अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्त्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते' । न खलु पाणिन्यादिप्रणीत-व्याकरणप्रतिपादितशाब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदर्थानुष्ठातारोऽवश्यन्तया व्याकरणप्रणेतारं पाणिन्या-दिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्त इति प्रतीतम् । निश्चिततत्समयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाप्याशुतरं भवत्यादिसाधुशब्दोपलम्भात् । तन्न भवत्सम्बन्धिप्रत्यक्षेणानुभवाभावात् । तत्र तच्छिन्नमूलम् ।

दूसरी बात यह है कि हेतुका जो विशेषण होता है वह विपक्षसे विरुद्ध होता है अतः जब वह विपक्षसे व्यावृत्त होता है तब स्व विशेष्यको लेकर व्यावृत्त होता है, ऐसा ही नियम है । किन्तु यहां प्रकरणमे पौरुषेय रूप विपक्षके साथ कर्त्ताके स्मरणकी योग्यताका सहानवस्था विरोध या परस्पर परिहार विरोध तो सिद्ध नही है, अर्थात् जहां पर पौरुषेय हो वहांपर कर्त्ताके स्मरणकी योग्यता नही रहे ऐसा इन दोनोमे अंधकार और प्रकाश के समान कोई विरोध तो है नही जिससे कर्त्ताके स्मरणके अभावमे पौरुषेय भी नही रहता ऐसा नियम बन सके ? पौरुषेयत्वमे और कर्त्तास्मरण की योग्यतामे जबरदस्ती विरोधको सिद्ध भी कर लेवे तो फिर उतने मात्रसे ही साध्य (अपौरुषेयत्व) की सिद्धि हो जायगी, फिर तो अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु रूप विशेष्यको ग्रहण करना व्यर्थ ही ठहरेगा ।

मीमांसक ने कहा कि वेद विहित अनुष्ठानको करते समय कर्त्ताका स्मरण अवश्य होता है इत्यादि, सो यह बात अन्य आगममे भी समान है ? आप विचार करे कि इस तरह है कि नही । यह नियम नही बन सकता कि अनुष्ठान को करने वाले व्यक्ति शास्त्र विहित क्रियाको करते समय उस शास्त्रके कर्त्ताको जरूर स्मरण करते हो पाणिनि आदि ग्रंथकार द्वारा प्रणीत व्याकरणमे प्रतिपादित किये गये धातु लिंग आदि संबंधी शब्द होते है उनको व्यवहारमे प्रयोग करते समय पाणिनि आदि ग्रन्थकारका स्मरण करके ही प्रयोग करते है ऐसा प्रतीत नही होता । व्याकरण कथित शब्दोका नियम जिनको याद है वे पुरुष व्याकरण कर्त्ताका स्मरण किये बिना भी शीघ्रतासे "भवति" इत्यादि धातुपद आदि साधु शब्दोको उपलब्ध करते है । इसप्रकार आप मीमांसक के प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नही होनेसे वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल

नापि सर्वसम्बन्धिप्रत्यक्षेण, तेन ह्यनुभवाभावोऽसिद्ध । न ह्यर्वाग्दृशा 'सर्वेषा तत्र कर्तृग्राहकत्वेन प्रत्यक्ष न प्रवर्त्तते' इत्यवसातु शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वासिद्धेरस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः ।

अथ प्रमाणान्तरेणानुभवाभाव , तन्न, अनुमानस्य आगमस्य च प्रमाणान्तरस्य तत्र कर्तृसद्भावावेदकस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात् ।

किञ्च, अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा स्यात् ? वादिनश्चेत्, तदनैकान्तिक "सा ते भवतु सुप्रीता" [ ] इत्यादौ विद्यमानकर्तृकेप्यस्य सम्भवात् । प्रतिवादिन-

---

माना जाता है ऐसा कहना गलत है । अब सर्व सबधी प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव नहीं होनेसे वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल माना जाता है, ऐसा दूसरा पक्ष कहा जाय तो वह भी गलत होता है, क्योकि सर्व सबधो प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाले अनुभवका अभाव असिद्ध है, इसमे भी कारण यह है कि हम जैसे लोगोका प्रत्यक्ष ज्ञान "सभी जीवोके प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नही होता" ऐसा जाननेके लिये समर्थ नही है । जब सबके प्रत्यक्षका निर्णय ही नही कर सकते तो वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल होनेसे वेदको अस्मर्यमाण कर्तृत्व रूप मानते हैं ऐसा कहना कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता । इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु असिद्ध ही कहलाता है ।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताके अनुभवका अभाव सिद्ध नही होता तो मत हो अन्य प्रमाण द्वारा उस अभावको सिद्ध किया जाय ? सो यह कथन गलत है, अनुमान और आगमरूप जो अन्य प्रमाण है वह तो वेदमे कर्त्ताका सद्भाव ही सिद्ध करता है, न कि अभाव, इस बात का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है ।

मीमासक वेदको अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु प्रस्तुत करते हैं सो वेदकर्त्ताका स्मरण किसको नही, वादीको (मीमांसकको) या प्रतिवादीको (जैनादिको) अथवा सभीको ? वादीको कहो तो हेतु अनैकान्तिक बन जायगा, क्योकि "सा ते भवतु सुप्रीता" इत्यादि आगम वाक्य कर्त्तायुक्त होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्व वाले हैं, अर्थात् इन वाक्योका कर्त्ता भी स्मरणमे नही आता । प्रतिवादीको वेदकर्त्ताका स्मरण नही है ऐसा कहो तो असिद्ध हेत्वाभास होवेगा, क्योकि

श्चेत्, तदसिद्धम्, तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्त्तारम्। एतेन सर्वस्यास्मरणं प्रत्याख्यातम्। सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्रऽस्मरणमवैति ?

किंच, अत स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वं साध्येत्, पौरुषेयत्वसाधनमनुमान वा बाध्येत ? आद्यविकल्पे स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वस्याद साधनम्, प्रसङ्गो वा ? स्वातन्त्र्यपक्षे नाऽतोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः पदवाक्यत्वत पौरुषेयत्वप्रसिद्धे.। अतो न ज्ञायते किमस्मर्यमाणकर्तृत्वादपौरुषेयो वेदः पदवाक्यात्मकत्वात्पौरुषेयो वा ? न च सन्देहहेतो प्रामाण्यम्।

ननु न प्रकृताद्धेतोः सन्देहोत्पत्तिर्येनास्याऽप्रामाण्यम् किन्तु प्रतिहेतुत', तस्य चैतस्मिन्सत्यऽप्रवृत्ते. कथ सशयोत्पत्ति ? तदयुक्तम्, यथैव हि प्रकृतहेतो सद्भावे पौरुषेयत्वसाधकहेतोरप्रवृत्तिर-

---

प्रतिवादी को तो वेदकर्त्ताका स्मरण ही है। वादी प्रतिवादी सभीको वेदकर्त्ताका स्मरण नही है ऐसा कहना भी इसी उपर्युक्त कथनसे खण्डित होता है। जब हमे सभी जीवोका ज्ञान ही नही होता तब कैसे कह सकते है कि सभीको वेदकर्त्ताका स्मरण नही है ?

तथा आप मीमासक को इस हेतु द्वारा क्या साधना है स्वतन्त्रतासे मात्र अपौरुषेयपने को सिद्ध करना है अथवा पौरुषेयपने को सिद्ध करने वाले अनुमान मे बाधा उपस्थित करना है ? प्रथम विकल्पमे प्रश्न होता है कि यह हेतु स्वतत्रतासे अपौरुषेयत्वको साधने वाला है अथवा प्रसग साधन रूप है ? स्वतन्त्रतासे अपौरुषेयत्व को साधने वाला है ऐसा कहो तो इस हेतुसे (अस्मर्यमाणकर्तृत्वसे) अपौरुषेयत्व सिद्ध नही होगा, क्योकि पद वाक्यत्वरूप अन्य हेतुसे पौरुषेयत्व प्रसिद्ध होना सभव है। अत निर्णीत नही होता कि वेद अस्मर्यमाणकर्तृत्व होनेसे अपौरुषेय अथवा पद वाक्यात्मका रचा हुआ होनेसे पौरुषेय है। इस प्रकार जो सदेहास्पद होता है वह हेतु प्रामाणिक नही कहलाता।

शंका—अस्मर्यमाणकर्तृत्व नामा हेतु सदेहास्पद होनेसे अप्रामाणिक नही होता अपितु प्रतिकूल हेतु द्वारा अप्रामाणिक हो सकता है किन्तु उस प्रतिकूल हेतुकी यहां पर प्रवृत्ति नही है अत किसप्रकार सशय होगा ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, जिस प्रकार अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतुके रहने पर पौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाला प्रति हेतु प्रवृत्ति नही करता ऐसा कहा जाता है

भिधीयते तथा पदवाक्यत्वलक्षणहेतुसद्भावे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्याप्यप्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्। तन्न स्वतन्त्रसाधनमिदम् ।

नापि प्रसङ्गसाधनम्, तत्खलु 'पौरुषेयत्वाभ्युपगमे वेदस्य तत्कर्त्तुः पुरुषस्य स्मरणप्रसङ्गः स्यात्' । इत्यनिष्टापादनस्वभावम् । न च कर्तृस्मरण परस्यानिष्टम्, स हि पदवाक्यत्वेन हेतुना तत्कर्त्तृस्मरण प्रतीयन् कथ तत्स्मरणस्याऽनिष्टता ब्रूयात् ?

पौरुषेयत्वसाधनानुमानबाधापक्षेपि किमनेनास्य स्वरूप बाध्यते, विषयो वा ? न तावत्स्वरूपम्, अपौरुषेयत्वानुमानस्याप्यनेन स्वरूपबाधनानुषङ्गात्, तयोस्तुल्यबलत्वेनान्योन्य विशेषाभावात् ।

उसीप्रकार पद वाक्यत्वनामा हेतुके रहने पर उसका प्रतिहेतु अस्मर्यमाण कर्तृत्व प्रवृत्ति नही करता ऐसा भी कह सकते है, दोनो कथनोमे या हेतुओमे कोई विशेषता तो है नही । इसलिये अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु स्वतन्त्रतासे प्रयुक्त हुआ है ऐसा कहना असिद्ध है ।

इस हेतुको प्रसग साधनरूपसे प्रयुक्त किया है ऐसा कहना भी गलत है, प्रसग साधन तो तब बनता जब वेदको पौरुषेय मानकर कर्त्ताका स्मरण होना नही मानते, ऐसे समय पर अनिष्टका आपादन हो सकता था कि जैनादि परवादी यदि वेदको पौरुषेय स्वीकार करते है तो उन्हे कर्त्ताका स्मरण भी अवश्य मानना होगा । इत्यादि, किन्तु जैनादिके लिये कर्त्ताका स्मरण मानना अनिष्ट नही है वे तो पदवाक्यत्व हेतु द्वारा वेदकर्त्ताका स्मरण सिद्ध करते ही है अर्थात् वेदमे पद एव वाक्योकी रचना दिखायी देती है अत वह अवश्यमेव पुरुष द्वारा रचित पौरुषेय है । इसप्रकार वेद कर्त्ताका स्मरण मानना इष्ट ही है फिर वह अनिष्ट कैसे होगा ?

विशेषार्थ—"परेष्टयाऽनिष्टापादन प्रसग साधनम्" परवादीके इष्टको लेकर उससे उनका अनिष्ट सिद्ध करके बताना प्रसग साधन हेतु कहलाता है । वाद विवाद करते समय सामनेवाले व्यक्ति द्वारा स्वसिद्धातको सिद्ध करनेके लिये अनुमानका प्रयोग किया जाता है, अनुमानमे सबसे अधिक महत्वशाली हेतु हुआ करता है, उस हेतुमे असिद्ध विरुद्ध आदि दोष तो होने ही नही चाहिये किन्तु ऐसा भी हेतु नही होना चाहिए कि जिस हेतुको लेकर परवादी हमारे अनिष्टको सिद्ध करके दिखावे । अनुमानके प्रमुख दो अवयव होते है साध्य और साधन, इसीको पक्ष और हेतु कहते हैं, प्रतिज्ञा और हेतु इस तरह भी कहा जाता है । साध्य और साधन दोनो अवयव ऐसे होने चाहिए कि

अतुल्यबलत्वे वा किमनुमानबाधया ? येनैव दोषेणास्याऽतुल्यबलत्वं तत एवाप्रामाण्यप्रसिद्धेः। विषय-बाधाप्यनुपपन्ना, तुल्यबलत्वेन हेत्वो परस्परविषयप्रतिबन्धे वेदस्योभयधर्मशून्यत्वानुषङ्गात्। एकस्य वा स्वविषयसाधकत्वेऽन्यस्यापि तत्प्रसङ्गाद् धर्मद्वयात्मकत्व स्यात्। अतुल्यबलत्वे तु यत एवातुल्यबलत्वं तत एवाऽप्रामाण्यप्रसिद्धे. किमनुमानबाधयेत्युक्तम्।

एतेन

दोनो भी हमे इष्ट हो मान्य हो। यहा मीमांसकके अपौरुषेय वेदका प्रकरण है, "अस्मर्यमाणकर्तृत्वात् वेद. अपौरुषेय" वेद अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा रचा हुआ नही स्वय ही बना हुआ है) है (साध्य) क्योकि इसके कर्त्ताका स्मरण नही है (हेतु) इसप्रकार मीमासक का अनुमान प्रयोग है, इसमे अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु है, इसका जैनाचार्यने विविध प्रकारसे खंडन किया है एव उसमे असिद्धादि दोष सिद्ध किये है। जब यह हेतु सदोष सिद्ध हुआ तब मीमासक कहते है कि हमने इस हेतुको प्रसग साधनरूपसे ग्रहण किया है, किन्तु यह कथन सर्वथा असत् है, अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु प्रसग साधन तब बनता जब जैन वेदको पौरुषेय मानकर भी उसके कर्त्ताका स्मरण होना स्वीकार नही करते अर्थात् अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप हेतुको तो मानते और साध्य बनाते पौरुषेयत्वको, तब अनिष्ट का प्रसग प्राप्त हो सकता था कि यदि जैनादि अन्य वादी वेदकर्त्ताका स्मरण होना नही मानते तो उन्हे वेदको अपौरुषेय भी मानना होगा इत्यादि। किन्तु ऐसा प्रसग आ नही सकता, क्योकि जैन आदि वादी पहलेसे ही वेद कर्त्ताका स्मरण होना बतलाते है। इसप्रकार मीमासकका उपर्युक्त हेतुको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्न असफल होता है।

पौरुषेयत्वको सिद्ध करने वाले अनुमान मे बाधा आती है ऐसा मीमासकका कहना है सो उसमे प्रश्न होता है कि प्रसग साधनरूप अनुमान द्वारा इस अनुमानका स्वरूप बाधित किया जाता है अथवा विपय बाधित किया जाता है ? स्वरूप बाधित किया जाता तो शक्य नही, क्योकि यदि पौरुपेयत्व साध्यवाला अनुमान उक्त अनुमान से बाधित हो सकता है तो आपका अपौरुषेय साध्यवाला अनुमान भी उक्त अनुमानसे बाधित हो सकना है, क्योकि ये दोनो अनुमान (पौरुषेय साध्यवाला और अपौरुषेय साध्यवाला) तुल्यबल वाले है परस्पर मे विशेषता नही है। यदि मान लिया जाय कि उक्त दोनो अनुमानोमे तुल्य बल नही है तो अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करना

"वेदस्याध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा" [मी० श्लो० अ० ७ श्लो० ३५५] इत्यनेनानुमानेन पौरुषेयत्वप्रसाधकानुमानस्य बाधा, इत्यपि प्रत्याख्यातम्, प्रकृतदोषाणामत्राप्यविशेषात् ।

किंच, अत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत्, कर्त्रऽस्मरणविशिष्ट वा ? निर्विशेषणस्य हेतुत्वे निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् ।

व्यर्थ है, क्योकि जिस दोषके कारण तुल्य बल नही है उसी दोषसे एक अनुमान अप्रामाणिक सिद्ध होगा । पौरुषेयसाध्यवाले अनुमान का विषय बाधित किया जाता है ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नही, क्योकि तुल्य बलशाली हेतुओमे (पदवाक्यत्व रूप हेतु और अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप हेतु मे) परस्परके विषयोको प्रतिबध करानेकी सामर्थ्य समानरूपसे होनेके कारण बिचारा वेद दोनो धर्मोसे (पौरुषेय और अपौरुषेयसे) शून्य हो जायेगा । अथवा उक्त दोनो अनुमानोमेसे एक अनुमानने अपने विषयको सिद्ध किया तो दूसरा अनुमान भी अपने विषयको सिद्ध करेगा और इस तरह वेद दो धर्मात्मक (पौरुषेय धर्म और अपौरुषेय धर्म) हो जायेगा । और यदि उक्त दोनो अनुमानोमे अतुल्यबल है (समान बल नही है) तो फिर जिस कारणसे समानबल नही है उसी कारणसे एक अनुमान अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है इसलिये फिरसे उसमे प्रसग साधनरूप अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन रहता है ? कुछ भी नही ।

मीमासकका दूसरा अनुमान प्रयोग है कि—वेदका जो भी अध्ययन होता है वह सब गुरु अध्ययन पूर्वक होता है क्योकि वह वेदाध्ययनरूप है जैसे वर्त्तमानकालका वेदका अध्ययन गुरुसे होता है । सो इस अनुमान द्वारा हमारे पौरुषेय प्रसाधक अनुमान मे बाधा देना भी असभव है, क्योकि इसमे वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं कोई विशेषता नही है ।

तथा इस अनुमानका वेदाध्ययन वाच्यत्वहेतु विशेषण रहित होकर ही अपौरुषेयत्व साध्यको सिद्ध करता है अथवा "कर्त्ताका अस्मरणरूप" विशेषण सहित होकर अपौरुषेय साध्यको सिद्ध करता है ? प्रथम विकल्प माने तो भारत आदि निश्चित कर्त्तावाले ग्रथोमे भी उक्त हेतु चला जानेसे अनैकान्तिक होता है । अर्थात् महाभारत आदि पौरुषेय ग्रथोका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्वक होता है अत ऐसा

किंच, यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, अन्यथाभूतानां वा ? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथान्यथाभूतानां तर्हि सन्निवेशादिवदऽप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतानामेव तत्तथा ततः साध्यते, न च सिद्धसाधनं सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येनातीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनेदृशत्वात् । तदप्यसाम्प्रतम्, यतो यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादने अप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात् स्यादेतत्–यावता गुणवद्वक्त्रऽभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवादं प्रामाण्यम्, तथाभूता प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिविरहिणोऽपि कर्तुं समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनाऽशेषपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् ?

नही कह सकते कि जिसका अध्ययन गुरु पूर्वक चला आ रहा वह ग्रंथ अपौरुषेय ही होता है ।

यहां एक प्रश्न है कि अध्ययन वाच्यत्व हेतु अध्ययन पूर्वकत्व साध्यको सिद्ध करता है सो वर्त्तमानमे जिस तरहके पुरुष होते है और उनके द्वारा अध्ययन चलता है उसी प्रकारके पुरुषो द्वारा अध्ययन चला आ रहा है ऐसा अध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है अथवा विशिष्ट पुरुषो द्वारा (अतीन्द्रिय पदार्थोको जाननेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुषो द्वारा) अध्ययन चला आ रहा है ऐसा अध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है ? प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साधन है, हम मानते ही हैं कि अध्ययन गुरुपूर्वक होता है । दूसरा पक्ष कहो तो हेतु अप्रयोजक कहलायेगा ? (जो हेतु सपक्ष मे तो रहे और पक्षसे व्यावृत होवे ऐसा उपाधिके निमित्तसे सबंधको प्राप्त हुआ हेतु अप्रयोजक दोष युक्त होता है) जैसे कि ईश्वरकी सिद्धिमे दिये गये सन्निवेशत्व आदि हेतु अप्रयोजक दोष युक्त होते हैं ।

मीमासक–हम तो वर्त्तमानमे जैसे पुरुष होते हैं उन पुरुषोके द्वारा वेदाध्ययन होना मानते हैं और उसी हेतु से अपौरुषेय साध्यको सिद्ध करते है ऐसा करने पर भी सिद्ध साधन नामा दोष नही आता, क्योकि हम विश्वके संपूर्ण व्यक्तियोको अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित मानते है किसी कालका भी पुरुष हो वह अतीन्द्रिय पदार्थोका प्रतिपादन करनेवाले वेदकी रचना कर नही सकता, अतः वेद अपौरुषेय ही सिद्ध होता है ।

अथ न गुणावद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽप्रामाण्यनिवृत्तिरपौरुषेयत्वेनाप्यस्या सम्भवात् तेनायमदोषः। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वत ॥१॥
तद्गुणैरपकृष्टाना शब्दे सङ्क्रान्त्यऽसम्भवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया ॥२॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३]

जैन—यह कथन असुन्दर है, वेदके वाक्य उस प्रकारके अतीन्द्रिय पदार्थोका प्रतिपादन करते है ऐसा तब सिद्ध हो जब उसमे अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध हो किन्तु वह सिद्ध नही है । आप लोग गुणवान वक्ताका अभाव मानते है, जब गुणवान वक्ता ही नही है तब उसके गुणोद्वारा दोषोका निराकरण नही हो सकता और दोषोका निराकरण नही होनेसे वेदका प्रामाण्य सदोष ही बना रहता है ऐसे अप्रामाण्यभूत वेदको तो अतीन्द्रिय ज्ञान रहित पुरुष भी रच सकते है। अतः जो कहा था कि वेद अतीन्द्रिय पदार्थोका प्रकाशक है । विश्वके सपूर्ण पुरुषो मे इसप्रकारके वेदका प्रणयन करने की शक्ति नही है इत्यादि, सो यह कथन असत्य है । इसप्रकार वेदाध्ययन वाच्यत्व नामा पूर्वोक्त हेतु सिद्ध साधन कैसे नही हुआ ? अर्थात् हुआ ही ।

मीमासक—शब्दमे अप्रामाण्यकी निवृत्ति गुणवान वक्ताके निमित्तसे ही होती हो सो बात नही है, अपौरुषेयत्वके निमित्त से भी अप्रामाण्यकी निवृत्ति हो सकती है, अतः हमारा हेतु सिद्ध साधन नही हैं कहा है कि शब्दमे दोषोकी उत्पत्ति तो वक्ताके कारण हुआ करती है उन दोषोका अभाव कही वेदवाक्यके अनतर उत्पन्न हुए स्मृति आदिके शब्दोमे तो गुणवान वक्ताके निमित्तसे होता है ॥१॥ वक्ताके गुणोसे निराकृत हुए दोष कोई शब्दमे जाकर सक्रामित तो होते नही तथा अपौरुषेय होनेसे वेदमे वक्ता का अभाव है ही, फिर उस वेदमे दोष कैसे रह सकते है ? क्योकि आश्रयके बिना दोष रहते नही ॥२॥ इसप्रकार स्वय ही निश्चित हो जाता है कि वेदमे अपौरुषेयत्व होनेके कारण प्रामाण्य है ।

इति । तदप्यसमीचीनम्, यतोऽपौरुषेयत्वमस्या किमन्यत प्रमाणात्प्रतिपन्नम्, अत एव वा ? यद्यन्यत, तदाऽस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्, नन्वतोऽनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणायामप्रामाण्याभाव स्यात्, तदभावाच्च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरित (रितीत) रेतराश्रय । तन्न निर्विशेषणोय हेतुः प्रकृतसाध्यसाधनः ।

अथ सविशेषण, तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद्विशेष्योपादानमनर्थकम् । भवतु विशेषणस्यैव गमकत्वम् का नो हानि , सर्वथाऽपौरुषेयत्वसिद्धचा प्रयोजनात्, तदप्ययुक्तम्, यत कर्त्रऽस्मरण विशेषण किमभावाख्य प्रमाणम्, अर्थापत्ति , अनुमान वा ? तत्राद्य पक्षो न युक्त, अभावप्रमाणस्य स्वरूपसामग्रीविषयाऽनुपपत्तित प्रामाण्यस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् ।

जैन—यह कथन असमीचीन है, वेदका अपौरुषेयपना अन्य प्रमाणसे जाना जाता है या इसी वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतुसे जाना जाता है ? यदि अन्य प्रमाणसे जाना जाता है तो यह हेतु व्यर्थ ठहरता है और इसी हतुसे जाना जाता है तो अन्योन्याश्रय आता है—वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतुवाले अनुमानसे वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध होने पर उसमे अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होगा और अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होने पर सभी पुरुषोके अतीन्द्रिय अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वेदकी रचना करनेकी असामर्थ्य निश्चित होकर वेद अपौरुषेय सिद्ध होगा । अत निर्णय होता है कि वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु निर्विशेषण होनेसे प्रकृत साध्य जो अपौरुषेयत्व है उसको सिद्ध नही कर पाता ।

अब यदि मीमासक अपने वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतुमे विशेषण जोड देते है तो हम जैन कहेगे कि अकेला विशेषण ही साध्यका गमक होनेसे विशेष्यका ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है ।

मीमासक—अकेला विशेषण साध्यका गमक हो जाय इसमे हमारी क्या हानि है ? हमारा प्रयोजन तो वेदको सर्वथा अपौरुषेय सिद्ध करनेका है वह चाहे जिससे हो ।

जैन—आपने विशेषण मात्रको हेतु रूप स्वीकार कर लिया सो ठीक है किन्तु यह कर्त्ताका अस्मरणरूप विशेषण कौनसा प्रमाण कहलायेगा—अभाव प्रमाण, अर्थापत्ति या अनुमान ? अभाव प्रमाणरूप है ऐसा कहना बनता नही, क्योकि अभावप्रमाणकी सामग्री, स्वरूप एव विषय ये सब किसी प्रकारसे भी सिद्ध नही हो पाते है, अर्थात् न अभाव प्रमाणका स्वरूप सिद्ध है और न विषय आदि ही सिद्ध है, अत. इसमे प्रामाण्य

किञ्च, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिबन्धनास्य प्रवृत्ति "प्रमाणपञ्चक यत्र" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इत्याद्यभिधानात्। न च प्रमाणपचकस्य वेदे पुरुषसद्भावावेदकस्य निवृत्ति, पदवाक्यत्वलक्षणस्य पौरुषेयत्वप्रसाधकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात्। न चास्याऽप्रामाण्यमभिधातु शक्यम्, यतोऽस्याऽप्रामाण्यम्-किमनेन बाधितत्वात्, साध्याविनाभावित्वाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यपक्षे चक्रकप्रसग, तथाहि-न यावदभावप्रमाणप्रवृत्तिर्न तावत्प्रस्तुतानुमानबाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत्सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्ति, यावच्च न तस्य निवृत्तिन तावत्तन्निबन्धनाऽभावाख्य प्रमाणप्रवृत्ति, तदप्रवृत्तौ च नानुमानबाधेति। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्त; स्वसाध्याविनाभावित्वस्यात्र

नही है, इसके प्रमाणताका खडन "अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भाव" नामा प्रकरणमे प्रथम भागमे हो चुका है।

यहा पुन अभाव प्रमाणकी किंचित् चर्चा करते है, सत्ता ग्राहक पाचो प्रमाणो की (प्रत्यक्ष अनुमान उपमा अर्थापत्ति और आगमकी) जहा निवृत्ति होती है वहा अभावप्रमाण प्रवृत्त होता है ऐसा आपके मीमासा श्लोकवार्त्तिक ग्र थमे लिखा है वेदमे ऐसे अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नही हो सकती, अर्थात् वेदमे पुरुषके सद्भावको बतलाने वाले पाचो प्रमाण प्रवृत्त नही होते किन्तु निवृत्त होते है ऐसा नही कह सकते, क्योकि हम जैनका पदवाक्यत्व हेतुवाला अनुमान प्रमाण वेदको पौरुषेय सिद्ध करता है। इस अनुमानको अप्रमाण भी नही कहना। यदि आप इसे अप्रमाण मानते है तो किस कारणसे मानते है? अन्य अनुमान द्वारा बाधित होनेके कारण अथवा साध्याविनाभावी हेतुके नही होनेके कारण ? प्रथम पक्ष कहो तो चक्रक दोष आता है– जब तक अभाव प्रमाण प्रवृत्त नही होता तबतक हमारे प्रस्तुत अनुमानमे बाधा नही आती और जब तक प्रस्तुत अनुमान बाधित नही होता तब तक सत्ताग्राहक प्रमाणोकी निवृत्ति हो नही सकती और पाचो प्रमाण जबतक निवृत्त नही होते तबतक उनके निवृत्तिसे होनेवाला अभाव प्रमाण भी प्रवृत्त नही हो सकता। इस तरह अभाव प्रमाण जब प्रवृत्त नही होता तब हमारे अनुमानमे बाधा भी कौन देगा? दूसरा पक्ष–जैनके अनुमानमे साध्याविनाभावी हेतु नही है अत वह अप्रमाण है ऐसा कहना भी अयुक्त है, हमारा पद वाक्यत्व हेतु अपने पौरुषेयत्वसाध्यका अवश्य ही अविनाभावी है, क्योकि जो पदवाक्य रूप रचित होता है वह पौरुषेयके बिना कही पर भी दिखायी नही देता है अत. इस हेतुमे साध्यके अविनाभावका अभाव नही है।

सम्भवात्। न खलु पदवाक्यात्मकत्व पौरुषेयत्वमन्तरेण क्वचिद्दृष्ट येनास्य स्वसाध्याविनाभावाभावः स्यात्।

एतेन कर्तुरस्मरणमन्यथानुपपद्यमान कर्त्रऽभावनिश्चायकमर्थापत्तिगम्यमपौरुषेयत्व वेदानामित्यपास्तम्; अन्यथानुपपद्यमानत्वासम्भवस्यात्र प्रागेव प्रतिपादितत्वात्। कर्त्रऽस्मरणमनुमानरूपमऽपौरुपेयत्वं प्रसाधयतीत्यप्यनुपपन्नम्, प्रागेव कृतोत्तरत्वात्।

एतेन—

"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।
कालत्वात्तद्यथा कालो वर्त्तमान समीक्ष्यते ॥१॥" [ ]

कर्त्ताके अस्मरणकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे वेद अपौरुषेय है अर्थात् वेद कर्त्ता का स्मरण ही नही अत वह पुरुषकृत नही है, इस प्रकार कर्त्ताके अभावके निश्चयरूप अर्थापत्तिद्वारा वेदका अपौरुषेयत्व गम्य होता है ऐसा कहना भी ठीक नही क्योकि यहा अन्यथानुपपद्यमानत्व ही असंभव है। इस विपयका पहले ही प्रतिपादन कर चुके है कि वेदकर्त्ताका स्मरण होता है। विशेपणको अनुमान प्रमाण रूप माना जाय ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नही, हमने पहले वता दिया है कि कर्त्ताका अस्मरण हेतु वाला अनुमान अपौरुषेयत्वको सिद्ध करनेमे असमर्थ है।

इसप्रकार कर्त्ताका अस्मरण होनेसे वेद अपौरुषेय है यह प्रथम अनुमान तथा "वेदाध्ययन शब्द वाच्यत्वात् वेद अपौरुषेय." यह द्वितीय अनुमान ये दोनो ही खडित हो गये। इसीप्रकार निम्नलिखित अनुमान भी खडित हुआ समझना चाहिये कि अतीतानागत काल वेदके कर्त्तासे रहित है, क्योकि वे कालरूप है, जैसे वर्त्तमान काल वेदकर्त्तासे रहित दिखायी देता है, भावार्थ यह है कि जैसे वर्त्तमानमे वेदरचना करने वाला कोई पुरुप दिखायी नही देता वैसे ही अतीत अनागत कालमे रचयिता पुरुप नही था और न होगा। अत वेद अपौरुषेय कहलाता है। ऐसा मीमासकका तीसरा अनुमान भी पूर्वोक्त दो अनुमानोके समान दोषोसे भरा है, इसमे कोई विशेपता नही है, तथा इस अनुमानका कालत्व हेतु अन्य आगम आदिमे चला जाता है।

अतीतानागत काल वेद रचनामे जो असमर्थ है ऐसे पुरुषोसे युक्त था और होगा ऐसा मीमासक कहते हैं उसमे प्रश्न होता है कि जिस तरह वर्त्तमान काल वेद रचनेमे असमर्थ पुरुपोसे युक्त है अथवा वेदकर्त्तासे रहित काल है। क्या उसीतरह अतीता-

इत्यपि प्रत्युक्तम्, प्राक्तनानुमानद्वयोक्ताशेषदोषाणामत्राप्यविशेषात् । आगमान्तरेप्यस्य तुल्यत्वाच्च ।

किंच, इदानी यथाभूतो वेदाकरणसमर्थपुरुषयुक्तस्तत्कर्तृपुरुषरहितो वा काल प्रतीतोऽतीतोऽनागतो वा तथाभूत कालत्वात्साध्येत, अन्यथाभूतो वा ? यदि तथाभूत , तदा सिद्धसाध्यता । अथान्यथाभूतः, तदा सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतु । अथ तथाभूतस्यैवातीतस्यानागतस्य वा कालस्य तद्रहितत्व साध्यते, न च सिद्धसाध्यताऽन्यथाभूतस्य कालस्यासम्भवात् । नन्वन्यथाभूत. कालो नास्तीत्येतत्कुत. प्रमाणात्प्रतिपन्नम् ? यद्यन्यत., तर्हि तत एवापौरुषेयत्वसिद्धे: किमनेन ? अत एवेति चेत्, ननु 'अन्यथाभूतकालाभावसिद्धावतोऽनुमानात्तद्रहितत्वसिद्धि , तत्सिद्धेश्चान्यथाभूतकालाभावसिद्धि' इत्यन्योन्याश्रय ।

नागत काल वैसे पुरुषोसे युक्त था एव होगा, अथवा अतीतानागत काल किसी अन्य प्रकारका था ? यदि वर्त्तमान जैसा अतीतादि काल था ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि वर्त्तमानके जैसे पुरुष वेदको रचते हैं ऐसा हम नही कहते हैं। यदि अतीतादि काल अन्यथाभूत (वर्त्तमानसे विशिष्ट) था ऐसा कहो तो कालत्व नामा सामान्य हेतु सन्निवेशत्व आदि हेतुके समान अप्रयोजक बन जायगा ।

मीमासक – वर्त्तमान जैसा ही अतीतादि काल वेद कर्त्ता रहित सिद्ध किया जाता है और ऐसा साध्य बनानेमे सिद्ध साध्यता भी नही होती क्योकि अन्यथाभूत (अन्य प्रकारका) काल है ही नही ।

जैन—अन्यथाभूत काल नही है ऐसा किस प्रमाणसे जाना है ? इस कालत्व नामा हेतुवाले अनुमानको छोड अन्य किसी प्रमाणसे जाना है ऐसा कहो तो उसी प्रमाणसे वेदका अपौरुषेयत्व भी सिद्ध होवेगा, इस अनुमानकी क्या जरूरत है ? तथा यदि कालत्व हेतुवाले इसी अनुमानसे अन्यथा कालका अभाव सिद्ध होता है ऐसा दूसरा विकल्प कहो तो अन्योन्याश्रय होगा— अन्यथाभूत कालका अभाव सिद्ध होवे तब उस अनुमानसे वेदकर्त्तासे रहित कालपना सिद्ध होवेगा और वेदकर्त्ता रहित कालत्वके सिद्ध होने पर अन्यथाभूत कालके अभावकी सिद्धि होवेगी ।

इस तरह यहा तक यह निर्णय हुआ कि अनुमान प्रमाणसे वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध नही होता है । अब अन्य प्रमाणोका विचार करते हैं, आगम प्रमाण भी मीमासक के अपौरुषेय वेदको सिद्ध नही कर सकता, इसमे भी अन्योन्याश्रयदोष आता है,

नाप्यागमतोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः इतरेतराश्रयानुषगात्। तथाहि–आगमस्याऽपौरुषेयत्वसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धि., तत्सिद्धेश्चातोऽपौरुषेयत्वसिद्धिरिति। न चाऽपौरुषेयत्वप्रतिपादक वेदवाक्यमस्ति। नापि विधिवाक्यादऽपरस्य परैः प्रामाण्यमिष्यते, अन्यथा पौरुषेयत्वमेव स्यात्तत्प्रतिपादकाना "हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८ म० १० सू० १२१] इत्यादिप्रचुरतरवेदवाक्याना श्रवणात्।

अपौरुषेयत्वधर्माधारतया प्रमाणप्रसिद्धस्य कस्यचित्पदवाक्यादेरसम्भवान्न तत्सादृश्येनोपमानादप्यपौरुषेयत्वसिद्धि.।

नाप्यर्थापत्तेः, अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्यार्थस्य कस्यचिदप्यभावात्। स ह्यप्रामाण्याभावलक्षणो वा स्यात्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादानस्वभावो वा, परार्थशब्दोच्चारणरूपो वा ? न तावदाद्यः

इसीका खुलासा करते हैं कि आगमका अपौरुषेयपना सिद्ध होने पर उससे अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आगमका अपौरुषेयत्व सिद्ध होवेगा। तथा अपौरुषेयत्वका प्रतिपादन करनेवाला कोई वेदवाक्य भी नही मिलता है। दूसरी बात यह है कि वेदमे जो जो वाक्य विधिपरक है वही प्रमाणभूत है ऐसी मीमासककी मान्यता है यदि आप मीमासक अन्य वाक्य को भी प्रमाण मानते हैं तो वेदमे पौरुषेयपना सिद्ध होवेगा "हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे" इत्यादि बहुतसे वेद वाक्य सुननेमे आते ही है (जिनसे कि वेदका पौरुषेयत्व स्पष्ट होता है) अत आगम प्रमाणसे वेदकी अपौरुषता सिद्ध नही होती। उपमा प्रमाणसे भी अपौरुषेयत्व सिद्ध नही होता कैसे सो बताते है—अपौरुषेय धर्मका आधारभूत ऐसा कोई पद वाक्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होता है, अत उसके साथ सादृश्यको दिखलाकर उपमा द्वारा वेदकी अपौरुषता सिद्ध करना शक्य नही, साराश यह है कि कहीपर कोई पद या वाक्य पुरुषके बिना उच्चारित या रचित दिखायी देता तो उसकी उपमा देकर कह सकते है कि अमुक पद एव वाक्य बिना पुरुषके उपलब्ध हुए वैसे ही वेद वाक्य बिना पुरुषके बने है इत्यादि। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते है वे सब पुरुषकृत (पौरुषेय) ही है अतः उपमा देकर (उपमा प्रमाणसे) वेदवाक्योको अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है।

अर्थापत्तिसे भी अपौरुपेयत्व सिद्ध नही होता, अपौरुषेयत्वके बिना सिद्ध न हो ऐसा कोई शब्द संबधी पदार्थ ही नही है जिससे कि अर्थापत्तिका अन्यथानुपपद्यमानत्व सिद्ध होवे। मीमासक अन्यथानुपपद्यमानत्व किसको बनायेगे ? अप्रामाण्यके अभावको, अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादन स्वभावको

पक्ष, अप्रामाण्याभावस्यागमान्तरेपि तुल्यत्वात्। न चासौ तत्र मिथ्या, वेदेपि तन्मिथ्यात्वप्रसगात्। अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तु रभ्युपगमात्, पुरुषाणा तु रागादिदोषदुष्टत्वेन तज्जनितस्याऽप्रामाण्यस्यात्र सम्भवात्तत्रासौ मिथ्या, न वेदे तत्राप्रामाण्योत्पादकदोषाश्रयस्य कर्तु रभावात्। नन्वत्र कुत कर्तु रभावो निश्चित ? अन्यत, अत एव वा ? यद्यन्यत, तदेवोच्यताम्, किमर्थापत्त्या ? अर्थापत्तेश्चेत्, न, इतरेतराश्रयानुषगात्-अर्थापत्तितो हि पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धि, तत्सिद्धौ चार्थापत्तित पुरुषाभावसिद्धिरिति।

द्वितीयपक्षोप्ययुक्त, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणार्थस्यागमान्तरेपि सम्भवात्।

अथवा परार्थ शब्दोच्चारणरूपको ? प्रथम पक्ष—यदि वेद अपौरुषेय नही होता तो उसमे अप्रामाण्यका अभाव नही हो सकता था ऐसी अर्थापत्ति जोडे तो ठीक नही, क्योकि अप्रामाण्यका अभाव तो वेदसे भिन्न जो अन्य आगम है उनमे भी पाया जाता है जो कि पुरुषकृत है अत ऐसा नियम नही बना सकते कि अपौरुषेयमे ही अप्रामाण्यका अभाव होता है। यदि कहा जाय कि अन्य अन्य आगममे तो अप्रामाण्यका अभाव वास्तविक रूपसे सिद्ध नही होता मिथ्यारूपसे भले ही हो ! तो फिर वेदमे भी अप्रामाण्यका अभाव मिथ्यारूपसे ही सिद्ध होवेगा।

मीमासक—अन्य अन्य जो आगम है उनके कर्त्ता पुरुष होते हैं और पुरुष जो होते है वे सब ही राग द्वेष आदि दोषोसे युक्त ही होते हैं अत ऐसे पुरुषो द्वारा रचित आगमोमे अप्रामाण्य रहना स्वाभाविक है, क्योकि अप्रामाण्यका कारण तो दोष ही है, वेदमे ऐसी बात नही है उसमे अप्रामाण्य को उत्पन्न करने वाले दोषोका आश्रयभूत पुरुषकर्त्ताका ही अभाव है ?

जैन—अच्छा तो यह बताओ कि किस प्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताका अभाव सिद्ध किया जाता है ? अन्य प्रमाणसे या इसी अर्थापत्तिसे ? अन्य प्रमाणसे कहो तो वह अन्य प्रमाण कौनसा है सो बताओ ? क्या वह प्रमाण अर्थापत्ति ही है ? यदि हा तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, और इसी अर्थापत्तिसे कहो तो भी यही दोष आता है, प्रथम तो अर्थापत्तिसे पुरुषके अभावकी सिद्धि होने पर उससे अप्रामाण्यके अभावकी सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर अर्थापत्तिसे पुरुषके अभावकी सिद्धि होगी।

दूसरा विकल्प था कि अतीन्द्रिय अर्थके प्रतिपादनका स्वभाव अन्यथा बन नही सकता (यदि वेद अपौरुषेय न होवे) सो ऐसा अप्रामाण्यभावका अन्यथानुपपद्य-

परार्थशब्दोच्चारणान्यथानुपपत्तेर्नित्यो वेद, इत्यप्यसमीचीनम्, धूमादिवत्सादृश्यादप्यर्थप्रतिपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

किंच, अपौरुषेयत्वं प्रसज्यप्रतिषेधरूपं वेदस्याभ्युपगम्यते, पर्युदासस्वभाव वा ? प्रथमपक्षे तत्किं सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उताऽभावप्रमाणपरिच्छेद्यम् ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्त, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकस्यापौरुषेयग्राहकत्वप्रतिषेधात्। तद्ग्राह्यस्य तुच्छस्वभावाभावरूपत्वानुपपत्तेश्च। प्रति-

---

मानत्व अपौरुषेयत्वके साथ होता हुआ दिखायी नही देता, सिर्फ वेद ही अतीन्द्रिय अर्थका प्रतिपादक हो सो बात नही है अन्य आगम भी उसके प्रतिपादक होते है।

परार्थ शब्दोच्चारण की अन्यथानुपपत्ति होनेसे वेद नित्य (अपौरुषेय) है, अर्थात् वेद नित्य नही होता तो शिष्यादिके लिये शब्दोका उच्चारण किस प्रकार समझमे आता कि यह वही शब्द है जो गुरु मुखसे सुना था, इत्यादि रूपसे वेद वाक्योको नित्य सिद्ध करके अपौरुषेय बतलाना भी ठीक नही, शब्द तो धूमके समान सदृशताके कारण अर्थ बोध करानेमे निमित्त है, इस विषयका आगे प्रतिपादन करने वाले है।

भावार्थ—पहले किसीके मुखसे "यह घट है" ऐसा शब्द सुना फिर कही पर घट देखकर दूसरेको बतलाया कि देखो ! यह घट है सो ऐसा शब्दोच्चारण तब हो सकता है जब वे शब्द नित्य हो, अन्यथा नष्ट हुये उन शब्दोका उच्चारण तथा अन्य पुरुषोको उनका सुनना कैसे हो सकता है एव अर्थबोध भी कैसे हो सकता है ? क्योकि वे शब्द तो खतम हो गये ? इसप्रकार मीमासकने शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति जोडकर वेदको नित्य एवं अपौरुषेय सिद्ध करना चाहा तब जैनाचार्य जबाब देते है कि यह शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति तो सदृशताके कारण हुआ करती है, पहले शब्द सुना फिर कभी उसका प्रतिपादन किया इत्यादि सो वही शब्द पुन पुन प्रयोगमे नही आते किन्तु उनके सदृश अन्य अन्य ही उत्पन्न हुआ करते हैं जैसे रसोई घरमे धूमको देखा वह अन्य है और पुन कभी पर्वतपर देखा वह अन्य है उस सदृश धूमसे भी अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसीप्रकार पहले सुने हुए शब्द और पुन किसी कालमे सुने हुए या उच्चारणमे आये हुए शब्द अन्य ही रहते हैं। उनसे अर्थ बोध भी होता रहता है, अत शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति से वेदको नित्य या अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है।

क्षिप्तश्च, तुच्छस्वभावाभावः प्राक्प्रबन्धेन। द्वितीयपक्षस्तु श्रद्धामात्रगम्यः, अभावप्रमाणस्यासम्भवतस्तेन तद्ग्रहणानुपपत्तेः। तदसम्भवश्च सत्सामग्रीस्वरूपयोः प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात्सिद्धः।

अथ पर्युदासरूपं तदभ्युपगम्यते। नन्वत्रापि किं पौरुषेयत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्याऽपौरुषेयत्वशब्दाभिधेयं स्यात्? तत्सत्त्वमिति चेत्, तत्किं निर्विशेषणम्, अनादिविशेषणविशिष्टं वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, ततोऽन्यस्य वेदसत्त्वमात्रस्याध्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धस्यास्माभिरभ्युपगमात्। पौरुषेयत्वं हि कृतकत्वम्, ततश्चान्यत्सत्त्वमित्यत्र को वै विप्रतिपद्यते? द्वितीयपक्षः पुनरविचारितरमणीयः; वेदानादिसत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्ध्यसम्भवस्याऽनन्तरमेव प्रतिपादितत्वात्।

यह भी प्रश्न है कि अपौरुषेय पदमे जो न ञ समासका नकार है "न पौरुषेय इति अपौरुषेय" यह अभाव सूचक "अ" प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है (तुच्छ अभावरूप) या पर्युदासात्मक है ? (भावातर स्वभावरूप) प्रथम पक्ष कहो तो उस प्रसज्य प्रतिषेधात्मक अपौरुषेयको कौनसा प्रमाण ग्रहण करता है। सत्ताग्राहक प्रमाण या अभाव ग्राहक अभावप्रमाण ? पहली बात तो कहना नहीं, क्योकि सत्ताग्राहक पाचो ही प्रमाण अपौरुषेयत्वको ग्रहण नही कर सकते ऐसा हम जैनने बता दिया है। तथा सत्ताग्राहक प्रमाणो द्वारा तुच्छ स्वभाव वाले अभावरूप अपौरुषेय का ग्रहण होना भी शक्य नही है, हमने तुच्छ स्वभाव वाले अभावका पहले भागमे खडन कर भी दिया है।

अभाव प्रमाणसे अपौरुषेयत्व जाना जाता है ऐसा कहना भी श्रद्धा मात्र है, क्योकि अभाव प्रमाण ही असभव है तो उसके द्वारा अपौरुषेयत्व क्या ग्रहणमे आयेगा ? अभाव प्रमाण असभव क्यो है इस बातको पहले भागके "अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः" नामा प्रकरणमे कह चुके हैं।

पर्युदासात्मक अभाव इष्ट है ऐसा उत्तर पक्ष कहो अर्थात् "न पौरुषेय इति अपौरुषेय" जो पौरुषेय नही है वह अपौरुषेय है पौरुषेयसे जो अन्य हो वह अपौरुषेय पदका वाच्य है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न होता है कि पौरुषेयसे अन्य जो वाच्य पदार्थ है वह कौनसा है ? वह वाच्यार्थ वेदका सत्व (अस्तित्व) है ऐसा उत्तर देवे तो पुन शका होती है कि वह सत्व निर्विशेषण है या अनादि विशेषण विशिष्ट है ? प्रथम पक्ष माने तो सिद्ध साध्यता है क्योकि पौरुषेयसे अन्य जो वेदका सत्व मात्र है जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे प्रसिद्ध है उसको हम जैन मानते ही है, पौरुषेयत्व अर्थ है कृतकत्व और जो इससे अन्य है वह सत्व है ऐसा कौन नही मानता ? अर्थात् कृतकत्व और

अस्तु वाऽपौरुषेयो वेद , तथाप्यसौ व्याख्यात , अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ? न तावदव्याख्यात', अतिप्रसगात् । व्याख्यातश्चेत्, कुतस्तद्व्याख्यानम्-स्वत:, पुरुषाद्वा ? न तावत्स्वत , 'अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थो नायम्' इति स्वय वेदेनाऽप्रतिपादनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषाच्चेत्; कथ तद्व्याख्यानात्पौरुषेयादर्थप्रतिपत्तौ दोषाशङ्का न स्यात् ? पुरुषा हि विपरीतमप्यर्थं व्याचक्षाणा दृश्यन्ते । सवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनाऽनर्थिका तद्वद्वेदस्यापि प्रमाणान्तरसवादादेव प्रामाण्योपपत्ते न च व्याख्यानाना सवादोऽस्ति, परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्य विसवादोपलम्भात् ।

सत्त्व इन दोनोका अर्थ पृथक् पृथक् है ऐसा मानते ही है । दूसरा पक्ष—अपौरुषेय शब्द का वाच्य अनादि विशेषण विशिष्ट है ऐसा कहा जाय तो यह भी अविचार पूर्ण कथन है, क्योकि वेद अनादि है इस बातको प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध नही कर पाते है, इस विषयको अभी अभी कह आये है । जैसे तैसे वेदको अपौरुषेय मान लेवे तो भी वह वेद व्याख्यात होकर अर्थकी प्रतीति कराता है अथवा बिना व्याख्यात हुए ही अर्थकी प्रतीति कराता है ? बिना व्याख्यात हुए अर्थ प्रतीति कराना माने तो अतिप्रसग होगा, फिर तो आपके समान सभी परवादीको बिना व्याख्यानके वेदके वाक्य अर्थ प्रतीति करा देते ? (किन्तु ऐसा होता तो नही) दूसरी बात— वेद व्याख्यात होने पर अर्थकी प्रतीति कराता है ऐसा माने तो उस वेदके पदोका व्याख्यान कौन करेगा स्वत: ही होवेगा या पुरुष द्वारा होगा ? स्वत होना अशक्य है, मेरे पद एव वाक्योका यही अर्थ है अन्य नही है ऐसा वेद स्वय तो कह नही सकता, यदि कह देता तो उन वेद वाक्योके व्याख्यानमे जो भावना, विधि आदिरूप प्रभेद दिखायी देते है वे नही दिखते । वेद वाक्योका व्याख्यान पुरुष करते है ऐसा माना जाय तो वह व्याख्यान पौरुषेय होनेसे उससे होनेवाला अर्थबोध दोषकी शकासे रहित कैसे हो सकेगा अर्थात् पुरुष दोष युक्त होनेसे उनके वचन निर्दोष ज्ञानके कारण कैसे हो सकेगे ? क्योकि पुरुष तो विपरीत अर्थको भी कहते हुए दिखायी देते है । यदि कहा जाय कि पुरुषके व्याख्यानमे सवादसे प्रामाण्य माना जायगा अर्थात् जो व्याख्यान सवादसे पुष्ट होता है उसको मानेंगे तो यह भी ठीक नही, क्योकि इसतरह माननेसे अपौरुषेयत्वकी कल्पना व्यर्थ ठहरती है अर्थात् जिस प्रकार वेदका व्याख्यान पुरुषकृत होकर उसमे सवादसे प्रामाण्य आता है उसीप्रकार वेदकी रचना पुरुषकृत होकर भी उसमे सवादसे प्रामाण्य आ सकता है । तथा मीमासक के यहा जितने भी वेदके व्याख्याता पुरुष हैं उनके व्याख्यानोमे सवादकपना है कहा ?

किंच, असौ तद्व्याख्याताऽतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिप्रतिषेधविरोधो धर्मादौ चास्य प्रामाण्योपपत्तौ "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च ।

अथ तद्विपरीत , कथ तर्हि तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्ति अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तो ? न च मन्वादीना सातिशयप्रज्ञत्वात्तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्ति , तेषा सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धे । तेषा हि प्रज्ञातिशय स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्याद्विशेषाभावात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत् किं ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा तदर्थस्याभ्यास स्यात् ? न तावदज्ञातस्या

उनमें तो परस्पर विरुद्ध भावना नियोग आदि अर्थ करना रूप विसवाद ही दिखायी देता है ।

वेदके व्याख्याता पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञाता हैं कि नही यह बात भी विचारणीय है, यदि वे व्याख्याता अतीन्द्रिय ज्ञानी (धर्म आदि सूक्ष्म पदार्थको जानने वाले) हैं तब तो आप जो अतीन्द्रिय ज्ञानीका (सर्वज्ञका) निषेध करते हैं उसमे विरोध आवेगा तथा अतीन्द्रिय ज्ञानी धर्म आदि अदृश्य विषयोका प्रतिपादन कर सकते है अत "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" ऐसी आपकी प्रतिज्ञा गलत ठहरती है, क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानी भी धर्मादिके विषयमे प्रमाणभूत है ऐसा सिद्ध होनेसे धर्मादिके विषयमे वेद वाक्य ही प्रमाणभूत है ऐसा नियम विघटित हो जाता है ।

वेदके वाक्योका व्याख्यान करनेवाले पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञानी नही हैं सामान्य है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो उन सामान्य पुरुषोके व्याख्यानोसे यथार्थ ज्ञान किस प्रकार हो सकेगा ? वहा तो शका ही रहेगी कि क्या मालूम यह अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ प्रतिपादन कर रहा है अथवा विपरीत कर रहा है ? तुम कहो कि हमारे यहा मनु आदि प्रधान पुरुष हुए है उनके सातिशय ज्ञान सूक्ष्म आदि अदृश्य पदार्थोको जानने वाला ज्ञान था अत वे यथार्थ व्याख्यान करते थे, सो यह बात भी गलत है मनु आदिके सतिशय ज्ञान होना ही असिद्ध है, उनको सातिशय ज्ञान स्वय होवेगा या वेदार्थके अभ्याससे, अदृष्ट (भाग्य) से अथवा ब्रह्माजीसे ? स्वत होता है कहो तो सभी पुरुषो को सातिशय ज्ञान होना चाहिये, सिर्फ मनुमे ही हो ऐसी कोई विशेषता नही दिखायी देती । वेदार्थके अभ्याससे मनु आदि का ज्ञान सातिशय होता है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि उस वेदके अर्थका अभ्यास ज्ञात—समझकर-होगा अथवा अज्ञात बिना समझे

ऽतिप्रसगात्। ज्ञातस्य चेत्, कुतस्तज्ज्ञप्ति:-स्वत, अन्यतो वा? स्वतश्चेत्, अन्योन्याश्रय-सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिश्च तदर्थाभ्यास इति। अन्यतश्चेत्, तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यत इत्यतोन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमेऽन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्ति:।

अदृष्टोपि प्रज्ञातिशयाऽसाधक, तस्यात्मान्तरेपि सम्भवात्। न तथाविधोऽदृष्टोऽन्यत्र मन्वादावेवास्य सम्भवादिति चेत्, कुतोऽत्रैवास्य सम्भव? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्, स तर्हि वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वाऽनुष्ठाता स्यात्? अज्ञातस्य चेत्, अतिप्रसग। ज्ञातस्य चेत्, परस्पराश्रय:-सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धि, तत्सिद्धौ च तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति।

होगा? बिना समझे अभ्यास द्वारा सातिशय होता है ऐसा कहो तो अतिप्रसग होगा—फिर तो आबाल गोपालको वेदार्थका अभ्यास होने लगेगा। वेदके अर्थको समझकर अभ्यास किया जाता है ऐसा माने तो किसके द्वारा अर्थको समझा अपने द्वारा या अन्य किसीसे? पहली बात माने तो अन्योन्याश्रय दोष खडा होगा—वेदार्थका अभ्यास होने पर स्वत उसके अर्थका ज्ञान होवेगा और उसके होनेपर वेदार्थका अभ्याम होवेगा। अन्य किसी पुरुषद्वारा वेदार्थको समझकर अभ्यास किया जाता है ऐसा कहे तो अन्य पुरुषने भी किसी अन्य पुरुषसे वेदार्थको समझा होगा, इसतरह अतीन्द्रिय ज्ञानीको नही मानने वाले आप मीमासकके यहा अंध पुरुषोंकी परम्पराके समान दूसरे दूसरे पुरुषोकी अनवस्थाकारी परपरा तो बढती जायगी किंतु वेदके अर्थका यथार्थ निर्णय तो हो नही सकेगा।

मनु आदिको अदृष्टसे (भाग्यसे) ज्ञानका अतिशय होता है ऐसा कहना भी गलत है, अदृष्ट तो अन्य सामान्य जनो को भी होता है।

मीमासक—प्रज्ञाका अतिशय करने वाला अदृष्ट तो मनु आदिमे ही हो सकता है सर्वसाधारण जनोमे नही?

जैन—तो फिर ऐसा अदृष्ट मनुके किस कारणसे हुआ? वेदार्थका अनुष्ठान करनेसे हुआ कहो तो वह भी वेदार्थको जाननेके बाद किया या बिना जाने किया? बिना जाने किया कहो तो वही अतिप्रसग होगा और जाननेके बाद किया तो उस वेदार्थको कैसे जाना, उसमे वही अन्योन्याश्रयकी बात आती है—वेदार्थके ज्ञानका अतिशय सिद्ध होने पर उसके अर्थका अनुष्ठान विशेष सिद्ध होवेगा और उसके सिद्ध

ब्रह्मणोपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सत्यऽतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशय स्यात्। तच्चास्य कुत सिद्धम् ? धर्मविशेषाच्चेत्, स एवेतरेतराश्रय —वेदार्थपरिज्ञानाभावे हि तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्ति, तदनुत्पत्तौ च वेदार्थपरिज्ञानाभाव इति । तन्नातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तिर्घटते ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेरश्रुतकाव्यादिवत्, तन्न वेदार्थप्रतिपत्तावऽतीन्द्रियार्थदर्शिना किंचित्प्रयोजनम्, इत्यप्यसारम्, लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुशक्ते । न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियम , तेपामप्यनेकप्रवृत्तेर्द्विसन्धानादिवत् । यदि च लौकिकेनाग्न्या-

---

होनेपर वेदार्थ ज्ञानका अतिशय सिद्ध होगा । ब्रह्माजीसे वेदार्थको जाना है ऐसा कहो तो ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान है यह पहले सिद्ध होना चाहिये तब जाकर उसके ज्ञानका अतिशय सिद्ध हो सकेगा । ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान किससे हुआ ? धर्म विशेषसे हुआ कहो तो पहलेके समान अन्योन्याश्रय होता है—वेदार्थके परिज्ञानका जबतक अभाव है तबतक उस परिज्ञानपूर्वक होनेवाले अनुष्ठान विशेषसे धर्म विशेष उत्पन्न नही हो सकेगा, और धर्म विशेषके अभावमे वेदार्थके परिज्ञानका अभाव रहेगा । इसलिये अतीन्द्रिय ज्ञानीको नही माननेसे वेदार्थका ज्ञान होना भी घटित नही होता है ।

मीमासक—व्याकरण आदिका अभ्यास करनेसे जैसे लौकिक पद एव वाक्योके अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाया करती है वैसे ही लौकिक पदादिके सदृश होनेवाले जो वैदिक पद वाक्य है उनके अर्थकी प्रतिपत्ति भी सिद्ध होवेगी, जिस तरह की अश्रुतपूर्व काव्य आदिके वाक्योका अर्थाभ्यास होता हुआ देखा जाता है ? इसलिये वेदार्थको जाननेके लिये अतीन्द्रिय ज्ञानीकी जरूरत होवे सो बात नही है ।

जैन—यह कथन असार है, लौकिक पद और वैदिक पद सदृश होते हुए भी अर्थ विभिन्न है अत अन्य अर्थका परिहार करके यही अर्थ सही है ऐसा अर्थका नियम निश्चित करना अशक्य है, अर्थात् एक एक पद एव वाक्यके अनेक अनेक अर्थ हुआ करते हैं उन अनेक अर्थोमे से यहा पर यही अर्थ ग्रहण किया जायगा ऐसा निर्णय होना अशक्य है, यदि कहा जाय कि प्रकरणके अनुसार अर्थका निर्णय हो जाता है सो भी बात नही है प्रकरण भी अनेक हुआ करते है जैसे द्विसधानकाव्य आदिमे एक एक प्रकरणके अनेक अर्थ होते है । तथा यदि आप मीमासक लौकिक अग्नि आदि शब्दके

दिशब्देनाविशिष्टत्वाद्वैदिकस्याग्न्यादिशब्दस्यार्थप्रतिपत्ति, तर्हि पौरुषेयेणाविशिष्टत्वात्पौरुषेयोसौ कथं न स्यात् ? लौकिकस्य ह्यग्न्यादिशब्दस्यार्थवत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्। तत्रायं वैदिकोऽग्न्यादिशब्द कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति ? उभयमपि हि गृह्णीयाज्जह्याद्वा।

न च लौकिकवैदिकशब्दयो शब्दस्वरूपाविशेषे सकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनाऽर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाऽश्रवणे समाने अन्यो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेया शब्दा लौकिकास्तु पौरुषेया स्युः। सकेते(ता)नतिक्रमेणार्थप्रत्यायन चोभयोरपि।

न चापौरुषेयत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्व युक्तम्, उपलभ्यन्ते च यत्र पुरुषै· सकेतिता शब्दास्त तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्त, अन्यथा तत्सकेतभेदपरिकल्पनानर्थक्य स्यात्। ततो ये

समान ही वैदिक अग्नि आदि शब्दसे अर्थबोध होना मानते है तो लौकिक शब्दके समान वैदिक शब्द को भी पौरुषेय मानना होगा फिर वेद पौरुषेय कैसे नही कहलायेगा ? लौकिक (जन साधारणमे प्रयोग आने वाले) अग्नि आदि शब्दोका अर्थ पौरुषेयत्वके साथ व्याप्त है इस तरह जब सिद्ध है तब वैदिक अग्नि आदि शब्द पौरुषेयत्वको तो छोड देवे और मात्र उसके अर्थको (वाच्य पदार्थ जो साक्षात् जलती हुई अग्नि नाम की चीज है उसको) बतलावे ऐसा किसप्रकार हो सकता है ? वह शब्द या तो दोनो पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व धर्मोको छोडेगा या दोनोको ग्रहण करेगा।

लौकिक शब्द और वैदिक शब्द इनमे शब्दत्व तो समान है तथा इस शब्दका यह अर्थ है इसप्रकारका सकेत ग्रहण जिसमे हो वही शब्द अर्थका प्रतिपादक बन सकता है ऐसी जो शब्दकी योग्यता है वह भी दोनो प्रकारके (लौकिक वैदिक) शब्दोमे समान है, दोनो ही शब्द उच्चारण किये बिना पुरुष द्वारा सुनायी नही देते इतनी सब समानता है तब कैसे कह सकते है कि लौकिक शब्द तो पुरुषकृत (पौरुषेय) है और वैदिक शब्द पुरुषकृत नही है ? (अपौरुषेय है) सकेतका अतिक्रमण किये बिना ही दोनो प्रकारके शब्द अर्थको प्रतीति कराते हैं अत. दोनोमे समानता ही है।

यह भी बात है कि वैदिक शब्दोको अपौरुषेय मानते है तो उनका अर्थ पुरुषकी इच्छानुसार करना शक्य नही है, किन्तु देखा जाता है कि वैदिक शब्दोका पुरुष द्वारा जिन जिन अर्थोमे सकेत किया गया है उन उन अर्थोंका बिना विवादके

नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादय , नररचितवचनाऽविशिष्ट च वैदिक वचनमिति ।

न चात्राश्रयासिद्धो हेतु , वैदिकीना वचनरचनाना प्रत्यक्षत प्रतीतेः । नाप्यप्रसिद्धविशेषण. पक्ष , अभिनवकूपप्रासादादौ पुरुषपूर्वकत्वेनास्य साध्यविशेषणस्य सुप्रसिद्धत्वात् । न च हेतो स्वरूपासिद्धत्वम्, तद्वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रमाणाभावेनास्याऽभावात् ।

न चाप्रामाण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्रेत्यभिधातव्यम्, तस्य विद्यमानस्यापि तन्निराकारकत्वाभावात् । यादृशो हि विशेष प्रतीयमानः पौरुषेयत्व निराकरोति तादृशस्यास्याऽभावादऽविशिष्टत्वम् न पुन सर्वथा विशेषाभावात्, एकान्तेनाऽविशिष्टस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । अप्रामाण्याभावलक्षणश्च

प्रतिपादन होता है, यदि ऐसी बात नही होती तो उन अर्थोके भिन्न भिन्न सकेत हुआ करते है उनकी कल्पना व्यर्थ ठहरती । इसलिये निश्चय होता है कि मनुष्यो द्वारा रचे हुए शब्दोके समान ही जो शब्द है वे पौरुपेय ही है, जैसे नये वनाये हुए कूप महल आदिकी रचनाके समान पुराने कूप महल आदि होते है तो उनको पुरुषकृत ही मानते है वैदिक शब्द मनुष्यो द्वारा रचे हुए शब्दोके समान ही है अत पौरुषेय हैं ।

यह नर रचित वचन समानत्व हेतु (मनुष्य द्वारा रचित शब्दके समान ही वेदके शब्द है) आश्रय असिद्ध दोष युक्त भी नही है, क्योकि वैदिक शब्दोकी रचना मनुष्य रचित शब्दके समान प्रत्यक्षसे ही प्रतीत होती है । इस हेतुका पक्ष अप्रसिद्ध विशेपणवाला भी नही है, सपक्ष—नवीन कूप महल आदिमे पुरुषकृतपना देखा जाता ही है । अत साध्यका पौरुषेय विषेपण सुप्रसिद्ध ही है, हेतुका स्वरूप भी असिद्ध नही है अर्थात् मनुष्य रचित शब्दोके स्वरूपके समान ही वैदिक शब्दोका स्वरूप है, उन शब्दोकी विशेषता वतलानेवाला कोई प्रमाण भी नही है जिससे कि वैदिक शब्दोकी विशेषता सिद्ध हो जाय ।

वैदिक शब्दोमे अप्रामाण्यका अभाव है अत लौकिक शब्दोसे वैदिक शब्दोमे विशेपता मानी जाती है ऐसा भी नही कहना, वैदिक शब्दोमे अप्रामाण्यका अभाव भले ही पाया जाता हो किन्तु उससे पौरुषेयत्व नही हटाया जा सकता अर्थात् अप्रामाण्यका अभाव वेदको अपौरुषेय सिद्ध कर देवे सो शक्ति उसमे नही है । जिसके द्वारा वेदके शब्दोका पौरुपेयत्व निराकरण किया जाय ऐसी कोई विशेपता उन शब्दोमे नही है अत

विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति न गुणवन्तमप्रामाण्यनिवर्त्तकम्। न च गुणवतः पुरुषस्याभावादन्यस्य चानेन विशेषेण निराकृतत्वात्सिद्धमेवापौरुषेयत्वं तत्रेत्यभ्युपगन्तव्यम्, तत्सद्भावस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात्। तदभावेऽप्रामाण्याभावलक्षणविशेषाभावप्रसंगाच्च।

पौरुषेये प्रासादादौ हेतोर्दर्शनादपौरुषेये चाकाशादावऽदर्शनान्नानैकान्तिकत्वम्। अत एव न विरुद्धत्वम्, पक्षधर्मत्वे हि सति विपक्षे वृत्तिर्यस्य स विरुद्धः, न चास्य विपक्षे वृत्तिः। नापि कालात्ययापदिष्टत्वम्, तद्धि हेतोः प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तं भवतेष्यते। न च यत्र स्वसाध्या-

---

वे लौकिक शब्दसे अविशिष्ट (समान) है किन्तु सर्वथा अविशिष्ट नहीं है, कोई वस्तु सर्वथा समान नही हुआ करती। आपने वैदिक शब्दोमे अप्रामाण्याभाव नामका जो विशेष बतलाया वह विशेष तो मात्र अप्रामाण्यका कारण जो दोष युक्त पुरुष है उसीका निराकरण करता है, जो पुरुष गुणवान है अप्रामाण्यको हटानेवाला है उस पुरुषका निराकरण नही करता है। आप कहो कि गुणवान पुरुषका तो अभाव है और दोष युक्त पुरुषका निराकरण अप्रामाण्याभाव विशेषसे हो जाता है, अत अपने आप ही वैदिक शब्द अपौरुषेय सिद्ध हो जाते है ? सो यह कथन भी असत है गुणवान पुरुषका सद्भाव है इस बातको अभी अभी सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमे निश्चित कर आये है। तथा यह भी निश्चित है कि यदि आप मीमासक गुणवान पुरुषको नही मानते तो अप्रामाण्य का अभावरूप विशेष भी सिद्ध नही हो सकेगा उसका भी अभाव होनेका प्रसग आता है।

"वैदिक शब्द पौरुषेय है (पुरुषने बनाये हैं) क्योकि वे मनुष्य रचित शब्दो के समान रचनावाले ही देखे जाते हैं" यह हम जैनका अनुमान प्रमाण वेदके अपौरुषेयत्वका निराकरण करनेके लिये प्रयुक्त हुआ है, इस अनुमानका मनुष्य रचित वचन रचना अविशिष्टत्व नामक हेतु अनैकान्तिक भी नही है, क्योकि पौरुषेय प्रासाद आदि की जो रचना है उसमे तो यह हेतु पाया जाता है और अपौरुषेयभूत आकाशादिक है उस विपक्षमे नही रहता। तथा विपक्षमें नही जानेके कारण ही विरुद्ध दोष युक्त भी नही है, इसीको बतलाते है—जिस हेतुमे पक्ष धर्मत्व होकर विपक्षमे वृत्ति पायी जाय वह विरुद्ध हेतु कहलाता है, किन्तु प्रस्तुत हेतु विपक्षमे नही रहता है।

विनाभूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्त्तमान स्वसाध्य प्रसाधयति तत्रैव प्रमाणान्तर प्रवृत्तिमासादयत्तमेव धर्मं व्यावर्त्तयति, एकस्यैकदैकत्र विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात् । प्रकरणसमत्वमपि प्रतिहेतोर्विपरीतधर्म-प्रसाधकस्य प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भावोऽभिधीयते । न च स्वसाध्याविनाभूतहेतु-प्रसाधितधर्मिणो विपरीतधर्मोपेतत्व सम्भवतीति न विपरीतधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति। तन्न वेदपदवाक्ययोर्नित्यत्व घटते ।

नापि वर्णाना कृतकत्वत. शब्दमात्रस्यानित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्य-त्वोपपत्ते । तथाहि—अनित्य शब्द कृतकत्वाद् घटवत् । न च कृतकत्वमसिद्धम्, तथाहि–कृतक शब्दः

जैनका यह हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी नही है, जिस हेतुका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित हो या आगमसे बाधित हो उसके बाद भी उसका प्रयोग किया जाय तो वह हेतु कालात्ययापदिष्ट नामा हेत्वाभास होता है ऐसा आप मीमासकका ही कहना है । धर्मीमे स्वसाध्यके साथ अविनाभाव रूपसे रहकर जो हेतु स्वसाध्यको सिद्ध कर देता है ऐसा विशिष्ट हेतु जहा पर रहता है वहा पर अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रवृत्त होकर उस हेतुके साध्यधर्मको हटा देवें, सो हो नही सकता, क्योकि एक जगह एक कालमे एक ही धर्मका विधि और प्रतिषेध करनेमे विरोध आता है । प्रकरणसम नामा दोष भी हमारे हेतुमे नही है, जहा प्रति हेतु आकर साध्य धर्मसे विरुद्ध धर्मको सिद्ध कर देनेकी सभावना होती है, जिसमे प्रकरण चिंता होती है, ऐसे सत्प्रतिपक्षवाले हेतुको प्रकरणसम हेत्वाभास कहते है, स्वसाध्यके अविनाभावी हेतुक द्वारा साध्यधर्मी के सिद्ध होने पर ऐसा दोष नही आता, उस धर्मीमे विपरीत धर्म युक्त होनेकी सभावना नही रहती अत साध्यसे विपरीत धर्मको सिद्ध करने वाला अन्य हेतु उसमे प्रवृत्त नही हो सकता । इसप्रकार हम जैनका "नर रचित शब्द रचना अविशिष्टत्वात्" हेतु असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम इन पाचो दोषोसे रहित है ऐसा सिद्ध होता है और इसीलिये वह स्वसाध्यको) वेदके पौरुषेयत्वको) नियमसे सिद्ध करता है । अत वेदके पद एव वाक्योको नित्य रूप सिद्ध करना घटित नही होता । वेदके पद वाक्य तो पौरुषेय अनित्य ही सिद्ध होते हैं ।

पद और वाक्योके समान वर्णोका नित्यपना (अपौरुषेयत्व) भी सिद्ध नहीं होता, शब्दमात्र ही फिर चाहे वे वर्णरूप हो पद रूप हो या वाक्यरूप हो सब कृतकत्व हेतु द्वारा अनित्य ही सिद्ध होते है, अर्थात् शब्द अनित्य हैं क्योकि वे किये हुए है इस

कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तद्वदेव । न चेदमप्यसिद्धम्, ताल्वादिकारणव्यापारे सत्येव शब्दस्यात्मलाभप्रतीतेस्तदभावे वाऽप्रतीतेः, चक्रादिव्यापारसद्भावासद्भावयोर्घटस्यात्मलाभालाभप्रतीतिवत् ।

अनुमानसे शब्दमे अनित्यपना सिद्ध होनेपर वर्ण आदिका अनित्यपना स्वत' ही सिद्ध होता है । यह कृतकत्व हेतु असिद्ध दोप युक्त भी नही है, इसीको बताते है—शब्द किया हुआ है क्योकि उसका कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक है । जैसे घट का मिट्टीरूप कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक है । शब्दका कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक होना असिद्ध भी नही है तालु ओठ कठ आदि कारणोका जब व्यापार होता है तभी शब्द उत्पन्न होता है अन्यथा नही ऐसी ही सभीको प्रतीति आ रही है । जैसे कि चक्र चीवर मिट्टी आदि कारणोका अन्वय (सद्भाव) हो तो घट बनता है और वे कारण न होवे तो नही बनता । इसतरह वेदके पद एव वाक्य पौरुषेय (पुरुप द्वारा रचित) सिद्ध होते हैं तथा साथ ही अनित्य भी सिद्ध होते है क्योकि जो पौरुषेय है वह अवश्य ही अनित्य होगा । मीमासक आदि परवादी वेद वाक्यके समान अकार आदि सपूर्ण वर्णमालाको भी नित्य अपौरुषेय मानते है, इस मान्यताका निरसन भी वेदके अपौरुषेयत्वका खडन होनेसे हो जाता है क्योकि यह मान्यता प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोसे बाधित है, कोई भी पद वाक्य या शब्द मात्र ही प्रयत्नके बिना उत्पन्न होता है य। अनादिका हो ऐसा अनुभव मे नही आता है, अनुभवके आधार पर वस्तु व्यवस्था हुआ करती है यदि उसमे किसी प्रमाणसे बाधा नही आती है तो शब्द वर्ण आदि जब तालु आदिसे उत्पन्न होते हुए दिखायी दे रहे है तब बुद्धिमानोका कर्त्तव्य होता है कि वे उन्हे पौरुषेय स्वीकार करे । अस्तु ।

विशेषार्थ— मीमासक आदि वैदिक दार्शनिक ऋग्वेद आदि चारो वेदोको अपौरुषेय एव सर्वथा नित्य स्वीकार करते है, इनका कहना है कि वेदमे धर्म अधर्म आदि अदृश्य पदार्थोका व्याख्यान पाया जाता है इन अदृश्य पदार्थोका साक्षात्कार किसी भी प्राणीको चाहे वह मनुष्य हो या देवता हो या अन्य कोई हो, हो नही सकता, इसका भी कारण यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी सर्वज्ञका अस्तित्व नही है न था और न आगामी कालमे होगा । बस यही कारण है कि सूक्ष्मतत्वका प्रतिपादन करनेवाला वेद अपौरुषेय होना चाहिए । किन्तु विचार करने पर यह बात घटित नही होती, जब वेदके

पद एव वाक्य मनुष्य द्वारा रचित पद और वाक्यके समान ही है तब कैसे कह सकते हैं कि वे अपौरुषेय हैं ? रही बात अदृश्य पदार्थके व्याख्यानकी सो सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमे इसका निश्चय कर आये है कि किन्ही किन्ही मनुष्य विशेषोके आवरणके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति रूप सर्वज्ञता हो सकती है, मीमासक सर्वज्ञको नही मानते किन्तु यह मान्यता उन्हीसे बाधित होती है, क्योकि वेदके पद एव वाक्योका अर्थ करनेवाला व्याख्याता पुरुष यदि अल्प ज्ञानी है तो वह अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञाता नही होनेसे विपरीत प्रतिपादन कर देगा और सर्वज्ञ है तो प्रतिज्ञा हानि नामक दोष (सर्वज्ञ नही है ऐसी मान्यतामे दोष) आयेगा । अत निश्चित होता है कि वेदके वाक्य पद एव वर्ण पुरुषकृत है अपौरुषेय नही है ।

॥ वेदापौरुषेयत्ववाद समाप्त ॥

वेद अपौरुषेयत्ववाद का सारांश

पूर्वपक्ष—मीमासक–हमारी मान्यता है कि वेद अपौरुषेय है किसी पुरुष द्वारा उसकी रचना नही हुई है क्योकि पुरुप को अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान नही होता है, अत धर्म अधर्म आदि बहुत से अतीन्द्रिय पदार्थोका कथन नही कर सकता है, तथा यह रागी, द्वेपी है इसलिये विपरीत अर्थ का प्रतिपादन भी कर सकेगा इत्यादि अनेक कारणोसे हम मीमासक वेद का कोई कर्त्ता नही मानते है। अनुमान के द्वारा भी वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है "वेद अपौरुषेय है क्योकि उसके कर्त्ता का स्मरण नही है"। स्मरण प्रत्यक्ष पूर्वक होता है किंतु वेद कर्त्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान किसी को भी नही है। परम्परासे स्मृति चली आना तभी सम्भव है जब पहले किसी न किसी को वह कर्ता प्रत्यक्ष हो। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु वेदको अपौरुषेय सिद्ध करता है।

तथा—

वेदाध्ययन सर्वं गुर्वध्ययन पूर्वक।
वेदाध्ययन वाच्यत्वादधुनाध्ययन यथा ॥१॥

वेद का अध्ययन गुरु से गुरु द्वारा ही होता चला आया है क्योकि वह वेदका अध्ययन है जैसे वर्तमान का अध्ययन।

अतीतानागतौ कालौ वेदकार विवर्जितौ।
कालत्वात् तद् यथा कालो वर्तमान समीक्ष्यते ॥१॥

भूत और भविष्यत काल वेद कर्ता से रहित है, क्योकि काल रूप है। इन अनुमानोके द्वारा वेद का अपौरुषेयपना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष जैन—यह सर्व कथन युक्ति सगत नही है, आप वेदके पदको अपौरुपेय मानते है या वाक्य को या दोनो को? दोनो को कहो तो वह अनुमान बाधित है-वेद पौरुपेय है क्योकि पद एव वाक्य रूप है, जैसे भारतादि ग्रन्थ है। आपने कहा कि वेद कर्ता का किसी प्रमाण से ग्रहण नही होता किन्तु यह कथन सिद्ध नही होता। तथा वेदके अपौरुपेयत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान का हेतु असत् है। अस्मर्यमाण कर्तृत्व आपको है हमारे यहा वेद कर्ताका स्मरण है (जैन कालासुर नामक राक्षस को वेदका कर्ता मानते है जिसने पशु बलि की पद्धति चलाकर अन्त में सुलसा आदि का होम कराया था) तथा चोरी आदिका उपदेश भी अपौरुपेय होनेसे सत्य

मानना होगा ? क्योकि आपके यहा सत्यता का निर्णय अपौरुषेयत्व पर निर्भर है ? आपके वेदमें ऋषियो के नाम हैं सो उसका अनादिपना कैसे ? काण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषि लोग, वेद के कर्ता है या उसके प्रकाशक है अथवा मात्र देखने वाले हैं यह बताना होगा । इन ऋषियोको वेद का कर्ता तो कहेगे नही । प्रकाशक माने तो भी प्रश्न होगा कि क्या वेद नष्ट हो गया था सो उन ऋषियो ने प्रकाशन कराया ? इस तरह मानने से तो अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु और अपौरुपेय साध्य दोनो ही नष्ट होते है। दूसरे अनुमानका वेदाध्ययनत्व हेतु विशेषण रहित है या अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप विशेषण युक्त है ? विशेपण रहित कहे तो अनेकातिक होगा क्योकि भारतादि ग्रन्थका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्वक है । तथा अपौरुषेय साध्य को किस प्रमाण से सिद्ध करेंगे इसी अनुमानसे या अन्य से ? अन्य प्रमाण से करते है तो यह वेदाध्ययन आदि हेतु वाले अनुमान व्यर्थ ठहरते हैं, और इसी हेतु वाले अनुमान के द्वारा करे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

आगम से वेद को अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है, अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् आगम अपौरुषेय सिद्ध होने पर वेदमे अप्रमाण्य का अभाव सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आगमकी अपौरुषेयता सिद्ध होगी । जबरदस्ती अपौरुषेय वेद को मान भी लेवे तो उसके व्याख्यान मे विवाद है उस वेदका व्याख्यान सामान्य लोग करते हैं तो उन्हे वेद कथित अतीन्द्रिय वस्तुका बोध नही होनेसे वेद का अर्थ अप्रमाण होगा । वेद व्याख्याता अतीन्द्रिय पदार्थोका ज्ञाता है ऐसा माने तो वेदको अपौरुपेय मानने का आग्रह व्यर्थ है । उसी अतीन्द्रियदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा वेद रचना हो जायगी ? अत यह अनुमान प्रयोग सत्य है कि वेद के पद और वाक्य पौरुषेय है क्योकि वे पुरुष के द्वारा रचित पद, वाक्यके समान हैं । "यह पुरुष रचित वचन समानत्व" हेतु असिद्ध नही है क्योकि वेदमे वचनो की रचना प्रत्यक्ष दिखाई देती है, अनेकान्तिक दोष भी नही है क्योकि यह हेतु पक्ष सपक्ष मे होकर विपक्ष जो अपौरुषेय आकाशादि हैं उनमे नही जाता है । अनेकान्तिक नही होने से विरुद्ध भी नही है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाधित नही होने के कारण कालात्ययापदिष्ट भी नही है ।. प्रकरणसम दोष भी सत्प्रतिपक्ष नही होने से दूर रहता है । इस तरह नर रचित पद रचना अविशिष्टत्व हेतु सम्पूर्ण दोषोसे निर्मुक्त होकर अपना साध्य जो वेदका पौरुषेयत्व है उसे सिद्ध करता है । ।। समाप्त ।।

१६

शब्दनित्यत्ववाद:

ननु शब्दस्याऽनित्यत्वोपगमे ततोर्थप्रतीतिर्न स्यात्, अस्ति चासौ। ततो 'नित्य शब्द स्वार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यभ्युपगन्तव्यम्। स्वार्थेनावगतसम्बन्धो हि शब्द. स्वार्थं प्रतिपादयति, अन्यथाऽगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तुस्ततोऽर्थप्रतीतिप्रसग।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्य, तथाहि-यदैको वृद्धोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसकेताय प्रतिपादयति-'देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थान्योऽव्युत्पन्नसकेत शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः

मीमासक के वेद अपौरुषेयवाद का खण्डन होने पर पुनः वे लोग शब्द के नित्यता के विषय मे अपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते है।

मीमासक—जैन शब्दको अनित्य मानते हैं किन्तु ऐसा मानने से शब्दो को सुनकर जो अर्थ प्रतीति होती है वह नही हो सकेगी, किन्तु "घट" ऐसा शब्द सुनते ही घट नाम की वस्तु का बोध अवश्य होता है अत. "शब्द नित्य है क्योकि अपने वाच्य अर्थ की प्रतिपादनकी अन्यथानुपपत्ति है। ऐसी अनुमान सिद्ध बात स्वीकार करनी चाहिये। अपने वाच्य अर्थके द्वारा जिसने सबध को ग्रहण किया है वही शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है, यदि संबंध ग्रहण की जरूरत नही होती तो जिसने वाच्य वाचक सबधी सकेत को ग्रहण नही किया है वह पुरुष भी शब्द से अर्थ की प्रतीति कर लेता।

शब्द और अर्थ का संबध प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोसे जाना जाता है आगे इसी का खुलासा करते है—जब एक वृद्ध पुरुष जिसने पहले सकेत जान लिया है ऐसे अन्य पुरुष के लिये कहता है कि हे देवदत्त ! सफेद गाय को

प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भानुमानतो गवादिविषया प्रतिपत्ति प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च तच्छब्दस्यैव तत्र वाचिका शक्ति परिकल्पयति पुनः पुनस्तच्छब्दोच्चारणादेव तदर्थस्य प्रतिपत्ते । सोय प्रमाणत्रयसम्पाद्यः सम्बन्धावगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात्सम्भवति । न चाऽस्थिरस्य पुन पुनरुच्चारण घटते, तदभावे नान्वयव्यतिरेकाभ्या वाचकशक्त्यवगम, तदसत्त्वान्न प्रेक्षावद्भि परावबोधाय वाक्यमुच्चार्येत । न चैवम् । तत परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते नित्योसौ ।

तदुक्तम्-"दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्य शब्द" [जैमिनिसू० १।१।१८]

दण्डा से निकाल दो । उस समय वहा पर तीसरा कोई अन्य पुरुष बैठा था जिसको कि गाय, दण्डा आदि शब्द और उनके वाच्यार्थ का सकेत मालूम नही था वह शब्द और अर्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता है अर्थात् गो आदि शब्दको कर्णजन्य प्रत्यक्षसे और गो पदार्थको नेत्रज प्रत्यक्ष से जानता है । और जिस देवदत्त के प्रति वृद्ध पुरुष ने वाक्य कहा था उसके गो आदि विषय के ज्ञान को गाय को ताडना आदि चेष्टा की उपलब्धि रूप अनुमान प्रमाणसे जाना जाता है, तथा उस ज्ञानकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा उसी शब्द की वाचक शक्ति को जाना जाता है कि पुन पुन गो शब्द के उच्चारण से ही उसके अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार तीन प्रमाण द्वारा सपादित होने वाला सबध का ज्ञान एक बार के वाक्य प्रयोग से होना सभव नही है । अनित्य शब्द का पुन पुन उच्चारण होना भी अशक्य है, उसके अभाव मे अन्वय व्यतिरेक द्वारा वाचक शक्ति का ज्ञान नही हो सकता है, और उसके अभाव होने पर प्रेक्षावान पुरुष पर को समझाने के लिये वाक्य का उच्चारण भी नही कर सकेगे किन्तु यह नही होता, अत पर के लिये वाक्य उच्चारण की अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण द्वारा शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है ।

महर्षि जैमिनि भी कहते है कि "दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्य शब्द" शब्दोका उच्चारण पुन पुन किया जाता है उससे पर शिष्यादिको समझाया जाता है, इसीसे निश्चित होता है कि शब्द नित्य है ।

शका—पुन पुन उच्चारण मे आने वाला शब्द सदृशता के कारण एक रूप प्रतीत होता हुआ अर्थ बोध कराता है न कि नित्य होने के कारण ?

अथ मतम्–पुन पुनरुच्चार्यमाण शब्द. सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति न पुनर्नित्यत्वात्, तदसमीचीनम्, सादृश्येन ततोर्थाऽप्रतिपत्तेः। न हि सदृशतया शब्द. प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किन्त्वेकत्वेन। य एव हि सम्बन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्न. शब्दः स एवायमिति प्रतीते।

किंच, सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्त शाब्द प्रत्यय स्यात्। न ह्यन्यस्मिन्नगृहीतसकेतेऽन्यस्मादर्थ-प्रत्ययोऽभ्रान्त, गोशब्दे गृहीतसकेतेऽश्वशब्दाद्गवार्थप्रत्ययेऽभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। न च भूयोऽवयवसाम्य-योगस्वरूप सादृश्य शब्दे सम्भवति, विशिष्टवर्णात्मकत्वाच्छब्दाना वर्णाना च निरवयवत्वात्। न च गत्वादिविशिष्टाना गादीना वाचकत्व युक्तम्, गत्वादिसामान्यस्याऽभावात्, तदभावश्च गादीना नाना-त्वायोगात् सोपि प्रत्यभिज्ञया तेषामेकत्वनिश्चयात्। न चात्र प्रत्यभिज्ञा सामान्यनिवन्धना, भेदनिष्ठस्य सामान्यस्यैव गादिष्वसम्भवात्।

समाधान — यह जैन आदि परवादी की शका ठीक नही है, क्योकि सादृश्य द्वारा उस शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति नही होती यह प्रतीयमान शब्द सदृशता के कारण वाचकपने से नही जाना जाता किन्तु एकत्व के कारण वाचकपनेसे जाना जाता है क्योकि जिस शब्द को मैंने सबध ग्रहण के समय मे जाना था वही यह शब्द है, इस प्रकार की प्रतीति आती है।

किंच, सादृश्य से अर्थ की प्रतीति होना माने तो शाब्दिक ज्ञान भ्रात कहलायेगा, क्योकि जिसमे संकेतका ग्रहण नही हुआ है ऐसे शब्दमे अन्य शब्द से होने वाली अर्थ प्रतीति अभ्रात नही हो सकती यदि इसको अभ्रात माने तो जिस गो शब्द मे सकेत हुआ था उसके नष्ट होने पर अश्व शब्द से गो अर्थ की प्रतीति होना और वह प्रतीति अभ्रात है ऐसा स्वीकार करना होगा? क्योकि सकेतित गो शब्द अनित्य होनेके कारण नष्ट हो चुकता है और अश्वादि अन्य शब्द उस वक्त उपस्थित हो सकते है। बहुत से अवयवो के साम्य का है योग जिसमें ऐसा सादृश्य शब्द में होना सभव भी नही है, क्योकि शब्द विशिष्ट वर्णात्मक होते हैं और वर्ण निरवयव होते है। तथा सामान्य से विशिष्ट ग आदि मे वाचकत्व मानना भी युक्त नही, गत्वादि सामान्य का अभाव है, वह अभाव भी इसलिये है कि ग आदि मे नानापने का अयोग है, वह अयोग भी इस कारण से है कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा ग आदि शब्दोका एकपने का निश्चय होता है। शब्द में होने वाला प्रत्यभिज्ञान गत्वादि सामान्य के कारण होता है ऐसा

किंच, गत्वादीना वाचकत्वम्, गादिव्यक्तीना वा ? न तावद्गत्वादीनाम्, नित्यस्य वाचकत्वेऽस्मन्मताश्रयणप्रसङ्गात् । नापि गादिव्यक्तीनाम्, तथा हि–गादिव्यक्तिविशेषो वाचक , व्यक्तिमात्र वा ? न तावद्गादिव्यक्तिविशेष , तस्यानन्वयात् । नापि व्यक्तिमात्रम्, तद्धि सामान्यान्त पाति, व्यक्त्यन्तर्भूत वा ? सामान्यान्त पातित्वे स एवास्मन्मतप्रवेश । व्यक्त्यन्तर्भूतत्वे तदवस्थोऽनन्वयदोष इति । ततोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेर्नित्य शब्द । तदुक्तम्—

"अर्थापत्तिरिय चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता ।
यदि नाशिनिनित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥

शब्दे वाचकसामर्थ्य ततो दूषणमुच्यताम् ।
फलवद्व्यवहारागभूतार्थप्रत्ययागता ॥२॥

कहना भी ठीक नही, क्योकि जो भेदो मे (विशेपो मे) निष्ठ है उसका सामान्य का ग आदि मे होना ही असभव है ।

जैनादि परवादी गत्व आदि सामान्यको अर्थ का वाचक मानते हैं अथवा गकार आदि विशेप को ? गत्व आदि सामान्य को मान नही सकते, क्योकि नित्य सामान्य को वाचक मान लेने पर हमारे (मीमासक) मत मे प्रवेश होने का प्रसग आता है । गकार आदि विशेप को वाचक मानना भी ठीक नही है, इसी को बताते हैं– गकार आदि शब्द व्यक्ति विशेप पदार्थ का वाचक होता है अथवा व्यक्ति मात्र का वाचक होता है ? गकारादि शब्द व्यक्ति विशेप वाचक होना अशक्य है, क्योकि उसका अन्वय नही होता है । व्यक्ति मात्र भी वाचक नही होता, क्योकि वह व्यक्ति मात्र कौन सा लिया जाय, सामान्य मे रहने वाला या व्यक्ति मे रहनेवाला ? प्रथम विकल्प कहो तो वही हमारे मत मे प्रवेश होने का दोष आता है । दूसरा विकल्प–व्यक्ति मे रहने वाला व्यक्ति मात्र वाचक होता है, ऐसा कहो तो वही अनन्वय दोष आता है । इसलिये अर्थ प्रतिपादकत्व की अन्यथानुपपत्ति से शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है । कहा भी है— अर्थापत्ति पक्ष धर्मत्वादि से रहित होती है यदि वह नित्यानित्यात्मक या केवल नित्य स्वभाव वाले शब्दमे वाचक शक्ति को सिद्ध करती है तो क्या दूषण है ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर यह है कि प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप जगत का फलवान् व्यवहार अर्थ ज्ञान से होता है और अर्थ ज्ञान का हेतु शब्द है, (अर्थ ज्ञान के विना व्यवहार निष्फल रूप माना जाता है) शब्द की योग्यता से अर्थ की प्रतीति होती है अत युक्ति पूर्वक

निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवगम्यते ।
परीक्षमाणस्तेनास्य युक्त्या नित्यविनाशयो: ॥३॥

स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो य प्रधान न बाधते ।
न ह्यङ्गाङ्गय्ऽनुरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥४॥

युज्यते नाशिपक्षे च तदेकान्तात्प्रसज्यते ।
न ह्यदृष्टार्थसम्बन्ध शब्दो भवति वाचक ॥५॥

तथा च स्यादपूर्वोपि सर्व सर्वं प्रकाशयेत् ।
सम्बन्धदर्शन चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥

सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद्ध्रुव कालान्तरस्थिति ।
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥

गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाऽश्वशब्दो हि वाचक ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३७-२४४] इति ।

शब्द के नित्य अनित्य के विषय मे परीक्षा करते हुए उस धर्म को स्वीकार करे कि जो प्रधान को (फल को) बाधित नही करता हो, नित्य शब्द और अर्थ ज्ञान मे अग अगी भाव (कारण कार्य भाव) होने से प्रधान फल मे बाधा नही आती है। किन्तु शब्द को अनित्य मानने के पक्ष मे एकात से बाधा का प्रसग आता है, क्योकि अर्थ के साथ जिसका सम्बन्ध अज्ञात है वह शब्द अर्थ का वाचक नही हो सकता, अर्थात् अनित्य शब्द मे अर्थ का सकेत होना असभव है और सकेत बिना शब्द उसका वाचक नही होता, तथा यदि बिना सकेत के ही शब्द को अर्थ का प्रकाशक माना जाय तो अश्रुत पूर्व ऐसा शब्द भी अर्थ प्रतीति करा सकेगा एव सभी शब्द सब अर्थ को प्रकाशित करा सकेंगे ? शब्द को अनित्य मानने के पक्ष मे शब्दार्थ के सबध का ग्रहण अर्थात् इस शब्द का यह वाच्यार्थ है ऐसा सकेत होना बिल्कुल नही बनता। यदि इस तरह का वाच्य वाचक सबध के ज्ञान से अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा माने तो अवश्य ही शब्द का कालातर तक उपस्थित रहना सिद्ध होता है। कोई कहे कि जिसमे सकेत होता है वह शब्द अन्य है और जो वाचक बनता है वह शब्द अन्य है तो यह गलत है, गो शब्द मे सकेत ज्ञात हो और अश्व शब्द उसका वाचक हो ऐसा नही होता है ॥१॥२॥३॥४॥५॥६॥७॥

अथ विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानत्वाद्गकारादीनां नानात्वाऽनित्यत्वे साध्येते, तन्न, अनेकप्रतिपत्तृभिर्विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेनादित्येनानेकान्तात्। विभिन्नदेशादितयोपलम्भश्चैषां व्यञ्जकध्वन्यधीनो, न स्वरूपभेदनिबन्धन। तदुक्तम्—

"नित्यत्व व्यापकत्वं च सर्ववर्णेषु सस्थितम्।
प्रत्यभिज्ञानतो मानाद्बाधसगमवर्जितात् ॥१॥" [ ]

"यो यो गृहीत सर्वस्मिन्देशे शब्दो हि विद्यते।
न चास्याऽवयवा सन्ति येन वर्त्तेत भागश ॥२॥

शब्दो वर्त्तत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः।
व्यञ्जकध्वन्यऽधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते ॥३॥

न च ध्वनीना सामर्थ्यं व्याप्तु व्योम निरन्तरम्।
तेनाऽविच्छिन्नरूपेण नासौ सर्वत्र गृह्यते ॥४॥

शका—विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने के कारण गकार आदि शब्दो को नाना एव अनित्य रूप सिद्ध करते है ?

समाधान—यह बात ठीक नही। इस कथन मे अनेक प्रतिपत्ता द्वारा विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने वाले सूर्य के साथ अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् विभिन्न देशो मे गकारादि वर्ण उपलब्ध होने के कारण अनेक है ऐसा माने तो विभिन्न देशो मे सूर्य उपलब्ध होने के कारण उसे भी अनेक मानना होगा। बात तो यह है कि शब्दो की विभिन्न देशो मे उपलब्धि होनेका कारण उनकी व्यजक ध्वनि है न कि स्वरूप भेद है। अर्थात् व्यजक ध्वनिया नाना होनेसे विभिन्न देशादि रूप से शब्द की उपलब्धि होती है, स्वरूप मे भेद होने के कारण नही। कहा है कि—ककार से लेकर जितने वर्ण हैं वे सब नित्य हैं, तथा व्यापक है, इनका नित्यपना निर्बाध प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा जाना जाता है ॥१॥ जो जो शब्द ग्रहण मे आया है वह सब देश मे रहता है अर्थात् व्यापक है, क्योकि इसके अवयव नही होते हैं जिससे वह खण्ड खण्ड रूप से रहे ॥२॥ जहा भी शब्द है वहा सर्वात्मपने से है, किन्तु जहा पर उसकी व्यञ्जक ध्वनि रहती है वही पर ग्रहण मे आता है ॥३॥ शब्दों को प्रकट करने वाली व्यञ्जक ध्वनिया सपूर्ण आकाश को निरन्तर रूप से व्याप्त नही कर सकती अत सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से शब्द ग्रहण मे नही आता ॥४॥ व्यञ्जक ध्वनिया भिन्न भिन्न देशो मे विभिन्न है

ध्वनीना भिन्नदेशत्व श्रुतिस्तत्रानुरुद्धयते ।
अपूरितान्तरालत्वाद्विच्छेदश्चावसीयते ।।५।।
तेषा चाल्पकदेशत्वाच्छब्देप्यऽविभुतामति ।
गतिमद्वेगवत्त्वाभ्या ते चायान्ति यतो यत ।।६।।
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७२-१७५]

अथैकेन भिन्नदेशोपलम्भाद् घटादिवन्नानात्वम्, न, आदित्येनानेकान्तात् । दृश्यते ह्येकेनादित्यो भिन्नदेशः, न चैतावतासौ नाना । अथ 'युगपदेकेन भिन्नदेशोपलब्धे' इति विशेष्योच्यते, तथाप्यनेनैवानेकान्त । जलपात्रेषु हि भिन्नदेशेषु सवितकोप्येकेन युगपद्भिन्नदेशो गृह्यते । उक्त च—

"सूर्यस्य देशभिन्नत्व न त्वेकेन न गृह्यते ।
न नाम सर्वथा तावद्दृष्टस्यानेकदेशता ।।१।।
सविशेषेण हेतुश्चेत्तथापि व्यभिचारिता ।
दृश्यते भिन्नदेशोयमित्येकोपि हि बुद्धयते ।।२।।

अत शब्दो का सुनाई देना बीच मे रुकता है ध्वनियो मे देशो का अतराल पडता है इसलिये जहा अतराल हो वहा श्रवण ज्ञान मे विच्छेद हो जाता है ।।५।। व्यञ्जक ध्वनि अल्प स्थान पर रहती है इस कारण से शब्द मे भी अव्यापकपने का ज्ञान हो जाया करता है । उन ध्वनियो मे गतिपना तथा वेग रहता है अत. जैसी जैसी ध्वनिया निकट आती है वैसे वैसे श्रोता जन समझने लग जाते है कि शब्द ही आ रहा है ।।६।।

शका—एक ही पुरुष के द्वारा भिन्न भिन्न देश मे शब्द उपलब्ध होता है अतः शब्द घटादि पदार्थोके समान पृथक पृथक है ?

समाधान—यह कथन सूर्य के साथ अनैकान्तिक होगा, देखा जाता है कि सूर्य एक है किन्तु एक ही पुरुप द्वारा भिन्न भिन्न देश मे उपलब्ध होता है किन्तु इतने मात्र से वह नाना (अनेक) नही होता । कोई परवादी कहे कि सूर्य के साथ होने वाले अनैकान्तिक दोष को हटाने के लिये विशेष्य जोडा जायगा कि "एक ही समय मे" एक पुरुष द्वारा भिन्न देशो मे उपलब्ध होने से शब्द अनेक रूप हैं ? सो इस विशेष्य होने पर भी उसी सूर्य के साथ व्यभिचार आता है, भिन्न देश रूप अनेक जल सूर्य एक

जलपात्रेषु चैकेन नानैकः सवितेक्ष्यते ।
युगपन्न च भेदेस्य प्रमाणं तुल्यवेदनात् ॥३॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६-१७८]

कश्चिदाह—न तत्र सवितेक्ष्यते तस्य नभसि व्यवस्थानात्, तन्निमित्तानि तु तेषु प्रतिबिम्बानि प्रतीयन्ते ततो नानेकान्त ।

"आहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रम् पृथक् पृथक् ।
भिन्नानि प्रतिबिम्बानि गृह्यन्ते युगपन्मया ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७९]

एतत्कुमारिल परिहरन्नाह—

"अत्र ब्रूमो यदा यावज्जले सौर्येण तेजसा ।
स्फुरता चाक्षुष तेज प्रतिस्रोत प्रवर्त्तितम् ॥१॥

होकर भी एक साथ एक पुरुष द्वारा अनेक रूप से ग्रहण मे आता है ? कहा भी है—सूर्य विभिन्न देशो मे एक के द्वारा ग्रहण नही होता हो सो भी बात नही है किन्तु अनेक रूप दिखाई देने मात्र से सूर्य अनेक रूप सिद्ध नही होता । सूर्य के भिन्न देशो मे उपलब्ध होने रूप हेतु मे युगपत् ऐसा विशेषण जोडा जाय तो भी वही अनैकान्तिक दोष आता है क्योकि जल पात्रो मे एक साथ एक ही पुरुष द्वारा सूर्य एक होकर भी अनेक दिखायी देता है, किन्तु तुल्य वेदन होने से यह भेद प्रतीति प्रमाणभूत नही है ॥३॥

शका—जल पात्रो मे सूर्य नही दिखता है सूर्य तो आकाश मे स्थित है, उस सूर्य का निमित्त पाकर उन जल पात्रो मे सूर्य के प्रतिबिम्ब नाना रूप प्रतीत होते हैं, अतः सूर्य के दृष्टात द्वारा शब्द के नानात्व को व्यभिचरित नही कर सकते । कहा है कि एक ही सूर्य का निमित्त लेकर प्रत्येक जलपात्र मे पृथक पृथक सूर्य एक साथ मेरे द्वारा ग्रहण किये जाते है, ऐसा जो प्रतिभास होता है वह भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब के कारण होता है न कि एक सूर्य के कारण ॥१॥

समाधान—इस शका का निरसन कुमारिल नामा गुरु करते हैं—जब जल मे स्फुरायमान सूर्य तेज के साथ चक्षु तेज नाना रूप परिवर्तित होता है तब वह स्वस्थान

स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा ।
भिन्नमूर्ति यथापात्रं तदास्यानेकता कुत ॥२॥"

[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ १८०-१८१]

यथा च प्रदीप ।

"ईषत्सम्मिलितेऽगुल्या यथा चक्षुषि दृश्यते ।
पृथगेकोपि भिन्नत्वाच्चक्षुर्वृत्तेस्तथैव न ॥१॥
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिण ।
स एव चेत्प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते ॥२॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात्प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम् ।
प्राङ्मुखो दर्पणे पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ॥३॥
तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्याति यदीन्द्रियम् ।
तत एतद्भवेदेव शरीरे तत्तु बोधकम् ॥४॥"

[मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ १८२-१८५]

पर सूर्य को जितने जल भरे पात्र हो उतने रूप भिन्न भिन्न आकार मे ग्रहण करता है, अत॰ सूर्य के प्रतिबिम्ब मे अनेकता कहा हुई ? अर्थात् नही हुई ॥१॥२॥

दीपक का दृष्टात है कि जब किंचित मिली हुई अगुली को नेत्रपर रखकर दीप को देखते है, तब एक ही दीपक नाना रूप दिखाई देता है, वह हमारे ही चक्षु की वृत्ति विभिन्न (अनेक) हो जाने से दिखता है ॥१॥

जल पात्र मे सूर्य आदि के प्रतिबिम्बित हो जाने से सूर्यादिक नाना रूप दिखाई देते है ऐसा जो जैनादि मानते है, उनके प्रति हम मीमासको का प्रश्न है कि यदि सूर्य के कारण ही अनेक जल पात्रो मे अनेक सूर्य दिखायी देते हैं तो ऊपर आकाश मे भी अनेक रूप क्यो नही दिखता ? ॥२॥ तथा कूप आदि मे नीचे की ओर बिना प्रतिबिम्ब के कैसे दिखाई देता है ? कोई पुरुष पूर्व दिशा मे मुख करके खडा होकर दर्पण मे देख रहा है तब उसको अपना मुख पश्चिम मे कैसे दिखायी देता है ? ॥३॥ यदि कहा जाय कि किरण चक्षु दर्पण की ओर जाने से उस तरफ अपना मुख दिखाई देता है तो वही पर पदार्थ का ज्ञान भी होना था ? किन्तु ऐसा नही होता । अब यहा

अत्राह—

"अप्सूर्यदर्शिना नित्य द्वेधा चक्षु प्रवर्त्तते ।
एकमूद्ध्वमधस्ताच्च तत्रोद्ध्वांशप्रकाशितम् ॥१॥
अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते ।
पारम्पर्यार्पित स तमवाग्वृत्या तु बुध्यते ॥२॥
उद्ध्र्ववृत्ति तदेकत्वादवागिव च मन्यते ।
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तराल प्रतीयते ॥३॥
एव प्राग्गतया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् ।
बुध्यमानो मुख भ्रान्ते प्रत्यगित्यवगच्छति ॥४॥
अनेकदेशवृत्तौ च सत्यपि प्रतिविम्बके ।
समानबुद्धिगम्यत्वान्नानात्व नैव विद्यते ॥५॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१६०]

किञ्च,

"देशभेदेन भिन्नत्व मत तच्चानुमानिकम् ।
प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तेन बाधक ॥६॥

पर इसी को खुलासा करते है—जल मे सूर्य को देखने वाले मनुष्यो की चक्षु हमेशा दो प्रकार से प्रवृत्ति करती है, ऊपर और नीचे की ओर, इनमे से जो ऊपर का अश प्रकाशित होता है उसका स्वरूप सीधा प्रकाशित नही हो पाता, क्योकि रश्मि चक्षु का अधिष्ठान जो गोलक चक्षु है वह वक्र है, इसी कारण से चक्षु का तेज सूर्य को प्राप्त नही होता, हा परपरा से जाकर नीचे की वृत्ति से उसको जान लेता है ॥२॥ रश्मि चक्षु चू कि ऊपर की तरफ भी जाती है, और सूर्य आकाश मे एक है अत. वह नीचे की ओर सातराल प्रतीत होता है ॥३॥ इसी प्रकार दर्पण की तरफ पूर्व की ओर से निकलकर जाती हुई चक्षु किरणे दर्पण मे अपने को अर्पित करती हैं अत दर्पण मे मुख को देखने वाला व्यक्ति भ्रान्ति से पश्चिम मे मुख को मान लेता है ॥४॥ इस प्रकार सूर्य अनेक देशो मे उपलब्ध होता है, तथा जल पात्रो मे अनेक प्रतिविम्ब भी उपलब्ध होते हैं किन्तु समान बुद्धि होने से सूर्य मे नानात्व नही रहता है ॥५॥ दूसरी बात यह है कि देश भेद से, गकारादि शब्दो मे भेद है ऐसा जिनका मत है वह प्रत्यक्ष से बाधित होता है क्योकि यह वही शब्द है इस प्रकार के ज्ञान द्वारा शब्दो मे अभेद

पर्यायेण यथा चैको भिन्नदेशान् व्रजन्नपि ।
देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते ।।७।।

ज्ञातैकत्वो यथा चासौ दृश्यमान पुन पुन. ।
न भिन्नः कालभेदेन तथा शब्दो न देशत ।।८।।

पर्यायादविरोधश्चेद्व्यापित्वादपि दृश्यताम् ।
दृष्टसिद्धो हि यो धर्म सर्वथा सोऽभ्युपेयनाम् ।।९।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९७-२००] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । नित्य. शब्दोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तम्, धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्यावगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसम्भवात् । न खलु य एव सकेतकाले दृष्टस्तेनैवार्थ-

---

सिद्ध होता है ।।१।। जिस प्रकार देवदत्त नामा कोई पुरुष है वह क्रम क्रम से विभिन्न देशो मे जाता है किन्तु देवदत्त तो वही रहता है, उसमे कोई भेद नही है उसी तरह शब्द नाना देशो मे उपलब्ध होते हुए भी एक है अनेक नही ।।२।। जिस प्रकार जिसका एकत्व जान लिया है ऐसा देवदत्त विभिन्न काल मे पुनः पुन दिखाई देने पर भी भिन्न नही कहा जाता, उसी प्रकार शब्द के पुनः पुनः उपलब्ध होने पर भी देश भेद से भेद नही कहा जा सकता ।।३।। यदि कहा जाय कि देवदत्त एक है पर उसकी पर्याय अनेक होने से देशादि का भेद बन जाता है ? तो इसी प्रकार शब्द एक है पर वह व्यापक होने से विभिन्न देशादि मे भेद रूप उपलब्ध होता है ऐसा मानना चाहिये ! क्योकि जो धर्म प्रत्यक्ष सिद्ध होता है वह सर्वथा स्वीकार करने योग्य होता है ।।४।। इस प्रकार शब्द में एकपना तथा नित्यपना सिद्ध होता है ।

जैन— अब यहा पर मीमासक के मतव्य का खण्डन किया जाता है—शब्द नित्य है, क्योकि अर्थ प्रतिपादकत्व की अन्यथानुपपत्ति है । यह मीमासक का अनुमान अयुक्त है, वाच्य वाचक सबध सादृश्यता से जाना जाता है अत. अनित्य शब्द भी अर्थ का प्रतिपादक होना सभव है, जैसे धूम आदि पदार्थ अनित्य होकर भी अग्नि को सिद्ध करते है । ऐसा नियम नही है कि जिस शब्द मे वाच्य वाचक सबध को जाना था वही अर्थ की प्रतीति करा सकता है, देखा जाता है कि धूम को महानस मे देखा था वह तो अब पर्वतादि मे नही है उसके सदृश धूम है फिर भी उस धूम से अग्निका अनुमान होता है । ऐसा तो है नही कि जो धूम महानस मे उपलब्ध हुआ था वही धूम पर्वतादि

प्रतीति कर्त्तव्येति नियमोस्ति,' महानसदृष्टधूमसदृशादपि, पर्वतधूमादग्निप्रतिपत्त्युपलम्भात् । न हि महानसप्रदेशोपलब्धैव धूमव्यक्तिरन्यत्राप्यग्निं गमयति, सदृशपरिणामाक्रान्तव्यक्त्यन्तरस्य तद्गमकत्वप्रतीते, अन्यथा सर्वस्य सर्वगतत्वानुषग । सदृशपरिणामप्रधानतया च साध्यसाधनयो' सम्बन्धावधारणम् । न ह्यनाश्रितसमानपरिणतीना निखिलधूमादिव्यक्तीना स्वसाध्येनाऽर्वाग्दृशा सम्बन्ध शक्यो ग्रहीतुम्, असाधारणरूपेण तस्य तासामप्रतिभासनात्, अथ धूमसामान्यमेवाग्निप्रतिपत्तिकारणम्, न, व्यक्तिसादृश्यव्यतिरेकेण तदसम्भवात् । न च 'धूमत्वान्मया प्रतिपन्नोग्नि' इति प्रतिपत्ति, किन्तु धूमात् । सा च सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयो सम्बन्धग्रहणे घटते । न तु धूमाग्निसामान्ययोरवश्य

पर अग्नि को सिद्ध करता हो ? वहा तो महानस के समान परिणाम वाला अन्य कोई दूसरा ही धूम विशेष है वही साध्य का गमक होता है । अन्यथा सभी वस्तु सर्वगत व्यापक बैठेगी ? अर्थात् महानस का धूम ही पर्वत पर है उसके सदृश अन्य नही हैं ऐसा कहा जाय तो उसका मतलब धूम सर्वत्र व्यापक एक है ? इस तरह तो घट पट आदि सभी विषय मे कहेगे कि यह वही है इत्यादि फिर सभी पदार्थ सर्वगत ही कहलायेंगे ? साध्य साधन के सबध को जानने के लिये सदृश परिणाम ही प्रधानता से कारण होता है । यदि धूम आदि पदार्थ समान परिणाम से रहित हैं तो अल्पज्ञानी पुरुष अग्निरूप स्वसाध्य के साथ उनका जो अविनाभाव सबध है उसको जान नही सकते, क्योंकि अल्पज्ञानी को उन धूमादि निखिल पदार्थोका असाधारण रूप से प्रतिभास नही होता है ।

मीमासक—सामान्य धूम ही अग्नि का ज्ञान करा देता है ?

जैन—विशेष धूम मे पाया जाने वाला जो सादृश्य है वही सामान्य धूम कहलाता है, उससे अन्य तो कुछ है नही, अर्थात् महानस पर्वत आदि स्थान विशेष के धूमो मे जो समानता पायी जाती है वही धूम सामान्य है, अन्य कोई व्यापक, एक, नित्य ऐसा धूम सामान्य नही होता है । तथा जब कोई पुरुष पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का ज्ञान कर लेता है तब मैंने धूमत्व सामान्य से अग्नि को जाना ऐसा प्रतिभास नही होता किन्तु "धूम से अग्नि जानी" ऐसा ही प्रतीत होता है । यह प्रतिभास धूम और अग्नि मे जो सामान्य परिणाम से युक्त व्यक्ति स्वरूप रहता है उसका सबध जानने पर ही हो सकता है । तथा धूम सामान्य और अग्नि सामान्य मे जो अनुमापक और अनुमेयत्व रहता है उन धूम अग्नि मे अवश्य सामान्य से युक्त विशेष रूपता है

चानुमेयानुमापकयोः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या, अन्यथा सामान्यमात्रस्य दाहाद्यर्थक्रिया-साधकत्वाऽभावात् ज्ञानाद्यर्थक्रियायाश्चतत्साध्यायास्तदैवोत्पत्तेः, दाहाद्यर्थिनामनुमेयार्थप्रतिभासात् प्रवृत्त्यभावतोऽस्याप्रामाण्यप्रसग । सामान्यविशिष्टविशेषरूपता चात्र वाच्यवाचकयोरपि समाना न्यायस्य समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्—

"सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत्तद्द्वारेणाप्यवाचक ।
कस्य चैकस्य सादृश्यात्कल्प्यता वाचकोऽपर' ॥१॥

ऐसा नही समझना, यदि ऐसा मानेंगे तो सामान्य के दहन पचन आदि अर्थ क्रिया का अभाव होने से उससे साधने योग्य जो ज्ञानादि अर्थ क्रिया थी वह उसी अनुमान के वक्त ही उत्पन्न हो जायगी, फिर दहन पचन आदि कार्य को चाहने वाले पुरुष के अनुमेय अर्थका (अग्निका) प्रतिभास होने से जो प्रवृत्ति होती है वह नहीं हो सकेगी अत सामान्य तो अप्रमाणभूत बन जायगा ? जो यह धूम और अग्नि की बात है वही शब्द और अर्थ के वाच्य वाचकपने की है ? न्याय तो सर्वत्र समान होता है । इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि मीमासक शब्द को सर्वत्र एक मानकर उसमे पदार्थ का वाचकपना होना बतलाते हैं सो इस तरह फिर धूम के विषय मे भी कह देंगे कि धूम सर्वत्र एक है पर्वत आदि मे वही एक रहता है और साध्य को सिद्ध कर देता है ? किंतु ऐसा नही है महानस का धूम ही पर्वत पर नही होता किन्तु उसके समान अन्य ही होता है इसी तरह इस घट वाच्य का यह 'घ' 'ट' शब्द वाचक होता है ऐसा सकेत ग्रहण किया उस काल मे और पुन घट शब्द सुनकर घट का ज्ञान हुआ तब इन दोनो समयो मे एक ही घट शब्द नही होता किन्तु उसके समान दूसरा ही रहता है, ऐसा प्रतीति के अनुसार मानना चाहिए ।

मीमासक के यहा पर कहा है कि—जो लोग सकेत काल का शब्द और व्यवहार का शब्द एक नही है किन्तु सकेतकाल के शब्द के समान दूसरा ही कोई नया शब्द व्यवहार काल मे रहता है उस सदृश शब्द से ही अर्थ प्रतीति होती है, ऐसा मानते है वह ठीक नही क्योंकि व्यवहार कालीन नया शब्द पदार्थ का वाचक नही बन सकता क्योकि यदि जिसमें सकेत नही हुआ है ऐसा शब्द भी अर्थ का वाचक होता है तो किसी एक की सदृशता से अन्य किसी का वाचकपना होना भी स्वीकार करना होगा ?

अदृष्टसगतत्वेन सर्वेषा तुल्यता यदा ।
अर्थवान्पूर्वदृष्टश्चेत्तस्य तावान्क्षण कुतः ॥३॥
द्विस्तावानुपलब्धो हि अर्थवान्सम्प्रतीयते ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-२५०]

इत्यादि, तदप्यसारम्; अनुमानवार्त्तोच्छेदप्रसगात् । धूमादिलिंगात्पूर्वोपलब्धधूमादिसादृश्यतो ग्न्यादिसाध्यप्रतिपत्तावप्यस्य सर्वस्य समानत्वात् ।

एतेनैवमपि प्रत्युक्तम्—

"शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्धकरण कुतः ।
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५६] इत्यादि ।

यतोऽदृष्टे धूमे सम्बन्धो न शक्यते कर्त्तुम् । नापि दृष्टनष्टस्यास्य सम्बन्धेन प्रयोजन किञ्चित् ।

शब्द तो सभी समान है कोई सकेत सबध की जरूरत तो नही रही ? यदि कहा जाय कि जिसमे पहले सकेत हुआ है वह शब्द अर्थ प्रतीति कराता है, तो प्रश्न होता है कि शब्द का उतने क्षण तक स्थिर रहना कैसे हुआ ? कम से कम दो बार वही शब्द उपलब्ध हो तब जाकर सकेत होना और अर्थ प्रतीति करना शक्य है ॥१॥२॥ इत्यादि, सो यह कथन बेकार है । इस तरह तो अनुमान की बात ही खतम हो जायगी ? इसी का खुलासा करते है—पहले रसोई घर मे धूम को देखा फिर उसके समान पर्वत पर धूम देखा उस सदृश धूम द्वारा अग्निका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह नही हो सकेगा ? वहां भी कह सकेगे कि रसोई घर मे जो धूम देखा था वह तो पर्वत पर नही है अत उससे अग्निका अनुमान ज्ञान नही हो सकता इत्यादि ।

मीमासक ने और भी कहा है कि—शब्द का उच्चारण जब तक नही करते तब तक उसका वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध कैसे जोडे ? और उच्चारण कर भी लेवे तो वह उच्चारण करते ही नष्ट हो जाता है तब उसका सम्बन्ध जोडने से लाभ ही क्या हुआ ? कुछ भी नही ॥१॥ इस कथन के प्रत्युत्तर मे हम जैन कहेगे कि धूम को विना देखे तो उसका अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है उसको जान नही सकते और धूम जब तक देख लेते हैं तब तक वह खतम हो ही जाता है तब उसका अग्निसे सम्बन्ध जोडना ही व्यर्थ है ?

यच्च सादृश्ये दूषणमुक्तम्—

"तथा भिन्नमभिन्न वा सादृश्य व्यक्तितो भवेत् ।
एवमेकमनेक वा नित्य वानित्यमेव वा ॥१॥

भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता ।
व्यक्त्यऽनन्यदर्थेक च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥२॥

व्यक्तिनित्यत्वमापन्न तथा सत्यस्मदीहितम् ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१–२७३] इत्यादि,

तदप्ययुक्तम्, स्वहेतोरेकस्य हि यादृशः परिणामस्तादृश एवापरस्य सादृश्यम्, न तु स एव । स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च, तथाप्रतीते । न च जातिस्तथाभूता, नित्यव्यापित्वेनाभ्युपगमात् ।

भावार्थ—यहा पर आचार्य मीमासक को समझा रहे है कि यदि आप सकेत कालीन शब्द को एक ही मानकर अर्थ प्रतीति होना स्वीकार करते हो तो रसोई घर का धूम और पर्वत का धूम दोनो धूमो को एक मानकर उसके द्वारा अग्नि का ज्ञान होना स्वीकार करना होगा ? यदि मीमासक कहे कि ऐसी बात कैसे स्वीकार करे ? वह तो पृथक ही धूम होता है रसोई घर का धूम पर्वत पर कैसे आया ? सो यही बात शब्द के विषय मे है, संकेत काल के शब्द और व्यवहार काल के शब्द अलग अलग ही है । जिस प्रकार रसोई घर के धूम के सदृश पर्वत का धूम होने से उससे अग्नि का ज्ञान होना स्वीकार करते है उसी प्रकार सकेत काल के शब्द सदृश व्यवहार काल के शब्द होने से उससे अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा मानना चाहिए ।

सादृश्य धर्म मे दूषण देते हुए मीमासक के यहा कहा जाता है कि सादृश्य धर्म व्यक्ति से (विशेष से) भिन्न होता है या अभिन्न ? एक होता है या अनेक ? यदि अनेक रूप है तो वह भी नित्य है कि अनित्य ? यदि सादृश्य को व्यक्ति से भिन्न और सर्वथा नित्य मानते है तव तो वह सामान्य ही कहलायेगा ? तथा यदि व्यक्ति से अभिन्न, एक नित्य मानते हैं तो व्यक्ति भी नित्य वन जायगा ? क्योकि उससे अभिन्न जो सादृश्य है वह नित्य है, इस तरह हमारा इष्ट तत्व ही सिद्ध होता है ॥१॥२॥

भावार्थ यह है कि हम मीमासक शब्द मे सादृश्य को न मानकर एकत्व मानते है, जैन शब्द को अनित्य मानते हैं अत- वे वाच्य वाचक सबध को सादृश्यता के

तथाभूताश्चास्या सामान्यनिराकरणे निराकरिष्यमाणत्वात् । तत प्रवृत्तिमिच्छता लिंगाच्छब्दाद्वा न सामान्यमात्रस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या ।

ननु सामान्यस्य विशेषमन्तरेणानुपपत्तितो लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तेर्न प्रवृत्त्याद्यभावानुषग ; इत्यप्रातीतिकम्, क्रमप्रतीतेरभावात् । न हि वाचकोद्भूतवाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यावभास पश्चाद्विशेषप्रतिभास इत्यनुभवोस्ति ।

आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह सादृश्य तो सामान्य रूप सिद्ध होता है, क्योकि सादृश्य को अनेक तथा अनित्य मानेगे तो उससे शब्द का वाच्यार्थ के साथ सबध सिद्ध नही हो पाता है और अनेक एव नित्य स्वभाव रूप सादृश्य मानते हैं तो एक ही सादृश्य द्वारा अर्थ प्रतीति हो जाने से अनेक निष्ठ सादृश्य मानने की जरूरत नही रहती है, इत्यादि ? सो यह वर्णन अयुक्त है । जो बात शब्द के सादृश्य के विषय मे कही वही बात धूम आदि हेतु के विषय मे कही जायगी, धूमादि एक हेतु का जैसा परिणाम है वैसा दूसरे धूमादि का भी परिणाम होना सादृश्य कहलाता है न कि उसी एक के परिणाम को सादृश्य कहते है । यह जो सादृश्य परिणाम है वह व्यक्तियो से (धूम विशेषो से) कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है, क्योकि उसी तरह की प्रतीति आती है यह सब सादृश्य की बात है, ऐसी बात सामान्य मे घटित नही होती, उस सामान्य को तो आप नित्य व्यापक मानते हैं ? और ऐसे नित्य सामान्य का हम जैन आगे निराकरण करने वाले हैं । इसलिये प्रवृत्ति को चाहने वाले पुरुष को हेतु से या शब्द से मात्र सामान्य प्रतिभास होता है ऐसा नही मानना चाहिये ।

शका—सामान्य तो विशेष के बिना होता ही नही अत· लक्षित लक्षण न्याय से अर्थात् सामान्य के प्रतिभासित हो जाने से विशेष का प्रतिभास भी हो जाता है ऐसा हम मानते है इसलिये प्रवृत्ति होना इत्यादि का अभाव होवेगा ऐसा जो दूषण दिया था वह नही आता है ?

समाधान—यह कथन प्रतीति विरुद्ध है, ऐसी क्रमिक प्रतीति नही होती कि वाचक शब्द से उत्पन्न हुआ वाच्य का जो प्रतिभास है उसमे पहले सामान्य प्रतीत होता हो और पीछे विशेष प्रतीत होता हो ।

किञ्च, सामान्याद्विशेष. प्रतिनियतेन रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा ? न तावदाद्य पक्षः, प्रतिनियतरूपतयाऽस्याऽप्रतीते । न हि शब्दोच्चारणवेलाया जातिपरिमितो विशेषोऽसाधारणरूपतयाऽनुभूयते प्रत्यक्षप्रतिभासाऽविशेषप्रसङ्गात् । प्रतिनियतरूपेण जातेरविनाभावाभावाच्च कुतस्तया तस्य लक्षणम् ? नापि द्वितीय, साधारणरूपतया प्रतिपन्नस्यापि विशेषस्यार्थक्रियाकारित्वाऽसामर्थ्येन प्रवृत्त्यहेतुत्वात्, प्रतिनियतरयैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धे । पुनरपि साधारणरूपतातो विशेषप्रतिपत्तावनवस्था स्यात् । साधारणरूपतया चातो विशेषप्रतिपत्तौ सामान्यात्सामान्यप्रतिपत्तौ सामान्यप्रतिपत्तिरेव स्यान्न विशेषप्रतिपत्ति, साधारणरूपताया. सामान्यस्वभावत्वात् ।

किञ्च, यदि नाम शब्दाज्जाति. प्रतिपन्ना व्यक्ते किमायातम्, येनासौ ता गमयति ? तयो सम्बन्धाच्चेत्, सम्बन्धस्तयोस्तदा प्रतीयते, पूर्वं वा ? न तावत्तदा, व्यक्तेरनधिगते 'जातिरेव हि

दूसरी बात यह है कि आपने जो सामान्य से विशेष का प्रतिभास होना बतलाया वह प्रतिनियत रूप द्वारा लक्षित होता है अथवा साधारण रूप द्वारा लक्षित होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, प्रतिनियत रूप से विशेष का प्रतिभास होता हुआ देखा नही गया है, इसी का खुलासा करते है—जब शब्द का उच्चारण कर रहे है उस समय जाति परिमित विशेष असाधारण रूप से अनुभव मे नही आता, यदि आता तो दोनो का (सामान्य विशेष का) अविशेष रूप से प्रत्यक्ष प्रतिभास हो जाता, तथा प्रतिनियत रूप के साथ सामान्य का अविनाभाव होता ही नही अत उसके द्वारा विशेष का ज्ञान कैसे होगा ? दूसरा पक्ष—साधारण रूप से सामान्य द्वारा विशेष लक्षित किया जाता है ऐसा मानना भी ठीक नही है । मात्र साधारण रूप से जाना हुआ जो विशेष है उससे अर्थ क्रिया होना शक्य नही, अत वह प्रवृत्ति का हेतु बन नही सकता, प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य तो प्रतिनियत रूप मे ही होती है । यदि साधारण रूप से विशेष को जानकर फिर विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माना जाय तब तो अनवस्था होवेगी । तथा साधारण रूप से सामान्य के द्वारा विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माने तो सामान्य से सामान्य की प्रतिपत्ति हुई ऐसा ही कहलायेगा ? विशेष की प्रतिपत्ति तो होवेगी नही ? क्योंकि साधारण रूप तो सामान्य स्वभाव वाला ही होता है ।

यह भी बात है कि शब्द से जाति सामान्य जानी भी गई तो उससे व्यक्ति का (विशेष का) क्या हुआ, जिससे वह व्यक्ति को बतला देवे ? जाति और व्यक्तिका सम्बन्ध है अत. जाति को जानने से व्यक्ति का जानना भी हो जाता है ? ऐसा कहना

केवला तदा प्रतिभासते' इत्यभ्युपगमात्, अन्यथा किं लक्षितलक्षणया ? न च व्यक्त्यनधिगमे तत्संबंधाधिगम, द्विष्ठत्वात्तस्य। अथ पूर्वमसौ प्रतीतः तथापि तदेवासौ भवतु। न ह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदाप्यसौ भवत्यतिप्रसङ्गात्। न च जातेर्विशेषनिष्ठैव स्वरूपम्, व्यक्त्यन्तराले तत्स्वरूपाऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तत्कथ व्यक्त्यऽविनाभावोऽस्या ?

किंच, सर्वदा जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत्किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः, सर्वव्यक्तीना युगपदप्रतिभासनात्। न च तासामप्रतिभासे तथा सबधावसायोऽतिप्रसगात्। नापि द्वितीय, क्रमेण निरवधे सकलव्यक्तिपरम्पराया परिच्छेत्तुमशक्तेः। कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताधिगमे सर्वत्र सर्वदा न तन्निष्ठताधिगम स्यात्। तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्त-

---

भी ठीक नही, उन दोनो का सम्बन्ध कब जाना जाता है, जब शब्द से जाति जानी है उसी वक्त या पहले ? उसी वक्त अर्थात् शब्दोच्चारण के समय ही जाना जाता है, कहो तो गलत है, उस वक्त सिर्फ जाति (सामान्य) प्रतीत होती है ऐसा आप स्वय मानते है तथा यदि शब्दोच्चारण के समय मे ही सामान्यवत् विशेष भी जाना जाता है तो उस सामान्य को लक्षित लक्षणा कैसे कहा है ? "लक्षितेन (ज्ञानेन) सामान्येन लक्षणा—विशेष प्रतिपत्ति तया" इस प्रकार 'लक्षित लक्षणा' शब्द की निष्पत्ति है। अर्थात् सामान्य के ज्ञात होने पर उससे विशेष के जानने को लक्षित लक्षणा कहते हैं, अत. दोनो को एक साथ जाना है ऐसा नही कह सकते। जब विशेष को उस समय जाना ही नही तब दोनो का सम्बन्ध भी कैसे जाने ? सबध तो दो मे होता है ? दूसरा पक्ष—शब्दोच्चारण के पहले ही दोनो का सबध जाना हुआ रहता है ऐसा कहो तो जिस समय उस सबध को जाना था उस समय ही वह रहे ? अन्य समय मे उसको क्यो माने ? एक किसी काल मे सबध को जान भी लेवे तो उसको अन्य काल मे नही जोडना चाहिए ? अन्यथा अतिप्रसग आयेगा ? घट पट का एक बार सबध देखा या जाना तो उनको हमेशा संबधित ही मानना पडेगा ? मात्र विशेष मे निष्ठ रहना ही सामान्य का लक्षण नही है। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति व्यक्ति के अतराल मे सामान्य के स्वरूप का अभाव होने का प्रसग आता है। अत सामान्य का विशेष के साथ अविनाभाव है यह किस प्रकार कह सकते है ?

तथा सामान्य सर्वदा विशेप मे निष्ठ रहता है ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कि अनुमान से प्रतीत होता है यह बताना होगा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कहो तो दोनो को एक साथ जानते हैं कि क्रम से प्रथम पक्ष कहना गलत होगा क्योकि सब

न्निष्ठताधिगम । नाप्यनुमानेन, अस्याऽध्यक्षपूर्वकत्वेनाभ्युपगमात् । तस्य चात्राऽप्रवृत्तावनुमानस्याप्य-प्रवृत्तिः । तन्न लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तिः सम्भवति, इति वाच्यवाचकयोः सामान्यविशिष्टविशेष-रूपतोपगन्तव्या धूमादिवत् ।

ननु धूमादेः सामान्यसद्भावात्तद्विशिष्टस्योक्तन्यायेन गमकत्वमस्तु, शब्दे तु तस्याभावात्कथं तद्विशिष्टस्य गमकत्वम् ? तदभावश्च वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसन्धानाभावात् । यत्र हि सामा-न्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसन्धानं दृष्टं यथा शाबलेयग्रहणे बाहुलेयस्य । वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसन्धानम्, तदसाम्प्रतम्, गादौ हि वर्णान्तरे गृह्यमाणे यदि 'अयमपि

विशेषो का एक साथ प्रतिभास नही होता है । सभी विशेषो को जाने बिना उनका सामान्य के साथ सदा रहने वाला सबंध भी नही जाना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसग होगा । सामान्य विशेष मे निष्ठ है ऐसा प्रत्यक्ष द्वारा क्रम से प्रतिभासित होता है इस तरह का दूसरा पक्ष भी ठीक नही क्योकि व्यक्तिया असख्य है उनको क्रम से जानना शक्य नही है । सामान्य का विशेष मे निष्ठ रहना क्वचित् कदाचित् जानने मे आता है ऐसा कहे तो सर्वत्र हमेशा सामान्य विशेप मे निष्ठ रहता है इस प्रकार का ज्ञान नही हो सकेगा । इसलिये निर्णय हुआ कि प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य का विशेष मे निष्ठ रहना नही जाना जाता । अनुमान के द्वारा भी वह निष्ठता ग्रहण मे नही आती क्योकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक होता है जब इस विषय मे प्रत्यक्ष प्रवृत्त नही होता तो अनुमान भी प्रवृत्त नही होगा । अत लक्षित लक्षणा से विशेष की प्रतिपत्ति होना सभव नही है । इस प्रकार वाच्य वाचक मे सामान्य से विशिष्ट विशेष रूपता रहती है ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है, जैसे धूम आदि हेतु मे मानी है ।

मीमासक—धूम आदि मे तो सामान्य का सद्भाव है, अत. वह उस विशिष्ट साध्य का गमक हो सकता है, किन्तु शब्द मे तो सामान्य का सद्भाव नही है अतः वह उस विशिष्ट अर्थ का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है ? शब्द मे सामान्य का अभाव इसलिये है कि किसी वर्ण को ग्रहण करते हैं तो उसमे अन्य वर्ण का अनुसधान नही दिखायी देता है, जहा पर सामान्य रहता है वहा पर एक को ग्रहण करते ही अन्य का अनुसधान होता हुआ देखा जाता है, जैसे शावलेय ग्रहण करने पर वाहुलेय का ग्रहण हो जाता है, वर्णान्तर ग्रहण मे ऐसी बात नही होती, गकार आदि के ग्रहण हो जाने पर भी ककार आदि ग्रहण मे नही आते है अत. इनमे अनुसधान का अभाव है ।

वर्णं' इत्यनुसन्धानाभावः सोऽसिद्ध, तथानुभू(तथाभू)तानुसन्धानस्यानुभूयमानत्वेनाऽभावासिद्धेः। अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादि.' इत्यनुसन्धानाभावान्न सामान्यसद्भाव, तर्हि शाबलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि बाहुलेय' इत्यनुसन्धानाभावाद्गोत्वस्याप्यभावः। अथ 'गौर्गौ' इत्यनुगताकारप्रत्ययसद्भावान्न गोत्वाऽसत्त्वम्, तदन्यत्रापि समानम्–तत्रापि हि 'वर्णो वर्णः' इत्यनुगताकारप्रत्ययोऽस्तु, तत्कथ वर्णेषु वर्णत्वस्य गादिषु गत्वादे शब्दे शब्दत्वस्याभाव. निमित्ताऽविशेषात्? तथाहि-समानासमानरूपासु व्यक्तिषु क्वचित् 'समाना' इति प्रत्ययोऽन्वेत्यन्यत्र व्यावर्त्तते। यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था, नान्यत्र। सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपि समानेति कथ न तत्र सामान्यव्यवस्था? तथाप्यत्र सामान्यानभ्युपगमे शाबलेयादावपि सोऽस्तु। न हि

जैन—यह कथन गलत है, जब ग आदि वर्णान्तर का ग्रहण होता है तब "यह भी वर्ण है" ऐसा अन्य वर्ण मे अनुसधान का अभाव करना चाहते हैं तो वह असिद्ध है क्योकि ऐसा अनुसधान होते हुए अनुभव मे आ रहा है। अभिप्राय यह हुआ कि कोई एक विवक्षित गत्व है उसमे अन्य कत्व आदि तो नही है किन्तु वर्णपने की समानता तो है ही अत उनमे वर्णत्व सामान्य का अनुसधान तो अवश्य होगा।

शका–गकार आदि वर्णान्तर के ग्रहण करते समय "यह भी क आदि वर्ण है" ऐसा अनुसधान नही होता अत उनमे सामान्य का सद्भाव नही मानते?

समाधान—तो फिर शाबलेय आदि मे अन्य व्यक्ति को ग्रहण करते समय यह भी बाहुलेय है ऐसा अनुसधान नही होने से उसमे गोत्व का अभाव होवेगा।

शका—शाबलेय, बाहुलेय आदि गायो मे गो है गो है ऐसा अनुगत प्रत्यय पाया जाता है अत उनमे गोत्व सामान्य का अभाव नही होता है।

समाधान—ठीक है, यही बात शब्द के विषय मे है "यह वर्ण है यह वर्ण है" इस प्रकार वर्णों मे भी अनुगत प्रत्यय होता है, अत आप निमित्त की अविशेषता होते हुए भी वर्णों मे वर्णत्व ग आदि मे गत्व, शब्द मे शब्दत्व का अभाव किस प्रकार मानते है? अर्थात् जैसे गो मे अनुगत प्रत्यय होता है, वैसे वर्णों मे भी अनुगत प्रत्यय होता ही है। समान और असमान रूप वाले व्यक्तियो मे कही तो समान हैं ऐसा अनुगत प्रत्यय होता है और अन्यत्र वह प्रत्यय नही होता, जहा पर समान प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है वहीं पर सामान्य की व्यवस्था होती है अन्यत्र नहीं। ऐसी प्रत्ययो की अनुवृत्ति ग आदि वर्ण मे भी पायी जाती है, फिर उनमें सामान्य की व्यवस्था क्यो

तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यन्निमित्तमुत्पश्याम । यदि चात्राऽनुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविषयत्वे ऽत्यपि गत्वादेरभाव , तर्हि गादेरपि व्यावृत्तप्रत्ययविषयस्याभाव: स्यात् । तथा च कस्य दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यत्व साध्येत ?

यच्चोक्तम्—'सादृश्येन ततोऽर्थाप्रतिपत्ते' इति, तत्सदृशपरिणामलक्षणसामान्यविशिष्टव्यक्ते-'रर्थप्रतिपादकत्वसमर्थनात्प्रत्युक्तम् ।

यदप्यभिहितम्–सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्त. शाब्द प्रत्यय स्यात्, तद्धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तौ समानम् ।

यदप्युक्तम्–'गत्वादीना वाचकत्व गादिव्यक्तीना वा' इत्यादि, तत्सामान्यविशिष्टव्यक्तेर्वाचकत्वसमर्थनादेव प्रत्युक्तम् ।

नही की जाय ? यदि नही करते तो शाबलेय आदि मे भी गोत्व सामान्य को नही मानना चाहिए । क्योकि गायो मे भी अनुगत प्रत्यय के बिना अन्य किसी निमित्त से गोत्व सामान्य की व्यवस्था होती हुई दिखायी नही देती । यदि आप मीमासक गत्व आदि मे ईन्द्रियो से गम्य, अबाधित ऐसा अनुगताकार प्रत्यय होते हुए भी उन शब्दो मे गत्व आदि का अभाव मानते हैं, तो गकार आदि का जो कि व्यावृत्त प्रत्यय का विपय है उसका भी अभाव मानना होगा । इस तरह उसका अभाव सिद्ध होने पर किसका उच्चारण करेगे तथा "दर्शनस्य परार्थत्वात्" इत्यादि सूत्र द्वारा किस शब्द का नित्यपना साधा जायगा ।

तथा मीमासक ने कहा था कि वर्णों की सदृशता से अर्थ बोध नही होता किन्तु एकत्व से होता है, इत्यादि सो इस विषय का समाधान सदृश परिणाम है लक्षण जिसका ऐसे सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति से अर्थ प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्ध करने से ही हो जाता है, अर्थात् गकार आदि वर्णों मे सदृश सामान्य रहता है उसी से पदार्थ का ज्ञान होता है न कि वही पहले सकेत काल के सुने हुए शब्द से । आपने कहा था कि सकेत काल के शब्द द्वारा अर्थ बोध न होकर उसके सदृश अन्य शब्द द्वारा अर्थ बोध होगा तो वह ज्ञान भ्रात कहलायेगा । सो उसका समाधान धूम से होने वाले अग्नि के ज्ञान के दृष्टात से हो जाता है, जैसे रसोई घर का धूम पर्वत पर नही रहता किंतु उसके सदृश रहता है और उस सदृश धूम से होने वाला अग्नि का ज्ञान सत्य-

यच्चोक्तम्—'यो यो गृहीत.' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, पक्षस्यानुमानवाधितत्वात् । तथाहि-अनेको गोशब्द एकेनैकदा भिन्नदेशस्वभावतयोपलभ्यमानत्वाद् घटादिवत् । न चानेकप्रतिपत्तृभिर्भिन्न-देशतयोपलभ्यमानेनादित्यादिना, कालभेदेन भिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेन देवदत्तेन वा व्यभिचार, 'एकेनैकदा' इति विशेषणद्वयोपादानात् । एकेनैकदा दर्शनस्पर्शनाभ्या भिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेन घटादिना वा, 'भिन्नदेशतया' इति विशेषणात् । जलपात्रसक्रान्तादित्यादिप्रतिविम्बैस्तद्व्यभिचार., तेषामग्रेऽनेकत्वप्रसाधनात् । तथाप्यत्र सर्वगतत्वादिधर्मसम्भवे घटादावपि सोऽस्तु—

'न चास्याऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागश ।
घटो वर्त्तत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च स ॥''

कहलाता है वैसे ही सकेत कालीन शब्द व्यवहार काल मे नही रहते हुए भी उसके सदृश अन्य शब्द के द्वारा घट आदि पदार्थ का होने वाला ज्ञान सत्य कहलाता है ।

पहले कहा गया था कि जो जो शब्द ग्रहण किया है वही सर्वत्र देशो में विद्यमान है इत्यादि, किन्तु यह कथन अयुक्त है, इस पक्ष में अनुमान से बाधा आती है—गो शब्द अनेको हैं, क्योकि एक ही पुरुष द्वारा एक काल में विभिन्न देश तथा स्वभाव से उपलब्ध होते है, जैसे घट आदि पदार्थ विभिन्न देशो मे विभिन्न स्वभावो में उपलब्ध होते है तो उन्हे अनेक मानते है । अनेक देश तथा स्वभावो से उपलब्ध होना रूप जो हेतु है वह जानने वाले अनेक व्यक्तियो द्वारा विभिन्न देशो मे उपलब्ध होने वाले सूर्य से अनैकान्तिक नही होता है, तथा काल भेद से भिन्न देशो मे उपलब्ध होने वाले देवदत्त के साथ भी अनैकान्तिक नही होता है । इन्ही दो व्यभिचारो को दूर करने के लिये एक पुरुष द्वारा, और एक समय मे इस प्रकार के दो विशेषण हेतु मे जोड दिये हैं । तथा ये दो विशेषण होते हुए भी दर्शन और स्पर्शन की अपेक्षा भेद स्वभाव रूप से उपलब्ध होने वाले घटादि के साथ हेतु व्यभिचरित होता था अत "भिन्न देशतया" यह तीसरा विशेषण ग्रहण किया है । इस हेतु मे कोई शका उपस्थित नही करना कि अनेक जल पात्रो मे सक्रामित हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के साथ व्यभिचार आता है, क्योकि इन प्रतिबिम्बो के विषय मे आगे सिद्ध करने वाले हैं कि वे जल पात्रो मे स्थित प्रतिबिम्ब अनेक हैं । इस प्रकार निर्दोष हेतु से शब्द मे अनित्यपना तथा अव्यापकपना सिद्ध हो जाता है, तो भी आप मीमासक पक्ष व्यामोह के कारण शब्द मे सर्वगतत्व आदि धर्म मानते हैं तो घट पट आदि पदार्थों मे भी सर्वगतत्व आदि धर्म

इत्यादेरत्राप्यभिधातुं शक्यत्वात् । यथा च—

क्वचिद्रक्त क्वचित्पीत क्वचित्कृष्णश्च गृह्यते ।
प्रतिदेश घटस्तेन विभिन्नो मम युक्तिमान् ॥

तथा—

उदात्त कुत्रचिच्छब्दोऽनुदात्तश्च तथा क्वचित् ।
अकारो मि(कारभि)श्रितोऽन्यत्र विभिन्न स्याद् घटादिवत् ॥

ननु 'व्यञ्जकध्वनिधर्मा एवोदात्तादयो नाऽकारादिधर्मा, ते तु तत्रारोपात्तद्धर्मा इवावभासन्ते जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिकादाविति । उक्तञ्च—

"बुद्धितीव्रत्वमन्दत्वे महत्त्वाल्पत्वकल्पना ।
सा च पट्वी भवत्येव महातेज प्रकाशिते ॥१॥
मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादावपि सर्वदा ।
एव दीर्घादयः सर्वे ध्वनिधर्मा इति स्थितम् ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१९-२२०]

मानने होगे ? कोई कह सकता है कि–घट के अवयव नही होते है जिससे कि वह खण्ड खण्ड रूप से सर्वत्र रह जाय, अत. "घट है" इत्यादि वाक्य का अर्थ घट पूर्ण रूप से एक जगह विद्यमान है ऐसा ही होता हैं न कि सर्वत्र विद्यमान ऐसा । घट कही पर लाल, कही पीला, कही काला दिखाई देता है अत. वह प्रतिदेश मे विभिन्न है ऐसा कहना यदि युक्ति सगत है तो शब्द कही तो उदात्त अकार रूप उपलब्ध होता है कही अनुदात्त अकाररूप और कही उभयरूप उपलब्ध होता है, अत शब्द भी घट आदि के समान प्रतिदेश मे विभिन्न है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिये ।

मीमासक —आपने जो उदात्त आदि भेद किये वे शब्द के न होकर व्यञ्जक ध्वनियो के है, व्यञ्जक ध्वनियो के धर्मो का शब्द मे आरोप होता है अत शब्द के है ऐसा मालूम पडता है, जैसे कि स्फटिक मे स्वय मे लालिमा नही है किन्तु जपा कुसुम की लालिमा आरोपित होने से स्फटिक की है ऐसा मालूम पडता है । कहा भी है— महान प्रकाश के होने पर तीव्र बुद्धि होती है और अल्प प्रकाश के होने पर मन्द बुद्धि होती है ऐसी बुद्धि मे तीव्र मन्द की कल्पना करते हैं, तथा मद प्रकाश मे घट मद दिखता है और तीव्र प्रकाश मे तीव्र दिखायी देता है सो मन्द तीव्र धर्म प्रकाश के थे किन्तु उसका आरोप घट आदि में करते हैं वैसे ही दीर्घ, ह्रस्व, उदात्त, अनुदात्त, इत्यादि धर्म ध्वनियो के है किन्तु उनका शब्दो मे आरोप किया जाता है ।

तदप्यसारम्, यतो यद्युदात्तादिधर्मरहितोऽकारादिस्तत्सहितश्च ध्वनि· रक्तेतरस्वभावजपाकुसुमस्फटिकवत् क्वचिदुपलब्धः स्यात् तदा स्यादेतत् 'अन्यधर्मस्तदारोपात्तद्धर्मतयेवावभाति' इति। न चासौ स्वप्नेपि तथोपलभ्यते। शब्दधर्मतया चैते प्रतीयमाना यद्यन्यस्येष्यन्तेऽन्यत्र क समाश्वासहेतु ? बाधकाभावश्चेत्सोत्रापि समान। विपरीतदर्शन हि बाधकम्, यथा द्विचन्द्रदर्शनस्यैकचन्द्रदर्शनम्। न चात्र तदस्ति–उदात्तादिधर्मात्मकस्यैवाकारादे सर्वदा प्रतीते। तथापि तत्कल्पने रक्तादिधर्मरहितस्य घटादेर्दर्शन तथैव कल्प्यताम्। तथाविधस्यानुपलम्भादसत्त्वम्, शब्देपि समानम्।

किञ्चेद बुद्धेस्तीव्रत्व नाम ? किं महत्त्वरहितस्यार्थस्य महत्त्वेनोपलम्भ, यथाऽवस्थितस्याऽत्यन्तस्पष्टतया वा ? प्रथमे विकल्पे भ्रान्तताऽस्या· स्यात्। 'सा च पट्वी भवत्येव महातेज प्रकाशिते

जैन—यह कथन असार है, आप जैसा कह रहे हैं वैसा उदात्त आदि धर्म रहित अकार आदि स्वर उपलब्ध होते तथा ध्वनिया उन उदात्तादि धर्मों से युक्त कही उपलब्ध होती तब तो उन ध्वनियो के धर्मो का अकारादि वर्णो मे आरोप कर लेते, जैसे कि लाल रग युक्त जपा कुसुम और सफेद स्फटिक पृथक् उपलब्ध होते हैं तब लाल रग का स्फटिक मे आरोप हो जाता है, किन्तु उदात्त आदि धर्म रहित वर्ण कभी स्वप्न मे भी उपलब्ध नही होते। शब्द के धर्म रूप से प्रतीत होते हुए भी उनको दूसरे के माना जाय तो अन्यत्र कैसे विश्वास होगा कि यह घट मे दिखाई देने वाले रूप आदिक घट के हैं अथवा अन्य के द्वारा आरोपित हैं ? बाधकाभाव होने से घट मे रूपादि धर्म निजी माने जाते हैं ऐसा कहो तो यही बात शब्द मे है। उसमे भी उदात्तादि धर्म दिखायी देते है वे उसी के है आरोपित नही, क्योकि उसमे कोई बाधा नही है। बाधा तो विपरीत दिखाई देने से आती है, जैसे कि दो चन्द्र का दिखना एक चन्द्र दर्शन से बाधित होता है। ऐसा विपरीत दर्शन शब्द मे नही है, शब्द मे तो उदात्तादि धर्म रूप अकारादि की सर्वदा प्रतीति होती है, फिर भी उनको आरोपित मानेंगे तो घट आदि के लाल आदि धर्म को भी आरोपित मानना पडेगा। यदि लाल आदि धर्म से रहित घट का अनुपलम्भ होने से उस तरह के घट का असत्व मानते हैं तो यही बात शब्द मे है, उदात्तादि धर्म रहित शब्द का अनुपलम्भ होने से उस तरह के शब्द का असत्व ही है।

किञ्च, बुद्धि की तीव्रता किसे कहते हैं महत्व रहित पदार्थ को महत्व रूप जानना बुद्धि की तीव्रता है अथवा जैसा पदार्थ है वैसा अत्यन्त स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीव्रता है ? प्रथम विकल्प कहो तो वह बुद्धि की तीव्रता भ्रान्त कहलायेगी

घटादौ सर्वदा' इति च निदर्शनमयुक्तम्, न हि महातेज.सामर्थ्यादल्पोपि घटो 'महान्' इत्यवभासते, किन्त्वत्यन्तस्पष्टतया। द्वितीयविकल्पे तु महत्त्वादिधर्मरहितस्यास्याऽत्यन्तस्पष्टतया ग्रहण स्यात्। तथा च न व्यञ्जकध्वनिधर्मानुविधायित्व स्यात्।

एतेन बुद्धिमन्दत्वेऽल्पता निरस्ता। न खलु मन्दतेजसः प्रकाशिते घटादौ महति बुद्धिमन्दत्वेनाल्पत्वप्रतीतिरस्ति। ततो 'महाताल्वादिव्यापारे महत्त्वाद्धिधर्मोपेतोऽल्पे चाल्पत्वादिधर्मोपेत. शब्द एवोत्पद्यते' इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वास्य व्यञ्जका:, तर्हि तद्व्यापारे तद्धर्मोपेतस्यास्य नियमेनोपलब्धिर्न स्यात्। कारकव्यापारो ह्येष—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम, न व्यञ्जक व्यापारः। न खलु यत्र यत्र व्यंजक. प्रदीपादिस्तत्र तत्र व्यगचघटादिसन्निधापनमुपलब्धिर्वा नियम-

---

महातेज से प्रकाशित हुए घटादि मे वह बुद्धि पटु होती है ऐसा जो दृष्टात दिया वह अयुक्त है, क्योकि महान प्रकाश के सामर्थ्य से छोटा घट महान रूप से प्रतिभासित नही होता किन्तु अत्यत स्पष्ट रूप से प्रतिभास होता है। दूसरा विकल्प—जैसी वस्तु है वैसा अत्यत स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीव्रता है, ऐसा कहो तो महत्व आदि धर्म से रहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से घट का ग्रहण होना ही सिद्ध होता है, फिर उदात्तादि धर्म व्यंजक ध्वनि के अनुविधायी होते है ऐसा कहना असत्य ही ठहरता है। इसी तरह बुद्धि की मदता से घट मे अल्पता आती है ऐसा कहना भी खण्डित हुआ समझना चाहिए। क्योकि मद प्रकाश से प्रकाशित हुए महान घटादि मे बुद्धि के मद होने मात्र से अल्पता की प्रतीति नही होती है, इससे निश्चय होता है कि तालु कठ आदि का महा व्यापार (जोर जोर से पूरा मुख खोलके बोलना इत्यादि रूप व्यापार) होने पर महान शब्द उत्पन्न होता है, और अल्प व्यापार के होने पर अल्प धर्म युक्त शब्द उत्पन्न होता है। यदि मीमासक तालु आदि को या ध्वनियो को शब्द का व्यजक कारण मानते हैं तो उस व्यापार के होने पर उदात्त आदि धर्म युक्त शब्द की नियम से उपलब्धि होना सिद्ध नही होता, क्योकि यह काम तो कारक व्यापार का है, जो कि अपने निकट रहने पर नियम से कार्य की सन्निधि कर देता है। किन्तु इस कार्य को व्यजक व्यापार नही कर सकता, जहां जहा व्यजक (प्रगट करने वाले को व्यजक और उत्पन्न करने वाले को कारक कहते हैं) दीपकादि है वहा वहां व्यंग्य जो घटादि हैं उनकी उपलब्धि या निकटता होती ही है ऐसा नियम नही है, यदि ऐसा होता तो

तोस्ति, अन्यथा तयोरविशेषप्रसगात्, चक्रादिव्यापारवैयर्थ्यानुषगाच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वात् तद्व्यञ्जकसन्निधाने सर्वत्रोपलम्भ, शब्दस्य तु सम्भवति विपर्ययात्, इत्यप्यनिरूपिताभिधानम्, तस्य सर्वगतत्वाऽसिद्धे । तथाहि–न सर्वगत शब्द सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् घटादिवत् । ततो घटादिभ्य शब्दस्य विशेषाभावादुभयोः कार्यत्व व्यगयत्व चाभ्युपगन्तव्यम् ।

किंच, एते ध्वनय श्रोत्रग्राह्याः, न वा ? श्रोत्रग्राह्यत्वे अत एव शब्दा तल्लक्षणत्वात्तेषाम् । तत्र च तात्त्विका एवोदात्तादयो धर्माः । तथा चापरशब्दकल्पनानर्थक्यम् । अथ न श्रोत्रग्राह्या ; कथ तर्हि तद्धर्मा उदात्तादयस्तद्ग्राह्या ? न हि रूपादीना धर्मा भासुरत्वादयो रूपादेरग्रहणे श्रोत्रेण गृह्यन्ते । अथ न भावतस्तेन ते गृह्यन्ते, किन्त्वारोपात् । ननु चाऽगृहीतस्यारोपोपि कथम् ? अन्यथा भासुरत्वादेरपि तत्रारोप. स्यात् । अथ व्यजकत्वाद् ध्वनीना तद्धर्मा एव तत्रारोप्यन्ते, न रूपादीना

कारक और व्यजक कारणो मे अन्तर ही नही रहता । फिर तो दीपक जलने मात्र से घट तैयार हो जाता, कुम्भकार, चक्र मिट्टी आदि को क्रिया व्यर्थ ही ठहरती ।

शका—घट आदि पदार्थ असर्वगत होने से व्यजक कारण के निकट होने पर भी उसकी सर्वत्र उपलब्धि नही होती, किन्तु शब्द तो सर्वगत है अत. व्यजक के निकट होने पर उसकी सर्वत्र उपलब्धि हो जाती है ।

समाधान—यह कथन असत् है । शब्द का सर्वगतत्व असिद्ध है । इसी को अनुमान द्वारा सिद्ध करते है—शब्द सर्वगत नही है, क्योकि सामान्य विशेष रूप होकर बाह्य एक इन्द्रिय (कर्ण) के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट आदि एक इन्द्रिय (नेत्र) द्वारा प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार घट आदि से शब्द की कोई विशेषता सिद्ध नही होने से दोनो मे कार्यत्व या व्यगत्व समान रूप से कोई एक ही मानना चाहिये ।

मीमासक के यहा शब्द की व्यजक ध्वनिया मानी है वे कर्ण द्वारा ग्राह्य हैं तो उसीको शब्द कहना होगा, क्योकि शब्द का यही लक्षण है । तथा ध्वनियो मे उदात्त आदि धर्म वास्तविक ही माने जाते हैं । इस प्रकार ध्वनिया ही शब्द रूप सिद्ध होने से इनसे अन्य शब्द की कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है । यदि कहा जाय कि ध्वनिया कर्ण ग्राह्य नही हैं तो उनके उदात्तादि धर्म किस प्रकार कर्ण ग्राह्य हो सकेंगे ? रूपादि युक्त पदार्थो के भासुरत्वादि धर्म रूपादि के कर्ण द्वारा अग्रहीत होने पर ग्रहण मे नही आते हैं ।

विपर्ययात्, ननु ज्ञानजनकत्वान्नापरं व्यंजकत्वम्। तथा सत्यल्पेन चक्षुषा व्यज्यमानः पर्वतो महानपि तद्धर्मारोपात्तत्परिमाणतया प्रतीयेत सर्षपश्च बृहत्परिमाणतया, न चैवम्। तन्नैते ध्वनिधर्मा उदात्तादयोऽपि तु शब्दधर्मा। तथाप्यस्यैकव्यक्तिकत्वे घटादेरपि तदस्तु विशेषाभावात्।

ननु चास्यैकत्वे नभोवत्कारणानायत्तत्वान्न तदुत्कर्षापकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षौ स्याताम्, तच्छब्देपि समानम्-तस्यापि हि प्रत्येकमेकव्यक्तिकत्वे ताल्वोत्कर्षाऽपकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षयोगो न स्यात्, किन्तु सर्वत्र तुल्यप्रतीतिविषयता स्यात्। ननु चासिद्धं ताल्वादेर्महत्त्वादे, शब्दस्य महत्त्वादिकम्, तथाहि—

मीमासक–उदात्त आदि धर्म कर्ण द्वारा भाव रूप से ग्रहण नही होते किन्तु आरोप से ग्रहण मे आते हैं?

जैन—ग्रहण किये बिना आरोप भी किस प्रकार हो सकता है? अन्यथा शब्द मे भासुरत्व आदि धर्म का आरोप भी मानना पड़ेगा।

मीमासक—ध्वनिया शब्द की व्यजक हुआ करती है अत. उनके धर्म का आरोप शब्द मे हो जाता है किन्तु रूपादि शब्द के व्यजक नही है अत: उसका उसमे आरोप नही होता है?

जैन–ज्ञान को उत्पन्न करना व्यजक कहलाता है इससे अन्य तो व्यंजकत्व नही है अब यदि ऐसे व्यजक का धर्म पदार्थ मे (व्यग्य मे) आरोपित होता है ऐसा माना जाय तो छोटी सी चक्षु द्वारा व्यज्यमाण पर्वत महान होते हुए भी चक्षु जितना छोटा दिखायी देगा? क्योकि चक्षु व्यजक हैं और व्यजक का धर्म व्यंग्य मे आरोपित होता है ऐसा आपने कहा है? तथा सरसो वृहत् परिमाण वाली दिखायी देगी, क्योकि चक्षु का धर्म उसमे आरोपित होता है? किन्तु ऐसा नही होता इससे सिद्ध होता है कि उदात्तादि धर्म ध्वनियो के नही है, अपितु शब्दो के है। ऐसी बात होते हुए भी यदि शब्दो को एक व्यक्तिरूप ही माना जाय तो घट पट आदि को भी एकत्व रूप मानना होगा? दोनो मे कोई विशेषता नही है।

शका—घट आदि को यदि एक रूप माना जाय तो आकाश के समान वह भी कारणाधीन नही होगा? फिर कारण के उत्कर्ष (मिट्टी के अधिक) होने पर घट का उत्कर्ष (बडा) होना और कारण के अपकर्ष (मिट्टी के अल्प) होने पर घट का अपकर्ष (छोटा) होना सिद्ध नही होगा?

"कारणानुविधायित्वं यच्चाल्पत्वमहत्त्वयोः ।
तदसिद्धं न वर्णो हि वर्द्धते न पदं क्वचित् ।।
वर्णान्तरजनौ तावत्तत्पदत्वं विहन्यते ।
अपदं हि भवेदेतद्यदि वा स्यात्पदान्तरम् ।।
वर्णोऽनवयवत्वात्तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति ।
व्योमादिवदतोऽसिद्धा वृद्धिरस्य स्वभावतः ।।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१०–२१२]

अत्रोच्यते–किं कारणानुविधायित्वमल्पत्वमहत्त्वयो स्वभावसिद्धत्वादसिद्धम्, आहोस्वित्कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां शब्दस्याल्पत्वमहत्त्वे एव न विद्येते स्वभावतस्तद्रहितत्वात् इति ? तत्राद्यपक्षे स्वभावे एव वास्याऽल्पत्वमहत्त्वे विद्येते, न तु ते तस्य कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां कृते इत्यायातम्, तथा

समाधान–यह वात शब्द में भी घटित होती है प्रत्येक क, ख आदि शब्द को एक व्यक्ति रूप ही मानते हैं तो शब्द तालु आदि के उत्कर्ष से उदात्त और अपकर्ष से अनुदात्त धर्म युक्त होता है ऐसा कहना सिद्ध नही होगा अपितु सर्वत्र समान ही प्रतीत होगा ।

मीमासक–तालु आदि के महत्त्व से शब्द का महत्त्व आदि रूप होना असिद्ध है, इसी को ग्रन्थाधार से सिद्ध करते है–शब्द के कारण जो तालु आदिक है उसके अल्प और महान होने से शब्द अल्प और महान होता है ऐसा मानना असिद्ध है क्योकि न वर्ण बढता हुआ दिखाई देता है और न कही पर पद ही बढता हुआ दिखाई देता है ।।१।। तथा जब वर्णान्तर उत्पन्न होता है तब उसका पदत्व नष्ट होता है ऐसा माना जायगा तो प्रथम वर्ण को अपदत्व बन जाने का या पदान्तर रूप होने का प्रसग आता है ।।२।। अवयव रहित होने के कारण वर्ण वृद्धि और ह्रास को प्राप्त नही होता है । उसमे तो आकाश आदि के समान स्वभाव से ही वृद्धि होने की असिद्धि है ।।३।।

जैन—यह कथन असार है, आपने जो कहा कि कारण के अनुसार शब्द मे अल्पत्व और महत्व होना असिद्ध है, सो क्यो असिद्ध है शब्द मे वे धर्म स्वभाव से सिद्ध होने से अथवा स्वभाव से उन धर्मों से रहित होने से ? प्रथम पक्ष लेवे तो शब्द के स्वभाव मे ही अल्प महत्व है कारण कि अल्प महत्व से किया हुआ नही है ऐसा सिद्ध हुआ ? फिर शब्द के समान घट आदि मे भी स्वभाव से अल्पत्व और महत्व होता है न कि मिट्टी

च घटादेरपि तथा तत्सत्त्वप्रसगः । निर्हेतुकत्वेन सर्वदा भावानुषगश्चोभयत्र समानः । द्वितीयस्तु पक्षोऽसगत, तयोस्तत्र प्रतीयमानत्वेन स्वभावतस्तद्रहितत्वासिद्धेः । न खलु महति ताल्वादौ महानऽल्पे चाल्प शब्दो न प्रतीयते, सर्वत्र तयोरनाश्वासप्रसगात् ।

यदप्युक्तम्—'न हि वर्णो वर्द्धते' इत्यादि, तत्र यदि तावत् 'अल्पताल्वादिजनितो वर्णादिरल्पो महतस्ताल्वादिव्यापारान्न वर्द्धते' इत्युच्यते, तदा सिद्धसाधनम् । न हि घटोऽल्पान्मृत्पिण्डात्तथाविधो जातोऽन्यत्र स एव वर्द्धते अघटत्वप्रसगात्, घटान्तरमेव वा स्यात् । अथान्योपि वृद्धिमान्न जायते, तन्न, तथाविधस्य दृष्टत्वात् । दृष्टस्य चाऽपह्नवाऽयोगात् ।

एतेनैतन्निरस्तम्—

"अथ ताद्रूप्यविज्ञान हेतुरित्यभिधीयते ।
तथापि व्यभिचारित्व शब्दत्वेपि हि तन्मति ॥१॥

आदि कारण की अल्पता महत्ता से, ऐसा मानना पडेगा । यदि कहा जाय कि घटादि का अल्प महत्व निर्हेतुक होता तो सर्वदा बना रहता ? सो यह दोष शब्द मे भी घटित होता है । दूसरा पक्ष भी गलत है क्योकि शब्द मे वे दोनो धर्म प्रतीत हो रहे हैं अतः शब्द स्वभाव से ही अल्पत्वादि धर्म से रहित होता है ऐसा कहना असिद्ध ठहरता है । शब्द तालु आदि के महान् व्यापार होने पर महान और अल्प व्यापार मे अल्प रूप से प्रतीत नही होता हो सो बात नही है प्रतीति मे आते हुए भी इन अल्पत्व आदि को शब्द मे न माना जाय तो सर्वत्र (घटादि मे) नही मानने का प्रसग आता है ।

आपने कहा कि वर्ण बढता नही है इत्यादि सो उसमे यह बात है कि जो वर्ण अल्प तालु आदि से उत्पन्न हुआ है वह महान तालु आदि के व्यापार होने पर बढता नही है ऐसी मान्यता हो तब तो सिद्ध साधन है, क्योकि जो घट अल्प मिट्टी से अल्प आकार मे बन चुका है वही घट अन्य अन्य मिट्टी द्वारा बढाया नही जा सकता, अन्यथा उसमे अघटत्व का प्रसग होगा अथवा घटान्तरपना आयेगा । यदि कहा जाय कि दूसरा वर्ण भी नही बढता तो यह कथन असत्य है, क्योकि अन्य अन्य वर्ण उदात्त आदि रूप से बढते हुए देखे जाते है, देखे हुए धर्म का अपह्नव असभव है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित कथन भी निरस्त होता है कि वर्ण मे उस प्रकार की अल्प महत्वरूप प्रतीति होने से उसे अल्पत्वादि से युक्त मानते है तो शब्दत्व सामान्य मे भी उस प्रकार की प्रतीति होने के कारण व्यभिचार दोष आता है । जिस प्रकार लोक व्यवहार मे माना जाता है कि अल्प महत्व धर्म व्यक्ति मे रहते हैं और

व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वे हि तद्यथानुविधीयते ।
तथैवानुविधाताय ध्वन्यल्पत्वमहत्त्वयो ॥२॥'
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१३-२१४] इति ।

सदृशपरिणामो हि सामान्यम् । तस्य च वर्णवदल्पत्वमहत्त्वसम्भवात् कथ तेनानेकान्त ? भवत्कल्पित तु सामान्यमग्रे निषिद्धत्वात्खरविषाणप्रख्यमिति कथ तेन व्यभिचारोद्भावनम् ?

यदप्युच्यते—

व्यग्यानां चैतदस्तीति लोकेप्यैकान्तिक न तत् ।
दर्पणाल्पमहत्त्वे हि दृश्यतेऽनुपतन्मुखम् ॥१॥
न स्यादव्यग्यता तस्मिस्तत्क्रियाजन्यतापि वा ।
न चास्योच्चारणादन्या विद्यते जनिका क्रिया ॥२॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१५-२१६]

उनका अनुविधाता सामान्य होता है, उसी प्रकार ध्वनि के अल्प महत्व धर्म का अनुविधाता वर्ण है ऐसा मानना चाहिये इत्यादि ।

इस मीमासक के कथन का अभिप्राय यह है कि ध्वनि के अल्प महत्व के कारण वर्ण मे वैसा ज्ञान हो जाया करता है यदि ऐसा न मानकर अल्पत्वादि को वर्ण के निजी धर्म माने जायेगे तो शब्दत्व सामान्य मे अल्पत्वादि की प्रतीति होने से उसमे भी उन धर्मो को मानना पडेगा । किन्तु यह कथन गलत है, हम जैन सदृश परिणाम को सामान्य मानते हैं उस सामान्य मे वर्ण के समान अल्पत्व महत्व धर्म रहना सभव होने से उसके साथ व्यभिचार दोष देना किस प्रकार सभव है ? और आप मीमासक द्वारा मान्य सामान्य का आगे निराकरण किया है अत खर विषाण सदृश उस सामान्य द्वारा व्यभिचार दोष का उद्भावन किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नही हो सकता है।

मीमासक—शब्द व्यग्य है व्यग्य व्यञ्जक का अनुकरण करते हैं यह बात लोक मे भी देखी जाती है, अत. वह अनैकान्तिक नही है, दर्पण के अल्प महत्व के अनुसार उसमे पडा हुआ मुख का प्रतिबिम्ब छोटा बडा दिखता है ॥१॥ किन्तु इतने मात्र से मुख मे व्यग्य धर्म नही हो अथवा वह दर्पण की क्रिया से जन्य हो सो बात नही है । तथा शब्द मे उच्चारण को छोडकर अन्य उत्पन्न होने रूप क्रिया भी नही होती है ।

तदप्यचारु, भ्रान्तेनाऽभ्रान्तस्य व्यभिचाराऽयोगात् । शब्दे हि महत्त्वादिप्रत्ययोऽभ्रान्तो बाधवर्जितत्वादित्युक्तम् । मुखे तु भ्रान्तो विपर्ययात् । न चान्यस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्यापि तत्, अन्यथा सकलशून्यतानुषग -स्वप्नादिप्रत्ययवत्सकलप्रत्ययाना भ्रान्ततापत्ते । न च खगे प्रतिविम्बितदीर्घतया मुखमेवाऽऽभाति दर्पणे तु वर्त्तुलतया गौरनीले काचे नीलतया, किन्तु तदाकारस्तत्र प्रतिबिम्बितस्तद्धर्मानुकारी प्रतिभाति । न च शब्दस्याप्याकारो ध्वनौ, ध्वनेर्वा शब्दे प्रतिविम्बितस्तद्धर्मानुकारी भवतीत्यभिधातव्यम्, शब्दस्याऽमूर्त्तत्वेन मूर्त्ते ध्वनौ तत्प्रतिविम्बनाऽसम्भवात् । मूर्त्तानामेव हि मुखादीना मूर्त्ते दर्पणादौ तत्प्रतिविम्बन दृष्ट नाऽमूर्तानामात्मादीनाम् । न चाऽश्रोत्रग्राह्यत्वे ध्वने: प्रतिविम्बितोप्याकार श्रोत्रेण ग्रहीतु शक्योऽतिप्रसगात् । तद्ग्राह्यत्वे वा अपरशब्दकल्पना व्यर्थेत्युक्तम् ।

यच्चाप्युक्तम्—

जैन—यह कथन असत् है, भ्रान्त प्रतिभास द्वारा अभ्रान्त प्रतिभास मे व्यभिचार देना अयुक्त है, शब्द मे जो अल्प महत्व का ज्ञान होता है वह तो सत्य है, क्योकि इस ज्ञान मे बाधा नही आती, किन्तु मुख मे होने वाला अल्पत्वादि का ज्ञान बाधा युक्त होने से भ्रान्त है । अन्य के भ्रान्त होने से अन्य कोई भ्रान्त नही बनता अन्यथा सकल शून्यता का प्रसग होगा । स्वप्न ज्ञान भ्रान्त होने से सभी ज्ञानो को भ्रांत मानना होगा । प्रतिविम्ब की बात कही सो उस विषय मे खुलासा करते है—तलवार मे प्रतिबिम्ब के दीर्घरूप होने से मुख ही दीर्घ रूप प्रतीत होवे ऐसा नही है तथा दर्पण मे वर्तुल रूप एव सफेद नीली काच मे नील रूप प्रतीत होवे सो भी नही है किन्तु दर्पण आदि प्रतिविम्बित हुआ मुख का जो आकार है वही दर्पणादि के वर्तुलादि धर्म का अनुकरण करता है । किन्तु शब्द के विषय मे ऐसी बात नही है अर्थात् शब्द का आकार ध्वनि मे या ध्वनि का आकार शब्द मे प्रतिविम्बित होकर उसके आकार का अनुकरण करता है ऐसा नही कह सकते, क्योकि आप शब्द को अमूर्तिक मानते हैं अमूर्तिक का मूर्तिक ध्वनि मे बिम्बित होना असभव है । देखा जाता है कि मूर्तिक मुख आदि मूर्तिक दर्पणादि मे प्रतिविम्बित होते हैं किन्तु अमूर्त्त आत्मा आदि नही होते है । तथा मीमासक ध्वनि को श्रोत्र ग्राह्य नही मानते है इसलिये शब्द में ध्वनि का आकार प्रतिविम्बित होने पर भी श्रोत्र द्वारा ग्रहण होना अशक्य है अन्यथा अतिप्रसंग होगा, यदि ध्वनियो के आकार को श्रोत्र ग्राह्य मानते हैं तब तो शब्द को मानना ही व्यर्थ ठहरता है क्योकि शब्द का सारा कार्य तो ध्वनियो ने किया ।

"यथा महत्या खाताया मृदि व्योम्नि महत्त्वधी.।
अल्पायामल्पधीरेवमत्यन्ताऽकृतके मति ॥
तेनात्रैव परोपाधिः शब्दवृद्धौ मतिर्भ्रम. (मतिभ्रम)।
न च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवर्त्तिनी ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१७-२१८]

तदप्यसमीचीनम्, व्योम्नोऽतीन्द्रियत्वेन महत्त्वादिप्रत्ययविषयत्वायोगात् । तद्योगो चाल्पया खातयाऽवछिन्नो व्योमप्रदेशोऽल्पो महत्या च महानिति नाऽनेनाऽनेकान्त । निरवयवत्वे हि तस्याणुवद्व्यापित्वासम्भव., अत्यन्ताकृतकत्वेन च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इति वक्ष्यते । तथा शब्दस्यापि सावयवत्वाभ्युपगमे—

"पृथग् न चोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवा क्वचित् ।
न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत्पटे ॥१॥

मीमासक—जिस प्रकार मिट्टी की खदान मे बडा भारी गड्ढा खोदने पर आकाश मे महानपने की बुद्धि होती है (परवादी पोल को आकाश मानते है अत किसी भी ठोस वस्तु को भीतर भीतर ही पोल करे तो उसमे आकाश है अन्यथा नही ऐसी इनकी कल्पना है, उसी के आधार पर दृष्टात दे रहे है) और अल्प गड्ढे के खोदने पर अल्पपने की वृद्धि होती जब कि आकाश अत्यत अकृतक है ॥१॥ इसी प्रकार शब्द मे वृद्धि का भ्रम हो जाता है अर्थात् ध्वनियो की वृद्धि मे शब्द वृद्ध हुआ और हानि मे हीन हुए ऐसा ज्ञान हो जाया करता है, किन्तु शब्द मे स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व (वृद्धि हानि) नही होते है ।

जैन—यह मीमासक का कथन असत्य है, आकाश अतीन्द्रिय है उसमे बडा छोटा ऐसा ज्ञान नही हो सकता है । जब वह अतीन्द्रिय ही है तब अल्प गड्ढे के खोदने से अल्प आकाश और महान गड्ढे के खोदने पर महान आकाश हुआ ऐसी कल्पना नही हो सकती और न इसके द्वारा अनैकान्तिक दोष आता है । तथा आप आकाश को निरवयवी मानते हैं निरवयत्व मे अणु के समान व्यापकपना भी असभव है तथा अत्यत अकृतक ऐसे आकाश मे क्रमश और युगपत रूप से अर्थ क्रिया का होना भी असभव है ऐसा आगे निश्चित करने वाले है । मीमासक शब्द को सावयव मानते है तो उनके ग्र थ का निम्नलिखित कथन विरुद्ध होता है कि—वर्ण के अवयव कही पर

तेषामनुपलब्धेश्च न जाता लिङ्गतो गति.।
नागमस्तत्परश्चास्मिन्नाऽदृश्ये चोपमा क्वचित् ॥२॥

न चास्यानुपपत्ति. स्याद्वर्णस्यावयवैर्विना।
यथान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः ॥३॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जित ।
किन्न स्याद्व्योमवच्चात्र लिंग तद्रहिता मति ॥४॥"

[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० ११-१४]

इति वचो विरुद्धचे त।

यत्पुनरुक्तम्–'व्यञ्जकध्वन्यधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते' इत्यादि, तत्र कुतो ध्वनय प्रतिपन्ना येन तदधीना शब्दश्रु ति स्यात् ? प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्किं श्रोत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावच्छ्रोत्रेण, तथा प्रतीत्यभावात्। न खलु शब्दवत्तत्र ध्वनय· प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्त्यभाव-

---

पृथक् नही दिखते हैं, तथा वस्त्र मे जैसे ततु दिखायी देते है वैसे वर्ण मे अवयव दिखाई नही देते है, अत प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्ण के अवयवो की सिद्धि नही होती ॥१॥ अनुपलब्धि होने से अनुमान द्वारा भी वर्ण के अवयव सिद्ध नही होते है। आगम भी शब्द के अवयवों का प्रतिपादक नही है, तथा अदृश्य होने से उपमा द्वारा भी उसके अवयव सिद्ध नही होते ॥२॥

ऐसा भी नही है कि अवयवो के बिना वर्ण की व्यवस्था नही बनती हो, जैसे अवयवो में अन्य अवयवो की जरूरत नही पडती वैसे वर्ण मे अवयव की जरूरत नही है जब प्रत्यक्ष से ही वर्ण अवयव रहित प्रतीत होता है तब उसे आकाश के समान अवयव रहित क्यो न माना जाय ? वर्ण अवयव रहित है क्योकि वैसी प्रतीति होती है, इस प्रकार के हेतु से भी वर्ण अवयव रहित सिद्ध होते है ॥३॥४॥ इत्यादि।

मीमासक ने कहा था कि शब्द व्यञ्जक ध्वनि के अधीन है, व्यञ्जक ध्वनि जहा होती है वहा वर्ण ग्रहण मे आता है, इत्यादि। सो इस पर हम जैन का प्रश्न है कि व्यंजक ध्वनियो को किस प्रमाण से जाना है जिससे कि शब्द का सुनना उसके अधीन माना जाय, प्रत्यक्ष से अनुमान से अथवा अर्थापत्ति से ? प्रत्यक्ष से माने तो यह कौनसा प्रत्यक्ष है कर्णेन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो ठीक नही है क्योकि उस तरह की

प्रसङ्गात् । तत्र ध्वनिप्रतिभासे चापरशब्दकल्पनावैयर्थ्यमित्युक्तम् । अथ स्पार्शनप्रत्यक्षेण ते प्रतीयन्ते-स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरसस्पर्शनेन तान्प्रतिपद्यते, वदतो मुखाग्रे स्थिततूलादे प्रेरणोपलम्भानुमानेनेति, तदप्यसाम्प्रतम्, वायुवत्ताल्वादिव्यापारानन्तर कफाशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्तृवक्त्रप्रदेश एवैषा प्रक्षयेण श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावान्न तत्, इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि वायवोपि तत्र गच्छन्त समुपलभ्यन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिपत्तिस्तूभयत्रसमाना । यथा च स्तिमितभाषिणो न कफाशोपलम्भस्तथा वायूपलम्भोपि नास्ति । स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र समानम् । तन्न प्रत्यक्षेणानुमानेन वा तत्प्रतिपत्ति ।

प्रतीति नही होती, जैसे कान मे शब्द सुनाई देते है वैसे ध्वनिया सुनाई नही देती, यदि सुनाई देती तो विवाद ही नही रहता । दूसरी बात यह है कि यदि कान मे ध्वनिया सुनाई देती है तो शब्द को मानना व्यर्थ है क्योकि शब्द का कार्य ध्वनि द्वारा सम्पन्न हो जाता है इस विपय मे पहले कह चुके है ।

मीमासक—ध्वनिया स्पर्शनज प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत होती हैं, इसी का खुलासा करते हैं—अपने हाथ से मुख को ढककर बोलता हुआ पुरुष अपने हाथ के स्पर्श से उन ध्वनियो को जान लेता है, तथा अन्य पुरुष की ध्वनि को बोलने वाले के मुख के आगे स्थित कपासादि के हिलने से अनुमान द्वारा जान लिया जाता है ?

जैन—यह कथन असार है क्योकि तालु आदि के व्यापार के अनतर जिस प्रकार वायु उपलब्ध होती है उस प्रकार कफ के अश भी उपलब्ध होते हैं अत उन्हे भी शब्द के अभि व्यजक कारण मानने का प्रसग आता है मीमासक—कफ के अश बोलने वाले के मुख प्रदेश मे नष्ट हो जाते है सुनने वाले के कान तक नही जाते अत उनको शब्द के व्यजक कारण नही मानते ?

जैन—वायु के विषय मे भी यही बात है वह भी कान के प्रदेश मे जाती हुई उपलब्ध नही होती है ।

मीमासक—व्यजक वायु नही होती तो शब्द की प्रतीति नही हो सकती थी, इस प्रकार की अन्यथानुपपत्ति से उसकी सिद्धि होती है ?

जैन—यही अन्यथानुपपत्ति कफाश मे भी हो सकती है । तथा जिस प्रकार स्तिमितभाषी (मुख को अल्प मात्रा मे खोलकर धीमे स्वर मे बोलने वाला) पुरुष के

अथार्थापत्त्या तेषा प्रतिपत्तिः, तथाहि–शब्दस्तावन्नित्यत्वान्नोत्पद्यते संस्कृतिरेव तु क्रियते। सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्यु । तदुक्तम्—

'शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वादन्यथानुपपत्तित ।
विशिष्टसस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्यो व्यवसीयते ॥१॥
तद्भावभाविता चात्र शक्त्यस्तित्वावबोधिनी ।
श्रोत्रशक्तिवदेवेष्टा बुद्धिस्तत्र हि सहृता ॥२॥
कुड्यादिप्रतिबन्धोपि युज्यते मातरिश्वन ।
श्रोत्रादेरभिघातोपि युज्यते तीव्रवर्त्तिना ॥३॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६–१२८]

कफाश उपलब्ध नही होते उसी प्रकार वायु भी उपलब्ध नही होती है। यदि कहा जाय कि वायु के रहते हुए भी स्तिमित भाषी होने के कारण वह उपलब्ध नही होता ऐसा मानना पडेगा । अत. प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा व्यजक ध्वनियो की प्रतीति होना सिद्ध नही होता ।

मीमासक—अर्थापत्ति द्वारा ध्वनियो की प्रतीति होती है, इसका विवरण आगे करते है—नित्य होने से शब्द तो उत्पन्न किया नही जाता, हा उसकी सस्कृति (सस्कार) की जाती है, वह सस्कृति विशिष्ट होने के नाते यदि ध्वनिया न होवे तो उत्पन्न नही हो सकती, जैसा कि कहा है—शब्द की उत्पत्ति होना निषिद्ध हो चुका है अत. अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा निश्चय होता है कि ध्वनियों से विशिष्ट सस्कृति की ही उत्पत्ति होती है ॥१॥ ध्वनियो के होने पर ही विशिष्ट सस्कृति का होना सभव है इस प्रकार की तद्भावभावित्व नामकी जो शक्ति है वही ध्वनियों के अस्तित्वका ज्ञान कराती है, श्रोत्रशक्ति के समान यह शक्ति भी स्वीकार करना इष्ट है, अर्थात् जिस तरह कर्ण मे श्रवण शक्ति सिद्ध होती है उसी तरह ध्वनियो मे सस्कारोत्पादक शक्ति सिद्ध होती है, क्योकि इन उभय शक्तियो मे शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान उसमे नियत है अर्थात् कर्ण मे श्रवण शक्ति और ध्वनियो मे सस्कारोत्पादक शक्ति इन दोनो के होने पर ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है ॥२॥ भित्ति आदि से शब्द के व्यजक वायु का प्रतिबंध होना भी सगत है अर्थात् शब्द अमूर्त होने से उसका भित्ति आदि से प्रतिबध होना तो अशक्य है किन्तु तद् व्यजक वायुका प्रतिबध तो युक्ति सगत ही है, तथा तीव्र वायु से कर्णादिका अभिघात होना भी युक्ति पूर्ण है ।

इति, तत्र केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम-शब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो, वा ? परेण हि त्रेधा संस्कारोऽभ्युपगम्यते । स च –

"स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२]

"स्थिरवाय्यपनीत्या च संस्कारोस्य भवन्भवेत् ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२]

इत्यभिधानात् ।

तत्राद्ये पक्षे कोयं शब्दसंस्कारः-शब्दस्योपलब्धिः, तस्यात्मभूतः क्वचिदतिशयः, अनतिशय-व्यावृत्तिर्वा, स्वरूपपरिपोषो वा, व्यक्तिसमवायो वा, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता वा, व्यञ्जकसन्निधानमात्र

जैन– यह सब वर्णन तब ठीक हो सकता जब आपका यह विशिष्ट संस्कृति अर्थात् संस्कार सिद्ध हो, बताइये कि संस्कृति किसे कहते हैं। शब्द संस्कार को या कर्ण संस्कार को अथवा उभय संस्कार को ? क्योंकि आपके यहां शब्द के लिये ये तीन प्रकार के संस्कार माने जाते है जैसा कि कहा है कि—शब्द के संस्कार से या इंद्रियों के संस्कार से अथवा उभय के संस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है इत्यादि। शब्द का संस्कार स्थिर वायु की अपनीति से (स्थिर वायु के हट जाने से) होता है। इस प्रकार आपके यहां माना है। प्रथम पक्ष– शब्द के संस्कार को विशिष्ट संस्कृति कहते हैं ऐसा माने तो शब्द संस्कार का अर्थ क्या होता है शब्द की उपलब्धि होने को शब्द संस्कार कहते हैं अथवा उस शब्द का कहीं पर आत्मभूत अतिशय होने को, अनतिशयकी व्यावृत्ति होने को, स्वरूप के परिपोष होने को, व्यक्ति में समवाय होने को, व्यक्तिग्रहण की अपेक्षा से उसकी ग्रहणता होने को, व्यंजक का सन्निधान होने को अथवा आवरण का विगम होने को ? शब्द की उपलब्धि होने को शब्दसंस्कार कहते हैं तो यह ध्वनियों की गमक कैसे होगी, क्योंकि शब्दोपलब्धि तो केवल श्रोत्र से होती है, फिर उसमें अन्य निमित्त की कल्पना करे तो हेतुओं का कोई नियम ही नहीं रहेगा कि अमुक वस्तुका अमुक निमित्त है।

शब्द का आत्मभूत कोई अतिशय होनेको शब्दसंस्कार कहते हैं अथवा अनतिशय व्यावृत्ति होने को शब्द संस्कार कहते हैं- ऐसे दो पक्ष भी ठीक नहीं, आगे इसीको कहते है– अतिशय दृश्य स्वभाव वाला ही होता है और अनतिशय व्यावृत्ति

वा, आवरणविगमो वा स्यात् ? यदि शब्दोपलब्धि ; कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दे श्रोत्रमात्रभावित्वात्तस्या ? तथाप्यन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थिति. स्यात् ।

तस्यात्मभूतः कश्चिदतिशयोऽनतिशयव्यावृत्तिर्वा इत्यत्रापि अतिशयो दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव । ते चेत्ततोऽन्ये, तत्करणेपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुतिः । अथाऽनन्ये, तदा शब्दस्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुषग । यो हि यस्मादसमर्थस्वभावपरित्यागेन समर्थस्वभाव लभते स चेन्न तस्य जन्यः क्वेदानी जन्यताव्यवहारः ? न च समर्थस्वभाव एव जन्यो न शब्द इत्यभिधातव्यम्, तस्याऽतो विरुद्धधर्माध्यासतो भेदानुपगात् । तत्र चोक्तो दोष ।

श्रोत्रप्रदेशे एव चास्य सस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः, न सर्वगत स्यात् । तस्यैवान्यत्र तद्विपर्ययेणावस्थाने दृश्याऽऽदृश्यत्वप्रसगात् निरशत्वव्याघातो विप्रतिपत्त्यभावश्चास्य परिणामित्व-

---

अदृश्य स्वभावका खडन स्वरूप ही है, अब यदि ये दोनो प्रकार के शब्द सस्कारशब्द से अन्य है और इनको ध्वनियो द्वारा किया जाता है तो ध्वनियो ने शब्द का तो कुछ भी नही किया, अत इस शब्द का अश्रवण पूर्ववत् रहेगा, अर्थात् उक्त सस्कारो के हो जाने पर भी चूंकि वे शब्द से पृथक है अत. शब्द अभिव्यक्त न होने के कारण सुनायी नही देगा । उक्त दोनो प्रकार के सस्कार शब्द से अभिन्न है ऐसा माने तो शब्द कार्य रूप सिद्ध होने से अनित्य वन जायगा । अर्थात् शब्द से अभिन्न ऐसा जो आत्मभूत अतिशय आदि है उसको ध्वनियो ने किया तो इसका मतलब शब्द को ही किया, जो किया गया है वह अनित्यरूप होता ही है । क्योकि जो जिससे असमर्थ स्वभावका परित्याग करके समर्थ स्वभावको प्राप्त करता है वह स्पष्ट रूप से उसका कार्य है फिर भी उसको जन्य (अर्थात् कार्य) न माना जाय तो जन्यताका व्यवहार कहा माने ? समर्थ स्वभाव ही जन्य है शब्द नही ऐसा कहना भी अनुचित है, नित्य शब्द का समर्थ स्वभाव जन्य माने तो विरुद्ध धर्म युक्त होने से उसको शब्द से भिन्न मानना होगा और उस भिन्न पक्ष मे वही उक्त दोष आयेगा, अर्थात् शब्दसे भिन्न रहने वाला समर्थ स्वभाव ध्वनियो से जन्य है तो ध्वनियो द्वारा शब्द का कुछ भी किया गया अत वह अश्रवण रूप ही वना रहेगा ।

तथा यदि इस शब्द का सस्कार केवल श्रोत्र प्रदेश मे ही होता है तो उतना मात्र ही शब्द है सर्वगत नही ऐसा निश्चय होता है । यदि कहा जाय कि श्रोत्र प्रदेश उपलब्ध होने वाला शब्द ही उस प्रदेशमे अन्य जगह विपर्ययरूप मे अर्थात् अनुपलब्ध

प्रसिद्धे । यदस्माभि 'श्रावणस्वभावविनाशोत्पत्तिमत्पुद्गलद्रव्यम्' इत्यभिधीयते तद्युष्माभिः 'वर्ण' इत्याख्यायते । यौ च श्रावणस्वभावोत्पादविनाशौ शब्दोत्पादविनाशावस्माभिरिष्टौ तौ युष्माभि शब्दाभिव्यक्तितिरोभावाविति नाम्नैव विवादो नार्थे । दृश्येतररूपता चैकस्य ब्रह्मवाद समर्थयते तद्वच्चेतनेतररूपतयाप्येकस्याऽवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैव सर्वगतत्वानुपग -'सोपि हि दृष्टप्रदेशे दृश्योऽन्यत्र चादृश्य ' इति वदतो न वक्त्र वक्रीभवेत् । सर्वत्र चास्य सस्कारे सर्वदोपलब्धि स्यात्, न वा क्वचित्कदाचित् विशेषाभावात् ।

स्वरूपपरिपोष सस्कारोस्य, इत्यप्यऽचर्चिताभिधानम्, नित्यस्य स्वभावान्यथाकरणाऽसम्भवात् । करणे वा स्वभावातिशयपक्षभावी दोषोनुषज्यते ।

रूप से मौजूद रहता ही है तो एक ही शब्द मे दृश्यत्व और अदृश्यत्वका प्रसग आने से उसको निरश मानने का सिद्धात गलत साबित होता है, तथा दृश्य और अदृश्य स्वभावका परिवर्तन मानने से शब्द मे परिणामीपना भी सिद्ध होता है अत· जैन और मीमासकका शब्दविषयक विवाद भी समाप्त होता है । क्योकि जिसको हम कर्ण द्वारा सुनायी देना रूप स्वभाव वाला विनाश एव उत्पत्तिमान पुद्गल द्रव्य नाम देते हैं उसी को आप 'वर्ण' इस नामसे कहते हैं । तथा जिसको हम श्रावण स्वभावका उत्पाद विनाश होना रूप शब्दका उत्पाद विनाश मानते है उसीको आप शब्दकी अभिव्यक्ति तिरोभाव कहते है, इस तरह केवल नाम मे विवाद रहा न कि अर्थ मे । दूसरी बात यह है कि यदि आप मीमासक एक ही शब्द मे दृश्यत्व और अदृश्यत्व मानते हैं तो इस मान्यतासे ब्रह्मवादका समर्थन हो जाता है, क्योकि जिसप्रकार दृश्यत्व और अदृश्यत्वकी एकमे (शब्द मे) अवस्थिति हो सकती है उस प्रकार चेतन और अचेतनकी भी एक मे (ब्रह्म मे) अवस्थिति होना अविरुद्ध होगा । केवल कर्ण प्रदेशमे उपलब्ध होते हुए भी शब्दको सर्वगत माना जाय तो घटादि पदार्थको भी सर्वगत मानने का प्रसग आयेगा— उसके विषय मे भी कह सकते है कि दृष्ट प्रदेश मे घट दृश्य रहता है और अन्यत्र अदृश्य । ऐसा कहते हुए कोई मुख तो वक्र नही होता । केवल कर्ण प्रदेशमे शब्दका सस्कार न होकर सर्वत्र होता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो हमेशा शब्दकी उपलब्धि होगी क्वचित् कदाचित् नही, क्योकि सर्वत्र शब्द सस्कार हो चुका है कोई भेद विशेष नही रहा ।

स्वरूप का परिपोष होना शब्द सस्कार कहलाता है ऐसा चौथा विकल्प भी चर्चा योग्य नही, क्योकि नित्यके स्वभावका अन्यथाकरण असभव है अर्थात् जब शब्द

नापि व्यक्तिसमवायः, वर्णस्य व्यक्त्यऽसम्भवात्, अन्यथा सामान्यात्कोऽस्य विशेष ? अत एव न तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता।

नापि व्यजकसन्निधानमात्रम्, सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभि सर्ववर्णानां ग्रहणप्रसगात्। ननु प्रतिनियतेन ध्वनिना प्रतिनियतो वर्ण सस्कृत प्रतिनियतेनैव प्रतिपत्त्रा प्रतीयते तथैव सामर्थ्यात्. उक्त च—

सर्वथा नित्य है तब ध्वनि द्वारा उसके स्वरूपका परिपोष होना रूप संस्कार कैसे सभव हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। यदि नित्य शब्द के स्वभावका अन्यथाकरण मानते है तो स्वभावातिशय के पक्ष मे दिया गया दोप आता है।

भावार्थ—व्यजक ध्वनि द्वारा शब्द के स्वभावका परिपोप होना शब्द सस्कार कहलाता है ऐसा शब्द सस्कार का अर्थ करते है तो प्रथम तो नित्य शब्द मे सस्कार होना ही अशक्य है, दूसरे स्वरूप या स्वभावका परिवर्त्तन होने रूप जो सस्कार है वह शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है ऐसा प्रश्न होता है, यदि भिन्न है तो ध्वनिने शब्द का कुछ भी नही किया, शब्द तो जैसा पहले अश्रवण (सुनाई नही देना) रूप था वैसा ही रहा ? उक्त सस्कार शब्द से अभिन्न है तो ध्वनि ने शब्दको किया ऐसा सिद्ध होता है इससे शब्द अनित्यरूप ठहरता है, इस तरह स्वरूपपरिपोपको शब्द सस्कार कहते है ऐसा चौथा विकल्प असत् हो जाता है।

व्यक्ति मे (क, ग, ख आदि मे) समवाय होने को शब्द सस्कार कहते है ऐसा पंचम विकल्प भी अनुचित है, वर्णकी (शब्द की) व्यक्ति असभव है यदि शब्द मे व्यक्ति अर्थात् विशेप संभव है तो सामान्य से इसमे क्या विशेपता है कि शब्द मे व्यक्ति तो मान ली जाय और सामान्य न माना जाय ? अत. व्यक्ति मे समवाय होने को शब्द सस्कार कहते हैं ऐसा पक्ष गलत है। व्यक्ति ग्रहण की अपेक्षा से शब्दग्रहणता का होना शब्द सस्कार है ऐसा छठवा विकल्प भी पूर्ववत् असत् है ?

व्यञ्जक का सन्निधान होने मात्र को शब्द संस्कार कहते है ऐसा सातवा विकल्प भी ठीक नही, क्योंकि व्यजक के सन्निधान को शब्द सस्कार मानेगे तो सर्वत्र सर्वदा सभी प्रतिपत्ता को सर्ववर्णों का ग्रहण हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।

"विषयस्यापि सस्कारे तेनैकस्यैव सस्कृतिः ।
नरै. सामर्थ्यभेदाच्च न सर्वैरवगम्यते ॥१॥
यथैवोत्पद्यमानोय न सर्वैरवगम्यते ।
दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान्प्रति भवन्नपि ॥२॥
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद्यस्य संस्कृतिः ।
तैरेव श्रूयते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन ॥३॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८३-८६] इति ।

तदप्यपेशलम्; तेषा तदुपलम्भाऽसामर्थ्ये सर्वदाऽनुपलम्भप्रसगाद्बधिरवत् । यदा तत्समीपस्थै-र्व्यञ्जकैर्व्यज्यतेऽसौ तदा तैरेवोपलभ्यते इत्यप्यसुन्दरम्, यतस्तेषा व्यजकै. किं क्रियते येन ते तैर्निय-

---

मीमासक—प्रतिनियत ध्वनि द्वारा प्रनिनियत वर्ण सस्कृत (सस्कारित) किया जाता है एव प्रतिनियत पुरुप से ही उसकी प्रतीति होती है, क्योकि वैसी ही सामर्थ्य देखी जाती है । कहा भी है—विषय का सस्कार माने तो उस सस्कार मे भी उक्त ध्वनि द्वारा एक का ही संस्कार किया जाता है, तथा प्रतिपत्ता पुरुषो मे सामर्थ्य भेद होने से भी सभी पुरुपो द्वारा सब वर्ण ग्रहण मे नही आते ॥१॥ शब्द सस्कार रूप से उत्पद्यमान यह शब्द जिस प्रकार दिशा और देश आदिके अविभाग से सबके प्रति होता हुआ भी सबके द्वारा ज्ञात नही होता, उसी प्रकार जिस पुरुष के समीपवर्ती ध्वनि द्वारा जिस शब्दका सस्कार हुआ है उन्ही पुरुपो से वही शब्द सुनायी देता है, दूरस्थ पुरुपो द्वारा किसी प्रकार भी सुनायी नही देता ॥२॥३॥

जैन—उपर्युक्त सारा कथन अयुक्त है, क्योकि पुरुषो मे शब्द ग्रहण की सामर्थ्य नही मानी तो उनको शब्दका सर्वदा अनुलभ ही रहेगा जैसा बधिर पुरुषोको रहता है ।

शका—जब उस पुरुष के समीपस्थ व्यजक ध्वनि द्वारा वह शब्द अभिव्यक्त होता है तब उसी पुरुष द्वारा वह उपलब्ध किया जाता है अत सर्वदा अनुपलंभ होने का प्रसग नही आता ?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, व्यजक ध्वनि द्वारा उनका क्या किया जाता है कि जिसके कारण वे नियम से उन व्यजको की अपेक्षा करते है ? क्योकि

मेनापेक्षन्तेऽकिञ्चित्करेऽपेक्षाऽसम्भवात् ? तद्ग्रहणे योग्यतेति चेत्, किमात्मन, शब्दस्य, इन्द्रियस्य वा ? आद्यविकल्पद्वये सर्वदोपलम्भोऽनुपलम्भो वा स्यात् । इन्द्रियसंस्कारस्तु निराकरिष्यते ।

यदप्युक्तम्—यथैवोत्पद्यमानोऽयमित्यादि; तदप्यसंगतम्, न हि दिगाद्यपेक्षयाऽस्माभिस्तद्ग्रहणमिष्यतेऽपि तु श्रवणान्तर्गतत्वेन । अतो यस्यैव श्रवणान्तर्गतो य शब्द स तेनैव गृह्यते । सर्वगतवर्णपक्षे तु नायं परिहारो निखिलवर्णाना सकलप्रतिपत्तृश्रवणान्तर्गतत्वेन तथैवोपलम्भप्रसंगात् ।

आवरणविगम. शब्दसंस्कार , इत्यप्यसत्यम्, यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरण सिद्धयेत् स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत् । न चासौ सिद्ध । तत्कथमस्यावरणम् ?

कुछ किये विना तो उनकी अपेक्षा होना अशक्य है । यदि कहा जाय कि शब्द ग्रहण की योग्यता लाना व्यजक ध्वनि का कार्य है तो वह योग्यता आत्मा की है या शब्द की अथवा इन्द्रिय की ? प्रथम के दो पक्ष माने तो या तो शब्दो का सर्वदा उपलभ ही होगा या सर्वदा अनुपलभ ही होगा । व्यजक द्वारा इन्द्रिय मे शब्द ग्रहण की योग्यता लायी जाती है ऐसा इन्द्रिय सस्कार का पक्ष तो आगे निराकृत होने वाला ही है ।

"जैसे उत्पद्यमान यह शब्द सबके द्वारा सुनायी नही देता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी असगत है, क्योकि हम जैन दिशादि की अपेक्षा से शब्द का ग्रहण होना नही मानते अपितु कर्ण के अतर्गत होने की अपेक्षा से मानते है । प्रसिद्ध ही है कि जिस पुरुष के कर्ण के अतर्गत जो शब्द होता है वह उसी के द्वारा ग्रहण होता है । किन्तु आपके वर्ण को सर्वगत मानने के पक्ष मे उक्त रीत्या अति प्रसग का परिहार नही हो सकता, आपके यहा तो सभी वर्ण सभी प्रतिपत्ता पुरुषो के कर्णान्तिर्गत होने से सर्वदा उपलब्ध होने का प्रसग अवश्य आता है ।

आवरण का विगम हो जाना शब्द सस्कार है ऐसा आठवा विकल्प भी असत्य है, क्योकि किसी प्रमाणातर से शब्द का सद्भाव सिद्ध होवे तो उसका आवरण सिद्ध हो सकता है जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से घटके ज्ञात होने पर उसमे अधकार आदि का आवरण आना सिद्ध होता है । किन्तु शब्द अभी तक सिद्ध नही हो पाया है अत. उसका आवरण किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? तथा आपने शब्द को नित्य माना है, नित्य पदार्थ अनाधेय और अप्रहेय (आरोप आदि के अयोग्य) होता है अत. उसके लिये आवरण का विगम होना भी अकिंचित्कर (व्यर्थ) है किन्तु किसीका आवरण अकिंचित्कर नही होता अन्यथा अति प्रसग होगा ।

नित्यस्याऽस्याऽनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशयात्मतयाऽस्याकिञ्चित्करत्वाच्च। न चाऽकिंचित्कर कस्यचिदावरणमतिप्रसगात्। उपलब्धिप्रतिबन्धकारणात्तच्चेत्, न, तज्जननैकस्वभावस्य तदयोगात्। न हि कारणाऽक्षये कार्यक्षयो युक्तस्तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसगात्। कथमेव कुड्यादयो घटादीनामावारका इति चेत्, तज्जनकस्वभावखण्डनात्। कथमन्यस्योपलब्धि जनयन्तीति चेत्? त प्रति तत्स्वभावत्वात्। कथमेकस्योभयरूपता? इत्यप्यचोद्यम्, तथा दृष्टत्वात्। शब्दस्यापि स्वभावखण्डनेऽनित्यतेत्युक्तम्।

सर्वगतत्वे चास्याव्रियमाणत्वायोगः। आवार्या हि येनाव्रियते तदावारकम्, यथा पटो घटस्य। शब्दस्त्वावारकमध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च सर्वत्र विद्यमानत्वात्कथ केनचिदाव्रियेत? प्रत्युत स एवावारकः

शका—शब्द का आवरण अकिंचित्कर नही होगा क्योकि वह शब्द के उपलब्धि का प्रतिबध करना रूप कार्य करता है?

समाधान—ऐसा नही हो सकता, उसके जनन रूप एक स्वभाव का उसमे अयोग है। कारण के रहते हुए कार्य का क्षय होना तो युक्त नही अन्यथा वह उसका कार्य ही नही कहलायेगा।

शका—आवरण को इस तरह का माना जाय तो घटादि पदार्थों के भित्ति आदिक आवारक किस प्रकार कहे जाते है?

समाधान—घटादि मे उपलब्धि को उत्पन्न करने का जो स्वभाव है उस स्वभाव का भित्ति आदिक खडन करते हैं अर्थात् घटादि की उपलब्धि नही होने देते अत वे उनके आवारक कहलाते हैं।

शका—यदि ऐसा है तो भित्ति के इस तरफ स्थित अन्य पुरुषको वे घटादिक उपलब्धि को कैसे उत्पन्न कर देते हैं?

समाधान—उसके प्रति उपलब्धि स्वभाव मौजूद है, उसका खडन नही हुआ है। यदि कहा जाय कि एक ही घट मे किसी के प्रति तो उपलब्धि स्वभाव और किसी के प्रति अनुपलब्धि स्वभाव ऐसी उभयरूपता कैसे हो सकतो है? सो यह प्रश्न भी व्यर्थ का है, क्योकि ऐसा देखा ही जाता है। घट के समान शब्द के स्वभाव का खडन होना स्वीकार करेंगे तो उसको अनित्य मानना होगा। इस विषय मे पहले से ही कहते आ रहे कि स्वभाव का परिवर्त्तन, स्वरूप का परिपोष, स्वभाव का खडन आदि जिसमे सभव है वह पदार्थ अनित्य कहलाता है।

स्यात्। तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्, न तर्ह्यावारकम्। न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम्। मूर्त्तत्वात्तदिति चेत्, न तर्हि सर्वगतं घटादिवत्।

अथ यावद्व्योमव्यापिनो बहव एवास्यावारकाः ते, किं सान्तराः, निरन्तरा वा ? यदि सांतराः; न तर्हि तस्यावरणम्, तन्मध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च विद्यमानत्वात्। अथ स्वमाहात्म्यात्तथापि स्वदेशे तदावारकाः, तर्ह्यन्तराले तदुपलम्भप्रसंगः। तथा च सान्तरा प्रतिपत्तिः प्रतिवर्णं खण्डशः प्रतिपत्तिश्च

मीमांसक शब्द को सर्वगत मानते है, सर्वगत रूप इस शब्द मे आव्रियमाणत्वका (ढकने योग्य होने का) अयोग ही रहेगा। इसी का आगे खुलासा करते है—आवार्य (आवरण करने योग्य) पदार्थ जिसके द्वारा आवृत किये जाते हैं उसे आवारक कहते हैं, जैसे वस्त्र घट का आवारक है। किन्तु शब्द मे यह सब घटित नही होता, क्योकि शब्द तो आवारक के मध्यमे उसके देशमे उसके पासमे सर्वत्र ही विद्यमान रहने से वह किस प्रकार आवृत किया जा सकता है ? बल्कि शब्द ही उस आवारक का आवारक बन बैठेगा।

मीमासक—शब्द के समान शब्द का आवारक भी सर्वगत है ?

समाधान—तो फिर उसे आवारक ही नही कहेगे, क्योकि सर्वगत रूप पदार्थ आवारक हो और वह सर्वगत पदार्थ को आवृत करे ऐसा देखा नही जाता जैसे सर्वगत आकाश सर्वगत आत्मा को आवृत नही करता।

मीमासक—आकाश अमूर्त्त है अत आवारक नही किन्तु यह शब्द का आवारक मूर्त्त है अत उसको आवृत कर सकता है ?

जैन—तो फिर उसे सर्वगत नही मान सकते जैसे घटादि मूर्त्त होने से सर्वगत नही कहलाते।

मीमासक—आकाश तक व्यापक ऐसे बहुत से आवारक मानेगे ?

जैन—ठीक है, किन्तु वे सांतर है कि निरंतर ? यदि सांतर है तो शब्द का आवरण नही कर सकते, क्योकि आवारक के मध्य मे, देश मे एव उसके पास सर्वत्र ही शब्द विद्यमान है।

मीमासक—शब्द के सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी वे आवारक अपने माहात्म्य से अपने स्थान पर शब्दो को आवृत करते है।

स्यात् । सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मना विद्यमानत्वान्न दोषश्चेत्, नैवम्, प्रतिप्रदेशमकारादिवहुत्वस्य ध्वन्यादिवैफल्यस्य चानुषगात्, तदभावेप्यन्तराले उपलम्भसम्भवात् । अथान्तरालेऽसन्तोप्यावारका , तर्ह्येकमेवावारक प्रदेशनियत कल्पनीय किं तद्बहुत्वेन ? अन्यत्राविद्यमान कथमावारकमिति चेत् ? अतरालवदिति ब्रूम । तन्नसान्तराः। निरन्तरत्वे चैषाम् तद्वच्छब्दस्यापि निरन्तरत्वादावार्यावारकभाव समान एवोभयत्र । अथ वस्तुस्वाभाव्यात् स्तिमिता वायव एव तदावारका , ननु दृष्टे वस्तुन्येतद्वक्तु

जैन—तो फिर आवारक रहित बीच के स्थान मे शब्द की उपलब्धि होने का प्रसग आयेगा, और इस तरह होने पर शब्दो की प्रतीति सातर होने लगेगी एव प्रत्येक वर्ण की खंड खड रूपसे प्रतीति होने लगेगी ।

मीमासक—शब्द सर्वत्र सर्वदा सर्वात्म रूपसे विद्यमान रहने से खडश प्रतीति होने का प्रसग नही आयेगा ।

जैन—ऐसा नही कह सकते, क्योकि इस तरह मान लेने पर प्रत्येक प्रदेश मे बहुत से अकार, इकार आदि हैं ऐसा मानना होगा एव उनकी अभिव्यजक ध्वनियां भी व्यर्थ हो जायेगी, क्योकि ध्वनियो के नही होने पर भी आवारक के अंतराल मे शब्द की उपलब्धि होना शक्य है ।

मीमासक—यद्यपि अतराल मे [शब्द और आवारक के बीच मे] आवारक नही है तो भी वे शब्दो को आवृत करते है ?

जैन—तो फिर प्रदेश मे नियत कोई एक ही आवारक मानना चाहिये ? बहुत से आवारक मानने मे क्या लाभ है ।

मीमासक—अन्य प्रदेश मे आवारक नही रहेगा तो वह शब्द को आवृत कैसे करेगा ?

जैन—जैसे अतराल मे नही रहते हुए भी आवारक शब्द को आवृत करता है वैसे अन्य प्रदेश मे नही रहते हुए उसको आवृत कर सकते हैं कोई विशेषता नही है । इस प्रकार आवारको को सातर मानने के पक्ष मे दोष आते हैं । दूसरा निरतर का पक्ष माने तो शब्दके समान आवारक भी निरतर होने से इनमे आवार्य–आवारक समान रूप से लागू होगा अर्थात् आवारक शब्द को आवृत कर सकते हैं तो शब्द भी आवारक को आवृत कर सकेगे ।

शक्यम्, यथा दृष्टेऽग्नौ दाहकत्वेन 'वस्तुस्वाभाव्यादग्निर्दहति न जलम्' इत्युच्यते। न च तथाविधा वायवो दृष्टाः। नापि सन् शब्दस्तैराव्रियमाणो येनैवं स्यात्। अदृष्टकल्पनमुभयत्र समानम्। तन्न किंचित्तस्यावारकम्।

अस्तु वा तत्, तथाप्यस्य कुतो विगमः? ध्वनिभ्यश्चेत्; न; तत्सद्भावावेदकप्रमाणप्रतिषेधतस्तेषामसत्त्वात्। सत्त्वे वा कुतस्तेषामुत्पत्तिः? ताल्वादिव्यापाराच्चेत्, न, तद्वच्छब्दस्यापि तद्व्यापारे सत्युपलम्भतस्तत्कार्यतानुषंगात्। ननु खननाद्यनन्तरं व्योमोपलभ्यते, न च तत्कार्यमतोऽनैकान्तिकत्वम्। तदुक्तम्—

मीमासक—वस्तु स्वभावही ऐसा है कि स्तिमित वायु रूप आवारक ही शब्द को आवृत कर सकते हैं, शब्द उनको आवृत नही कर सकते ?

जैन—दृष्ट (प्रत्यक्ष) वस्तु मे इस तरह कह सकते है, जैसे कि अग्नि मे दाहक गुण देखकर कहते है कि अग्नि वस्तु स्वभाव के कारण ही जलाती है, जल नही जला सकता इत्यादि। किन्तु अग्नि के समान स्तिमित वायु तो दृष्टिगोचर नही है, न शब्द ही उनके द्वारा आवृत होता हुआ दृष्टिगोचर होता है जिससे कि वैसा मान लेवे। यदि अदृष्ट बिना देखे ही वैसी कल्पना करनी है तो दोनो प्रकार से कर सकते है अर्थात् शब्द को वायु आवृत करती है तो शब्द वायु को क्यों नही आवृत करता ? इसलिये उस शब्द की कोई आवारक रूप वस्तु सिद्ध नही होती।

जैसे तैसे मान लेवे कि शब्द का आवारक है तो भी उस आवारक का विगम (हटाना, नष्ट होना) किनसे होगा ? ध्वनि से होगा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ध्वनियो के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का निषेध हो चुका है अतः उनका अभाव ही है। यदि हठाग्रहसे अस्तित्व मान भी लेवे तो उनकी उत्पत्ति किससे होगी ? तालु, ओठ आदि के व्यापार से ध्वनियो की उत्पत्ति होती है ऐसा कहो तो ठीक नही, क्योंकि यदि तालु आदि के व्यापार से ध्वनि की उत्पत्ति होती है तो उसी व्यापार से शब्द की उत्पत्ति भी संभव है, उस व्यापार के होने पर शब्द की उपलब्धि भी पायी जाती है अतः शब्द उसी का कार्य है।

मीमांसक—पृथ्वी खोदकर पोल होती है उसमे आकाश (मीमासक आदि परवादियो ने ठोस जगह मे आकाश को आवृत माना है) उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है किन्तु वह खनन क्रिया का कार्य नही कहलाता, अतः जैन ने अभी जो कहाकि

"अनैकान्तिकता तावद्धेतूनामिह कथ्यते ।
प्रयत्नानन्तर दृष्टिर्नित्येपि न विरुद्धयते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १६]

"आकाशमपि नित्य सद्यदा भूमिजलावृतम् ।
व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभि ॥२॥

प्रयत्नानन्तर ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते ।
तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्त तत्र दर्शनम् ॥३॥

अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते ।
शब्दोपि प्रत्यभिज्ञानात्प्रागस्तीत्यवगम्यताम् ॥४॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३]

तालु आदि के व्यापार के अनतर शब्द उपलब्ध होने से उसका कार्य है। सो यह कथन अनैकान्तिक होता है क्योंकि उसके अनतर उपलब्ध होने मात्र से कोई उसका कार्य नही बन जाता। जैसा कि कहा है–पक्ष विपक्ष दोनोमे हेतुके जाने से अनेकातिक दोष आता है किन्तु यहा शब्द के विषय मे दूसरी वात है अर्थात् "शब्द नित्य है क्योंकि वह अकृतक है" ऐसा हमारा अनुमान प्रमाण है, सो उसमे तालु आदि के व्यापार के अनतर शब्द के उपलब्ध होने से शब्द उसका कार्य रूप सिद्ध होने से अनित्य के कोटी में आ जाता है ऐसा अकृतकत्व हेतु मे अनैकातिकपना उपस्थित करना ठीक नही, क्योंकि नित्य वस्तु भी प्रयत्न के (व्यापार के) अनतर उपलब्ध हो सकती है कोई विरोध नही है ॥ १ ॥ इसी का स्पष्टीकरण करते है–आकाश भी नित्य होता है किन्तु भूमि जल आदि से आवृत होने पर उसके आवरण को खनन उत्सेधन (खोदना पानी को निकाल देना) आदि क्रिया द्वारा हटाने पर वह आकाश उपलब्ध (प्रगट) होता है। उससमय उस नित्य आकाश मे भी "प्रयत्न के अनंतर हुआ" ऐसा ज्ञान हो जाया करता है। अतः उपर्युक्त शब्द के अकृतकत्व हेतु को अनैकातिक कहना असत् है ॥२॥३॥ अथवा इस अकृतक हेतु वाले अनुमान को थोडी देर के लिये स्थगित कर दीजिये, तो भी अन्य अनुमान से भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। वह इस प्रकार है–शब्द नित्य है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से उसका अस्तित्व तालुव्यापार के पूर्व मे भी सिद्ध होता है ॥४॥ इत्यादि।

तदप्यसंगतम्, ध्वनीनामप्येवं ताल्वादिव्यापारकार्यत्वाभावप्रसंगात्। एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा, स्वविज्ञानजननैकस्वभावत्वे हि तस्य न खननाद्यनन्तरमेवोपलब्धिः किन्तु पूर्वमपि स्यात्। तदस्वभावत्वे वा न कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात्। विशेषे वा एकरूपताव्याघातः। प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दे प्राक् सत्त्वसिद्धिश्च ध्वनावपि समाना 'य एव पूर्वमकारस्य व्यजको ध्वनि' स एव पश्चादपि' इति प्रतीते। तथा च व्यजनस्यापि सर्वत्र सर्वदा सद्भावे ताल्वादिव्यापारवैफल्य सर्वत्र सर्वदा व्यग्यप्रतीतिश्च स्यात्। तन्न ताल्वादिव्यापारकार्यता ध्वनीनामेव। अतः कथ तेषां सत्त्वमुत्पादकाभावात् ?

सन्तु वा ते, तथाप्यत क्वचिदावरणविगमे विवक्षितवर्णवन्निखिलवर्णोपलब्धिप्रसगः; व्यापकत्वेन सर्वेषा तत्र सद्भावात्, तथा च ध्वन्यन्तरस्य वैफल्यम्। ननु चावार्याणामिवावारकाणां तद्वच्च तदपनेतॄणा भेदस्तेनायमदोष। उक्तञ्च—

जैन—यह सारा कथन असगत है, इस तरह शब्द को तालु आदिका कार्य न माना जाय तो ध्वनियो को भी तालु आदि के व्यापार का कार्य नही माना जायगा। तथा आपके उपर्युक्त कथन से आकाश की एक रूपता भी असिद्ध हो जाती है, क्योकि यदि आकाश मे अपने ज्ञानको उत्पन्न करने का एक स्वभाव है तो खनन के अनतर ही उसकी उपलब्धि नही होगी अपितु पहले भी होगी, अथवा यदि उक्त स्वभाव आकाश में नही है तो "यह आकाश है" इस तरह कभी भी उसको उपलब्धि नही हो पायेगी क्योंकि उस नित्य एक स्वभाव वाले आकाश मे कोई भेद विशेष नही है। यदि आकाश में विशेष हैं तो उसको एक रूप मानने का सिद्धात खडित हो जाता है। आपने प्रत्यभिज्ञान द्वारा तालु आदिके व्यापार के पूर्व मे शब्दका अस्तित्व करना चाहा सो यह न्याय ध्वनि में भी घटित हो सकता है, क्योकि अकार वर्ण की व्यजक ध्वनि जो पूर्व मे थी वही पश्चात् भी है ऐसा प्रतीत (प्रत्यभिज्ञान) होता ही है। इसप्रकार व्यञ्जक ध्वनिका सर्वत्र सर्वदा सद्भाव होने पर उनके लिये किया गया तालु आदिका व्यापार व्यर्थ ही ठहरता है एव ध्वनि द्वारा व्यक्त होने वाले शब्दरूप व्यग्यकी प्रतीति भी सर्वत्र सर्वदा होनेका प्रसग आता है। अत. तालु आदि के व्यापार का कार्य ध्वनिया ही है ऐसा कथन असिद्ध होता है, और जब उनका कोई उत्पादक कारण सिद्ध नही होता तब अस्तित्व भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ?

यदि मान लिया जाय कि ध्वनियो का सद्भाव है और उनके द्वारा शब्द के आवरण का निगम होता है तो भी कही एक जगह आवरण का विगम होने पर विवक्षित

"व्यजकाना हि वायूना भिन्नावयवदेशता ।
जातिभेदश्च तेनैग मस्कारो व्यवतिष्ठते ।।१।।
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथान्य न करोति व ।
तथान्यवर्णसस्कारशक्तो नान्य करिष्यति ।।२।।
अन्यैस्ताल्वादिसयोगैर्वर्णो नान्यो यथैव हि ।
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभि ।।३।।
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तित सम ।
सामर्थ्यभेद सर्वत्र स्यात्प्रयत्नविवक्षयो ।।४।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ७९-८२]

एक वर्ण के समान निखिल वर्णोकी उपलब्धि होनेका प्रसग आता है, क्योकि व्यापक होने के कारण निखिल वर्णों का वहा पर (जहा आवरण विगम हुआ है) सद्भाव है, और इस तरह सब वर्णोकी उपलब्धि हो जाने पर अन्य ध्वनिया व्यर्थ ठहरती है ।

मीमासक—आवार्य शब्दो के समान आवारक (स्तिमित वायु) एव आवारक का विगम करने वाली ध्वनिया इनमे भेद पाया जाता है अत उपर्युक्त दोष नही आता । कहा भी है—व्यजक वायुओ के भिन्न भिन्न अवयव देश होते है । तथा जाति भेद भी होते हैं अत. वर्णोका इस प्रकार का सस्कार सिद्ध होता है ।।१।। शब्दो की उत्पत्ति मानने वाले आप जैनो के यहा जिस प्रकार अन्य अर्थके लिये (अन्य शब्दके लिये) प्रेरित हुई वायु किसी अन्यको नही करती अर्थात् तालु आदि के व्यापार रूप वायु प्रतिनियत चकार इकार आदिको करती है अन्य टकार ऋकार आदिको नही उसी प्रकार उक्त वायु द्वारा शब्दोका सस्कार होना मानने वाले हम मीमासक के यहा अन्य वर्ण के सस्कार करने मे शक्ति रखने वाली वायु किसी अन्य वर्ण के सस्कार को नही करती ऐसा सिद्ध होगा ही ।।२।। तथा जिस प्रकार अन्य तालु आदिके सयोग से अन्य वर्ण नही किया जाता ऐसा आप जैन मानते है उसी प्रकार अन्य ध्वनि द्वारा होने वाला शब्द सस्कार अन्य कोई ध्वनियो द्वारा नही किया जाता ऐसा हम मीमासक मानते हैं ।।३।। इसलिये उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष इनमे कार्य की अर्थापत्ति समान ही दिखायी देती है । अर्थात् जैन उत्पत्तिरूप कार्य की अर्थापत्तिसे शब्द को सिद्धि करते हैं और मीमासक अभिव्यक्तिरूप कार्य की अर्थापत्ति से उसकी सिद्धि करते

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिन्नदेशेऽभिन्नेन्द्रियग्राह्ये चावार्ये आवरणभेदस्याभिव्यजकभेदस्य चाऽप्रतीते । न खलु घटशरावोदञ्चनादीना तथाविधानामावरणव्यजकभेदो दृष्ट', काण्डपटादेरेकस्यैवावरणत्वस्य प्रदीपादेश्चैकस्यैवाभिव्यजकत्वस्य प्रसिद्धे:। तथा च प्रयोग-शब्दा प्रतिनियतावरणावार्य्या. प्रतिनियतव्यजकव्यग्या वा न भवन्ति, समानदेशैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्, घटादिवत् । न

है । सामर्थ्य भेद तो सर्वत्र ही है, चाहे प्रयत्न के अनंतर शब्दका उत्पन्न होना रूप पक्ष ग्रहण करे चाहे विवक्षा के अनतर शब्दका अभिव्यक्त होना रूप पक्ष ग्रहण करे सामर्थ्य का भेद तो इष्ट ही है । अर्थात् प्रयत्न के अनंतर शब्द उत्पन्न होते हुए भी हर कोई प्रयत्न से (तालु आदि के व्यापार से) हर कोई शब्द उत्पन्न नही होता क्योकि प्रयत्न मे पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती है ऐसा जैन कहते है और व्यजक ध्वनिसे शब्दका सस्कार होकर शब्द व्यक्त होता है तो भी हर कोई ध्वनि से हर कोई शब्द सस्कार नही होता क्योकि ध्वनि आदि मे पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती हैं ऐसा मीमासक मानते हैं ।।४।। इत्यादि

जैन—यह प्रतिपादन विना सोचे किया गया है, क्योकि अभिन्न देश मे होने वाले एवं अभिन्न इन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय द्वारा) ग्राह्य होने वाले आवार्य मे (शब्द मे) आवरण का भेद और अभिव्यजक का भेद प्रतीत नही होता । क्योकि उक्त प्रकार के घट, शराव, उदचन (पानी सीचने का पात्र विशेष) आदि के आवरण एव व्यजक मे भेद नही देखा जाता है अपितु एक ही वस्त्र आदि रूप आवरण देखा जाता है तथा दीपकादि एक ही व्यंजक देखा जाता है अर्थात् आवार्य रूप घटादि का आवरण एक वस्त्रादि से हो जाता है उनके लिये प्रत्येक मे पृथक आवरण की जरूरत नही पडती, तथा एक ही दीपक रूप व्यजक उन घटादि की अभिव्यक्ति कर देता है उनके लिये प्रत्येक मे पृथक् पृथक् दीपक की जरूरत नही पडती । अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि - शब्द प्रतिनियत आवरण द्वारा आवार्य नही होते एव प्रतिनिगत व्यजक द्वारा व्यंग्य नही होते, क्योकि समान देश और एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं जैसे घटादिक हैं । आप मीमासक आवार्य भूत वर्णो मे देश भेद भी स्वीकार नही कर सकने यदि करेगे तो उनमे व्यापकपने का अभाव हो जायगा । देश भेद तो उन पदार्थो मे पाया जाता है जो परस्पर के देश का परिहार करके अवस्थित रहने हैं जैसे गो और हाथीमे देश भेद पाया जाता है । इस अनुमान प्रमाण द्वारा शब्द के आवरण का भेद मानना असिद्ध होता है, इसलिये आवरणके भेद से शब्द के जाति मे भेद की कल्पना तथा उस

चाऽऽवार्यवर्णाना देशभेदो युक्त , व्यापकत्वाभावप्रसंगात् । देशभेदो हि परस्परदेशपरिहारेणावस्थाना-त्प्रसिद्धो गोकुञ्जरवत् । तथा चावरणभेदस्याऽसत कथ जातिभेदप्रकल्पन तदपनेतृजातिभेदप्रकल्पन च श्रेयो यतो 'जातिभेदश्च' इत्यादि शोभेत ।

नन्वेकेन्द्रियग्राह्यस्यापि व्यग्यस्य व्यजकभेदो दृष्ट, यथा भूमिगन्धस्य जलसेक न शरीर-गन्धस्य । अस्यापि मरीचिचक्रसहायस्तैलाम्यगो न भूमिगन्धस्येति । सत्य दृष्ट , स तु विषयसस्कारकस्य व्यञ्जकस्य, न त्वावरणविगमहेतो । नैव वा गन्धस्याभिव्यञ्जका जलसेकादयोऽपि तु कारका:,

---

आवरण को हटाने वाले ध्वनि मे जाति भेद की कल्पना करना श्रेयस्कर नही है, अत' आपके मीमासा श्लोक वार्तिकका जाति भेदश्च...इत्यादि पूर्वोक्त कथन असत् ठहरता है ।

मीमासक—जो व्यग्य एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है उसमे भी व्यजक का भेद देखा जाता है, जैसे - भूमिकी गधका अभिव्यजक जलसेक (पानी का सीचना) होता है यह जलसेक शरीरकी गधका अभिव्यजक नही है और शरीर गधका अभिव्यजक मरीचि आदि अनेक पदार्थका उवटन जिसमे सहायक है ऐसा तेलका अभ्यग (मालिश) होता है वह उस भूमि गधका अभिव्यजक नही हो पाता, अभिप्राय यह है कि भूमिगध और शरीर गध ये दोनो व्यग्यभूत एक ही घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं किन्तु इनके व्यजक मे भेद है ।

जैन—ठीक है, किन्तु यह भेद विषय मे सस्कार करने वाले व्यजकका है न कि आवरण करने वाले कारण का । दूसरी बात यह है कि जलसेक आदिक भूमिगधके अभिव्यजक नही है अपितु कारक है (उसको प्रगट करने वाले न होकर उत्पन्न करने वाले हैं) क्योकि जलसेक आदिकी सहायता से पृथिवी आदि के विशिष्ट गधकी उत्पत्ति ही होती है उसका भी कारण यह है कि जलसेकादि के सहायता के पहले उस गधके सद्भाव को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है कि जिससे पृथिवी मे गध पहले था और उसको जलसेक ने व्यक्त किया ऐसा सिद्ध हो सके । हा जो कारकभूत कारण होते हैं उनमे यह नियम देखा जाता है कि एक इन्द्रिय ग्राह्य होने पर एव समान देश मे होने पर भी उस कार्य का कारण एक नही होता । जैसे एक देश मे स्थित होने पर भी सभी यवबीजादि शालिके अकुर को और यवके अकुर को उत्पन्न नही करते किन्तु शालिबीज ही शालिके अकुरको उत्पन्न करता है और यवबीज ही यव के अकुरको उत्पन्न करता है । इस तरह शब्दके आवरण मे भेद मानना खडित होता है ।

तत्सहकारिण पृथिव्यादेर्विशिष्टस्य गन्धस्योत्पत्ते' पूर्वं तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। कारकाणां चैकेन्द्रियग्राह्ये समानदेशे च कार्ये नियमो दृष्ट। यथैकत्र स्थिता अपि यवबीजादयो न सर्वे शाल्यकुरं यवाकुर चोत्पादयन्ति, किन्तु शालिबीजमेव शाल्यकुर यवबीज च यवाकुरम् इति।

एतेन 'अन्यैस्तात्वादिसयोगै' इत्यादि निरस्तम्, कथम्? ध्वन्यन्तरसारिभिस्तात्वादिभिर्यद्यपि ध्वन्यन्तराक्षेपो नास्ति तथापि य एव तैराक्षिप्यते तत एव सर्ववर्णश्रुतेर्ध्वन्यन्तराक्षेपपक्षदोषस्तदवस्थ'। तन्न शब्दमस्कारोभिव्यक्तिर्घटते।

भावार्थ—व्यजककारण और कारककारण इनमे समानता नही है। जैसे एक ही प्रदीप प्रकोष्ठक मे स्थित सभी पदार्थोको प्रकाशित कर देता है, एक ही सूर्य भूमडलको प्रकाशित करता है इस प्रकारका अभिव्यजक कारण स्वय एक होकर भी अनेको को प्रकाशित करने रूप अनेक कार्योंको करता है। किन्तु कारक कारण ऐसा नही होता, जैसे एक यव बीज रूप कारक कारण एक हो यवाकुर को उत्पन्न करता है अन्य यवाकुर एव शालि अकुरको उत्पन्न नही कर सकता, एक मिट्टी रूप कारक कारण घट को ही उत्पन्न करता है वस्त्रादि को नही, इस प्रकार कारक और व्यंजक में महान अतर है। इसलिये मीमासक ने ऊपर जो दृष्टात दिया था कि भूमिकी गध और शरीरकी गध गधकी अपेक्षा एक व्यग्य रूप होकर भी उनके व्यजक मे भेद है भूमि गध जलसेक रूप व्यजक से प्रगट होती है और शरीर गध उबटनादि से, ऐसे ही शब्द रूप व्यग्य एक होने पर भी उसके व्यजक ध्वनिमे भेद होगा इत्यादि सो यह दृष्टात गलत है, क्योकि प्रथम तो इस दृष्टात मे व्यजक कारण न होकर कारक कारण है अर्थात् जल सेकादि कारण गधको प्रगट नही करते अपितु उत्पन्न ही करते हैं, दूसरे, कारक और व्यजक मे अतर है। कारक एक ही कार्यको करने वाला होता है अत. अनेक कार्योंके कारको मे भेद सिद्ध होता है किन्तु आप ध्वनिको शब्दका अभिव्यजक मानते है न कि कारक अत दीपकके समान एक ही ध्वनि द्वारा सपूर्ण शब्द (या वर्ण) एक साथ प्रगट होने का अतिप्रसग आप मीमासक के यहा अवश्य आता है।

इसीप्रकार "अन्य तालु आदिके सयोग से अन्य शब्दका सस्कार नही होता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी खडित होता है, कैसे सो बताते हैं—यद्यपि ध्वन्यन्तर को करने वाले तालु आदिके व्यापार से अन्य ध्वनिका आक्षेप (अन्य ध्वनिको उत्पन्न करना) नही होता है तथापि तालु आदिसे जो भी कोई एक ध्वनि उत्पन्न की जायगी

अथेन्द्रियसंस्कारोसौ। तदुक्तम्—

"अथापीन्द्रियसस्कार सोप्यधिष्ठानदेशत ।
शब्द न श्रोष्यति श्रोत्र तेनाऽसस्कृतशष्कुलि ॥१॥
अप्राप्तकर्णदेशत्वाद्ध्वनेर्न श्रोत्रसस्क्रिया ।
अतोऽधिष्ठानभेदेन सस्कारनियमस्थिति ॥२॥

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९-७०]

"यद्यपि व्यापि चैक च तथापि ध्वनिसस्कृतिः ।
अधिष्ठानेषु सा यस्य तच्छब्द प्रतिपत्स्यते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६८] इति ।

उसी एक ध्वनिसे सपूर्ण वर्ण सुनायी दे सकनेसे (क्योकि सर्व वर्ण सर्वत्र मौजूद हैं) अन्य ध्वनिका आक्षेप होनेका जो पक्ष है अर्थात् अन्य अन्य ध्वनिसे अन्य अन्य वर्ण प्रगट किये जाते है ऐसा जो मीमासक का पक्ष है उसमे तो दोष आते ही हैं अर्थात् अन्य अन्य ध्वनिकी कल्पना व्यर्थ ठहरती है क्योकि एक ध्वनि द्वारा सपूर्ण वर्ण प्रगट होना सिद्ध होता है । अत शब्द सस्कार को अभिव्यक्ति कहते हैं और वह ध्वनिसे होती है इत्यादि कथन घटित नही होता ।

मीमासक—ध्वनिसे इन्द्रिय का सस्कार होता है, जैसा कि कहा है—इन्द्रिय सस्कार वहा होता है जहा उसका अधिष्ठान देश है, जैसे श्रोत्रेन्द्रियका श्रोत्र देश है (कर्ण की पोल) सो श्रोत्र यदि सस्कार द्वारा सुसस्कृत नही है तो वह शब्दको नही सुनेगा ॥१॥ अन्य ध्वनि कर्ण देश मे प्राप्त न होने से कर्ण सस्कार को कर नही सकती, अत अधिष्ठान के विभिन्न होने से ध्वनि द्वारा होने वाले सस्कार का नियम (अन्य अन्य ध्वनिसे अन्य अन्य श्रोत्रेन्द्रिय का सस्कार होना) सिद्ध होता है ॥२॥ यद्यपि श्रोत्र व्यापी और एक है तो भी उसके अधिष्ठान अनेक अनेक हैं उनमे से जिस अधिष्ठान मे ध्वनि द्वारा सस्कार होता है वही श्रोत्राधिष्ठान उस शब्दको जानता (सुनता) है ॥३॥ इत्यादि ।

अत्रापि सकृत्संस्कृत श्रोत्र युगपत्सर्ववर्णान् शृणुयात् । न ह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं नीलधवलादिकं कञ्चित्पश्यति कञ्चिन्नेति । बलातैलादिना सम्कृत श्रोत्र वा काश्चिदेव गकारादीन् शृणोति काश्चिन्नेतीति नियमो दृष्टो येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् ।

ततो निराकृतमेतत्—

"तथा(यथा)घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते ।
चक्षुषोऽनुग्रहादेव ध्वनि स्याच्छ्रोत्रसंस्कृते ॥१॥
न चा(च)पर्यनुयोगोत्र केनाकारेण सस्कृतिः ।
उत्पत्तावपि तुल्यत्वाच्छक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति ।

जैन—इस पक्ष मे भी एक बार सुसस्कृत हुआ श्रोत्र युगपत् सपूर्ण वर्णोको सुन सकता है ऐमा पूर्वोक्त दोप आता ही है । प्रसिद्ध बात है कि अजन आदि से सुसस्कृत हुआ नेत्र निकटवर्त्ती नील धवल आदि वस्तु मे से किसी को तो देखे और किसी को न देखे ऐसा नही होता अपितु नेत्र नीलादि सभी को देखती है । तथा बला तेल (सपूर्ण शब्दोको सुनने की शक्ति को उत्पन्न करने वाला कोई तेल) द्वारा सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र किन्ही गकारादिको तो सुने और किन्ही वर्णोको न सुने ऐसा नही होता । इसी प्रकार यदि ध्वनि द्वारा श्रोत्र देश सुसस्कृत होना मानते हैं तो सभी वर्ण उस श्रोत्र द्वारा सुनायी देते हैं ऐसा अनिष्ट मानने का प्रसग अवश्य आता है ।

इसीलिये निम्नलिखित कथन भी निराकृत हुआ समझना चाहिये कि—जिस प्रकार चक्षु के अनुग्रह से अर्थात् चक्षु के सस्कार के निमित्त होने से दीपादिक घटादि-पदार्थ के अभिव्यजक माने जाते है उस प्रकार श्रोत्र सस्कार की ध्वनि अभिव्यजक है ऐसा मानते है । इसमे व्यर्थ के प्रश्न नही करना चाहिये कि वह श्रोत्र सस्कार किसी रूप से होता है ? किसी एक ध्वनि द्वारा सस्कार होने पर सब वर्ण सुनायी देना चाहिये । क्योकि शब्द की अभिव्यक्ति मानने के पक्षमे यदि ऐसे प्रश्न उठा सकते हैं तो शब्द की उत्पत्ति मानने के पक्ष मे भी ये ही प्रश्न उठा सकते है । क्योकि जिस तरह शब्द की अभिव्यक्ति की शक्ति अतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति भी अतीन्द्रिय है, अतः उभय पक्ष मे भी प्रश्न होना स्वाभाविक है ॥१॥२॥ इत्यादि ।

प्रदीपादिनानुगृहीतचक्षुषा पटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेणाप्येकदानेकशब्दश्रवणप्रसङ्गात् । प्रयोग:-श्रोत्रमेकेन्द्रियग्राह्याभिन्नदेशावस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

भावार्थ—उपर्युक्त मीमासा श्लोक वार्तिक ग्रन्थ के उद्धरण मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यजक और कारक कारण समान होते हैं । अर्थात् मीमासक का कहना है कि ध्वनिया शब्द को व्यक्त करती है ऐसा हम मानते हैं, इस मान्यता मे जैन प्रश्न करते हैं कि ध्वनि द्वारा एक साथ सब शब्द (वर्ण) क्यो नही व्यक्त होते ? इत्यादि सो यह प्रश्न हम मीमासक जैन के प्रति भी कर सकते है कि तालु आदि से शब्द उत्पन्न किये जाते है तो एक साथ सब शब्द क्यो नही उत्पन्न किये जाते इत्यादि । किन्तु जैनाचार्य ने इसका समाधान पहले ही दिया है कि व्यजक कारण और कारक कारण समान नही होते इनका कार्य समान नही होता एक व्यजक कारण रूप प्रदीप एक साथ अनेक घटादिको अभिव्यक्त (प्रकाशित) करता है किन्तु एक कारक कारण रूप यवबीज अनेक यवाकुरो को या शालि अकुरो को उत्पन्न नही करता । यही तो कारक और व्यजक मे अतर है—कारक तो उस वस्तु को नयी रूप से निर्माण करता है किन्तु व्यजक ऐसा नही है वह तो केवल बनी बनायी वस्तु को प्रकाशित करता है । अत यदि ध्वनि शब्द को केवल अभिव्यक्त करती है तो उसको एक साथ सब वर्णों को अभिव्यक्त करने का प्रसग आता ही है । किन्तु तालु आदि के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले जैन के पक्ष मे ऐसा अति प्रसंग दोष नही होता ।

यदि मीमासक ध्वनि द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होना ही मानते हैं तो जिस तरह प्रदीपादि से अनुग्रहीत (सुसस्कृत) हुई चक्षु वस्त्र आदि अनेक पदार्थो को ग्रहण करती है (देखती जानती है) उस तरह ध्वनि से अनुग्रहीत (सुसस्कृत) हुआ श्रोत्र भी एक साथ अनेक शब्दो को श्रवण कर सकता है ऐसा अनिष्ट मानने का प्रसग अवश्य आता है । अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि—श्रोत्र एक ही इद्रिय से ग्राह्य अभिन्न देश मे अवस्थित पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रतिनियत सस्कार द्वारा सस्कारित होने योग्य नही है, क्योकि वह इन्द्रिय रूप है जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप होने से प्रतिनियत सस्कारक द्वारा सस्कारित होने योग्य नही है । इस प्रकार श्रोत्र सस्कार को अभिव्यक्ति कहते है ऐसा कहना घटित नही होता ।

अस्तु तह्यु भयसस्कार । न चात्रोक्तदोषानुषङ्ग । तदुक्तम्—

"द्वयसस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वचः ।
येनान्यतरवैकल्यात्सर्वै सर्वो न गृह्यते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६]

तदप्ययुक्तम्, उक्तदोषादेव, तथाहि–यदैकवर्णग्राहकत्वेन सस्कृत श्रोत्र सस्कृत वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्प्रतिपद्येत सस्कृत च वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न भवेत्तदात्मकत्वात्तस्य । अतो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य विचार्यमाणस्याऽयोगान्न व्यजकध्वन्यधीनो विभिन्नदेशकालस्वभावतया शब्दस्योपलम्भोऽपि तु तत्स्वभावभेदनिबन्धन ।

मीमासक—तो फिर उभय सस्कार (शब्द तथा इन्द्रिय दोनो का सस्कार) स्वीकार करना चाहिए अर्थात् उभय सस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानना चाहिये । इस पक्ष मे तो उक्त दोष नही आयेगा । जैसा कि कहा हैं—इन्द्रिय सस्कार और शब्द सस्कार दोनो सस्कारो के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानने पर भी दो दोष आते है अर्थात् शब्द सस्कार के पक्ष मे दिया हुआ और इन्द्रिय सस्कार के पक्ष मे दिया हुआ इस तरह दो दोष उभय सस्कार के पक्ष में आते है ऐसा जैनादि परवादी कहे तो वह असत् है, क्योकि दोनो सस्कारो मे से किसी एक के नही होने के कारण ही सब वर्ण सबके द्वारा ग्रहण नही होते है ।।१।।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि इस पक्ष मे वही दोष आते है । आगे इसी को बताते हैं—जब एक वर्ण को ग्राहकपने से सुसस्कृत हुआ श्रोत्र सुसस्कृत वर्ण को ग्रहण करता है (सुनता है) तब वहा पर स्थित जो सब वर्ण है उनको ग्रहण करेगा ही क्योकि सुसस्कृत (संस्कारित हुआ) वर्ण सर्वत्र सर्वदा अवस्थित ही रहता हैं, यदि सुसस्कृत वर्ण को श्रोत्र ग्रहण नही करेगा तो उसकी प्रतीति ही नही होवेगी, इसका भो कारण यह है कि वर्ण हमेशा तदात्मक (उसी एक रूप) होता है । इसलिए शब्द और ध्वनि मे व्यग्य–व्यजक भाव मानने का जो सिद्धात है वह विचार करने पर अयुक्त साबित होता है । अत विभिन्न देश काल एव स्वभाव रूप से शब्द की उपलब्धि होना व्यजक ध्वनि के अधीन नही है अपितु शब्द मे स्वय उस प्रकार का स्वभाव है कि वह क्रमश ही उत्पन्न होता है ।

यच्चोक्तम्–'जलपात्रेषु च' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, तत्रोपलभ्यमानस्यादित्यप्रतिबिम्बस्यानेकत्वात्। 'गगनतलावलम्बी हि सविता तत्रोपलभ्यते' इत्यत्र न प्रत्यक्ष प्रमाण तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्। तस्य हि स्वरूप गगनतलावलम्बि चैक च, तन्नात्रभासते। यच्चावभासि जलपात्रावलम्बि चानेक च, तद्वृक्षच्छायादिवद्वस्त्वन्तरमेव। न चान्यप्रतिभासेऽन्यप्रतिभासो नामाऽतिप्रसगात्। न च जलभानोर्गगनभानुना सादृश्यादेकत्वम्, कमनीयकामिनीनयनयोरपि तत्प्रसगात्। नापि तद्विकारे जलभानुविकारादेकत्वम्, वृक्षच्छाययोरपि तत्प्रसगात्।

ननु तत्र तत्प्रतिबिम्बाना वस्त्वन्तरत्वे कुतः प्रादुर्भाव स्यादिति चेत् ? जलादित्यादिलक्षणस्वसामग्रीविशेषात्। तर्हि स्वच्छताविशेषसद्भावाज्जलादर्शादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकार-

---

मीमासक ने पहले कहा था कि—सूर्य के एक रहते हुए भी जल पात्रो मे नाना रूप दिखायी देता है वैसे वर्ण एक होकर नाना प्रतीत होते है इत्यादि सो वह कथन अनुचित है जल पात्रो मे जो सूर्य का प्रतिविम्ब उपलब्ध होता है वह अनेक ही है, क्योकि उन पात्रो मे आकाशस्थित सूर्य उपलब्ध होता है ऐसा मानना प्रत्यक्ष प्रमाण रूप नही है अर्थात् ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होना कहो तो वह प्रामाणिक नही, क्योकि उसमे सूर्यका स्वरूप प्रतिभासित हो नही होता। सूर्यका स्वरूप तो गगनतल मे अवलवित एव एक रूप रहना है वह स्वरूप जल पात्रो मे तो है नही। और जो यहा प्रतीत हो रहा वह जल पात्रो मे अवलवित एव अनेक रूप है, अत यह जल पात्रावलवी प्रतिविम्ब सूर्य से अन्य कोई वस्तु रूप ही है जैसे कि वृक्षकी छाया वृक्ष से अन्य किसी वस्तु रूप है। अन्य के प्रतिभास मे किसी अन्य का प्रतिभास मानना तो अतिप्रसग का कारण होगा। जल मे स्थित सूर्य मे और आकाश मे स्थित सूर्य मे सदृशता होने से एकपना है ऐसा कहना भी अयुक्त है, यदि सदृशता होने के कारण एकपना माना जाय तो किसी सुन्दर ललना के दो नेत्रोको भी एक मानना पडेगा। यदि कहा जाय कि आकाश स्थित सूर्य मे विकार आने पर (मेघादिका आवरण आने पर) जल मे स्थित सूर्य बिब मे भी विकार आता है अत इन दोनो को एक मानना चाहिए, सो यह भी गलत है क्योकि इस तरह माने तो वृक्ष और छाया मे भी एकत्व मानना होगा। क्योकि वृक्ष मे हिलना आदि विकार आने पर छाया मे भी विकार तो आता ही है।

शका—जल पात्रो मे स्थित सूर्य के प्रतिबिम्बो को सूर्य से पृथक् वस्तु रूप मानते हैं तो उनका प्रादुर्भाव किससे होगा ?

धारिण. कस्मान्न सर्वदोपलभ्यन्ते इति चेत् ? स्वसामग्रयऽभावतोऽभावाच्छब्दसुखादिवत् । कश्चिद्धि विकार सहकारिनिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानो दृष्टो यथा घटादि, कश्चित्तु निवर्त्तमानो यथा शब्दादि, अचिन्त्यशक्तित्वाद्भावानाम् । ताल्वादिव्यापारसहकारिनिवृत्तौ हि पुद्गलस्य श्रावणस्वभावव्यावृत्ति । स्रग्वनितानिवृत्तौ चाल्हादनाकारव्यावृत्तिरात्मन. सकलजनप्रसिद्धा, एवमादित्यादिसहकारिनिवृत्तौ जलादेस्तत्प्रतिबिम्बाकारनिवृत्तिरविरुद्धा ।

समाधान—जल और सूर्य आदि रूप स्व सामग्री विशेप से उक्त प्रतिबिम्बो का प्रादुर्भाव होता है ।

शका—तो फिर स्वच्छता विशेप का सद्भाव हमेशा होने से जल और दर्पणादि पदार्थ मुख और सूर्य के प्रतिबिम्ब आदि के आकार को धारण करने वाले हमेशा क्यो नही दिखायी देते ?

समाधान—वे दर्पणादि पदार्थ स्व सामग्री का अभाव होने से हमेशा उक्त आकारों को हमेशा धारण करते हुए उपलब्ध नही होते जैसे कि स्व सामग्री के अभाव मे शब्द की उपलब्धि नही होती एव सुख की सामग्री के अभाव मे सुख की उपलब्धि नहीं होती । कोई कोई विकार ऐसा होता है कि वह सहकारी कारण के निवृत्त होने पर भी (हट जाने पर भी) स्वय निवृत्त नही होता जैसे घटादि पदार्थ रूप आकार को कराने वाले चक्र, दडा आदि के निवृत्त होने पर भी जो मिट्टी का घटाकार रूप विकार निर्मित हुआ वह बना ही रहता है । तथा कोई कोई विकार ऐसा होता है कि सहकारी कारणो के निवृत्त होने पर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है जैसे शब्दादि विकार उनके सहकारी कारणभूत तालु आदि के व्यापार के निवृत्त होने पर (हट जाने पर अथवा समाप्त होने पर) स्वय भी समाप्त हो जाते है । क्योकि पदार्थों मे विभिन्न प्रकार की अचित्य शक्तिया हुआ करती हैं उन विभिन्न शक्तियो के कारण ही इस प्रकार सहकारी के निवृत्त होने पर निवृत्त होना अथवा नही होना इत्यादि रूप प्रभेद दिखायी देता है । तालु आदि के व्यापार रूप सहकारी कारण के निवृत्त हो जाने पर शब्दरूप पुद्गल के श्रावण स्वभाव (सुनायी देने की शक्ति) की व्यावृत्ति (निवृत्ति या समाप्ति) हो जाती है । तथा माला वनिता आदि सहकारी कारणो के निवृत्त हो जाने पर आल्हाद रूप सुख की आत्मा से व्यावृत्ति हो जाती है यह बात सर्व जन प्रसिद्ध ही है । इसी तरह सूर्य आदि सहकारी कारणो के निवृत्त हो जाने पर जलादि मे सूर्य के प्रतिबिंबाकार की निवृत्ति होती है, इसमे कोई विरोध नहीं ।

ततो निराकृतमेतत्–'अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण' इत्यादि, स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धे । 'चाक्षुष तेजः प्रतिस्रोत प्रवर्त्तितम्' इति चातीवाऽसगतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तेजासि जलेनाभिसम्बध्य पुन सवितार प्रति प्रवर्त्तितानि प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रतीयन्ते । यथा च चक्षूरश्मीना विषय प्रति प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुरप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितम् । इत्यलमतिविस्तरेण ।

यच्चान्यदुक्तम्–'देशभेदेन भिन्नत्वम्' इत्यादि, तदप्यसारम्, यतो यदि प्रत्यक्षमेवानुमानस्य बाधक नानुमान प्रत्यक्षस्य, तर्हि चन्द्रार्कादौ स्थैर्याध्यक्ष देशाद्देशान्तरप्राप्तिलिंगजनितगत्यनुमानेन

इस प्रकार सूर्य का जल मे स्थित प्रतिबिंब सूर्य से पृथक्भूत पदार्थ है ऐसा सिद्ध होने से उसके एकत्व का दृष्टात देकर शब्द मे एकत्व सिद्ध करना खडित होता है ऐसे ही यह कथन भी खडित हुआ समझना चाहिये कि—जब जल मे सूर्य के तेज के कारण चक्षुका तेज भी स्फुरायमान हो जाता है तब सूर्यबिंब नाना रूप परिवर्त्तित होता है तथा इसीलिये स्वप्रदेश मे स्थितरूप से सूर्य का ग्रहण नही हो पाता इत्यादि । आप मीमासक के उपर्युक्त कथन मे "चक्षुका तेज स्फुरमान होकर सूर्यबिंब नाना रूप परिवर्त्तित होता है" ऐसा कहना तो अत्यत असम्बद्ध है क्योकि ऐसा मानने मे सर्वथा प्रमाणका अभाव है । क्योकि चक्षु की किरणे जल से सबद्ध होकर पुन सूर्य के प्रति प्रवृत्ति करती हुई किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत नही होती हैं । दूसरी बात यह है कि चक्षु की न कोई किरणे है और न वे अपने विषयभूत घट पट आदि पदार्थ के प्रति गमन करती हैं, इस विषय का प्रतिपादन चक्षुप्राप्यकारित्वखण्डन मे पहले ही (प्रथम भाग मे) हो चुका है, अब उस विषय मे अधिक नही कहना है ।

मीमासक ने पूर्व मे कहा था कि गकारादि वर्णों मे देशभेद से भेद सिद्ध करने वाला अनुमान "वही यह गकारादि है" इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है इत्यादि । सो वह असार है, क्योकि यदि एकात से प्रत्यक्ष ही अनुमान का बाधक माना जाय अनुमान को प्रत्यक्ष का बाधक नही माना जाय तो चन्द्र सूर्य आदि में स्थिरतारूप प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष देश से देशातर की प्राप्ति रूप हेतु से जनित गति को सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाध्य नही हो सकेगा ।

शका—चन्द्रादि की स्थिरता प्रतीत कराने वाले प्रत्यक्ष में बाधित विषय होने से प्रत्यक्षपना ही नही माना जाता ?

बाध्य न स्यात् । अथास्य प्रत्यक्षरूपतैव नास्ति बाधितविषयत्वात्, तत्प्रकृतेपि समानम्, लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सादृश्यप्रतीत्या तन्नानात्वप्रसाधकानुमानेन चाऽत्राप्येकत्वप्रतीतेर्बाधितविषयत्वाऽविशेषात् । अतोऽयुक्तमेतत्—

समाधान—सो यह बात प्रकृत गकारादि शब्दो में भी समान रूप से घटित होगी, आगे इसीको बताते है—कट कर पुन उत्पन्न हुए नख और केशादि मे एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान जिस प्रकार सादृश्य प्रतीति से उन नखादि के नानापने को सिद्ध करने वाले अनुमान ज्ञान द्वारा बाधित होता है, उसी प्रकार गकारादि वर्णो मे एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्षज्ञान सादृश्य प्रतीति से उन गकारादि के नानापने को सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाधित होता है, नखादि के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष और गकारादि वर्णों के एकत्व को विपय करने वाला प्रत्यक्ष इन दोनो प्रत्यक्षो के विषय समान रूप से बाधित है कोई विशेपता नही है ।

भावार्थ—मीमासक गकार, ककार आदि वर्णों को सारे विश्व में एक एक रूप ही मानते है । मीमासक के प्रति यदि प्रश्न किया जाय कि गकारादि वर्ण एक एक ही है तो भिन्न भिन्न देश मे भिन्न भिन्न व्यक्ति द्वारा एक ही गकारादिका सुनायी देना एव मुख से उच्चारण करना कैसे होता है ? तो इसका उत्तर देते हैं कि वे वर्ण सर्वत्र एक ही है किन्तु उनके व्यजक कारण पृथक् पृथक् है, अत विभिन्न देशादि मे विभिन्न रूप से उपलब्ध होते हैं इत्यादि । जैनाचार्य ने वर्ण के इस व्यजक कारण का अनेक प्रकार से निरसन किया है, शब्द या वर्ण तालु आदि से प्रगट नही किये जाते अपितु नये नये उत्पन्न किये जाते है । जैसे नख और केशादिक कट कर पुनः पुन नये उत्पन्न होते है । यदि कदाचित् गकारादि वर्णो मे "यह वही गकार है जिसको कल सुना था" इत्यादि रूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो भी तो वह ज्ञान अनुमान द्वारा बाधित होता है । इस पर मीमासक का कहना है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान को हम प्रत्यक्ष प्रमाण रूप मानते है अत· वह अनुमान द्वारा बाधित नही हो सकता, सो यह कथन असत् है, क्योकि अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान बाधित होता हुआ देखा जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान सूर्यादि को स्थिर बताता है किन्तु वह देशातर गमनरूप अनुमान प्रमाण से बाधित है । ससार मे ऐसे प्रत्यक्षज्ञान (साव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान) होते ही है कि जो अनुमान

"स एवेति मतिर्नापि साद्दश्य न च तत्क्वचित् ।
विनावयवसामान्यैर्वर्णेष्ववयवा न च ॥"

[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० १८] इति ।

अवयवसामान्यस्याप्यत्रात एव प्रसिद्धे । तेनायुक्तमुक्तम्–'पर्यायेण' इत्यादि, देवदत्ते हि 'स एवायम्' इति प्रत्यय·, अत्र तु 'तेनानेन चाय सद्दश ' इति । न च सद्दशप्रत्ययादेकत्वम्, गोगवययोरपि तत्प्रसगात् । यद्यप्युच्यते—

"जैनकापिलनिर्दिष्ट शब्दश्रोत्रादिसर्पणम् ।
साधीयोऽस्मात्तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०६]

द्वारा बाधित होते है । अत जिसको मीमासक प्रत्यक्ष रूप मानते है ऐसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा शब्दो मे एकत्व सिद्ध करना असभव है ।

इसलिये निम्नलिखित कथन भी अनुचित है कि–गकार आदि वर्णों मे "वही यह है" ऐसा जो एकत्व का ज्ञान होता है उसको असत्य नही मानना चाहिए, क्योकि वर्णो मे अवयव नही होते और अवयव सामान्यो के बिना उन गकारादि वर्णो की साद्दश्य प्रतीति होना अशक्य है ॥१॥

गकार आदि वर्णों के अवयव सामान्य अर्थात् अनेक पृथक् पृथक् गकार और उन सब मे पाया जाने वाला सद्दश सामान्य तो साद्दश्यप्रतीति रूप हेतु वाले अनुमान द्वारा भलीभाति सिद्ध होता है । अत मीमासक का पूर्वोक्त कथन खण्डित होता है कि–पर्याय रूप से अर्थात् कालक्रम से एक ही देवदत्त विभिन्न देश मे जाता है उसमे भेद नही मानते, वैसे शब्द मे भी भेद नही मानना चाहिए । सो देवदत्त मे तो "वही यह देवदत्त है" इस प्रकार की एकत्व प्रतीति निराबाध रूप से आती है, किन्तु गकारादि शब्दो मे तो उसके समान यह गकार है अथवा इस वर्ण के समान यह वर्ण है ऐसी साद्दश्य प्रतीति आती है । साद्दश्य प्रतीति से एकत्व की सिद्धि करना तो अनुचित है अन्यथा गाय और रोझ मे भी एकत्व सिद्ध करना होगा ।

मीमासक का कहना है कि—जैन और साख्य क्रमश शब्द और श्रोत्र का गमन होना मानते है सो यह इस वक्ष्यमान कल्पना से कुछ सही होते हुए भी हम मीमासक की युक्ति द्वारा खडित ही होता है ॥१॥ अर्थात् जैन की मान्यता है कि शब्द

जैनेन हि निर्दिष्ट श्रोतार प्रति शब्दस्य सर्पण कापिलेन तु वक्तारम् श्रोत्रादेर्यत्तदेव साधीयोऽस्मान्नैयायिकोपकल्पितात् वीचीतरगन्यायेन शब्दस्यामूर्त्तस्यागमनात् । तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते । यस्मात्—

"शब्दस्यागमन तावददृष्ट परिकल्पितम् ।
मूर्त्तिस्पर्शादिमत्त्व च तेषामभिभवः सताम् ॥१॥
त्वगग्राह्यत्वमन्ये च भागा सूक्ष्मा प्रकल्पिता ।
तेषामदृश्यमानाना कथ च रचनाक्रम ॥२॥
कीदृशाद्रचनाभेदाद्वर्णभेदश्च जायताम् ।
द्रवित्वेन विना चैपा सक्लेष (सश्लेष)कल्प्यते कथम् ॥३॥
आगच्छता च विश्लेषो न भवेद्वायुना कथम् ।
लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित् ॥४॥
वृक्षाद्यभिहताना च विश्लेषो लोष्टवद्भवेत् ।
एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषा स्यात्पुन श्रुति ॥५॥

श्रोता के पास चला जाता है और साख्य कहते हैं कि श्रोत्र वक्ता के पास चला जाता है, सो यह मान्यता इस नैयायिक की कल्पना से श्रेयस्कर ही है क्योकि नैयायिक तो शब्द को अमूर्त्त मानकर पुन उसका वीचीतरग न्याय से आगमन होना मानते है। किन्तु यह जैनादि सभी परवादियो का कथन हमारी युक्ति के आगे ठहरता नही। आगे इसी का खुलासा करते है—शब्द का आगमन मानना अदृष्ट परिकल्पना मात्र है अर्थात् प्रमाण से सिद्ध नही है, तथा शब्दो को मूर्त्तिक स्पर्शादिमान मानना एव अभिभव मानना भी असिद्ध है ॥१॥ स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा शब्दो का अग्राह्य कहना, उनके सूक्ष्म भाग कल्पित करना यह सब असत् है (क्योकि यदि शब्द स्पर्शादिमान है तो स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य क्यो नही इत्यादि प्रश्न होते है और उनके समाधानकारक उत्तर नही मिलते) यदि शब्द अदृश्य है तो उनका रचनाक्रम किस प्रकार होगा यह भी एक समस्या है ॥२॥ तथा किस तरह के रचना भेद से वर्ण भेद होगा ? शब्दो मे द्रवपना (तरलपना) भी नही है फिर उनका परस्पर सश्लेष किस प्रकार होगा ? अर्थात् नही हो सकता ॥३॥ जब शब्द कर्ण के पास आ रहे हो तब उनका वायु द्वारा विश्लेष भी कैसे नही होगा ? क्योकि शब्द तो लघु अवयवरूप है उनको किसी ने सवद्ध भी नही किया है ॥४॥ आते हुए शब्द जब वृक्ष, भित्ति आदि से अभिहत होवेगे तब मिट्टी के

न चावान्तरवर्णाना नानात्वस्यास्ति कारणम् ।
न चैकस्यैव सर्वासु गमन दिक्षु युज्यते ॥६॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०७-११२]

इत्यादि । तद्व्यञ्जकवाय्वागमनेपि समानम् । शक्यते हि शब्दस्थाने वायु पठित्वा 'वायोरागमन तावददृष्ट परिकल्पितम्' इत्याद्यभिधातुम् ।

किंच, अदृष्टकल्पनागौरवदोषो भवत्पक्ष एवानुपज्यते, तथाहि—शब्दस्य पूर्वापरकोटयो. सर्वत्र च देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वम्, तस्य चावारका स्तिमिता वायवः प्रमाणेनोऽनुपलभ्यमाना कल्पनीया।,

---

ढेले के समान बिखर जायेगे । एक कोई विवक्षित शब्द कर्णप्रदेश मे प्रविष्ट होगा तब वह अन्य को सुनायी नही देना चाहिये ? क्योकि वह तो उतना ही अव्यापक था ॥५॥ आते हुए शब्दो से अवातर शब्द हो जाय ऐसा एक को नानारूप करने का कोई निमित्त भी नही दिखायी देता । तथा तालु आदि से निर्मित एक शब्द सब दिशाओ मे एक साथ गमन भी किस प्रकार कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता ॥६॥ इत्यादि ।

सो यह मीमासक का कथन उनके व्यजक वायु के आगमन के विषय मे भी समानरूप से घटित होता है । शब्द के विषय मे जितने भर भी प्रश्न थे उनमे शब्द के स्थान पर वायु को रखकर हम जैन कह सकते हैं कि व्यजक वायु का आगमन मानना अदृष्ट परिकल्पित मात्र है, जब वायु स्पर्शयुक्त है तो वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा क्यो नही ग्रहण होती ? अदृश्यभूत वायुका रचना क्रम भी किस प्रकार होवे ? इत्यादि ।

दूसरी बात यह है कि—अदृष्ट की कल्पना करना रूप दोष तो आप मीमासक के पक्ष मे ही आता है, कैसे सो बताते है—शब्द की पूर्वापरकोटि अर्थात् आदि अत दिखता है तो भी उसे नही मानना और अदृष्ट नही देखे ऐसे नित्यत्व की कल्पना करना, सर्वत्र देश मे व्यापक रूप उपलब्ध नही होने पर भी व्यापक मानना, शब्द का आवरण करने वाली स्तिमित वायु किसी प्रमाण से सिद्ध नही है तो भी उसकी अदृष्ट कल्पना करते रहना, स्तिमित वायुको हटाने वाली व्यजक वायु स्वीकार करना तथा उनमे नाना शक्तियो की कल्पना भी करना, इस प्रकार इतनी सारी अदृष्ट कल्पनाये (जो कि प्रमाण से असिद्ध हैं) आप मीमासको को ही करनी होगी हम जैन को नही । हम जैन शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्यायरूप मानते है, आगे यथा अवसर (तृतीय भाग मे) सिद्ध करेगे कि शब्द आकाश द्रव्यका गुण नही है अपितु

तदपनोदकाश्चान्ये, तेषा शक्तिनानात्व कल्पनीयम्, नास्मत्पक्षे। पौद्गलिकत्व च यथावसर गुणनिषेध-प्रक्रमे प्रसाधयिष्याम । तत्सिद्ध घटस्य चक्रादिव्यापारकार्यत्ववच्छब्दस्यताल्वादिव्यापारकार्यत्वमिति साधूक्तम्—'आप्तवचनम्' इत्यादि।

पुद्गल (जड) द्रव्य की पर्याय है। अंत मे यह निश्चय होता है कि जैसे घट कुभकार, चक्र आदि के व्यापार का कार्य है वैसे शब्द तालु आदि के व्यापार का कार्य है। इसलिये आगम प्रमाण लक्षण करते हुए श्रीमाणिक्यनदी आचार्य ने ठीक ही कहा कि—"आप्तवचनादिनिबधनमर्थज्ञानमागम" आप्त पुरुष के वचनादि के निमित्त से होनेवाला पदार्थ का ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है इत्यादि।

विशेषार्थ—शब्द के विषय मे विवाद है कि वह नित्य है कि अनित्य, मीमांसक शब्द को नित्य मानते है, उनका कहना है कि शब्द को अनित्य मानेंगे तो उनके उत्पत्ति कारण बतलाना होगा, उत्पन्न होकर श्रोता के पास कैसे गमन करेगे, मार्ग मे वायु, वृक्ष, पर्वतादि से टकरायेगे। तथा शब्द अनित्य है तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगे, अथवा कुछ समय तक ठहर भी जाये तो भी जिस शब्द मे बाल्यकाल मे सकेत हुआ था वह आगे युवा काल आदि मे नही रहता अत उस शब्द को सुनते ही अर्थ बोध होता है वह कैसे घटित होगा। शब्द मे द्रवत्व नही होने से अनेक शब्दो मे परस्पर सश्लेष भी कैसे हो, तथा वक्ता के मुख से निकले हुए क्रमिक एक एक शब्द एक ही किसी श्रोता के कर्ण मे प्रविष्ट होगा क्योकि अव्यापक एव एक है अत अन्य अनेक श्रोताओ को उस वक्ता का व्याख्यान कैसे सुनाई देगा इत्यादि। प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा कि ये शब्द विषयक प्रश्न आप मीमासक के अभिव्यजक वायु मे ठीक इसी तरह लागु होते है, अर्थात् व्यजक वायु जब वक्ता के पास शब्द को प्रगट करने जायेगी तब मार्ग के वृक्ष आदि से टकराकर बिखर जायगी। शब्दो का आवृत होना मानते हैं सो उनका आवरण कौन है, उनको कौन दूर करेगा, आवारक के दूर होते ही सारे वर्ण सुनाई देने चाहिए क्योकि वर्ण नित्य एव व्यापक है? गकार आदि वर्ण विश्वभर मे एक एक है तो पृथक् पृथक् रूप से हजारो श्रोताओ को एक साथ कैसे सुनाई देते हैं यदि शब्द व्यापक है तो एक विवक्षित स्थान पर सर्वागरूप से अर्थात् समूचेरूप से कैसे उपलब्ध होगा? बबई से लेकर देहली तक लगी हुई रेल की पटरी एक जगह सर्वाग रूप से कैसे उपलब्ध हो? विशाल मडप पर छाया हुआ वस्त्र एकत्र पूर्ण रूपेन कैसे

प्राप्त हो ? अर्थात् यह असंभव है इसी प्रकार एक ही शब्द सर्वत्र देश में व्याप्त है तो एक व्यक्ति को एक स्थान पर सर्वांगरूप से कैसे सुनायी दे सकता है ? अर्थात् नही दे सकता, शब्द जब नित्य है तो उसमे सकेत होने पर सभी को उससे अर्थ बोध होना चाहिए इस तरह कोई भी पुरुष किसी भी भाषा का अनभिज्ञ नही रहेगा। इत्यादि प्रश्नो का सही उत्तर मीमांसक दे नही सकते। अत निष्कर्ष यह है कि शब्द पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय है अर्थात् एक जड पदार्थ की अवस्था विशेष है और वह मिट्टी की एक अवस्था विशेष जो घट है उसके समान अपने निमित्त कारण के मिलने पर प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् शब्द का उपादान तो भाषावर्गणारूप पुद्‌गल द्रव्य है और निमित्त अनेको है (तालु आदि का व्यापार) इस शब्द के भाषात्मक, अभाषात्मक, अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक, तत, वितत, घन, सुषिर आदि अनेक प्रभेद हैं और इनके निमित्त कारण भी अनेक हैं। यहा प्रकरण मे तो केवल मनुष्य के तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न हुए शब्दो का वर्णन है। अस्तु।

॥ शब्दनित्यत्ववाद समाप्त ॥

शब्दनित्यत्ववाद के खण्डन का सारांश

मीमासक—शब्द नित्य है क्योंकि अर्थ प्रतिपादन की अन्यथानुपपत्ति है, शब्द अनित्य होता तो उसमे सकेत नही हो सकता। शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक सबध तीन प्रमाणो से जाना जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति जब कोई पुरुप सकेत जानने वाले किसी दूसरे व्यक्ति को कहता है कि हे देवदत्त सफेद गाय को दण्डे से भगा दो, पास मे कोई तीसरा पुरुप हैं जो सकेत ज्ञान से रहित है वह देवदत्त के द्वारा गाय को हटाता आदि को प्रत्यक्ष से देखकर शब्द और अर्थ समझ लेता है कि इस वाक्य का यह अर्थ है तथा गाय को हटाने की क्रिया से देवदत्त को तद्–विपयक ज्ञान है ऐसा अनुमान लग जाता है। पुनश्च शब्द की वाचक शक्ति और पदार्थ की वाच्य शक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है कि इस शब्द मे पदार्थ को कहने की शक्ति है इत्यादि। जैन सदृश शब्द से अर्थ का बोध होना मानते है अर्थात् सकेत कालीन शब्द नष्ट होकर पदार्थ को जानते समय अन्य सदृश शब्द आता है उससे अर्थ ज्ञान होना मानते है। किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक ज्ञान भ्रान्त सिद्ध होगा। गौ आदि शब्द गोत्वादि सामान्य के वाचक है या गो व्यक्ति के वाचक है यह भी विचारणीय है गो शब्द सामान्य का वाचक है ऐसा माने तो सामान्य नित्य होने से उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा। गो व्यक्ति का वाचक गो शब्द है ऐसा माने तो गो के नष्ट होने पर गो शब्द का अस्तित्व समाप्त होगा। क्योंकि शब्द को अनित्य माना ? तथा ये लोग शब्द को अनेक मानते है, किन्तु वह भी ठीक नही सूर्य एक है तो भी अनेक देशो मे अनेक रूप दिखता है वैसे शब्द भी एक होकर अनेक जगह उपलब्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान से भी शब्द का एकत्व सिद्ध होता है अत शब्द को एक नित्य एव व्यापक मानना चाहिये।

जैन—यह मीमासक का शब्द नित्यवाद अनेक दोषो से भरा हुआ है। आपको शब्द अनित्य मानने मे यह आपत्ति दिखती है कि शब्द अनित्य होने पर अर्थ ज्ञान नही होगा, सो अयुक्त है, सदृश शब्द से अर्थ ज्ञान होता है अर्थात् किसी ने "गाय" यह शब्द कहकर बालक को सकेत किया कि इस पदार्थ को गाय कहना, अब जब कभी वह बालक पुन गाय शब्द सुनता है तो वह शब्द सकेत किये गये शब्द के सदृश रहता है अत उसको सुनते ही वह सास्नायुक्त पशु का ज्ञान कर लेता है। जैसे रसोई घर की अग्नि और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर पुन पर्वतादि मे उस धूम के

समान अन्य धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है। आपने शब्द को एकत्वरूप माना है किंतु शब्द मे अनुगत प्रत्यय से अनेकपना सिद्ध होता है, तथा एक ही पुरुप एक ही समय मे अनेक गो शब्द को विभिन्न देशो से ग्रहण कर लेता है इसलिये भी शब्द अनेक है। आप तालु आदि के व्यापार से व्यञ्जक वायु उत्पन्न होना मानते हैं तो उनसे शब्द उत्पन्न होते है ऐसा क्यो नही मानते ? ध्वनि शब्दो की व्यञ्जक ही है तो उस व्यजक के होते ही नियम से शब्द क्यो उपलब्ध होता है ? व्यजक होते ही व्यग्य होवे ऐसा कोई नियम नही, दीप व्यजक के होते हुए घटादि व्यग्य नियम से हो ही ऐसा दिखाई नही देता है।

तथा अभिव्यजक वायु से शब्द व्यक्त होते हैं तो एक साथ सब शब्द व्यक्त होना चाहिये थे ? क्योकि सभी शब्द मौजूद है, यदि कहा जाय कि जैसे घट रूप कार्यो की क्रमश उत्पत्ति होती है वैसे शब्दो की क्रमश अभिव्यक्ति होती है तो यह भी असत है घट रूप कार्य स्वकारण कलाप से उत्पन्न होता है न कि अभिव्यक्त, अतः वह क्रमश होना सगत है किन्तु अभिव्यक्ति मे क्रम नही होता, जैसे एक घडा बनाने की इच्छा से कु भकार ने मिट्टी का एक पिंड चाक पर रखा, तो उससे घडा रूप एक ही कार्य उत्पन्न होगा, अन्य नही, किन्तु व्यजक ऐसा नही होता, किसी ने अन्धकार मे रखे हुए किसी एक घडे को ढू ढने के लिए दीपक जलाया, वह दीपक उस घडे को तो प्रकाशित करेगा ही, साथ ही समीप मे रखे हुए अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। कहने का भाव यह है कि मृत् पिंड एक काल मे एक ही घट का कारण है, किंतु दीपक विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकाशक या अभिव्यजक है। इसी प्रकार शब्द की व्यजक एक वायु जब उसे अभिव्यक्त करे, तब सभी शब्दो की अभिव्यक्ति एक साथ होनी चाहिये, सो होती नही है। इस प्रकार यह दोष केवल अभिव्यक्ति के पक्ष मे आता है न कि उत्पत्ति के पक्ष मे। अत निश्चित होता है कि तालु आदि के व्यापार से शब्दो की उत्पत्ति ही होती है न कि अभिव्यक्ति, यदि अभिव्यक्ति होती तो सभी शब्दो की होनी चाहिए, इसलिये शब्द को नित्य मानना सिद्ध नही होता है।

॥ समाप्त ॥

ननु शब्दार्थयो सम्बन्धासिद्धे कथमाप्तप्रणीतोपि शब्दोऽर्थे ज्ञान कुर्याधित आप्तवचन-निबन्धनमित्यादि वचः शोभेतेत्याशङ्कापनोदार्थम् 'सहजयोग्यता' इत्याद्याह—

सहजयोग्यतासकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।।१००।।

बौद्ध—जैन ने शब्द को अनित्य सिद्ध करके आप्त पुरुष के शब्द द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम प्रमाण बताया । किंतु शब्द और अर्थ का कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नही होता, फिर आप्त का कहा हुआ वचन पदार्थ का ज्ञान किस प्रकार करा सकता है जिससे आप्तवचनादि निबन्धन ..इत्यादि आगम प्रमाण का लक्षण घटित हो सके ?

जैन—अब इस शका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते है—

सहजयोग्यतासकेतवशाद्धि शब्दादय. वस्तु प्रतिपत्ति हेतव· ।।१००।।

सूत्रार्थ—शब्द वर्ण वाक्यादि मे ऐसी सहज योग्यता है जिस योग्यता के कारण तथा सकेत होने के कारण (यह घट है इस पदार्थ को घट शब्द से पुकारते है इत्यादि संकेत के कारण) वे शब्दादिक अर्थ का ज्ञान कराने मे हेतु हो जाते है ।

सहजा स्वाभाविकी योग्यता शब्दार्थयो प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । न हि तत्राप्यतो योग्यतातोऽन्य कार्यकारणभावादि सम्बन्धोस्तीत्युक्तम् । तस्या सत्या सकेत । तद्वशाद्धि स्फुट शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव' ।

शब्द और पदार्थ मे सहज स्वाभाविक योग्यता होती है उसी के कारण शब्द प्रतिपादक और पदार्थ प्रतिपाद्य की शक्ति वाला हो जाया करता है, जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय मे ज्ञाप्य ज्ञापक शक्ति हुआ करती है । ज्ञान और ज्ञेय मे भी सहज योग्यता को छोडकर अन्य कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध नही होता, इस विषय को पहले (प्रथम भाग मे) निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद और साकार ज्ञानवाद प्रकरण मे भलीभाति सिद्ध कर दिया है ।

विशेपार्थ—शब्द और पदार्थ मे वाच्य–वाचक सम्बन्ध है न कि कार्यकारण आदि सम्बन्ध । ज्ञान और ज्ञेय अथवा प्रमाण और प्रमेय मे भी कार्य कारण आदि सम्बन्ध नही पाये जाते अपितु ज्ञाप्य ज्ञापक सम्बन्ध ही पाया जाता है । बौद्ध ज्ञान और ज्ञेय मे कार्य कारण सम्बन्ध मानते है उनका कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है अत ज्ञान कार्य है और उसका कारण ज्ञेय (पदार्थ) है किन्तु यह मान्यता सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है । ज्ञानानुभव आत्मा मे होता है अथवा यो कहिये कि अग्नि और उष्णतावत् आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है ऐसा आत्मा से अपृथक्भूत ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होना सर्वथा असभव है इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग मे प्रकाशित हो चुका है वहा निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद और साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरण मे सिद्ध कर दिया है । ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है ज्ञेय से नही, फिर भी प्रतिनियत ज्ञेयको जानता अवश्य है, अर्थात् अमुक ज्ञान अमुक पदार्थ को जान सकता है अन्य को नही ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था ज्ञानकी क्षयोपशम जन्य योग्यता के कारण हुआ करती है । अस्तु । यहा पर शब्द और पदार्थ के योग्यता का कथन हो रहा है कि ज्ञान और ज्ञेय के समान ही शब्द और अर्थ मे परस्पर मे वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध के कारण ही "घट" यह दो अक्षर वाला शब्द कबुग्रीवादि से विशिष्ट पदार्थ को कहता है और यह कबु आदि आकार से विशिष्ट घट पदार्थ भी उक्त शब्द द्वारा अवश्यमेव वाच्य होता है (कहने मे आ जाता है) तथा शब्द द्वारा पदार्थ मे बार बार सकेत भी किया जाता है कि यह गोल ग्रीवादि आकार वाला पदार्थ घट है इसको

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥१०१॥

इति ।

ननु चासौ सहजयोग्यताऽनित्या, नित्या वा ? न तावदनित्या, अनवस्थाप्रसङ्गात्—येन हि प्रसिद्धसम्बन्धेन 'अयम्' इत्यादिना शब्देनाप्रसिद्धसम्बन्धस्य घटादे शब्दस्य सम्बन्ध क्रियते तस्याप्यन्येन प्रसिद्धसम्बन्धेन सम्बन्धस्तस्याप्यन्येनेति । नित्यत्वे चास्या सिद्धं नित्यसम्बन्धाच्छब्दाना वस्तुन प्रतिपत्तिहेतुत्वमिति मीमासकाः, तेप्यतत्त्वज्ञा, हस्तसज्ञादिसम्बन्धवच्छब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वेप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वसम्भवात् । न खलु हस्तसज्ञादीना स्वार्थेन सम्बन्धो नित्य, तेषामनित्यत्वे तदाश्रितसम्बन्धस्य नित्यत्वविरोधात् । न हि भित्तिव्यपाये तदाश्रित चित्र न व्यपैतीत्यभिधातुं शक्यम् ।

घट कहना, घट ऐसा होता है इत्यादि । इस प्रकार शब्द और अर्थ की सहज योग्यता और सकेत ग्रहण इन दो कारणों से शब्द द्वारा पदार्थ का बोध होता है ।

इस तरह शब्द की योग्यता के होने पर सकेत होता है और सकेत से शब्दादिक वस्तु के प्रतीति मे हेतु हो जाते है ।

यथा मेर्वादय. सन्ति ॥१०१॥

सूत्रार्थ—जैसे मेरुपर्वत आदि पदार्थ है ऐसा कहते ही आगमोक्त मेरुपर्वत की प्रतीति हो जाया करती है ।

मीमासक—यह सहज योग्यता अनित्य है या नित्य ? अनित्य है ऐसा तो कह नही सकते क्योकि अनवस्था दूपण आता है कैसे सो ही बताते हैं—प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले "यह" इत्यादि शब्द द्वारा अप्रसिद्ध सम्बन्धभूत घट आदि शब्द का सम्बन्ध किया जायगा, पुन उस शब्द का भी किसी अन्य प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा सम्बन्ध किया जाना और उसका भी अन्य द्वारा (क्योकि योग्यता अनित्य होने से नष्ट हो जाती है और उसको पुनः पुन अन्य अन्य शब्द द्वारा सम्बद्ध करना पडता है) हा यदि इस सहज योग्यता को नित्य रूप स्वीकार करते हैं तो उस नित्य योग्यता का सम्बन्ध होने के कारण ही नित्य रूप शब्द पदार्थ का बोध कराने मे हेतु होते हैं ऐसा स्वयमेव सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन असत् है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होते हुए भी हस्त सज्ञा आदि के सम्बन्ध के समान ये भी अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे हेतु होते है अर्थात् हस्त के इशारा से नेत्र के इशारा से जिस प्रकार अर्थ बोध होता है जो कि

न चानित्यत्वेऽस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्व न दृष्टम्, प्रत्यक्षविरोधात् । एव शब्दार्थसम्बन्धेप्येतद्वाच्यम्-स हि न तावदनाश्रित , नभोवदनाश्रितस्य सम्बन्धत्वाऽसम्भवात् । आश्रितश्चेत्किं तदाश्रयो नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यश्चेत्, कोयं नित्यत्वेनाभिप्रेतस्तदाश्रयो नाम ? जातिः, व्यक्तिर्वा ? न तावज्जातिः, तस्या शब्दार्थत्वे प्रवृत्त्याद्यभावप्रतिपादनात्, निराकरिष्यमाणत्वाच्च । व्यक्तेस्तु तदाश्रयत्वे कथ नित्यत्वमनभ्युपगमात्तथाप्रतीत्यभावाच्च । अनित्यत्वे च तदाश्रयत्वस्य सिद्ध तद्व्यपाये सम्बन्धस्यानित्यत्व भित्तिव्यपाये चित्रवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—

अनित्य है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्वन्ध अनित्य होते हुए भी उसके द्वारा अर्थ बोध होता है । हस्त सज्ञा (हाथ का इशारा) आदि का अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध तो हो नही सकता क्योकि स्वय हस्तादि ही अनित्य हैं तो उनके आश्रय से होने वाला सम्वन्ध नित्य रूप किस प्रकार हो सकता है ? भित्ति के नष्ट होने पर उसके आश्रित रहने वाला चित्र नष्ट नही होता ऐसा कहना तो अशक्य ही हैं । अभिप्राय यह है कि स्वय हस्त सज्ञादि अनित्य है अत उसका अर्थ सम्वन्ध भी नष्ट होने वाला है जैसे कि भित्ति नष्ट होती है तो उसका चित्र भी नष्ट होता है ।

हस्त सज्ञा आदि अनित्य होने पर भी उससे अर्थ बोध नहीं होता हो सो ऐसी वात भी नही है क्योकि ऐसा कहना प्रत्यक्ष से विरुद्ध पडता है—हम प्रत्यक्ष से देखते हैं हस्तादि के इशारे अनित्य रहते है तो भी उनसे अर्थ की प्रतिपत्ति होती हैं । इसी हस्त सज्ञाका न्याय शब्द और अर्थ के सम्वन्ध मे लगाना चाहिए, शब्द और अर्थ का सम्वन्ध अनाश्रित तो हो नही सकता क्योकि 'आकाश के समान अनाश्रित वस्तुका सम्वन्ध होना असभव है । अब यदि यह शब्दार्थ सम्वन्ध आश्रित है तो प्रश्न होगा कि उसका आश्रय नित्य है या अनित्य है ? शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय नित्य है ऐसा कहे तो नित्यरूप से अभिप्रेत ऐसा यह शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय कौन हो सकता है जाति (सामान्य) या व्यक्ति ? (विशेष) वह आश्रय जातिरूप तो हो नही सकता, क्योकि शब्द और अर्थ मे जाति की प्रवृत्ति आदि नही होती ऐसा पहले सिद्ध हो चुका है तथा आगे चौथे परिच्छेद मे (तृतीय भाग मे) इस जाति अर्थात् सामान्य का निराकरण भी करने वाले है । शब्दार्थ के सम्वन्ध का आश्रय व्यक्ति है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस सम्बन्ध को नित्यरूप किस प्रकार कह सकते हैं ? क्योकि आपने व्यक्ति को (विशेष को) नित्य माना ही नही और न नित्यरूप से उसकी प्रतीति ही

"नित्या शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभि· ।
सूत्राणा सानुतन्त्राणा भाष्याणा च प्रणेतृभि ॥"

[वाक्यपदी० १।२३] इति,

सदृशपरिणामविशिष्टस्यार्थस्य शब्दस्य तदाश्रितसम्बन्धस्य चैकान्ततो नित्यत्वासम्भवात् । सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासम्भवतोऽसत्त्व चाऽश्वविषाणवत् । अनवस्थादूषणं चायुक्तमेव, 'अयम्' इत्यादे शब्दस्यानादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसम्बन्धत्वान्, तेनावगतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य सकेतकरणात् ।

होती है । व्यक्ति अनित्य ही है अतः उसके आश्रित रहने वाला उक्त सम्बन्ध भी अनित्य सिद्ध होता है जैसे कि भित्ति के अनित्य होने से तदाश्रित चित्र भी अनित्य होता है । इस प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य है ऐसा निश्चय हुआ । इसलिये परवादी का निम्न कथन असत् होता है कि—महर्षियो ने शब्द और अर्थो के सम्बन्ध नित्यरूप स्वीकार किये हैं तथा सूत्र अनुतत्र एव भाष्यो का प्रणयन करने वाले पुरुषो ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है ॥१॥

तथा सदृश परिणाम से विशिष्ट ऐसा अर्थ और शब्द के एव उसके आश्रित रहने वाले सम्बन्ध के सर्वथा नित्यपना होना असभव ही है । क्योकि सर्वथा नित्य वस्तु मे क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया का होना अशक्य है और अर्थक्रिया के अभाव मे उस वस्तु का असत्त्व ही हो जाता है, जैसे अश्वविषाण मे अर्थक्रिया न होने से उसका असत्त्व है । शब्दार्थ सम्बन्ध को अनित्य माने तो अनवस्था दोष आता है ऐसा मीमासक का कहना तो अयुक्त ही है, क्योकि "अयम्" यह इत्यादि शब्दका अर्थमात्र मे सम्बन्ध अनादि प्रवाह से चला आ रहा है, उस प्रसिद्ध सम्बन्ध द्वारा जिसका सम्बन्ध ज्ञात हुआ है ऐसे घट आदि शब्द मे सकेत किया जाता है । अत अनवस्था नही होती ।

तथा शब्दार्थ मे नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले आप मीमासकादि प्रवादी के यहा भी उक्त अनवस्था दोष समान रूप से सभावित है, कैसे सो बताते हैं— शब्द को नित्य मानते हुए भी एव शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुए आपने उसके अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त भेद किये हैं अत. अनभिव्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द का

नित्यसम्बन्धवादिनोपि चानवस्थादोषस्तुल्य एव-अनभिव्यक्तसम्बन्धस्य हि शब्दस्याभिव्यक्त-सम्बन्धेन शब्देन सम्बन्धाभिव्यक्ति कर्त्तव्या, तस्याप्यन्येनाभिव्यक्तसम्बन्धेनेति। यदि पुन कस्यचित्स्वत एव सम्बन्धाभिव्यक्ति, अपरस्यापि सा तथैवास्तीति सकेतक्रिया व्यर्था। शब्दविभागाभ्युपगमे चाल सम्बन्धस्य नित्यत्वकल्पनया। कल्पने चाऽगृहीतसकेतस्याप्यतोऽर्थप्रतिपत्ति स्यात्। सकेतस्तस्य व्यजक, इत्यप्ययुक्तम्, नित्यस्य व्यगचत्वायोगात्। नित्य हि वस्तु यदि व्यक्त व्यक्तमेव, अथाव्यक्त-मप्यव्यक्तमेव, अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य। शब्दाभिव्यक्तिपक्षनिक्षिप्तदोषानुषगश्चात्रापि तुल्य एव।

जिसकी अभिव्यक्ति हो चुकी है ऐसे शब्द के द्वारा मम्बन्ध की अभिव्यक्ति करनी होगी और उस पूर्व शब्द का भी किसी अन्य अभिव्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा सबधाभि-व्यक्त करना होगा। इस अनवस्था को दूर करने के लिये किसी एक शब्द की सबधा-भिव्यक्ति स्वत ही होती है ऐसा मानते हैं तो दूसरे शब्द की सम्बन्धाभिव्यक्ति भी स्वत हो सकती है इसलिये फिर उसमे सकेत करना व्यर्थ ही हो जाता है अर्थात् शब्दार्थ का सम्बन्ध स्वत ही अभिव्यक्त होता है तो उसके लिये वृद्ध पुरुषादि के द्वारा "यह घट है" इत्यादि रूप से बार बार सकेत क्यो किया जाता है ? इस सकेत क्रिया से ही स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध स्वत· अभिव्यक्त नही होता। यदि शब्दो मे विभाग स्वीकार किया जाय कि "अयम्" इत्यादि शब्द अभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है और "घट" इत्यादि शब्द अनभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है तो फिर सम्बन्ध को नित्य मानने की कल्पना ही व्यर्थ है। उस सम्बन्ध को यदि नित्य मानने का हटाग्रह हो तो सकेत ग्रहण के विना भी शब्द से अर्थकी प्रतीति होती है ऐसा मीमासक को स्वीकार करना होगा।

मीमासक—नित्य शब्द के सम्बन्ध को सकेत द्वारा व्यक्त किया जाता है अर्थात् सकेत उसका व्यजक माना गया है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, नित्य वस्तु व्यक्त करने योग्य नही होती, क्योकि नित्य वस्तु यदि व्यक्त है तो सदा व्यक्त ही रहेगी और अव्यक्त है तो सदा अव्यक्त ही रहेगी, इसका भी कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एक अभिन्न स्वभाववाली होती है। तथा सकेत द्वारा सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मानने के इस पक्ष मे पहले के शब्दाभि-व्यक्तिके पक्षमे दिये गये दूषण भी समान रूप से प्राप्त होते हैं।

किंच, सकेत पुरुषाश्रय स चातीन्द्रियार्थज्ञानविकलतयान्यथापि वेदे सकेतं कुर्यादिति कथ न मिथ्यात्वलक्षणमस्याप्रामाण्यम् ?

किंच, असौ नित्यसम्बन्धवशादेकार्थनियत:, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात्प्रतिपत्तिर्न स्यात्, ततश्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्। एकदेशेन चेत्, स किमेकदेशोऽभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियतश्चेत्, कथ न मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यम् ? अभिमतैकार्थनियतश्चेत्कि पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अपौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थ । पुरुषो हि रागाद्यन्धत्वात्प्रतिक्षिप्यते,

---

किंच, सकेत पुरुष के आश्रित होता है और पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होते है अत ऐसे पुरुष द्वारा वेद मे स्थित शब्दोंका विपरीत अर्थ मे भी सकेत किया जाना सभावित होने से इस वेदवाक्य मे मिथ्यापन रूप अप्रामाण्य कैसे नही होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

तथा यह सकेत नित्य सम्बन्ध के वश से एक अर्थ मे नियत है अथवा अनेक अर्थोमे नियत है ? एक अर्थ मे ही नियत है ऐसा कहे तो एक देश से नियत है अथवा सर्वात्मना—सर्वस्वरूप से नियत है ऐसी आशका होती है ? यदि एक अर्थ मे सर्व स्वरूप से सकेत का होना स्वीकार करते हैं तो वेद से अन्य अर्थ मे प्रतीति नही हो सकेगी और इस तरह अर्थांतर मे इस वेद को अज्ञानरूप अप्रामाणिक ही माना जायगा। नियत एक अर्थ मे एक देश से संकेत होता है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह एक देश से होने वाला सकेत भी अभिमत एक अर्थ नियत है (अर्थात् अपने को इष्ट ऐसे एक अर्थ मे नियत है) अथवा अनभिमत (अनिष्ट) एकार्थ नियत है ? यदि अनभिमत एकार्थ नियत है ऐसा मानेंगे तो वेद मे मिथ्यापना रूप अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् स्वय मीमासक को अनिष्ट ऐसे अर्थ मे एकदेशरूप सकेत होने से वेद मे विपर्यासरूप अप्रमाणता सिद्ध होती है। क्योकि अनभिमत एकार्थ मे संकेत किया जाता है ऐसा मान लिया। दूसरा विकल्प—सकेत अभिमत एकार्थ नियत होता है ऐसा माने तो वह भी किस कारण से होता है पुरुष से होता है अथवा स्वभाव से होता है ? पुरुष से होता है ऐसा कहो तो वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है क्योकि मीमासक सभी पुरुषो का सर्वदा राग द्वेपादि दोषयुक्त मानकर उनका निराकरण करते है। यदि रागादिमान पुरुष से वेद के एकदेश से होने वाला अर्थ का नियम जाना जाता है तो वेद को अपौरुषेय मानने से क्या प्रयोजन सधता है ? कुछ

तस्माच्चेद्वेदैकदेशोऽर्थनियम प्रतिपद्यते, किमपौरुषेयत्वेन ? अनेकार्थनियमे च विरुद्धोप्यर्थः सम्भवेत्, तथा चास्य मिथ्यात्वम् ।

किंच, असौ सम्बन्ध ऐन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? न तावदैन्द्रिय, स्वेन्द्रिये स्वेन रूपेणाप्रतिभासमानत्वात् । अतीन्द्रियश्चेत्, कथ प्रतिपत्त्यग ज्ञापकस्य निश्चयापेक्षणात् ? सन्निधिमात्रेण ज्ञापनेऽतिप्रसगात् ।

अनुमानगम्यश्चेत्, न, लिंगाभावात् । तस्य हि लिंग ज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा ? न तावज्ज्ञानम्, सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नाप्यर्थ, तस्य तेन सम्बन्धासिद्धे. । न हि सम्बन्धार्थ-

---

भी नही । अर्थात् वेद को अपौरुषेय इसलिये मानते हैं कि रागादियुक्त पुरुष वेद की रचना को प्रामाणिक रूप नही कर सकते किन्तु जब रागादियुक्त पुरुष वेद वाक्य का अभिमत एक निश्चित अर्थ कर सकते है तब उस वेद को अपौरुषेय मानने का कुछ प्रयोजन नही रहता है । सकेत अनेक अर्थों मे नियत है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो वेद वाक्य का विरुद्ध अर्थ होना भी सभव है और विरुद्ध अर्थ सभावित होने से वेद मे मिथ्यापनारूप अप्रमाणता आ जाती है ।

तथा यह शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा गम्य है अथवा अतीन्द्रिय है या कि अनुमानगम्य है ? इन्द्रियगम्य तो हो नही सकता क्योकि अपने इन्द्रियो द्वारा (कर्ण तथा नेत्र) असाधारण रूप से शब्दार्थ सम्बन्ध प्रतिभासित नही होता है (इसका भी कारण यह है कि वाच्य वाचक का सामर्थ्य अतीन्द्रिय होता है) शब्दार्थ सम्बन्ध अतीन्द्रिय है ऐसा कहे तो वह सम्बन्ध प्रतीतिका निमित्त कैसे हो सकता है ? क्योकि ज्ञापक अर्थात् प्रतीतिका हेतु नही हो सकता जो निश्चय रूप हो । सन्निधान होने मात्र से किसी को ज्ञापक माना जाय तो अतिप्रसग होगा ।

शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध अनुमानगम्य होता है ऐसा कहे तो भी ठीक नही, क्योकि हेतुका अभाव है, हेतु के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नही होती, यहा नित्य सम्बन्ध को जानने के लिये हेतु ज्ञानको बनावे या अर्थको अथवा शब्दको ?, ज्ञानको तो बना नही सकते क्योकि सम्बन्ध ही असिद्ध है तो उसके कार्य रूप इस ज्ञानका निश्चय कैसे होवे ? अभिप्राय यह है, परवादी ज्ञानको पदार्थ का कार्य मानते हैं सो सम्बन्ध रूप पदार्थ के असिद्ध रहने पर उसका कार्य रूप ज्ञान भी अनिश्चय स्वरूप ही होगा । सम्बन्ध को ज्ञात करने के लिये, अर्थको हेतु बनाते है तो ठीक नही, क्योकि

योस्तादात्म्यम्, सम्बन्धस्यानित्यत्वानुषगात् । नापि तदुत्पत्ति , अनभ्युपगमात् । असम्बद्धश्चार्थः कथं सम्बन्ध ज्ञापयत्यतिप्रसगात् ? ज्ञापने वा शब्दा एव सम्बन्धविकला. किमर्थं न ज्ञापयन्त्यल सिद्धोपस्थायिना नित्यसम्बन्धेन ? तन्नार्थोपि लिंगम् । नापि शब्दः, अर्थपक्षोक्तदोषानुपगात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेर्न तद्वशाद्वेदोऽर्थप्रतिपादक ।

अथ स्वभावादेवासौ तत्प्रतिपादक , तन्न, 'अयमेवास्माकमर्थो नायम्' इति वेदेनानुक्तेः । तदुक्तम्—

"अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न ।

कल्प्योयमर्थ पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः ॥१॥"

[प्रमाणवा० ३।३१२]

अर्थका शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध होना असिद्ध है कैसे सो बताते है—सम्बन्ध और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध तो होता नही, यदि इनमे तादात्म्य माना जायगा तो अर्थके समान सम्बन्ध को भी अनित्य मानना पडेगा । सम्बन्ध और अर्थमे तदुत्पत्ति सम्बन्ध होना तो अशक्य है क्योकि ऐसा परवादी ने माना नही । और शब्दार्थ नित्य सम्बन्ध के साथ जब तक अर्थ सम्बद्ध नही होता तब तक वह अर्थ उक्त सम्बन्ध को किस प्रकार बतला सकता है ? अर्थात् नही बतला सकता अन्यथा अतिप्रसग होगा । अथवा यदि असम्बद्ध अर्थ द्वारा नित्य सम्बद्ध ज्ञापित भी होवे तो भी कुछ लाभ नही, इस तरह तो सम्बन्ध रहित केवल शब्द ही अर्थका ज्ञापन क्यो नही कर लेवे ? अर्थात् नित्य सम्बन्ध के बिना भी शब्द अपने वाच्यार्थ को कहने मे समर्थ है अत. इस सिद्ध उपस्थायी (सब कार्य हो चुकने पर उपस्थित होने वाले) नित्य सम्बन्ध की परिकल्पना से अब बस हो । उससे क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार नित्य सम्बन्ध का हेतु अर्थ है ऐसा द्वितीय पक्ष गलत सिद्ध हुआ । शब्दको हेतु मानना भी अयुक्त है इस पक्ष में भी अर्थ पक्ष मे दिये हुए दोष आते है । इसलिये नित्य सम्बन्ध प्रमाण द्वारा असिद्ध होने से उसके द्वारा वेद अर्थका प्रतिपादक होता है ऐसा कहना असिद्ध होता है ।

मीमांसक—वेदवाक्य स्वभाव से ही अर्थ के प्रतिपादक हुआ करते हैं ?

जैन—यह कथन असत् है "हमारे वाक्यो का यही अर्थ है, यह अर्थ नही है" ऐसा वेद द्वारा कहा नही जाता है । जैसा कि ग्रन्थातर मे वतलाया है कि—शब्द आप

इति। ततो लौकिको वैदिको वा शब्द सहजयोग्यतासकेतवशादेवार्थप्रतिपादकोऽभ्युपगन्तव्य प्रकारान्तरासम्भवात्।

स्वय नही कहते है कि यह अर्थ है, इसका यह अर्थ नही होता इत्यादि, ऐसा अर्थ तो पुरुषो द्वारा किया जाता है और वे पुरुष रागादि युक्त ही होते है ।।१।। इस कारिका से निश्चित होता है कि शब्द अपने अर्थको नही बतलाते है। इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि लौकिक शब्द हो चाहे वैदिक शब्द हो दोनो ही सहज योग्यता और सकेत होने के कारण ही अर्थके प्रतिपादक हुआ करते है। अर्थ प्रतिपत्ति के लिये अन्य कोई प्रकार नही पाया जाता।

विशेषार्थ—शब्द द्वारा घटादि पदार्थ का ज्ञान किस कारण से होता है इस विषय मे विवाद है मीमासक शब्द को नित्य मानते है और उस नित्य शब्द का स्ववाच्य के साथ नित्य सम्बन्ध भी मानते है किन्तु यह मान्यता असमीचीन है, क्योकि शब्द और अर्थका सम्बन्ध यदि नित्य है तो एक शब्द एक ही अर्थका वाचक हो सकेगा तथा हमेशा उसी एक अर्थको ही बतायेगा किन्तु ऐसा नही होता। तथा शब्द नित्य न होकर अनित्य होता है ऐसा अभी शब्द नित्यवाद का निराकरण करते हुए निश्चय कर आये है। मीमासक की इस विषय मे शका है कि यदि शब्द और अर्थका सम्बन्ध अनित्य मानते हैं उसमे सकेत किस प्रकार हो सकता है? क्योकि जैन शब्द को अनित्य मानते है अत जिस शब्द मे सकेत हुआ वह तो नष्ट हो चुकता है तथा जिस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध होता है वह भी नष्ट हो जाता है तब इस घट शब्द का यह वाच्य है इत्यादि रूप से सकेत कैसे होवे? आचार्य ने इसका समाधान किया है कि शब्द अनित्य है किन्तु तत् सदृश अन्य शब्द उत्पन्न होता रहता है उसमे सकेत होता है, अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है इत्यादि रूप से वाच्य-वाचक सम्बन्ध और उसमे सकेत होना ये सब परपरागत चले आते हैं, गुरु से शिष्य को, माता पिता से बालक को सकेत होता रहता है, यह सकेत परपरा गगा प्रवाह के समान चली आ रही है अर्थात् गगा की धारा वही नही रहती अपितु प्रतिक्षण नयी नयी बहती चलती है। इसी प्रकार शब्द और अर्थका सम्बन्ध तथा उनमे होने वाला सकेत नित्य बना नही रहता किन्तु गुरु शिष्यादि की परपरा से चला आ रहा है। यहा तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विषय है अत उनके लिये प्रतिपादन किया है ऐसे ही शब्द तथा पदार्थ भी कथचित

नित्य और कथचित अनित्य होते है, स्याद्वाद द्वारा यह सब घटित हो सकता है। किंतु मीमासक, बौद्ध आदि परवादी के यहा प्रत्येक वस्तु को एक धर्मात्मक माना जाता है अत· कुछ भी सिद्ध नही होता, शब्द को नित्य मानकर मीमासक चाहे जितना विवाद करे और बौद्ध अनित्य का पक्ष लेकर झगडा करे किन्तु सार नही निकलता, इनकी अच्छी युक्तिया भी एकात के कारण सदोष हो जाती हैं अत. शब्द और अर्थके सबध को अनित्य मानना होगा और अनित्य होते हुए भी अनादि प्रवाह रूप मानना होगा। इस प्रकार शब्द मे सहज स्वाभाविक वाचक शक्ति है और अर्थ मे वाच्य शक्ति है अत: घट आदि शब्द द्वारा घट पदार्थ का ज्ञान होता है ऐसा मानना चाहिये, तथा शब्द द्वारा अर्थ बोध होने मे सकेत भी कारण है ऐसा निर्बाध सिद्ध हुआ।

॥ समाप्त ॥

१८

अपोहवादः

ननु चार्थप्रतिपादकत्वमेषामसम्भाव्यम्, य एव हि शब्दा सत्यर्थे दृष्टास्ते एवातीतानागतादौ तदभावेपि दृश्यन्ते। यदभावे च यद्दृश्यते न तत्तत्प्रतिबद्धम् यथाऽश्वाऽभावेपि दृश्यमानो गौर्न तत्प्रतिबद्ध, अर्थाभावेपि दृश्यन्ते च शब्दा, तन्नैतेऽर्थप्रतिपादका, किन्त्वन्यापोहमात्राभिधायकाः। तदप्यविचारितरमणीयम्, अर्थवतः शब्दात्तद्रहितस्यास्यान्यत्वात्। न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्याप्यसौ

बौद्ध—जैन शब्द मे सहज योग्यता आदि के होने के कारण अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध करते है अर्थात् शब्द अर्थका प्रतिपादन करते हैं ऐसा इनका कहना है किंतु शब्द द्वारा अर्थका प्रतिपादन होना असभव है, क्योकि जो शब्द विद्यमान अर्थ मे देखे गये हैं वे ही अतीत अनागत काल मे अर्थ के नही होने पर भी देखे जाते है ? जिसके नही होने पर जो दिखायी देता है वह उसके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) नही होता, जैसे अश्व के नही होने पर गो दिखायी देने से वह उसके साथ सम्बद्ध नही मानी जाती, पदार्थ के अभाव मे भी शब्दो की उपलब्धि होती ही है अत ये अर्थों के प्रतिपादक नही हो सकते, शब्द तो केवल अन्यापोह के अभिधायक (प्रतिपादक) होते है। अर्थात् शब्द द्वारा अन्य अर्थ का व्यावर्त्तन मात्र होता है न कि विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति। अपोह्यते अन्यार्थ येनासौ अन्यापोह शब्द इति। ऐसा अन्यापोह का निरुक्ति अर्थ है अर्थात् गो आदि शब्द गो अर्थ के वाचक न होकर केवल अश्वादि अर्थ के व्यावर्त्तक हैं।

जैन—यह कथन अविचारपूर्ण है, अर्थ के सद्भाव मे होने वाले शब्दो से अर्थाभाव मे होने वाले शब्द भिन्न हैं, अर्थाभाव मे होने वाले शब्दो का व्यभिचार अर्थ

युक्त.; अन्यथा गोपालघटिकादिधूमस्याग्निव्यभिचारोपलम्भात्पर्वतादिप्रदेशवर्त्तिनोपि स स्यात्, तथा च कार्यहेतवे दत्तो जलाञ्जलि । सकलशून्यता च, स्वप्नादिप्रत्ययाना क्वचिद्विभ्रमोपलम्भतो निखिलप्रत्ययाना तत्प्रसङ्गात् । 'यत्नत परीक्षित कार्यं कारण नातिवर्त्तते' इत्यन्यत्रापि समानम्—'यत्नतो हि शब्दोर्थवत्त्वेतरस्वभावतया परीक्षितोर्थं न व्यभिचरति' इति । तथा चान्यापोहमात्राभिधायित्व शब्दाना श्रद्धामात्रगम्यम् ।

किंच, अन्यापोहमात्राभिधायित्वे प्रतीतिविरोध–गवादिशब्देभ्यो विधिरूपावसायेन प्रत्ययप्रतीते । अन्यनिषेधमात्राभिधायित्वे च तत्रैव चरितार्थत्वात्सास्नादिमतोर्थस्यातोऽप्रतीते तद्विषयाया

के सद्भाव मे होने वाले शब्दो मे लगाना ठीक नही यदि इस तरह अन्य का व्यभिचार दोष अन्य मे लगायेंगे तो गोपालघटिका आदि मे होने वाला धूम अग्नि से व्यभिचरित होता हुआ देखकर उस व्यभिचार को पर्वतादि प्रदेशस्थ धूम में भी लगाना चाहिए ? और इस प्रकार धूमादि हेतु व्यभिचार युक्त मानने पर कार्य हेतु के लिये जलांजलि ही दी जायगी, अर्थात् कार्य हेतु की मान्यता ही नष्ट हो जायगी । दूसरा दोष सकल शून्यता का आयेगा, अर्थात् अन्य का व्यभिचार किसी अन्य मे लगाते है तो स्वप्नादि मे होने वाला अर्थ प्रतिभास भ्रात हुआ देखकर सभी प्रतिभासो को भ्रांत मानना होगा ? क्योकि अन्य का दोष अन्य मे लगा सकते है ? और इस तरह सभी प्रतिभास (ज्ञान) भ्रात है तो इनके विषयभूत पदार्थ भी भ्रात (काल्पनिक) कहलायेगे । और ज्ञान तथा पदार्थ भ्रात हैं तो सकल शून्यता आ ही जाती है ।

बौद्ध—यह प्रसग नही आता क्योकि यत्न से परीक्षा किया हुआ कार्य कारण के साथ व्यभिचारित नही होता अर्थात् पर्वतादि का धूम रूप कार्य अपने अग्नि रूप कारण के साथ व्यभिचरित नही होता अत. सब कार्य हेतु सदोष होना या सकल शून्यता आना इत्यादि दोष नही आते ।

जैन–ठीक है, यही बात शब्द के विषय मे है, कोई कोई शब्द अर्थ के विद्यमान नही होते हुए उपलब्ध होने पर भी अन्य शब्द तो ऐसे नही है अर्थात् यत्न से परीक्षा करने पर निर्णीत होता है कि अमुक शब्द अर्थवान् है और अमुक शब्द नही इस प्रकार परीक्षित हुआ शब्द कभी भी व्यभिचरित नही होता । अत शब्द केवल अन्यापोह के अभिधायक है ऐसा कहना श्रद्धा मात्र है ।

गवादिबुद्धे र्जनकोन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः। अथैकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्योत्पादान्न परो ध्वनिर्मृग्यः; न; एकस्य विधिकारिणो निषेधकारिणो वा ध्वनेर्युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणफलानुपलम्भात्। विधिनिषेधज्ञानयोश्चान्योन्य विरोधात् कथमेकस्मात्सम्भवः?

यदि च गोशब्देनागोशब्दनिवृत्तिर्मुख्यत प्रतिपद्यते, तर्हि गोशब्दश्रवणानन्तर प्रथमतरम् 'अगौ' इत्येषा श्रोतु प्रतिपत्तिर्भवेत्। न चैवम्, अतो गोबुद्धचनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

शब्द केवल अन्यापोह के वाचक ही है ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध भी है, क्योकि गो आदि शब्दो से अस्तित्वरूप निश्चय द्वारा सास्नादिमान पदार्थो की प्रतीति हो रही है फिर कैसे कह सकते है कि शब्द केवल अन्यापोह का वाचक है? यदि गो आदि शब्द अन्य का निषेध मात्र करते तो उसी अर्थ मे शब्द का कर्त्तव्य समाप्त हो जाने से सास्नादिमान गो पदार्थ उससे प्रतिभासित नही हो सकेगा अत उस गो आदि विषय को करने वाला गो आदि के ज्ञानका जनक कोई अन्य शब्द ही खोजना पडेगा? अर्थात् गो शब्द ने केवल अन्य अर्थ जो अश्वादि है उसका निषेध किया है सास्नायुक्त गो पदार्थ को नही कहा है उस सास्नायुक्त पदार्थ को कहने वाला कोई दूसरा शब्द ही चाहिये।

बौद्ध—एक ही गो शब्द से दोनो ज्ञान (अन्य का अपोह सम्बन्धी और सास्नायुक्त गो सम्बन्धी) उत्पन्न किये जाते हैं अत अन्य शब्द नही खोजना पडता?

जैन—ऐसा शक्य नही। विधिकारक या निषेधकारक एक ध्वनि या शब्द द्वारा एक साथ दो ज्ञान उत्पन्न करना रूप फल उपलब्ध नही होता है। तथा विधि रूप ज्ञान (गो है इत्यादि) और निषेध रूप ज्ञान (अश्वादि नही है) ये परस्पर मे विरोध रूप है इन दोनो का एक शब्द से प्रादुर्भाव होना किस प्रकार सभव है? अर्थात् सभव नही है।

तथा यदि गो शब्द द्वारा मुख्य रूप से अगोशब्द की निवृत्ति होना ही मानते हैं तो गो शब्द को सुनते ही सबसे पहले "अगो" इस प्रकार का सुनने वाले को ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नही होता। यदि ऐसा होता तो गो का ज्ञान उत्पन्न ही नही होता। बौद्ध के तत्त्वसग्रह ग्र थ मे भी पूर्वपक्ष रूप से यही बात कही है—तुम बौद्ध के मत मे शब्द को अन्यापोह का वाचक माना जाता है किन्तु शब्द द्वारा होने वाले

"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षेऽनुवर्णितः।
निपेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते ॥१॥
किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दत ।
विधिरूपावसायेन मति शाब्दी प्रवर्त्तते ॥२॥"

[तत्त्वस० का० ९१०-११ पूर्वपक्षे]

"यदि गौरित्यय शब्द समर्थोन्यनिवर्त्तने ।
जनको गवि गोबुद्धि(द्धे)र्मृग्यतामपरो ध्वनि ॥३॥
ननु ज्ञानफला शब्दा न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवादविधिज्ञान फलमेकस्य व कथम् ॥४॥
प्रागगौरिति विज्ञान गोशब्दश्राविणो भवेत् ।
येनाऽगो प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनि. ॥५॥"

[भामहाल० ६।१७-१९]

ज्ञान में अन्यापोहरूप निषेध मात्र प्रतिभासित नही होता अपितु गो शब्द से गो का अस्तित्वरूप प्रतिभास ही होता है एव गवय, हाथी, वृक्ष इत्यादि शब्द से अस्तित्व रूप अर्थ ही प्रतीत होता है न कि अन्यापोह रूप ॥१-२॥ भामह विरचित काव्यालकार नामा ग्रंथ मे भी इसी तरह कहा है—यदि "गौः" इस प्रकार का शब्द केवल अन्य अश्वादिकी निवृत्ति करने मे समर्थ है तो गो पदार्थ मे गो का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य शब्द खोजना होगा ॥३॥ बौद्ध कहे कि अन्य शब्द की खोज करना पडे तो पडने दो ? सो भी बात नही क्योकि शब्द ज्ञान रूप फलको उत्पन्न करने वाले माने है। किन्तु यह बात भी नही है कि वे विधि और निषेध रूप दो ज्ञानो को उत्पन्न कर सकते हो। अत. आप बौद्ध के यहा एक ही गो शब्द से अन्यापोह और अस्तित्व रूप दो ज्ञान उत्पन्न होना किस प्रकार स्वीकार किया है ? ॥४॥ यदि शब्द अन्यापोह के वाचक है तो गो शब्द को सुनने वाले पुरुष को पहले "अगौ" इस प्रकार का ज्ञान होना था ? किन्तु होता तो नही। फिर अगो का प्रतिषेध करने के लिये गो शब्द प्रवृत्त होता है ऐसा किस प्रकार माना जाय अर्थात् नही मान सकते ॥५॥

किंच, अपोहलक्षण सामान्य वाच्यत्वेनाभिधीयमान पर्युदासलक्षण चाभिधीयेत, प्रसज्यलक्षण वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यतायदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षण सामान्य गोशब्देनोच्यते भवतानदेवास्माभिर्गोत्वाख्य भावलक्षण सामान्य गोशब्दवाच्यमित्यभिधीयेत, अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन व्यवस्थितत्वात् ।

कश्चाय भवतामश्वादिनिवृत्तिस्वभावो भावोऽभिप्रेत ? न तावदसाधारणो गवादिस्वलक्षणात्मा, तस्य सकलविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वात् । नापि शावलेयादिव्यक्तिविशेष, असामान्यप्रसगत । यदि गोशब्द शावलेयादिवाचक स्यात्तर्हि तस्यानन्वयान्न स सामान्यविषय स्यात्। तस्मात्सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यत्प्रत्येक परिसमाप्त तन्निबन्धना गोबुद्धि, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम् । तस्याऽगोऽपोहशब्देनाभिधानान्नाममात्र भिद्येत । उक्तञ्च—

किंच, बौद्ध मत मे शब्द का वाच्य अपोह सामान्य माना है सो वह अपोह पर्युदास लक्षण वाला है या प्रसज्य लक्षण वाला है ? प्रथम पक्ष मे सिद्ध साध्यता है (सिद्ध को ही सिद्ध करना है) क्योकि जिसको आप अगो निवृत्तिरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते हैं उसी को हम जैन गोत्व नामधेय सद्भावरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते है अर्थात् आप उस सामान्य को अगो व्यावृत्ति नाम देते है और हम गोत्व सामान्य नाम देते हैं, क्योकि पर्युदास लक्षण वाला अभाव भावातर स्वभाव वाला होता है ।

आपके मत मे यह अश्वादि की निवृत्ति (अगो व्यावृत्तिरूप अन्यापोह) स्वभाव वाला पदार्थ कौनसा है ? असाधारण गो आदि स्वलक्षणरूप पदार्थ अर्थात् क्षणिक निरश निरन्वयरूप पदार्थ (बौद्ध मत मे स्वलक्षण को क्षणिक निरश एव निरन्वय माना है) तो हो नही सकता क्योकि यह स्वलक्षणरूप पदार्थ सपूर्ण विकल्पो के अगोचर है । अश्वादि की निवृत्तिरूप स्वभाव वाला पदार्थ शावलेयादि व्यक्ति विशेपरूप (चितकवरी गो आदि विशेष गो रूप) है ऐसा माने तो असामान्य का प्रसग आता है (अर्थात् सामान्य का अपोह असामान्य है ऐसा अर्थ होता है और असामान्य तो विशेप ही है किन्तु बौद्ध शब्द द्वारा केवल सामान्य ही वाच्य होता है ऐसा मानते है) तथा यदि गो शब्दको शावलेयादि विशेप का वाचक मानेगे तो अन्वय नही होने से उसका सामान्य विषय नही बन सकता । इसलिये सभी सजातीय शावलेयादि गो व्यक्तियो मे जो प्रत्येक मे परिसमाप्त होकर रहता है तथा जिसके निमित्त से गो का ज्ञान होता है वह गोत्व नामका सामान्य है और वह गो शब्द द्वारा

"अगोनिवृत्ति सामान्यं वाच्य यै. परिकल्पितम् ।
गोत्व वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥१॥
भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः ।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम् ॥२॥
नेष्टोऽसाधारणस्तावद्विशेषो निर्विकल्पनात् ।
तथा च शावलेयादिरसामान्यप्रसगतः ॥३॥"

[मी० श्लोह० अपोह० श्लो० १–३]

"तस्मात्सर्वेषु यद्रूप प्रत्येक परिनिष्ठितम् ।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०]

द्वितीयपक्षे तु न किंचिद्वस्तु वाच्य शब्दानामिति अतोऽप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसग. । तुच्छरूपाभावस्य चानभ्युपगमान्न प्रसज्यप्रतिषेधाभ्युपगमो युक्त, परमतप्रवेशानुषगात् ।

वाच्य होता है ऐसा मानना चाहिये । उसी गोत्व सामान्य को आप अगो अथवा अपोह शब्द से कहते है तब तो नाम मात्रका भेद रहा । कहा भी है—जिन्होने अगो निवृत्ति रूप सामान्य को गो शब्द का वाच्य माना है उन्होने अपोह इस नाम से गोत्वरूप वस्तु को ही कहा ऐसा समझना चाहिए ॥१॥ क्योकि सभी अभाव भावातर स्वभाव वाले माने गये है यदि गो शब्दका अर्थ अश्वादि निवृत्तिरूप है तो वह कौनसा पदार्थ है उसको बताना चाहिए ॥२॥ असाधारणभूत क्षणिक स्वलक्षण को अश्वादि निवृत्तिरूप पदार्थ कहते हैं ऐसा मानना भी ठीक नही क्योकि स्वलक्षण रूप विशेष को अपने निर्विकल्प (शब्द के अगोचर) स्वीकार किया है, तथा ऐसा मानने से शाबलेयादि को असामान्य मानने का प्रसग आता है ॥३॥ इसलिये सभी गो पिण्डो मे प्रत्येक मे परिसमाप्त होकर जो पदार्थ रहता है और जिसके निमित्त से गोपनेका ज्ञान होता है वह गो शब्द द्वारा कहा जाता है, उस पदार्थ का नाम गोत्व सामान्य ही है इससे भिन्न कुछ भी नही ॥१॥ इस प्रकार मीमासाश्लोकवार्त्तिक नामा ग्रथ मे शब्दका वाच्य विधिरूप अर्थ होता है ऐसा निश्चय किया गया है ।

अपोह सामान्य का वाच्य प्रसज्य लक्षण वाला अभाव है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो शब्दो द्वारा कुछ भी वाच्य नही होता ऐसा अर्थ निकलता है, फिर तो गो

अपि च ये विभिन्नसामान्यशब्दा गवादयो ये च विशेषशब्दाः शावलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्याया प्राप्नुवन्त्यर्थभेदाभावाद्वृक्षपादपादिशब्दवत् । न खलु तुच्छरूपाभावस्य भेदो युक्तः, वस्तुन्येव सस्पृ(ससृ)ष्टत्वैकत्वनानात्वादिविकल्पाना प्रतीते । भेदाभ्युपगमे वा अभावस्य वस्तुरूपतापत्ति, तथाहि—ये परस्पर भिद्यन्ते ते वस्तुरूपा यथा स्वलक्षणानि, परस्पर भिद्यन्ते चाऽपोहा इति ।

न चापोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदादपोहाना भेद, प्रमेयाभिधेयादिशब्दानामप्रवृत्तिप्रसगात्, तदभिधेयापोहानामपोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदाभावतो भेदासम्भवात् । अत्र हि यत्किञ्चिद्व्यवच्छेद्यत्वेन

आदि शब्द से न प्रवृत्ति हो सकती है और न निवृत्ति हो सकती है । तथा ऐसे तुच्छाभाव रूप प्रसज्य प्रतिषेध अभाव को आप सौगतने माना भी नही, यदि मानेंगे तो नैयायिकादि के मत मे आपका प्रवेश हो जायेगा ।

तथा जो विभिन्न सामान्य के अभिधायक गो आदि शब्द है और जो विशेष के अभिधायक शावलेय आदि शब्द है ये सबके सब आपके अभिप्रायके अनुसार पर्यायवाची शब्द बन जायेंगे ? क्योकि शब्द केवल प्रसज्य अभावरूप अपोह को कहते हैं अत सबका वाच्य एक अभाव ही है उनमे कुछ भी अर्थ भेद नही रहता जैसे कि "वृक्ष और पादप" इन शब्दो मे अर्थ भेद नही रहता । तुच्छाभावरूप अपोह मे किसी प्रकार का अर्थ भेद आदि होना तो अयुक्त है । किसी प्रकार का अर्थका भेद आदि भेद तो वस्तुभूत पदार्थ मे होता है, क्योकि ससृष्टपना, एकपना, नानापना इत्यादि भेद तो वस्तु मे ही प्रतीत होते है (न कि अभाव मे) यदि अन्यापोह रूप अभाव मे भेदको मानना इष्ट है तो उस अभाव के वस्तुरूपता सिद्ध होती है, कैसे सो ही बताते हैं—जो परस्पर मे भेदको प्राप्त होते है वे वस्तुरूप होते हैं जैसे स्वलक्षण वस्तुरूप होने से भेदको प्राप्त होते है, अश्वादि निवृत्तिरूप अपोह भी भेदको प्राप्त होते हैं अत वे वस्तुरूप हैं ।

अपोह करने योग्य अश्वादि अपोह्य पदार्थरूप सम्बन्धियो के भेद से अपोहो मे (अभावो मे) भेद होता है ऐसा कहना भी अशक्य है, इस तरह मानने से तो प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दो की प्रवृत्ति नही हो सकती । आगे इसी का खुलासा करते है—जिस प्रकार गो शब्दका अर्थ अगोव्यावृत्ति है उस प्रकार प्रमेय शब्दका अर्थ अप्रमेयव्यावृत्ति है अभिधेय शब्दका अर्थ अनभिधेय व्यावृत्ति है सो ये अनभिधेय आदि अपोह्य नही हो सकते क्योंकि इनका अस्तित्व ही नही है । अत अपोह्य रूप

कल्प्यते तत्सर्वं व्यवच्छेद्याकारेणालम्ब्यमान प्रमेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते । न ह्यविषयीकृतं व्यवच्छेत्तुं शक्यमतिप्रसगात् । न च सम्बन्धिभेदो भेदक., अन्यथा वहुषु शावलेयादिव्यक्तिष्वेकस्याऽगोपोहस्याऽभावप्रसगः । यस्य चान्तरगा. शावलेयादिव्यक्तिविशेषा न भेदकाः 'तस्याऽश्वादयो भेदका ' इत्यतिसाहसम् । सम्बन्धिभेदाच्च वस्तुन्यपि भेदो नोपलभ्यते किमुताऽवस्तुनि, तथाहि–देवदत्तादिकमेकमेव वस्तु युगपत्क्रमेण वानेकैराभरणादिभिरभिसम्बद्धयमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते ।

भवतु वा सम्बन्धिभेदाद्भेद , तथापि–वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवता स एवापोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात्तद्भेद स्यात् । तथाहि–गवादीना यदि वस्तुभूत सारूप्यं

सम्बन्धियो के भेद से अपोहो मे भेद करना असभव है । प्रमेय आदि शब्दो मे जिस किसी को भी व्यवच्छेद्यरूप से कल्पित किया जायगा वह सब ही व्यवच्छेद्यआकार से विषय हो जाने से प्रमेयादि स्वभावरूप हो स्थित होता है । जो अविषयीकृत होता है वह तो व्यवच्छेद होने योग्य (जानने योग्य) ही नही होता, यदि अविषय को व्यवच्छेद्य मानेगे तो आकाश पुष्पादि को भी व्यवच्छेद्य मानने का अतिप्रसग आयेगा । तथा सम्बन्धियो के भेद अपोहो मे भेद करते है ऐसा बौद्ध का कथन गलत ही है, यदि ऐसा मानेगे तो बहुत से शावलेयादि गो व्यक्तियो मे एक ही अगो रूप अपोह पाया जाता है उसका अभाव होवेगा । अव्यभिचारीपने से उन्ही मे नियत रूप से रहने वाले अंतरग शावलेय आदि गो व्यक्तिया जिस गोत्व सामान्य रूप अपोह के भेद नही करती है उस गोत्व सामान्य के भेद अश्वादिक करते है ऐसा बौद्ध का कहना तो अतिसाहस पूर्ण है अर्थात् ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है । सम्बन्धी पदार्थो के भेद से भेद होने की मान्यता भी असत् है, सम्बन्धी के भेद से तो वस्तु मे भी भेद होना अशक्य है फिर अवस्तुरूप अपोह मे तो क्या हो सकता है । इसीको बताते हैं—एक देवदत्तादि कोई पदार्थ है वह युगपत् या क्रमश अनेक वस्त्राभरण आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होता हुआ भी अनेक या भेद रूप नही हो जाता एक ही रहता है । उसी प्रकार सम्बन्धी के भेद से अपोह मे भेद होना असभव है ।

आपके हटाग्रह से मान लेवे कि सम्बन्धी के भेद से अपोह मे भेद होता है तो भी आपके मत मे सामान्य को वास्तविक पदार्थ नही माना अत' अपोह का आश्रय भूत सम्बन्धी ही सिद्ध नही होता जिनके कि भेद से अपोह मे भेद करना है । आगे इसीका खुलासा करते है –यदि गो आदि पदार्थो मे वास्तविक सादृश सामान्य सिद्ध

प्रसिद्ध भवेत्तदाश्वाद्यपोहाश्रयत्वमविशेषेणैषा प्रसिद्धयेन्नान्यथा। अतोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छताऽवश्यं सारूप्यमगीकर्त्तव्यम्। तदेव च सामान्य वस्तुभूत भविष्यतीत्यपोहकल्पना वृथैव।

यदि वाऽसत्यपि सारूप्ये शावलेयादिष्वगोपोहकल्पना तदा गवाश्वयोरपि कस्मान्न कल्प्येताऽसौ विशेषाभावात्? तदुक्तम्—

"अथाऽसत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना।
गवाश्वयोरय कस्मादगोपोहो न कल्प्यते॥१॥
शावलेयाच्च भिन्नत्व बाहुलेयाश्वयो समम्।
सामान्य नान्यदिष्ट चेत्क्वागोपोह' प्रवर्त्तताम्॥२॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ७६-७७]

होवे तो अश्व आदि पदार्थो के अपोह का आश्रयपना इनमे सिद्ध हो सकता है अन्यथा नही, अर्थात् गो आदि पदार्थो मे सादृश्य या सामान्य को नही मानते तो वे पदार्थ अन्यापोह के आश्रयभूत नही हो सकते। अत गो आदि मे अपोह का विषयपना चाहने वाले बौद्ध को सादृश्य धर्मको अवश्य स्वीकार करना होगा। और इस तरह सादृशको स्वीकार करने पर वही सामान्य होने से वास्तविक सामान्य भी सिद्ध होगा फिर अपोह की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

यदि शाबलेय आदि गो व्यक्तियो मे सादृश्य के नही रहते हुए भी अगो अपोह की कल्पना शक्य है तो गो और अश्व मे भी उक्त कल्पना को क्यो नही कर सकेंगे? सादृश्य का अभाव तो समान ही है? अन्यत्र भी कहा है कि—सादृश्य के अभाव मे भी यदि अपोह की कल्पना सभावित है तो गो अश्वो मे किस कारण से एक अगो अपोह कल्पित नही किया जाता?॥१॥ यदि कहा जाय कि गो और अश्व मे भिन्नता होने के कारण एक अगो अपोह आश्रयत्व की कल्पना नही होती तो शावलेयादि गो मे भी यही बात है अर्थात् शावलेय गो से बाहुलेय गो और अश्व समान रूप से भिन्न है फिर भी उक्त गो की केवल अश्व से अगो व्यावृत्ति होती है, बाहुलेय से नही होती ऐसा क्यो? आप बौद्ध के यहा जब वास्तविक सामान्य को स्वीकार ही नही किया तब यह अगो अपोह किस आश्रय मे रहे? अर्थात् कही पर भी नही रह सकता॥२॥

यथा च स्वलक्षणादिषु समयासम्भवान्न शब्दार्थत्व तथाऽपोहेपि। निश्चितार्थो हि समयकृत्समय करोति। न चापोह केन चिदिन्द्रियैर्व्यवसीयते, तस्यावस्तुत्वादिन्द्रियाणा च वस्तुविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन, वस्तुभूतसामान्यमन्तरेणानुमानस्यैवाऽप्रवृत्तेः।

भावार्थ—बौद्ध मत मे सामान्य को काल्पनिक माना है, वे सादृश्य को सारूप्य नाम देते है इस सारूप्य या सादृश्य को भी वे लोग नही मानते अत यहा अपोहवाद प्रकरण मे आचार्य कह रहे है कि आपके यहा गो शब्द का अर्थ सास्नायुक्त गो पदार्थ न होकर "अगोव्यावृत्ति" होता है, किसी ने "गौ" ऐसा कहा तो उसका अर्थ किया जायगा कि यह सामने स्थित पदार्थ अश्व नही है हाथी नही है इत्यादि, गो को अन्य पशुओ से पृथक् करना गो शब्द का कार्य है। सो सबसे पहले तो ऐसा प्रतीत ही नही होता, गो शब्द सुनते ही सास्नायुक्त पशुका बोध होता है न कि यह अश्व नही इत्यादि निषेध रूप (अपोह रूप) वस्तुका, सभी आबाल गोपाल को इसी प्रकार की शाब्दी प्रतीति होती है। फिर भी थोडी देर के लिये बौद्ध के आग्रह से मान लिया जाय कि गो शब्द अगोव्यावृत्ति का वाचक है, किन्तु इसमे प्रश्न होता है कि अगोव्यावृत्तिरूप पदार्थ कौनसा है ? यह तो अभाव रूप है और अभाव मे भेद नही होता, अब समस्या यह आती है कि शाबलेयादि अनेक गो व्यक्तियो मे गोत्व सामान्य तो है नही क्योकि सामान्य को काल्पनिक मान बैठे है, जब गो व्यक्तियो मे गोत्व ही नही तो वे गो व्यक्तिया किस प्रकार अगो से व्यावृत्त हो सकती हैं ? क्योकि जैसे अश्वादि मे अगोपता है वैसे गो व्यक्तियो मे है। बडा आश्चर्य है कि गो मे गोत्व सामान्य नही है और फिर भी उनको अश्वादि से व्यावृत्ति होती है। अश्वादि पशुओ से गो व्यक्तियो को भिन्न करने का कारण कौन होगा यदि उनमे गोत्व सामान्य नही माना जाय अत सामान्य को काल्पनिक मानना और गो आदि शब्दो का अगो व्यावृत्ति आदि रूप अर्थ करना ये दोनो ही सिद्धात गलत साबित होते है। आगे इसी को कह रहे है।

जिस प्रकार बौद्धाभिमत क्षणिक निरशभूत स्वलक्षण आदि मे सकेत का होना असभव होने से शब्दार्थपना घटित नही होता उसी प्रकार अपोह मे भी शब्द और अर्थपना घटित नही हो सकता। इसका भी कारण यह है कि "इस शब्द का यह अर्थ है" इस प्रकार जिसको अर्थ का निश्चय हुआ वह पुरुष ही सकेत का ज्ञाता होने से सकेत को करता है, किन्तु अपोह किसी पुरुष के द्वारा इन्द्रियो से जाना नही जाता है

अस्तु वा समय, तथापि–कथमश्वादीना गोशब्दानभिधेयत्वम्? सम्बन्धानुभवक्षणेऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनादृष्टे' इत्यनुत्तरम्, यतो यदि यद्गोशब्दसकेतकाले दृष्ट ततोऽन्यत्र गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते, तदैकस्मात्सकेतेन विषयीकृताच्छावलेयादिगोपिण्डात् अन्यद्बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्य न भवेत्।

इतरेतराश्रयश्च–अगोव्यवच्छेदेन हि गो प्रतिपत्ति, स चाऽगौर्गोनिषेधात्मा, ततश्च अगौः इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्यो यो 'न गौ.' इत्यत्र नञा प्रतिषेध्येत। न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधो विधातु

क्योकि वह अवस्तु रूप (अभाव रूप) है और इन्द्रिया वस्तु रूप विषय को ग्रहण करती हैं, अत. इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय करके उसमे सकेत होना अशक्य है। अनुमानज्ञान द्वारा भी अपोह का निश्चय करना अशक्य है क्योकि वस्तुभूत सामान्य के बिना उसमे अनुमान की प्रवृत्ति नही हो सकती।

अपोह मे सकेत होता है ऐसा मान भी लेवे तथापि अश्वादि पदार्थ गो शब्द से वाच्य नही यह कैसे सिद्ध हो सकता है?

बौद्ध—गो शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का अनुभवन करते समय अश्वादि पदार्थ उस अनुभव के विषय होते हुए नही देखे जाते, अत. वे पदार्थ गोशब्द से वाच्य नही होते?

जैन—यह कथन ठीक नही, क्योकि यदि गो शब्द के सकेत काल मे जो देखा है उसको छोडकर अन्यत्र गो शब्द की प्रवृत्ति होना आपने स्वीकार नही किया है तो सकेत द्वारा विषयभूत एक शावलेयादि गो विशेष से जो अन्य है ऐसे बाहुलेयादि गो विशेष गो शब्द द्वारा अश्वादि से अपोह्य (अपोह करने योग्य) नही हो सकेंगे अर्थात् गो शब्द से विवक्षित एक शावलेय गो ही अश्वादि से व्यावृत्य हो सकेगी अन्य बाहुलेयादि गो अश्वादि से अव्यावृत्त ही रह जायगी।

शब्द का अर्थ अन्यापोह है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष भी आता है कैसे सो ही बताते हैं—अगो का व्यावर्त्तन करके गो की प्रतीति होगी और जो अगो है वह गोका निषेध स्वरूप है अत "अगो" इस पद मे स्थित गो शब्द है उसका अर्थ क्या है सो बताना होगा? जिसका कि प्रतिषेध "न गौ" इस प्रकार के नञ समास द्वारा किया जाता है। अर्थको बिना जाने उसका प्रतिषेध करना तो शक्य नही है, क्योकि अनिर्ज्ञात स्वरूप का निषेध करना अशक्य है ऐसा नियम है।

शक्य । अथाऽगोनिवृत्यात्मा गौरेव, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वादगोरगोप्रतिपत्तिद्वारेणैव प्रतीति, अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद्गोप्रतिपत्तिद्वारेणेति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् ।

अथाऽगोशब्देन यो गौर्निषिध्यते स विधिरूप एवागोव्यवच्छेदलक्षणापोहसिद्धयर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्व न भविष्यति, यद्येवम्–'सर्वस्य शब्दस्यापोहोऽर्थ' इत्येवमपोहकल्पना वृथा विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात्, अन्यथेतरेतराश्रयो दुर्निवार । तदुक्तम्—

"सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च स ।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा य प्रतिषिध्यते ।।१।।

शका—अगो की निवृत्तिरूप जो पदार्थ है वह गो ही है ।

समाधान—इस तरह कहने पर तो गो नामा पदार्थ अगो की निवृत्तिरूप स्वभाव वाला सिद्ध होता है अत गो का ज्ञान अगो के जानने के अनतर ही हो सकेगा, पुनश्च "अगो" नामकी वस्तु भी गो के प्रतिषेध स्वरूप होने से गो की प्रतीति होने के अनन्तर ही अगो का ज्ञान होवेगा इस प्रकार स्पष्टतया इतरेतराश्रय दोष आता है । अर्थात् गो का ज्ञान तब होवे जब अगो का व्यावर्त्तन हो और अगो भी गो के निषेध रूप होने से गो को ज्ञात करने के अनन्तर ही व्यावृत्त हो सकती है इसलिए गो ज्ञान और अगो ज्ञान परस्पराश्रित सिद्ध होकर गो शब्द द्वारा अर्थ बोध होना दुर्लभ हो जाता है ।

बौद्ध—"अगो" इस पद मे स्थित जो गो शब्द है उस गो शब्द से जिस गो अर्थका निषेध किया जाता है वह विधिरूप ही है (अस्तित्वरूप ही है, अगो की निवृत्ति रूप नही है) अगो के व्यवच्छेद स्वरूप अपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग होता है अत उक्त इतरेतराश्रय दोष नही होगा ?

जैन—यदि ऐसी बात है तो "सभी शब्दका अर्थ अपोह ही होता है" ऐसा कहना व्यर्थ है क्योकि विधिरूप भी शब्दका अर्थ होता है ऐसा मान लिया । अन्यथा वही इतरेतराश्रय दोप आना दुर्निवार है । जैसा कि कहा है – अगो पद मे जो गो शब्द है वह ज्ञात होकर ही अपोहित किया जा सकता है जों कि गो का निषेध स्वरूप है, "न गौ', इस नञ समास द्वारा जो प्रतिसिद्ध होता है वह पदार्थ गो ही है ऐसा बौद्ध का कहना है ।।१।। नञ समास द्वारा प्रतिसिद्ध होने वाले उस अर्थको अगो की

स चेदगोनिवृत्यात्मा भवेदन्योन्यसश्रय ।
सिद्धश्चेद्गौरपोहार्थं वृथापोहप्रकल्पनम् ॥२॥
गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेप्य(पि)गौ. कुत. ।
नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयो. ॥३॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८३-८५]

दिग्नागेन विशेपणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् "नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहु" [ ] इत्युक्तम्, तदयुक्तम्, यस्य हि येन कश्चिद्वास्तवः सम्बन्ध सिद्धस्तत्तेन विशिष्टमिति वक्तु युक्तम्, न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयत्वादि. सम्बन्ध सम्भवति, नीरूपत्वात् । आदिग्रहणेन सयोगसमवायैकार्थसमवायादिसम्बन्धग्रहणम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे तद्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ताऽतिप्रसङ्गात् ।

निवृत्तिरूप माने तो स्पष्टरूप से इतरेतराश्रय दोप आता है, यदि अगो पद का विधिरूप अर्थ करते हैं और केवल अगो व्यावृत्तिरूप अपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग करते है तो उस अपोह की कल्पना करना वृथा ही है ॥२॥ तथा गो शब्द का अर्थ अप्रसिद्ध है तो अगो का अर्थ भी नही हो पाता और अगो का अभाव रूप गो पदार्थ भी किस हेतु से सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् नही हो सकता । अभिप्राय यह है कि गो शब्द और अगो शब्द इन दोनो शब्दो का भी अर्थ सिद्ध नही होता, अभावों मे आधार आधेयवृत्ति आदि रूप सम्बन्ध होना भी अशक्य है ॥३॥

बौद्ध मत के ग्रन्थकार दिग्नाग ने कहा है कि—विशेषण और विशेष्य भाव के समर्थन के लिये प्रयुक्त हुए नील, उत्पल आदि शब्द अर्थांतर की (अनील, अनुत्पल आदि की) निवृत्तिरूप विशिष्ट अर्थोंको ही कहते हैं इत्यादि, सो यह कथन अयुक्त है । इसी का खुलासा करते हैं—जिसका जिसके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध रहता है तो वह उससे विशिष्ट है ऐसा कह सकते है किन्तु अनील और अनुत्पल की व्यावृत्ति के कारण अभावरूप सिद्ध हुए नील और उत्पल पदार्थो मे आधार आधेय आदि सम्बन्ध होना अशक्य है क्योकि अनीलादि अभाव नीरूप है । आदि शब्द मे सयोग सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, एकार्थसमवाय सम्बन्ध इत्यादि सम्बन्धो का ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् इन अनील अनुत्पल आदि की व्यावृत्तिरूप नीरूप पदार्थों मे सयोग सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध आदि सम्बन्ध भी नही हो सकते । और जब वास्तविक

नास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदोऽभिमतो यतोय दोष स्यात् । किं तर्हि ? अनीलानुत्पलाभ्या व्यावृत्त वस्त्वेव तथा व्यवस्थितम् । तच्चार्थान्तरव्यावृत्त्या विशिष्ट शब्देनोच्यते, इत्यप्यपेशलम्; स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वात् । न च स्वलक्षणस्य व्यावृत्त्या विशिष्टत्व सिद्धयति; यतो न वस्त्वपोहोऽसाधारण तु वस्तु, न च वस्त्वऽवस्तुनो सम्बन्धो युक्त., वस्तुद्वयाधारत्वात्तस्य ।

अस्तु वा सम्बन्ध', तथापि विशेषणत्वमपोहस्याऽयुक्तम्, न हि सत्तामात्रेण किञ्चिद्विशेषणम् । किं तर्हि ? ज्ञात सद्यत्स्वाकारानुरक्तया बुद्धया विशेष्य रञ्जयति तद्विशेषणम् । न चापोहेऽय प्रकार:

सम्बन्ध ही नही तो उस सम्बन्ध से (विशेषण विशेष्य से) विशिष्ट (युक्त) पदार्थ की प्रतीति होना भी अशक्य है अन्यथा अतिप्रसग होगा ।

बौद्ध—हम लोग अनील की व्यावृत्ति से विशिष्ट अनुत्पल का व्यवच्छेद नही मानते जिससे यह आधार आधेय सम्बन्ध का अभाव होना रूप दोप सभावित हो सके । किन्तु अनील और अनुत्पल से व्यावृत्त वस्तु ही उस रूप से (नीलोत्पल रूप से) व्यवस्थित होना मानते है, और उस अर्थांतर की व्यावृत्ति से विशिष्ट वस्तु को शब्द द्वारा कहा जाता है ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, आपके यहा अर्थान्तर से व्यावृत्त पदार्थ को वास्तविक माना है, वास्तविक पदार्थ स्वलक्षण रूप (क्षणिक निरशरूप) होता है और स्वलक्षण अवाच्य होता है ऐसी आपकी मान्यता है अत. अर्थान्तर व्यावृत्तरूप स्वलक्षण शब्द द्वारा कहा जाता है ऐसा कथन असत् ठहरता है । तथा स्वलक्षण का व्यावृत्ति से विशिष्टरूप होना सिद्ध नही होता क्योकि व्यावृत्ति अर्थात् अपोह वस्तु रूप (वास्तविक) नही है, वस्तु तो असाधारण स्वरूप वाली होती है । वस्तु अवस्तु का सम्बन्ध होना भी असम्भव है और इसका कारण भी यह है कि सम्बन्ध दो वास्तविक सद्भावरूप वस्तुओ मे हो होता है ।

उक्त अनील व्यावृत्ति रूप नील आदि पदार्थो मे सम्बन्ध होना मान लेवे तो भी अपोह के (अभाव के) विशेषणपना अयुक्त ही है क्योकि किसी की सत्ता होने मात्र से वह विशेपण नही बन जाता अर्थात् अपोह का अस्तित्व है अत विशेपण रूप होवे हो ऐसा नियम नही है । विशेपण तो वह होता है कि जो पदार्थ ज्ञात हो एवं अपने आकार से अनुरक्त हुए ज्ञान द्वारा विशेष्य को रंजित करे । अपोह मे यह प्रकार

सम्भवति। न ह्यश्वादिबुद्धयापोहोऽध्यवमीयते। किं तर्हि? वस्त्वेव। अपोहज्ञानासम्भवश्चोक्त प्राक्। न चाज्ञातोप्यपोहो विशेपरण भवति। "नागृहीतविशेषरणा विशेष्ये बुद्धि" [ ] इत्यभिधानात्।

अस्तु वाऽपोहज्ञापनम्, (ज्ञानम्,) तथापि-अर्थे तदाकारबुद्धयभावात्तस्याऽविशेषरणत्वम्। सर्वं हि विशेषरण स्वाकारानुरूपा विशेष्ये बुद्धि जनयद्दृष्टम्, न त्वन्यादृश विशेपरणमन्यादृगी बुद्धि विशेष्ये जनयति। न खलु नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति। न

सम्भव नही है। क्योकि अपोह अज्ञात है। अश्वादि के ज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय नही किया जाता किन्तु वस्तु का ही निश्चय किया जाता है, इसका भी कारण पहले बता दिया है कि अपोह का ज्ञान होना असम्भव है। अज्ञात होते हुए भी अपोह विशेषण बन सकता है ऐसा तो नही कहना क्योकि "नागृहीत विशेपरणा विशेष्ये बुद्धि" जिसने विशेपण को ग्रहण नही किया वह ज्ञान विशेष्य मे प्रवृत्त नही होता ऐसा नियम है।

यदि मान लिया जाय कि अपोह का ज्ञान होना शक्य है तो भी तदाकार (अपोहाकार) रूप ज्ञान के नही होने से उसमे विशेपणपना आना अशक्य है (बौद्ध मत मे ज्ञान पदार्थ के आकार हुए बिना उसको जान नही सकता) क्योकि जो भी विशेषण होता हैं वह सर्व ही विशेष्य मे अपने आकार के अनुरूप ज्ञानको उत्पन्न करता हुआ देखा गया है, ऐसा तो होना नही कि विशेपण किसी अन्याकार हो और विशेष्य मे किसी अन्य आकाररूप ज्ञानको उत्पन्न करे। नोल विशेषण कमल मे "यह लाल है" ऐसें ज्ञान को उत्पन्न करा सकता है क्या? अर्थात् नही करा सकता, दण्डा किसी पुरुष मे "यह कुण्डल वाला है" ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करा सकता है क्या? नही करा सकता। इसी प्रकार अश्वादि पदार्थो मे शब्द द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अभाव से अनुरक्त (अपोह मे ससक्त) नही होता, किन्तु सद्भावाकार ही होता है। अर्थात् शब्द जन्य ज्ञान अभावाकार नही होता अपितु सद्भावाकार ही होता है, इसलिये अश्वादि की व्यावृत्तिरूप अपोह या अनील की व्यावृत्तिरूप अपोह किसी का विशेषण नही हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अपोह किसी का विशेपण नही बन सकता फिर भी जबरदस्ती उसमे विशेषणपना माना जाता है तब तो सब सबके विशेषण हो सकेंगे। यदि कदाचित् अश्वादि पदार्थो मे होने वाले शब्दजन्य ज्ञान को अभावाकार

चाश्वादिष्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते। किन्तर्हि ? भावाकाराध्यवसायिनी। तथापि विशेषणत्वे सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात्। अनुरागे वा अभावरूपेण वस्तुन प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात्, भावाभावयोर्विरोधात्। शब्देनाऽगम्यमानत्वाच्चाऽसाधारणवस्तुनो न व्यावृत्या विशिष्टत्व प्रत्येतु शक्यम्। उक्तञ्च—

"न चासाधारणं वस्तु गम्यतेपोहवत्तया।
कथ वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनो ॥१॥

स्वरूपसत्त्वमात्रेण न स्यात्किञ्चिद्विशेषणम्।
स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्य तद्विशेषणम् ॥२॥

न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेपोहभासनम्।
विशेष्ये बुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥३॥

न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज्ज्ञान विशेषणम्।
कथ वाऽन्यादृशे ज्ञाने तदुच्येत विशेषणम् ॥४॥

माना जायगा तब तो वस्तु की अभावरूप प्रतीति आ जाने से उसमे वस्तुपना ही नही रहेगा, क्योकि भाव और अभाव का (वस्तु और अवस्तु का) एकत्र रहना विरुद्ध है। अर्थात् एक वही वस्तु और अवस्तु नही होती। दूसरी बात यह है कि आप बौद्ध के यहा पर असाधारण वस्तु को (स्वलक्षण को) शब्द द्वारा अगम्य (अवाच्य) माना है अत उसका अपोह से विशिष्टपना जानना शक्य नही है। मीमासा श्लोक वार्तिक ग्रन्थ मे भी कहा है कि—

असाधारण वस्तु (स्वलक्षण) अपोह से विशिष्ट प्रतीत नही हो सकती तथा स्वलक्षणरूप वस्तु और अपोह रूप अवस्तु का सम्बन्ध भी किस प्रकार परिकल्पित हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ॥१॥ बिना सम्बन्ध के अस्तित्व मात्र से कोई किसी का विशेषण नही बनता है, क्योकि जिसके द्वारा अपने ज्ञान से विशेष्य को अनुरक्त किया जाता है वह विशेषण कहलाता हैं ॥२॥ अश्वादि शब्दो से अपोह का प्रतिभास नही होता अत उनकी व्यावृत्तिरूप अपोह को विशेषण नही बना सकते और जो ज्ञान विशेषण के प्रतिभास से रहित है वह विशेष्य मे प्रवृत्ति करा नही सकता ॥३॥ विशेषण अन्य रूप हो और उसके द्वारा विशेष्य मे किसी अन्य विशेषण रूप ज्ञान उत्पन्न कराया जाय ऐसा होना तो अशक्य है, यदि अन्य रूप ज्ञान उत्पन्न कराता

अथान्यथा विशेष्येपि स्याद्विशेषणकल्पना ।
तथा सति हि यत्किञ्चित्प्रसज्येत विशेषणम् ॥५॥
अभावगम्यरूपे च न विशेष्येस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्य न तेऽस्त्यतः ॥६॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८६-६१]

"शब्देनागम्यमान च विशेष्यमिति साहसम् ।
तेन सामान्यमेष्टव्य विषयो बुद्धिशब्दयो ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६४]

इतश्च सामान्य वस्तुभूत शब्दविषय , यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्य त, अनुक्तस्य निराकर्तु मशक्यत्वात्, अपोह्य त सामान्य तस्य वाच्यत्वात् । अपोहाना

है तो वह उसका विशेषण है ऐसा किस प्रकार कह सकते है ? ॥४॥ यदि अन्य प्रकार के विशेष्य मे अन्य ही कोई विशेषण की कल्पना की जा सकती है तब तो चाहे जिसका चाहे जो विशेषण बन सकता है ॥५॥ तथा विशेष्य रूप वस्तु का अभाव रूप प्रतिभास होना स्वीकार करे तो उसकी वस्तुता ही समाप्त हो जाती है । अपोह विशेषण युक्त स्वलक्षण का होना भी अशक्य है क्योकि आपके यहा स्वलक्षण रूप वस्तु को अवाच्य माना है ॥६॥ बडा आश्चर्य है कि शब्द द्वारा अगम्य भी है और वही विशेष्य भी है ऐसा कहना तो अतिसाहसपूर्ण अनुचित है । इस प्रकार यहा तक के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अपोह और शब्द मे (अथवा शब्द का अर्थ अन्यापोह करने पर) वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नही है, इसलिये जो शब्द द्वारा वाच्य हो एव बुद्धि द्वारा गम्य हो ऐसा गोत्वादि सामान्य ही गो आदि शब्द का विषय है ऐसा मानना चाहिए। क्योकि अपोह का अर्थ सामान्य है वह काल्पनिक होता है उसी को शब्द द्वारा कहा जाता है इत्यादि बौद्धाभिमत सर्वथा अयुक्त सिद्ध हो चुका है ॥७॥

शब्द के विषयभूत गोत्वादि सामान्य को वास्तविक इसलिये माना जाता है कि गो आदि विशेषो का अपोह किया नही जाता, क्योकि असाधारण स्वलक्षण रूप गो आदि विशेष शब्द द्वारा वाच्य नही है जो अवाच्य होता है उसका निराकरण (अपोह) करना असभव है, सामान्य का निराकरण शक्य है क्योकि वह वाच्य है । अश्वादि-

त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वासम्भवात्, अभावानामभावाभावात्, वस्तुविषयत्वात्प्रतिषेधस्य । अपोह्यत्वेऽपोहाना वस्तुत्वमेव स्यात् । तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यभूतस्यैव भवेदित्यपोह्यत्वाद्वस्तुत्व सामान्यस्य । तदुक्तम्—

"यदा चाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता ।
तदापोह्ये त सामान्य तस्यापोहाच्च वस्तुता ।।१।।
नाऽपोह्यत्वमभावानामभावाऽभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात्सामान्यवस्तुन ।।२।।"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५-६६]

यावन्मात्र पदार्थों को आपने शब्द द्वारा अन्यापोह रूप माना है अतः वे अपोह के विषयभूत पदार्थ अभाव रूप स्थित होने के कारण व्यावर्त्तन करने के अयोग्य है, अभाव का अभाव तो होता नही, क्योकि प्रतिषेध वस्तु विषयक हुआ करता है, यदि अपोहभूत पदार्थों के अपोह्यपना शक्य है तो वे वस्तु रूप ही सिद्ध होगे । इसलिये अश्वादि मे गो आदिका अपोह होता है तो उसका अर्थ यही है कि सामान्य का ही अपोह होता है, और यदि ऐसा है तो अपोह करने योग्य होने से सामान्य का वास्तविकपना प्रसिद्ध हो ही जाता है । जैसा कि कहा है—गो विशेष अर्थात् शावलेयादि गो अशब्द वाच्य होने से अपोह्य योग्य नही है, अपोह्य योग्य सामान्य ही है, उसका अपोह करना शक्य होने से उसमे वस्तुपना सिद्ध है ।।१।। अभावो में अभाव न होने से उनके अपोह्यत्व भी नही बनता गो रूप अपोह से अन्य अश्वादि रूप अपोहातर मे अपोह करना इष्ट है तो गोत्व आदि सामान्य परमार्थभूत है ऐसा सिद्ध होता है । इस कारिकाद्वय से निश्चित होता है कि गोत्वादि सामान्यों को परमार्थभूत माने बिना वे अन्यापोह के विषय नही हो सकते ।

भावार्थ—बौद्ध के यहा विशेष को अवाच्य माना जाता है अत शावलेय आदि गो विशेष शब्द द्वारा कहे नही जा सकते । शब्द द्वारा केवल सामान्य वाच्य होता है, सो इस पर आचार्य कह रहे है कि यदि आप सामान्य को परमार्थभूत मानते हैं तो वे शब्द द्वारा वाच्य हो सकते हैं किन्तु आपने ऐसा स्वीकार नही किया, बडा आश्चर्य है कि गो विशेष तो अवाच्य है और गोत्व सामान्य काल्पनिक, ऐसी दशा मे गो शब्द किस अर्थ को कहेगा ? बौद्ध गो आदि शब्द का अर्थ अन्य का अपोह मानते है किन्तु जिसका अपोह करना है वह अन्य यदि विशेप रूप है तो शब्द के गम्य नही और यदि

किंच, अपोहाना परस्परतो वैलक्षण्य वा स्यात्, अवैलक्षण्य वा ? तत्राद्यपक्षे [अ]भावस्या-गोशब्दाभिधेयस्याभावो गोशब्दाभिधेय, स चेत्पूर्वोक्तादभावाद्विलक्षण, तदा भाव एव भवेदभाव-निवृत्तिरूपत्वाद्भावस्य। न चेद्विलक्षण, तदा गौरप्यगौ प्रसज्येत तदवैलक्ष्येण (तदवैलक्षण्येन) तादात्म्यप्रतिपत्ते । तन्न वाच्याभिमतापोहाना भेदसिद्धि ।

नापि वाचकाभिमतानाम्, तथाहि-शब्दाना भिन्नसामान्यवाचिना विशेषवाचिना च परस्परतो-ऽपोहभेदो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात्, वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, अवस्तुनि

सामान्य है तो वास्तविक नही फिर किसका अपोह ? तथा अपोह भी अभाव रूप है उस अर्थ को शब्द द्वारा कैसे कहा जाय ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, इनका समाधान कारक उत्तर बौद्ध नही दे पाते । कम से कम सामान्य को परमार्थभूत मानते है तो शब्द का कुछ वाच्य सिद्ध हो सकता है अत बौद्धो को पुन पुन कहा जा रहा है कि अपोह करने योग्य सामान्य को तो वास्तविक मानना ही चाहिए ।

किंच, गो शब्द अश्व शब्द इत्यादि शब्दो द्वारा वाच्य होने वाले अपोहो मे परस्पर मे विलक्षणता है अथवा अविलक्षणता है यह भी एक प्रश्न है । यदि उक्त अपोहो मे विलक्षणता है तो अगो शब्द के अभिधेय रूप अभाव (अपोह) का जो अभाव है वह गो शब्द का अभिधेय है, वह अभाव यदि पूर्वोक्त अभाव से (अगो शब्द के वाच्यभूत अभाव से) विलक्षण है तो वह सद्भाव रूप ठहरता है क्योकि सद्भाव अभाव की निवृत्ति रूप हुआ करता है । दूसरा पक्ष–अपोहो मे परस्पर मे अविलक्षणता है ऐसा माने तो गो पदार्थ भी अगो बन जायगा अर्थात् दोनो एक रूप हो जायेंगे, क्योकि गो शब्द और अगो शब्द के वाच्यभूत अपोहो मे अविलक्षणता (समानता) होने से उनमे एकत्व का प्रतिभास ही होगा । अत वाच्य रूप से स्वीकार किये गये अपोहो मे भेद की सिद्धि नही होती है ।

वाचक रूप स्वीकृत हुए पदार्थों मे भी (शब्दो मे) भेद की सिद्धि नही होती, आगे इसी को बताते हैं–भिन्न भिन्न सामान्यो के वाचक शब्द और विशेषो के वाचक शब्द हैं इनके अपोहो मे परस्पर मे जो भेद पडता है वह वासना भेदो के कारण पडता है अथवा वाच्यो के अपोह भेदो के कारण पडता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योकि वाचको के अपोह अवस्तुरूप है ऐसे अवस्तु मे वासना का होना ही असभव है, वह असभव इसलिये है कि जिस अपोह को यहा वासना का कारण माना है वह तुच्छ

वासनाया एवासम्भवात् । तदसम्भवश्च तद्धेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात् । नापि वाच्यापोहभेदनिमित्त , तद्भेदस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

'ननु प्रत्यक्षेणैव शब्दाना कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेद प्रसिद्ध एव, इत्यप्यसाम्प्रतम्' यतो वाचक शब्दमङ्गीकृत्यैवमुच्यते । न च श्रोत्रज्ञानप्रतिभासिस्वलक्षणात्मा शब्दो वाचक., सकेत-कालानुभूतस्य व्यवहारकालेऽचिरनिरुद्धत्वात् इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्व भवदभिप्रायेण । तदुक्तम्—

"नार्थशब्दविशेषेण वाच्यवाचकतेष्यते ।
तस्य पूर्वमदृष्टत्वात्सामान्यं तूपदिश्यते ॥१॥" [ ]

रूप होने से वासना रूप ज्ञान का विषय नही हो सकता अर्थात् बौद्धागतानुसार जो ज्ञान का कारण है वही उसका विषय (ज्ञेय) माना गया है, यहा वासना ज्ञान अवस्तु रूप अपोह मे होना कह रहे सो यह कथन निर्विषय मे ज्ञान का अयोग होने से अयुक्त है । वाच्यो के अपोहो मे भेद होने के कारण वाचक शब्दो के अपोहो मे परस्पर मे भेद होता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है क्योकि वाचक शब्दो के अपोहो में भेद होना अशक्य है ऐसा पहले ही उत्तर दे आये है ।

बौद्ध—तालु आदि कारणो के भेद होने से तथा विरुद्ध धर्माध्यास अर्थात् भिन्न धर्मों के ग्रहण होने से शब्दो मे भेद होना सुप्रसिद्ध ही है ? अर्थात् यह शब्द तालु से हुआ है और यह कठ से इत्यादि रूप से शब्दो मे भेद देखा जाता है अतः वाचक शब्दो का पारस्परिक भेद तो इन कारण भेदो से ही होना स्वीकार करना चाहिये, ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नही आते ?

जैन—यह कथन असत् है । गो आदि शब्द परमार्थभूत गो अर्थ के वाचक होते हैं ऐसा स्वीकार करने पर ही इस तरह कह सकते है किन्तु आपके यहा कर्ण ज्ञान मे प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण रूप शब्द अर्थ का वाचक हो ही नही सकता क्योकि सकेत काल मे अनुभूत किया गया शब्द व्यवहार काल मे विनष्ट हो चुकता है इसका भी कारण यह है कि स्वलक्षण रूप पदार्थ सर्वथा क्षणिक एव निरश माने है ? इसलिये आपके अभिप्रायानुसार स्वलक्षण रूप शब्द मे वाचकपना होना अशक्य है । कहा भी है—अर्थ विशेष और शब्द विशेष से वाच्य वाचकता होना मान नही सकते क्योकि ये दोनो ही व्यवहार काल में अदृष्ट हो जाते हैं अर्थात् सकेत कालीन शब्दार्थ

"तत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते ।
तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते ॥२॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०४]

ततो ये अवस्तुनी न तयोर्गम्यगमकभावो यथा खपुष्प-खर-विषाणयो । अवस्तुनी च 'वाच्यवाचकापोहौ भवतामिति । ननु मेघाभावाद्दृष्टयभावप्रतिपत्तेरनैकान्तिकता हेतो, इत्यप्ययुक्तम्; तद्विविक्ताकाशालोकात्मक हि वस्तु मत्पक्षेऽत्रापि प्रयोगेस्त्येव, अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वप्रतिपादनात् । भवत्पक्षे तु न केवलमपोहयोर्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वाभावोऽपि तु वृष्टिमेघाद्यभावयोरपि ।

विनष्ट होने से व्यवहार करते समय वे तो रहते नही, उस समय तो सामान्य शब्दार्थ ही कहने मे आते है ॥१॥ सामान्य शब्द और अर्थ मे वाच्य वाचकभाव माने ऐसा भी आप बौद्ध कह नही सकते, क्योकि शब्द को अन्यापोह का वाचक माना है एव उस अपोह रूप सामान्य को काल्पनिक माना है अत अवस्तु रूप सामान्य से शब्दो का भेद होना सर्वथा अशक्य ही है ॥२॥ इन दोनो कारिकाओ का भावार्थ यह है कि—विशेष स्वलक्षणभूत क्षणिक जिसको कि वास्तविक मानते हैं उस शब्द और अर्थ मे तो वाच्य वाचक भाव होना अशक्य है क्योकि प्रथम बात तो यह है कि ये क्षणिक है दूसरी बात बौद्धो ने इनमे वाच्य वाचकता मानी भी नही । सामान्य शब्द और अर्थ मे वाच्य वाचक भाव तो भी नही बनता, क्योकि आपने सामान्य को अवस्तु माना है । अत पहले जो कहा था कि वाच्य के भेद से अपोह मे भेद होता है इत्यादि, सो घटित नही होता ।

इस प्रकार बौद्ध के यहा सामान्य वाच्य और उसके वाचक शब्द ये तथा इनके अपोह अवस्तु रूप स्वीकार किये हैं । जो अवस्तु रूप होते है उनमे गम्यगमक भाव नही होता जैसे आकाश पुष्प और खर विषाण मे गम्यगमक भाव नही होता । आपके वाच्य वाचक अपोह भी अवस्तु रूप ही है अत गम्यगमकपना असभव है ।

बौद्ध—अवस्तु मे गम्य गमकपना नही होता ऐसा कहना अनैकान्तिक दोष युक्त है, क्योकि "मेघो का अभाव होने से वर्षा का अभाव है" इस प्रकार अभाव रूप साध्य और अभाव रूप हेतु मे गम्यगमकपना पाया जाता है, ये साध्य साधन भी तो अवस्तु रूप है ?

किंच, अपोहो वाच्य., अथावाच्यो वा ? वाच्यश्चेत्किं विधिरूपेण, अन्यव्यावृत्त्या वा ? यदि विधिरूपेण; कथमपोह· सर्वशब्दार्थः ? अथान्यव्यावृत्त्या; तर्हि नापोहोपि शब्दाधिगम्यो मुख्य.। अनवस्था च–तद्व्यावृत्तेरपि व्यावृत्त्यन्तरेणाभिधानात्। अथाऽवाच्य , तर्हि 'अन्यशब्दार्थाऽपोह शब्द प्रतिपादयति' इत्यस्य व्याघात ।

किंच, 'नान्यापोह अनन्यापोह·' इत्यादौ विधिरूपादन्यद्वाच्यं नोपलभ्यते प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवाध्यवसायात्।

जैन— यह कथन अयुक्त है, इस अनुमान प्रयोग मे भी सद्भाव रूप मेघ रहित आकाश एव सूर्य प्रकाश स्वरूप वस्तु मौजूद ही है, क्योकि अभाव भावातर स्वभाव वाला होता है ऐसा हम प्रतिपादन करते है। आप बौद्ध के मत मे विवाद में आगत अपोहों मे ही केवल गम्य गमक का अभाव हो सो बात नही अपितु वृष्टि अभाव और मेघ अभाव मे भी गम्य गमक भाव नही है।

दूसरी बात यह है कि यह अपोह शब्द द्वारा वाच्य है कि अवाच्य है ? यदि वाच्य हैं तो विधि रूप शब्द से वाच्य है अथवा अन्य व्यावृत्ति से वाच्य होता है ? यदि विधिरुप शब्द द्वारा वाच्य है तो सभी शब्दार्थ अपोह रूप ही होता है ऐसा किस प्रकार कह सकते है ? अर्थात् नही कह सकते, क्योकि अपोह विधि अर्थात् अस्तित्व रूप शब्द द्वारा वाच्य होने से सभी शब्दो का अर्थ अपोह (अभाव) ही होता है ऐसा आपका सिद्धात खडित होता है। अन्य व्यावृत्ति से अपोह वाच्य होता है ऐसा कहो तो स्वलक्षण के समान अपोह भी शब्द द्वारा मुख्य रूप से गम्य होना सिद्ध नही होता। तथा इस तरह मानने से अनवस्था भी आती है क्योकि अन्य व्यावृत्ति भी किसी अन्य व्यावृत्ति से वाच्य होगी। यदि अपोह को अवाच्य मानते है तो गो आदि शब्द अन्य शब्दार्थ के अपोह का प्रतिपादन करता है ऐसे बौद्ध के मत का व्याघात हो जाता है।

किंच, "न अन्यापोह· अनन्यापोह·" इत्यादि शब्द मे विधि रूप वाच्य को छोड कर अन्य कुछ भी अर्थ नही निकलता है क्योकि दो प्रतिषेध द्वारा तो विधि का ही निश्चय होता है, अर्थात् जिस शब्द मे (या वाक्य मे) दो नकार प्रयुक्त होते है उसका विधि रूप अर्थ ही होता है।

कश्चायमन्यापोहशब्दवाच्योर्थो यत्रान्यापोहसज्ञा स्यात् ? अथ विजातीयव्यावृत्तानर्थाना-श्रित्यानुभवादिक्रमेण यदुत्पन्न विकल्पज्ञान तत्र यत्प्रतिभाति ज्ञानात्मभूत विजातीयव्यावृत्तार्थाकार-त्याध्यवसितमर्थप्रतिबिम्बक तत्रान्यापोह इति सज्ञा । ननु विजातीयव्यावृत्तपदार्थानुभवद्वारेण शाब्द विज्ञान तथाभूतार्थाध्यवसाय्युत्पद्यते इत्यत्राविवाद एव । किन्तु तत्तथाभूतपारमार्थिकार्थग्राह्यभ्यु-पगन्तव्यमध्यवसायस्य ग्रहणरूपत्वात् । विजातीयव्यावृत्तेश्च समानपरिणामरूपवस्तुधर्मत्वेन व्यवस्थापितत्वान्नाममात्रमेव भिद्येत ।

जैन का बौद्ध के प्रति प्रश्न है कि अन्यापोह शब्द द्वारा जिसको कहा जाता है वह पदार्थ कौनसा है जहा पर कि अन्यापोह सज्ञा अर्थात् सकेत किया जाय ?

बौद्ध—विजातीय अश्वादि से व्यावृत्त होने वाले पदार्थों का आश्रय लेकर अनुभवादि क्रम से जो विकल्प ज्ञान होता है उस ज्ञान मे जो ज्ञानात्मभूत प्रतीत होता है, तथा जो विजातीय से व्यावृत्त होने वाले अर्थों के आकार रूप से अध्यवसित (निश्चित) होता है एव जो अर्थ प्रतिबिम्ब स्वरूप (ज्ञान से अभिन्न) है उस वस्तु मे अन्यापोह सज्ञा की जाती है (ऐसा हमारे विज्ञानाद्वैत वादी बौद्ध भाई का कहना है) इसका स्पष्टीकरण करते हैं—"गौ" यह शब्द प्रथम तो गो से विजातीय भूत अश्व, हस्ती आदि से पृथक् जो खडी गो मु डी गो इत्यादि गो विशेष हैं उनका आश्रय लेकर क्रम से अनुभव आदि उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पहले तो खड आदि गो का अनुभव नामा निर्विकल्प दर्शन प्रादुर्भूत होता है पुन सविकल्प ज्ञान होता है उसके अनन्तर सकेत काल मे ज्ञात किये हुए वाच्य वाचक का स्मरण होकर उससे वाच्य वाचक की योजना होती है और "यह गो है" इस प्रकार विकल्प ज्ञान होता है, ऐसा ज्ञान जिसमे हो वह अन्यापोह का वाच्यार्थ है ?

जैन—ठीक है, विजातीय अर्थ से व्यावृत्त होने वाले पदार्थो के अनुभव क्रम से होने वाला शाब्दिक ज्ञान उस तरह का अध्यवसाय करने वाला उत्पन्न होता है इसमे कोई विवाद नही है किन्तु उस प्रकार के उक्त ज्ञान को वास्तविक पदार्थ का ग्राहक है ऐसा स्वीकार करना होगा क्योकि अध्यवसाय अर्थात् निश्चायकपना उसी ज्ञान मे संभव है कि जो उस विषय को ग्रहण करता है। अभिप्राय यह है कि यदि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने जो यह कहा कि गो आदि शब्द से होने वाला शाब्दिक ज्ञान पदार्थ का निश्चय कराता है सो तब सगत हो सकता जब उक्त ज्ञानके विषयभूत अर्थ

यच्चोक्तम्—"तत्प्रतिविम्बक च शब्देन जन्यमानत्वात्तस्य कार्यमेवेति कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभाव." [   ] तदप्ययुक्तम्; शब्दाद्विशिष्टसकेतसव्यपेक्षाद्बाह्यार्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीते स एवास्यार्थो युक्तः; न तु विकल्पप्रतिविम्बकमात्र शब्दात्तस्य वाच्यतयाऽप्रतीते ।

अतोऽयुक्तम्–"प्रतिबिम्बस्य मुख्यमन्यापोहत्व विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणस्यान्यव्यावृत्तेश्चौपचारिकम्" [   ] इति । अन्यापोहस्य हि वाच्यत्वे मुख्योपचारकल्पना युक्तिमती,

---

को पारमार्थिक स्वीकार किया जाय ! किन्तु आपने पदार्थ मात्र को काल्पनिक माना है अत. उक्त कथन बनता नही । तथा जिसे आप विजातीय पदार्थ से व्यावृत्ति होना कहते है अर्थात् गो शब्द विजातीय अश्वादि से गो अर्थो को व्यावृत्त करता है वह भी उन गो व्यक्तियो मे होने वाले समान परिणाम रूप वस्तुभूत गोत्व धर्म के निमित्त से होता है, यह तो नाम मात्र का भेद है कि विजातीय व्यावृत्ति और समान परिणाम, गो व्यक्तिया समान परिणाम के कारण विजातीय से व्यावृत्ति होती है अथवा विजातीय से पृथक् होने के कारण उनमे समान परिणाम है । समान परिणाम अर्थात् गोत्व आदि सामान्य एक वास्तविक धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर ही उपर्युक्त कथन सिद्ध हो सकता है अन्यथा नही ।

बौद्ध का कहना है कि ज्ञान मे अर्थका प्रतिबिम्ब शब्द द्वारा उत्पन्न होता है अत वह शब्द का कार्य है, इसलिये वाच्य वाचक भाव को कार्य कारण भाव रूप मानना चाहिये ? सो यह अयुक्त है, क्योकि विशिष्ट सकेत की अपेक्षा रखने वाले शब्द से गो, घट, पट आदि बाह्य पदार्थ मे प्रतिपत्ति होने पर एव प्रवृत्ति और प्राप्ति होने पर ऐसा कह सकते है कि वही इस शब्द का अर्थ है, केवल विकल्प ज्ञान मे प्रतिबिंबित होने मात्र से नही कह सकते, ज्ञानके प्रतिबिंब स्वरूप पदार्थ तो शब्द से वाच्य होता हुआ प्रतीत ही नही होता ।

भावार्थ—गो आदि शब्द किसको कहते है ऐसा बौद्ध के प्रति प्रश्न होने पर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने उत्तर दिया कि जो ज्ञान मे प्रतिबिंबित होता है वह शब्द द्वारा वाच्य होता है तब जैनाचार्य ने कहा कि यह बात तो तब संभव है जब उस वाच्यार्थ को परमार्थभूत स्वीकार करे किन्तु विज्ञानाद्वैतवादी ने ज्ञानको ही परमार्थभूत माना है बाह्यार्थ को नही, अतः अमुक शब्द का अमुक वाच्य है इत्यादि व्यवस्था होना अशक्य है ।

तच्चास्य नास्तीत्युक्तम् । तत प्रतिनियताच्छब्दात्प्रतिनियतेऽर्थे प्राणिना प्रवृत्तिदर्शनात्सिद्ध' शब्द-प्रत्ययाना वस्तुभूतार्थविषयत्वम् । प्रयोगः—ये परस्परासंकीर्णप्रवृत्तयस्ते वस्तुभूतार्थविषया यथा श्रोत्रादिप्रत्यया, परस्पराऽसकीर्णप्रवृत्तयश्च दण्डीत्यादिशाब्दप्रत्यया इति। न चायमसिद्धो हेतु, 'दण्डी विषाणी' इत्यादिधीध्वनी हि लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्ल' कृष्णो भ्रमति चलति' इत्यादिकौ तु गुणक्रियानिमित्तौ, 'गोरश्व ' इत्यादौ सामान्यविशेषोपाधी, 'इहात्मनि ज्ञानम्' इत्यादिकौ सम्बन्धोपाधिकावेवेति प्रतीते ।

इसलिये बौद्ध का निम्नलिखित कथन अयुक्त सिद्ध होता है कि जो ज्ञान के प्रतिबिंब स्वरूप है वह मुख्य अन्यापोहत्व है और विजातीय से व्यावृत्तभूत स्वलक्षण के निमित्त से होने वाला अन्यापोहत्व औपचारिक है । अन्यापोह को वाच्य रूप स्वीकार करने पर ही मुख्य अन्यापोहत्व और औपचारिक अन्यापोहत्व ऐसा भेद करना युक्ति सगत होता है किन्तु अन्यापोह वाच्य हो नही सकता ऐसा अभी अभी सिद्ध हो चुका है । इस प्रकार शब्द का अर्थ अपोह है ऐसा सिद्ध नही होता इसलिये प्रतिनियत शब्द से प्रतिनियत अर्थ मे प्राणियो की प्रवृत्ति होती हुई देखकर निश्चित हो जाता है कि शब्द जन्य ज्ञानो का विषय परमार्थभूत पदार्थ है । अनुमान प्रयोग- जिन ज्ञानो की प्रवृत्तियाएक दूसरे की अपेक्षा किये विना परस्पर असकीर्ण होती है वे ज्ञान परमार्थ-भूत वस्तु को विषय करने वाले होते है, जैसे कर्णादि से होने वाले ज्ञान परस्पर की अपेक्षा से रहित असकीर्ण होते हैं, "दण्डी" इत्यादि शब्द जन्य ज्ञान भी परस्पर मे असकीर्ण है अत परमार्थभूत वस्तु विषयक है । यह परस्पर असकीर्ण प्रवृत्ति रूप हेतु असिद्ध भी नही, क्योकि 'दण्डी' विषाणी—दण्डा वाला, सीग वाला इत्यादि रूप प्रतीति और शब्द ये दोनों द्रव्य की उपाधि रूप से अर्थात् द्रव्य के निमित्त से होने वाले लोक मे प्रसिद्ध ही है । "शुक्ल कृष्ण" तथा "चलता है, घूमता है" इत्यादि शब्द और ज्ञान तो गुण और क्रिया के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं । "गो अश्व" इत्यादि शब्द तथा ज्ञान तो सामान्य और विशेष उपाधि निमित्तक अर्थात् गोत्व सामान्य और उससे व्यावृत्त होना रूप विशेष इनसे प्रवृत्त होते है । "इस आत्मा मे ज्ञान है" इत्यादि मे होने वाले शब्द तथा ज्ञान सम्वन्ध निमित्तक है, इस प्रकार प्रतीति सिद्ध बात है कि शाब्दीक ज्ञान परमार्थ वस्तु को विषय करते है ।

इस तरह शब्द का वाच्य अन्यापोह न होकर वास्तविक गो आदि पदार्थ ऐसा सिद्ध होने पर अब यहा पर बौद्ध अपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते है—

ननु चाकृतसमया ध्वनयोर्थाभिधायकाः, कृतसमया वा ? प्रथमपक्षेतिप्रसग । द्वितीयपक्षे तु क्व तेषा सकेतः-स्वलक्षणे, जातौ वा, तद्योगे वा, जातिमत्यर्थे वा, बुद्धयाकारे वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? न तावत्स्वलक्षणे, समयो हि व्यवहारार्थं क्रियमाणः सकेतव्यवहारकालव्यापके वस्तुनि युक्तो नान्यत्र। न च स्वलक्षणस्य सकेतव्यवहारकालव्यापकत्वम्, शाबलेयादिव्यक्तिविशेपाणा देशादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽन्वयाभावात्, तत्रानन्त्येन सकेतासम्भवाच्च । विकल्पबुद्धावध्याहृत्य तेषु सकेताभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसकेतः, न परमार्थवस्तुविषय स्यात् । स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावाना सकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसम्भवोप्यसम्भाव्य, तेषामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावाना प्रादुर्भावानन्तरमेवापवर्गितया तदसम्भवात् ।

बौद्ध—जिनमे सकेत नही किया है ऐसे शब्द अर्थो के अभिधायक होते है अथवा सकेत वाले शब्द अर्थाभिधायक होते है ? प्रथम पक्ष मे अति प्रसग दोष आता है। द्वितीय पक्ष माने तो प्रश्न होता है कि उन शब्दो का सकेत किसमे होता है स्वलक्षण मे गोत्वादि सामान्यभूत जाति मे, अथवा उस जाति से युक्त गो आदि पदार्थ मे, या गो आदि पदार्थाकार हुई बुद्धि मे ? इनको छोडकर अन्य प्रकार मे तो सकेत हो नही सकता । स्वलक्षण मे शब्दो का सकेत होता है ऐसा प्रथम विकल्प ठीक नही, क्योकि सकेत व्यवहार के लिये किया जाता है (लौकिक एव पारमार्थिक प्रयोजन सिद्धि के लिये) अत वह सकेतकाल और व्यवहारकाल इन दोनो कालो मे व्यापक रूप से रहने वाली वस्तु मे ही करना युक्त है न कि क्षणिक स्वलक्षण मे । इसका कारण यह कि स्वलक्षण को क्षणिक निरश एव निरन्वय माना है अत वह सकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक व्यापक रूप से रह नही सकता, तथा स्वलक्षण विशेष रूप है अत शाबलेय, बाहुलेय, खडी मु डी आदि स्वलक्षणभूत गो विशेपो मे देश भेद एव स्वभावादि भेद पाये जाने से (पृथक् पृथक् स्थान मे स्थित होना एव वर्ण आकारादिका भेद होना) इनमे परस्पर मे अत्यत भिन्नता है इसलिये इनमे अन्वय का भी अभाव है, तथा अनत सख्या प्रमाण है इस प्रकार के गो आदि विशेष पदार्थो मे गो आदि शब्द द्वारा सकेत करना सर्वथा असम्भव है। अर्थात् जो गो शब्द है वह मुण्डी गो का वाचक है इत्यादि रूप अन्वय या सकेत गो विशेष मे होना अशक्य है । विकल्प बुद्धि में आरोप करके उन शब्दोमे सकेत किया जाता है ऐसा माने तो शब्दो का सकेत केवल विकल्प मे आरोपित पदार्थों को विपय करता है परमार्थभूत पदार्थो को नही ऐसा सिद्ध होता है ।

किंच, एतेषु समय. क्रियमाणोऽनुत्पन्नेषु क्रियेत, उत्पन्नेषु वा ? न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थतः समयो युक्त., असत. सर्वोपाख्यारहितस्याधारत्वानुपपत्ते.। नाप्युत्पन्नेषु, तस्यार्थानुभवशब्दस्मरणपूर्वकत्वात् शब्दस्मरणकाले चार्थस्य प्रध्वंसात्। सर्वेषां स्वलक्षणक्षणाना सादृश्यमैक्येनाध्यारोप्य सकेतविधाने सिद्ध स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वम् बुद्धयारोपितसादृश्यस्यैवाभिधानैरभिधानात्। वाच्यत्वे वा शब्दबुद्धे. स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्। न खलु यथेन्द्रियबुद्धि स्पष्टप्रतिभासा प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धिः। प्रयोगश्च-यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थ यथा रूपशब्दप्रभवप्रत्यये रसाप्रतिभासने नासौ तदर्थ, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति। उक्तञ्च—

शका— हिमाचल आदि पदार्थ स्थिर एव एक रूप होते हैं अत· सकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप से वे रहते ही हैं उनमे सकेत होना सभव है ?

समाधान—ऐसा सम्भव नही, हिमाचलादि पदार्थ भी अनेक अणुओ के समूह रूप होते है इन अणुओ के प्रचय प्रादुर्भाव के अनतर ही अपवर्गित (विनष्ट) हो जाते हैं अत इनमे सकेत का होना असभव ही है।

तथा इन शावलेयादि गो विशेषो मे यदि सकेत किया जाय तो वह अनुत्पन्न गो विशेषो मे करे कि उत्पन्न गो विशेषो मे करे ? अनुत्पन्न गो विशेषो मे तो वास्तविकपने से सकेत हो नही सकता क्योकि जो अनुत्पन्न है अभी उत्पन्न ही नही हुआ वह पदार्थ असत् ही है असद्भूत सपूर्ण स्वभाव से रहित पदार्थ सकेत का आधार नही होता। उत्पन्न हुए गो आदि विशेषो मे सकेत किया जाना भी अशक्य है इसका भी कारण यह कि पदार्थ का अनुभव एव शब्द का स्मरण होने पर ही सकेत किया जाना शक्य है किन्तु शब्द के स्मरण काल मे पदार्थ विनष्ट हो चुकता है।

शका—सपूर्ण स्वलक्षणभूत विशेष क्षणो मे अभेदपने से सादृश्य का आरोप करके सकेत किया जाता है ?

समाधान—तो फिर ठीक ही है स्वलक्षण अवाच्य है यह तो भली भाति सिद्ध हुआ, बुद्धि मे आरोपित हुआ जो सादृश्य है उसी को शब्दो द्वारा सकेतित किया जाता है न कि स्वलक्षण को। यदि स्वलक्षण शब्द द्वारा वाच्य होता तो शाब्दिक ज्ञान का प्रतिभास स्पष्ट रूप से होता किन्तु ऐसा होता नही, क्योकि जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति मे आता है उस प्रकार शाब्दिक ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति मे नही आता। अनुमान द्वारा भी सिद्ध होता है कि—जो जिसके द्वारा किये

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धो हि मन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥१॥"

[वाक्यप० २।४२५]

न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति, येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयेत एकस्य द्वित्वविरोधात्। तन्न स्वलक्षणे संकेतः।

नापि जातौ, तस्याः क्षणिकत्वे स्वलक्षणस्येवान्वयाभावान्न संकेतः फलवान्। अक्षणिकत्वे तु क्रमेण ज्ञानोत्पादकत्वाभावः। नित्यैकस्वभावस्य परापेक्षाप्यसम्भाव्या। प्रतिषिद्धा चेयं यथास्थानम् इत्यलमतिप्रसंगेन।

हुए ज्ञान में प्रतिभासित नही होता वह उसका अर्थ (विषय) नही कहलाता, जैसे रूप और शब्द से किये गये ज्ञान मे रसका प्रतिभास नही होने से वह उसका अर्थ नही कहलाता, शाब्दिक ज्ञान मे स्वलक्षण प्रतिभासित नही होता अत. वह भी उसका वाच्यार्थ नही है। कहा भी है–स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा अग्नि का सम्बन्ध करके दग्ध हुआ पुरुष उस अग्नि को अन्य प्रकार से जानता है और अग्नि शब्द द्वारा किसी अन्य प्रकार से ही उस अग्नि पदार्थ को जानता है, अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय से होने वाला अग्नि का ज्ञान स्पष्ट रूप है और अग्नि शब्द से होने वाला अग्नि रूप वाच्यार्थ का ज्ञान अस्पष्ट रूप है ॥१॥

ऐसा तो होता नही कि एक ही वस्तु मे दो स्वरूप (स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व) हो जिससे कहना सम्भव होवे कि अस्पष्टत्व वस्तुगत धर्म ही है और वह शब्दो द्वारा कहा जाता है। किन्तु एक मे दो स्वरूप का विरोध है। इसलिये स्वलक्षण मे संकेत होना अशक्य है ऐसा निश्चय होता है।

गोत्व आदि सामान्य रूप जाति मे शब्दो का संकेत होता है ऐसा दूसरा विकल्प भी असत् है, क्योकि जाति को क्षणिक माने तो स्वलक्षण के समान उसमे भी संकेत करना लाभदायक नही (क्योकि संकेत से लेकर व्यवहारकाल तक उसका अस्तित्व नही रहता) और यदि उक्त जाति को अक्षणिक मानते है तो वह जाति ज्ञान को उत्पन्न नही कर सकेगी, तथा जो अक्षणिक अर्थात् नित्य एक स्वभाव रूप होता है उसको पर की अपेक्षा भी असम्भव है, हम बौद्ध ने नित्य एक रूप जाति का (सामान्य का) यथास्थान प्रतिषेध भी किया है अत उसके विषय मे अधिक नही कहते।

नापि तद्योगे सकेत , तस्यापि समवायादिलक्षणस्य निराकृतत्वात्। जातितद्योगयोश्चासभवे तद्वतोप्यर्थस्यासम्भवात्कथ तत्रापि सकेत. ? बुद्धयाकारे वा, स हि बुद्धितादात्म्येन स्थितत्वान्न बुद्धयन्तरं प्रतिपाद्यमर्थं वानुगच्छति ।

किंच, इतः शब्दादर्थक्रियार्थी पुरुषोऽर्थक्रियाक्षमानर्थान्विज्ञाय प्रवर्तिष्यते' इति मन्यमानै-र्व्यवहर्तृ भिरभिधायका नियुज्यन्ते न व्यमनितया । न चासौ विकल्पबुद्धयाकारोऽर्थिनोभिप्रेत शीता-पनोदादिकार्यं सम्पादयितु समर्थ ।

सामान्य रूप जाति का जिसमे सम्बन्ध हो उसमे सकेत करते हैं ऐसा तीसरा विकल्प भी उचित नही, क्योकि समवाय आदि सब प्रकार के सम्बन्ध का हम बौद्ध ने निराकरण किया है । चौथा विकल्प–जातिमान् पदार्थ मे सकेत किया जाता है ऐसा कहना भी असत् है क्योकि सामान्य रूप जाति और जाति सयोग वाला पदार्थ इन दोनो के असभव होने पर जातिमान् पदार्थ का होना भी असभव ही है अत. उसमे किस प्रकार सकेत किया जा सकता है ? पाचवा विकल्प–गो आदि पदार्थ के आकार रूप हुई बुद्धि मे सकेत किया जाता है ऐसा मानना भी अयुक्त है, क्योकि वह बुद्धिमे स्थित पदार्थ का आकार बुद्धि मे तादात्म्यपने से स्थित हो चुका है वह अन्य बुद्धि मे अथवा प्रतिपाद्यभूत पदार्थ मे अनुगमन नही करता अत उसमे सकेत कैसे सम्भव है ? दूसरी वात यह है कि—अर्थ क्रिया के इच्छुक पुरुष उस अर्थ क्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थो को ज्ञात करके प्रवृत्ति करेंगे ऐसा मानकर व्यवहारी जनो द्वारा शब्दो को नियुक्त किया जाता है न कि विना प्रयोजन के किन्तु विकल्प बुद्धि मे स्थित यह जो अर्थाकार है वह अर्थीजन के अभिलषित शीतापनोद आदि कार्य को करने मे समर्थ नही है । फिर उसमे सकेत करना भी किसलिये ?

तथा यदि बुद्धि में स्थित अर्थाकार मे शब्दो का सकेत होना स्वीकार करे तो हम अपोहवादी बौद्धो का पक्ष ही स्वीकृत होता है, आगे इसी को बताते हैं—अपोह-वादी के मत मे भी बुद्धि मे स्थित आकार बाह्य रूप से प्रतीत होता है एव शब्द से वाच्यार्थ होता है ऐसा माना ही है, यह शब्द अर्थ विवक्षा को तो उसका कार्य होने से जतलाता है जैसे धूम अग्निका कार्य होने से उसको जतलाता है ।

किंच, बुद्धयाकारे शब्दसकेताभ्युपगमेऽपोहवादिपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्; तथाहि–अपोहवादिनापि बुद्धयाकारो बाह्यरूपतयाध्यवसित· शब्दार्थोभीष्ट एव, अर्थविवक्षा च कार्यतया शब्दो गमयति यथा धूमोग्निमिति।

अत्र प्रतिविधीयते। कृतसमया एव ध्वनयोऽर्थाभिधायका। समयश्च सामान्यविशेषात्मकेर्थेऽभिधीयते न जात्यादिमात्रे। तथाभूतश्चार्थो वास्तव संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन प्रमाणसिद्ध 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थः' [परीक्षामु० ४।१] इत्यत्रातिविस्तरेण वर्णयिष्यते। सामान्यविशेषयोर्वस्तुभूतयोस्तत्सम्बन्धस्य चात्र प्रमाणत. प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। न चात्राप्य'नन्त्याद्वयक्तीनां

भावार्थ—शब्दों के द्वारा होने वाला सकेत स्वलक्षण, जाति इत्यादि मे नही होता किन्तु अपोह मे होता है ऐसा हम बौद्ध मानते है, कोई कोई वादी अर्थाकार हुई बुद्धि मे सकेत का होना स्वीकार करते है वह तो कुछ अभिप्रेत है क्योकि वह आकार अपोह जैसा ही काल्पनिक है। स्वलक्षण रूप वास्तविक पदार्थ मे सकेत इसलिये नही होता कि वह क्षणिक एव निरश है अत व्यवहार काल तक नही रहता सामान्य रूप जाति भी काल्पनिक एव क्षणिक होने से सकेत योग्य नही। अन्त मे यही मानना होगा कि शब्द द्वारा अपोह मे सकेत होता है।

जैन—अब यहा बौद्धो का उपर्युक्त विवेचन खण्डित किया जाता है—सकेत के किये जाने पर ही शब्द अर्थ के अभिधायक (वाचक) होते है और वह सकेत सामान्य विशेषात्मक पदार्थ मे ही होता है न कि केवल सामान्यरूप जाति या विशेष मे। तथा उस प्रकार का सकेतित हुआ पदार्थ काल्पनिक न होकर वास्तविक है क्योकि सकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप होने से प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है। इस सकेत के विषयभूत पदार्थ का आगे (तृतीय भाग मे) "सामान्य विशेषात्मा तदर्थे विषय." इस सूत्र की टीका मे अति विस्तार पूर्वक वर्णन करेगे। वहा पर हम अच्छी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध करेगे कि सामान्य और विशेष वास्तविक गुण धर्म हैं एव इनका सम्बन्ध भी काल्पनिक न होकर वास्तविक तादात्म्यस्वरूप है। बौद्ध ने कहा था कि व्यक्तिया अनत होने के कारण तथा उनका परस्पर मे अनुगमन नही होने के कारण उनमे सकेत होना अशक्य है सो कथन अयुक्त है, व्यक्तियो मे सकेत भली प्रकार से हो सकता है क्योकि उनमे सदृश परिणाम (गोत्वादि सामान्य) पाया जाता है उस सदृश परिणाम की अपेक्षा लेकर क्षयोपशम विशेष के कारण

परस्परानानुगमाच्च सकेताऽसम्भव ; समानपरिणामापेक्षया क्षयोपशमविशेषाविर्भूतोहाख्यप्रमाणेन तासा प्रतिभाससमानतया सकेनविषयतोपपत्तेः, कथमन्यथानुमानप्रवृत्तिः तत्राप्यानन्त्याननुगमरूपतया साध्यसाधनव्यक्तीना सम्बन्धग्रहणासम्भवात् ?

अन्यव्यावृत्त्या सम्बन्धग्रहणम्, इत्यप्यसत्, तस्या एव सदृशपरिणामसामान्यासम्भवे असभाव्यमानत्वात्। न चाऽसदृशेष्वप्यर्थेषु सामान्यविकल्पजनकेषु तद्दर्शनद्वारेण सदृशव्यवहारे हेतुत्वम्, नीलादिविशेषाणामप्यभावानुषगात्। यथा हि परमार्थतोऽसदृशा अपि तथाभूतविकल्पोत्पादकदर्शन-

---

आविर्भूत हुए तर्क प्रमाण द्वारा उन व्यक्तियो का (शावलेय खड मुड आदि गो विशेष अथवा मनुष्य विशेषादि वस्तु विशेष का) प्रतिभास होता है अत· वे सकेत के विषय हो सकती है। यदि ऐसा न माना जाय तो अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी ? क्योकि अनुमान की साध्य साधन रूप व्यक्तियां भी अनत एव अननुगमरूप होती है अत उनके सम्बन्ध का (अविनाभाव) ग्रहण होना भी अशक्य हो जायगा।

शका—साध्य साधन व्यक्तियो के सम्बन्ध का ग्रहण अन्य की व्यावृत्ति से (असाध्य असाधन की व्यावृत्ति से) होता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, सदृशपरिणाम रूप सामान्य के न होने पर अन्य व्यावृत्ति होना असभव है ऐसा अभी सिद्ध कर चुके है। जो सदृश सामान्य का केवल विकल्प उत्पन्न करते है ऐसे पदार्थ यद्यपि खडादि विसदृश रूप है फिर भी उन विसदृशो की प्रतीति से सदृशता का व्यवहार कराने मे हेतु है ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योकि ऐसा मानने से नील आदि सपूर्ण विशेषणो का अभाव हो जाने का प्रसग आयेगा, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—जिस प्रकार परमार्थ से असदृश ऐसे खड आदि गो विशेष हैं जो कि सदृश सामान्य के विकल्प को उत्पादक होकर विसदृश प्रतीति के कारण है वे सदृश व्यवहार को करते है, उसी प्रकार जो स्वय अनील आदि स्वभाव वाले हैं तो भी नील आदि विकल्प के उत्पादक है तथा उस रूप प्रतीति के हेतु से ही नीलादि व्यवहार को करते हैं ऐसा मानना होगा, अर्थात् नील आदि विशेषण स्वय नीलादिरूप नही है केवल उस विकल्प को उत्पन्न करते है ऐसा अनिष्ट सिद्ध होने का प्रसग आयेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि पदार्थो मे सदृश परिणाम नही

हेतव· सदृशव्यवहारभाजो भावा तथा स्वयमनीलादिस्वभावा अपि नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शन-निमित्ततया नीलादिव्यवहारभाक्त्व प्रतिपत्स्यन्ते। सदृशपरिणामाभावे च अर्थाना सजातीयेतर-व्यवस्थाऽसम्भवात्कुतः कस्य व्यावृत्ति ? अन्यव्यावृत्या सम्बन्धावगमेपि चैतत्सर्वं समानम्–तत्रानन्त्या-ननुगमरूपत्वस्याऽविशेषात्। ततो 'ये यत्र भावत कृतसमया न भवन्ति न ते तस्याभिधायका यथा सास्नादिमत्यर्थेऽकृतसमयोऽश्वशब्द, न भवन्ति च भावत. कृतसमया. सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनय' इत्यत्र प्रयोगेऽसिद्धो हेतुः, उक्तप्रकारेणार्थे ध्वनीना समयसम्भवात्।

मानेंगे तो उनमे सजातीय और विजातीय (गो और अश्वादि) की व्यवस्था असभव होने से किस पदार्थ से किसकी व्यावृत्ति करेगे ? अर्थात् गो शब्द अन्य की व्यावृत्ति कराता है अर्थात् विजातीय अश्वादि की व्यावृत्ति कराता है ऐसी अन्यापोह की व्यवस्था कैसे होगी ? क्योकि सजातीय विजातीय कोई है नही। अत: सदृशसामान्य के बिना गो आदि शब्द का सकेत होना आदि सिद्ध नही होता। इसी प्रकार अनुमान के साध्य साधन रूप व्यक्तियो का सम्बन्ध ग्रहण अन्य व्यावृत्ति से होता है ऐसा बौद्ध का पूर्वोक्त कथन भी असत् सिद्ध होता है। अर्थात् अन्य व्यावृत्ति से सम्बन्ध का ग्रहण होने की मान्यता में भी यही सकेत के पक्ष मे दिये गये दूषण आते है। आगे इसी को कहते है–साध्य साधन रूप व्यक्तिया अनत होने से तथा उनमे परस्पर अनुगमन नही होने से उनके अविनाभाव सम्बन्ध को अन्य व्यावृत्ति से कैसे ग्रहण कर सकते है ? क्योकि साध्य साधन व्यक्तिया क्षणिक एव निरन्वय होने से अन्य व्यावृत्ति के काल मे रह नही सकती, तथा अनत होने से उनके सम्बन्ध को जान नही सकते। अत अन्य व्यावृत्ति से शब्दो का सकेत ग्रहण एव साध्य साधन का सम्बन्ध ग्रहण नही होता ऐसा सुनिश्चित असभवत् बाधक प्रमाण से सिद्ध हो गया। इसलिये बौद्ध का उक्त अनुमान गलत ठहरता है कि जिनमे परमार्थ रूप से सकेत नही है वे शब्द अर्थाभिधायक नही होते हैं जैसे सास्नादिमान् गो पदार्थ मे जिसका सकेत नही किया है ऐसा अश्व शब्द उस गो अर्थ को नही कहता, सब शब्द सब वस्तु मे परमार्थ रूप से सकेतित नही होते अत वे उनके अभिधायक (वाचक) नही होते हैं इत्यादि, सो इस अनुमान का "भावत अकृतसमयत्वात् –परमार्थ से सकेत किये गये नही होने से" हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, क्योकि हमारे पूर्वोक्त प्रतिपादन से अर्थात् सदृश परिणाम की अपेक्षा से शब्द मे सकेत किया जाना सभव है ऐसा भली भाति सिद्ध हो गया है।

यच्च हिमाचलादिभावानामप्यनेकपरमाणुप्रचयात्मना क्षणिकत्वेन समयासम्भव इत्युक्त तदप्युक्तिमात्रम्, सर्वथा क्षणिकत्वस्य बाह्याध्यात्मिकार्थे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। तथा चोत्पन्नेष्वप्यर्थ संकेतसम्भवात्, अयुक्तमुक्तम्-'उत्पन्नेष्वनुत्पन्नेषु वा सकेतासम्भव' इत्यादि।

ननु शब्देनार्थस्याभिधेयत्वे साक्षादेवातोऽर्थप्रतिपत्तेरिन्द्रियसहतेर्वैफल्यप्रसगः; तन्न, अतोऽस्याऽस्पष्टाकारतया प्रतिपत्ते, स्पष्टाकारतया तत्प्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रियसहतिरप्युपपद्यते एवेति कथ तत्वैफल्यम्? स्पष्टाऽस्पष्टाकारतयार्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदान्न विरुध्यते, दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रिय प्रतिभासवत्।

बौद्ध ने कहा था कि हिमाचल आदि पदार्थ भी अनेक अणुओं के समूह रू एव क्षणिक होने से उनमे सकेत नही हो सकता, सो यह कथन अयुक्त है, क्योकि हा आगे बाह्य एव अभ्यतर रूप जड चेतन पदार्थ मे सर्वथा क्षणिकपने का निषेध करा वाले हैं। तथा उत्पन्न हुए पदार्थों मे सकेत होना सम्भव है अत पूर्वोक्त कथन असत सिद्ध होता है कि—उत्पन्न पदार्थ हो चाहे अनुत्पन्न पदार्थ हो दोनो मे भी सके असभव है इत्यादि।

बौद्ध—शब्द द्वारा अर्थ का अभिधेयत्व होना स्वीकार करे तो उससे व्यवधा रहित साक्षात् हो अर्थ की प्रतीति हो जाने से चक्षु आदि इन्द्रिय समूह व्यर्थ सिद्ध होता है?

जैन—ऐसा नही कह सकते, शब्द से अर्थ का अस्पष्टरूप प्रतिभास होता है अत उस पदार्थ का स्पष्टाकार से प्रतिभास होने के लिये चक्षु आदि इन्द्रिय समूह उपयुक्त होता ही है, इसलिये उसकी व्यर्थता किस प्रकार होगी? अर्थात् नही होगी एक ही पदार्थ का स्पष्टाकार और अस्पष्टाकार रूप से प्रतिभास का भेद होना सामग्री के भेद होने से विरुद्ध नही पडता अर्थात् विभिन्न सामग्री के कारण से एक ही पदार्थ कभी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और कभी अस्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जैसे दूर और निकट होने के कारण एक ही पदार्थ चक्षुइन्द्रिय द्वारा अस्पष्ट और स्पष्ट रूप प्रतीत होता है, अर्थात् पदार्थ के दूर होने रूप आदि सामग्री से चक्षु द्वारा उसका अस्पष्ट प्रतिभास होता है और निकट मे होना आदि सामग्री से स्पष्ट प्रतिभास होता है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ का शब्द द्वारा अस्पष्ट और इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है।

अथाऽसत्यप्यर्थेऽतीतानागतादौ शब्दस्य प्रवृत्ति(त्ते)र्नास्यार्थाभिधायकत्वम्, तदसत्, तस्येदानी-मभावेपि स्वकाले भावात्; अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यर्थविषयत्वाभाव स्यात् तद्विषयस्यापि तत्कालेऽभावात्। अविसंवादस्तु प्रमाणान्तरप्रवृत्तिलक्षणोऽध्यक्षवच्छाब्देप्यनुभूयत एव। 'आसीद्वह्नि' इत्याद्यतीतविषये वाक्ये विशिष्टभस्मादिकार्यदर्शनोद्भूतानुमानेन सवादोपलब्धे, चन्द्रार्कग्रहणाद्यनागतार्थविषये तु प्रत्यक्षप्रमाणेनैव। क्वचिद्विसवादात्सर्वत्र शाब्दस्याऽप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि क्वचिद्विसवादात्सर्वत्रा-प्रामाण्यप्रसंग। ततो निराकृतमेतत्—

बौद्ध—अतीत अनागतादि काल मे पदार्थ के नही रहते हुए भी उसमे शब्द की प्रवृत्ति पायी जाती है अत: शब्द को अर्थ का अभिधायक नही मानते ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, उक्त पदार्थ इस समय नही होने पर भी स्वकाल मे तो विद्यमान ही था अत. शब्द उसके अभिधायक हो सकते है यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त पदार्थ प्रत्यक्ष का विपय भी नही हो सकेगा क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञान के काल मे भी उसके विषयभूत पदार्थ नही होते। अभिप्राय यह है कि आपके क्षणिक मतानुसार शाब्दिक ज्ञान के समय और प्रत्यक्ष ज्ञान के समय दोनो समयो मे भी पदार्थ विद्यमान नही रहता अत यदि पदार्थ के विद्यमान नही होने के कारण शब्द को अर्थ का अभिधायक नही मानते तो प्रत्यक्ष ज्ञान को भी उसका ग्राहक नही मानना होगा। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे अविसवाद रहता है अत वह अर्थ का ग्राहक माना जाता है सो यह बात शाब्दिक ज्ञान मे भी सभव है, अर्थात् प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होना रूप अविसवाद प्रत्यक्ष के समान शब्दजन्य ज्ञान मे भी अनुभव मे आता ही है। "अग्नि थी" इत्यादि अतीत अर्थ को विपय करने वाले वाक्य मे विशिष्ट भस्म (राख) आदि कार्य के देखने से उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाण द्वारा सवाद हो जाता है अर्थात् सत्यता आती है तथा चन्द्र ग्रहण सूर्य ग्रहण आदि आगामी पदार्थ को विषय करने वाले वाक्य मे तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही सवाद हो जाता है। यदि कहा जाय कि शब्दजन्य ज्ञान के विपयभूत पदार्थ मे कही कही विसवाद देखा जाता है अत सभी शब्दजन्य ज्ञान मे अप्रामाण्य माना गया है तो प्रत्यक्षज्ञान के विपय मे भी कही विसवाद देखा जाने से उसे भी सर्वत्र अप्रामाणिक मानना होगा। इसलिये शाब्दिक ज्ञान मे सत्यता मानना आवश्यक है एव शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ मे सकेत होना उसका ग्रहण होना इत्यादि

"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः ।
शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥१॥" [ ]

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धोभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥"

[वाक्यप० २।४।२५] इत्यादि ।

सामग्रीभेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदो न पुनर्विषयभेदात्, सामान्यविशेषात्मकार्थविषयतया सकलप्रमाणाना तद्भेदाभावादित्यग्रेवक्ष्यमाणत्वात् । ततो 'यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते' इत्यादि-प्रयोगे हेतुरसिद्ध , सामान्यविशेषात्मार्थलक्षणस्वलक्षणस्य शाब्दप्रत्यये प्रतिभासनात् ।

मानना भी आवश्यक है । इसलिये निम्नलिखित कथन निराकृत हुआ समझना चाहिए कि—इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने वाला पदार्थ अन्य है और शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है, क्योकि अन्धपुरुष शब्द से तो पदार्थ को जान लेता है किन्तु उसको प्रत्यक्ष देख नही सकता, अत. निश्चय होता है कि शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है ॥१॥ अग्नि के सम्बन्ध से दग्ध हुआ पुरुष स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उस अग्नि को अन्य प्रकार से (स्पष्ट रूप से) जानता है, और वही पुरुष यदि अग्नि शब्द द्वारा अग्नि को जानता है तो किसी अन्य प्रकार से (अस्पष्ट रूप से) जानता है इत्यादि ।

यह समझना आवश्यक है कि विशदप्रतिभास और अविशदप्रतिभास सामग्री के भेद से होता है न कि विषयभूत पदार्थ के भेद से, क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण हो चाहे अनुमान प्रमाण हो अथवा अन्य शब्दज प्रमाणादि हो, सभी प्रमाणों का विषय सामान्य विशेषात्मक एक ही पदार्थ है । प्रमाणो के विषय मे भेद नही है इसको आगे (तृतीय भाग मे) सिद्ध करने वाले हैं । इसलिये पहले बौद्ध ने जो कहा था कि—"जो जिसके द्वारा किये हुए ज्ञान मे प्रतीत नही होता वह उसका विषय नही होता" इत्यादि सो उक्त अनुमान का हेतु (शब्दज ज्ञान मे स्वलक्षण प्रतीत नही होना रूप हेतु) असिद्ध है, क्योकि शाब्दिक ज्ञान मे सामान्यविशेषात्मक स्वभाव वाला स्वलक्षण प्रतिभासित होता है ।

प्रयोगः—यद्यत्र व्यवहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयम् यथा सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यवहृति-मुपजनयत्प्रत्यक्ष तद्विषयम्, तत्र व्यवहृतिमुपजनयति च शब्द इति। न चासिद्धो हेतु., बहिरन्तश्च शाब्दव्यवहारस्य तथाभूते वस्तुन्युपलम्भात्। भवत्कल्पितस्वलक्षणस्य तु प्रत्यक्षेऽन्यत्र व. स्वप्नेप्यप्रति-भासनात्।

प्रतिज्ञापदयोश्च व्याघात , तथाहि—'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यनेन शब्देन कश्चिदर्थोभिधीयते वा, न वा ? नाभिधीयते चेत्, कथमिन्द्रियग्राह्यस्यान्यत्वमतः प्रतीयते ? अथाभिधीयतेर्थ , तर्हि तस्यैव तद्विषयत्वप्रसिद्धे कथन्न शब्दस्यार्थागोचरत्वप्रतिज्ञाऽतो व्याहन्येत ? साक्षादिन्द्रियग्राह्यागोचरोऽ-

---

अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि—जो जहा पर व्यवहार को (विकल्प ज्ञान को) उत्पन्न करता है वह उसका विषय होता है, जैसे सामान्य विशेषात्मक पदार्थ मे प्रत्यक्षज्ञान व्यवहार को उत्पन्न करता है अत. वह उसका विषय है, शब्द भी उक्त पदार्थ मे व्यवहार को उत्पन्न करता है अत वह उसका विषय है। उसमे व्यवहार को उत्पन्न करना रूप हेतु असिद्ध भी नही, क्योकि बहिरग और अतरग रूप उक्त प्रकार की वस्तु मे (सामान्य विशेषात्मक वस्तु मे) शब्द जन्य ज्ञान द्वारा होने वाला व्यवहार उपलब्ध होता है। आप सौगत द्वारा परिकल्पित स्वलक्षणरूप वस्तु तो प्रत्यक्ष और अन्य अनुमानादि में ही क्या स्वप्न मे भी प्रतिभासित नही होती। जैसे गधे के सींग किसी भी प्रमाण में प्रतीत नही होते।

तथा शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ प्रतिभासित होना नही मानेगे तो प्रतिज्ञा और पद का व्याघात हो जाने का प्रसग आता है, आगे इसी को बताते है—यदि शब्द किसी भी अर्थ को नही कहता तो "इन्द्रिय द्वारा अन्य ही ग्राह्य होता है" इस शब्द द्वारा कोई अर्थ कहा जाता है कि नही ? यदि नही कहा जाता तो यह अर्थ इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ से अन्य है (पृथक् है) ऐसा इस शब्द से किस प्रकार प्रतीत होता है ? और उक्त शब्द द्वारा अर्थ कहा जाता है तो वही अर्थ उस शब्द का विषय है ऐसा सिद्ध ही हुआ, फिर "अर्थ शब्द के अगोचर है" ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कैसे खण्डित नही होगा ? अवश्य ही होगा।

बौद्ध—शब्द का गोचरभूत पदार्थ अव्यवधानरूप से इन्द्रिय ग्राह्य के अगोचर है ?

साविति चेत्; पारम्पर्येणासौ तद्गोचरो भवति, न वा ? यदि न भवति, तर्हि 'साक्षात्' इति विशेषणं व्यर्थम् । अथ भवति, तर्हि तज्ज्ञा(तज्जा)प्रतीति किमिन्द्रियजप्रतीतितुल्या, तद्विलक्षणा वा ? यदि तत्तुल्या, तदा 'शब्दाप्रत्येति विनष्टाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते' इत्यनेन विरोध । तद्विलक्षणा चेत्, न तर्हि प्रतीतिवैलक्षण्य विषयभेदसाधनम्, एकत्रापि विषये तदभ्युपगमात् ।

दाहशब्देन चात्र कोर्थोभिप्रेत –किमग्निः, उष्णस्पर्श, रूपविशेष', स्फोटः, तद्दु ख वा ? अस्तु यः कश्चित्, किमेभिर्विकल्पैर्भवता सिद्धमिति चेत् ? एतेषा मध्य कोर्थोभिप्रेतो भवता तेनार्थेनार्थवत्त्वप्रसिद्धे तस्यानर्थविषयत्वाभाव सिद्ध इति ।

जैन—तो फिर परम्परा से वह अर्थ शब्द के गोचर होता है ? अथवा परपरा से भी नही होता ? यदि परम्परा से भी शब्द के गोचर नही होता तो साक्षात् गोचर नही होता ऐसा उक्त वाक्य मे साक्षात् विशेषण देना व्यर्थ ठहरता है । अर्थ परपरा से शब्द के गोचर होता है ऐसा माने तो वह शब्द से होने वाली अर्थ की प्रतीति इन्द्रियज प्रतीति के समान है अथवा उससे विलक्षण है ? यदि इन्द्रियज प्रतीति के समान है तो अध पुरुष शब्द से अर्थ को जानता है किन्तु उस अर्थ को प्रत्यक्ष तो नही देखता है अर्थात् चक्षु ग्राह्य अर्थ अन्य है और शब्द गोचर अर्थ अन्य है ऐसा आपने पहले कहा था उस कथन के साथ विरोध आता है ? क्योकि यहा पर शब्दज प्रतीति और इन्द्रियज प्रतीति इन दोनो को समान मान लिया । इन्द्रियज प्रतीति से शब्दज प्रतीति विलक्षण हुआ करती है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो आप बौद्ध का वह सिद्धात गलत ठहरता है कि—"प्रतीति के विलक्षण होने से अर्थात् भिन्न भिन्न प्रतीति के होने से ही प्रतीति के विषयभूत पदार्थों के भेद सिद्ध होते हैं" क्योकि यहा पर एक विषय मे भी प्रतीति भेद मान लिया । अभिप्राय यह है कि आप "प्रमेय द्वैविध्यात् प्रमाण द्वैविध्यम्–प्रमेय दो प्रकार का होने से प्रमाण दो प्रकार का होता है" ऐसा मानते हैं अर्थात् प्रमेय सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार का है इसलिये उनको जानने के लिये प्रमाण भी दो प्रकार के–प्रत्यक्ष और अनुमान मानने पडते हैं, किन्तु यहा एक ही प्रमेय अर्थात् विषय मे दो विलक्षण प्रतीतियो का होना स्वीकार किया ।

दाह शब्द द्वारा अन्य ही अर्थ प्रतीत होता है इत्यादि पूर्वोक्त कथन मे दाह शब्द से कौनसा अर्थ लेना इष्ट है । अग्नि, उष्णस्पर्श, रूपविशेष, स्फोट अथवा दाह से होने वाला दु ख ?

नन्वेव दहनसम्बन्धाद्यथा स्फोटो दु ख वा तथा दाहशब्दादपि किन्न स्यादर्थप्रतीतेरविशेषात् ? तन्न; अन्यकार्यत्वात्तस्य, न खलु दहनप्रतीतिकार्यं स्फोटादि । किं तर्हि ? दहनदेहसम्बन्धविशेषकार्यम्, सुषुप्ताद्यवस्थायामप्रतीतावपि अग्नेस्तत्सम्बन्धविशेषात् स्फोटादेर्दर्शनात्, दूरस्थस्य चक्षुषा प्रतीतावप्यदर्शनात्, मन्त्रादिबलेन त्वगिन्द्रियेणापि प्रतीतावप्यदर्शनात् । तस्मादभिन्नेपि विषये सामग्रीभेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदोऽभ्युपगन्तव्य ।

बौद्ध—दाह शब्द से कोई भी अर्थ लेते है इन विकल्पो से आप जैनो का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

जैन—इतने प्रकार के पदार्थों के मध्य मे जो पदार्थ आप बौद्धों को इष्ट होगा उस अर्थ द्वारा शब्द का अर्थवान्पना अर्थात् अर्थ को विषय कर सकना सिद्ध होने से शब्द अवास्तविक अर्थ को विषय करते है (अथवा शब्द अनर्थ को विषय करता है) ऐसी आपकी मान्यता गलत सिद्ध होती है ।

बौद्ध—जैसे अग्नि के सम्बन्ध से स्फोट या दु ख होता है वैसे अग्नि शब्द से भी स्फोट या दु ख क्यो नही होता ? क्योकि अर्थ की प्रतीति तो समान ही है ? अर्थात् यदि इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ और शब्द गोचर अर्थ एक ही है और शाब्दिक प्रतीति और इन्द्रियज प्रतीति समान है तो अग्नि शब्द से स्फोटादि क्यो नहीं होते ?

जैन—ऐसा कहना उचित नही है, स्फोट आदि होना किसी अन्य का कार्य है, अग्नि की प्रतीति का कार्य स्फोटादि नही है, वह कार्य तो अग्नि और शरीर के सम्बन्ध विशेष के कारण होता है, यदि स्फोट आदि अग्नि की प्रतीति का कार्य होता तो सुप्त उन्मत्त आदि दशा में अग्नि के प्रतीति के नही रहते हुए भी उस अग्नि के सम्बन्ध विशेष से स्फोटादि होना कैसे दिखायी देता ? दूर मे स्थित पुरुष के चक्षु द्वारा अग्नि के प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यो नहीं होते तथा मंत्रादि के बल से युक्त होने पर स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यों नही दिखाई देते ? अतः निश्चय होता है कि अग्नि के प्रतीति होने मात्र से स्फोट या दु ख नही होता अपितु अग्नि और शरीर के सयोग हो जाने से उक्त कार्य होता है इसलिये स्फोट आदि अग्नि प्रतीति का कार्य नही है । अत बौद्धो को विषय के अभिन्न रहने पर भी सामग्री के भेद से विशद और अविशद रूप प्रतिभासो का भेद स्वीकार करना चाहिए । अर्थात् विभिन्न सामग्री के कारण भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है न कि विषयभेद के कारण ।

तथा चेदमप्ययुक्तम्—'न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्त्येकस्य द्वित्वविरोधात्' इति ।

यदि चाभावोऽभिधीयते शब्दैर्भावो नाभिधीयते इति क्रियाप्रतिषेधान्न किञ्चित्कृतं स्यात् । तथा च कथं नदीदेशद्वीपपर्वतस्वर्गापवर्गादिष्वाप्तप्रणीतवाक्यात्प्रतिपत्तिः श्रेयःसाधनानुष्ठाने प्रवृत्तिर्वा ? अन्यथा सर्वस्मादपि वाक्यात्सर्वत्रार्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्त्यादिप्रसंगः ।

सत्येतरव्यवस्थाभावश्च तत्त्वेतरप्रतिपत्तेरभावात् । तथा च 'यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्' इत्यादेरिव 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेः' इत्यादेरप्यसत्त्वानुषंगः । विपर्ययप्रसंगो वा, सर्वथार्थासंस्पर्शित्वाविशेषात् । कस्यचिदनुमान-

---

इस प्रकार सामग्री के भेद के कारण प्रतिभासो मे भेद होना सिद्ध होने पर बौद्धो का उक्त कथन विरोध को प्राप्त होता है कि—एक वस्तु के दो रूप (विशद अविशद) नही हो सकते, क्योकि एक के द्वित्वपने का विरोध है इत्यादि ।

यदि शब्दो द्वारा अभाव अर्थात् अपोह ही कहा जाता है सद्भाव नही कहा जाता इस प्रकार भाव रूप क्रिया का ही निषेध किया जाता है तो शब्द द्वारा कुछ भी नही किया जाता ऐसा अर्थ निकलता है ? फिर तो नदी, देश, द्वीप, पर्वत, स्वर्ग, मोक्ष आदि पदार्थो मे आप्त प्रणीत शब्द से प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सकती है ? तथा मोक्ष के साधनभूत अनुष्ठान मे प्रवृत्ति भी किस प्रकार हो सकती है ? और यदि शब्द से कुछ नही किये जाने पर भी अर्थ प्रतिपत्ति एव प्रवृत्ति आदि होती है तो सभी वाक्य से सब अर्थो मे प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति हो जाने का प्रसग भी प्राप्त होता है ।

तथा शब्द द्वारा कुछ प्रतीत नही होता अपोह ही प्रतीत होता है ऐसा माने तो सत्य और असत्य की व्यवस्था नही हो सकेगी, क्योकि तत्व और अतत्त्व की प्रतिपत्ति का अभाव है । जब सत्य असत्य की व्यवस्था नही है तब "जो सत् है वह सर्व ही अक्षणिक है क्योकि क्षणिक मे क्रम और युगपत रूप से अर्थ क्रिया का विरोध है" जैसे यह वाक्य आप बौद्ध को असत्य रूप है वैसे "जो सत् है वह सर्व क्षणिक है क्योकि नित्य मे क्रम और युगपत् रूप से अर्थ क्रिया का विरोध है" यह वाच्य भी असत्य रूप होना चाहिए ? अथवा उपर्युक्त वाक्यो मे से पहले का वाक्य सत्य और अत का वाक्य असत्य ऐसा विपर्यय का प्रसग आ सकता है ? क्योकि शब्द या वाक्य सर्वथा किसी भी अर्थ का स्पर्श ही नही करते । यदि आप बौद्ध किसी अनुमान वाक्य को किसी प्रकार

वाक्यस्य कथञ्चिदर्थसस्पर्शित्वे सर्वथार्थस्यानभिधेयत्वविरोध । स्वपक्षविपक्षयोश्च सत्यासत्यत्व-प्रदर्शनाय शास्त्र प्रणयन् वस्तु सर्वथाऽनभिधेयं प्रतिजानाति इत्युपेक्षणीयप्रज्ञः, सर्वथाभिधेयरहितेन तेन तस्य प्रणेतुमशक्ते ।

"शक्तस्य सूचक हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम्" [प्रमाणवा० ४।१७] इत्यभिधानात्। तत्कृता तत्त्वसिद्धिमुपजीवति, नार्थस्य तद्वाच्यतामिति किमपि महाद्भुतम् । वस्तुदर्शनवशप्रभवत्वाद्धेतुवचो वस्तुसूचकम्, इत्यक्षणिकवादिनोपि समानम् । मद्वचनमेवार्थदर्शनवशप्रभव न पुन परवचनम्, इत्यन्य-त्रापि समानम् ।

से अर्थ का स्पर्श करने वाला (अर्थ का वाचक) मानते है तब तो सर्वथा सभी शब्द अर्थ को कहते ही नही ऐसा आपका सिद्धात विरुद्ध पडता है । स्वपक्ष की सत्यता और विपक्ष की असत्यता का प्रदर्शन कराने के लिये शास्त्र को रचने वाले आपके बौद्ध ग्रन्थकार वस्तु को सर्वथा अनभिधेय (अवाच्य) रूप मानने की प्रतिज्ञा करते है सो यह ग्रन्थकार उपेक्षणीयप्रज्ञ—उपेक्षा करने योग्य ज्ञान वाला अर्थात् मूर्ख है क्योकि इधर तो सत्य असत्य की व्यवस्था शास्त्र से (शब्द से) होना मानकर शास्त्र रचता है और इधर वस्तु को शब्द द्वारा अनिभिधेय मानता है सो यह सर्वथा अनुचित है, क्योकि सर्वथा अभिधेय रहित शब्द द्वारा शास्त्र का प्रणयन करना ही अशक्य है ।

बौद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक मे कहा है कि - हेतु वचन स्वय अशक्त होकर शक्त स्वलक्षण का सूचक हुआ करता है अर्थात् स्वरूप से असमर्थ ऐसा हेतु वचन समर्थ रूप स्वलक्षण को (साध्य को) सिद्ध करता है, सो शब्द द्वारा की गयी तत्त्व सिद्धि को तो अगीकार करना और अर्थ शब्द से वाच्य नही होता ऐसा कहना महाआश्चर्यकारी है ।

बौद्ध—हेतुवचन वस्तु का (स्वलक्षणभूत साध्य का) सूचक इसलिये होता है कि उसकी उत्पत्ति वस्तुभूत धूमादि दर्शन के अन्वय से हुई है ? अर्थात् हेतु का वचन वास्तविक धूमादि को देखना रूप प्रतीति से उत्पन्न होता है अत स्वलक्षणभूत साध्यार्थ को सिद्ध करता है ?

जैन—तो यही बात हम जैनादि अक्षणिक वादी के पक्ष मे हो सकती है अर्थात् जो शब्द सत्यार्थ प्रतीत होते है वे अर्थाभिधायक होते हैं ऐसा सिद्ध होता है । "हमारे वचन ही अर्थ दर्शन के अन्वय से हुए हैं पर वचन नही" "ऐसा कहो तो जैन

सकलवचसा विवक्षामात्रविषयत्वाभ्युपगमाच्च, तावन्मात्रसूचकत्वेन च शाब्दस्य प्रामाण्ये सर्वं शाब्दविज्ञान प्रमाण स्यात्, प्रत्यागमस्यापि प्रतिवाद्यभिप्रायप्रतिपादकत्वाविशेषात्।

किंच, अर्थव्यभिचारवच्छब्दानां विवक्षाव्यभिचारस्यापि दर्शनात्कथ ते तामपि प्रतिपादयेयु ? गोत्रस्खलनादौ ह्यन्यविवक्षायामप्यन्यशब्दप्रयोगो दृश्यते एव। 'सुविवेचित कार्यं कारण न व्यभिचरति' इति नियमोऽर्थविशेषप्रतिपादकत्वेप्यस्याऽस्तु।

भी कह सकते है कि हमारे वचन ही अर्थ दर्शन प्रभव है परके नही ? सो समान ही बात है।

तथा सम्पूर्ण वचन (साध्य साधन के वचन या अन्य वचन) विवक्षामात्र को विषय करते हैं ऐसा माना जाता है, सो विवक्षामात्र के सूचक होने से शाब्दिक ज्ञान मे प्रामाण्य स्वीकार करे तो सभी शाब्दिक ज्ञान प्रामाणिक होगे, फिर परवादी के आगम वचन मे भी प्रामाणिकता माननी होगी, क्योकि वे वचन भी प्रतिवादी के अभिप्राय अर्थात् विवक्षा के सूचक है।

किंच, जिस प्रकार शब्दो का अर्थ के साथ व्यभिचार देखने मे आता है अर्थात् बिना अर्थ के भी शब्द प्रवृत्त होते है उस प्रकार विवक्षा व्यभिचार भी देखने मे आता है अर्थात् विवक्षा के बिना भी शब्द प्रवृत्त होते हैं अथवा विवक्षा अन्य होती है और शब्द अन्य निकलते है अत शब्द विवक्षा का भी किस प्रकार प्रतिपादन कर सकते है ? गोत्र स्खलन आदि मे (गोत्र अर्थात् नाम उसका स्खलन अर्थात् नाम तो कुछ हो और कहे कुछ अन्य रूप) देखा भी जाता है कि कहने की विवक्षा तो कुछ अन्य रहती है और शब्द प्रयोग होता है कुछ अन्य ही। यदि कहा जाय कि "सुविवेचितं कार्यं कारण न व्यभिचरति" भली प्रकार से विवेचित हुआ कार्य कारण के साथ व्यभिचरित नही होता ऐसा नियम है अत. विचार पूर्वक प्रयुक्त हुए शब्द विवक्षा के साथ व्यभिचरित नही हो सकेंगे, सो यह नियम अर्थ प्रतिपादकत्व मे भी सुघटित होगा अर्थात् सकेत आदि पूर्वक प्रयुक्त हुआ शब्द अर्थ के साथ व्यभिचरित नही होता ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

न चास्य विवक्षायास्तदधिरूढार्थस्य वा प्रतिपादकत्व युक्तम्, ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीते प्रत्यक्षवत्। यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसापेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा सकेतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्ति सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथाऽतो बहिरर्थे प्रतिपत्त्यादि-

---

दूसरी बात यह है कि शब्द केवल विवक्षा को कहते है अथवा विवक्षा मे अधिरूढ पदार्थ को कहते हैं ऐसा मानना ही अनुचित है, क्योकि अन्तरग मे स्थित विवक्षा मे अथवा विवक्षा मे अधिरूढ पदार्थ मे शब्द द्वारा प्रतीति, प्रवृत्ति एव प्राप्ति नही होती अपितु उससे भिन्न बाह्य घट पट आदि पदार्थो मे होती है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा बाह्यार्थ मे प्रतीति, प्रवृत्ति एव प्राप्ति हुआ करती है।

भावार्थ - शब्द अर्थ के वाचक न होकर विवक्षा के वाचक होते है ऐसा किसी बौद्धादि के प्रतिपादन करने पर जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द मे अर्थ व्यभिचार के समान विवक्षा व्यभिचार भी देखा जाता है, अर्थात् जिस प्रकार अर्थ के नही होते हुए भी उसके वाचक शब्द कोई कदाचित् उपलब्ध होते है उस प्रकार विवक्षा के नही होते हुए या अन्य विवक्षा के होते हुए भी कदाचित् अन्य कोई शब्द मुख से निकल जाया करते है, ऐसा होता हुआ देखा ही जाता है कि कहने की इच्छा रहती है घट और शब्द निकलता है पट, विवक्षा रहती है रमेश की और शब्द निकलता है जिनेश, यदि कहा जाय कि विचार पूर्वक शब्द बोलते है तो विवक्षाव्यभिचार नही होता तो यही बात अर्थव्यभिचार के विषय मे है अर्थात् जो शब्द विचार पूर्वक बोला जाता है वह अर्थ से व्यभिचरित नही होता। अत शब्द विवक्षा को ही कहते है अर्थ को नही इत्यादि कथन अयुक्त सिद्ध होता है। शब्द को सुनकर अर्थ का ज्ञान अवश्य होता है इसलिये वह उसका अवश्य वाचक है। शब्द द्वारा पदार्थ का जैसा प्रतिभास होता है वैसा पदार्थ साक्षात् उपलब्ध भी होता है, शब्द को सुनकर पदार्थ को उठाना, देना आदि क्रिया भी होती है फिर किस प्रकार शब्द को अर्थ का प्रतिपादक नही माने? प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी इसी प्रकार पदार्थ की प्रतिपत्ति आदि होती है, किसी अन्य प्रकार से नही। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष को अर्थ का प्रतिपादक मानते है उसी प्रकार शब्द को भी अर्थ का प्रतिपादक मानना ही होगा।

सर्वजन सुप्रसिद्ध बात है कि जिस प्रकार प्रतिपत्ति करने वाले पुरुष के प्रणिधान (एकाग्रमन) रूप सामग्री की जिसमे अपेक्षा है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष-

विरोधः । न चार्थेऽर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक , अध्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात् तदर्थेऽप्यभिलाषादेव प्रवृत्तिप्रसिद्धेः । परम्परया प्रवर्त्तकत्व शब्देप्यस्तु विशेषाभावात् ।

का चेय विवक्षा नाम-किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रो शास्त्रादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । न खलु कश्चिदनुन्मत्त शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्र वाक्यान्तरं वा प्रणेतु श्रोतु प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यै सह

भूत अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रकार सकेत रूप सामग्री की जिसमे अपेक्षा है ऐसे शब्द से शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, यदि ऐसा नही होता तो बाह्य घटादि पदार्थ मे शब्द से प्रतिभास एव प्रवृत्ति आदि नही होनी थी ।

शका—बाह्य पदार्थ मे अर्थ के इच्छुक पुरुष की प्रवृत्ति होने का कारण अर्थिपना ही है अर्थात् उक्त अर्थ की इच्छा होने के कारण प्रवृत्ति होती है न कि शब्द से अत शब्द को अप्रवर्त्तक माना जाता है ?

समाधान—तो फिर प्रत्यक्षादि को भी इसी तरह अप्रवर्त्तक मानना होगा क्योकि प्रत्यक्षभूत पदार्थ मे भी अर्थ की इच्छा होने के कारण ही प्रवृत्ति होती है । प्रत्यक्ष ज्ञान परम्परा से अर्थ मे प्रवृत्ति कराता है अत उसको प्रवर्त्तक माना है ऐसा कहो तो शब्द भी परम्परा से अर्थ मे प्रवृत्ति कराता है अत उसको भी प्रवर्त्तक मानना चाहिये । उभयत्र समानता है कोई विशेषता नहीं है ।

तथा विवक्षा किसे कहना यह भी विचारणीय है शब्दोच्चारण की इच्छा होने मात्र को विवक्षा कहते हैं अथवा इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ ऐसा अभिप्राय का होना विवक्षा है ? प्रथम पक्ष माने तो वक्ता और श्रोता की शास्त्रादि मे प्रवृत्ति नही हो सकेगी । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—कोई भी बुद्धिमान् वक्ता और श्रोता शब्दोच्चारण की इच्छा मात्र के लिये और केवल उसको जानने के लिए शास्त्र या वाक्यातर का प्रणयन एव श्रवण के लिये प्रवृत्त नही होते अर्थात् वक्ता अपनी विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण करता हो और श्रोता वक्ता की विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण को सुनता हो ऐसा नही हैं । यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो दशदाडिमादि सदर्भ रहित वाक्यो के समान सभी वाक्य सदर्भ रहित बन जायेगे क्योकि सभी वाक्य समान रूप से अपनी इच्छा मात्र के अनुमापक हैं । अभिप्राय यह है कि

सर्ववाक्यानामविशेषप्रसंगश्च; सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाविशेषात् । अथ 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन शब्दानामनुमानत्वम्, तदप्ययुक्तम्, व्यभिचारात् । न हि शुकशारिकोन्मत्तादयस्तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किंच, समयानपेक्ष वाक्य तादृशमभिप्राय गमयेत्, तत्सापेक्ष वा ? आद्यविकल्पे सर्वेषामर्थप्रतिपत्तिप्रसगान्न कश्चिद्भाषानभिज्ञ स्यात् । समयापेक्षस्तु शब्दोऽर्थमेव किं न गमयति ? न ह्ययमर्थाद्-

---

शब्द केवल विवक्षा को ही कहते है उसीके अनुमापक है, ऐसा माना जाय तो दश दाडिमा:, षट् पूपा. इत्यादि निरर्थक वाक्य और "हे देवदत्त अत्र आगच्छ" इत्यादि सार्थक वाक्य इन दोनो मे कोई विशेपता नही रहेगी (या तो दोनो सार्थक माने जायेंगे या दोनो निरर्थक माने जायेगे) क्योकि सभी अपनी विवक्षामात्र को कहते है अर्थ को तो कहते ही नही ? फिर कैसे कह सकते हैं कि अमुक वाक्य अर्थ को कहता है अत सार्थक है और अमुक वाक्य वैसा नही है इत्यादि । दूसरा पक्ष—"इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूं" ऐसा अभिप्राय होने को विवक्षा कहते है और उस विवक्षा के सूचक शब्द होते है अत. शब्द विवक्षा के अनुमापक है ऐसा मानना भी अनुचित है क्योकि इस तरह की मान्यता मे भी व्यभिचार आता है, कैसे सो बताते हैं—शुक सारिका पक्षी तथा उन्मत्त पुरुष आदि उपर्युक्त लक्षण वाली विवक्षा से वाक्य का उच्चारण नही करते है अत सभी शब्द एव वाक्य विवक्षा को ही कहते है ऐसा नियम करना व्यभिचरित हो जाता है ।

किंच, जिसमे सकेत की अपेक्षा नही है वह वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को (इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ) जतलाता है अथवा जिसमें सकेत को अपेक्षा होती है वह वाक्य उक्त अभिप्राय को जतलाता है ? प्रथम विकल्प माने तो सभी वाक्यो से सब अर्थों की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होता है फिर तो कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा से अपरिचित नही रहेगा ? क्योकि इस शब्द का यह अर्थ होता है इस अर्थ को घट कहते है, इस अर्थ को सस्कृत भापा मे "घट" कहते हैं, हिंदी भापा मे 'घड़ा' कहते है इत्यादि प्रकार से शब्द एवं वाक्य में सकेत किये बिना ही वे शब्दादि उस उस अर्थ को कहने वाले मान लिये हैं । संकेत की अपेक्षा वाले वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को जतला देते हैं ऐसा दूसरा पक्ष माने तो शब्द अर्थ

बिभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तेत। यश्चाशक्यसमयत्वादिकेर्थे शब्दाप्रवृत्तौ न्यायः, सोऽभिप्रायेपि समान इत्यभिप्रायावगमोपि शब्दान्न स्यात्। तन्न स्वलक्षणस्याभिधानेनानिर्देश्यत्वम्।

किंच, तच्छब्देनाऽप्रतिपाद्याऽनिर्देश्यत्वमस्योच्येत, प्रतिपाद्य वा ? न तावदप्रतिपाद्य, अतिप्रसंगात्। प्रतिपाद्य चेत्, न, स्ववचनविरोधात्। शब्देन हि स्वलक्षणं प्रतिपादयता निर्देश्यत्वमस्याभ्युपगतं स्यात्, पुनश्च तदेव प्रतिषिद्धमिति। कथं चानिर्देश्यशब्देनाप्यस्यानभिधाने अनिर्देश्यत्वसिद्धिः ?

को ही कहता है ऐसा क्यों न माना जाय ? शब्द कोई अर्थ से डरता तो नही है जिससे कि वह उसमें साक्षात् प्रवृत्ति नही कर सके।

शका—अर्थ अनन्त हुआ करते हैं अत उनमे शब्द द्वारा सकेत किया जाना अशक्य है, इसीलिये तो शब्द द्वारा अर्थ मे साक्षात् प्रवृत्ति नही हो पाती ?

समाधान—तो फिर यही न्याय अभिप्राय मे लगता है अर्थात् अभिप्राय अनंत हुआ करते है अत शब्द द्वारा अभिप्राय को जानना अशक्य है। इस प्रकार शब्द से अर्थ का प्रतिपादन होना सिद्ध होने से स्वलक्षणरूप अर्थ शब्द द्वारा अवाच्य है ऐसा बौद्ध का कहना निराकृत हुआ समझना चाहिये।

तथा शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन बिना किये उसका अनिर्देश्यपना (अवाच्यपना) कहा जाता है अथवा उसका प्रतिपादन करके कहा जाता है ? बिना प्रतिपादन किये कहा जाता है ऐसा माने तो अतिप्रसग होगा, फिर तो घटादि पदार्थ भी अनिर्देश्य बन जायेंगे। स्वलक्षण का प्रतिपादन करके फिर उसका अनिर्देश्यपना कहा जाता है ऐसा माने तो स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन कर रहे हैं तो उसका निर्देश्यत्व ही स्वीकार किया और पुन उसीका निषेध किया। तथा "अनिर्देश्य" इस प्रकार के शब्द द्वारा भी यदि स्वलक्षण को कहा नही जाय तो उसका अनिर्देश्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? भ्रांति मात्र से अनिर्देश्य शब्द द्वारा स्वलक्षण का अनिर्देश्यत्व सिद्ध करते हैं ऐसा कहो तो स्वलक्षण परमार्थ से अनिर्देश्य है अथवा असाधारण है ऐसा कहना असिद्ध होगा।

शका—प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस प्रकार के स्वलक्षण की सिद्धि होती है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो शब्द से निर्देश करने योग्य साधारण और असाधारण स्वरूप वस्तु का प्रतिपादन होता है।

भ्रान्तिमात्रात् ततस्तत्सिद्धौ न परमार्थतस्तदनिर्देश्यमसाधारणं वा सिद्धयेत्। प्रत्यक्षात्तथाभूतस्यास्य प्रसिद्धि, इत्यपि मनोरथमात्रम्, निर्देश योग्यस्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात्। वस्तुव्यतिरेकेण नापरा निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभाति' इत्यसाधारणतायामपि समानम्। 'वस्तुस्वरूपमेव सा' इत्यन्यत्रापि समानम्।

किंच, विकल्पप्रतिभास्येऽन्यापोहगता वाच्यता वस्तुनि प्रतिषिध्यते, वस्तुगता वा? आद्यविकल्पे सिद्धसाध्यता। न ह्यन्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता, तत्प्रतिषेधविरोधात्। द्वितीयपक्षे तु

शका—वस्तु से अतिरिक्त निर्देश्यता या साधारणता प्रतिभासित नही होती?

समाधान—यही बात असाधारणता के विषय मे भी है अर्थात् असाधारणता भी वस्तु से अतिरिक्त प्रतिभासित नही होती।

शका—असाधारणता तो वस्तु का निजी स्वरूप है अत उसके साथ प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभासित हो जाती है?

समाधान—साधारणता और निर्देश्यता भी वस्तु का निजो स्वरूप है अत: वे दोनो भी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतिपादित होते है ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धात स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ—बौद्ध वस्तुगत असाधारण धर्म को वास्तविक और प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतिभासित होना मानते हैं और उसी वस्तुके साधारण धर्मको काल्पनिक एव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतिभासित न होकर शब्द द्वारा प्रतिभासित होना मानते है, और इस काल्पनिक धर्म का प्रतिपादक होने से ही शब्द का विषय अभाव रूप मानते है। इस मान्यता का निरसन करते हुए आचार्य ने कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण मे तो साधारण असाधारण दोनो ही धर्म प्रतिभासित होते है न कि केवल असाधारण। तथा वस्तु का निर्देश्यपना भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। अत. शब्द द्वारा स्वलक्षणभूत वस्तु का प्रतिपादन नही होता, अर्थात् स्वलक्षण शब्द से अनिर्देश्य है ऐसा बौद्ध का कथन गलत ठहरता है।

अब इस प्रकरण के अन्त मे बौद्ध के प्रति एक प्रश्न और रह जाता है कि—आप स्वलक्षण रूप वस्तु मे वाच्यता का निषेध करते हैं सो वह वाच्यता स्वलक्षण रूप वस्तुगत धर्म है अथवा विकल्पप्रतिभासक बुद्धि मे स्थित अन्यापोह गत धर्म है?

स्ववचनविरोध इत्युक्तम् ।ः तत प्रामाणिकत्वमात्मनोऽभ्युपगच्छता प्रतीतिसिद्धा वाच्यतार्थस्याभ्यु-पगन्तव्या ।

प्रथम पक्ष कहे तो सिद्ध साध्यता है, क्योकि अन्यापोहगत वाच्यता ही वस्तुगत वाच्यता नही कहलाती है अत. अन्यापोहगत वाच्यता निषेध करने पर भी वस्तुगत वाच्यता का निषेध तो होता ही नही इसलिये वस्तु तो शब्द द्वारा वाच्य ही सिद्ध होती है । दूसरा पक्ष—वस्तु मे वस्तुगत वाच्यता का निषेध करते है ऐसा माने तो स्ववचन विरोध आता है अर्थात् "वस्तु शब्द से अवाच्य है" ऐसा शब्द द्वारा प्रतिपादन करते हैं तो उसका वाच्यपना स्वय सिद्ध होता है इत्यादि । इस बात को अभी स्वलक्षण का निर्देश्यपना सिद्ध करते समय कहा ही है । अत अपने मत की (अथवा आत्मा की) प्रामाणिकता को मानने वाले बौद्धादि को प्रतीति सिद्ध ऐसी पदार्थ की वाच्यता स्वीकार करना चाहिए अर्थात् शब्द द्वारा वास्तविक अर्थ कहा जाता है न कि काल्पनिक । शब्द अर्थ के अभिधायक है न कि अन्यापोह के, गो आदि शब्द सीधे गो अर्थ को कहते हैं न कि अन्य अश्वादि के अपोह को । ऐसा प्रमाणसिद्ध सिद्धात सभी को स्वीकार करना चाहिये ।

।। अपोहवाद समाप्त ।।

अपोहवाद के खण्डन का सारांश

बौद्ध शब्द द्वारा पदार्थ का ज्ञान होना नही मानते है उनका कहना है कि शब्द पदार्थ के अभाव मे भी प्रतीत होते है अत. पदार्थो के वाचक न होकर अन्यापोह के वाचक है। आचार्य का कहना है कि ऐसा सर्वथा नही है कोई शब्द अर्थ के अभाव में होते हुए भी अर्थ सद्भाव मे होने वाले शब्द भी मौजूद है अत. शब्द को अन्यापोह का वाचक नही मानना चाहिए। जो परीक्षा करके प्रयोगो मे लाया जायगा वह शब्द अर्थ से व्यभिचरित नही होगा। शब्द अन्यापोह को कहता है ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध भी है, आप गो शब्द से अगो—व्यावृत्ति रूप ज्ञान होना मानते है किन्तु गो शब्द से विधि रूप गो का ही ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है। तथा शब्द का वाच्य अपोह है तो सुनने वाले को पहले "अगो" ऐसा सुनाई देना चाहिए ? किन्तु ऐसा नही होता यदि होता तो गाय का ज्ञान नही हो सकता था। अपोह का लक्षण पर्युदास अभाव रूप है या प्रसज्य अभाव रूप है ? पर्युदास अभाव रूप मानने मे कोई दोष नही आता, आप उसे अगोनिवृत्ति कहते है और हम जैन गोत्व सामान्य कहते है। तथा अगो निवृत्ति गो है सो क्या है ? गाय का स्वलक्षण है ऐसा कहो तो वह शब्द द्वारा नही कहा जा सकता, क्योंकि आप वस्तु का स्वरूप क्षणिक होने से शब्दगम्य होना नही मानते है। आप शब्दो का अर्थ अपोह करते है सो वृक्ष, हस्ती, गृह, गो, अश्व इत्यादि अनेक सामान्यवाची शब्द है इनका परस्पर मे अपोह है अर्थात् गो शब्द का अश्व शब्द मे अपोह है और अश्व शब्द का गो शब्द मे अपोह है इत्यादि सो इन अपोहो मे भेद होने का कारण कौन है यह भी सिद्ध नही होता, वासना के भेद से अपोह मे भेद होना शक्य नही, क्योकि वासना स्वय ही अवस्तु है। वाच्य के निमित्त से अपोहो मे भेद होना भी असम्भव है।

शका—जैनादि शब्द को विधि रूप से पदार्थ का वाचक मानते है सो वह शब्द सकेतित होते हैं या बिना सकेत किये हुए ? सकेत किये हुए हैं तो सकेत हुआ स्वलक्षण मे और ग्रहण हुआ अन्य किसी मे क्योकि स्वलक्षण क्षणिक है, अत. शब्द मे सकेत का अभाव होने से वह अपोह का वाचक है ऐसा मानते है।

समाधान—यह कथन असत् है, क्योकि पदार्थ को स्वलक्षण रूप न मानकर सामान्य विशेषात्मक माना है। आपका कहना है कि शब्द द्वारा स्पष्ट प्रतिभास नही

होता अत वे अपोह मात्र को कहते है सो शब्द से अस्पष्ट ज्ञान होना दोषास्पद नही है, शब्द से अस्पष्ट जानकर पुन चक्षु आदि इन्द्रियो से उन पदार्थों को स्पष्ट जाना जाता है !

आपने कहा कि इन्द्रिय द्वारा अन्य ही कोई वस्तु ग्रहण होती है और शब्द के द्वारा अन्य, सो इस पर हम पूछते हैं कि शब्द गोचर पदार्थ वास्तविक है कि नही ? यदि हैं तो अस्पष्ट आकार होने मात्र से उसको नही मानना गलत है और यदि वास्तविक नही है तो उसका मानना ही व्यर्थ है ।

आपका कहना है कि शब्द द्वारा मात्र अभाव कहा जाता है किन्तु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म आदि शब्द से सद्भाव रूप अर्थ का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है अन्यथा इन धर्मादि का प्रतिपादन करने वाले बुद्ध भगवान असत्‌वादी कहलायेंगे। यदि सचमुच मे गो शब्द अगो व्यावृत्ति को करता है तो उसके सुनने पर गाय रूप अर्थ मे तत्काल प्रवृत्ति नही होती, क्योकि अगो की व्यावृत्ति करने मे कुछ समय तो लगेगा ही। दूसरी बात यह है कि अगो–व्यावृत्ति करते समय भी गो का ज्ञान होना आवश्यक है। गो के ज्ञान बिना अगो का ज्ञान कैसे होगा और अगो का ज्ञान न होने पर उसकी व्यावृत्ति भी कैसे होगी। अत द्राविडो प्राणायाम को छोडकर गो शब्द का वाच्य सीधा गाय रूप अर्थ ही जानना चाहिये। इस प्रकार बौद्ध के अपोहवाद का निरसन हो जाता है।

।। समाप्त ।।

१९

स्फोटवादः

सत्यम्; वाच्य एवार्थ । तद्वाचकस्तु पदादिस्फोट एव, न पुनर्वर्णाः । ते हि किं समस्ताः, व्यस्ता वा तद्वाचका ? यदि व्यस्ता, तदैकेनैव वर्णेन गत्राद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादितेति द्वितीयादिवर्णोच्चारणमनर्थकम् । अथ समुदिता , तन्न, क्रमोत्पन्नानामन्तरविनष्टत्वेन समुदायस्यैवासम्भवात् । न च युगपदुत्पन्नाना तेषा समुदायकल्पना, एकपुरुषापेक्षया युगपदुत्पत्त्यसम्भवात्, प्रतिनियतस्थानकरण-

---

जब जैन ने बौद्ध के प्रति सिद्ध किया कि शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ ही वाच्य होता है, तब वैयाकरणवादी भर्तृहरि आदि अपना मंतव्य उपस्थित करते है—

पदार्थ वाच्य ही होते हैं इसमे कोई असत्य बात नही है किन्तु उस वाच्यभूत पदार्थो का वाचक तो पदादिस्फोट ही होता है । वर्ण, वाक्यादि से व्यक्त होने वाला नित्य, व्यापक ऐसा पदादि का अर्थ है वह पदादिस्फोट कहलाता है, वही पदार्थ का वाचक है न कि वर्ण (शब्द) । आगे इसीका वर्णन करते है—जैनादि परवादी गकारादि वर्णो को अर्थ का वाचक मानते है सो समस्त वर्ण वाचक होते है या व्यस्तवर्ण वाचक होते हैं ? यदि व्यस्तवर्ण वाचक होते हैं तो एक ही वर्ण से गो आदि अर्थ की प्रतीति उत्पन्न हो जायगी । द्वितीय आदि वर्ण का उच्चारण तो व्यर्थ ठहरेगा । समस्त वर्ण वाचक होते है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि जो वर्ण क्रम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है उनमे समस्त रूप समुदाय की कल्पना असम्भव है । युगपत् उत्पन्न हुए वर्णो मे समुदाय की कल्पना होवेगी ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योकि एक पुरुष की अपेक्षा लेकर (अर्थात् एक पुरुष से) युगपत् समुदाय रूप अनेक वर्ण उत्पन्न

प्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम् । न च भिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयाना समुदायेप्यर्थप्रतिपादक प्रतिपन्नम्, प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शाब्दप्रतिपत्ते प्रतिभासनात् ।

न चान्त्यो वर्ण. पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णाना क्रमोत्पादे सत्यर्थप्रतिपादक , पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुग्राहकत्वायोगात् । तद्धि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्व तेषा स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्व वा ? न तावज्जनकत्वम्, वर्णाद्वर्णोत्पत्तेरभावात्, प्रतिनियतस्थानकरणादिप्रभवत्वात्तस्य, वर्णाभावेप्याद्यवर्णोत्पत्त्युपलम्भाच्च । नाप्यर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्व तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्, अविद्यमानाना सहकारित्वस्यैवासम्भवात् । यथा चान्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णा सहकारित्व न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनितसवेदनान्यपि, तत्प्रभवसस्काराश्च ।

हो ही नही सकते, क्योकि उन वर्णो की उत्पत्ति प्रतिनियत स्थान, तालु, कठ, ओष्ठ आदि प्रतिनियत क्रिया, ईषत् स्पष्टकरण आदि एव प्रयत्न से हुआ करती हैं । पृथक् पृथक् पुरुष द्वारा युगपत् प्रयुक्त किये गकार औकार और विसर्जनीयका समुदाय बनकर उसमे अर्थ का प्रतिपादकत्व (वाचकत्व) आयेगा ऐसा कहना भी गलत है, क्योकि प्रतिनियत वर्णक्रम से प्रतिपत्ति होकर उत्तर काल मे शाब्दिक ज्ञान होता है, ऐसा ही सभी को प्रतिभासित होता है ।

वर्णो का क्रम से उत्पाद होने पर पूर्व पूर्व वर्णो द्वारा अनुगृहीत हुआ अतिम वर्ण अर्थ का प्रतिपादक होता है ऐसा कोई कहे तो वह अयुक्त है, क्योकि पूर्व वर्ण अतिम वर्ण के प्रति अनुग्राहक नही हो सकते । परवादी पूर्व वर्ण को अतिम वर्ण का अनुग्राहक मानते हैं सो उसमे प्रश्न होता है कि पूर्व वर्ण अतिम वर्ण के प्रति जनक रूप से अनुग्राहक है अथवा अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति मे सहकारि रूप से अनुग्राहक है ? जनक रूप से अनुग्राहक तो हो नही सकते क्योकि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होती ही नही, वह तो अपने अपने नियत तालु, कठ, ओष्ठ, मूर्धा, दत, जिह्वा आदि आठ स्थान, अपने नियत ईषत् स्पष्टकरण आदि करण एव प्रयत्न से हुआ करती है । तथा अन्य वर्ण के अभाव मे भी आद्यवर्ण की उत्पत्ति देखी जाती है अत. पूर्व वर्ण अत्य वर्ण का जनक रूप से अनुग्राहक है ऐसा कहना असत्य है । अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति मे पूर्व वर्ण अत्यवर्ण के सहायक होने से अनुग्राहक माने जाते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प भी अनुचित है, क्योकि अत्यवर्ण के समय पूर्व वर्ण विद्यमान है, अविद्यमान पदार्थ में सहकारीपना तो असंभव ही है । जिस प्रकार पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति सहकारिरूप सिद्ध नही

किंच, संवेदनप्रभवसस्कारा: स्वोत्पादकविज्ञानविषयस्मृतिहेतवो नार्थान्तरे ज्ञानमुत्पादयितु समर्था। न खलु घटज्ञानप्रभव सस्कार पटे स्मृति विदधद्दृष्ट । न च तत्सस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता; तासा युगपदुत्पत्त्यभावात् । अयुगपदुत्पन्नाना चावस्थित्यसम्भवात् । न चाखिलसस्कार-प्रभवैका स्मृतिः सम्भवति, अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसस्काराणामप्येकस्मृतिजनकत्वप्रसगात् । न चान्यवर्णाऽनपेक्ष एव "गौः" इत्यत्रान्त्यो वर्णोर्थे(र्थ)प्रतिपादक , पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यानुषगात् । घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्यापि ककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वप्रसगाच्च । तन्न वर्णा समस्ता व्यस्ता वार्थ-

---

होते उसी प्रकार उन वर्णो से उत्पन्न हुए ज्ञान भी सहकारी रूप सिद्ध नही होते, न उन ज्ञानों से प्रादुर्भूत सस्कार ही सहकारी रूप सिद्ध होते हैं, क्योकि अतिम वर्ण के काल मे पूर्व वर्णो के ज्ञान तथा सस्कार भी नष्ट हो चुकते हैं, जैसे पूर्व वर्ण नष्ट हो चुकते है ।

किञ्च, पूर्व वर्णो के ज्ञानो से उत्पन्न हुए संस्कार अपने उत्पादक जो ज्ञान हैं उनके विषय मे ही स्मृति उत्पन्न कर सकते है अन्य अर्थ मे ज्ञान को उत्पन्न कराने मे वे (सस्कार) समर्थ नही हो सकते । घट ज्ञान से उत्पन्न हुआ सस्कार पट मे स्मृति को उत्पन्न करता हुआ देखा नही जाता । पूर्व ज्ञानों के सस्कारो से उत्पन्न हुई स्मृतिया अत्य वर्ण को सहायता करती है ऐसा भी नही मान सकते क्योंकि उन स्मृतियो की एक साथ उत्पत्ति नही होती । और जो अयुगपत् (क्रम से) उत्पन्न होते है उनका अवस्थान होना असभव है । ऐसा भी सभव नही है कि सपूर्ण सस्कारो से एक स्मृति उत्पन्न हो जायगी और अत्यवर्ण को महायक बनेगी, क्योकि ऐसा माने तो परस्पर मे विरुद्ध ऐसे अनेक अर्थों के ज्ञानो से उत्पन्न हुए सस्कार भी एक स्मृति को प्रादुर्भूत कर सकेंगे । अर्थात् यदि भिन्न भिन्न गकार औकार आदि वर्णों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए सस्कार विभिन्न होकर भी एक स्मृति को उत्पन्न कर सकते हैं तो घट, पट आदि पदार्थों के ज्ञानो से उत्पन्न हुए सस्कार भो एक स्मृति को (सव घट पट आदि का एक खिचडी रूप स्मरण) उत्पन्न कर सकते हैं, ऐसा अनिष्ट प्रसग आता है । "गौ" इस पद मे गकार औकार और विसर्ग रूप तीन वर्ण है, इनमे अतिम विसर्ग वर्ण अन्य दो वर्णों की अपेक्षा को किये बिना ही अर्थ प्रतिपादन करता है ऐसा मानना भी उचित नही होगा, क्योकि इस तरह तो पूर्व के दो वर्णो का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरेगा । तथा दूसरा दोष यह आयेगा कि यदि विसर्ग अन्य वर्ण की अपेक्षा किये बिना अर्थ का प्रतिपादक है तो "घट" इस शब्द के अत मे स्थित विसर्ग भी सास्नादिमान गो अर्थ

प्रतिपादका सम्भवन्ति। अस्ति च गवादिशब्देभ्योऽर्थप्रतीति, तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तोऽर्थ-प्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युपगन्तव्य ।

श्रोत्रविज्ञाने चासौ निरवयवोऽक्रम प्रतिभासते, श्रवणव्यापारानन्तरमभिन्नार्थविभासिन्या सविदोऽनुभवात्। न चासौ वर्णविषया, वर्णाना परस्परव्यावृत्तरूपतयैकप्रतिभासजनकत्वविरोधात्। न चेय सामान्यविषया, वर्णत्वव्यतिरेकेणापरसामान्यस्य गकारौकारविसर्जनीयेष्वसम्भवात्, वर्णत्वस्य च प्रतिनियतार्थप्रत्यायकत्वायोगात्। न चेय भ्रान्ता, अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचर-स्यापि स्फोटस्यासत्त्वम्, अवयविद्रव्यादेरप्यसत्त्वप्रसगात्। नित्यश्चासौ स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः। अनित्यत्वे सकेतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात्कालान्तरे देशातरे च गोशब्दश्रवणात्ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात्,

---

का प्रतिपादक हो सकेगा ? क्योकि अन्तिम विसर्गादि वर्ण को अर्थ प्रतिपादन करने मे पूर्व वर्णो की अपेक्षा नही होती ऐसा स्वीकार कर लिया है। अत निश्चय होता है कि व्यस्त वर्ण या समस्त वर्ण अर्थ के प्रतिपादक नही हैं। किन्तु गो आदि शब्दो से अर्थ की प्रतिपत्ति होती अवश्य है अत अन्यथानुपपत्ति रूप प्रमाण से अर्थप्रतिपत्ति का हेतु वर्ण के अतिरिक्त स्फोट नामा पदार्थ है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

यह स्फोट श्रोत्र ज्ञान मे निरश एव अक्रम रूप प्रतिभासित होता है, क्योकि श्रवण व्यापार के अनन्तर एक अर्थ को अवभासन करने वाला ज्ञान अनुभव मे आता है, यह ज्ञान वर्ण विषयक (वर्ण को विषय करने वाला–वर्ण को जानने वाला) तो हो नही सकता, क्योकि परस्पर मे व्यावृत्त रूप होने से वर्णो को एक प्रतिभास के जनक मानने मे विरोध आता है। तथा इस ज्ञानको सामान्य विषयक भी नही कह सकते, क्योकि वर्णत्व के अतिरिक्त अन्य सामान्य का उन गकार औकार और विसर्ग मे अभाव ही है, और यह जो वर्णत्व सामान्य है उसमे प्रतिनियत अर्थ की प्रतीति कराने का अयोग है (सामर्थ्य नही है) एक अर्थ का अवभासन कराने वाला उक्त ज्ञान भ्रात भी नही है क्योकि अबाध्य है। इस तरह श्रोत्र ज्ञान मे जो निरशादि रूप प्रतीत होता है वह स्फोट है ऐसा समझना चाहिए। यदि इस अबाधित ज्ञान के विषयभूत स्फोट की सत्ता नही मानेगे तो अवयवी द्रव्य रूप गो आदि पदार्थों की सत्ता भी नही रहेगी। इस स्फोट को नित्य रूप स्वीकार करना चाहिए। क्योकि अनित्य मानने पर सकेत काल मे अनुभूत हुए स्फोट का उसी वक्त नाश हो जाने से कालातर मे और देशातर मे गो शब्द के श्रवण से सास्नादिमान गो अर्थ का बोध नही हो सकेगा इसका कारण यह

असकेतिताच्छब्दादर्थप्रतिपत्तेरसम्भवात् । सम्भवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद्गवार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, सकेतकरणवैयर्थ्यं चासज्येत ।

अत्र प्रतिविधीयते । प्रतीयमानात्पूर्ववर्णध्वसविशिष्टादन्त्यवर्णादर्थप्रतीतेरभ्युपगमादुक्तदोषाभावः। न चाभावस्य सहकारित्व विरुद्धम्, वृन्तफलसयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्दर्शनात्, दृष्ट चोत्तरसयोग कुर्वत्प्राक्तनसयोगाभावविशिष्ट कर्म, परमाण्वग्निसयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वसविशिष्टो रक्तनामुत्पादयन्प्रतीत ।

है कि सकेत रहित शब्द से (स्फोट से) अर्थ बोध होना असभव है । यदि संकेत रहित शब्द से पदार्थ की प्रतीति होती तो जिस द्वीप मे गाये नही होती ऐसे द्वीपातर से आये हुए व्यक्ति को गो शब्द सुनकर गो अर्थ का प्रतिभास होता ? किन्तु होता तो नही, तथा बिना सकेत के ही शब्द से अर्थ ज्ञान होता है तो सकेत करना (यह गो है इस पदार्थ को गो कहते है इत्यादि) भी व्यर्थ हो जाता है । अत नित्य व्यापक ऐसे स्फोट पदार्थ को मानना चाहिए जिससे कि अर्थ प्रतीति की सिद्धि होवे ?

जैन—अब यहा पर उपर्युक्त स्फोटवाद का निराकरण किया जाता है—स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति नही होती अपितु प्रतीयमान पूर्व वर्ण का ध्वस विशिष्ट जिसमे हुआ है ऐसे अतिम वर्ण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्धात है इससे उक्त दोष (पूर्व वर्ण का उच्चारण करना व्यर्थ होगा इत्यादि) नही आता । आपने कहा था कि पूर्व वर्ण तो नष्ट हो चुकते है वे किस प्रकार अत्यवर्ण के सहकारी होगे सो ऐसा नही है अभाव के सहकारी होने मे कोई विरोध नही है, देखा जाता है कि वृत और फल के सयोग का अभाव शाखा से अप्रतिबद्ध हुए गुरु भार वाले फल की गिरने रूप क्रिया को उत्पन्न करने मे सहायक होता है, तथा पूर्व सयोग का जिसमे अभाव हो चुका है ऐसा विशिष्ट कर्म (क्रिया) उत्तर सयोग को करता हुआ देखा जाता है । पूर्व रूप का जिसमे नाश हो गया है ऐसा परमाणु एव अग्नि का संयोग परमाणु मे रक्तता को उत्पन्न करता हुआ भी प्रतीत होता है अर्थात् मिट्टी आदि के कृष्ण वर्ण के परमाणु अग्नि सयोग को प्राप्त होते है तो वे अपने पूर्व के कृष्ण वर्ण का अभाव करके लाल वर्ण को उत्पन्न करते है सो लाल वर्ण के उत्पादन मे कृष्ण वर्ण का अभाव सहकारी होता ही है । अत अभाव मे भी सहकारीपना सिद्ध होता है ।

यद्वा, पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट तज्ज्ञानजनितसंस्कारसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णोऽर्थप्रतीत्युत्पादक । ननु सस्कारस्य कथ विषयान्तरे विज्ञानजनकत्वम्, इत्यप्यचोद्यम्, तद्भावभावितयार्थप्रतीतेरुपलब्धे ।

पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रणालिकयाऽन्त्यवर्णसहायता प्रतिपद्यते, तथाहि–प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च सस्कारो जन्यते । ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्वज्ञानाहितसस्कारसहितेन विशिष्ट सस्कारो जन्यते । एव तृतीयादावपि योजनीय यावदन्त्य सस्कारोऽर्थप्रतिपत्तिजनकान्त्यवर्णसहाय ।

अथवा शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तक्षयोपशमप्रतिनियमादविनष्टा एव पूर्ववर्णसविदस्तत्सस्काराश्चाऽन्त्यवर्णसस्कार विदधति । तथाभूतसस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वान्त्यो वर्ण. पदार्थप्रतिपत्तिहेतु ।

अथवा पूर्व वर्ण के ज्ञानका अभाव जिसमे है एव उस ज्ञान से उत्पन्न हुआ सस्कार जिसमे अपेक्षित है ऐसा अतिम वर्ण अर्थ के प्रतिभास को उत्पन्न करता है ।

शका—अन्य पदार्थ का सस्कार अन्य मे ज्ञान को किस प्रकार उत्पन्न करेगा ? अर्थात् पूर्व के गकारादि वर्ण के ज्ञान एव सस्कार गो रूप अन्य अर्थ मे ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकते है ?

समाधान—यह शका गलत है, "उसके होने पर होना" इस प्रकार से अर्थ प्रतिभास की उपलब्धि देखी जाती है अर्थात् पूर्व वर्ण के ज्ञान के सस्कार के होने पर ही अत्य वर्ण अर्थ ज्ञान का उत्पादक होता है, अत्य वर्ण से अर्थ प्रतीति हो रही अत: पूर्व वर्ण ज्ञान के सस्कार अवश्य हैं ऐसा निश्चय हो जाता है ।

पूर्व वर्ण के ज्ञान से उत्पन्न हुआ सस्कार प्रवाह रूप से अतिम वर्ण की सहायता को प्राप्त करता है, आगे इसी का स्पष्टीकरण करते है—पहले प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है उस ज्ञान से सस्कार उत्पन्न होता है, उस सस्कार से दूसरे वर्ण का ज्ञान होता है, पूर्व ज्ञान का प्राप्त हुआ है सस्कार जिसको ऐसा वह द्वितीय वर्ण ज्ञान विशिष्ट सस्कार को उत्पन्न करता है, इस प्रकार तीसरे आदि वर्ण एव ज्ञानादि मे भी लगाते रहना चाहिये जब तक कि अत्य संस्कार अर्थ प्रतिपत्ति का उत्पादक अतिम वर्ण को सहायक बने ।

अथवा शब्द से अर्थ की उपलब्धि होने मे निमित्तभूत ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम का प्रतिनियम इस तरह का होने के कारण अविनष्ट रूप ऐसी पूर्व वर्णो की

वाक्यार्थप्रनिपत्तावप्ययमेव न्यायोऽङ्गीकर्त्तव्यः। वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनं च सिद्धसाधनमेव। तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरन्वयव्यतिरेकाभ्या निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽसम्भव एव; तदभावेप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानुपपत्ते प्रक्षयात्। न खलु दृष्टादेव कारणात्कार्योत्पत्तावदृष्टकारणान्तरपरिकल्पना युक्तिः स(क्तिस)ङ्गता अतिप्रसगात्।

न चैववादिनो वर्णेभ्यः स्फोटाभिव्यक्तिर्घटते, तथाहि–न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति; उक्तप्रकारेण तेषा सामस्त्यासम्भवात्। नापि प्रत्येकम्, वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसंगात्, एकेनैव

सविद (ज्ञान) और उनसे होने वाले सस्कार ये सबके सब अत्य वर्ण के सस्कार को करते है, या उक्त प्रकार के सस्कार से प्रादुर्भूत हुई स्मृति की जिसको अपेक्षा है ऐसा अंतिम वर्ण गो आदि पदार्थ के प्रतिभास का हेतु बनता है। वाक्य से होने वाले अर्थ के प्रतिभास मे भी यही न्याय स्वीकार करना चाहिये। वैयाकरणवादी ने कहा था कि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति नही होती सो हमारे लिये सिद्ध साधन हो है, अर्थात् हम जैन भी वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होना नही मानते। इस प्रकार उक्त सहकारी कारण की जिसमे अपेक्षा है, ऐसे अतिम वर्ण से अर्थ की प्रतिपत्ति होना सिद्ध होता है, इसमे अन्वय व्यतिरेक से निश्चय होता है अर्थात् अत्यवर्ण के सद्भाव मे अर्थ प्रतिपत्ति होती है उसके अभाव मे अर्थ प्रतिपत्ति नही होती, अत स्फोट की कल्पना असभव ही है। क्योकि उक्त प्रकार से स्फोट के अभाव मे भी अर्थप्रतीति होना सभव है इसलिये स्फोट के साथ अर्थ प्रतिपत्ति की अन्यथानुपपत्ति करना अशक्य है। प्रत्यक्षभूत कारण से कार्य की उत्पत्ति होना सिद्ध होने पर उसमे अदृष्ट ऐसे अप्रत्यक्षभूत कारणातर की कल्पना करना युक्तिसगत नही है, अन्यथा अतिप्रसग उपस्थित होगा।

समस्त वर्ण से अर्थ प्रतीति होती है या व्यस्तवर्ण से इत्यादिरूप से प्रश्न करने वाले परवादी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होना मानते है किन्तु वह घटित नही होता, उस पक्ष मे भी हम आप से पूर्ववत् प्रश्न करेगे कि समस्त वर्ण स्फोट को व्यक्त करते है कि व्यस्त वर्ण। समस्त वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त नही कर सकते, क्योकि उक्त प्रकार से वर्णो का समस्तपना होना ही दुर्लभ है। प्रत्येक प्रत्येक व्यस्त वर्ण भी स्फोट को व्यक्त नही कर सकते, क्योकि यदि प्रत्येक वर्ण ही उसको व्यक्त कर लेगा तो अन्य अन्य वर्ण का उच्चारण व्यर्थ ही हो जाता है इसका भी कारण यह है कि एक वर्ण द्वारा ही इस स्फोट की सर्व रूप से अभिव्यक्ति हो चुकती है।

वर्णेन सर्वात्मनाऽस्याभिव्यक्तत्वात् । पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं तदुच्चारणमिति चेत्, न, तदुच्चारणेपि तत्प्रतिपत्तेरेवानुपगमात् । यथाहि "गौ" इति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात्प्रतीयते तथौ-कारोच्चारणात् 'औशनस' इति पदार्थोपि, तथा च 'गौ' इति पदादेव 'गौ, औशनस' इत्यर्थद्वय प्रतीयेत । सशयो वा स्यात्–'किमेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गाद्यनेकवर्णोच्चारण पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन, किं वानेकपदस्फोटाभिव्यक्तयेऽनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति ।

न च पूर्ववर्णैः स्फोटस्य सस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्जक इति न वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसस्कारस्वरूपानवधारणात् । न खलु तत्र तैर्वेगाख्य सस्कारो निर्वर्त्यते, तस्य

शका—अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति का व्यवच्छेद करने के लिये दूसरे वर्णो को उच्चारण करना पडता है ? अर्थात् केवल एक वर्ण का उच्चारण करने से अपने विवक्षित अर्थ को छोडकर अन्य अर्थ का प्रतिभास भी हो सकता है अत उस अन्य अर्थ के प्रतिभास को रोकने के लिये दूसरे वर्णो का उच्चारण करते हैं ?

समाधान—ऐसा नही है, दूसरे वर्ण का उच्चारण करने पर भी अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है, उसका व्यवच्छेद फिर भी नही हो सकेगा । कैसे सो बताते हैं—'गौ' इस पद का अर्थ जैसे गकार वर्ण के उच्चारण से प्रतीत होता है वैसे औकार वर्ण के उच्चारण से "औशनस" पदार्थ भी प्रतीत होता है, इस तरह से तो "गौ" इस एक पद से ही गो और औशनस (शुक्र) इन दो वस्तुका प्रतिभास होवेगा । अथवा सशय हो जायगा कि–पदातरके स्फोट का व्यवच्छेद करके एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये ग आदि अनेक वर्णों का उच्चारण किया गया है, या अनेक पदो के स्फोट को व्यक्त करने के लिये अनेक वर्णो का उच्चारण किया गया है । अभिप्राय यह है कि पूर्व वर्णादि का उच्चारण करने पर भी निश्चय नही हो सकेगा कि यह उच्चारण अनेक पदो के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है अथवा एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है ?

वैयाकरणवादी—पूर्व वर्णों द्वारा स्फोट का सस्कार हो जाने पर अतिम वर्ण उसका अभिव्यजक बनता है अत वर्णांतर का उच्चारण व्यर्थ नही ठहरता ?

जैन—ऐसा नही कह सकते, अभिव्यक्ति को छोडकर अन्य कोई सस्कार का स्वरूप अवधारित नही होता है अर्थात् अभिव्यक्ति ही सस्कार है । परवादी के यहा

मूर्तेष्वेव भावात्। नापि वासनारूप, अचेतनत्वात् स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोध । नापि स्थितस्थापक, अस्यापि मूर्त्त द्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य चाऽमूर्त्तत्वाभ्युपगमात्।

किंच, असौ सस्कार स्फोटस्वरूप, तद्धर्मो वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त, स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वानुषगात्। द्वितीयविकल्पोऽसम्भाव्य:, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्ते । स्फोटात्तस्याव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्याऽनित्यत्वानुषगात् स्वाभ्युपगमविरोधः। ततस्तद्धर्मस्य व्यतिरेके सम्बन्धानुपपत्ति तदनुपकारकत्वात्। तस्योपकाराभ्युपगमे व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पा-

---

सस्कार तीन प्रकार का माना है वेग सस्कार, वासना सस्कार और स्थितस्थापक सस्कार, इनमे से वेग नाम का सस्कार वर्णो द्वारा नही किया जा सकता, क्योकि उसको मूर्तिक द्रव्यो मे ही स्वीकार किया है। वासना नाम का सस्कार वर्ण द्वारा नही किया जा सकता क्योकि स्फोट अचेतन है और वासना चेतन रूप मानी जाती है। यदि स्फोट को चेतन स्वरूप स्वीकार करेगे तो स्व शास्त्र से विरोध आयेगा, क्योकि आपके शास्त्र मे स्फोट को अचेतन माना है। स्थितस्थापक सस्कार भी वर्ण द्वारा किया जाना अशक्य है क्योकि यह मूर्त्त द्रव्य मे पाया जाता है और स्फोट को आपने अमूर्त्त माना है।

तथा यह वर्ण ज्ञान से उत्पन्न हुआ सस्कार स्फोट स्वरूप ही है अथवा उसका धर्म है ? स्फोट स्वरूप ही है ऐसा कहना अयुक्त है क्योकि ऐसा कहने से स्फोट वर्ण द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा सिद्ध होता है और इससे स्फोट के नित्य मानने का व्याघात होता है। उक्त सस्कार स्फोट का धर्म है ऐसा द्वितीय विकल्प भी असभव है, क्योकि वह धर्म स्फोट से पृथक् है कि अपृथक् है ऐसे दो विकल्प होकर दोनो ही सिद्ध नही हो पाते। अर्थात् स्फोट से उक्त सस्कार रूप धर्म अप्रथक मानते है तो उसके करने पर स्फोट को किया ऐसा होता है और इससे स्फोट के अनित्यत्व प्रसग आने से स्वमत मे विरोध होता है अर्थात् स्फोट को नित्य मानने का व्याघात होता है। स्फोट से उक्त सस्कार रूप धर्म पृथक् है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो स्फोट के साथ उस धर्म का सम्बन्ध न होने से उसका अनुपकारक ही रहेगा, यदि उसे उपकारक माना जाय तो भी वह भिन्न है कि अभिन्न ऐसे विकल्प होकर दोनों विकल्पो मे वही पूर्वोक्त अनवस्थाकारी दोष उपस्थित होता है। तथा स्फोट से भिन्न ऐसा उक्त सस्कार रूप धर्म का सद्भाव मान लेने पर भी स्फोट का अनभिव्यक्त स्वरूप समाप्त नही होने से

नुषग., तत्रापि पूर्वोक्त एव दोषोऽनवस्थाकारी। न च व्यतिरिक्तधर्मतद्भावेपि स्फोटस्यानभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्। तत्त्यागे चाऽनित्यत्वप्रसक्ति।

किंच, पूर्ववर्णै. संस्कार स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियते, सर्वात्मना वा? यद्येकदेशेन, तदा तद्देशानामप्यतोर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयो पूर्वोक्तदोषानुषगः। सर्वात्मना तु संस्कारे सर्वत्र सर्वेषा ततोऽर्थप्रतिपत्ति स्यात्।

किंच, स्फोटसस्कार. स्फोटविषयसवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयन वा? यद्यावरणापनयनम्; तदैकत्रैकदावरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदा व्यापिनित्यतयोपलभ्येत, नित्यव्यापित्वाभ्यामपगता-

---

जैसे संस्कार के पहले अर्थ प्रतिपत्ति का हेतुपना उसमे घटित नही होता था वैसे संस्कार के पश्चात् भी घटित नही होगा, क्योकि स्फोट तो अनभिव्यक्त स्वरूप ही है। और यदि स्फोट का अनभिव्यक्त स्वरूप समाप्त होता है तो स्पष्ट रूप से स्फोट का अनित्यपना सिद्ध होता है। अर्थात् वर्ण ज्ञान जन्य सस्कार से स्फोट के अनभिव्यक्त स्वरूप का त्याग होता है इसका अर्थ स्फोट अनित्य है, अनित्य का यही लक्षण है कि जो अपने स्वरूप मे परिवर्त्तन करे।

दूसरी बात यह है कि पूर्व वर्णो द्वारा स्फोट का संस्कार किया जाता है वह एक देश से किया जाता है अथवा सर्व देश से किया जाता है? यदि एक देश से किया जाता है तो वह एक एक देश स्फोट से भिन्न है कि अभिन्न ऐसे दो पक्ष उपस्थित होकर उनमे वही पूर्वोक्त दोष आता है। स्फोट का सर्व देश से सस्कार किया जाता है ऐसा पक्ष माने तो सर्वत्र सभी प्राणियो को उससे अर्थ की प्रतीति होवेगी, क्योंकि स्फोट व्यापक एव नित्य है।

किंच, स्फोट सस्कार इस पद का क्या अर्थ है स्फोट के विषय मे सवेदन का उत्पादन करना या आवरण को दूर करना? यदि आवरण को दूर करना स्फोट सस्कार कहलाता है तो एक जगह एक बार आवरण के दूर होने पर सर्व देश मे अवस्थित व्यक्तियो द्वारा हमेशा के लिये नित्य व्यापी रूप से उसकी उपलब्धि हो सकेगी, क्योकि नित्य एव व्यापी रूप से जिसका आवरण दूर हो गया है ऐसे स्फोट का सर्वत्र सर्वदा उपलभ्य स्वभाव ही रहता है। अभिप्राय यह है कि स्फोट मे सदा एकसा स्वभाव रहता है इसलिये यदि उसमे उपलभ्य स्वभाव है तो वही हमेशा रहेगा

वरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात्। अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा न क्वचित्कदाचित्केनचिदप्युपलभ्येत। अथैकदेशेनावरणापगम. क्रियते, नन्वेवमावृतानावृतत्वेन सावयवत्वमस्यानुषज्येत। अथाऽविनिर्भागत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तदवस्थोऽशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसगः। यथा च निरवयत्वादेकत्रानावृत सर्वत्रानावृत तथैकत्रावृत सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत।

अथ स्फोटविषयसवेदनोत्पादस्तत्सस्कार., सोप्ययुक्त, वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्तिजननेपि सामर्थ्यासम्भवात्, न्यायस्य समानत्वात्।

अथ मतम्—पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसस्कारस्यात्मनोऽन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं पदादिस्फोटस्याभिव्यक्तेरयमदोष, तदप्यसगतम्, पदार्थप्रतिपत्तेरप्येव प्रसिद्धेः स्फोटपरिकल्पनार्थनक्यात्।

अत आवरण के दूर होते ही सर्वत्र सर्वदा उसकी उपलब्धि होने लगेगी अर्थात् सभी को सर्वदा अर्थ प्रतीति होने का अतिप्रसग आयेगा। यदि स्फोट में अनुपलभ्य स्वभाव मानते है तो कही पर कभी भी किसी पुरुष को उसकी उपलब्धि नही हो सकेगी ? क्योकि सदा सर्वत्र एकसा स्वभाव रूप है। यदि कहा जाय कि एक देश से ही स्फोट के आवरण का अपगम किया जाता है तो आवृत और अनावृत ऐसे स्फोट के अनवय हो जाने से निरश मानने का सिद्धात बाधित होता है। यदि निर्विभाग होने से स्फोट को एक जगह अनावृत होने से सर्वत्र अनावृत मानते हैं तो वही दोष आता है कि सर्व देश मे अवस्थित हुए पुरुषो द्वारा स्फोट उपलब्ध होने से सभी को अर्थ प्रतीति होने का प्रसग आता है। तथा निरश होने से स्फोट एकत्र अनावृत है तो सर्वत्र अनावृत ही रहता है उस प्रकार कदाचित् एक जगह आवृत है तो सर्वत्र आवृत है इस तरह की कल्पना सभावित होने पर वह स्फोट किंचित् भी उपलब्ध नही होवेगा और इसलिये अर्थ प्रतीति भी किंचिन्मात्र नही हो सकेगी।

स्फोट के विषय मे सवेदन का उत्पाद होना स्फोट सस्कार कहलाता है ऐसा प्रथम पक्ष कहें तो भी अयुक्त है, क्योकि जिस प्रकार वर्णो मे अर्थ प्रतीति को उत्पन्न करने को सामर्थ्य आप नही मानते उस प्रकार उनमे स्फोट प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी नही मान सकते, न्याय तो सर्वत्र समान होना चाहिये, यदि अर्थ प्रतीति की सामर्थ्य नही तो स्फोट प्रतीति की भी नही।

वैयाकरणवादी—पूर्व वर्ण के श्रवण ज्ञान से उत्पन्न हुआ है सस्कार जिसको ऐसे पुरुष के अत्य वर्ण के श्रवण ज्ञान के अनन्तर पदादि स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाने से यह दोष नही आता ?

चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यासम्भवाच्च स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्ति स्फोटोऽस्तु । 'स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्' इति स्फोटश्चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्ट पदस्फोट । वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः इति । भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्थाभिधानाऽविरोधात् ।

वायवः स्फोटाभिव्यञ्जका, इत्यप्ययुक्तम् शब्दाभिव्यक्तिवत्स्फोटाभिव्यक्तेस्तेभ्योऽनुपपत्ते । तेषा च व्यञ्जकत्वे वर्णकल्पनावैफल्यम्,'स्फोटाभिव्यक्तावर्थप्रतिपत्तौ चामीषामनुपयोगात् । स्थिते च स्फोटस्य वर्णवायूत्पादात्पूर्वं सद्भावे वर्णाना वायूना वा व्यजकत्वं परिकल्प्येत । न चास्य सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रतिपन्न । यच्चोक्तम्—

जैन—यह कथन भी असगत है, इस तरह तो अर्थ प्रतिपत्ति भी हो सकती है अत स्फोट की कल्पना करना व्यर्थ ही हो जाता है। तथा चैतन्य आत्मा को छोड कर अन्य वस्तु मे अर्थ प्रकाशन की सामर्थ्य हो असभव है इसलिये वही विशिष्ट शक्ति वाला चैतन्य आत्मा "स्फोट" है ऐसा मान लेवे ? "स्फुटति प्रकटी भवति अर्थ अस्मिन् इति स्फोट चिदात्मा" इस प्रकार निरुक्ति सिद्ध अर्थ भी उपलब्ध होता है। पदार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना पदस्फोट कहलाता है। वाक्यार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना वाक्य स्फोट कहलाता है, ऐसा मानना चाहिये। भाव श्रुतज्ञान से परिणत आत्मा को इस तरह कहने मे कोई विरोध नही आता।

स्फोट के अभिव्यजक सस्कार न होकर वायु है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि जैसे शब्द को वायु अभिव्यक्त नही कर सकती वैसे स्फोट को भी अभिव्यक्त नही कर सकती। दूसरी बात यह भी है कि वायु द्वारा स्फोट का अभिव्यक्त होना मानने पर वर्ण को स्वीकार करना व्यर्थ ठहरता है, क्योकि स्फोट के अभिव्यक्ति से अर्थ की प्रतीति हो जाने पर वर्णों की कोई उपयोगिता नही रहती है। तथा वर्ण और वायु के उत्पाद के पहले स्फोट का सद्भाव सिद्ध होता तो वर्ण अथवा वायु उसके अभिव्यजक माने जाते, किन्तु किसी भी प्रमाण से स्फोट का सद्भाव ज्ञात नही होता है।

इस स्फोट के विषय मे भर्तृहरि का कहना है कि—नाद से (पूर्व वर्ण या वायु से) प्राप्त हो गया है सस्कार जिसमे, तथा अतिम ध्वनि के साथ (अतिम वर्ण

"नादेनाऽहितबीजायामन्त्ये(न्त्ये)न ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवभासते ।।"

[वाक्यप० १।८५] इति,

तदप्येतेनापाकृतम्, नित्यत्वमन्तरेणामपि चार्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

यच्च श्रवणव्यापारानन्तरमित्याद्युक्तम्, तदप्यसारम्, घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्यैकस्याध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादभिन्नार्थव्यवस्था, अन्यथा दूरादविरलानेकतरुषु एकप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । न चास्य बाध्यमानत्वान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्, स्फोटप्रतिभासेपि बाध्यमानत्वस्य प्रदर्शितत्वात् । न खलु निरवयवोऽक्रमो नित्यत्वादिधर्मोपेतोऽसौ क्वचिदपि प्रत्ययेऽवभासते ।

या वायु के साथ) जिसमे समस्त रूप से परिपाक हो चुका है ऐसी बुद्धि मे शब्द अर्थात् स्फोट प्रतिभासित होता है । इत्यादि । सो यह कथन भी पूर्वोक्त रीत्या निराकृत हुआ समझना चाहिए । क्योकि नित्य स्फोट या नित्य शब्द के बिना भी अनित्य रूप शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति भलो प्रकार से हो जाती है ऐसा हम जैन सप्रमाण सिद्ध कर चुके है ।

और जो कहा था कि—श्रवण व्यापार के अनन्तर एक अर्थ बुद्धि में अवभासित होता है वह स्फोट है, इत्यादि सो वह भी असार है, क्योकि घटादि शब्दो मे परस्पर मे व्यावृत्त एव काल की निकटता से विशिष्ट ऐसे वर्ण ही अर्थ के प्रकाशक होते हुए प्रत्यक्ष से प्रतीत होते है उक्त वर्णो के अतिरिक्त स्फोट रूप कोई एक पदार्थ अर्थ प्रकाशन करता हो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान के गोचर ही नही है । तथा ज्ञान मे एक अभिन्न अर्थ प्रतिभासित होने मात्र से कोई अभिन्न एक अर्थ की व्यवस्था नही हुआ करती है, यदि सर्वथा ऐसा माना जाय तो अविरल रूप से स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक अभिन्न रूप प्रतिभासित होने से उनको भी एक मानना होगा । वृक्षो मे होने वाला एकत्व का प्रतिभास बाध्यमान है अत. उन वृक्षो मे एकत्व स्थापित नही किया जाता, ऐसा कहो तो स्फोट के प्रतिभास मे भी बाध्यमानत्व दिखला चुके है । आपका नित्य निरंश आदि धर्म युक्त ऐसा यह स्फोट किसी भी ज्ञान मे अवभासित नही होता है ।

कथ चैव शब्दस्फोटवद्गन्धादिस्फोटोप्यर्थप्रतीतिनिमित्त न स्यात् ? यथैव हि शब्द कृत-सकेतस्य क्वचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुस्तथा गन्धादिरप्यविशेषात् । 'एवविधमेक गन्ध समाघ्राय स्पर्शं च सस्पृश्य रस चास्वाद्य रूप चालोक्य त्वयैवविधोर्थ प्रतिपत्तव्य' इति समयग्राहिणा पुन क्वचित्ता-दृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धो गन्धादिविशेषाभिव्यगचो गन्धादिस्फोटोऽस्तु [वर्ण] विशेषाभिव्यगचपदादिस्फोटवत् ।

एतेन हस्तपादकरणमात्रिकाङ्गहारादिस्फोटोप्यापादितो द्रष्टव्यः। पदादिस्फोट एव, न तु स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यगचो हसपक्ष्मादिर्हस्तस्फोट, विकुट्टितादिलक्षण पादस्फोट., हस्तपाद-

---

यदि शब्द का स्फोट अर्थ प्रतीति का निमित्त है ऐसा स्वीकार करते है तो गध का स्फोट, रसका स्फोट आदि भी क्यो न स्वीकार किये जाय ? क्योकि जिस प्रकार शब्द जिसने सकेत को जाना है ऐसे पुरुष के किसी पदार्थ मे ज्ञान का हेतु होता है उस प्रकार गधादि भी ज्ञान का हेतु होता है कोई विशेषता नही है। जैसे शब्द या स्फोट मे सकेत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ है वैसे गधादि मे भी सकेत होता है कि—इस प्रकार के एक गध को सू घकर, स्पर्श को छूकर, रसको चखकर और रूप को देखकर तुम ऐसे पदार्थ को जानना; इस तरह किसी पुरुष ने सकेत कराया पुन किसी स्थान पर उस उस प्रकार के गध रस आदि को प्राप्त कर उस प्रकार के अर्थ का निर्णय करते ही है, इसलिये गधादि विशेष अभिव्यग्य ऐसा गधादि स्फोट भी स्वीकार करना चाहिये, जैसे कि वर्ण विशेष अभि-व्यग्य पदादि स्फोट स्वीकार करते हो ?

इसी तरह आप को हस्तस्फोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, अगहारस्फोट आदि को भी मानने का प्रसग आता है, उसका प्रतिपादन भी हमने गधादिस्फोट के समान कर लिया समझना चाहिए।

वैयाकरणवादी—केवल पदादिस्फोट ही सिद्ध होता है, न कि अपने अवयवो की क्रिया विशेष से अभिव्यग्य होने वाले हसपक्ष्मादिरूप हस्तस्फोट (हस के आकार रूप हाथ को बनाना) या विकुट्टित लक्षण वाला पादस्फोट (पैरो को घुमाना) हस्त तथा पादका एक साथ व्यापार होने रूप करणस्फोट, दो करण रूप मात्रिका स्फोट, मात्रिका समूह रूप अगहार स्फोट । अभिप्राय यह है कि ये हस्तादि स्फोट केवल स्फोट नाम से भले ही कहे जाते हो किन्तु शब्दस्फोट मे जैसा स्फोट का लक्षण पाया जाता है वैसा इनमे नही पाया जाता ।

समायोगलक्षण करणस्फोट., करणद्वयरूपो मात्रिकास्फोट', मात्रिकासमूहलक्षणोऽगहारस्फोटो वेति मनोरथमात्रम्, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यगचस्य स्वाभिनेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात् । तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटाभिनिवेशो दूरत परित्याज्य आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् । तत शब्दस्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धन प्रेक्षादक्षै प्रतिपत्तव्यम् । किन्तु पद वाक्य वा तन्निबन्धनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् ।

जैन—यह कथन भी मनोरथ मात्र है, अपने अवयव द्वारा अभिव्यग्य करने योग्य ऐसे ये हस्तादि स्फोट भी अपने अभिनेय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने हेतु है जैसे कि शब्द स्फोट अर्थ की प्रतीति कराने मे हेतु है, अत इन स्फोटो का निराकरण अशक्य है अर्थात् यदि शब्द स्फोट या पदादि स्फोट को स्वीकार करते है तो गध स्फोटादि एव हस्तस्फोटादि को भी स्वीकार करना होगा (जो कि आपको अनिष्ट है) यदि हस्तादि स्फोट का निराकरण करना ही है तो शब्द स्फोट की मान्यता को दूर से ही छोड देना चाहिये । आप इन गधादि स्फोटो के पक्ष मे जो भी आक्षेप (शका) करेगे वही आक्षेप शब्द स्फोट के पक्ष मे आपतित होगे तथा उन आक्षेपो का जो समाधान आप देगे वही समाधान गधादि स्फोट के पक्ष मे रहेगा इस तरह उभय पक्ष मे समान ही शका समाधान है । कोई विशेषता नही है । इस प्रकार शब्द स्फोट के स्वरूप का विचार करने पर वह विचार के अयोग्य प्रतीत होता है अत शब्द स्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण नही है ऐसा बुद्धिमानो को निश्चय करना चाहिये । अतः शब्द स्फोट अर्थ की प्रतीति नही कराता अपितु पद एव वाक्य अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा सुनिश्चित प्रमाण से सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ—शब्द स्फोट का खडन करते हुए जैन ने कहा कि अर्थ की प्रतीति शब्द द्वारा न होकर अदृश्य ऐसे स्फोट द्वारा ही होती है तो गधादि अर्थ की प्रतीति के लिये गधादि स्फोट भी मानने होगे एव क्रिया विशेष की प्रतीति के लिये हस्तादि स्फोट भी मानने होगे ? इस पर परवादी ने कहा कि अवयव क्रिया का अनुकरण करना ही हस्त आदि स्फोट है अत इनको मानना व्यर्थ है ? किन्तु यह कथन शब्द विषयक स्फोट मे भी घटित होता है, शब्द का अर्थ ही स्फोट है अन्य कुछ नही इत्यादि । यहा पर हस्तस्फोट आदि का जो वर्णन किया है वे स्फोट तो केवल शरीर की क्रिया विशेप है, नृत्य करते समय हस्त पादादिका जो विचित्र प्रकार से घुमाना

होता है उसकी अपेक्षा लेकर समझाया है कि यदि शब्द स्फोट की कल्पना करे तो इन स्फोटों की कल्पना भी करनी होगी। इस स्फोट नामा वस्तु की कल्पना भर्तृहरि आदि ने की है। यहा प्रथम तो इन परवादियो के मतव्य पर विचार करेंगे फिर जैनाचार्य का निर्दोप कथन प्रस्तुत करेगे।

वक्ता के मुख से वर्णो का क्रमश उच्चारण होकर श्रोता के कर्ण जन्य ज्ञान का उत्पाद तथा चितन होने तक चारो चीजें होती हैं—नाद, स्फोट, ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप। जैसा कि कहा है—

नादै राहित वीजाया मन्येन ध्वनिना सह।
आवृत्त परिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥१॥

[वाक्य १।८४।]

अर्थ—नाद द्वारा प्राप्त हुआ है सस्कार जिसमे ऐसी बुद्धि मे ध्वनि के साथ पूर्ण उच्चारण होने पर शब्द अवधारित होता है। (पहले इसी प्रकरण मे मूल सस्कृत मे यह श्लोक आया है किन्तु उसमे पाठ भेद है) यहा पहले नाद फिर सस्कार और फिर ध्वनि होती है ऐसा बताया है। श्रोता जिसकी सहायता से वर्ण ध्वनियो को ग्रहण करने मे समर्थ होता है वह नाद शब्द का वाच्य है, नाद के समकाल मे ही स्फोट नामा पदार्थ अनुभव मे आता है, यह स्फोट नित्य एव एक है और नाद द्वारा प्रगट होता है—

ग्रहण ग्राह्ययो. सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यग्य व्यजक भावेन तथैव स्फोट नादयो· ॥

[वाक्य १।९७।]

अर्थ—जिस प्रकार ग्रहण और ग्राह्य मे स्वत· सिद्ध योग्यता है उसी प्रकार स्फोट और नाद मे व्यग्य-व्यजक भाव सम्बन्ध है, स्फोट व्यग्य है और नाद उसका व्यजक है। नाद से नित्य एक ऐसा स्फोट प्रगट होता है। उसका स्वरूप—

"अनेक व्यक्त्यभिव्यग्या जाति. स्फोट इति स्मृता ॥

[वाक्य १।९३]

अनेक व्यक्ति रूप अभिव्यग्य होने वाली जो जाति है वह स्फोट कहलाता है। शब्द का श्रवण पूर्ण होते ही हमे जो उसके अर्थ की या भाव ज्ञान की तात्कालिक उपलब्धि होती है उसे ही स्फोट कहते है। नाद और स्फोट के लिए ऐसा भी कह सकते है कि नाद बाह्येन्द्रिय का विषय है और सहसा उद्भूत स्फोट प्राणचेतना का विपय है। स्फोट स्वय एक है किन्तु उसका अभिव्यजक नाद (शब्द वर्ण) जब स्वय उत्पन्न होकर उसको प्रगट करता है तब भाव ज्ञान की उपलब्धि होना रूप स्फोट अनुभव मे आता है। स्फोट के अनन्तर ध्वनि नामकी प्रक्रिया होती है "स्फोटादेव उपजायते" स्फोट से होने वाली ये ध्वनिया अर्थ विस्तार करती है। स्फोट अर्थ के चित्र के समान है और ध्वनिया अर्थ के चिंतन के समान है। बुद्धि मे जो अर्थ है वह "स्वरूप" नामा चौथा चरण है। इस प्रकार ये चार प्रक्रिया शब्द और अर्थ के बीच मे हुआ करती है। इनमे से यहा पर स्फोट का विशेष विचार-किया है।

अब जैन सिद्धातानुसार उपर्युक्त परवादी के कथन पर विमर्श करते है, शब्द पुद्गल नाम के दृश्य एव जड पदार्थ की पर्याय (अवस्था) है, जो कुछ काल तक ठहरती है। विशेष प्रयोग द्वारा अधिक काल तक भी ठहर सकती है। शब्द के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक, भापात्मक अभाषात्मक, ततवितत घन सुबिर आदि अनेक भेद पाये जाते है जिनका राजवार्त्तिक आदि ग्रन्थो मे वर्णन पाया जाता है। पुद्गल के अनेक भेदो मे भाषा वर्गणा नाम का एक भेद है। यही भापा वर्गणा सब प्रकार के शब्दो को उत्पत्ति उपादान है। शब्द के निर्माण मे उपादान तो एक भाषा वर्गणा ही है किन्तु निमित्त अनेक प्रकार के है। यहा प्रकृत मे मुख विनिर्गत शब्द की चर्चा है जो भाषात्मक एव अक्षरात्मक है। इसका उपादान एक भाषा वर्गणा होते हुए भी निमित्त कारण तालु, कठ आदि अनेक है। शब्द मे रूपादि गुण यद्यपि पुद्गल होने के नाते रहते है किन्तु वे अव्यक्त रूप से रहते हैं। प्रतिकूल वायु से उपघात होना, यन्त्र द्वारा ग्रहण मे आ जाना इत्यादि प्रक्रिया से शब्द का मूर्त्तिकपना सहज ही सिद्ध होता है अत. उसको अमूर्त्त मानने का परवादि का सिद्धात असत्य है। ध्वनि और नाद ये दोनो तो शब्द के ही नामातर है जिसको परवादी ने शब्द से पृथक् तत्व रूप स्वीकार किया है। भापा वर्गणा सर्वत्र व्यापक है उसका अस्तित्व भी सदा रहता है। प्रतीत होता है कि इसी वजह से परवादी शब्द को नित्य एव व्यापक मान बैठे हैं। क्योकि मिथ्यात्व के उदय से वस्तु स्वरूप का विपर्यास हुआ ही करता है। यहा केवल भाषा

रूप अक्षरात्मक शब्द की चर्चा है, इसके अकारादि स्वर और ककारादि व्यजन रूप भेद है। जब कोई व्यक्ति मुख से शब्द का उच्चारण करने के लिये प्रयत्नशील होता है तत्काल ही वही पर स्थित भाषा वर्गणा उन अकारादि शब्द रूप परिणमन कर जाती है और श्रोता के कर्ण तक पहुचती है। भाषा वर्गणा का शब्द रूप परिवर्त्तन होकर कर्ण तक पहुचने मे जो प्रक्रिया होती है शायद उसी को भर्तृहरि ने ध्वनि वाद इत्यादि नाम दिये है। स्फोट का जो वर्णन वे लोग करते हैं वह काल्पनिक है। हा जो लोग उसको भाव ज्ञान रूप मानते है उस पर विचार करने पर आभास होता है कि शब्द को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान (सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष) होता है जो कि शब्द श्रवण के पहले आत्मा मे लब्धि रूप अवस्थित रहता है उसको स्फोट नाम से माना है क्या ? मिथ्यात्व के उदय से स्वरूप विपर्यास, कारण विपर्यास, एव भेदा भेद होते ही हैं, जैसे द्रव्य दृष्टि से नित्य धर्म को देखकर साख्य सपूर्ण वस्तु को नित्य धर्मात्मक ही मान बैठे है। पर्याय दृष्टि से अनित्य धर्म को देखकर बौद्ध सपूर्ण वस्तु को क्षणिक ही मान बैठे है। ऐसे ही शब्द के विषय मे विपर्यास हुआ है। अस्तु। अत युक्ति और प्रामाणिक आगम से यही सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की अवस्था विशेष है कुछ समय तक या प्रयोग विशेष अधिक काल तक रहने वाली पर्याय है इस शब्द मे ऐसी ही वाचक शक्ति है कि वह वाच्यार्थ का ज्ञान कराती है। स्फोट के विषय मे वैयाकरणवादी का अधिक आग्रह देखकर आचार्य ने समझाया कि अकारादि वर्ण और पद एव वाक्य ये ही घट पट आदि अर्थ के वाचक है ये ही अर्थ की प्रतीति कराने मे हेतु हैं। वक्ता के मुख से शब्द विनिर्गत होकर श्रोता तक पहुचते है उससे श्रोता को ज्ञान हो जाता है इसके बीच मे तीसरी कोई चीज नही है, नाद ध्वनि, स्फोट आदि सब मनगढत कल्पनाये है। हा यदि शब्द सुनकर जो अर्थ प्रतिभास होता है जो कि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम स्वरूप है उसे स्फोट नाम देते है तो बात अलग है तब तो यही निरुक्ति होगी कि "स्फुटति प्रकटी भवति अर्थ अस्मिन् इति स्फोट चिदात्मा" अर्थात् जिसमे अर्थ स्फुट होता है वह आत्मा स्फोट है अथवा उसमे अभिन्न रूप से अवस्थित श्रुत ज्ञान स्फोट है। अत. अकारादि वर्ण, देवदत्तादि पद एव वाक्य ये पुद्गल पर्याय रूप शब्द, घट, पट, गो, जीव, मनुष्य, पशु आदि चेतन अचेतन अर्थ, और आत्मा मे स्थित ज्ञान इन तीनो को छोडकर चौथा स्फोट नाम का कोई भी पदार्थ नही है ऐसा दृढ निश्चय हुआ।

अंत मे एक प्रश्न रह जाता है कि—मुख से निकले हुए शब्द क्रमश. उत्पन्न होकर विनष्ट होते है तो श्रोता को अक्षर समूह से होने वाला ज्ञान कैसे होगा ? इस जटिल समस्या को प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही सुन्दर रीति से सुलझाया है कि—"पूर्व वर्ण विज्ञानाभाव विशिष्टः तज्ज्ञानजनित सस्कार सव्यपेक्षो वा अत्यवर्णो अर्थ प्रतीत्युत्पादक"। अथवा "पूर्व वर्णज्ञान प्रभव संस्कारश्च प्रणालिकया अंत्यवर्ण सहायता प्रतिपद्यते"। यद्वा शब्दार्थोपलब्धि निमित्त क्षयोपशम प्रतिनियमादविनष्टा एव पूर्व वर्ण सविदस्तत्सस्काराश्च अत्यवर्ण सस्कार विदधति इति। वर्ण क्रमशः उत्पन्न होकर नष्ट होते है किन्तु उनका विज्ञान जन्य सस्कार नष्ट नही होता अतः अतिम वर्ण को वह संस्कार सहायता पहुचाता है और उससे अर्थ का प्रतिभास होता है। या पूर्व वर्ण ज्ञान से संस्कार होता है और वह प्रवाह क्रम से अतवर्ण को सहायक होता है। अथवा शब्द और अर्थ की उपलब्धि मे निमित्तभूत क्षयोपशम के प्रतिनियम से अविनष्ट ऐसे जो पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान है एव तज्जनित सस्कार हैं वे अतिम वर्ण के सस्कार को करते हैं और उससे अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् शब्द और अर्थ को जानने का ज्ञानावरण को क्षयोपशम आत्मा मे मौजूद रहता है अत क्रमशः वर्ण पद एव वाक्य को सुनकर अर्थ बोध हो जाता है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि शब्द और अर्थ बोध के बीच मे तीसरा स्फोट नामका कोई पदार्थ नही है। यदि इसे मानना है तो 'स्फुटति प्रतिभासते अर्थ अस्मिन् इति आत्मा, जिसमे अर्थ प्रतिभासित होता है ऐसा चैतन्य आत्मा या उसका ज्ञान ही स्फोट है ऐसा मानना चाहिए। इस तरह स्फोटवाद का निरसन हो जाता है।

॥ स्फोटवाद समाप्त ॥

स्फोटवाद के निरसन का सारांश

वैयाकरणवादी—पदार्थ वाच्य होते है इनमे कोई विवाद नही किन्तु वर्णों को उनका वाचक मानना अयुक्त है, वाचक तो पद वाक्यादि का स्फोट होता है, वर्णों के द्वारा प्रगट होने वाला नित्य व्यापक ऐसा जो अर्थ है वह स्फोट कहलाता है। वर्णों को वाचक माने तो व्यस्त वर्ण वाचक है या समस्त वर्ण वाचक है ? प्रथम पक्ष कहो तो एक गकार से भी अर्थ का ज्ञान होने का प्रसग आता है द्वितीय पक्ष कहो तो वर्णों का समुदाय असभव है क्योकि क्रम से उत्पन्न और नष्ट होने वाले वर्णों का समूह होना अशक्य है। अतिम वर्ण पूर्व वर्णों की अपेक्षा लेकर अर्थ का वाचक होता है ऐसा कहना भी सुशोभित नही होता क्योकि ऐसा मानने से ग आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि कहा जाय कि पूर्व वर्णों के ज्ञान से उत्पन्न हुए जो सस्कार है उनकी सहायता से अतिम वर्ण अर्थ का वाचक होता है तो यह भी अयुक्त है क्योकि जिस तरह घट के ज्ञान मे उत्पन्न हुआ सस्कार पट की प्रतीति नही कराता, उसी तरह पूर्व वर्ण का सस्कार अतिम वर्ण का सहायक नही हो सकता। इस प्रकार व्यस्त वर्ण या समस्त वर्णो से अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध नही होता। अत· मानना होता है कि अर्थ की प्रतीति मे हेतु एक स्फोट नामक तत्त्व है। यह स्फोट नित्य, व्यापक एव एक रूप है।

जैन—यह कथन ठीक नही, सुनने मे आया हुआ जो पूर्व वर्ण है उससे विशिष्ट ऐसा अन्तिम वर्ण, अर्थ ज्ञान को कराता है अत पूर्व वर्ण का उच्चारण व्यर्थ होगा इत्यादि दोष नही आते हैं।

पूर्व वर्ण नष्ट होने से वह अन्तिम वर्ण का सहायक नही हो सकता ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि हम तो अभाव को भी सहकारी मानते है। अथवा ऐसा भी कह सकते है कि पूर्व वर्ण से उत्पन्न हुए ज्ञान के सस्कार वश अन्त वर्ण अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार पद और वाक्य मे समझना चाहिये। वर्ण, पद, वाक्य से अर्थ बोध होने मे क्षयोपशम भी कारण है, अर्थात् द्रव्यत्व की अपेक्षा पूर्व वर्णों के ज्ञान और उनसे होने वाले सस्कार दोनो अविनष्ट हैं अत अन्त वर्ण मे सस्कार करते हैं। पूर्व वर्ण स्फोट का सस्कार करते है और अतिम वर्ण स्फोट को व्यक्त करता है, ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि स्फोट का अभिव्यक्ति के सिवाय दूसरा सस्कार क्या हो

सकता है। यदि संस्कार से मतलब स्फोट विषयक ज्ञान से है, सो भी ठीक नहीं है, क्योकि वर्ण अर्थ का ज्ञान नही करा सकते वैसे ही स्फोट का ज्ञान भी उत्पन्न नही कर सकते। वर्ण पद ग्रादि ग्रौर उनके उच्चारण के ग्रनन्तर होने वाली ग्रर्थ प्रतीति इन दोनो को छोडकर तीसरा स्फोट नामक तत्त्व किसी प्रकार भी प्रतीत नही होता है, ग्रतः उसकी कल्पना करना निरर्थक है। जब दृष्ट कारण से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है तो अदृष्ट कारणातर की कल्पना करना बुद्धिमत्ता नही है। इस प्रकार वैयाकरणो द्वारा मान्य एक, व्यापक, नित्य स्फोट को परिकल्पना सिद्ध नही होती है।

।। समाप्त ।।

२०

वाक्यलक्षणविचारः

किं पुन पद वाक्य वा यन्निबन्धनाऽर्थप्रतिपत्तिरित्यभिधीयते ? वर्णाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्षः समुदाय पदम् । पदाना तु तदपेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यमिति । नन्वेव कथमिद साधनवाक्य घटते–'यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घट , सश्च शब्द ' इति ? 'तस्मात्परिणामी' इत्याकाङ्क्षणात्साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः, इत्यप्यचोद्यम्, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्ते । निराका-

---

वैयाकरणवादी के स्फोटवाद का निराकरण करने के अनतर प्रश्न होता है कि पद एव वाक्य किसे कहते है जिसके द्वारा कि अर्थ की प्रतीति होती है ? सो यहा उनका निर्दोष लक्षण प्रस्तुत करते हैं—"वर्णाना परस्परा पेक्षाणा निरपेक्ष समुदाय पदम् । पदाना तु तदपेक्षाणा निरपेक्ष समुदाय वाक्यम्" अर्थात् परस्पर मे सापेक्ष किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णों का जो समुदाय है उसको पद कहते है, तथा वाक्यातर गत पद से तो निरपेक्ष और परस्पर पदो मे सापेक्ष ऐसे पद समूह का नाम वाक्य है ।

शका— निरपेक्ष पदो का समुदाय वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण करने पर साधन वाक्य किस प्रकार घटित होगा ? क्योकि जो सत् है वह सर्व परिणामी (क्षणिक) होता है क्योकि वह सत् रूप है, जैसे घट है, शब्द भी सत् है, इस प्रकार उपनय वाक्य तक अनुमान प्रयोग करने पर भी "इसलिये परिणामी है" इस वाक्यातर की अपेक्षा रहती ही है । अत जैन को अनिष्ट ऐसे सापेक्ष पदो का समूह ही वाक्य रूप सिद्ध होता है ?

ङ्क्षत्व हि प्रतिपत्तृधर्मो वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुन. शब्दधर्मस्तस्याचेतनत्वात्। स चेत्प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमित्यपरमाकाङ्क्षेत्? पक्षधर्मोपसहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायाम् निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसगान्न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्ति कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्व तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम्।

एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद्वाक्यत्व प्रतिपादित प्रतिपत्तव्यम्।

समाधान—यह शका ठीक नही, किसी प्रतिपत्ता पुरुष को उक्त अग्रिम वाक्य की अपेक्षा नही भी होती। निराकाक्षत्व धर्म (अपेक्षा नही होना) तो प्रतिपत्ता का धर्म है (जानने वाले चेतन आत्मा का) उस धर्म का वाक्यो मे आरोप मात्र किया जाता है, यह धर्म शब्द का नही है क्योकि शब्द तो अचेतन है। अब वह प्रतिपत्ता पुरुष उतने साधन वाक्य मात्र से साध्यार्थ को ज्ञात कर लेता है तो अन्य वाक्य की क्यो अपेक्षा करेगा ? अर्थात् नही करेगा। यदि पक्ष धर्मोपसहार स्वरूप उपनय पर्यंत के साधन वाक्य से अर्थ प्रतीति हो जाने पर भी निगमन वाक्य की अपेक्षा होती ही है ऐसा आग्रह करेगे तो निगमन तक पच अवयव स्वरूप वाक्य से अर्थ प्रतीति होने पर भी पुन वाक्यातर की अपेक्षा मानना होगी और इस तरह किसी भी वाक्य मे निराकाक्षत्व सिद्ध नही होगा, फिर तो कोई वाक्य ही नही कहलायेगा ? क्योकि आगे आगे वाक्यातर की अपेक्षा बढती ही जायगी, और इस तरह किसी भी वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति नही हो सकेगी। इसलिये जिस प्रतिपत्ता पुरुष को जितने परस्पर सापेक्ष पदो के समुदाय मे निराकाक्षत्व होता है उस पुरुष को उतने मे ही वाक्य की सिद्धि हो जाती है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य प्रकार का भी वाक्य होता है, वह इस प्रकार होता है—प्रकरण आदि से जो गम्य होता है ऐसे पदातर की जिसमे अपेक्षा रहती है एव प्रकरण बाह्य पद की अपेक्षा जिसमे नही होती ऐसे पद मात्र को अथवा ऐसे पद समूह को भी वाक्य कहते है, जैसे 'सत्यभामा' यह एक पद है तो इसमे प्रकरण प्राप्त तिष्ठति या भवति पद स्वय कल्पना से मानकर उससे वाक्यार्थ निकाला जाता है। अत पूर्वोक्त वाक्य लक्षण मे इस वाक्य का भी सग्रह हुआ समझना चाहिये।

यच्चोच्यते—

"आख्यातशब्द' सघातो जाति' सघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयव। शब्द क्रमो बुद्धयऽनुसहृती ॥१॥
पदमाद्य पद चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि ।
वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥२॥"

[वाक्यप० २।१–२]

इति, तदप्युक्तिमात्रम्, यस्मादाख्यातशब्द पदान्तरनिरपेक्ष, सापेक्षो वा वाक्य स्यात् ? न तावदाद्यः पक्ष , पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वात् । अन्यथा आख्यातपदाभाव स्यात् । द्वितीयपक्षेपि

भावार्थ—सूत्र तथा श्लोको मे ऐसे वाक्य या पद पाये जाते हैं जिनमे अध्याहार रूप से प्रकरण के अनुसार अन्य वाक्य या केवल पद जोडकर अर्थ प्रतिभास कराया जाता है। जैसे "न देवा" इस सूत्र के वाक्य मे "नपु सका. भवति" इतना वाक्य साकाक्ष है अर्थात् प्रकरण प्राप्त अध्याहृत किया जाता है। इसी तरह "तत्र च सत्यभामा" इस वाक्य मे "तिष्ठति" इतना पद अपेक्षित है। फिर भी ये दोनो वाक्य कहलाते है क्योंकि प्रकरण के ज्ञाता पुरुष को इतने वाक्य से भी अर्थ प्रतिभास होता है।

वाक्य के विषय मे भर्तृहरि ने कहा है कि—धातु क्रिया रूप पद को वाक्य कहते है, वर्णों के सघात को भी कोई विद्वान वाक्य मानते है, इसी तरह वर्ण समुदाय मे स्थित वर्णत्व जाति को, निरवयव एक शब्द को, वर्णों के क्रम को, बुद्धि को एव परामर्श को भी कोई कोई विद्वान वाक्य मानते है ॥१॥ तथा आद्यपद सापेक्ष ऐसा अतिम पद वाक्य कहलाता है अथवा अत्यपद सापेक्ष आद्यपद वाक्य है, इत्यादि रूप से वाक्य के लक्षण मे न्यायवेदी पुरुषो के भिन्न भिन्न अभिमत हैं ॥२॥

किन्तु परवादी का उपर्युक्त प्रतिपादन असत् है। आगे क्रमश उक्त वाक्य लक्षणो का निरसन किया जाता है—आख्यात शब्द अर्थात् क्रियापद पदातर निरपेक्ष होकर वाक्य कहलाता है या सापेक्ष होकर ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि जो पदातर निरपेक्ष होता है वह वाक्य नही अपितु पद रूप होता है, अन्यथा क्रिया पद मे पदत्व का अभाव हो जायेगा। दूसरे पक्ष मे भी क्रिया पद कही पर निरपेक्ष होता है कि नही होता ? प्रथम पक्ष कहो तो हमारे जैन मत का प्रसग आता है। अर्थात् क्रिया पद

-क्वचिन्निरपेक्षोसौ, न वा ? प्रथमपक्षेऽस्मन्मतप्रसग । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्त , पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थपरिसमाप्त्या वाक्यत्वाऽयोगादर्द्धवाक्यवत् ।

सघातो वाक्यमित्यत्रापि देशकृतः, कालकृतो वा वर्णाना सघात स्यात् ? न तावदाद्यविकल्पो -युक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वसिना तेषामेकस्मिन्देशेऽवस्थित्या सघातत्वासम्भवात् । द्वितीयविकल्पे तु पदरूपता-मापन्नेभ्यो वर्णेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावद्भिन्नोनश ; तथाविधस्यास्याऽप्रतीतेः, संघातत्व-विरोधाच्च वर्णान्तरवत् । अथ तेभ्योऽभिन्नोसौ, किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेत्, कथमसौ संघात सघातिस्वरूपवत् ? अन्यथा प्रतिवर्णं सघातप्रसग । न चैको वर्णं सघातो नामातिप्रसगात् । कथञ्चि-

---

परस्पर के पदातर का सापेक्ष होकर अन्य पद से निरपेक्ष होता है उसको वाक्य कहते है सो यही हम जैन के वाक्य का लक्षण है । दूसरा पक्ष—क्रिया पद कही पर भी निरपेक्ष नही होता ऐसा कहे तो ठीक नही, क्योकि पदातर का सापेक्ष होकर भी यदि यह क्रिया पद कही निरपेक्ष नही होवेगा तो प्रकृत अर्थ की समाप्ति नही होने से उसमे वाक्यपने का अयोग रहेगा जैसे कि अधूरे वाक्य मे वाक्यपना नही होता ।

वर्ण सघात को वाक्य कहते है ऐसा वाक्य लक्षण का पक्ष माने तो प्रश्न होगा कि वर्णो का संघात (समूह) देशकृत है या कालकृत है ? आद्य विकल्प ठीक नही, क्योकि वर्ण क्रम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है, अत उनमे एक देश मे अवस्थित होना रूप देशकृत सघात असभव है । दूसरा विकल्प–वर्ण सघात कालकृत है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि यह कालकृत सघात पदरूपता को प्राप्त हुए वर्णों से भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न तो हो नही सकता क्योकि ऐसा वर्णों से भिन्न कालकृत वर्ण सघात कभी प्रतीत ही नही होता, वर्णो से भिन्न सघात मे सघातपने का ही विरोध है जैसे एक वर्ण मे सघातपना विरुद्ध है । कालकृत वर्ण सघात पद प्राप्त वर्णों से अभिन्न है ऐसा द्वितीय विकल्प कहे तो वह सर्वथा अभिन्न है या कथचित् अभिन्न है ? सर्वथा कहे तो उसे सघात कैसे कहेगे ? क्योकि वह तो सघाति के स्वरूप के समान एक रूप हो गया ? अर्थात् समूह रूप नही रहा । यदि एकमेक हुए को भी सघात माना जाय तो प्रत्येक वर्ण को भी सघात मानना पडेगा । किन्तु एक वर्ण को संघात रूप मानना अति प्रसग का कारण है अर्थात् इस तरह की मान्यता से अतिप्रसग दोष आता है । पद प्राप्त वर्णों से कालकृत वर्ण संघात कथचित् अभिन्न है ऐसा कहो तो हमारे जैन मत का प्रसंग होगा, क्योकि जैन ही ऐसा मानते हैं कि—परस्पर में सापेक्ष और

च्चेत्, जैनमतप्रसग –परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदरूपतापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसघातस्य कथञ्चिद्वर्णेभ्योऽभिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षान्योन्यानपेक्षाणा तु तेषा वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुषग ।

एतेन जाति सघातवर्त्तिनी वाक्यम्, इत्यपि नोत्सृष्टम्, निराकाङ्क्षान्योन्यापेक्षपदसघातवर्त्तिन्या. सदृशपरिणामलक्षणाया कथञ्चित्ततोऽभिन्नाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा सघातपक्षोक्ताशेषदोषानुषगः ।

एकोनवयवः शब्दो वाक्यम्, इत्येतत्तु मनोरथमात्रम्, तस्याप्रामाणिकत्वात्, स्फोटस्यार्थप्रतिपादकत्वेन प्रागेव प्रतिविहितत्वात् ।

क्रमो वाक्यमित्येतत्तु संघातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तद्दोषेणैव तद्दुष्ट द्रष्टव्यम् ।

अन्य से निराकाक्ष ऐसे पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का काल प्रत्यासत्ति रूप सघात होना वाक्य है, जो कि अपने वर्णों से कथचित् अभिन्न और कथचित् भिन्न है । यदि उक्त वर्ण सघात रूप वाक्य अन्य वाक्य के पदो से सापेक्ष एव परस्पर मे निरपेक्ष है तब तो पहले बताये हुए दोष आयेगे । अर्थात् वाक्यातर की अपेक्षा रहेगी तो कभी भी वाक्य से अर्थ की प्रतीति नही होगी, क्योकि आगे आगे वाक्य की अपेक्षा बढती जाने से कोई भी वाक्य पूर्ण नही हो पाने से अर्थ बोध नही करा सकता ।

सघात वर्त्तिनी जाति अर्थात् वर्णों के वर्णत्व को वाक्य कहना भी पहले समान ठीक नही, क्योकि इसमे वाक्यपना तब हो सकता है जब वाक्यातर निरपेक्ष एव परस्पर सापेक्ष पदो के सघात मे वर्त्तन करने वाली सदृश परिणाम रूप जाति को वाक्य माना जाय, जो कि स्वपदो से कथचित् भिन्नाभिन्न स्वरूप वाली है, अन्यथा सघात को वाक्य मानने के पक्ष मे जो दोप कहे थे वे इस पक्ष मे भी लागू होगे ।

एक निरश शब्द को अर्थात् स्फोट को वाक्य कहना तो मनोरथ मात्र है, क्योकि निरश स्फोट अप्रामाणिक है । स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा मतव्य का अभी स्फोटवाद प्रकरण मे निरसन कर चुके हैं ।

वर्णों का क्रम वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण भी सघात वाक्य के पक्ष के समान है कोई भेद नही, सघात को वाक्य मानने मे जो दोष आता है उसी दोष से यह वाक्य लक्षण भी दूषित है ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात्? प्रथमप्रकल्पनायां सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्यान्त्यवर्णश्रवणाऽनन्तरं वाक्यार्थविबोधहेतोर्बुद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्याऽस्माभिरभीष्टत्वात्। द्रव्यवाक्यरूपतां तु बुद्धेः कश्चेतन श्रद्दधीत-प्रतीतिविरोधात्?

एतेनानुसहृतिर्वाक्यम्; इत्यपि चिन्तितम्, यथोक्तपदानुसहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात्।

'आद्य पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्ष वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद्भिद्यते, परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदादिसिद्धेरभावानुषग स्यात्।

अन्ये मन्यन्ते–पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वक वाक्यार्थविबोध विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते।

बुद्धि को वाक्य मानने का पक्ष ग्रहण करे अर्थात् वर्णो की बुद्धि को वाक्य कहते है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि वह बुद्धि कौनसी है द्रव्यवाक्य रूप या भाव वाक्य रूप? प्रथम पक्ष मे सिद्ध साध्यता है, क्योकि पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान से प्राप्त हुआ है सस्कार जिसके ऐसे आत्मा के जो कि वाक्य के अर्थ को ग्रहण करने में परिणत है अतिम वर्ण के श्रवण के अनन्तर वाक्यार्थ का अवबोध हो जाता है उसका कारण रूप जो बुद्धि है वह भाव वाक्य है ऐसा हम जैन भी स्वीकार करते है। द्रव्य वाक्य रूप बुद्धि है ऐसा कहना तो कोई भी सचेतन व्यक्ति स्वीकार नही कर सकता क्योकि यह प्रतीति विरुद्ध है, अर्थात् द्रव्य वाक्य जड रूप हैं और बुद्धि चेतन रूप है।

परामर्श रूप अनुसहृति को वाक्य मानने का पक्ष भी पूर्ववत् है, क्योकि पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का परामर्श जिसमे प्रतिभासमान है ऐसे आत्मा को अनुसहृति रूप भाववाक्य मानना हमे इष्ट ही है। अतिम पद की जिसमे अपेक्षा है ऐसा आद्यपद वाक्य कहलाता है, अथवा आद्यपद की जिसमे अपेक्षा है ऐसा अतिमपद वाक्य कहलाता है ऐसे वाक्य के लक्षण भी हमारे पूर्वोक्त वाक्य लक्षण से पृथक् नही है, क्योकि परस्पर सापेक्ष एव अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदो का समुदाय वाक्य है और यही लक्षण उक्त वाक्य लक्षण मे है, यदि परस्पर की अपेक्षा से रहित पद को वाक्य माना जाय तो पद ही वाक्य बन जाने से पद का अभाव ही हो जायेगा।

मीमासक प्रभाकर की मान्यता है कि—पद के अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्य के अर्थ का अवबोध कराने वाले पद ही वाक्य सज्ञा को प्राप्त होते हैं।

"पदार्थाना तु मूलत्वमिष्ट तद्भावनावतः।"

[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः।"

[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्, तेप्यन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेनोक्तवाक्यलक्षणमेवानुसरन्ति, अन्योन्यापेक्षानाकाङ्क्षाक्षरपदसमुदायस्य वाक्यत्वेन तैरप्यभ्युपगमात्।

यदि च पदान्तरार्थैरन्वितानामेवार्थानां पदैरभिधानात्पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, तदा देवदत्तपदेनैव देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानाच्छेषपदोच्चारणवैयर्थ्यम्। प्रथमपदस्यैव च वाक्यरूपताप्रसग । यावन्ति वा पदानि तावता वाक्यत्व यावन्तश्च पदार्था-

---

वाक्य के अर्थ का कारण पदो का अर्थ है ऐसा हम जानते है। इसलिये यह वाक्यार्थ पद के अर्थ पूर्वक अवस्थित होता है इत्यादि। सो यह अन्वित अभिधान रूप वाक्य का लक्षण करने वाले प्रभाकर भी अध सर्प विल प्रवेश न्याय के समान हम जैन के वाक्य के लक्षण का ही अनुसरण करते है, अर्थात् जिस प्रकार चीटी आदि के उपद्रव के भय से अधा सर्प विल से निकलता है किन्तु घूमकर उसी विल मे प्रविष्ट होता है उस प्रकार जैन के वाक्यलक्षण को नही चाहते हुए भी घुमाकर उसी लक्षण को स्वीकार कर लेते है, क्योकि अन्योन्य मे सापेक्ष और वाक्यातर से निराकाक्ष ऐसे पद समुदाय को ही वाक्य रूप से प्रभाकर द्वारा स्वीकृत किया गया है अत जैन का वाक्य लक्षण ही सर्व मान्य एव निर्दोष सिद्ध होता है।

अन्विताभिधानवाद

वाक्य लक्षण का निश्चय होने के अनन्तर वाक्य के अर्थ पर विचार प्रारम्भ होता है, परवादी प्रभाकर वाक्यार्थ को इस प्रकार मानते है कि—सपूर्ण पद अपने पूर्वोत्तर पदो के अर्थो से अन्वित (सहित) ही रहते हैं अत उन्ही अर्थो का पदो द्वारा कथन किये जाने से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ प्रतिपत्ति हो जाती है। आशय यह कि किसी विवक्षित वाक्य मे जो भी पद हैं वे एक दूसरे पद के अर्थ से सहित हुआ करते हैं अत पद के अर्थ का बोध होने पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। किन्तु ऐसा अन्वित अभिधान मानने पर दूषण यह आता है कि—कोई एक विवक्षित वाक्य मे स्थित देवदत्तादि पद हैं उनमे से एक देवदत्त पद द्वारा ही देवदत्त अर्थ के साथ गा अभ्याज (गाय को हटाओ) इत्यादि पद एव वाक्य के अर्थो का अन्वित कथन

स्तावता वाक्यार्थत्वं स्यात् । अविवक्षितपदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न 'गाम्' इत्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यम्, इत्यत्राप्यावृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्ति स्यात्-प्रथमपदेनाभिहितस्य द्वितीयादिपदाभिधेयैरन्वितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदै पुन. पुनः प्रतिपादनात् ।

अथ द्वितीयादिपदै. स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानं नाद्यपदेन अतोयमदोष, तर्हि यावन्ति पदानि तावन्तस्तदर्था पदान्तराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावत्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तय कथं न स्यु ? न ह्यन्त्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तेर्वाक्यार्थावबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात् तदर्थस्यावान्तरपदाभिधेयैरन्वितस्य, द्वितीयादिपदोच्चारणाच्चाऽशेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्रतिपत्तेरित्यत्रनिमित्तमुत्पश्याम ।

हो जाने से उन शेष पदो का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरता है । तथा प्रथम पद को ही वाक्यपना प्राप्त होता है । अथवा एक वाक्य मे जितने पद हैं उन सबको वाक्यपना प्राप्त होता है एव जितने एक एक पद के अर्थ हैं उन सबको वाक्यार्थपना प्राप्त होता है ।

शका—अविवक्षित पद के अर्थ का व्यवच्छेद विवक्षित पद से हो जाता है अत. गा इत्यादि पदो का उच्चारण करना व्यर्थ नही ठहरता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही, इस तरह तो पुन पुनः प्रवृत्ति रूप आवृति से वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा मानना होगा अर्थात् द्वितीयादि पदो के अभिधेयो से अन्वित (सहित) अर्थ का प्रथम पद द्वारा कथन हो चुकता है उसी को द्वितीयादि पदो द्वारा पुन पुन कहा जाता है, ऐसा स्वीकार करना होगा ।

शंका—पूर्वोत्तर पदो के अभिधेय अर्थो के साथ अन्वित ऐसा अपना अर्थ प्रधान रूप से द्वितीयादि पदो द्वारा कहा जाता है प्रथम पद द्वारा वैसा प्रधान रूप से नही कहा जाता अत उक्त दोष नही आयेगा ?

समाधान—तो फिर जितने पद हैं उतने उनके अर्थ हैं और पदातर के अभिधेय अर्थ से अन्वित प्राध्यान से प्रतिपत्ति के योग्य है ऐसा अर्थ निकलना है अत· उतने वाक्य एव अर्थ प्रतिभास कैसे नही कहलायेंगे । अर्थात् अवश्य कहलायेंगे । मीमासक का यह जो कहना है कि अतिम पद के उच्चारण से अशेष पूर्व पदो के अभिधेय अर्थो से अन्वित ऐसे उसके अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाने से वाक्यार्थ का बोध होता है किन्तु प्रथम पद के उच्चारण मे अवांतर पदो के अभिधेयो से अन्वित ऐसे

अथ गम्यमानैस्तैस्तस्यान्वितत्वम् न पुनरभिधीयमानैः तेनायमदोष , किमिदानीमभिधीयमान एव पदस्यार्थ ? तथोपगमे कथमन्विताभिधानम्—विवक्षितपदस्य गम्यमानपदान्तराभिधेयार्थानामविषयत्वात् ?

अथ पदाना द्वौ व्यापारौ—स्वार्थाभिधानव्यापार , पदान्तरार्थगमकत्वव्यापारश्च। कथमेव पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या न स्यात् ? पदव्यापारात्प्रतीयमानस्येव गम्यमानस्यापि पदार्थत्वात्। न च पदव्यापारात्प्रतीयमानत्वाविशेषेपि कश्चिदभिधीयमान। कश्चिद्गम्यमान इति विभागो युक्तः।

उसके अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नही होता एव द्वितीयादि पद के उच्चारण से अशेप पदो के अभिधेयो से अन्वित ऐसे उसके अर्थ की प्रतिपत्ति से भी वाक्यार्थ का अवबोध नही हो पाता, सो इस तरह की मान्यता मे क्या विशेप कारण है वह दृष्टिगोचर नही होता, अर्थात् जव सभी पद परस्पर के अर्थ से अन्वित हैं तव अतिम पद से तो वाक्यार्थ का अवबोध हो और प्रथमादि पद से न हो ऐसा भेद भाव होने मे कोई निमित्त दिखायी नही देता, अत पद का अर्थ अन्य पद के अर्थ से अन्वित-ही रहता है और उससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है ऐसा कहना युक्ति सगत नही है।

प्रभाकर—जो पद गम्यमान हैं (पदातरो से गोचरीकृत है) उनसे उस उच्चार्यमान पद का अर्थ अन्वित होता है न कि अभिधीयमान पदो से, अत उक्त दोप नही आता ?

जैन—तो क्या आप इस समय पद का अर्थ अभिधीयमान ही मानते हैं ? यदि हा तो आपका अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पूर्व पद का अर्थ उत्तर पद से अन्वित होता है ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योकि विवक्षित पद गम्यमान पदातरो के अभिधेय अर्थों को विपय ही नही करता है।

प्रभाकर—पदो के दो व्यापार (कार्य) होते है-एक अपने अर्थ के कथन मे व्यापार और दूसरा पदातर के अर्थ के गमकत्व मे व्यापार, अत अन्वित अभिधान रूप वाक्यार्थ घटित हो जायगा ?

जैन—इस तरह तो आवृत्ति से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होना रूप पूर्वोक्त दोष कैसे नही आयेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा। क्योकि पद के व्यापार से प्रतीयमान के समान गम्यमान का भी अर्थ होता है क्योकि दो पद के ही अर्थ हैं। पदव्यापार से प्रतीयमानता समान होते हुए भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानने का विभाग तो युक्तियुक्त नही है।

ननु पदप्रयोगः प्रेक्षावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थः, वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाभिधीयेत ? न तावत्पदार्थ-प्रतिपत्त्यर्थः, अस्य प्रवृत्त्यऽहेतुत्वात् । अथ वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थ ; तदा पदप्रयोगानन्तर पदार्थे प्रतिपत्ति साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापार पदार्थान्तिरे तु गमकत्वव्यापार , तदप्यसाम्प्रतम्, 'वृक्षः' इति पदप्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तो । तदर्थाच्च प्रतिपन्नात् 'तिष्ठति' इत्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीते, तत्र पदस्य साक्षाद्व्यापाराऽभावतो गमकत्वायोगात् तदर्थस्यैव तद्गमकत्वात् । परम्परया तत्रास्य व्यापारे लिंगवचनस्य लिंगिप्रतिपत्तौ व्यापारोऽस्तु, तथा च शाब्द-मेवानुमानज्ञान स्यात् । लिंगवाचकाच्छब्दाल्लिंगस्य प्रतिपत्तो सैव शाब्दी, न पुनस्तत्प्रतिपन्नलिंगा-

---

प्रभाकर—बुद्धिमान पुरुष पद का प्रयोग पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते है अथवा वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते है ? पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो कर नही सकते, क्योकि पद का अर्थ प्रवृत्ति का हेतु नही है । वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये पद प्रयोग करते हैं ऐसा द्वितीय पक्ष माने तब तो ठीक ही है, पद प्रयोग के अनतर पद के अर्थ मे तो साक्षात् प्रतिपत्ति होती है, इसलिये उसमे पद का अभिधान व्यापार होगा और पदार्थातर मे गमकत्व व्यापार होगा ?

जैन—यह कथन अनुचित है, 'वृक्ष ' इस प्रकार के पदप्रयोग के होने पर शाखादिमान् अर्थ की ही प्रतीति होती है। तथा उस प्रतिपन्न अर्थ से 'तिष्ठति' इत्यादि पद के वाच्यभूत स्थानादि अर्थ की सामर्थ्य से प्रतीति होती है, उस अर्थ मे वृक्ष पद का साक्षात् व्यापार नही होने से उसका वह गमक बन ही नही सकता, वह तो उसी अर्थ का गमक रहेगा । यदि कहा जाय कि वृक्ष पद का तिष्ठति पद के अर्थ मे परपरा से व्यापार होता है तो हेतु वचन का साध्य के प्रतिपत्ति मे व्यापार होता है ऐसा भी मानना होगा, और इस तरह मान लेने पर अनुमान ज्ञान शाब्दिक ही कहलायेगा ।

शका—हेतु के वाचक शब्द से हेतु की प्रतीति होती है उसे ही शाब्दिक ज्ञान कहते है किन्तु शब्द से ज्ञात हुए हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे तो शाब्दिक नही कह सकते अन्यथा अतिप्रसग होगा ?

समाधान— तो फिर वृक्ष शब्द से होने वाली स्थानादि अर्थ की प्रतीति भी शाब्दिक मत होवे अन्यथा अतिप्रसग होगा । अर्थात् जिस प्रकार शब्द से ज्ञात हुए हेतु द्वारा होने वाले साध्य के ज्ञान को परपरा से पद रूप शब्दजन्य होते हुए भी शाब्दिक नही मानते उसी प्रकार वृक्षपद द्वारा परपरा से होने वाले स्थानादि अर्थ ज्ञान को

ल्लिगिप्रतिपत्तिरतिप्रसगात्, तर्हि वृक्षशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाब्दी मा भूत्तत एव, अस्य स्वार्थप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिंगशब्दवत् ।

किंच, विशेष्यपद विशेष्य विशेषणसामान्येनान्वितम्, विशेषणविशेषेण वाऽभिधत्ते, तदुभयेन वा ? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोध. । द्वितीयपक्षे तु निश्चयासम्भवः–प्रतिनियत-विशेषणस्य शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्तविशेष्येऽन्वयसशीते., विशेषणान्तराणामपि सम्भवात् । वक्तुरभि-प्रायात्प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रान्वयश्चेत्, न, य प्रति शब्दोच्चारण तस्य वक्त्रभिप्रायाऽप्रत्यक्षतस्तद-निर्णयप्रसगात्, आत्मानमेव प्रति वक्तु शब्दोच्चारणानर्थक्यात् । तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषग. ।

शाब्दिक नही मानना चाहिये, वृक्ष शब्द तो अपने अर्थ की प्रतीति मे ही सीमित है जैसे हेतु शब्द अपने अर्थ प्रतीति मे सीमित है ।

दूसरी बात यह है कि–विशेष्य पद विशेष्य को विशेषण सामान्य से अन्वित कहता है या विशेषण विशिष्ट से अन्वित विशेष्य को कहता है अथवा उभय से अन्वित विशेष्य को कहता है ? प्रथम पक्ष माने तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने मे विरोध आता है । दूसरा पक्ष माने तो निश्चय नही हो सकता, अर्थात् शब्द से जिसका निर्देश नही किया है ऐसे प्रतिनियत विशेषण का अपने उक्त विशेष्य मे अन्वय करने मे सशय उत्पन्न होगा, क्योकि विशेष्य मे अन्य अन्य विशेषणो का होना भी सभव है, अत अपने इस विशेष्य मे अमुक विशेषण ही अन्वित है ऐसा निश्चय नही हो सकता ।

शका—वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य मे अन्वय हो जाता है ?

समाधान—नही हो सकता, जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया जाता है उस पुरुष को वक्ता का अभिप्राय अप्रत्यक्ष रहता है (ज्ञात नही रहता) अत उस विशेषण का निर्णय होना असभव ही है । यदि कहा जाय कि वक्ता को अपने प्रति ही अभिप्राय प्रत्यक्ष रहता है अर्थात् वक्ता स्वय तो अपने अभिप्राय को जानता है उससे वह नियत विशेषण का निश्चय कर लेगा ? सो ऐसा कहे तो शब्द का उच्चारण ही व्यर्थ ठहरता है, कोई स्वय के लिये तो शब्दोच्चारण करता नही । तीसरे पक्ष मे (विशेष्य पद विशेष्य को सामान्य और विशेष रूप उभय विशेषण से अन्वित कहता है) तो उभयपक्ष के दोष आते हैं (विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतीति नही होना और निश्चय नही होना)

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन वान्वितस्य साधनस्य, साधनसामान्येन साधन-विशेषेण तदुभयेन वान्वितायाः प्रतिपादनमाख्यातेन प्रत्याख्यातम् ।

यदि च पदात्पदार्थे उत्पन्न ज्ञान वाक्यार्थाध्यवसायि स्यात्, तर्हि चक्षुरादिप्रभव रूपादिज्ञानं गन्धाध्यवसायि किन्न स्यात् ? अथास्य गन्धादिसाक्षात्कारित्वाभावान्नाय दोष , तर्हि पदोत्थपदार्थ-ज्ञानस्यापि वाक्यार्थाविभासित्वाभावात्कथ तदध्यवसायित्व स्यात् ? चक्षुरादेर्गन्धादाविव पदस्य वाक्यार्थसम्बन्धानवधारणतः सामर्थ्यानुपपत्ते । तन्नान्विताभिधान श्रेय ।

इसी प्रकार वाक्य मे जो पद कर्म कारकादि साधन रूप होता है वह क्रिया सामान्य से अन्वित अर्थ को कहता है कि क्रिया विशेषण से अथवा उभय रूप से अन्वित अर्थ को कहता है ऐसे प्रश्न होते है और उन सब पक्ष मे वही दूषण आने से उनका निराकरण भी पूर्वोक्त रीत्या हो जाता है । ऐसे ही क्रिया पद साधन सामान्य से अन्वित अर्थ को कहता है या साधन विशेष से अथवा उभय से अन्वित अर्थ को कहता है इस प्रकार तीनो पक्षो की मान्यता सदोष होने से खडित होती है ।

तथा यदि पद से पद के अर्थ मे ज्ञान उत्पन्न होता है और वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है तो चक्षु आदि से उत्पन्न हुआ रूपादि ज्ञान गध का निश्चय क्यो नही कर सकता ? आशय यह है कि 'देवदत्त ' आदि कोई एक पद देवदत्त सज्ञा वाले मनुष्य का ज्ञान कराता है और साथ ही अन्य 'तिष्ठति' पद का ज्ञान भी (बिना शब्दोच्चारण के ही) कराता है, ऐसा माना जाय तो नेत्र से उत्पन्न हुआ नील ज्ञान गुलाब की सुगंधी को जानता है ऐसा विरुद्ध कथन भी मानना होगा ।

शका—रूपादि ज्ञान गधादि का साक्षात्कारी नही होने से उसका निश्चायक नही होता अत विरुद्ध मान्यता का दोष नही आता ।

समाधान—तो फिर पद से उत्पन्न हुआ पद के अर्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थ का साक्षात्कारी नही होने से उसका निश्चायक किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता । क्योकि जिसप्रकार चक्षु आदि की गधादि विषय मे सामर्थ्य नही होती उसी प्रकार पद की वाक्यार्थ संबंध का अनवधारण होने से उसमे सामर्थ्य नही होती अर्थात् पद से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नही होता । अत अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पदो से पदान्तरो के अर्थो से अन्वित अर्थो का ही कथन होता है इसलिये पदके अर्थ के प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयस्कर नही है ।

नाप्यभिहितान्वय, यतोऽभिहिता पदैरर्थाः शब्दान्तरादन्वीयन्ते, बुद्धया वा ? न तावदाद्य पक्ष, शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्याभिहितान्वयनिबन्धनस्याभावात् । द्वितीयपक्षे तु बुद्धिरेव वाक्यं ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः, न पुनः पदान्येव। ननु पदार्थेभ्योऽपेक्षाबुद्धिसन्निधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परम्परया पदेभ्य एव भावान्नातो व्यतिरिक्त वाक्यम्, तर्हि प्रकृत्यादिव्यतिरिक्त पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिधाने अभिहितानां वान्वये पदार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः।

ननु 'पदमेव लोके वेदे वार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हम् न तु केवला प्रकृति प्रत्ययो वा, पदादपोद्धृत्य तद्व्युत्पादनार्थं यथाकथञ्चित्तदभिधानात् । तदुक्तम्—"अथ गौरित्यत्र कः शब्द ?;गकारौकार-

---

भाट्ट का अभिहित अन्वयवाद रूप वाक्यार्थ भी अयुक्त है, अर्थात् पदो द्वारा कहे हुए अर्थो का अन्वय (सम्बन्ध) वाक्यार्थ मे होता है अत. "पदै अभिहिताना अर्थाना अन्वय सम्बन्धः वाक्यार्थ " पदो द्वारा कहे हुए अर्थ वाक्य से परस्पर मे संबद्ध होते है अतः वे ही वाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का मतव्य भी समीचीन नही है, क्योकि पदो द्वारा कहे हुए अर्थ शब्दातर से परस्पर मे सबद्ध किये जाते हैं या बुद्धि से सबद्ध किये जाते है ? प्रथम पक्ष अनुचित है, क्योकि अशेष पदो के अर्थो को विषय करने वाला ऐसा अभिहित अन्वय का निमित्तभूत कोई शब्दातर ही नही है । द्वितीय पक्ष—बुद्धि से उक्त अर्थो का सम्बन्ध किया जाता है ऐसा माने तो बुद्धि वाक्य कहलायेगी क्योकि उसीसे वाक्य के अर्थ की प्रतीति हुई है, पद ही वाक्य होते हैं ऐसा कथन तो असिद्ध ही रहा ?

शका—अपेक्षा बुद्धि का सन्निधान होने के कारण परस्पर मे अन्वित हुए पदो के अर्थो से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है अत परपरा से पदो द्वारा ही वाक्य का अर्थ हुआ है इसलिये इनसे व्यतिरिक्त वाक्य नही है ?

समाधान—तो फिर प्रकृति प्रत्यय आदि से व्यतिरिक्त-पद भी नही होना चाहिए, क्योकि परस्पर मे सम्बद्ध हुए प्रकृति प्रत्यय आदि का कथन करने पर अथवा अभिहित (कथित) प्रकृति आदिका अन्वय (सम्बन्ध) होने पर पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सुप्रसिद्ध ही है। अत इन प्रकृति आदि से भिन्न पद का अस्तित्व भी नही रहेगा ।

शंका— लोक मे तथा वेद मे अर्थ प्रतिपत्ति के लिये पद ही प्रयोग के योग्य होता है, केवल प्रकृति (धातु और लिंग) या केवल प्रत्यय प्रयोगार्ह नही होते, हा

विसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष:" [शाबरभा० १।१।५] इति। यथैव हि वर्णोऽनंशः प्रकल्पितमात्राभेदस्तथा 'गौः' इति पदमप्यनशमपोद्धृताकारादिभेद स्वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमवसीयते। इत्यप्यनालोचिताभिधानम्; वाक्यस्यैवं तात्त्विकत्वप्रसिद्धेः, तद्व्युत्पादनार्थं ततोऽपोद्धृत्य पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे वार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात्। तदुक्तम्—

"द्विधा कैश्चित्पद भिन्न चतुर्धा पचधापि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्य. प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥"
[ ] इति।

ततः प्रकृत्याद्यवयवेभ्य· कथञ्चिद्भिन्नमभिन्न च पद प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्, न तु सर्वथाऽनश वर्णवत्तद्ग्राहकाभावात्। तद्वत्पदेभ्य. कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं च वाक्य द्रव्यभाववाक्यभेदभिन्न प्रोक्तलक्षणलक्षित प्रतीतिपदमारूढमभ्युपगन्तव्यम् अल प्रतीत्यपलापेनेति।

प्रकृति आदि को पद से पृथक् करके पद की व्युत्पत्ति के लिये कथचित् कदाचित् उनका कथन किया जाता है। जैसा कि कहा है—'गौः' इस पद मे कौन सा शब्द पद संज्ञक है? ऐसा प्रश्न होने पर भगवान् उपवर्ष उत्तर देते हैं कि गकार, औकार और विसर्ग ये पद सज्ञक है इत्यादि। जिस प्रकार वर्ण अनश है तो भी उसमे मात्रा के निमित्त से भेद प्रकल्पित करते है, उसी प्रकार "गौ" यह पद अनश है तो भी उसमे कल्पित अकारादि भेद (गकारादि भेद) अपने गो अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते है?

समाधान—यह कथन भी अविचार पूर्ण है, इस तरह तो वाक्य का तात्त्विकपना भली प्रकार से सिद्ध होता है, उपर्युक्त पद सिद्धि के लिये किया गया प्रतिपादन वाक्य मे भी घटित होता है कि लोक मे अथवा शास्त्र मे अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये वाक्य का प्रयोग ही योग्य होता है, केवल वाक्य की निष्पत्ति के लिये उससे पदो को पृथक् करके उपदेश दिया जाता है इत्यादि। जैसा कि कहा है–किन्ही विद्वानो ने वाक्यो से पदो को पृथक् करके दो प्रकारो मे अर्थात् सुवत और तिडत मे विभाजित किया है, किन्ही ने नाम, आख्यात, निपात और कर्म प्रवचनीय रूप चार प्रकार से विभाजित किया है और किन्ही ने उक्त चार प्रकार मे उपसर्ग मिलाकर पाच प्रकार से विभाजित किया है, जैसे कि प्रकृति और प्रत्ययादि से पद को विभक्त करते हैं॥१॥ इत्यादि। वास्तविक बात तो यह है कि–प्रकृति आदि अवयवो से पद कथंचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धात स्वीकार करना चाहिए, पद को सर्वथा अनंश रूप नही मानना चाहिए, क्योकि जैसे वर्ण को सर्वथा अनंश रूप ग्रहण

प्रामाण्य सुधियो धियो यदि मत सवादतो निश्चितात्,
स्मृत्यादेरपि किन्न तन्मतमिदं तस्याऽविशेषात्स्फुटम् ।
तत्सख्या परिकल्पितेयमधुना सन्तिष्ठतेऽत कथम्,
तस्माज्जैनमते मतिर्मतिमता स्थेयाच्चिर निर्मले ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
तृतीयः परिच्छेदः ॥ श्री ॥

करने वाला कोई प्रमाण नही है वैसे पद को सर्वथा अनश रूप ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नही है । जैसे प्रकृति आदि से पद कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है वैसे पदो से वाक्य कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार "पदाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्" ऐसा पूर्वोक्त वाक्य का लक्षण ही निर्दोष एव प्रतीतिपद मे आरूढ सिद्ध होता है ऐसा अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी भाट्ट एव प्रभाकर को मानना चाहिये । उसके द्रव्यवाक्य और भाववाक्य ऐसे दो भेद हैं, द्रव्यवाक्य वचनात्मक है और भाववाक्य ज्ञानात्मक है ऐसा समझना चाहिए । अब प्रतीति की अपलाप से बस हो ।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य सपूर्ण तृतीय परिच्छेद मे आगत विषयो का उपसहार करते हुए अन्तिम मंगल श्लोक कहते हैं—बुद्धिमान पुरुष प्रमाण मे प्रामाण्य सुनिश्चित सवाद से आता है ऐसा मानते है सो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणो मे भी सुनिश्चित सवाद मौजूद होने से उन्हे भी प्रमाणभूत क्यो न माना जाय ? अर्थात् अवश्य मानना चाहिये । जब स्मृति आदि ज्ञान भी प्रमाणभूत सिद्ध होते है तब अन्य अन्य परवादियो की प्रमाण सख्या किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ? नही हो सकती । इस प्रकार निर्दोष प्रमाण, सख्या आदि समस्त विषयो का प्रतिपादन करने वाला, स्याद्वाद से निर्मल ऐसे जैन मत मे सभी बुद्धिमानो की बुद्धि सदा स्थिर होवे । अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्मल सम्यक्त्व को धारण करना चाहिये इसी से उभयलोक मे सुख एव कल्याण होगा । अस्तु ।

वाक्यलक्षणविचार का सारांश

वाक्य का लक्षण क्या है इस विषय में विभिन्न मतो मे विवाद है, जैसा कि कहा है—

आख्यात शब्द. संघातो जातिः संघातवर्त्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृती ।।१।।

पदमाद्यं पद चान्त्यं पदं सापेक्ष मित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ।।२।।

अर्थ—भवति आदि धातु के शब्दो को वाक्य कहना चाहिए ऐसा कोई परवादी कहते है, कोई वर्णों के समूह को, कोई वर्ण समूह के जाति को (वर्णत्व को) एक निरश शब्द को, कोई वर्णों के क्रम को, कोई बुद्धि को, कोई अनुसहृती अर्थात् पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों के परामर्श को, कोई आदि पद को अन्तिम पद की अपेक्षा होना और अन्तिम पद को आदि पद की अपेक्षा होने को वाक्य कहते है ।

प्रभाकर अन्वित अभिधान को वाक्य कहते है, अर्थात् एक एक पद के अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्य का अर्थ होता है, अत वाक्यार्थ का अवबोध करते हुए पद ही वाक्य संज्ञा को प्राप्त होते है ऐसा इनका मंतव्य है ।

भाट्ट अभिहित अन्वय को वाक्य कहते है, अर्थात् पदो के द्वारा कहे हुए अर्थों का अन्वय होना वाक्य कहलाता है। जैनाचार्य ने इन विविध वाक्य लक्षणो मे अव्याप्ति आदि दूषण को बतलाते हुए समालोचना की है और वाक्य एव पद के निर्दोष लक्षण का प्रणयन किया है, "वर्णाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष समुदाय. पदम्" । "पदाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्" । परस्परसापेक्ष और अन्य से निरपेक्ष ऐसे वर्णों के समुदाय को पद कहते है, तथा परस्पर सापेक्ष और अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदो के समुदाय को वाक्य कहते है, घट. एक पद है इसमे दो वर्ण है ये दोनों तो परस्पर सापेक्ष है किन्तु इन दो को छोडकर अन्य वर्ण की अपेक्षा नही है । "देवदत्त ! गां अभ्याज" इस वाक्य मे देवदत्त, गा, अभ्याज ये तीन पद है ये तीनो ही परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु अन्य पदों से निरपेक्ष है इनका समुदाय वाक्य सज्ञा को प्राप्त होता हैं,

अभिप्राय यह है कि प्रतिपत्ता को जितने परस्पर सापेक्ष पदो का समुदाय होने पर निराकाक्षा होती है, अन्य पदो की आकाक्षा नही होती वह पद समूह वाक्य कहलाता है।

आख्यात शब्द को वाक्य कहे तो प्रश्न होता है कि वह धातु पद अन्य पद की अपेक्षा रखता है या नही, यदि रखता है तो कही पर भी निराकाक्ष न होने से प्रकृत अर्थ की परिसमाप्ति नही हो सकेगी, और यदि अन्य पद की अपेक्षा नही है तो एक पद को ही वाक्य कहने का प्रसग आता है। वर्ण समूह को वाक्य कहे तो वही उपर्युक्त दोप आता है। वर्ण समुदाय मे जो वर्णपना अर्थात् वर्णत्व सामान्य है उसे वाक्य कहे तो भी अयुक्त है क्योकि परवादी सामान्य को व्यापक एक नित्य मानते हैं ऐसा सामान्य खरविषाणवत् असत् है।

एक निरश शब्द अर्थात् स्फोट को वाक्य कहना तो स्फोट के निराकरण से ही निराकृत हो जाता है।

इसी प्रकार क्रम, बुद्धि आदि को वाक्य कहना भी बाधित होता है। प्रभाकर का अन्वित अभिधान लक्षण भी अध सर्प बिल प्रवेश न्याय का अनुसरण करता है अर्थात् अधा सर्प चीटी आदि के कारण बिल से निकलता है और पुन उसी मे प्रविष्ट होता है उसी प्रकार जैन के वाक्य लक्षण की अनिच्छा करके पुन उसी का ग्रहण करना होता हैं क्योकि पदो का अर्थ अन्वित करके वाक्यार्थ का अवबोध कराने वाले पदो को वाक्य कहना जैन के वाक्य लक्षण को परिपुष्ट करना है। अभिहित का अन्वय करना वाक्य है ऐसा भाट्ट का लक्षण भी सदोष है, क्योकि पदो के द्वारा कहा हुआ अर्थ यदि शब्दातर से अन्वित होता है ऐसा कहना तो अयुक्त है, क्योकि शब्दातर अशेष अर्थ का निमित्त नही होता, यदि कहे कि पदो द्वारा कहा हुआ अर्थ बुद्धि से अन्वित किया जाता है तो बुद्धि को वाक्य कहने का प्रसग आता है। इस प्रकार अन्य प्रवादियो के वाक्य के लक्षण सदोष सिद्ध होते हैं अत "पदाना परस्परापेक्षाणा निरपेक्ष समुदाय वाक्य" परस्पर सापेक्ष और अन्य पदो से निरपेक्ष ऐसे पद समूह को वाक्य कहना चाहिए, यही लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

॥ साराश समाप्त ॥

इस प्रकार श्री माणिक्यनदी विरचित परीक्षामुख सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप प्रमेय कमल मार्त्तण्ड मे तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

उपसंहार

उपसहार इस प्रकार है कि—प्रथम ही परोक्ष प्रमाण का लक्षण है, तदनतर उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाच भेद बतलाये है, पुन स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रमाण नही मानने वाले जैनेतर परवादियो के प्रति इनके प्रामाण्य की सिद्धि की है। अनतर अनुमान प्रमाण का लक्षण एव भेद दर्शाया, हेतु के लक्षण का प्रणयन करते हुए त्रैरूप्यवादी बौद्ध और पाच रूप्यवादी नैयायिक के हेतु लक्षण का खण्डन किया एव पूर्ववत् आदि अनुमान के भेदो का निरसन किया, हेतु के कुल बावीस भेद सोदाहरण कहे। आगम प्रमाण का लक्षण करते ही मीमासक ने अपौरुषेय वेद का पक्ष रखा अत उसका निरसन किया। पुनश्च शब्द नित्यत्व का निराकरण, अपोहवाद एव स्फोटवाद निराकरण किया है, तथा वाक्य का निर्दोष लक्षण बताया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डग्रन्थ के राष्ट्र भाषानुवाद स्वरूप इस द्वितीय भाग मे बीस प्रकरणो का समावेश है, उपर्युक्त तृतीय परिच्छेद के स्मृति प्रमाण आदि प्रकरणो के पूर्व अर्थ कारणवाद आदि द्वितीय परिच्छेद के प्रकरण है। श्री माणिक्यनदी आचार्य-विरचित परीक्षामुख ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अतिम सात सूत्र तथा तृतीय अध्याय के सपूर्ण सूत्र एक सौ एक (अथवा ९६) कुल १०८ सूत्र इस हिंदी भाषानुवाद रूप द्वितीय भाग मे समाविष्ट हुए है।

इस प्रकार उक्त सूत्र एव प्रकरणो का अनुवाद अल्प बुद्धि अनुसार मैंने (आर्यिका जिनमति ने) किया है, इसमे अज्ञान एव प्रमाद वश यदि स्खलन हुआ हो तो बुद्धिमान सज्जन सशोधन करे।

गच्छन्त स्खलन क्वापि भवेदेव प्रमादत ।
हसति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना ।।१।।

इस प्रकार परीक्षामुख का अलकार स्वरूप श्री प्रभाचन्द्राचार्यदेव विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामा ग्रन्थ का द्वितीय भाग परिपूर्ण हुआ।

।। इति भद्र भूयात् ।।

अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीर धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ।।१।।
नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
सजातः सघनायको मूलसघप्रवर्त्तक. ।।२।।
आम्नाये तस्य सख्याता· विख्याता. सुदिगबरा. ।
प्राविरासन् जगन्मान्या जैनशासनवर्द्धका. ।।३।।
क्रमेण तत्र समभूत सूरिरेकप्रभावक ।
शातिसागर नामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तक ।।४।।
वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ।।५।।
अथ दिवगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वर ।
चतुर्विधगणै. पूज्य समभूत् गणनायक. ।।६।।
तयो पाश्वें मया लब्धा दीक्षा ससारपारगा ।
आकरी गुणरत्नाना यस्या कायेऽपि हेयता ।।७।। [विशेषकम्]
प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वर ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धक ।।८।।
आर्या ज्ञानमती माता विदुपी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ।।९।।
कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधानक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ।।१०।।
नाम्ना जिनमती चाह शुभमत्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोय चिर नन्द्यात् महीतले ।।११।।

इति भद्र भूयात् सर्व भव्याना

*

परीक्षामुख सूत्र पाठः

प्रथम परिच्छेदः

प्रमाणादर्थ संसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पंलघीयसः ॥१॥

१ स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।

२ हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाण-ततो ज्ञानमेव तत् ।

३ तन्निश्चयात्मक समारोप विरुद्धत्वादनु-मानवत् ।

४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थ ।

५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।

६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यव-साय. ।

७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।

८ घटमहमात्मना वेद्मि ।

९ कर्मवत्कर्तृ करण क्रिया प्रतीतेः ।

१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।

११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्त-देव तथा नेच्छेत् ।

१२ प्रदीपवत् ।

१३ तत्प्रामाण्य स्वत परतश्चेति ।

अथ द्वितीय परिच्छेदः

१ तद्वेधा ।

२ प्रत्यक्षेतर भेदात् ।

३ विशद प्रत्यक्षम् ।

४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम् ।

५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः साव्यव-हारिकम् ।

६ नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।

७ तदन्वय व्यतिरेकानु विधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञान वन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।

९ स्वावरण क्षयोपशमलक्षण योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचार ।

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमती-न्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध-सम्भवात् ।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का-नुमानागमभेदम् ।

३ सस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शन स्मरण कारणक सङ्कलन प्रत्यभि-ज्ञानम्, तदेवेद, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवाय देवदत्त ।
७ गो सदृशो गवय ।
८ गोविलक्षणो महिष ।
९ इदमस्माद् दूरम् ।
१० वृक्षोऽयमित्यादि ।
११ उपलभानुपलभ निमित्त व्याप्तिज्ञानमूह ।
१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।
१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।
१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।
१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।
१६ सहक्रमभावनियमोऽविना भाव ।
१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव ।
१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रम-भावः ।
१९ तर्कात्तन्निर्णय ।
२० इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम् ।
२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।
२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधित वचनम् ।
२३ न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिन. ।
२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।
२५ साध्य धर्म क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।
२६ पक्ष इति यावत् ।
२७ प्रसिद्धो धर्मी ।
२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।
२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।
३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्म विशिष्टता ।
३१ अग्निमानयं देश परिणामी शब्द इति यथा ।
३२ व्याप्तौ तु साध्य धर्म एव ।
३३ अन्यथा तदघटनात् ।
३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमान-स्यापि पक्षस्य वचनम् ।
३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्ष-धर्मोपसहारवत् ।
३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।
३७ एतद्द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम् ।
३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यग तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ।
३९ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धे ।
४० व्यक्तिरूप च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्ति-स्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थान स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।
४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृते. ।
४२ तत्परिमभिधीयमान साध्यधर्मिणि साध्य-साधने सन्देहयति ।
४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।
४४ न च ते तदगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्यो-र्वचनादेवासशयात् ।
४५ समर्थन वा वर हेतु रूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ।
४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।
४७ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेक भेदात् ।

४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-दृष्टान्तः।

४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्त ।

५० हेतोरुपसहार उपनय ।

५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।

५२ तदनुमान द्वेधा।

५३ स्वार्थपरार्थ भेदात्।

५४ स्वार्थमुक्त लक्षणम्।

५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।

५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।

५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात्।

५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च।

५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात्।

६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।

६१ न च पूर्वोत्तर चारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलब्धे।

६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्।

६३ तद्व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम्।

६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च।

६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एव स एव दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनन्धया, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी।

६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादे ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात्।

६८ उदेष्यति शकट कृतिकोदयात्।

६९ उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव।

७० अस्त्यत्र मातुलिंगे रूप रसात्।

७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा।

७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।

७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।

७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदय शल्यात्।

७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकट रेवत्युदयात्।

७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।

७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग-दर्शनात्।

७८ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-व्यापक कार्यकारण पूर्वोत्तर सहचरानु-पलम्भभेदात्।

७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।

८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे ।

८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुप-लब्धेः।

८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने.।

८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकट कृत्तिकोदया-नुपलब्धे ।

८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव।

८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानु-पलब्धे ।

८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्य कारणस्वभावानुपलब्धि भेदात्।

८७ यथास्मिन् प्राणिनि व्याधि विशेषोस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।

८८ अस्त्यत्र देहिनि दु खमिष्टसयोगाभावात् ।

८९ अनेकान्तात्मक वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धे ।

९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।

९१ अभूदत्र चक्रे शिवक स्थासात् ।

९२ कार्य कार्यमविरुद्ध कार्योपलब्धौ ।

९३ नास्त्यत्र गुहायाम् मृगक्रीडनं मृगारिसशब्दनात् कारणविरुद्धकार्य विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ।

९४ व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ।

९५ अग्निमानय देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते र्वा ।

९६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहण विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।

९७ तावता च साध्यसिद्धि ।

९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्त ।

९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम ।

१०० सहज योग्यता सकेत वशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतव ।

१०१ यथा मेर्वादय सन्ति ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय ।

२ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति लक्षणपरिणामेनार्था क्रियोपपत्तेश्च ।

३ सामान्य द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।

४ सदृश परिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।

५ परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।

६ विशेषश्च ।

७ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।

८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविन परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्ष विषादादिवत् ।

९ अर्थान्तरगतो विसदृश परिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।

२ प्रमाणादभिन्न भिन्नश्च ।

३ य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीते ।

अथ षष्ठः परिच्छेदः

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।

२ अस्वसविदितगृहीतार्थ दर्शन सशयादय प्रमाणाभासा ।

३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।

४ पुरुषान्तर पूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्श स्थाणु पुरुषादि ज्ञानवत् ।

५ चक्षुरसयोर्द्रव्ये सयुक्तसमवायवच्च ।

६ अवैशद्ये प्रत्यक्ष तदाभास बौद्धस्या कस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।

७ वैशद्येऽपि परोक्ष तदाभास मीमासकस्य करणज्ञानवत् ।

८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञान स्मरणाभासम्, जिनदत्तो स देवदत्तो यथा ।

९ सदृशे तदेवेद तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलक वदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।
१० असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम्, यावास्तत्पुत्र स श्यामो यथा ।
११ इदमनुमानाभासम् ।
१२ तत्रानिष्टादि पक्षाभास ।
१३ अनिष्टो मीमासकस्यानित्य शब्दः ।
१४ सिद्धः श्रावणः शब्द. ।
१५ बाधित. प्रत्यक्षानुमानागम लोक स्ववचनै ।
१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।
१७ अपरिणामी शब्द कृतकत्वात् घटवत् ।
१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्म पुरुषाश्रितत्वाद धर्मवत् ।
१९ शुचि नरशिर कपाल प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्ख शुक्तिवत् ।
२० माता मे बन्ध्या पुरुप सयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबन्ध्यावत् ।
२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करा ।
२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।
२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।
२४ स्वरूपेणासत्वात् ।
२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।
२६ तस्य वाष्पादिभावेन भूतसघाते सदेहात् ।
२७ साख्य प्रति परिणामी शब्द कृतकत्वात् ।
२८ तेनाज्ञातत्वात् ।
२९ विपरीत निश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्द कृतकत्वात् ।
३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।
३१ निश्चितवृत्तिरनित्य: शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।
३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।
३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।
३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।
३५ सिद्धे प्रत्यक्षादि बाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।
३६ सिद्धः श्रावण शब्द शब्दत्वात् ।
३७ किञ्चिदकरणात् ।
३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।
३९ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्न प्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।
४० दृष्टान्ताभाषा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया ।
४१ अपौरुषेय शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रिय सुख परमाणु घटवत् ।
४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेय तदमूर्तम् ।
४३ विद्युदादिनाऽति प्रसगात् ।
४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेका. परमाणिन्द्रियसुखाकाशवत्
४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।
४६ बालप्रयोगाभास पचावयवेषु कियद्धीनता ।
४७ अग्निमानय देशो धूमवत्वात् यदित्थं तदित्थ यथा महानस इति ।
४८ धूमवाश्चायमिति वा ।
४९ तस्मादग्निमान् धूमवाश्चायमिति ।
५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।

५१ रागद्वेषमोहाक्रान्त पुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।

५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकाराशय सन्ति धावध्व माणवका ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।

५४ विसवादात् ।

५५ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमित्यादि सख्याभासम् ।

५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षत' परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७ सौगतसाख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानाम्-प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावै रेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ।

५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।

५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।

६१ विषयाभासः सामान्य विशेषो द्वय वा स्वतन्त्रम् ।

६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।

६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।

६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।

६६ फलाभास प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा ।

६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।

६८ व्यावृत्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्-व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसगात् ।

६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।

७० तस्माद्वास्तवो भेद ।

७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्ते ।

७२ समवायेऽतिप्रसग ।

७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।

७४ सभवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्श हेयोपादेयतत्त्वयो ।
सविदे मादृशो बाल परीक्षादक्ष वद् व्यधाम् ॥१॥

॥ इति परीक्षामुखसूत्र पाठ समाप्त ॥

विशिष्ट शब्दावली

(अ) अर्थकारणवाद—ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक तथा बौद्ध मानते है इसको अर्थ कारणवाद कहते हैं।

अशेषार्थ गोचरत्व—पारमार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण अशेष (सपूर्ण) पदार्थों को विषय करता है, इसको अशेषार्थ गोचरत्व कहते है।

अन्यादृश - अन्य तरह का।

अकिंचिज्ञ—किंचित न जानकर अशेष को जानने वाले सर्वज्ञ को अकिंचिज्ञ कहते हैं।

अवेदज्ञ—वेद को नही जानने वाला।

अव्युत्पन्न—अजानकार, अनुमानादि के विषय मे अज्ञानी।

अदृष्ट—भाग्य, नही देखा हुआ पदार्थ, वैशेषिक आदि पुण्य पाप को अदृष्ट कहते हैं एव उसको आत्मा का गुण मानते हैं।

अकृष्टप्रभव—बिना बोये उगने धान्य तृण आदि।

अन्वय-व्यतिरेक—साध्य के होने पर साधना का होना अन्वय है, साध्य के अभाव मे साधन का नही होना व्यतिरेक है।

अविद्धकर्ण—नही छेदा गया है कर्ण जिसका उस व्यक्ति को अविद्धकर्ण कहते हैं। यौग मत के एक ग्रन्थकार का नाम अविद्ध कर्ण है।

अपवर्ग—मोक्ष।

अहकार—गर्व को अहकार कहते हैं। साख्य का कहना है कि प्रधानतत्त्व से महान् (बुद्धि) और महान् से अहकार आविर्भूत होता है।

अडज—अडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी को अडज कहते है।

अनेकात—अनेके अताः धर्माः यस्मिन् स अनेकातः जिसमे अनेक धर्म (स्वभाव या गुण) पाये जाते है उसको अनेकात कहते हैं। जैन प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्म रूप मानते हैं अत इस मत को अनेकात मत भी कहते हैं।

अनेकाल नाम का एक हेतु का दोष भी माना है, अथवा जो कथन व्यभिचरित होता है उसे भी अनेकात कहते हैं।

अभ्युदय—इस लोक सम्वन्धी तथा देवगति सम्बन्धी सुख एव वैभव को अभ्युदय कहते हैं।

अक्रमानेकात—गुणो को अक्रम अनेकात कहते हैं। द्रव्य गुणो की अक्रम अर्थात् युगपत्वृत्ति होती है।

अप्रेतप्रतिबन्धकत्व—प्रतिबन्धक से (रुकावट) रहित होना।

अविचारक ज्ञान - विचार रहित निर्विकल्प ज्ञान।

अनुमान—"साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम्" साधन (हेतु) से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है।

अबाधित विषयत्व—अनुमान मे स्थित हेतु बाधा रहित पक्ष वाला या साध्य वाला होना अबाधित विषयत्व है।

असत् प्रतिपक्षत्व—तुल्य बलवाला अन्य हेतु जिसके पक्ष को बाधित नही करता उस हेतु को असत् प्रतिपक्षत्व गुण वाला हेतु कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति—हेतु का केवल पक्ष मे ही व्याप्त रहना अन्तर्व्याप्ति कहलाती है।

अरिष्ट—शकुन को अरिष्ट कहते है तथा अपशकुन को भी अरिष्ट कहते हैं।

अस्मर्यमाण कर्तृत्व—कर्त्ता का स्मरण नही होना अस्मर्यमाण कर्तृत्व कहलाता है।

अश्रुतकाव्य—जिस काव्य को सुना न हो।

अपोहवाद—गो आदि सपूर्ण शब्द अर्थ के वाचक न होकर केवल अन्य के निषेधक हैं ऐसी बौद्ध की मान्यता है।

अन्यापोह—अन्य का अपोह अर्थात् व्यावर्त्तन या निषेध।

अकृतसमयध्वनि—जिसमे सकेत नही किया है ऐसी ध्वनि को अकृतसमयध्वनि कहते हैं।

अन्विताभिधानवाद—वाक्य मे स्थित पद सर्वथा वाक्यार्थ से अन्वित (सम्बद्ध) ही रहते हैं ऐसा प्रभाकर का (मीमासक का एक भेद) मत है।

अभिहितान्वयवाद—वाक्य मे स्थित प्रत्येक पद वाक्य के अर्थ को कहता है ऐसा भाट्ट मानता है।

अभिधीयमान—कहने मे आ रहा अर्थ या शब्द अभिधीयमान कहलाता है।

अधर्म—पाप को अधर्म कहते हैं। कुसस्कार को या पापवर्द्धक क्रिया को भी अधर्म कहते हैं।

अनन्वय—हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होना।

अनुविद्ध—सम्बद्ध या व्याप्त को अनुविद्ध कहते हैं।

अननुविद्ध—सम्बद्ध या व्याप्त नही रहना।

अनुपलभ—अप्राप्त होना या उपलब्ध नही होने को अनुपलभ कहते है।

अप्रयोजक हेतु—"सपक्षव्यापक पक्ष व्यावृत्त हि उपाधि आहित सम्बन्ध हेतु" अर्थात् सपक्ष मे व्यापक और पक्ष से व्यावृत्त होने वाला उपाधियुक्त अप्रयोजक कहलाता है।

अपौरुषेय—पुरुष प्रयत्न से रहित को अपौरुषेय कहते हैं।

अनुसधान—जोड को अनुसधान कहते हैं।

अंतरग—"अव्यभिचारि प्रतितियतम् अंन्तरगम्" अर्थात् अव्यभिचारपने से नियत होने को अन्तरग कहते हैं।

अश्वविषाण—घोडे के सीग (नही होते)

अनुगत प्रत्यय—यह गो है यह गो है ऐसे सदृशाकार ज्ञान को अनुगत प्रत्यय कहते है।

अपनीति—हटाना

अनतिशयव्यावृत्ति—अतिशय रहित पने का हट जाना अर्थात् अतिशय आना।

अन्ध सर्प बिलप्रवेश न्याय—अन्धा सर्प चीटी आदि के कारण बिल से निकलकर इधर उधर घूमता है और पुन: उसी विल मे प्रविष्ट होता है वैसे ही जैनेतर प्रवादी अनेकातमय सिद्धात को प्रथम तो मानते नही किन्तु घूम फिर कर अन्य प्रकार से उसी को स्वीकृत कर लेते हैं उसे अन्ध सर्प बिल प्रवेश न्याय कहते हैं।

(आ) आलोककारणवाद—आलोक अर्थात् प्रकाश ज्ञानका कारण है ऐसा नैयायिक मानते हैं।

आवरण—ढकने वाला वस्त्र या कर्म आदि पदार्थ।

आवारक—शब्द को एक विशिष्ट वायु रोकती है उसे आवारक कहते है ऐसा मीमांसक मानते हैं।

(ई) ईश्वरवाद—नैयायिक वैशेषिक, साख्यादि प्रवादीगण ईश्वर कर्तृत्व को मानते हैं, इनका कहना है कि जगत् के यावन्मात्र पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित है, वह सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी है इत्यादि।

(उ) उद्योतकर—न्यायदर्शन का मान्य ग्रन्थकार।

उद्‌भूतवृत्ति—प्रगट होना।

उदात्त—उच्चस्वर से वोलने योग्य शब्द। ऊचे विचार को भी उदात्त कहते हैं।

उभयसिद्ध धर्मी—प्रमाण तथा विकल्प द्वारा सिद्ध धर्मी (पक्ष) को उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं।

उपलभ—प्राप्त या उपलब्ध को उपलभ कहते हैं।

उदचन—जल सिंचने का पात्रविशेष।

(ऊ) ऊह—तर्क प्रमाण को कहते है।

(क) कामला—पीलिया रोग को कामला कहते है।

किंचिज्ञ—अल्पज्ञानी।

कवलाहार—अरहत अवस्था मे भगवान केवली भोजन करते हैं ऐसा श्वेताम्बर मानते हैं। कवल अर्थात् ग्रास का आहार कवलाहार कहलाता है।

क्रमानेकात—क्रमिक अनेकात को क्रमानेकात कहते हैं। द्रव्य मे पर्यायें क्रम से होती हैं उसे भी क्रमानेकात कहते हैं।

कालात्ययापदिष्ट—प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हेतु को कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं।

कुमारिल—मीमासक मत के ग्र थकार।

कर्क—सफेद घोडा।

कारककारण—कार्य को करने वाले कारण को कारककारण कहते हैं।

(ख) खपुष्प—आकाश का फूल (नही होता)

ख—आकाश, तथा लोपको ख कहते हैं।

खरविषाण—गधे के सीग (नही होते)

(ग) ग्राह्य-ग्राहक—ग्रहण करने योग्य तथा ग्रहण करने वाला।

गृहीतग्राही—जानी हुई वस्तु को जानने वाले ज्ञान को गृहीतग्राही कहते हैं।

गमक हेतु—साध्य की सिद्ध करने वाला हेतु।

गोत्रस्खलन—मुख से कुछ अन्य कहना चाहते हुए भी कुछ अन्य नामादिका उच्चारण हो जाना गोत्रस्खलन कहलाता है।

गम्यमान—ज्ञात हो रहा अर्थ।

(च) चर्यामार्ग—जैन साधु आहारार्थ निकलते हैं उस विधि को चर्यामार्ग कहते हैं।

चैतन्य प्रभव प्राणादि—चैतन्य के निमित्त से होने वाले श्वासादिप्राण।

चित्रज्ञान—अनेक आकार जिसमे प्रतीत हो रहे उस ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं।

चोदना—मीमासक वेद को चोदना भी कहते हैं। चोदना का अर्थ प्रश्न तथा प्रेरणा भी होता है।

(छ) छिन्नमूल—जिसका मूल छिन्न हुआ हो उसे छिन्नमूल कहते हैं वेद को प्रमाण मानने वाले मीमासक आदि का कहना है कि वेद कर्त्ता का छिन्नमूल है अर्थात् उसका मूल मे (शुरु मे) ही कोई कर्त्ता नही है।

(ज) जाति—न्यायग्रथ मे सामान्य को या सामान्यधर्म को जाति कहते हैं। जन्म का नाम भी जाति है, तथा माता पक्ष की सतान परम्परा को जाति कहते हैं।

जैमिनि—मीमासक मत के मान्य ग्रथकार।

जन्य-जनक—उत्पन्न करने योग्य पदार्थ को जन्य और उत्पन्न करने वाले को जनक कहते हैं।

(त) तादात्विक—उसकाल का, तत्काल का।

त्रिदश—देव।

त्रैरुप्यवाद—बौद्ध हेतु के तीन अग या गुण मानते हैं—पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति, इसी को त्रैरुप्यवाद कहते हैं।

त्रिगुणात्मक—तीन गुण वाला, प्रधान तत्त्व मे सत्त्व रज और तम ऐसे तीन गुण होते है ऐसा साख्य मानते है।

तर्क प्रमाणवाद—जहा जहा साधन (हेतु) होता है वहा वहा साध्य अवश्य होता है इत्यादि रूप से साध्य साधन को सर्वोपसहार से ज्ञात करने वाला ज्ञान तर्क प्रमाण कहलाता है। इसी को तर्क प्रमाणवाद कहते है।

(द) द्रव्य वाक्य—शब्द रूप वचन रचना एव लिखित रचना को द्रव्य वाक्य कहते हैं।

दृष्टेष्ट विरुद्ध वाक्—दृष्ट-प्रत्यक्ष और इष्ट मायने परोक्ष इन दोनो प्रमाणो से विरुद्ध वचन को दृष्टेष्ट विरुद्ध वाक् कहलाती है।

(ध) धर्म—पुण्य। धर्म द्रव्य। सच्चे शाश्वत सुख मे धरने वाला धर्म।

(न) निर्जरा—कर्मो का एक देश क्षय होना या झड जाना निर्जरा कहलाती है।

निवर्त्तमान—नास्ति रूप से प्रतिभासित होने वाला ज्ञान। लौटता हुआ।

नि श्रेयस - मोक्ष या मुक्ति।

नैरात्म्यभावना—चित्त सन्तान का निरन्वय नाश होता है अर्थात् मोक्ष मे आत्मा नष्ट होता है, ऐसा बौद्ध का कहना है, जगत के यावन्मात्र विवाद तथा सकल्प विकल्प आत्मा मूलक है अतः आत्मा का आस्तित्व ही स्वीकार नही करना चाहिये ऐसा माध्यमिक आदि बौद्ध का कहना है। इसी भावना को नैरात्म्य भावना कहते है।

निरवयव—अवयव रहित।

निरन्वय—मूल से समाप्त होना।

(प) परिच्छेद—जानने योग्य।

प्रधान—साख्य मत का एक तत्त्व, प्रमुख को भी प्रधान कहते है।

प्रकृति—साख्य के प्रधान का दूसरा नाम प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है।

प्रमेय—प्रमाण द्वारा जानने योग्य पदार्थ।

प्रवर्त्तमान—अस्तित्व रूप से प्रवृत्ति करने वाला प्रमाण।

प्रशस्तमति—यौग मत का ग्रन्थकार।

प्रकृतिकर्तृत्ववाद—साख्य का कहना है कि प्रकृति नाम का जड तत्त्व जगत का कर्त्ता है।

प्रेक्षावान्—बुद्धिमान्।

परमौदारिक—सप्त धातु रहित अरिहतका शरीर।

परघात—जिस कर्म के उदय से पर के घात करने वाले शरीर के अवयव बने, उस कर्म को परघात नाम कर्म कहते हैं।

प्रत्यवाय—विघ्न।

प्राणादि प्रभव प्राणादि—प्राणादि से उत्पन्न होने वाले प्राणादि।
परम प्रकर्ष—उत्कृष्ट रूप से वृद्धि।
प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्यवाद—जोड रूप प्रत्यभिज्ञान को इस प्रकरण मे प्रमाणभूत सिद्ध किया है।
परिशोधक—विषय का शोधन करने वाला ज्ञान परिशोधक कहलाता है।
प्रत्यक्ष पृष्ट भावी विकल्प ज्ञान—निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध मानते हैं।
पक्ष—साध्य के आधार को पक्ष कहते हैं।
पाचरूप्यवाद—नैयायिक हेतु के पाच गुण मानते हैं—पक्ष धर्म, सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्षत्व।
प्रसज्य प्रतिषेध—सर्वथा निषेध या अभाव को प्रसज्य प्रतिषेध कहते हैं।
पर्युदासप्रतिषेध—किसी अपेक्षा से निषेध या भावातर स्वभाव वाले अभाव को पर्युदास कहते हैं।
पूर्ववदाद्यनुमान त्रैविध्यनिरास—नैयायिक अनुमान के तीन प्रकार मानते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्य तो दृष्ट, इस मान्यता का जैन ने निरसन किया है।
प्रमाण सिद्ध धर्मी—प्रत्यक्ष प्रमाण से पक्ष के सिद्ध रहने को प्रमाण सिद्ध धर्मी कहते हैं।
प्रतिज्ञा—धर्म धर्मी समुदाय प्रतिज्ञा, धर्म और धर्मी अर्थात् साध्य और पक्ष को कहना प्रतिज्ञा कहलाती है। व्रत या नियम आदि के लेने को भी प्रतिज्ञा कहते हैं।
प्रज्ञाकर गुप्त—बौद्ध ग्रन्थकार।
प्रभाकर—मीमासक के एक भेद स्वरूप प्रभाकर नामा ग्रन्थकार के अभिप्राय को मानने वाले प्रभाकर कहलाते हैं।
प्रतिविहित—खडित।
प्रकरणसमहेत्वाभास—वादी प्रतिवादी दोनो के पक्ष का हेतु समान रूप से स्वसाध्य का साधक होना अर्थात् तुल्य बल वाला होना प्रकरणसम नामा हेत्वाभास है, इसको यौग मानते हैं।
प्रतिबन्ध—अविनाभाव सम्बन्ध का दूसरा नाम प्रतिबन्ध है।
प्रतिबन्धक—रोकने वाला।
प्रेरणा—वेद।
पौरुषेय—पुरुषकृत।
प्रक्षालिताशुचिमोदक परित्यागन्याय—कोई भिक्षु आदि मार्ग से मोदक (लड्डू) ले जा रहा था हाथ से मोदक नाली मे गिरा उसको लोभ वश पहले तो उठाकर धो लिया किन्तु पीछे

ग्लानि तथा लोक की हँसी के कारण उसको छोड दिया उसी प्रकार पहले किसी बात को स्वीकार करके पीछे भयादि के कारण उसको छोड देना "प्रक्षालिताशुचिमोदकपरित्यागन्याय" कहलाता है ।

(ब) बुद्धिमद्धेतुक—बुद्धिमान कारण से होने वाला

बुभुक्षा—भोजन की वाछा ।

बला तैल—सर्व शब्दो को श्रवण की शक्ति को उत्पन्न करने वाला तेल ।

(भ) भावनाज्ञान—किसी एक विषय मे मनके तल्लीन होने से उसका सामने नही होते हुए भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास होने को भावना ज्ञान कहते है ।

भाव वाक्य—वचन द्वारा अतरग मे होने वाला ज्ञान ।

भाट्ट—मीमासक का एक प्रभेद–भट्ट नाम के ग्रथकार के सिद्धात को मानने वाला ।

(म) महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनको महाभूत कहते हैं, इनके सूक्ष्म महाभूत तथा स्थूल महाभूत ऐसे दो भेद हैं ।

महान्—प्रकृति तत्त्व से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होता है ऐसा साख्य मानते हैं।

मिद्ध—निद्रा

महानस—रसोई घर

मोक्ष स्वरूप विचार—अनन्तचतुष्टय स्वरूप मोक्ष होता है इसको इस प्रकरण मे सिद्ध किया है ।

(य) योगज धर्म—ध्यान के प्रभाव से होने वाला अतिशय ज्ञान आदि ।

(र) रथ्या पुरुष—पागल, गली मे भ्रमण करने वाला ।

(ल) लिंग-लिंगी सम्बन्ध—साधन और साध्य का सम्बन्ध ।

लक्षित लक्षणा—लक्षितेन (सामान्येन-ज्ञातेन) लक्षणा-विशेष प्रतिपत्ति, अर्थात् सामान्य के ज्ञात होने से उसके द्वारा विशेष का निश्चय होना लक्षित लक्षणा कहलाती है ।

(व) विवर्त्त—पर्याय, अवस्था ।

विपाकान्त—फल देने तक रहने वाला (कर्म)

व्यक्ति – विशेष भेद-प्रभेद

विपर्यय—विपरीत,

व्याप्य-व्यापक—"व्यापक तदतन्निष्ठ व्याप्य तन्निष्ठमेव च" अर्थात्—

वाच्य-वाचक—कहने योग्य पदार्थ को वाच्य और कहने वाले शब्द को वाचक कहते हैं ।

व्युत्पन्नप्रतिपत्तृ—अनुमान व्याकरण या अन्य किसी विषय मे प्रवीण पुरुष को व्युत्पन्नप्रतिपत्तृ कहते हैं ।

विकल्प ज्ञान—यह घट है इत्यादि साकार ज्ञान को विकल्प ज्ञान कहते हैं।

विपक्ष—जहा साध्य नही रहता उस स्थान को विपक्ष कहते हैं, प्रतिपक्ष को भी विपक्ष कहते हैं।

वादी-प्रतिवादी—वाद विवाद मे जो पुरुष पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है उसे वादी और उसके विरुद्ध पक्ष रखने वाला प्रतिवादी कहलाता है।

विकल्पसिद्धधर्मी – जो धर्मी अर्थात् पक्ष प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो उसे विकल्पसिद्ध धर्मी कहते हैं।

वेदापौरुषेयवाद – वेद को अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुषादि द्वारा रचा नहीं है ऐसा मीमासक आदि परवादी मानते हैं उसको वेदापौरुषेयवाद कहते हैं।

व्याचिख्या—कहने की इच्छा,

व्यजकध्वनि—व्यजकध्वनि नामा कोई एक पदार्थ है वह शब्द को प्रगट करता है ऐसा शब्द नित्य वादी मीमासक आदि का कहना है।

वासना—सस्कार, आसक्ति,

विप्रकृष्ट—दूर,

व्यवस्था "विशिष्ट स्थिति कारण व्यवस्था" विशिष्ट स्थिति का जो कारण है उसे व्यवस्था कहते हैं।

विनष्टाक्ष—नष्ट हो गई है आखें जिसकी उसे विनष्टाक्ष कहते हैं।

व्यावृत्तप्रत्यय—यह इससे भिन्न है इत्यादि आकार वाले ज्ञान को व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं।

व्यजककारण—वस्तु को प्रगट या प्रकाशित करने वाला कारण व्यजककारण कहलाता है।

व्यग्य-व्यजक—प्रगट करने योग्य को व्यग्य और प्रगट करने वाले को व्यजक कहते हैं।

व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक – पृथक् करने योग्य अथवा जानने योग्य पदार्थ को व्यवच्छेद्य कहते हैं और पृथक् करने वाले अथवा जानने वाले को व्यवच्छेदक कहते हैं।

व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास—साध्य और हेतु का अधिकरण भिन्न भिन्न होना व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

(श) शावलेय—चितकबरी गाय आदि पशु।

शब्द नित्यत्ववाद—शब्द आकाश गुण है एव वह सर्वथा नित्य एक और व्यापक ऐसा मीमासक आदि मानते हैं।

(स) सवर – कर्मो का आना रुकना सवर कहलाता है,

सदुपलभ प्रमाण पचक—अस्तित्व को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति ये पाच प्रमाण हैं ऐसा मीमासक आदि मानते हैं, इनका कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल सत् या अस्तित्व को ही जान सकते हैं असत् या अभाव को नहीं।

स्वार्थातिलघन—अपने विषय का उल्लघन,

साध्यधर्मी—अनुमान द्वारा जिसको सिद्ध करना है उसको साध्य तथा उस साध्य के रहने के स्थान को धर्मी कहते हैं।

सुनिश्चिता सभवत् बाधक प्रमाण—जिसमे नियम से बाधक प्रमाण संभव न हो उस प्रमाण को सुनिश्चित असभव बाधक प्रमाण कहते हैं।

सवाद—विवक्षित प्रमाण का समर्थन करने वाला प्रमाण सवाद कहलाता है।

सन्दिग्धव्यतिरेक—हेतु का विपक्ष मे व्यतिरेक अर्थात् नही रहना सशयास्पद हो तो उस हेतु को सन्दिग्ध व्यतिरेक कहते है।

सत्तासमवाय—वस्तु की सत्ता अर्थात् अस्तित्व समवाय नामा किसी अन्य पदार्थ से होता है ऐसा सत्तासमवाय मानने वाले नैयायिकादि प्रवादी कहते हैं।

सर्ग—रचना, उत्पत्ति।

समर्थ स्वभाव—जिसमे स्वय समर्थ स्वभाव होवे।

सर्वज्ञत्ववाद—सर्वज्ञ को मीमासक नही मानते उस मान्यता का इस सर्वज्ञत्ववाद प्रकरण मे खण्डन किया है।

सत्कार्यवाद—साख्य प्रत्येक कार्य को कारण मे सदा से मौजूद ही ऐसा मानते है, इस मान्यता को सत्कार्यवाद कहते है, इनका कहना है कि बीज मे अकुर, मिट्टी मे घट इत्यादि पहले से ही रहते हैं।

समवशरण—अर्हंत तीर्थंकर भगवान की धर्मोपदेश की सभा जिसमे असख्य भव्य प्राणियो को मोक्षमार्ग का उपदेश एवं शरण मिलती है।

सतान—बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षण भगुर मानते हैं, अर्थात् वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती है किन्तु तत्सम तत्काल दूसरी प्रादुर्भूत होती है उसी को सतान कहते हैं। व्यवहार मे अपने पुत्र पुत्रियो को भी सतान कहते है।

सुषुप्त—निद्रित।

सान्वयचित्तसतान—यह चित्त है यह चित्त है इस प्रकार के अन्वय सहित चित्त अर्थात् चैतन्य की परपरा को सान्वयचित्त सन्तान कहते हैं।

स्वाप—निद्रा।

स्त्रीमुक्ति विचार—श्वेताम्बर स्त्रियो को उसी पर्याय मे मुक्ति होना मानते हैं उसका इस प्रकरण मे खडन किया है।

सचेलसंयम—वस्त्र सहित सयम, स्त्रियो के वस्त्र सहित सयम ही संभव है, वह वस्त्र त्याग नही कर सकती अत इनके सयम को सचेल सयम कहते हैं।

स्मृतिप्रामाण्यवाद—स्मरण ज्ञान को इस प्रकरण मे प्रमाणभूत सिद्ध किया है।

समारोप व्यवच्छेदक—सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं इनको दूर करने वाले प्रमाण को समारोप व्यवच्छेदक कहते हैं।

सज्ञा सज्ञि सम्बन्ध—नाम और नाम वाले पदार्थ के सम्बन्ध को सज्ञा सज्ञि सम्बन्ध कहते है।

सकृत—एक बार,

सपक्ष—पक्ष के समान साध्य धर्म जिसमे रहे उसको सपक्ष कहते हैं।

सदसद् वर्ग—सद् वर्ग-सद्भाव रूप पदार्थों का समूह, असद् वर्ग-अभाव रूप पदार्थों का समूह इन दोनो को सदसद् वर्ग कहते हैं।

सकल व्याप्ति—पक्ष और सपक्ष दोनो मे हेतु की व्याप्ति रहना सकल व्याप्ति कहलाती है।

सात्मकम्—आत्मा सहित शरीर को सात्मक कहते हैं।

सम्प्रदाय विच्छेद—परम्परा का विच्छेद-नष्ट होना।

सहज योग्यता—स्वभाव से होने वाली योग्यता को सहज योग्यता कहते हैं।

स्फोटवाद—गो, घट आदि शब्द द्वारा तद् वाच्य पदार्थ का ज्ञान नही होता किन्तु निरवयव एक व्यापक स्फोट नामा अमूर्त्त वस्तु द्वारा गो आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, व्यजक-ध्वनि आदि से उस स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और उससे अर्थ बोध होता है ऐसा भर्तृहरि आदि वैयाकरणो का पक्ष है उसका इस प्रकरण मे खडन किया है।

सवेदन प्रभव सस्कार—ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सस्कार।

सर्वाक्षेप—पूर्ण रूप से स्वीकार।

सकलन—जोड

सुविवेचित— भली प्रकार से विचार मे लाया गया।

स्वरूप परिपोप—स्वरूप को पुष्ट करना।

सिद्ध साध्यता—जो प्रसिद्ध है उसको साध्य बनाना सिद्ध साध्यता नामका दोष है।

सारूप्य—बौद्ध ग्रन्थ मे सदृश या समानाकार को सारूप्य नाम से कहा जाता है।

(ह) हेतु—"साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु" साध्य के साथ जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है उसे हेतु कहते है। कारण को या निमित्त को भी हेतु कहते हैं।

भारतीय दर्शनोंका अति संक्षिप्त परिचय—

जैन दर्शन

जैन दर्शन मे सात तत्व माने है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। जिसमे चैतन्य पाया जाता है वह जीव है, चेतनता से रहित अजीव है (इसके पाच भेद हैं-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) जीवके विकारी भावोसे कर्मोंका जीवके प्रदेशोमे आना आस्रव है, उन कर्मोंका जीव प्रदेशोके साथ विशिष्ट प्रकारसे निश्चित अवधि तक सम्बद्ध होना बध कहलाता है, परिणाम विशेषद्वारा उन कर्मोंका आना रुक जाना सवर है। पूर्व सचित कर्मोंका कुछ कुछ झड जाना निर्जरा है और सपूर्ण कर्मोंका जीवसे पृथक् होना मोक्ष कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इसप्रकार छह मूलभूत द्रव्य हैं। उपर्युक्त साततत्वोमे इन छह द्रव्योका अतर्भाव करे तो जीव तत्वमे जीव द्रव्य और अजीव तत्वमे पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल अतर्निहित होते हैं, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाच तत्व जीव और अजीव स्वरूप पुद्गल मय जड तत्व जो कर्म है इन दोनो के सयोग से बनते है। चेतना स्वरूप जीव द्रव्य है, पुद्गल अर्थात् दृश्यमान जड द्रव्य।

धर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलके गमन शक्तिका सहायक अमूर्त द्रव्य। अधर्म द्रव्य-जीव और पुद्गलके स्थिति का हेतु। सम्पूर्ण द्रव्योका अवगाहन करानेवाला आकाश है और दिन, रात, वर्ष आदि समयोका निमित्त भूत अमूर्त काल द्रव्य है।

प्रमाण सख्या—मुख्य दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनो प्रमाण ज्ञान स्वरूप ही है, आत्माके जिस ज्ञानमे विशदपना [स्पष्टतया] पाया जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अविशदपना [अस्पष्टता] जिसमे पाया जाता है वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि भेद हैं।

इन प्रमाणोमे प्रामाण्य [सत्यता] अभ्यस्तदशामे स्वत अनभ्यस्तदशा मे परसे आया करती है।

जगत मे यावन्मात्र कार्य होते हैं उनके प्रमुख दो कारण है, निमित्त और उपादान, जो कार्योत्पत्ति मे सहायक हो वह निमित्त कारण है और जो स्वय कार्य रूप परिणमे वह उपादान कारण है जैसे घट रूप कार्य का निमित्त कारण कुभकार, चक्र आदि है और उपादान कारण मिट्टी है। कारण से कार्य कथचित् भिन्न है, और कथचित् अभिन्न भी है। प्रत्येक तत्व या द्रव्य अथवा पदार्थ अनेक अनेक [अनत] गुण धर्मोंको लिये हुए है और इन गुण धर्मोंका विवक्षानुसार

प्रतिपादन होता है इसीको अनेकान्त-स्याद्वाद कहते हैं, वस्तु स्वय अपने निजी स्वरूपसे अनेक गुणधर्म युक्त पायी जाती है, उसका प्रकाशन स्याद्वाद (कथचितवाद) करता है। बहुत से विद्वान अनेकान्त और स्याद्वादका अर्थ न समझकर इनको विपरीत रूपसे मानते हैं, अर्थात् वस्तुके अनेक गुण धर्मोको निजी न मानना तथा स्याद्वाद को शायद शब्दसे पुकारना, किन्तु यह गलत है, स्याद्वादका अर्थ शायद या सशयवाद नही है, अपितु किसी निश्चित एक दृष्टिकोणसे (जो कि उस विवक्षित वस्तुमे सभावित हो। वस्तु उस रूप है और अन्य दृष्टिकोणसे अन्य स्वरूप है, स्याद्वाद अनेकान्त का यहा विवेचन करे तो बहुत विस्तार होगा, जिज्ञासुओको तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदिमूल ग्रन्थ या स्याद्वाद-अनेकान्त नामके लेख, निबध, ट्रेक्ट देखने चाहिये।

सृष्टि यह सपूर्ण विश्व (जगत) आनादि निधन है अर्थात् इसको आदि नही है और अत भी नही है, स्वय शाश्वत इसी रूप परिणमित है, समयानुसार परिणमन विचित्र २ होता रहता है, जगत रचना या परिवर्त्तनके लिये ईश्वर की जरूरत नही है।

पूर्वोक्त पुद्गल—जड तत्वके दो भेद हैं, अणु या परमाणु और स्कध दृश्यमान, ये विश्वके जितने भर भी पदार्थ हैं सब पुद्गल स्कध स्वरूप हैं, चेतन जीव एव धर्मादि द्रव्य अमूत-अदृश्य पदार्थ हैं। परमाणु उसे कहते है जिसका किसी प्रकार से भी विभाजन न हो, सबसे अन्तिम हिस्सा जिसका अब हिस्सा हो नही सकता, यह परमाणु नेत्र गम्य एव सूक्ष्मदर्शी दुर्बीन गम्य भी नही है। स्निग्घता एव रूक्षता धर्म के कारण परमाणुओ का परस्पर सबध होता है इन्हीको स्कध कहते हैं। जैन दर्शनमे सबका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर नही है, स्वय प्रत्येक जीव अपने अपने-कर्मोका निर्माता एव हर्त्ता है, ईश्वर भगवान या आप्त कृतकृत्य, ज्ञानमय, हो चुके हैं उन्हे जीवके भाग्य या सृष्टि से कोई प्रयोजन नही है।

मुक्ति मार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप मुक्ति का मार्ग है, समीचीन तत्वोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, मोक्षके प्रयोजनभूत तत्वोका समीचीन ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, पापाचरण के साथ साथ सपूर्ण मन वचन आदि की क्रियाका निरोध करना सम्यक्चारित्र है, अथवा प्रारभदशामे अशुभ या पापारूप किया का (हिंसा, झूंठ आदिका एव तीव्र राग द्वेषका) त्याग करना सम्यक् चारित्र है। इन तीनोको रत्नत्रय कहते हैं, इनसे जीवके विकारके कारण जो कर्म है उसका आना एव बँधना रुक जाता है।

मुक्ति—जीवका सपूर्ण कर्म और विकारी भावोमे मुक्त होना मुक्ति कहलाती है, इसीको मोक्ष, निर्वाण आदि नामोसे पुकारते हैं। मुक्तिमे अर्थात् आत्माके मुक्त अवस्था हो जानेपर वह शुद्ध बुद्ध, ज्ञाता द्रष्टा परमानदमय रहता है, सदा इसी रूप रहता है, कभी भी पुन कर्म युक्त नही होता। अनतदर्शन, अनतज्ञान, अनतसुख और अनतवीर्य से युक्त आत्माका अवस्थान होना, सर्वदा निराकुल होना हो मुक्ति है।

जैन दर्शन मे—जगतके विषयमे, आत्माके विषय मे, कर्म या भाग्यके विषयमें अर्थात् पुण्य पाप के विषयमे बहुत बहुत अधिक सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है, इन जगत आदिके विषयमें जितना गहन, सूक्ष्म, और विस्तृत कथन जैन ग्रन्थोमे है, उतना अन्यत्र अशमात्र भी दिखाई नही देता। यदि जगत् या सृष्टि अर्थात् विश्वके विषयमे अध्ययन करना होवे तो त्रिलोकसार, तत्त्वार्थ-सूत्र, लोक विभाग आदि ग्रन्थ पठनीय हैं। आत्मा विषयक अध्ययनमे परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार समयसारादि ग्रन्थ उपयुक्त है। कर्म-पुण्य पाप आदिका गहन गभीर विवेचन कर्मकाड (गोम्मटसार) पचसग्रह आदि अनेक ग्रन्थोमे पाया जाता है। विश्वके संपूर्ण व्यवहार संबधमे एव अध्यात्मसबधमे अर्थात् लौकिक जीवन एव धार्मिक जीवनका करणीय कृत्योका इस दर्शनमे पूर्ण एव खोज पूर्ण कथन पाया जाता है। अस्तु।

बौद्ध दर्शन

यह दर्शन क्षणिकवाद नाम से भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ समूल चूल नष्ट होकर सर्वथा नया ही उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध ने माना है। इनके चार भेद हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य और अभ्यतर दोनो ही (दृश्य जड पदार्थ और चेतन आत्मा) पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य हैं, वास्तविक हैं। ऐसा मानता है। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नही करता। मात्र विज्ञान तत्व को सत्य मानता है अत' इसे विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं। माध्यमिक न बहिरंग पदार्थ मानता है और न अन्तरग पदार्थ को ही। सर्वथा शून्य मात्र तत्त्व है ऐसा मानता है। इन सभी के यहा क्षणभगवाद है। बौद्ध ने दो तत्त्व माने हैं। एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य लक्षण। सजातीय और विजातीय परमाणुओ से असबद्ध, प्रतिक्षण विनाशशील ऐसे जो निरश परमाणु हैं उन्ही को स्वलक्षण कहते हैं, अथवा देश, काल और आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है–असाधारणता है वह स्वलक्षण कहलाता है।

सामान्य—एक कल्पनात्मक वस्तु है। सामान्य हो चाहे सदृश हो, दोनो ही वास्तविक पदार्थ नही है।

प्रमाण—अविसवादक ज्ञान को प्रमाण कहते है उसके दो भेद हैं अर्थात् बौद्ध प्रमाण की सख्या दो मानते है, प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना रहित (निश्चय रहित) अभ्रान्त ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और व्याप्तिज्ञान से सम्बन्धित किसी धर्म के ज्ञान से किसी धर्मी के विषय मे जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो सभी साकार रूप ज्ञान है। ज्ञान घट आदि वस्तुसे उत्पन्न होता है उसी के आकार को धारण करता है और उसी को जानता है। इसी को "तदुत्पत्ति, तदाकार, तदव्यवसाय" ऐसा कहते हैं।

प्रामाण्य (प्रमाण का फल) प्रमाण रूप ही है। चार आर्य सत्य दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग इनका बोध होना चाहिए। तथा पाच स्कध-रूपस्कध, वेदनास्कध, संज्ञास्कध, सस्कारस्कध और विज्ञानस्कध इनकी जानकारी भी होनी चाहिए, क्योकि इनके ज्ञान से मुक्ति का मार्ग मिलता है। मुक्ति के विषय मे बौद्ध की विचित्र मान्यता है, चित्त अर्थात् आत्मा का निरोध होना मुक्ति है। दीपक बुझ जाने पर किसी दिशा विदिशा मे नही जाकर मात्र समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना मुक्ति है। "प्रदीप निर्वाण वदात्म निर्वाणम्" नैयायिकादि ने तो मात्र आत्मा के गुण ज्ञान आदिका अभाव मुक्ति मे स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध ने मूल जो आत्म द्रव्य है उसका ही अभाव मुक्ति मे माना है उनकी मान्यता है कि पदार्थ चाहे जड हो चाहे चेतन प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होते हैं पूर्व चेतन नयी सतान को पैदा करते हुए नष्ट हो जाता है जब तक इस तरह से सतान परम्परा चलती है तब तक ससार और जहा वह रुक जाती है वही निर्वाण हो जाता है। सृष्टि के विषय मे बौद्ध लोग मौन हैं। बुद्ध से किसी शिष्य ने इस जगत के विषय मे प्रश्न किया तो उन्होने कहा था कि सृष्टि कब बनी ? किसने बनायी ? अनादि की है क्या ? इत्यादि प्रश्न तो बेकार ही हैं ? जीवो का क्लेश, दु ख से कैसे छुटकारा हो इस विषय मे सोचना चाहिए। प्रतीत्य समुत्पाद, अन्यापोहवाद, क्षण भगवाद, आदि बौद्धो के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का दूसरा नाम सापेक्ष कारणवाद भी है। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नही बताते। जैसे किसी ने "घट" कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर अघट की व्यावृत्ति मात्र करता है इसी को अन्यापोह कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विशरणशील है यह क्षण भगवाद है। इत्यादि एकान्त कथन इस मत मे पाया जाता है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन या नैयायिक मत मे १६ पदार्थों का (तत्वो का) प्रतिपादन किया है, प्रमाण प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प वितण्डा, हेत्वाभास छल, जाति, निगृह स्थान इन पदार्थों का विस्तृत वर्णन न्याय वार्त्तिक आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। प्रमाण प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इस प्रकार भी सक्षेप से तत्व माने जाते हैं,

प्रमाण सख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, आगम इस प्रकार नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं। प्रमाकरण-प्रमाण, अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, कारक साकल्य प्रमा का करण है अत प्रमाण माना गया है।

प्रामाण्य वाद—प्रमाण मे प्रमाणता पर से ही आती है, क्योकि यदि प्रमाण मे स्वत ही प्रामाण्य होता तो यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ऐसा सशय नही हो सकता था।

कार्य कारण भाव—न्याय दर्शन मे कार्य भिन्न है और कारण भिन्न है, यह सिद्धान्त साख्य से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् सांख्य तो कारण कार्य मे सर्वथा अभेद ही मानते हैं और नैयायिक सर्वथा भेद ही, अत साख्य सत्कार्य वादी और नैयायिकादि असत्यकार्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

कारण के तीन भेद है—

(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण (३) निमित्त कारण

सामान्य से तो जो कार्य के पहले मौजूद हो तथा अन्यथा सिद्ध न हो वह कारण कहलाता है। समवाय सम्बन्ध से जिसमे कार्य की उत्पत्ति हो वह समवायी कारण कहलाता है, जैसे वस्त्र का समवायी कारण तन्तु (धागा) है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु मे समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है उसे असमवायी कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओ का आपस मे सयोग हो जाना वस्त्र का असमवायी कारण कहलायेगा। समवायी कारण और असमवायी कारण से भिन्न जो कारण हो उसको निमित्त कारण समझना चाहिये। जैसे वस्त्र की उत्पत्ति मे जुलाहा तुरी, वेम, शलाका, ये सब निमित्त कारण होते है।

सृष्टि कर्तृत्ववाद – यह ससार ईश्वर के द्वारा निर्मित है, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि तमाम रचनाये ईश्वराधीन हैं, हा इतना जरूर है कि इन चीजो का उपादान तो परमाणु है, दो परमाणुओ से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है, तीन द्वयणुको के सयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। चार त्रस रेणुओ के सयोग से चतुरेणु की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार आगे आगे जगत की रचना होती है। परमाणु स्वतः तो निष्क्रिय है, प्राणियो के अदृष्ट की अपेक्षा लेकर ईश्वर ही इन परमाणुओं की इस प्रकार की रचना करता जाता है। मतलब निष्क्रिय परमाणुओ मे क्रिया आरम्भ कराना ईश्वरेच्छा के अधीन है, ईश्वर ही अपनी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, और प्रयत्न शक्ति से जगत रचता है।

परमाणु का लक्षण—घर मे छत के छेद से सूर्य की किरणें प्रवेश करती है तब उनमे जो छोटे-छोटे कण दृष्टि गोचर होते है वे ही त्रस रेणु हैं, और उनका छठवा भाग परमाणु कहलाता है परमाणु तथा द्वयणुक का परिमाण अणु होने से उनका प्रत्यक्ष नही हो पाता और महत् परिणाम होने से त्रसरेणु प्रत्यक्ष हो जाते है।

ईश्वर—ईश्वर सर्वशक्तिमान है जगत तथा जगत वासी आत्मायें सारे के सारे ही ईश्वर के अधीन है। स्वर्ग नरक आदि में जन्म दिलाना ईश्वर का कार्य है, वेद भी ईश्वर कृत है-ईश्वर ने रचा है।

मुक्ति का मार्ग—जो पहले कहे गये प्रमाण प्रमेय आदि १६ पदार्थ या तत्त्व हैं उनका ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म, और दुखो का नाश होता है। इस प्रकार इन मिथ्याज्ञान आदि का अभाव करने के

लिये या तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग (उपाय) है।

मुक्ति दुख से अत्यन्त विमोक्ष होने को अपवर्ग या मुक्ति कहते हैं, मुक्त अवस्था मे बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार इन नौ गुणो का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है नैयायिक का यह मुक्ति का आवास वडा ही विचित्र है कि जहा पर आत्माके ही खास गुण जो ज्ञान और सुख या आनन्द हैं उन्ही का वहा अभाव हो जाता है। अस्तु।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन मे सात पदार्थ माने हैं, उनमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय ये छः तो सद्‌भाव हैं और अभाव पदार्थ अभावरूप ही है।

द्रव्य—जिसमे गुण और क्रिया पायी जाती है, जो कार्य का समवायी कारण है उसको द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन।

गुण—जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वय गुण रहित हो तथा सयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है। इसके २४ भेद हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, इच्छा; द्वेष, प्रयत्न, सस्कार।

कर्म—जो द्रव्य के आश्रित हो गुण रहित हो तथा सयोग विभाव का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म है। उसके ५ भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुओ मे अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है वह सामान्य है वह व्यापक और नित्य है।

विशेष—समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना विशेष पदार्थ का काम है।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थों मे जो सम्वन्ध है उसका नाम समवाय है। गुण गुणी के सवध को समवाय सम्वन्ध कहते हैं।

अभाव—मूल मे अभाव के दो भेद हैं-ससर्गाभाव और अन्योन्याभाव। दो वस्तुओ मे रहने वाले ससर्ग के अभाव को ससर्गाभाव कहते है। अन्योन्याभाव का मतलव यह है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे अभाव है। ससर्गाभाव के तीन भेद हैं, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यताभाव। इनमे अन्योन्याभाव जोड देने से अभाव के चार भेद होते हैं। वैशेपिक दर्शन मे वेद को तथा सृष्टि को नैयायिक के समान ही ईश्वर कृत माना है, परमाणुवाद अर्थात् परमाणु का लक्षण, कारण कार्य भाव आदि का कथन नैयायिक सदृश ही है।

प्रमाण सख्या—प्रमाण के तीन भेद माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं प्रमाण मे प्रामाण्य पर से आता है।

मुक्ति का मार्ग—निवृत्ति लक्षण धर्म विशेष से साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्यादि छह पदार्थों का तत्व ज्ञान होता है और तत्व ज्ञान से मोक्ष होता है।

मुक्ति—बुद्धि आदि के पूर्वोक्त नौ गुणों का विच्छेद होना मुक्ति है। ऐसा नैयायिक के समान मुक्ति का स्वरूप इस दर्शन मे भी कहा गया है नैयायिक और वैशेषिक दर्शन में अधिक सादृश्य पाया जाता है, इन दर्शनो को यदि साथ ही कहना हो तो यौग नाम से कथन करते हैं।

सांख्य दर्शन

साख्य २५ तत्त्व मानते हैं। इन २५ मे मूल दो ही वस्तुए है-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति के २४ भेद हैं। मूल मे प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो भागो मे विभक्त है। व्यक्त के ही २४ भेद होते है। अर्थात् व्यक्त प्रकृति से महान (बुद्धि) उत्पन्न होता है महान से अहकार, अहकार से सोलह गण होते है वे इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं। वाग्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये पाच कर्मेन्द्रिया हैं। रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द ये पाच तन्मात्रायें कहलाती है। इस प्रकार ये पन्द्रह हुए और सोलहवा मन है। जो पाच रूप आदि तन्मात्राये हैं उनसे पचभूत पैदा होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इस प्रकार प्रकृति या अपर नाम प्रधान के २४ भेद हैं, पच्चीसवा भेद पुरुष है, इसी को जीव आत्मा आदि नामो से पुकारते हैं। यह पुरुष प्रकृति से सर्वथा विपरीत लक्षण वाला है अर्थात् प्रकृति मे जडत्व, अविवेक, त्रिगुणत्व, विकार आदि धर्म रहते हैं और इनसे विपरीत पुरुष मे चेतनत्व, विवेक, त्रिगुणातीतत्व, अविकारीत्व आदि धर्म रहते हैं। यह पुरुष कूटस्थ नित्य है, इसमे भोक्तृत्व गुण तो पाया जाता है किन्तु कर्तृत्व गुण नही पाया जाता।

कारण कार्य सिद्धान्त—यौग दर्शन से साख्य का दर्शन इस विषय मे नितान्त भिन्न है, वे असत् कार्य वादी है, ये सत्कार्यवादी हैं। कारण मे कार्य मौजूद ही रहता है, कारणद्वारा मात्र वह प्रकट किया जाता है ऐसा इनका कहना है। किसी भी वस्तु का नाश या उत्पत्ति नही होती किन्तु तिरोभाव आविर्भाव (प्रकट होना और छिप जाना) मात्र हुआ करता है। सत्कार्य वाद को सिद्ध करने के लिये साख्य पाच हेतु देते हैं—

प्रथम हेतु—यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण मे नही रहता तो असत् ऐसे आकाश कमल की भी उत्पत्ति होनी चाहिये।

द्वितीय हेतु—कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादान को ग्रहण किया जाता है जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलो का ही ग्रहण होता है, बालुका का नहीं।

तृतीय हेतु—सब कारणो से सब कार्यों की उत्पत्ति नही होती है। अपितु प्रतिनियत कारण से ही होती है, अत. कारण मे कार्य पहले से ही मौजूद है।

चतुर्थ हेतु—समर्थ कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है असमर्थ से नही।

पचम हेतु—यह भी देखा जाता है कि जैसा कारण होता है। वैसा ही कार्य होता है। इस तरह इन हेतुओ से कारणका कार्य मे सदा रहना सिद्ध होता है।

सृष्टि क्रम—प्रकृति (प्रधान) और पुरुष के ससर्ग से जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति जड है। और पुरुष निष्क्रिय है। अत दोनो का सयोग होने से ही सृष्टि होती है। इस साख्य दर्शन मे सबसे वडी आश्चर्य कारी बात तो यह है कि ये लोग बुद्धिको (ज्ञान को) जड मानते हैं, आत्मा चेतन तो है किन्तु ज्ञान शून्य है।

प्रमाण सख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण होते हैं "इद्रियवृत्ति, प्रमाणम्" इन्द्रियो के व्यापार को साख्य प्रमाण मानते है। प्रामाण्य वाद के विषय मे इनका कहना है कि प्रमाण हो चाहे अप्रमाण हो दोनो मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वत ही आता है। ईश्वर के विषय मे इनमे मतभेद है। प्राचीन साख्य निरीश्वर वादी थे अर्थात् एक नित्य सर्व शक्तिमान ईश्वर नामक कोई व्यक्ति को नही मानते थे, किन्तु अर्वाचीन साख्य ने नास्तिकपने का लाछन दूर करने के लिये ईश्वर सत्ता को स्वीकार किया। यो तो चार्वाक और मीमासक को छोडकर सभी दार्शनिको ने ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञको स्वीकार किया है। किन्तु जैनेतर दार्शनिको ने उसको सर्वशक्तिमान, ससारी जीवो के कार्योंका कर्त्ता आदि विकृत रूप माना और जैन ने उसको अनन्त शक्तिमान, कृतकृत्य और सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता दृष्टा माना है न कि कर्त्ता रूप अस्तु। साख्य ने मुक्ति के विषयो मे अपनी पृथक् ही मान्यता रखी है। मुक्ति अवस्था मे मात्र नही अपितु संसार अवस्था मे भी पुरुष (आत्मा) प्रकृति से (कर्मादि से) सदा मुक्त ही है। बध और मुक्ति भी प्रकृति के ही होते है। पुरुष तो निर्लेप ही रहता है। पुरुष और प्रकृति मे भेद विज्ञान के होते ही-पुरुष प्रकृति के ससर्गजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आदिदैविक इन तीन प्रकार के दु खो से छूट जाता है। प्रकृति (कर्म) एक नर्तकी के समान है, जो रग स्थल मे उपस्थित दर्शकोके सामने अपनी कला को दिखा कर हट जाती है। वह एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुन पुरुष के सामने नही आती। पुरुष भी उसको देख लेने पर उपेक्षा करने लगता है, इस प्रकार अब सृष्टि का कोई प्रयोजन नही रहता अत मोक्ष हो जाता है, इसलिये प्रकृति और पुरुष के भेद विज्ञान को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष अवस्था में मात्र एक चैतन्य धर्म रहता है। ज्ञानादिक तो प्रकृति के धर्म हैं। अत मोक्ष मे वैशेषिकादि के समान ही ज्ञानादिका अभाव साख्यने भी स्वीकार किया है।

सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमासक और चार्वाक है उनमे से यहा मीमासक मत का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है मीमासक मत मे वेद वाक्यो का अर्थ क्या होना चाहिए इस विषय को लेकर

भेद हुए है जो "अग्निष्टोमेन यजेत्" इत्यादि वेद वाक्य का अर्थ भावना परक करते है। उन्हे भाट्ट कहते है, जो नियोग रूप करते है वे प्रभाकर और जो विधि रूप अर्थ करते हैं वे वेदान्ती कहलाते है। मीमासक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। जबकि ईश्वर कर्त्ता मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिक वेद को ईश्वर कृत स्वीकार करते है। मीमासक चूकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते अत सृष्टि को अनादि निधन मानते हैं। इस जगत का न कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। शब्द को नित्य तथा सर्वव्यापक मानते है क्योकि वह नित्य व्यापक ऐसे आकाश का गुण है। शब्द की अभिव्यक्ति तालु आदि के द्वारा होती है न कि उत्पत्ति, जिस प्रकार दीपक घट पट आदि का मात्र प्रकाशक (अभिव्यजक) है। उसी प्रकार तालु आदि का व्यापार मात्र शब्द को प्रगट करता है, न कि उत्पन्न करता है।

तत्त्व सख्या—मीमासक के दो भेदो मे से भाट्ट के यहा पदार्थ या तत्त्वो की सख्या ५ मानी हैं-द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और अभाव। प्रभाकर आठ पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और सख्या। द्रव्य नामा पदार्थ भाट्ट के यहा ग्यारह प्रकार का है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। इसमे से तम को छोड कर १० भेद प्रभाकर स्वीकार करता है।

प्रमाण सख्या—भाट्टकी प्रमाण सख्या छ है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। प्रभाकर अभाव को छोडकर पाँच प्रमाण स्वीकार करता है।

प्रामाण्यवाद—सभी मीमासक प्रमाणो मे प्रामाण्य सर्वथा स्वत ही रहता है ऐसा मानते है। अप्रामाण्य मात्र पर से ही आता है। मीमासक सर्वज्ञ को न मान कर सिर्फ धर्मज्ञ को मानते हैं अर्थात् वेद के द्वारा धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान हो सकता है किन्तु इनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है। मुक्ति के विषय मे भी मीमासक इतना ही प्रतिपादन करते है कि वेद के द्वारा धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु आत्मा मे सर्वथा रागादि दोषो का अभाव होना अशक्य है तथा पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होना भी अशक्य है। कोई-कोई मीमासक दोषो का अभाव आत्मा मे स्वीकार करके भी सर्वज्ञता को नही मानते है, इनके वेद या मीमासाश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थो मे स्वर्ग का मार्ग ही विशेष रूपेण वर्णित है। यज्ञ, पूजा, जप, भक्ति आदि स्वर्ग सुख के लिये ही प्रतिपादित हैं "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम" इत्यादि वाक्य इसी बात को पुष्ट करते है। इनका अन्तिम ध्येय स्वर्ग प्राप्ति तक सीमित है, अस्तु। इस प्रकार वेद को माननेवाले प्रमुख दर्शन नैयायिक, वैशेषिक, साख्य और मीमासक है, इनके आवातर भेद और भी है जैसे वेदाती शब्दाद्वैतवादी, शाकरीय, भास्करीय इत्यादि, इन सबमे वेद प्रामाण्यकी मुख्यता है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक का कहना है कि न कोई तीर्थंकर है न कोई वेद या धर्म है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तर्क से सिद्ध नही कर सकता। ईश्वर या भगवान भी कोई नही है। जीव–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है और मरने के वाद शरीर के साथ भस्म होता है, अतः जीवन का लक्ष्य यही है कि—

यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमन कुतः ॥१॥

जब तक जीना है तब तक सुख से रहे। कर्ज करके खूब घी आदि भोग सामग्री भोगे! क्योकि परलोक मे जाना नही, आत्मा यह शरीर रूप ही है पृथक् नही, शरीर यही भस्म होता है उसी के साथ चैतन्य भी समाप्त होता है, पुनर्जन्म है नही। चार्वाक के यहा दो ही पुरुपार्थ हैं अर्थ और काम। परलोक स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं। पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि नही हैं, जब जीव जन्मता है तो पृथ्वी आदि से एक चैतन्य शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे आटा, गुड, महुआ आदि से मदिरा मे मदकारक शक्ति पैदा होती है। धर्म नामा कोई तत्त्व नही है। जब परलोक मे जाने वाला आत्मा ही नही है तो धर्म किसके साथ जायेगा? धर्म क्या है इस वात को समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य मात्र ऐहिक सुखो की प्राप्ति है। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। जिस वस्तु का चक्षु आदि इन्द्रियो से ज्ञान होता है वही ज्ञान और वस्तु सत्य है, वाकी सब काल्पनिक। अनुमान प्रमाण नही है, क्योकि उसमे साध्य और साधन को व्याप्ति सिद्ध नही होती है। जब आत्मा ही नही है तब सर्वज्ञ भी कोई नही है, न उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म है। ज्ञान तो शरीर का स्वभाव है आत्मा का नही, ऐसा इस नास्तिकवादी का कहना है, इसीलिये इसको भौतिकवादी, नास्तिकवादी, लौकायत नामो से पुकारते हैं। वर्तमान मे प्राय अधिक सख्या मे इसी भौतिक मत का प्रचार है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	दृष्टाता	दृष्टान्तः
८	१३	होते है	होते
११	५	तत्तोनापलभ्यते	तत्तेनोपलभ्यते
११	२०	पदार्थके व्यभिचरित	पदार्थके साथ व्यभिचरित
१६	१०	बतलाइये	बतलाये
१८	१०	एकल	एकत्व
२४	४	अत्रैवार्थ	अत्रैवार्थे
२७	२७	(किन्तु)	किन्तु
३५	३	कर्मति	कर्मेति
३६	१६	मित्रता	भिन्नता
४३	२०	हानि है	हानि है, जैसे रत्नादिके आवरणकी हानि देखी जाती है, इस प्रकार
४३	२४	और अत्यत	और उसका अत्यत
४४	६	प्रचयात्मकेऽथ	प्रचयात्मकेऽर्थे
४६	२३	वैसे ही योगीज्ञान	वैसे ही योगीके ज्ञानका प्रतिबधक कर्म हटने पर योगीज्ञान
५८	२५	सर्वज्ञ सिद्ध	सर्वज्ञपना सिद्ध
६०	११	कात्यायनी आदिके मत का	कात्यायनी आदिके अनुमानके अतिशय के साथ एव जैमिनी आदिके
६५	१०	ज्ञायक	साधक
७०	८	नही होगा	नही मानेगा
७३	११	बचा लेते	बना लेते
७४	१४	मानसका धूम	महानसका धूम
७६	१८	प्रत्यभिज्ञान भी मानना	प्रत्यक्ष ज्ञान भी मानना
६८	२	अभ्यास के	अभ्यास से
१००	१२	तो उसमे भी	तो भी उसमे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	१६	तथा सफेद आदि	तथा कृष्ण आदि
१२४	११	अनिष्टपाद्य	अनिष्पाद्य
१४५	१६	ही प्रसूत है	ही प्रसूत है
१५७	६	न सदकरणादुपादान	सदकरणादुपादान
१६६	२२	अविभाव	अविनाभाव
१८१	१५	सरागी भी	सरागी भी हैं
१८८	२	प्रतिबद्ध सामर्थ्य	प्रतिहत सामर्थ्य
१९३	२७	अंत कर लेते हैं।	अतराय कर लेते हैं।
२००	११	गुणो का होनेसे	गुणो का नाश होनेसे
२०५	१	परिहाराथ	परिहारार्थं
२०८	२६	भवका	मनका
२१०	९	अघादि	अद्यापि
२१३	२७	अन्य जन्यके	अन्य अन्यके
२१४	१	ज्ञानस्यान्तराभव	ज्ञानस्यान्तरभव
२१४	१०	ज्ञान हेतु	ज्ञानका हेतु
२१५	११	ज्ञान असत्व	ज्ञानका असत्व
२१८	४	कुष्टिनीस्त्रीवद्	कुट्टिनीस्त्रीवद्
२२४	१४	आनित्यमे	अनित्यमे
२३०	४	सेन्द्रिय—	स इन्द्रिय—
२५१	१२	अदि	यदि
२५३	१९	आत्मा का	पुरुषके
२७१	१८	योग्य पुण्य	योग्य पाप
२८०	२३	और विकल्प	और विकल्प्य
२८३	२०	पंक्ति २० के अतिम वाक्य, [अतः यहा .] से लेकर २२ वी पक्ति के अतिम वाक्य [. पाया जाता है] तक निरस्त समझें।	
२८८	५	ज्ञातम्"	ज्ञानम्"
३००	८	इत्युपख्यान	इत्युपसख्यान
३१३	२५	प्रमाण	प्रमाणका
३१५	८	प्रतिपत्तिदाढ्य	प्रतिपत्तिदाढ्यं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१३	तीनरूप	तीन रूपोसे
३३०	१	दुपयुक्तफलवत्	दुपभुक्तफलवत्
३३३	१	आध्यक्षागमयो.	अध्यक्षागमयोः
३३४	१३	वैकल्प	वैकल्य
३४६	२६	आगमक	अगमक
३५३	२४	अन्यथा	अथवा
३६८	५	पतिपत्तव्यं	प्रतिपत्तव्यं
३७२	११	प्रमाण धर्मीके	प्रमाण सिद्ध धर्मीक
३७५	१६	साध्य विनाभावी	साध्याविनाभावी
३८७	२०	वाध्यसन्निकर्षादि	सन्निकर्षादि
३९८	२५	पहले ज्ञान	पहलेका ज्ञान
४००	६	परिणामीति	परिणामी
४००	२२	परिणामी	परिणामीति
४०२	१०	भरणिस्तत एव ॥६९॥	भरणिः प्राक् तत एव ॥६९॥
४०२	२५	भरणिस्तत एव ॥६९॥	भरणि. प्राक् तत एव ॥६९॥
४३१	१९	अपौरुषेय अथया	अपौरुषेय है अथवा
४५९	१	पतिपत्ति	प्रतिपत्ति
४६०	१०	उसका सामान्यका	उस सामान्यका
४६३	६	सवितकोप्येकेन	सवितर्कोप्येकेन
४६६	५	उद्र्ध्ववृत्ति	ऊर्ध्ववृत्ति
४८७	३	खगे	खड्गे
४८८	१६	वृद्धि	बुद्धि
४९१	११	नही होता ऐसा	नही होता तो कफाश के विषय मे भी ऐसा
४९२	८	तस्यात्मभूप:	तस्यात्मभूत
५१३	११	हमेशा उक्त	उक्त
५३०	१९	क्योकि ज्ञापक अर्थात् प्रतीतिका हेतु नही हो सकता जो निश्चय रूप हो।	क्योकि ज्ञापकके निश्चयकी अपेक्षा होती है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५३१	१६	सम्बद्ध	संबंध
५३७	२४	फिर आगे	फिर आगो
५४५	२५	प्रतिसिद्ध	प्रतिषिद्ध
५५४	१७	भाव तो भी	भाव भी
५७०	६	एतेषा मध्य	एतेषा मध्ये
५७२	२३	वाच्य	वाक्य
५८४	१०	स्पष्टकरण	स्पृष्टकरण
५८४	२६	विद्यमान	अविद्यमान
५६४	४	स्यात्मनस्थाभिधाना	स्यात्मनस्तथाभिधाना
५६६	२४	विकुहित	विकुट्टित
६२३	१०	अथस्येवं	अर्थस्येव
६२६	२६	मेनार्था	मेनार्थ
६३०	१	अप्रेत प्रतिबधक	अपेतप्रतिबधक
६३०	२७	अप्रयोजक	अप्रयोजक हेतु